

गणेश लाल बहादुर

लाल बहादुर
L.B.S. Nati-

GL H 615.536

CHA V 1



125794
BSNAA

MUSSOORIE

पुस्तकालय
LIBRARY

गणेश लाल बहादुर

अकादमी
istration

अवाप्ति संख्या

Accession No.

125794

14071

वर्ग संख्या

Class No.

H

615.536

पुस्तक संख्या

Book No.

प्राचीन क्रमांक 1

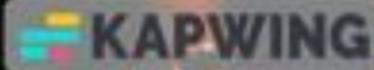


COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinesh/Shashi

Creator of
hinduism
server



Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

* श्रीः *

महर्षि अग्निवेदा प्रणीत

चरक-संहिता

चरक और हड्डवल से प्रतियंश्छास

(हिन्दी अनुवाद)

सूत्र-निदान-विद्यानात्मक

प्रथम खण्ड

— — —

अनुवादक—

कविराज श्री अत्रिदेवजी गुप्त,

विद्यालंकार, भिषग्रन्थ

(गुरुद्वाल विश्वविद्यालय)

— — —

प्रकाशक—

भाग्यव पुस्तकालय, गायधाट, वनारस ।

ब्राह्म—कच्छीगली, वनारस ।

द्वितीय संस्करण] रवीषिकार स्वरक्षित [मूल्य १२)

दो शब्द

श्रीचरकसंहिता आयुर्वेद में एक सर्वमान्य पुस्तक है। इसका पठन पाठन आयुर्वेद के विद्यार्थि के लिये अति आवश्यक है। बास्तवमें चरकसंहिता का तथा दूसरे ग्रन्थों का स्पष्टीकरण जितना पढ़ने में होता है, उतना पढ़ने के समय नहीं होता। यही कारण है कि आयुर्वेद सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य श्री गंगाधर जी कविराज, श्री योगीन्द्रनाथ सेन जी श्रीचरकसंहिता पर जल्पकल्पतरु और चरकोपस्कार टीकायें लिखकर आयुर्वेद के प्रेमियों का दहुत उपकार किया। इनमें चरकोपस्कारभाष्य तो विद्यार्थियों के लिये बहुत ही उत्तम और लाभदायक है। पढ़ते समय विद्यार्थी की मनोवृत्ति बहुत ही विचित्र रहती है; खास कर आजकल के आयुर्वेद कोलंज की जीवन में; जब कि उसको पाञ्चात्य विद्या भी सत्तर प्रतिशत सीखनी होती है। ऐसी अवस्था में तो वह उत्तीर्ण, होकर उपाधि ही प्राप्त करने का इच्छुक रहता है। इसमें कोई दो चार अपवाद भी होते हैं। यह वृत्ति हमारे यहाँ ही हो—यह बात नहीं; पाञ्चात्य देशों में भी इसका—मनुष्य धर्म के स्वभाव के अनुसार परिचय मिलता है। इसके लिये संक्षिप्त प्रकाशन, या सारांश रूप में पुस्तकें छोटी-छोटी प्रकाशित की जाती हैं। यह पुस्तकें सस्ती, छोटी तथा आवश्यक सब विषयों से पूर्ण रहती हैं। इनमें विद्यार्थी को जहाँ आर्थिक भार से बचत होती है वहाँ ब्रेणी में सुना सब विषय समझने में सरलता रहती है।

इसी कारण से या अन्य कारणों से बंगला में, मराठी में या तेलुगु में जो भी अनुवाद चरकसंहिता या दूसरे आयुर्वेद ग्रन्थोंके हुए हैं, वे सस्ते, तथा मूल के साथ साथ अनुवाद रूप में ही हैं। उनको स्पष्ट करने के लिये किसी भी अवाचीन रूप की सहायता नहीं ली गई और इन ग्रन्थों के पढ़ने से सफल बैद्य बने हैं, ऐसा हमारे देखने में भी है।

मेरी अपनी मान्यता यह है कि आयुर्वेद के विचारों को आयुर्वेद के ही दृष्टि कोण से देखा या समझा जा सकता है; और इन्हीं के दृष्टि कोण से देखने और समझने की कोशिश करनी चाहिये। इस अवाचीन चिकित्साशास्त्र से हमारे शास्त्र का समन्वय सिद्धान्तों में हो ही नहीं सकता। दोनों पद्धतियाँ भिन्न हैं, और भिन्न रहेंगी यह कोई आवश्यक नहीं कि दोनों को एक किया जाय। होम्योपैथ अपनी पद्धति का ऐलोपेथी के साथ गोट-जोड़ा नहीं करता। ‘आयुर्वेद’

शब्द और 'एलीदैथी' ये दोनों शब्द ही भिन्न हैं, और इनके अर्थ में तो जमीन और आसमान का अन्तर है। इतनाही नहीं अपितु छच्चीस का सम्बन्ध है। फिर दोनों कैसे एक हो सकते हैं। इसलिये इस प्रकार को मिलाकर पुस्तकों लिखना-प्राचीन ग्रन्थों के प्रति न्याय में नहीं समझता। साथ ही आधुनिक विज्ञान प्रति दिन उन्नति पर है, आज से पच्चीस साल के पहले के सिद्धान्त-आज वहुत कुछ बदल गये; आज के सिद्धान्त-कल नहीं बदलेंगे यह कोई नहीं कह सकता। ऐसा अवस्था में इन पुस्तकों में केवल अग्रजी पुस्तकों का उल्था देना युक्तिसंगत मैं नहीं समझता।

इन सब वारों का विचार करके मैंने आयुर्वेद के ट्रिकोण का विचार करते हुए विद्यार्थियों की दृष्टि से, उनका रुचि के अनुसार यह अनुवाद किया है। यह अनुवाद आज से वाँस साल पहले का है, इस संस्करण में भी इसकी पुनरावृत्ति नहीं कर सकता। केवल कुछ थोड़े से स्थानों को छोड़कर। क्योंकि संस्करण वहुत दिनों से समाप्त था विद्यार्थियों की मांग थी। इसलिये इसको प्रकाशित करना जल्दी थी। प्रथम प्रकाशक-श्री आर्यसाहित्य मण्डल लिमिटेड आजमेर वालों को कई बार इसके लिये कहा-परन्तु लड़ाई के कारण तथा अन्य असुविधा के कारण वे इसका प्रकाशन नहीं कर सके। कानून के अनुसार पञ्चिशर बनने का या पटिलश करने का सबको अधिकार नहीं। इसके सिवाय कागज की असुविधा। इसलिये मुझे इसी ऐसे पञ्चिशर की इच्छा थी जो इस उत्तर इन असुविधाओं में भी इसका प्रकाशन शीघ्र कर दे। श्रीकलाङ्गनाथजी भगवान् अमर मार्णिक भागवत पुस्तकालय काली बाल से पत्र द्यवदार हुए। और अब तो उन्होंने इसको छापना भी स्वीकार किया जिसका फल यह है कि इस समय में कागज कम्पोजिटर आदि की कठिनाई होते हुए भी यह लप सका। इसके लिये वे अन्यवाद के पात्र हैं। अग्रिम संस्करण में सम्भव हुआ तो इसकी पुनरावृत्ति हो सकेगी।

आशा है कि जिस प्रकार वैद्य समाज ने, विद्यार्थियों ने इसकी पहला संस्करण अपनाया था उसी प्रकार इसका यह भी दूसरा संस्करण अपनायें।

इति श्रम्

चरक-संहिता

विषय-सूची

मूलस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १-२८)

दीर्घजीवितीयः—कृषिभरद्वाज का हन्द्र के पास गमन। रोगों का प्राणुर्भाव। कृषियों का यमा, रोग शान्ति के उपाय पर विचार। हन्द्र के पास जाने के लिये भरद्वाज का निश्चय भरद्वाज का हन्द्र से विस्कन्ध आतुर्वेद का व्रहण। भरद्वाज से कृषियों का आयुर्वेद-अध्ययन। आत्रेय युर्वर्तु का छः शिष्यों को उपदेश। प्रथम नन्द्र-प्रगेता अग्निवेश। भेद आदि अन्य तत्त्वकार। अतुर्वेद का लक्षण। अतुरु का लक्षण आतुर के पद्यमरार्थ लक्ष्म सामान्य और विशेष। आयुर्वेद के प्रकाश लस्ते का प्रयोजन। द्रव्य। गुण। इन्द्रियों के अवये। कर्म। सर्वशाय। द्रव्य का लक्षण। गुणों का लक्षण। कर्म का लक्षण। गत्तरान्य आदि छः वारण उनके कार्य आतुर्वेदों के विषम होने का कारण। सुख दुःखों का आप्रय आत्मा का स्वरूप। रोगप्रकृति रोगों का प्रतीकार और उनके भेद। वायु का लक्षण पित का लक्षण कफ का लक्षण। साध्य रोगों की शान्ति

रोगों की उत्पत्ति। रसों द्वारा दोषों की नानि द्रव्य के भेद लंगम द्रव्य भौम द्रव्य। ऊद्भिन्द द्रव्य के चार भेद उनके अंग। मूलिनि वनस्पतियां उनकी गणता हन्ते कर्म। फलिनि वनस्पतियां इनके कर्म। चार प्रकार के स्त्रेह इनके कर्म आठ प्रकार के सूत्र। मूत्रों के नामान्वय गुण। आठ प्रकार के दूष उनके नामान्वय गुण। दूष के कर्म। दूष चाले दृष्ट उनके गुण। उपसंहार। श्रीपथि ज्ञान का प्रयोजन, न जानो हुइ धूपदिव्यों से हानियां। धैश के कर्तव्य। अध्याय मंग्रह।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० २९-३७)

अपानागीतण्डुलीयः—तिरोवि-रेचोपयोगी द्रव्य। वमनकारक द्रव्य। विरेचन द्रव्य। आम्यापन और अनु-दानन के द्रव्य। मात्रा और काल के विचार को आवश्यकता। रोगियों के लिये विशेष आहार द्रव्य, यवागू और विलेपीपाक। उपसंहार।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ३७-४५)

आर रवधीयः—त्वक्-रोगोंपर ३२ योगों का वर्णन

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० ४५-६२)

षष्ठ्विरेचनशताश्रितीयः—विरेचन का शब्दार्थ संशमन चिकित्सा । विरेचन के छः सौ योग विरेचन ओषधियों के ६ आश्रय कथाय की पांच योनियां । कथाय कल्पना की ५ विधि । कथायों के लक्षण । महाकथाय । ५०० कथायों की कल्पना । उत्तम वैद्य ।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० ४७-८८)

मात्राशितीयः—आहार की मात्रा आहार के चार प्रकार । मात्रा में बाने का फल । स्वस्थवृत्त । धूत्र प्रयोग की विधि । स्नैहिक धूम विरेचनिक धूम । धूत्रपान के गुण । धूत्रपान के आठ काल । ठीक प्रकार से पान किये हुए धूम-पान का लक्षण । अधिक धूत्रपानमें उपज्ञ उपद्रव और उनकी चिकित्सा । धूत्रपान के अयोग्य जन । धूम पीने की विधि । धूमपान के आसन । नलिका की बनावट । अयोग्य रूप में पिये धूम के लक्षण । अतियोग के रूप में धूमपान के लक्षण । नस्य प्रयोग । अणु तैल की विधि । दन्तधावन की विधि । दातुन करने से लाभ । जीभ को साफ़ करने की विधि । दातुन के लिये उत्तम वृक्ष स्नेहगण्डूष के गुण । शिर पर तैल लगाने से लाभ । कान में तैल ढालने से लाभ । शरीर पर तैल लगाने की विधि । पांच में तैल मर्दन के गुण । उबटन लगाना । स्नान का फल । स्वच्छ वस्त्र पहिनने के गुण । गन्ध माला आदि धारण करने के गुण । रत्न, आभू-

षण आदि धारण करने से लाभ । दीर्घायु के लिये आवश्यक शुचिकर्म : जूता पहिनने के गुण । दण्ड धारण के गुण । संक्षेप से स्वस्थवृत्त । उपसंहार ।

षष्ठ्योऽध्यायः (पृ० ८५-९४)

तस्याशितीयः—भोजन पर अतिरिक्त आदान और विसर्ग काल का वर्णन । दो अयत । हेमन्तकाल की परिचयां । हेमन्त ऋतु में व्याज्य । वसन्त की ऋतुचयां । श्रीष्मन्तवार्षीय-वर्षांकोल की ऋतुचयां । शरदकाल की परिचयां । हंसोदक का लक्षण । आकःन्याय । उपसंहार ।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० ९४-१०६)

न वेगान्धारणीय—मल मूत्र आदि के न रोकने का उदादेश । उनके रोकने से हातियां और चिकित्सा । मन के निन्दित कार्य । बाणी के निन्दित कर्म-शरीर के निन्दित कर्म । व्यायाम से लाभ । अधिक व्यायाम से हानियां । हितकारी कारों के संबन्ध का क्रम । प्रकृति । तदनुसार हित सेवन का उपदेश-कारण से उपज्ञ होने वाले रोगों से बचने के उपाय । आगमनुज रोगों के प्रतिकार । संबन्ध करने योग्य मनुष्य । उपसंहार ।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० १०३-११६)

इन्द्रियोपकर्मणीयः—इन्द्रिय और उनके अर्थ और मन का वर्णन । पांच इन्द्रिय, उनके ग्राह्य पांच द्रव्य । उनके पांच ग्राह्य अर्थ । अध्यात्म गुण । द्रव्यांश्रित कर्म । इन्द्रिय और उनके साथ

ग्राह्य विषयों के समयोग, अयोग, हीन-योग मिथ्यायोग और अतियोग । उनके परिणाम । सद्वृत्त शिक्षा । भोजन विषयक सद्वृत्त । शौचसद्वृत्त । खियों के महयोग में सद्वृत्त । गुरुजनों के प्रति सद्वृत्त । अध्ययन के सम्बन्ध में सद्वृत्त । शिष्टाचार । इति स्वस्थथचतुकः । नवमोऽध्यायः (पृ० ११६-१२३)

सुड्डाकचतुष्पादः—चिकित्सा के क्षुद्र चार चरण । चिकित्सा का लक्षण । वैद्य के गुण । द्रव्य के गुण । परिचारक के गुण-रोगी के गुण । चिकित्सा के मुख्य कारण-वैद्य । मूढ़-वैद्य-उसके दोष । उपसंहार ।

दशमोऽध्यायः (पृ० १२३-१२०)

महाचतुष्पादः—चिकित्सा का प्रयोगजन । चिकित्सा करने और न करने पर विचार—मैत्रेय-आद्रेय संवाद । चिकित्सा का प्रत्यक्ष सफलता । रोगों के साध्यासाध्य पर विचार । सुख-साध्य—कुच्छसाध्य । साध्य व्याधियों के तीन भेद । असाध्य और याप्त रोग । सुखसाध्य व्याधि के लक्षण । याप्त व्याधि के लक्षण । असाध्य व्याधि के लक्षण । वैद्य का कर्त्तव्य । उपसंहार ।

एकादशोऽध्यायः (पृ० १२०-१४८)

त्रिसंषषणीयः—तीन एषणाओंका वर्णन । ग्राणेषण, धनैषण, परलोकेषण । नास्तिकता पर विचार-परलोक और आत्मा की सत्ता पर विचार । नास्तिक मतों का खण्डन । सत् असत्

का चार प्रकार की परीक्षा । आसों के लक्षण । आसोपदेश-प्रत्यक्ष अनुमान-युक्ति । इन के द्वारा उन्जन्म का निर्णय । आसागम-वेद का निर्णय । प्रत्यक्ष अनुमान युक्ति । इन के द्वारा निर्णय । तीन प्रकार के उपस्तम्भ । तीन प्रकार का वल-रोग के तीन आयतन-पांचों ज्ञानेन्द्रिय और मन के अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग । साम्य-भस्माम्येतिव्यार्थसंयोग । मिथ्यायोग—प्रज्ञापराध । काल—काल के अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग । काल परिणाम । रोग के तीन प्रकार । मानस रोगों की औषध । तीन रोगमार्ग—शाखा मर्मस्थ और कोष । सात रोगमार्ग । मध्यन रोगमार्ग । आम्यन्तर रोगमार्ग । निष्पक् वैद्य के तीन प्रकार । छन्मचर वैद्य का लक्षण । सिद्ध साधित वैद्य—सद्-वैद्य के लक्षण । औषध के तीन प्रकार—द्रव्यप्राश्रय, युक्तिव्यप्राश्रय और सत्वावजय । औषध के तीन प्रकार—अन्तःपरिमार्जन-बहिःपरिमार्जन, शख्प्रणिधान । संप्रह ।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० १४८-१५५)

वातकलाकलीयः—वातु के अंशांश-विकल्पना पर विचार । सांकृत्यायन कुश का मत । कुमारशिरा भारद्वाज का मत । कांकायन का मत । धामार्गेव बडिश का मत । वायोविद का मत । मरीचिका मत । वायोविदमरीचि-संवाद । मरीचि-काप्य संवाद । पुनर्बंसु आत्रेय का मत । उपसंहार ।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० १५५-१७२)

स्नेहाध्यायः—अग्निवेश का प्रवृत्ति उनवंसु का प्रतिवचन। स्नेहों के दो प्रकार के उत्पत्तिस्थान—स्थावर और जंगम। सब तैलों में सर्वश्रेष्ठ तिल तेल और स्नेहों में पृथृत। स्नेहों के गुण न्मेहपान गुण—उत्ससे हानियाँ। स्नेह की २४ प्रकार की प्रविचारणाएँ। स्नेह की तीन मात्रा प्रधान, मध्यम, महसू। कोइनसा स्नेह किसके लिये हितकारी। स्नेह के अयोग्य व्यक्ति। रिक्तध, अस्तित्व, अति स्तिरग्य के लक्षण। स्नेहन कालमें हिताहितः उपसंहार।

चतुर्दशोऽध्यायः (पृ० १७३-१८०)

स्वेदाध्यायः—स्वेदविधि। स्नेह, न्मेहन के गुण—उपयोगिता—उसके परिणाम। स्वेदन की अवधि—अतिस्वेदन के लक्षण और उपचार। न्मेहन इसे योग्य व्यक्ति। स्वेद-योग्य व्यक्ति। स्वेदन इव। नाईस्वेद। उपमाहविधि। नंकरस्वेद। प्रस्तरस्वेद। नाईस्वेद। परिषेकस्वेद। अवगाहस्वेद जन्मताकस्वेद। अदमयतस्वेदविधि। कर्तृ-स्वेद। कुटीस्वेदविधि। भूस्वेदविधि। कुम्भीस्वेदविधि। कूपस्वेद। होलाक-स्वेद। अस्तिरहित स्वेद। स्वेदके दो प्रकार, अग्निस्वेद, विरचिन-इनके खंड। उपसंहार।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृ० १८५-१९६)

उपकल्पनीयः—चिकित्सा के पूर्व उचित साधनों के संग्रह का प्रयोजन। आशुवंद के ज्ञान-अज्ञान की लुलना—

अग्निवेश-आच्रेय संवाद। संशोधन के उपयोगी नाना प्रकार के उपकरणों का संग्रह। स्नेहन, स्वेदन की विधि। वमन के अयोग, सम्यक्-योग और अतियोग के विशेष लक्षण। उत्तर उपचार-उपसंहार।

पोषणोऽध्यायः (पृ० १९६-२०३)

चिकित्साप्राभृतीयः—कठू वैद्य और भस्त्रद वैद्य के प्रयोगों में खंड। सम्यग् विरेचन के लक्षण। विरेचने के अतियोग के लक्षण। संजोधन योग्य व्यक्ति। संजोधन वा पाठ, अतियोग होले पर क्षय करना चाहिये। आनुजों का समान और दिपसाना पर विचार। उपलब्धार।

सप्तदशोऽध्यायः (२०६०-२०)

क्रियन्तःस्त्रीहारसायः—गिरोरोग, ददूकरोग, वात आदि दोषों के संलग्नों में उत्पन्न रोग। इण-ओरन-पिडका और दोषों द्वी प्राप्ति व स्फवन्ध में अग्निवेश का प्रवृत्त। गुरु अवैय एवं वृद्धसु का ग्रन्तिवचन। निर दं उत्पन्न होने वाले पांच प्रकार के शिरोरोग। दातजन्य शिरोरोग के लक्षण। पिराजन्य, कफजन्य और विदोषजन्य शिरोरोग के लक्षण। पांच प्रकार के हृदय रोग। दातजन्य, पिराजन्य, कफजन्य, और विदोषजन्य हृदयशूल के लक्षण। कुमिजन्य हृदयरोग के लक्षण। वात आदि दोषों के संसर्ग से उत्पन्न विकारों के ६२ खंड। दोषों के उपद्रव। अद्वारह प्रकारके क्षय। ओज का स्वरूप। क्षय के कारण।

मधुमेह के कारण । सात पिंडकाएँ । विद्रधि, पिंडका । विद्रधि का निदान स्नाव के लक्षण । साध्य-असाध्य विद्रधि के लक्षण । भेद के दोष से उच्चन पिंड-काएँ—शराविका, कच्छपिका, जालिनी । मर्पिणी, अलजी, चिनता आदि—इनके उपचर दोषों की तीन प्रकार की गति । तीन प्रकार की और गति, संचय, प्रकोप और शमन—संचय के दो भेद—प्राकृत और वैकृत । उपमंहार ।

अष्टादशोऽध्यायः (पृ० २३१-२३२)

त्रिशोशीयः—तीन प्रकार का गोथ (नूजन)—उसके एुनः दो प्रकार निज और आगन्तु । आगन्तु गोथ का निदान—चिकित्सा । निज गोथ के कारण और सामान्य लक्षण । बातजन्य गोथ के लक्षण । गोथ के दो, तीन, चार, और सात प्रकार । बात, पित्त, कफ और सात प्रकार । बात, पित्त, कफ और लक्षित आदि से उच्चन गोषों के लक्षण । कषायाध्य दोथ । गोथ के उपचर । उपचिह्निः, गल्गुणिडका, गलगण्ड, गलग्रह, विसर्प, पिंडका और शंखक के लक्षण । गुलम, धन्त, उदर, आगाह, का लक्षण । रेणिणी रोग, । मृदु, दारण भेद से साध्य-असाध्य रोग के लक्षण । पीड़ा, वर्ण, सदुश्थान, कारण, स्थान, संस्थान नाम भेद आदि के कारण रोग के असंख्य भेद । दोषों के प्राकृत और विकृत के लक्षण । उपसंहार ।

उनविंशोऽध्यायः (पृ० २३१-२३२)

अष्टादरीयः—उदर रोग आदि ४८ प्रकार के रोगों की गणना और

उनके भेदों के नाम से निदेश । आठ प्रकार के उदर रोग । सात प्रकार के कुण्ठ । छः प्रकार के अर्तीसार । पांच प्रकार के गुल्म । चार प्रकार का अपस्मार । तीन प्रकार का शोथ । दो प्रकार का उवर । दो प्रकार के वण—दो आयाम—दो प्रकार की शृङ्खला—दो प्रकारका आम दो प्रकार का वातरक्त—एक प्रकार का उल्लन्तम्भ—एक प्रकार का संन्यास—एकप्रशार का महागद । दोन प्रकार की दिग्नि जातिशार्दीस प्रकार के प्रमेह—बीस प्रकार के योनिरोग । उपमंहार । **दिंशोऽध्यायः** (पृ० २३७-२४६)

महारोगाः—चार प्रकार के रोग, हृतकी समानता, लिंग और अश्वतन भेद से असंख्य रोग—उसका भेदक कारण । दो प्रकारके विकार—नामन्त्र और नानाम्बज । अस्सी इकार के वात-विकार । चालीस विकल्पिकार । उनके लक्षण । बीस कफजन्य रोग । उनके लक्षण । उपसंहार ।

एकविंशोऽध्यायः (पृ० २४६-२५५)

अष्टौनिनिदतीयः—आठ निनिदत पुरुष । दिशेष रूप से निनिदत दो, अति-स्थूल और अतिकृश स्थूल पुरुष के दोष, कारण और लक्षण । अतिकृश के दोष, कारण और लक्षण । आदर्श पुरुष । स्थूल को कृश बनाने के लिये उपाय । इन रोग की चिकित्सा । निद्रा के उचित सेवन से लाभ । दिन में सोने के योग्य व्यक्ति,

उनको दिन में सोने से लाभ । दिन में सोने का उचित काल-ग्रीष्म ऋतु-अन्य क्रतुओं में दिन में सोने से हानियाँ । रात्रिजागरण के दोष । निद्राव्यादक उपाय । अनुचित निद्रा को रोकने के उपाय । उपसंहार ।

द्राविंशतितमोऽध्यायः: (पृ० २५६-२६१)

लंघनवृहणीयः:—वैद्य का लक्षण लंघन, वृहण, स्नेहन, स्नम्भन के सम्बन्ध में अविवेश का प्रश्न । आश्रेय पुनर्वसु का प्रतिवचन । लंघन, वृहण, स्नेहन, स्नम्भन के लक्षण । लंघन, वृहण आदि कारक द्रव्यों के कारण । लंघन के योग्य व्यक्ति । वृहण के योग्य द्रव्य और व्यक्ति । विरक्षण करने योग्य व्यक्ति और द्रव्य । स्नम्भन द्रव्य और स्नम्भन योग्य व्यक्ति : सम्यक् लंघन और लंघन के अतियोग के लक्षण । सम्यक् वृहण और वृहण के अतियोग के लक्षण । रक्षण के सम्यक्योग और अतियोग । स्नम्भन के सम्यक्योग और अतियोग के लक्षण । लंघन आदि छः कियाओं के अयोग, हीनयोग के दुष्परिणाम ।

त्रयीविंशतितमोऽध्यायः: पृ० २६२-२६६

सन्तर्पणीयः:—सन्तर्पणजन्य रोग के कारण । रोगों के लक्षण—उनकी चिकित्सा । अपतर्पण और तज्जन्य रोग—उनका उपशमन ।

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः: पृ० २६७-२७३

विधिशोणितीयः:—विशुद्ध रक्त का लाभ । रक्त दूषित होने के कारण

और लक्षण । चिकित्सा । विशुद्ध रक्त का लक्षण । विशुद्ध रक्त वाले पुरुष का लक्षण । मट के लक्षण । मूर्छा के लक्षण । अपस्मार और संस्मास के लक्षण । इन के उपाय । उपसंहार ।

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः: पृ० २७५-२८१

यज्ञःपुरुषीयः:—पुरुष और रोग की उत्पत्ति पर ऋषियों का संबाद । पाराक्षि मौद्रगल्य का मत पुरुष और रोगों का उपादान कारण ‘आमा’ है । शरलोमा का मत पुरुष और रोगों का उत्पादन ‘सत्त्व’ है । वार्योचिद का मत प्राणियों आर रोगों का उत्पात मूल ‘सस’ है । कुशिक हिरण्याक्ष का मत पुरुष और रोग द्वा० धातुओं से उत्पन्न होते हैं । शैनक का मत रोगों और पुरुष की उत्पत्ति मात्रा पिता से हुई । भट्टकात्य का मत कर्म से पुरुष और रोग उत्पन्न होते हैं । भरद्वाज का मत कर्ता से स्वभावतः पुरुष और रोग उत्पन्न होते हैं । कांक्षयन का मत मुख दुःख, चेतन अचेतन का कर्ता प्रजापति हैं । आत्रेय भिक्षु का मत पुरुष और रोगादि काल से उत्पन्न होते हैं पुनर्वसु आत्रेय का सिद्धान्त पञ्च महाभूतों से पुरुष और उनसे ही रोग उत्पन्न हुए । इस पर पुरुषों और रोगों की वृद्धि के कारण के विषय में काशिपतिवामक का प्रश्न । भगवान् आत्रेय का प्रतिवचन हिताहित सेवन । अग्निवेश आत्रेय संबाद हित अहित का लक्षण । आहार द्रव्य पर विचार । हित आहार ।

अहित आहार । हित और अहित उपयोगी द्रव्य । श्रेष्ठ द्रव्य । श्रेष्ठ का लक्षण । द्रव्यों के नौ उत्पत्ति स्थान । उपसंहार !

पट्टविशोऽध्यायः: (पृ० ३६१-३६२)

आत्रेयभद्रकार्यायः:—ऋग्मि
मन्त्राद् । ग्रन्थ के विषय में भद्रकार्य का
मत ग्रन्थ एक है ब्राह्मण शाकुन्तले का
मत ग्रन्थ दो हैं पृष्ठाक्ष नौद्रगल्व का मत
ग्रन्थ तीन हैं द्विरण्याश कौशिक का मत
ग्रन्थ चार होते हैं कुमारविशा भरद्वाज
का मत ग्रन्थ पांच हैं । वायोंविद का
मत ग्रन्थ छः हैं वैदेह निमि का मत
ग्रन्थ सात हैं धामार्गव वृडिश का मत
ग्रन्थ आठ हैं बालहीक भिषक कांकायन
का मत ग्रन्थ अगणित हैं । उनवर्तमु
आत्रेय का मत ग्रन्थ छः हैं ग्रन्थों का
उत्पत्ति, कर्म, रुचि और प्रभाव । ग्रन्थ
विवेचन । द्रव्यों के भेद उनके कर्म ।
कर्म, वीर्य, काल, अधिकरण, उपाय,
तथा फल के लक्षण । द्रव्य, देश,
काल, प्रभाव से द्रव्यों के ६३ भेद ।
ग्रन्थों के भेद, दो दो ग्रन्थ के १२ भेद ।
तीन २ ग्रन्थों के बीस भेद । चार चार
ग्रन्थों के १५ भेद । पांच २ ग्रन्थों के छः
भेद । एक २ ग्रन्थ के छः भेद, सर्वयोग
६३ ग्रन्थ । वैद्यप्रशंसा । अनुसर ।
अतिरिक्त दश गुण । इनके लक्षण ।
ग्रन्थों की उत्पत्ति । ग्रन्थों के अनुसार
द्रव्यों के गुण कर्म । मधुर ग्रन्थ । अम्ल
ग्रन्थ । लबण ग्रन्थ । बहुत उपयोग से
हानियां । कदु ग्रन्थ के गुण उसके

अति सेवन से हानियां । कवात ग्रन्थ के
गुण और उसके अति सेवन से हानियां ।
रसानुसारी द्रव्यों का वीर्य । ग्रन्थों में
तर-तमयोग । विपाक । पदार्थों के
वीर्य & प्रकार के । विपाक का लक्षण,
प्रभाव । छः ग्रन्थों के लक्षण । विरोधी
आहारों के लक्षण उनके गुण दोष
हितकारी अज्ञ । कालविरुद्ध, देशविरुद्ध
अङ्गविरोधी, परस्परविरोधी, साम्य-
विरोधी, दोषविरोधी, संस्कारविरुद्ध,
र्वीविरोधी, कोषविरोधी, अवस्थाविरुद्ध
क्रमविरुद्ध, परिहारविरोधी, पाकविरोधी,
संयोगविरोधी, सम्पदविरुद्ध, और शाख-
विरुद्ध आहारों का वर्णन । विरोधी
अज्ञ सेवन से रोगों की उत्पत्ति । वरुद्ध
अज्ञ सेवन से उत्पन्न रोगों का प्रति-
कार । उपसंहार ।

सप्तविशोऽध्यायः: (पृ० ३६२-३७४)

अन्नपानविधिः:—प्राणरूप अज्ञ का
स्वरूप । प्राणों का मूल जाठराज्ञि अज्ञ
इन्धन-अन्नपान विधि का विस्तार से
वर्णन । जल, क्षार, धूत, दूध, मद्य,
सिरका, फाग्नित, पिण्याक, दालें, मधु
आदि के सामान्य गुण दोष । आहार
पदार्थों के १२ वर्ग शुक्रधान्यवर्ग ।
शर्मीधान्यवर्ग । मांसवर्ग । विलेशद
वारिशय जलचर जंगलीमूर्ग विक्रिर
प्रतुद प्रसह और आनूप ये मांस के
आठ उत्पत्ति स्थान । इन मांसों के
गुण । शाकवर्ग । फलवर्ग । हरितवर्ग ।
मध्यवर्ग । जलवर्ग । दुरुधवर्ग । इम्बु-

वर्ग । कृतान्वयवर्ग । आहारयोनिवर्ग । प्रशस्त धान्य । त्वाज्य मांस । त्वाज्य शाक । अनुपान । उनके गुण । जल के अनुपान के अशोभ व्यक्ति । खाद्य पदार्थों में तुग लघु विचार । उपसंहार । अष्टाविंशोऽध्यायः (पृ० ३७८-३८५)

विविधाशितपार्तीयः—शरीर के सब धातुओं का अच्छ से सम्बन्ध । आहार से उत्पन्न तीन पदार्थ रोग, किट और मल हिन्दूहित आहार और रोग एवं आरोग्यविषयक अस्तित्व का प्रदर्श आवेद्य एुर्वसु का समाधान । धातु रोग रोग-सम्बन्ध रोग । रक्तजन्य, मांसजन्य, मेदजन्य, मउजाजन्य और शुक्रजन्य रोग । अपश्याहार से मनों का प्रकोप । धातुजन्य विवरों की चिकित्साओं का निर्देश । उपसंहार । इन्द्र्यदानन्दनुकूल ॥

एकोनविंशोऽध्यायः (पृ० ३८७-३९०)

दश प्राणायननीयः—प्रण के दृश्य स्थान, प्राणायनिरविद्य के लक्षण । शोगान्तिसर वैद्य के लक्षण । उद्देश्यी वैद्यों का वर्णन । उपसंहार ।

विश्वामीठध्यायः

(पृ० ३९१-३९४)

अर्थ दशमहामुहूर्तः—हृदय में आश्रित दस धमनियाँ । हृदय के पर्याय । हृदय का महत्व । दस महामूल धमनियों का प्रतान । धमनी के पर्याय । सेवन योग्य पदार्थ । आयुर्वेद के ज्ञाता के लक्षण । वाक्यार्थ 'अर्थावयवशः निरूपण' । आयुर्वेद का मूल वेद अथव

वेद । आयु के समानार्थक पर्याय । आयुर्वेद का लक्षण । आयु का लक्षण । आयुर्वेद की नित्यता आयुर्वेद के आठ अंग । आयुर्वेद के अधिकारी । वैद्य की परीआ । चरक तन्त्र के आठ स्थान उनके अध्यायों की पुस्तक २ गणना और नाम से निर्देश । तन्त्रयुक्ति । अन्य संक्षेप । प्रतिवार्दी उत्पाती वैद्या-भास को पराय करने का प्रकार । तन्त्रविज्ञान और गत्रांल वैद्यों के स्वरूपे । उपसंहार । इति सूत्रस्थानम् ॥

निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० ४०८-४२१)

उद्वरनिदानम्—निदान के पर्याय । रोग के नाम प्रकार—आङ्गूष, मौख्य और दायड्य । निदानाङ्क अयोन रोग के पर्याय । उवंलव लिंग उपशय, मस्तानि के लक्षण । मस्तानि के भेद । उद्वर निदान । उद्वर दाय के लक्षण । पित्तलवर यमदानि और लक्षण । कफ-उद्वर समाप्ति और लक्षण । मस्तानि एव स्मार्तपात्रिक उद्वर । आपान्तुजवर यमप्राप्ति-लक्षण । उद्वर-उद्वर के भेद । उद्वर के पूर्वस्थ उद्वर दा, उपत्ति उद्वर का परिणाम । उद्वर का विकिस्मयद्व । जीर्ण उद्वर में शून्यपात्र । संस्कार मिद्द घृत-घृत की श्रेष्ठता । उपसंहार ।

त्रितीयाऽध्यायः

(पृ० ४२२-४२८)

रक्तपित्तनिदानम्—रक्तपित्त का लक्षण । पित्त प्रकोप से रक्त का दोष । लोहित पित्त वा रक्तपित्त नाम ऐडने

का हेतु । रक्षपित के पूर्वरूप । रक्षपित के उपद्रव । रक्षपित के दो मार्ग साध्य असाध्य के विचार । रक्षपित का इतिहास । उर्ध्वगामी रक्षपित नाथ । अधोगामी रक्षपित याप्त । उभयमार्ग नामी रक्षपित अपाप्त । द्विदोषज वा त्रिदोषज रक्षपित के चिकित्सा । साध्य रोग के असाध्य हों जने के कारण । असाध्य रक्षपित के लक्षण । उपसंहार ।

चतुर्थोऽध्यायः

(पृ० ४२८-४३६)

गुरुमनिदानम्—गुरु के दोष भेद—वातगुरुम्, वित्तगुरुम्, कफगुरुम्, नित्यगुरुम्, रक्तगुरुम् : इनके दब्दनद में अपिदेश का प्रदेश । वातगुरुम्, सम्प्राप्ति और लक्षण । वात व साथ पिण प्रकोप के कारण । वित्तगुरुम् की सम्प्राप्ति । वात के साथ कफ प्रकोप के कारण । कफगुरुम् की सम्प्राप्ति । मायायातिळ गुरुम् । रक्तगुरुम् । रक्तगुरुम् की सम्प्राप्ति । गुरुम् का पूर्वरूप उपसंहार ।

चतुर्थोऽध्यायः

(पृ० ४३६-४४०)

प्रनहनिदानम्—प्रमहों की संख्या । रोगों के विपात भाव-अनुवाय । कफप्रमेह के कारण । कफप्रमेह के दूष्य । कफप्रमेह की सम्प्राप्ति । विकृत कफ के दश गुण । कफजन्य दश प्रमेह । जैसे उदकमेह, इभुवालिकामेह, सान्द्रमेह, सान्द्रप्रसादमेह, शुक्रमेह,

शुक्रमेह, शीतमेह, सिकतमेह, शर्तमेह, आलालमेह । पित्तप्रमेहों के कारण और सम्प्राप्ति । पित्तजन्य छः प्रमेह । धारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितमेह नविष्टामेह और हारिद्रमेह । पित्तप्रमेहों का विशेष विज्ञान । यातजमेह के कारण । उनके प्रकार वातप्रमेह, घटमेह, हस्तिमेह, मधुमेह । सब वातजमेह जलाध्य । वातप्रमेहों का विशेष विज्ञान । प्रमेहों के पूर्वरूप । प्रमेह के उपद्रव चिकित्सा । प्रमेह किन को होता है । उपसंहार ।

पञ्चमोऽध्यायः

(पृ० ४४७-४५५)

कुष्ठनिदानम्—कुष्ठ रोग के उपर्याति । कुष्ठ के लाल भेद, तर-तम भेद से कुष्ठों के अद्यन्तय भेद । कुष्ठ रोग के कारण । कुष्ठ रोग के पूर्वरूप, कपाल कुष्ठ । उकुम्बर कुष्ठ । मयडल कुष्ठ । क्रम्पजिह्वा कुष्ठ । उण्डरीक कुष्ठ । सिथम । छाकणक कुष्ठ । साध्य असाध्य भेद । उपद्रव, उपसंहार ।

षष्ठोऽध्यायः

(पृ० ४५४-४६३)

शोपनिदानम्—शोप के चार दशण । शोप का कारण साहस, । शोप रोग का कारण वेग-संधारण, । क्षय का विवरण । शुक्रक्षय । शोप का कारण विपमाशन । राजयक्षमा शब्द की निरुक्ति । शोष के पूर्वरूप । राजयक्षमा के ११ रूप । राजयक्षमा के साध्य और असाध्य रूप । उपसंहार ।

सप्तमोऽध्यायः

(पृ० ४६३-४७२)

उन्मादनिदानम्—पांच प्रकार के उन्माद । उन्माद का लक्षण । उन्माद के पूर्वरूप वातोन्माद के लक्षण । पित्तजन्य उन्माद के लक्षण । साक्षिपातिक उन्माद । उन्माद की चिकित्सा । आगन्तुज उन्माद । उन्माद का प्रारम्भ । आगन्तुज के लक्षण । आघात काल । उन्माद उत्पन्न करने का प्रयोजन । उन्माद के भेद । उपसंहार ।

अष्टमोऽध्यायः

(पृ० ४७२-४८०)

अपस्मारनिदानम्—चार प्रकार का अपस्मार । निदान और नम्राणि । अपस्मार का लक्षण । अपस्मार के पूर्वरूप वातजन्य अपस्मार के लक्षण । पित्तजन्य अपस्मार । कफजन्य अपस्मार । साक्षिपातिक अपस्मार । चिकित्सा सूत्र । भिन्न २ रोगों की उन्नति । लाघ्य और असाध्य । रोग ज्ञान का फल । एक रोग के कारण दूसरा रोग । शुद्ध प्रयोग का लक्षण । कारण भेद । लक्षण भेद । चिकित्सा विधान । सुखसाध्य और दृच्छसाध्य । साध्य और असाध्य । उपसंहार । इति निदानस्थानम् ॥

विमानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

(पृ० ४८१-४९४)

रसविमानम्—विमानस्थान का प्रयोजन । छः रस तीन दोष । रसों के

प्रभाव । द्रव्य के प्रभाव । सात्त्व । सात्त्व के भेद । प्रवर मध्यम और अवर । आहार विधि उसके आठ अंग । करण । संयोग । राशि । देश । काल । उपयोग संस्था । उपयोक्ता । आहार विधि । आहार के सदृगुणों का उपदेश । उपसंहार ।

द्वितीयोऽध्यायः

(पृ० ४९४-५०१)

त्रिविधकुशीयं विमानम्—पट में तीन भाग । आहार की अमादा, हीन मादा, अधिक मादा । उनके दोष आहार की अति मादा से हानिया । आमप्रदोष के दो प्रकार-विपूचिका और अलयक । अलयक का स्वस्थ । अस्वस्थ अलनक । लाघ्य उल्लंक की चिकित्सा । विपूचिका का उपाय । आम प्रदोष में आंघष का प्रयोग । अपतरण का प्रयोग । अन्न पाचन के नम्रन्दृष्टि में अस्तित्व का प्रश्न और आंत्रेय इनवर्गु का उत्तर । उपसंहार ।

तृतीयोऽध्यायः

(पृ० ५०१-५१६)

जनपदोदूषस्मनीयं विमानम्—जनपदनाशक रोग के प्रतीकार का उपदेश । जनपदनाशक रोग के फैलने के कारण प्रश्न और उत्तर । आरोग्यनाशक कायु के लक्षण । रोगकारी जल के लक्षण । नाशकारी रोगों के पूर्व, देश में उपस्थित लक्षण । विपरीत कृतु के लक्षणों वाला काल । आयु-रक्षक उपाय । वायु आदि में विगुणता उत्पन्न होने का

कारण, अधर्म । अधर्म की युगों के अनुसार उत्पत्ति और उसके दुष्परिणाम । आयु के समय और परिणाम विषयक अग्निवेशा का प्रश्न तथा आत्रेय ऋषि का प्रतिवचन । दैव और पुरुषकार का लक्षण तीन प्रकार की आयु । आयु का काल । अकाल-मरण पर विचार । काल मृत्यु और अकाल मृत्यु पर विचार । ज्वर में उत्पन्न जल देने विषयक प्रश्न । आत्रेय का उत्तर । ज्वर में उत्पन्न जल के गुण । निदान से विपरीत चिकित्सा । अपवर्णण तीन प्रकार के उनके उपयोग के अवसर । न्याय रोगी । उपसंहार ।

चतुर्थोऽध्यायः

(पृ० ५३६-५२४)

द्विविधरोगविशेषविज्ञानीयम्—
तीन प्रकार के रोग विशेषों का विज्ञान
आपोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष ।
आपोपदेश का निरूपण । प्रत्यक्ष और
अनुमान के लक्षण । आपोपदेश से
क्या जानें । प्रत्यक्ष से क्या जानें ।
अनुमान से क्या जानें उपसंहार ।

पञ्चमोऽध्यायः

(पृ० ५२४-५२१)

स्त्रोतोविमानम्—शरीर गत
उनके धातुवाही स्रोतों का वर्णन ।
प्राणवह स्रोतों के दुष्ट होने पर लक्षण ।
जलवह स्रोत अज्ञवह स्रोत । रसवह
स्रोत । रक्तवह स्रोत । मांसवह स्रोत ।
मूत्रवह स्रोत । पुरीषवह स्रोत । स्वेद-
वह स्रोत । स्रोतों के पर्याय । स्रोतों

के प्रकोप के कारण । स्रोतों के दोष का
लक्षण । स्रोतों के प्रकृतिसिद्ध रूप ।
उपसंहार ।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० ५३०-५४१)

रोगानीकं विमानम्—प्रभाव
भेद से रोगों के प्रकार भेद । दून
प्रकार के रोग । दो मानस दोष रजन्
और तमस । इनके कुपित होने के तीन
कारण अनुवन्ध्य-अनुवन्ध भेद से रोगों
में भेद । वृल के भेदों से गरीबस्थ अन्नि
के चार प्रकार वात, पित्त, कफ प्रकृति
के पुरुषों का विवेचन । आरोग्य प्रकृति ।
सम प्रकृति । वातल, पित्तल और
श्वेषल तीन प्रकार के रोगी । चात,
पित्त और श्वेष प्रकृति के पुरुषों के
लक्षण इनके अनुकूल आहार दिहार ।
उपसंहार ।

सप्तमोऽध्यायः

(पृ० ५४१-५५)

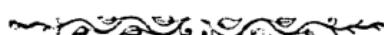
व्याधितरुपीयं विमानम्—
व्याधि के ज्ञान में अम । चार प्रकार
के कूमि । दो प्रकार का मल । उनमें
उपच्छ कूमि । उनका प्रभाव और
चिकित्सा । रक्तजन्य कूमि । पुरीषजन्य
कूमि । उनका उपाय अपकर्प विधि
प्रकृति विधात । कूमि-कोष्ठ के रोगी का
उपचार । आस्थापनवस्तिकिया की विधि
विवेचन । अनुवासन । शिरो विवेचन ।
कूमियों के प्रकृतिविधात की रूति ।
शिरोरोग पर चिकित्सा । उपसंहार ।

अष्टमोऽध्यायः

(पृ० ५४५-६१८)

रोगभिषगिजरीयम्—शास्त्रप-
रीक्षा । शास्त्र के गुण । आचार्य का
लक्षण । शास्त्र को दड़ करने के उपाय
शास्त्र के अध्ययन की विधि । अव्या-
पत्ति-विधि । गुरु शिष्य के परस्पर
कर्तव्य । दीक्षा । आचार्य का शिष्य
को उपदेश । संभाषण-विधि । तटिया-
संभाषण । (संघाय) अनुलोम संभाषण
विशृङ्ख संभाषण । प्रतिवादी के तीव्र
प्रकार । तीन प्रकार की परिपत्र ।
प्रतिवादी को बिक्षण करने के उपाय ।
प्रतिलोम संभाषण का प्रकार । वाद
की मर्यादा । ४४ आवश्यकीय ज्ञान-
वाद का लक्षण । जल्प घित्पदा ।
प्रतिज्ञास्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु,
उत्तर, दृष्टान्त । सिद्धान्त ४ प्रकार के ।
शास्त्र ग्रन्थका अनुसार ऐतिहासिक
संशय प्रयोजन सव्यभिवार । जित्युत्त-
रवदात्य । अर्थात्, अनुयोज्य ।
अनुयोज्य अनुयोग ग्रन्थानुयोग वाक्य-
दोष भूून अधिक अनुरूप अनुरूप
विरुद्ध । वाक्यप्रशंसा । छल सामाज्य-
छल वाक् छल अहेतु तीन प्रकार के
प्रकरणसम संशयसम वर्ण्यसम । अतीत
काल उपालम्भ परिहार । प्रतिज्ञाहानि

अन्युक्ता हेत्वन्तर अर्थान्तर । निग्रह-
स्थान । कारण करण कार्ययोनि-कार्य-
कार्यफल । अनुबन्ध, देश, काल, उपाय
प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में विशेष
विज्ञान । इनकी परीक्षा । दश विध
परीक्षा । कारण-परीक्षा । करण-परीक्षा
कार्ययोनि-परीक्षा-कार्य-कार्यफल-परीक्षा ।
अनुबन्ध-देश कार्य-देश आदि की व्या-
ख्या । आत्म परीक्षा । प्रकृति-जादि
भाव । श्लेष्मव्रक्ति । पित्रप्रकृति ।
आत्मप्रकृति । समवानुप्रकृति । विकृतियों
से परीक्षा । सारसे परीक्षा शरीररचना
से परीक्षा । प्रसाग से परीक्षा । तीन
प्रकार के प्रकरण । साम्य से परीक्षा ।
छल से परीक्षा । उत्तार से उत्तार-
मन्त्र से परीक्षा । वाक्य से परीक्षा ।
काल का विवेचन व्यवहार । रोगीकी
दशाएँ जावे लक्षण की विवेद्ध से
कालप्रकार । प्रवृत्ति । उपाय । परीक्षा
मा प्रयोजन । उमदोषप्रयोगी द्रव्य ।
विवेचन दृश्य । रसों का जोक्षण से
द्रव्यों का विवरित । सद्गुरुसम्बन्ध ।
अमठसम्बन्ध । 'लदगहसम्बन्ध । कटुक-
सम्बन्ध । विक्तसम्बन्ध । कपाथसम्बन्ध ।
दहों वर्गों के उपयोग में धेव का
कर्तव्य । अनुदासनाद्रव्य शिरोदिविचन-
द्रव्य । उपसंहार । शृतिविमानस्थानम्॥



चरकसंहिता

सूत्रस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो दीर्घखीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
 अब यदां से 'दीर्घ-जीवतीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं ॥ १ ॥
 इति ह स्माह भगवानात्रयः ॥ २ ॥
 ऐसा हो भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

ऋषि भरद्वाज का इन्द्र के पास गमन
 दीर्घ जीवितमन्विच्छलन् भरद्वाज उपागमत् ।
 इन्द्रमुत्रतपा बुद्ध्या शरण्यमरेइवरम् ॥३॥
 दीर्घ काल तक जीवन की इच्छा से उत्पत्तपस्ती भरद्वाज मुनि देवों के राजा
 इन्द्र को शरण योग्य जानकर उनके पास गये ॥ ३ ॥

१. निष्पत्तोजन और अभिवेभरहित अर्थ में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति नहीं होती ।
 इसलिये सब से प्रथम शास्त्र का प्रयोजन अभिषेय और सम्बन्ध बतलाना चाहिये ।
 कहा भी है—

अभिषेयफलज्ञानविरहस्तमितोद्यमाः ।
 श्रोतुमल्पमपि ग्रन्थं नद्वियन्ते हि साधवः ॥
 सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्चते ।
 शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इस शास्त्र का प्रयोजन 'धातुसाम्य' है । कहा भी है—'धातुसाम्यकिया चोक्ता
 तन्त्रस्यास्यप्रयोजनम्' 'धातुसाम्य' का अर्थ विषम हुए धातुओं को समान करना और
 समान धातुओं का रखण करना है । अथवा रोगी के रोग का निवारण करना और स्वस्थ

ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुवेदं प्रजापतिः ।
 जग्राह निखिलेनाऽदावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥ ४ ॥
 अश्विभ्यां भगवाव्यक्तकः प्रतिपेदे ह केवलम् ।
 क्रष्णप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छकमुपागमत् ॥ ५ ॥

आरम्भ में ब्रह्माने यथावत् आयुवेद का उपदेश किया उसको प्रजापति [दक्ष] ने पूर्ण रूप से ग्रहण किया । दक्ष से दोनों अश्विनीकुमारोंने, अश्विनी-कुमारों से इन्द्र ने ग्रहण किया । इसी कारण श्वशियों से प्रेरित होकर भरद्वाज मुनि इन्द्र के पास आये २ ॥ ४-५ ॥

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम् ।
 तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम् ॥ ६ ॥
 तदा भूतेष्वनुकोशं पुरस्कृत्य महर्षयः ।
 समेताः पुण्यकर्माणः पादवे हिमवतः शुभे ॥ ७ ॥

जब तप, उपवास, ब्रह्मचर्य, अध्ययन, व्रत और आयु, इन में विघ्न करनेवाले रोग उत्पन्न हो गये; तब प्राणियों पर दया कर के पुण्यात्मा महर्षिगण पवित्र हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए ॥ ६-७ ॥

अङ्गिरा जमदग्निश्च वसिष्ठः कश्यपो भृगुः ।
 आत्रेयो गौतमः सार्वतः पुलस्यो नारदोऽसितः ॥ ८ ॥
 अगस्त्यो वामदेवश्च मार्कण्डेयाश्वलायनौ ।
 पारीक्षिभिंश्चुरात्रेयो भरद्वाजः कपिञ्जलः ॥ ९ ॥

पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना है । जैसा कि सुश्रुत ने कहा है:—

“व्याच्युपसूष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य परिरक्षणश्च” ।

अभिषेय-सम्बन्ध—हेतु, दोष और द्रव्य ये स्कन्धत्रय और रोगों के उत्पन्न न होने की विधि का बतलाना ।

शास्त्र और प्रयोजन का उपेय-उपाय सम्बन्ध है ।

भगवान् का लक्षण—“उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।

वेणि विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥”

१—अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने पढ़ा ही था, पढ़ाया नहीं था, इन्द्र को विष्णु की चाह थी, क्योंकि विना पढ़ाये विद्या संशय रहित नहीं बनती ।

२. सुश्रुत में—“ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजरो, तस्मादश्विनौ, अश्विन्यामिन्द्रः ।”

विश्वामित्राश्वरथ्यो च भार्गवच्यवनोऽभिजित् ।
 गार्यः शाण्डिल्यकौण्डन्यौ वार्षिकेवलगालवौ ॥ १० ॥
 साकृत्यो वैजवापिश्च कुशिका बादरायणः ।
 बडिशः शरलोमा च काप्यकात्यायनावृभौ ॥ ११ ॥
 काङ्क्षायनः कैकशेयो धौम्यो मारीचिकाइयपौ ।
 शर्कराक्षो हिरण्याक्षो लोकाक्षः पैङ्गिरेव च ॥ १२ ॥
 शौनकः शाकुनेयश्च मैत्रेयो मैमतायनिः ।
 वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये महर्षयः ॥ १३ ॥
 ब्रह्मानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च ।
 तपसस्तेजसा दीपा हूयमाना इवाग्नयः ॥ १४ ॥
 सुखोपविष्टास्ते तत्र पुण्यां चक्रुः कथामिमाम् ।

अंगिरा, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम, मांत्य, पुलस्य नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारीक्षि, भिन्नु, आत्रेय, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र, आश्वरथ्य, भार्गव, च्यवन, अभिजित, गार्य, शाण्डिल्य, कौण्डन्य, वार्षिक, देवल, गल्व, साङ्कृत्य, वैजवापि, कुशिक, बादरायण, बडिश, शरलोमा, काप्य, कात्यायन, काङ्क्षायन, कैकशेय, धौम्य, मारीचि, काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष, लोकाक्ष, पैङ्गि, शौनक, शाकुनेय, मैत्रेय, मैमतायनि, वैखानस, वालखिल्य और अन्य ब्रह्मान, यम,^१ नियम और तप के तेज से चमकते हुए, आहुति से उज्ज्वल अग्नि के समान तेजस्वी महर्षि लोग वहां सुख से विराज कर, इस पुण्यशाली कथा को इस प्रकार कहने लगे ॥ ८-१५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥ १५ ॥
 रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ।
 प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम् ॥ १६ ॥
 कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ।
 अथ ते शरणं शक्रं ददृशुर्ध्यानचक्षुषा ॥ १७ ॥
 स ब्रह्म्यति शमोपायं यथावद्मरप्रभुः ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषाओं का मूल कारण आरोग्य

१. यम—अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिमहा यमाः ॥ यो० स० ॥

नियम—शौचसन्तोषतःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ यो० स० ॥

ही है ।^१ रोग इस आरोग्य, अभ्युदय तथा जीवन (आयु) को नाश करने वाले हैं । मनुष्यों के लिए ये रोग बड़े विघ्नरूप हो गये हैं । इसलिए इन रोगों का शान्ति का उपाय क्या होना चाहिए ? ऐसा कहकर वे सब शृणि ध्यान मग्न हो गये । उन्होंने अन्तश्वल्प से इन्द्र को अपनेको शरण देने वाले के रूप से देखा और जान लिया कि देवों का राजा इन्द्र ही शान्ति का उपाय कहेगा ॥१६-१७॥

कः सहस्राक्षभवनं गच्छत्प्रस्तुः शचीपासम् ॥ १८ ॥

अहमर्थे नियुज्येयमत्रान् प्रथमं वचः ।

भरद्वाजोऽवीत्तस्मादृषिनिः स नियोजितः ॥ १६ ॥

प्रश्न उपास्थित हुआ कि शन्वापति इन्द्र से पूछने के लिये इन्द्र के भवन तक कौन जाय ? शृणि भरद्वाज ने सबसे प्रथम कहा कि—इस कार्य में मुक्तकों नियुक्त किया जाये । इसलिए अंगरा आदि शृणियों ने भरद्वाज ऋषि को ही इस कार्य में नियुक्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

स शक्तभवनं गत्वा सुरविंगणमध्यगम् ।

ददशे बलहन्तारं दाप्यमानामवानलम् ॥ २० ॥

इन्द्र के भवन में जाकर, उन्होंने देवर्णियों के मध्य में प्रदीप अग्नि के समान तेजस्वी, बल नाम असुर को मारने वाले इन्द्र को देखा ॥ २० ॥

सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम् ।

प्रावाच भगवान्धीमानृपीणां वाक्यमुत्तमम् ॥ २१ ॥

बुद्धिमान भरद्वाज ने इन्द्र के सन्मुख जाकर जयसूनक आशीर्वदों से इन्द्र का अभिनन्दन करके, शृणियों का उत्तम वचन प्रस्तुत किया ॥ २१ ॥

व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयंकराः ।

तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमप्रभो ॥ २२ ॥

हे अमरप्रभो ! सब प्राणियों को भय देने वाली व्याधियाँ उत्पन्न हो गई हैं इसलिये आप इनकी शान्ति का उपाय उपदेश करें ॥ २२ ॥

तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतकतुः ।

पदैरल्पैर्मतिं बुद्ध्वा विपुलां परमर्षये ॥ २३ ॥

^१ कहा भी है— “आयतनं विद्यानां मूलं धर्मोर्थकाममोक्षाणाम् ।

श्रेयः परं किमन्यत् शरीरमजरामरं विहायैकम् ॥” रसहृदयतंत्र ॥

२ योग्य शिष्य ही विनयपूर्वक गुरु से शास्त्रों को सुनने का अधिकारी है ।

यथाः—तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तर्खदर्थिनः ॥ गीता ॥

मगवान् इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को महामति जान कर योहे ही शब्दों में संक्षेप से आयुर्वेद का उपदेश किया ॥ २३ ॥

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम् ।

त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुद्धुवेदं यं पितामहः ॥ २४ ॥

सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः ।

यथावदचिरात् सर्वं बुद्धुवेदं तन्मना मुनिः ॥ २५ ॥

तेनाऽऽयुग्मितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम् ।

ऋषिष्योऽनधिकं तत्त्वं शशंसानवशेषयन् ॥ २६ ॥

शृष्टयश्च भरद्वाजाज्जग्नुस्तं प्रजाहितम् ।

दीर्घमायुश्चिकीर्षन्तो वेदं वर्धनमायुषः ॥ २७ ॥

हेतु (रोगों का कारण), लिंग (रोगों के चिन्ह), औषध, (संशोधन और संशमन रूप चिकित्सा), स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिए परम गति और जिस का पितामह (ब्रह्मा) ने प्रथम ज्ञान किया था, उस तीन सूत्र^१ वाले पुण्य, श्रेष्ठ और नित्य, सनातन^२ आयुर्वेद का इन्द्र ने उपदेश किया । महामति भरद्वाज मुनि ने एकाग्रचित्त होकर इस अनन्त और अगर^३ और तीन स्कन्धों वाले आयुर्वेद को यथावत् शीघ्र ही सम्पूर्ण जान लिया । भरद्वाज मुनि ने इस

१ त्रिःसूत्र—हेतु, दोष और द्रव्य संग्रह रूपः

हेतुसंग्रह—कालबुद्धीन्द्रियाथानां योगो मिथ्या न चाति च ।

द्रव्याश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥

दोषसंग्रह—वातः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

द्रव्यसंग्रह—किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद् धातु-प्रदूषणम् ।

स्वस्थवृत्तौ मतं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥

अथवा ‘त्रिसूत्र’ शब्द से वात, पित्त और कफ का ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि नम्पूर्ण आयुर्वेद शास्त्र इन्हीं में ओत-प्रोत है । जैसा कि सुश्रुत में— ‘वातापत्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तैरेवाव्यपन्नैरघो मध्योदूर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरामदं धार्यते-आगारमिव स्थूणाभिः । अतः त्रिस्थूणाभिरित्येके ।’

२—साऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश-ते, अनादित्वात् । चरक ॥

३—नास्ति आयुर्वेदस्य पारम्, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत् ।
॥ चरक ॥

आयुर्वेद के द्वारा ही सुख से युक्त दीर्घ आयु प्राप्त की । और उसने शृणियों को न अधिक और न कुछ कम, ज्यों का ल्यों ही सम्पूर्ण शास्त्र का उपदेश किया । दीर्घ आयु करने की इच्छा वाले शृणियों ने भी लोक की हितकामना से इस आयुवर्धक आयुर्वेद को भरद्वाज से ग्रहण किया ॥ २४-२७ ॥

महर्षयस्ते ददृश्यथावज्ञानचक्षुषा ।

सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥ २८ ॥

समवायं च, तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।

लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम् ॥ २९ ॥

ज्ञान की चक्षु से शृणियों ने सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म, समवाय का यथावत् पूर्णरूप से दर्शन किया । इन को यथावत् जानकर आयुर्वेद विधि से हितकारक पदार्थों का सेवन और अहितकारी पदार्थों का त्याग कर परम सुख, आरोग्य और दीर्घ जीवन प्राप्त किया ॥ २८-२९ ॥

अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसुः ।

शिष्येभ्यो दत्तवान् वड्भ्यः सर्वभूतानुकम्पया ॥ ३० ॥

अग्निवेशश्च भेडश्च जटूकर्णः पराशरः ।

हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेवर्चः ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् सब प्राणियों में मैत्री बुद्धि रखने वाले पुनर्वसु आंत्रेय ने सब प्राणियों पर दया का अनुभव करके इस पवित्र आयुर्वेद का छः शिष्यों को उपदेश किया ।

अग्निवेश, भेड, जटूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने मुनि के उस उपदेशवत्त्वन को ग्रहण किया ॥ ३०-३१ ॥

बुद्धेविशेषस्तत्रासीनोपदेशान्तरं मुनेः ।

तन्त्रस्य कर्ता प्रथमग्निवेशो यतोऽभवत् ॥ ३२ ॥

अथ भेडादयश्चक्रः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ।

श्रावयामासुरात्रेयं सर्विसंघं सुमोधसः ॥ ३३ ॥

श्रुत्वा सूत्रणमर्थानामृपयः पुण्यकर्मणाम् ।

यथावत्सूत्रितमिति प्रहृष्टास्तेऽनुमेनिरेऽ ॥ ३४ ॥

सर्वं एवास्तुवृत्स्तांश्च सर्वभूतहितैविणः ।

साधु भूतेष्वनुकोश इत्युच्चरञ्जुवन् समम् ॥ ३५ ॥

तं पुण्यं शश्रुवः शब्दं दिवि देवर्षयः स्थिताः ।

सामराः परमर्थाणां श्रत्वा मुमुदिरे परम् ॥ ३६ ॥

१—धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधम्यवैधम्यानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । वैशेषिक०

अहो साध्विति घोषश्च लोकाँश्चीनन्वनादयत् ।
 नभसि स्तिग्धगम्भीरो हर्षाद् भूतैरुदीरितः ॥ ३७ ॥
 शिवो वायुर्वौ सर्वा भाभिरुन्मीलिता दिशः ।
 निपेतुः सजलाश्वैव दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ ३८ ॥
 अथाग्निवेशप्रमुखान् विविशुर्ज्ञानदेवताः ।
 बुद्धिः सिद्धिः स्मृतिमेधा धृतिः कीर्तिः क्षमा दया ॥ ३९ ॥
 तानि चानुमतान्येषां तन्त्राणि परमर्थिभिः ।
 भवाय भूतसंघानां प्रतिष्ठां भुवि लंभेरे ॥ ४० ॥

अग्निवेश की बुद्धि विशेष थी, मुनि आत्रेय के उपदेशमें कोई अन्तर नहीं था । अग्निवेश हीं सब से प्रथम आयुर्वेद-तंत्र का कत्ता हुवा । इसके पीछे मेड आदि बुद्धिमान् शिष्यों ने भी अपने अपने तंत्र बना कर बहुत से शूष्मियों के साथ विराजमान आत्रेय मुनि को सुनाये । पुण्यकर्मा अग्निवेश आदि शूष्मियों द्वारा भली प्रकार से सूत्र रूप से गुण्य हुए आयुर्वेद शास्त्र को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका प्रसन्नता से अनुमोदन भी किया कि ठीक प्रकार से ग्रथित (गूण्या) हुआ है । सब प्राणियों पर दयालु उन शूष्मियों की सब ने ही प्रशंसा की । सब ने एक साथ उच्चस्वर से कहा कि आपने प्राणियों पर बहुत उत्तम रूप से दया की है । स्वर्ग में स्थित देवों के सहित नारद आदि देव शूष्मियों ने भी उन परम शूष्मियों के पुण्य शब्द को सुना । इस का सुनकर वे भी बहुत प्रसन्न हुए । समस्त प्राणियों ने हर्ष से अति स्नेह युक्त एवं गम्भीर शब्द से साधुवाद दिया । इस साधुवाद की ध्वनि आकाश में फैल कर तीनों लोकों को गुंजा दिया । सुखदायक वायु बहने लगा, सब दिशायें प्रकाश से चमकने लगीं, जल से भी दिव्य कुसुम बरसने लगे ।

(बुद्धि) उपलब्धि, (सिद्धि) साध्य-साधन, (स्मृति) पूर्व अनुभूत अर्थ का स्मरण, (मेधा) धारण करने की शक्ति, (धृति) मन की संतुष्टि, (कीर्ति) यश, (क्षमा) अपकारी के प्रति अनपकार की इच्छा, (दया) प्राणियों के दुःख हटाने की इच्छा, ये ज्ञानमय देवता अग्निवेश आदि शूष्मियों में प्रविष्ट हुए अर्थात् ये शुभ गुण इन में आये ।

महर्षियों द्वारा अनुमोदित उक्त शूष्मियों के शास्त्र लोगों के परम कल्याण के लिये पृथिवी पर प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए ॥ ३२-४० ॥

आयुर्वेद का लक्षण—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम् ।

मानं च तत्त्वं यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ ४१ ॥

हित, अहित, सुख और दुःख यह चार प्रकार की 'आयु' है। इस आयु का हित-अहित, पथ्यापद्य, और इस आयु का मान-परिमाण यह सब जिस शास्त्र में कहा हो, तथा आयु का लक्षण जिसमें हो, उसे 'आयुर्वेद'^१ कहते हैं। हित आयु, अहित आयु, सुखी आयु, दुःखी आयु, चार प्रकारकी आयु है॥४१॥

आयु का लक्षण—

शरीरेन्द्रियसन्त्वात्मसंयोगो, धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ ४२ ॥

(शरीर) पंच महाभूतों से बना, आत्मा का अधिष्ठान, (इन्द्रिय) भौतिक इन्द्रियां, (सर्व) मन, (आत्मा) द्रष्टा, भोक्ता, जीव और ईश्वर, इनके संयोग का नाम 'आयु' है। आयु निरन्तर चलने वाला होने से 'आयु' कहाता है [एति गच्छतोति आयुः ।]

आयु अर्थात् जीवन के पर्यायवाची शब्द—(धारि) शरीर को धारण करता है, (जीवित) प्राणों को धारण करता है, (नित्य) निरन्तर चलता है, (अनुबन्ध) प्राणों के साथ सम्बन्धित है, और 'चेतनानुवृत्ति' इन पर्यायों से बतलाया जाता है^२ ॥ ४२ ॥

तस्याऽयुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ॥ ४३ ॥

यह आयुर्वेद सब से अधिक श्रेष्ठ पुण्यजनक है [क्योंकि अन्य ज्ञान पार-लोकिक हित को ही बतलाते हैं] यह आयुर्वेद इहलोक और परलोक दोनों के हितों को कहता है, ऐसा ज्ञानियों का मत है^३ ॥ ४३ ॥

सामान्य और विशेष—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।

ह्वासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ ४४ ॥

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् ।

तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः ॥ ४५ ॥

सब पदार्थों का सब कालों में 'सामान्य'—समान [गुण आदि] धर्म ही वृद्धिका-कारण होता है, और 'विशेष'—अर्थात् विभेद या विपरीत होना ही हास का कारण होता है। दोनों का शरीर के साथ सम्बन्ध सब पदार्थों की

१—“आयुरसिन्वन्दति वेत्ति वा आयुर्वेदः ।” मुश्रुत ॥

२—तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः ॥ मुश्रुत ॥

३—अत्राऽयुष्टमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः ॥ मुश्रुत ॥

वृद्धि और हास का कारण है। सब कालों में शरीर के अन्दर दोनों ही धर्म रह सकते हैं। इसलिये शरीरमें वृद्धि और क्षय शरीरका बनना (Metabolism) और शरीर का टूटना (Ketabolism) दोनों क्रियाएँ हर समय होती रहती हैं। एकत्व बतलाने वाला धर्म 'सामान्य' है। और 'पृथग्-भाव' बतलाने वाला धर्म 'विशेष' है।^१ क्योंकि समान धर्म का होना यह सामान्य है, और इससे विपरीत होना विशेष है॥ ४४-४५॥

सञ्चमात्मा शरीरं च त्रयमेत्तिरुदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४६ ॥
स पुमांश्वेतनं तच्च तत्त्वाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः ॥ ४७ ॥

(सत्त्व) मन, (आत्मा) चित्तना और 'शरीर' इन तीनों से बने हुए को 'लोक'^२ कहते हैं। यह तीनों मिलकर तिकन्टी, या तिपाईं की तरह 'लोक' को धारण किये हुए हैं। इस संयोग से बने हुए पुरुष में जन्म-मरण आदि

१ समान गुण वाले—इसका अर्थ यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म, इनमें सम्पूर्ण रूप से समान गुण वाले पदार्थ ही ग्रहण करने चाहिये।

जिस प्रकार खट्टा आंवला भी खट्टे पित्त को नहीं बढ़ाता, अपितु शीतलीय होने से पित्त का शमन करता है, क्योंकि पित्त उष्ण है।

द्रव्यसमान से विपरीत प्रभाव—तैजस क्षार से श्लेष्मा का क्षय
गुण „ „ „ „—द्रव कांजी से श्लेष्मा का लघु-रुक्ष गुण के कारण क्षय,
कर्म „ „ „ „—नींद से वायु का नाश, भागने से कफ का क्षय होना,

सामान्य और विशेष का स्वरूप—तुन्यार्थता अर्थात् समानार्थक होने का नाम सामान् और विपर्यय का अर्थ 'विशेष' है।

"सामान्यं विशेष इति बुद्धयेष्म" । वैशेषिक ८० ॥

कहा भी है—

सर्वेषां सर्वं वृद्धिः तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः ।

भावैर्भवति भावानां विपरीतैर्विपर्ययैः ॥

२. "षडधातुसमुदिता लोक इति शब्दे लभन्ते ॥"

तिकन्टी—मैं एक बहली या स्तम्भ के निकाल लेने से वह खड़ी नहीं रह सकती, इसी प्रकार इन तीनोंमें से एकके न होनेसे 'पुरुष' स्थिर नहीं रह सकता।

सब स्थित हैं । यह सत्त्वादि समुदाय पुरुष कहलाता है, और वह चेतन द्रव्य है, यही आयुर्वेद का अधिकरण है और इसी के लिये यह आयुर्वेद प्रकाशित किया गया है ॥ ४६-४७ ॥

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ ४८ ॥

आकश आदि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—ये पांच महाभूत), आत्मा, मन, काल, और दिशा ये द्रव्यों का संग्रह है । इन्द्रियों सहित द्रव्य चेतन हैं और इन्द्रियों से रहित द्रव्य अचेतन हैं ॥ ४८ ॥

अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् ।

अत्र मोदः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥

पञ्चमहाभूतशारीरिसमवायः 'पुरुष' उच्यते । तस्मिन् कियाः । सोऽधिष्ठानम् ।

१. "मुख्यापस्तेजोवायुराकाशं कालं दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।" वैशेष०

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।

पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ चरक ॥

"तत्र आकाशं शब्दगुणम्, शब्दस्पर्शगुणो वायुः शब्दस्पर्शस्तपगुणोऽग्निः । शब्दस्पर्शस्तपगुणा आपः, शब्दस्पर्शस्तपगुणा पृथिवी ।

तेषामेकगुणः पूर्वे, गुणवृद्धिः परे परे ।

पूर्वपूर्वो गुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥

आत्मा का रूप—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।

इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥

देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।

दृष्टस्य दक्षिणेनाक्षणा सब्येनावगमस्तथा ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।

कुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥

मन का लक्षण—

आत्मेन्द्रियार्थसञ्जिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावो मनसो लिङ्गमिति कणादः

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च ।

सति स्वात्मेन्द्रियार्थानां सञ्जिकर्षेण वर्तते ।

वैधृत्यान्मनसो ज्ञानं सञ्जिद्यच्च वर्तते ॥ चरक ॥

गुण—

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्तः परादयः ।

गुणः प्रोक्ताः,

अर्थ (इन्द्रिय और मन के ग्राह्य विषय), गुरु आदि, बुद्धि, इच्छा से लेकर प्रयत्न तक और पर आदि अभ्यास पर्यन्त गुण हैं ।

इन्द्रियों के अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—मन के अर्थ चिन्तन, विचार, द्रुहना, ध्यान, संकल्प, गुरुत्व, लघुत्व, शीत, उष्ण, स्तिंश्वर रूप, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, काठन, विशद, पिञ्चिल, इलक्षण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव, ये बीस, तथा इच्छा, देष, सुख दुःख और प्रयत्न, पर, अपर युक्ति, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिणाम, संस्कार और अभ्यास ये गुण हैं ।

“रूपरसगन्धस्थर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परापरत्वे बुद्धयः
सुखदुखे इच्छा देषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥” वै० द०

कर्म—

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते ॥ ५६ ॥

प्रयत्न जन्य चेष्टा शरीर का व्यापार कर्म कहाता है ।

उत्क्षेपणमपेषणमाकुञ्जनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ वैशे०

भ्रमणं रेचनं स्पन्दनोर्धज्वलनमेव च ।

तिर्यग् गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥

प्रयत्नपूर्वक अथात् चेष्टापूर्वक किया का नाम ‘कर्म’ है ।

‘आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म’ ॥ वै० ॥ ५६ ॥

समवाय का लक्षण—

समवायोऽप्यथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः ।

स नित्यो, यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः ॥ ५० ॥

पृथिवी आदि द्रव्यों का (आत्रेय भद्रकाप्यीय २६ वै अध्याय में कहे हुए)

काल का लक्षण—सूक्ष्मामवि कलां न लीयते, संकलयति वा भूतानि इति कालः । वैशे०

दिशा का लक्षण—अस्मादिदं पूर्वेण अस्मादिदं पश्चिमेन इत्यादयः प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिक् । इत इदमिति यतस्तदिशां लिङ्गम् । वैशे०

जिससे यह व्यवहार किया जाय कि यह इससे पूर्व या पश्चिम में है, उसका नाम ‘दिशा’ है ।

अपने गुणों से पृथक् न होना 'समवाय' ^१ है। अर्थात् द्रव्य गुणों के बिना नहीं रह सकते और गुण बिना द्रव्य के नहीं रह सकते।

यह समवाय सम्बन्ध नित्य है, (संयोग की तरह अनित्य नहीं) क्योंकि जहां पर द्रव्य है, वहां पर गुण नहीं रहता ऐसा नहीं, अपितु निश्चित ही है। जहां द्रव्य है वहां गुण भी है। इस लिये द्रव्य और गुण का नियत सम्बन्ध होने से इनका सम्बन्ध भी नियत ही है ॥ ५० ॥

द्रव्य का लक्षण—

यत्राऽऽश्रितः कर्मगुणः कारणं समवायि यत् ।

तद् द्रव्यं,

जिसमें कर्म और गुण आश्रित हैं, और जो समवायि कारण है, वह 'द्रव्य' है।

गुण का लक्षण:—

समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः ॥ ५१ ॥

द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध वाला, निश्चेष्ट (निष्क्रिय) एवं कारणवान् गुण है। गुण-निर्गुण होते हैं, गुण में गुण नहीं होता, जैसा कि लिखा है—

"गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" ॥ ५१ ॥

कर्म का लक्षण—

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् ।

कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥ ५२ ॥

जो कि द्रव्य का आश्रय लेकर रहता है, तथा संयोग और विभाग में कारण है, उसका नाम 'कर्म' है। कर्म किसी अन्य कर्म की अपेक्षा नहीं करता [द्रव्य और गुण परस्पर एक दूसरे के समवाय की अपेक्षा करके कारण बनते हैं] तथा—कर्त्तव्य कार्य का अनुष्ठान रूप कर्म है।

"एकं द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम्" वैशेषो ०

किये हुवे सद्वृत्त, शान्ति, मंगल—पाठ आदि अनुष्ठान भी कर्म हैं, एवं अध्यात्म कर्म हैं ॥ ५२ ॥

इत्युक्तं कारणं, कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते ।

धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ ५३ ॥

१ समवाय का लक्षण—

अयुतसिद्धानां [जो कर्मी भी पृथक् नहीं होते] आधायांधारभूतान् इहेति प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः स समवायः ॥ १ वैशेषो ०

जैसे तनु और वस्त्र का या मिट्टी और बड़े का समवाय सम्बन्ध है।

इस प्रकार सामान्य आदि उः कारणों का वर्णन किया गया है। अब उनका कार्य कहा जाता है। इस शास्त्र में ‘धातुओं का सम्य करना’ ही कार्य है [घट-पट आदि कार्य नहीं है]। इस शास्त्र का—प्रयोजन भी धातुओं को समान रखना ही है।

क्षीण हुए धातु बढ़ाने चाहिये, बढ़े हुए घटाने चाहिये और समान का रक्षण करना चाहिये। जैसा कि आगे कहेंगे—

‘प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं, आतुरस्य विकारप्रशमनञ्च’ ॥५३॥
धातुओं के विपर्य होने का कारण—

कालवृद्धीनिद्र्यार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।

द्र्याश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥ ५४ ॥

काल [शीत-वर्षों ग्रीष्म रूपों संवत्सर अथवा परिणाम], वृद्धि, और इन्द्रियार्थ [इन्द्रियों के विवर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध] इन तीन के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग होने से दोनों प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याविधियां उत्पन्न होती हैं ॥ ५४ ॥

शरीर सत्त्वसंज्ञं च व्यार्थानाम् श्रयो मतः ।

नथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ॥ ५५ ॥

शरीर और सत्त्व (मन) वे दोनों ही [पृथक् रूप से एवं समिर्मलित रूप में] रोगों की अविद्यान भूमि हैं । और जिस प्रकार ये दोनों व्याधियों का आश्रय स्थान हैं, इसी प्रकार सुख का भी आश्रय स्थान यही है ।

नुख का कारण — काल, वृद्धि और इन्द्रियों के विपर्यों का, सम [उचित रूप में] योग होना ही आरोग्य का कारण है । कहा भा है—

‘मुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः’ ॥ ५५ ॥

आत्मा का स्वरूप कहते हैं—

निविकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।

चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ ५६ ॥

१. “त्रीण्यायतनानीत्यथानां, कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगः ।

असात्मयेन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवां विकारकारणम्” ॥ “समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति” । च० ॥

२. वेदनानामविष्टानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।

केशलोमनस्ताग्रान्तमलद्रवगुणैविना ॥ चरक ॥

निर्विकार^१ और सूक्ष्म आत्मा, मन, शब्दादिगुण, इन्द्रियों द्वारा चैतन्य में कारण हैं, वह नित्य है, साक्षी है, क्योंकि वह सब कियाओं को देखता है। अचेतन शरीर और मनके चैतन्य में यह आत्मा ही कारण है; और वह नित्य है।

रोग प्रकृति—

वायुः पित्तं कफश्वेत्कः शारीरो दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ ५७ ॥

संक्षेप रूप में शारीरिक दोषों के कारण वात, पित्त और कफ हैं। और मानसिक दोषों के कारण रज और तम हैं^२। शारीरिक कोई भी रोग इन वात, पित्त, कफ के बिना नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

इनका प्रतीकार—

प्रशास्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः ।

मानसो ज्ञानविज्ञानधर्येऽस्मृतिसमाधिभिः ॥ ५८ ॥

शारीरिक दोष देव व्यपाश्रय और युक्ति-व्यपाश्रय औषधियों से शान्त हो जाते हैं। मानसिक दोष ज्ञान (आत्मा आदि के), विज्ञान अर्थात् शास्त्र ज्ञान, (धैर्य) चित्त की स्थिरता, (स्मृति) अनुभूत पदार्थ का स्मरण, (समाधि) विषयों से मन को हटा कर आत्मा में लगाना इनसे शान्त हो जाते हैं।

देव-व्यपाश्रय—मणि, मन्त्र, ओषधि, बलि, उपहार, होम, नियम प्रावश्चित्त आदि कर्म जो कि देव को आश्रय कर किये जाते हैं।

युक्ति-व्यपाश्रय अर्थात् योजना, युक्ति को आश्रय कर किये गये संशोधन, संशमन आदि कर्म ॥ ५८ ॥

वायु का लक्षण—

रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्वलोऽथ विशदः खरः ।

विपरीतगुणैद्रव्यैर्याहृतः संप्रशास्यति ॥ ५९ ॥

वायु-रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल अर्थात् गतिशील, विशद अर्थात् अनिवार्यगाच्छुकमकायमवृणमस्ताविरं शुद्धमपापविद्म् ॥ श्रुतिः ।

१. स पर्यगाच्छुकमकायमवृणमस्ताविरं शुद्धमपापविद्म् ॥ श्रुतिः ।
२ वायु को प्रथम लिखा है, क्योंकि वात जन्य रोग ही सब से अधिक हैं, 'अशीतिवात-विकाराः' एवं 'वायुरेव भगवान्' वायु सबसे प्रबल है।

सर्वेषां व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूर्णं तल्लिङ्गत्वात् दृष्टफलत्वादागमात् । यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यते । एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वात-पित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते ॥ सुभ्रुत० ॥

चिछल और खर (कठोर) है। वह इन से विपरीत गुण वाले स्तिर्य, उष्ण गुरु, स्थूल, स्थिर, पिच्छल और मृदु द्रव्यों से शान्त होता है।

शीत से वायु बढ़ता है और उष्णता से कम होता है, इसलिये वायु का वैश्वक शास्त्र में शीत-प्रकृति माना है। वैशेषिक दर्शन में इस को अनुष्णाशीत कहा है—‘अनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः’ ॥ वै० ॥ ५६ ॥

पित्त का लक्षण—

स्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।

विपरीतगुणः पित्तं द्रव्यैराश्च प्रशास्यति ॥ ६० ॥

स्नेहसहित अथात् थोड़ा स्तिर्य, उष्ण (गरम), तीक्ष्ण [शीघ्र कार्य करने वाला, सूई की तरह तेज्], द्रव, अम्ल (खट्टा), सर (गमनशील), और कटु रस है। पित्त विपरीत गुण वाले द्रव्यों से शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥ ६० ॥

कफ का लक्षण—

गुरुशीतमृदुस्तिर्यमधुरस्थिरपिच्छलाः ।

श्वेषणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणगुणाः ॥ ६१ ॥

गुरु, शीत, मृदु, स्तिर्य, मधुर, स्थिर, और पिच्छल ये कफ के गुण हैं। इन से विपरीत गुण वाले पदार्थों से ये गुण शान्त होते हैं। [इन गुणों के शान्त होने से गुणी कफ भी शान्त हो जाता है] ॥ ६१ ॥

साध्य रोगों की शान्ति—

विपरीतगुणौदेशमात्राकालोपपादितैः ।

भेषजैर्विवर्तन्ते विकाराः साध्यसंमताः ॥ ६२ ॥

साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते ।

भूयश्चातो यथाद्रव्यं गुणकर्म प्रवक्ष्यते ॥ ६३ ॥

विपरीत गुण वाले [हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत और हेतु और व्याधि दोनों के विपरीत और कार्य करनेवाले] द्रव्यों की देश-मात्रा, काल के अनुसार योजना करने पर औषध से साध्य व्याधियां शान्त हो जाती हैं, असाध्य रोग अच्छे नहीं होते। और जो रोग औषधियों से असाध्य हैं उन के लिए औषध का उपदेश भी नहीं किया जाता। इसके आगे फिर विस्तार से एक-एक द्रव्य के गुण कर्म को आचार्य कहेंगे ॥ ६२-६३ ॥

रसों की उत्पत्ति—

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।

निर्वृत्तौ च, विशेषे च प्रत्ययाः स्वादयस्तथाः ॥ ६४ ॥

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है । इस रस की उत्पत्ति में आधार कारण जल और पृथिवी हैं । इस रस के भेद करने में आकाश, वायु और अग्नि ये तीनों निमित्त कारण होते हैं । वास्तव में रस की उत्पत्ति स्थान जल है और पृथ्वी इसका आधार है । क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिल जाता है । “विद्युत् ह्यपरं परेण” न्याय ० । जल और पृथ्वी म आकाश, वायु और अग्नि का भी अंश समाविष्ट रहता है । कहा भी है—

तेषामेकगुणं पूर्वं गुणवृद्धिः परे परे ।

पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशां गुणिषु स्मृतः ॥

इसीलिए, इस एक रस के छः भेद हो जाते हैं । जैसे—पृथिवी और जल की अधिकता से मधुर, पृथ्वी और आग्नि की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण, वायु और अग्नि की अधिकता से कटु, वायु और आकाश की अधिकता से तिक्त और वायु और पृथ्वी की अधिकता से कपाय रस बनता है ॥ ६४ ॥

स्वादुरम्लोऽय लवणः कटुकस्तिक्त एव च ।

कथायश्चेति पट्टकोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः ॥ ६५ ॥

स्वादु मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कपाय यं लः संक्षेप से रम हैं । विस्तार से इनके परस्पर संयोग से ६३ भेद हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

रसों के द्वारा दोषों की शान्ति—

स्वाद्वाम्ललवणा वायुं, कथायस्वादुतिककाः ।

जयन्ति पित्तं, इलेघ्माणं कथायकटुतिककाः ॥ ६६ ॥

स्वादु, अम्ल और लवण ये रस वायु का शमन करते हैं, कथाय, मधुर और तिक्त रस पित्त का, कपाय, कटु और तिक्त रस कफ को शान्त करते हैं । कटु, अम्ल और लवण रस पित्त को कुपित अथान् उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं, स्वादु, मधुर अम्ल और लवण रस कफ का, कटु, तिक्त और कपाय रस वायु को बढ़ाते हैं । इन रसों में प्रत्येक रस के द्रव्य, गुण और कर्म आगे(आत्रेय मद्रकाण्डीय नामक २६ वें अध्याय) में विस्तार से कहेंगे ॥ ६६ ॥

द्रव्य के भेद—

किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्द्रातुप्रदूषणम् ।

स्वस्थवृत्तो हिते किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ॥ ६७ ॥

द्रव्य तीन प्रकार के हैं । (१) कुछ द्रव्य वात आदि दोषों का शोधन एवं शमन करते हैं । जैसे—तेल वायु का, धी पित्त का और मधु कफ का

शमन करता है और (२) कुछ द्रव्य शरीरको धारण करनेवाले वात आदि वा रस आदि को दूषित वा कुपित करते हैं और (३) कुछ द्रव्य स्वास्थ्य का रक्षण करते हैं, वे स्वस्थ अवस्था के लिए हितकारी हैं। जैसे—लाल चावल, सांठी के चावल, जां, जीवन्ती शाक आदि। “शमनं कापनं स्वस्थाहितं द्रव्यमिति त्रिधा ॥” वाग्मटः ॥

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमोद्दिदपार्थिवम् ।

मधूनि गोरसः पित्तं वसा मज्जासृगमिषम् ॥ ६८ ॥

विषमूत्रं चर्म रेतोऽस्थि स्नायुः शृङ्गं सुरा नखाः ।

जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा लामानि रोचनाः ॥ ६९ ॥

द्रव्य फरं तीन प्रकार के हैं (१) (जांगम) प्राणियों से उत्पन्न होने वाले, आर (२) (औद्दिद) भूमि को भेदन करके पृथक्की में जैसे उत्पन्न होने वाले वनस्पति आदि, (३) (पार्थिव) भूमि से उत्पन्न होने वाले, ज्ञिज ।

जंगम द्रव्य—

मधु (शहद)^१ गोरस, दूध, धी, आदि, पित्त, वसा (चर्वी), मज्जा, रक्त, मांस, विषा, मूत्र, चर्म, वीर्य, अस्थि, स्नायु, सींग, नख, खुर, (केश) शिर के चाल, (रोग) शरीर के चाल, रोचना अथात् गोरोचना, ये जंगम-प्राणियों से लेकर व्यवहार में लाये जाते हैं ॥ ६८-६९ ॥

भौम द्रव्य—

सुवर्णं समलाः पञ्च लोहाः ससिकताः सुधा ।

मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाज्ञने ॥ ७० ॥

भौममौषधमुहिष्टम्, औद्दिदं तु चतुर्विधम् ।

वनस्पतिर्वार्षिक्यं वानस्पत्यस्तथौपथिः ॥ ७१ ॥

स्वर्ण, और इसका मल (शिलाजीत) पांच प्रकार के लोह जैसे रांगा, सीसा तामा, चांदी और लोहा, (सिकता) चाल, (सुधा) चूना, पार्थिव विष, मनःशिला, (आल) हरताल, (मणि) स्फटिक आदि, लवण सैन्धव आदि, [गैरिक] गेह, (अंजन) सुरमा, ये पार्थिव औषध कहे हैं औद्दिद द्रव्य चार प्रकार के हैं। वनस्पति, वीर्षत्, वानस्पत्य और ओषधि ॥ ७०-७१ ॥

फलैर्वनस्पतिः, पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि ।

ओषध्यः फलपाकान्ताः, प्रतानैर्वार्षिक्यः सूताः ॥ ७२ ॥

(१) जिनमें विना पुष्प के फल आता है, वे ‘वनस्पति’ हैं, जैसे गूलर, बट

१. माक्षिकं भ्रामरं क्षीद्रं पौत्रिकं मधुजातयः ।

पिलखन आदि, (२) जिनमें फल और पुष्प दोनों आते हैं उनको 'वानस्पत्य' अर्थात् वृक्ष कहते हैं, जैसे आम, जामुन आदि, (३) जो फल आने पर नष्ट हो जाते हैं, उनको 'ओषधि' कहते हैं जैसे धान, चावल, जौ, गेहूं आदि और (४) जो लता के समान फैलने वाली हैं उनको 'बीहृष्ट-कट्टते हैं जैसे गिलोय आदि ॥७२॥

आँद्रिद पदार्थों के काम में आने वाले अंगः—

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपल्लवाः ।

क्षाराः क्षीरं फलं पुष्पं भस्मं तैलानि कण्टकाः ॥ ७३ ॥

पत्राणि शङ्खाः कन्दाश्च प्रोहाश्रौद्धिदो गणः ।

मूल, त्वचा, (सार) कन्दर का स्थिर सार भाग, (नियास) गोद, (नाइ) नाल, (स्वरस) पीड़न करके द्रव्य से निकाला हुआ रस, (पल्लव) परो आम, जामुन आदि के, क्षार, (क्षार) दूध, थोंग अथात् छोटे २ काटे जां वृक्ष पर हांते हैं जैसे सिम्बल के, कन्द अथात् फलहीन ओषधियों के, मूल, (प्रांह) अंकुर यह 'आँद्रिद गण' हैं । वनस्पतियों के ये उपरोक्त अंश दाम में आते हैं ॥ ७३ ॥

मूलिन्यः पोद्दांशकोनाः फलिन्यो दिंशतिः स्मृताः ॥ ७४ ॥

महास्नेहाश्च चत्वारः पञ्चव लवणानि च ।

अष्टौ मूत्राणि सङ्ख्यातात्यष्टावेव पर्यासि च ॥ ७५ ॥

शोधनार्थाश्च पद्मवृक्षाः पुनर्वसुनदिशिताः ।

य एतान् वेत्ति संयोक्तुं विकारेषु स वेदवित् ॥ ७६ ॥

जिन वनस्पतियों का मूल प्रयोग करने योग्य हैं वे 'मूलिन' हैं । ऐसी वनस्पतियां सोलह हैं, और जिन वनस्पतियों का फल उपयोगी हैं वे 'फलिनी' हैं, ऐसी वनस्पतियां उच्चीस हैं । चार महास्नेह हैं जैसे धी, तैल, वसा, और मजा; पांच प्रकार के नमक हैं, आठ प्रकार के मूत्र और आठ ही प्रकार के दूध हैं और संशोधन के लिये छः वृक्ष पुनर्वसु आवेद्य में कहं हैं । जो विद्वान् वैद्य रोगों में इन सब का प्रयोग करना जानता है वह अयुर्वेद को भली प्रकार से जानता है ॥ ७४-७६ ॥

सोलह 'मूलिनी' ओषधियों की गणना—

हस्तिदन्ती हैमवती श्यामा त्रिवृद्धोगुडा ।

सप्तला इवेतनामा च प्रत्यक्षश्रेणी गवाक्ष्यपि ॥ ७७ ॥

ज्योतिष्मती च विश्वी च शणपुष्पी विषाणिका ।

अजगन्धा द्रवन्ती च क्षीरिणी चात्र घोडशी ॥ ७८ ॥

१ हस्तीदन्ती (चका), २ हैमवती (श्वेत चच), ३ श्यामा (त्रिवृत),
 ४ त्रिवृत (लाल जड़ वाली निशोथ), ५ अधोगुडा (विधारा), ६ सप्तला
 (शिका काई), ७ श्वेतनाम (श्वेत कोयल), ८ प्रत्यक्षेरेणी (दन्ती जमाल-
 गोटा), ९ गवाक्षी (इन्द्रायण), १० ज्योतिष्मती (माल कंगनी), ११ विम्बी
 (कन्दूरी), १२ शणपुष्पी (ज्ञन ज्ञनियां), १३ विपाणिका (उत्तरण), १४
 अजगन्धा (डूक), १५ द्रवन्ती (जंगली एरण्ड), १६ क्षीरिणी (हिरवी)
 ये सोलह हैं ॥ ७७-८८ ॥

इनके कर्म—

शणपुष्पी च विम्बी च छढ़ने हैं मवत्यपि ।

श्वेता ज्योतिष्मती चैव योज्या शीर्पविरेचने ॥ ८६ ॥

एकादशावशिष्टा याः प्रयोज्यास्ता विरेचने ।

इत्युक्ता नामकर्मभ्यां मूलिन्यः, फलिन्नाः शृणु ॥ ८० ॥

ऊपर कही हुई सोलह मूलिनी ओपविधियों में, शणपुष्पी, विम्बी, और हैम-
 वती (श्वेतचा) ये तीन वमन कार्य में प्रयोग करनी चाहिये, श्वेत अपराजि-
 ता, ज्योतिष्मती ये दोनों शिरंविरेचन में, और शोष ग्यारह बनस्पतियां विरेचन
 कार्य में प्रयोग करनी चाहिये । सब कामों में इनके मूल ही काम में लाने चाहिये ।
 इस प्रकार से ये सोलह 'मूलवाली, बनस्पतियां नाम और कर्म सहित कह दी
 गयी हैं । 'फलिन्न' बनस्पतियों का नाम सुनो ॥ ८६-८० ॥

शङ्खिन्यथ विडङ्गानि त्रपुषं मदनानि च ।

आनूपं स्थलजं चैव कलीतकं द्विविधं स्मृतम् ॥ ८१ ॥

धामार्गवमथेक्षवाकु जीमूतं कृतवेधनम् ।

प्रकीर्या चोदकीर्या च प्रत्युक्षुष्पा तथाऽभया ।

अन्तः कोटरपुष्पी च हस्तिपण्याश्च शारदम् ॥ ८२ ॥

कस्पिल्लकारगवधयोः फलं यत्कुटजस्य च ।

धामार्गवमथेक्षवाकु जीमूतं कृतवेधनम् ॥ ८३ ॥

शंखिनी, विडङ्ग (बायविडग), त्रपुष (खीरा, ककड़ी) मदन (मैन-
 फल), आनूप कलीतक (जल में पैदा होने वाली मुलहैठी), स्थलज कलीतक
 (शुष्क भूमि में पैदा होने वाली मुलहैठी), धामार्गव (बड़ी तुरई) इस्वाकु
 (कड़वी तुरई), जीमूत (बन्दाल), कृतवेधन (तुरई), कडुबी प्रकीर्या
 और उदकीर्या (दो प्रकार के करंज), प्रत्यक्षुष्पा (अपामार्ग), अभया
 (हरङ), अन्तःकोटरपुष्पी (धाव पत्ता), शारदा हस्तिपण्यी । (हस्तिपण्यी के

शरद् ऋतु में उत्पन्न फल), कम्पिलक (कमीला), आरग्वध (अमलतास), कुटज (कूड़े का फल, इन्द्र जौ), ये १६ 'फलिनी' वनस्पतियां हैं ॥ ८१-८३ ॥

इनके कर्म—

मदनं कुटजं चैव त्रपुणं हर्षतपणिनी ।
एतानि वमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च ॥ ८४ ॥
नस्तः प्रच्छर्दने चैव प्रत्यक्षुष्पा विधीयते ।
दश यान्यवशिष्टानि तान्युक्तानि विरेचने ॥ ८५ ॥

धार्मार्गव, इष्ट्याकु, जीमूत, अमलतास, भैनफल, कूड़े का फल, खांरा, और हस्तिपणी के शरद ऋतु में उत्पन्न फल ये आठ वनस्पतियां वमन, आस्थापन और निरुद्ध वस्ति कर्म में प्रयोग करना चाहिये ।

अपार्मार्ग (चिरचिटे) का फल नस्य कर्म में प्रयोग करना चाहिये । और शेष दस वनस्पतियों का प्रयोग विरेचन कार्य में करना चाहिये । इस प्रकार से ये १६ 'फलिनी' वनस्पतियां नाम और कर्म द्वारा कह दी हैं ॥ ८४-८५ ॥

चार प्रकार के स्नेह—

नामकर्मभिन्नकानि फलान्येकानविश्वरूपः ।
सर्पिस्तैर्ण वसा मज्जा स्नेहा दृष्ट्युविधः ॥ ८६ ॥
सर्पि (धा), तेल, वसा (चवी) और मज्जा (अस्त्रिया वा गुटालयों के भीतरी भाग का स्नेह, चिकनाई) वा चार कह हैं ॥ ८६ ॥

इनके कर्म कहते हैं—

पानाभ्यञ्जनवस्त्यर्थं नस्याथ चैव यान्तः ।
स्नेहना जीवना बल्या वर्णोपचयवर्धनः ॥ ८७ ॥
स्नेहा ह्यते च विहिता वार्तपित्तकषापहः ।

ये चारों स्नेह (पान) शरीर में मुख भाग से देने, शरीर पर मालिश करने, (वस्ती) गुदा या उपस्थितीर्मार्ग से देने, और (नस्य) नाक से देने में प्रयुक्त होते हैं । ये स्नेह शरीर का स्नेहन करते हैं, शरीर की जीवन देते हैं, शरीर का तर्पण करते हैं, बल और शक्ति को बढ़ाते हैं । ये स्नेह वात, पित्त और कफ को नष्ट करते हैं ॥ ८७ ॥

लवण—

सौवर्चलं सैन्धवं च विडमौद्धिदमेव च ॥ ८८ ॥
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्तुर्लब्धणानि च ।
पांच प्रकार के नमक हैं । (१) सैन्धव (सैन्धा नमक) सब नमकों में श्रेष्ठ

हे (२) मौवर्चल (संचल), (३) (विड) काला नमक, (४) (औद्दिर) काच नमक और (५) सामुद्र, समुद्र के पानी से तैन्यार किया हुआ, ये पांच प्रकार के लबण या नमक हैं ॥ ८८ ॥

लबणों के कर्म—

स्तिंगधान्युष्णानि तीक्ष्णानि दीपनीयतमानि च ॥ ८९ ॥

आनेपनार्थं युज्यन्ते स्तेहस्वेदविधो तथा ।

अथेभागोध्वभागेषु निरुहेष्वनुवासने ॥ ९० ॥

अध्यज्ञने भोजनार्थं द्विरमश्व विरेचने ।

शस्त्रकर्मणि वस्त्यर्थमञ्जनोऽसादनेषु च ॥ ९१ ॥

अजीर्णीनाह्योवाले गुल्मे शृङ्गे तथोदरे ।

उत्थानि लबणानि, ऊर्ध्वं मृत्राण्यप्नो ज्ञिवोध मे ॥ ९२ ॥

ये नमक स्तिंग, उष्ण, तीक्ष्ण और दीपनीय अर्थात् विशेष रूप से आग्न वढानेशाले हैं । ये नमक आलेपन में, स्तेहन में, और त्वेदन कार्य में, अधोभाग विरेचन और ऊर्ध्व-विरेचन द्वारा दोपों को बाहर निकालने में, निरुहण में, अनुवासन में, अध्यज्ञ में, भोजन में, और शिर के विरेचन में, शस्त्र कर्म में, वर्ति अर्थात् फल वर्ति आदि में, अज्जन में, उवठन में, अर्जाण में, अफारे में, वायु रोग में, गुल्म में, शूल रोग में, और उदर रोगों में प्रयोग किये जाते हैं । ये पांचों प्रकार के नमक कह दिये ॥ ८८-९२ ॥

आठ मूत्र—

मुख्यानि यानि हाषानि सर्याण्याश्रेयशासने ।

अविमूत्रमज्जामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा ॥ ९३ ॥

हस्तमूत्रमयोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च ।

अय जो मुख्य आठ मूत्र आत्रेय ऋषिष ने कहे हैं वे सुनिये—

(१) मेड का मूत्र, (२) वकरी का मूत्र, (३) गाय का मूत्र, (४) मैस का मूत्र, (५) हाथी का मूत्र, (६) ऊँट का मूत्र, (७) घोड़े का मूत्र और (८) गधे का मूत्र ये आठ प्रकार के मूत्र हैं ॥ ९३ ॥

मूत्रों के सामान्य गुण—

उष्णं तीक्ष्णमयो रुक्षं कटुकं लबणान्वितम् ॥ ९४ ॥

मूत्रमुत्सादने युक्तं युक्तमालेपनेषु च ।

१. गोऽजाविमहिणां तु रुक्षाणां मूत्रं प्रशस्यते ।

खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥” भावप्रकाश ।

युक्तमास्थापने मूत्रं युक्तं चापि विरेचने ॥ ६५ ॥
 स्वेदेष्वपि च तद्युक्तमानाहेष्वगदेषु च ।
 उदरेष्वथ चार्शःसु गुल्मकुष्ठकिलासिषु ॥ ६६ ॥
 तद्युक्तमुपनाहेषु परिपेके तथैव च ।
 दीपनीयं विषधनं च क्रिमिधनं चोपदिश्यते ॥ ६७ ॥
 पाण्डुरोगोपसृष्टानामुत्तमं सर्वथोच्यते ।
 श्लेष्माणं शमयेत्पीतं मारुतं चानुलोमयेत् ॥ ६८ ॥
 कर्षेत्पित्तमधोभागमित्यस्मिन् गुणसंग्रहः ।
 सामान्येन मयोक्तस्तु, पृथक्त्वेन प्रवद्ध्यते ॥ ६९ ॥

ये आठों प्रकार के मूत्र गरम, तोक्षण, रुखे, कटु रस, और लवण रस से युक्त हैं । आठों प्रकार के मूत्र उत्सादन में, आंदेपन में, प्रलेपन में, आस्थापन में निरूह में, विरेचन में, स्वेदन में, नाङ्गास्वेद में, आनाइ अथात् अफार में, अगद अर्थात् विषनाशक ओपथियों में प्रयुक्त होते हैं ।

उदर रोगों में, अशं रोग में, गुल्म, कुठ (कोट) और किलास (कुष्ठ का भेद), उपनाह, पुलटिस आदि में, परिपेक अथात् सेचन कार्य में, प्रयुक्त होते हैं । ये मूत्र (दीपन) अग्निदीपक, (विषधन) विषनाशक, लांग (क्रिमिधन) कृमिनाशक कहे जाते हैं । ये पाण्डु रोगियों के लिये पान, आहार और भेपज आदि कल्पना में उत्तम, हितकारी हैं । पिया हुवा मूत्र श्लेष्मा (कफ) को शमन करता है, वायुको अनुलोमन करता है, और पित्त को अव्योमाग्नि में खींचता है, पित्त का विरेचन करता है । ये आठों मूत्रोंके सामान्य से गुण कहदिये हैं ॥६५-६६॥

आठों मूत्रोंमें से एक एक के जां पृथक् २ गुण हैं ताह आगे कहे जाते हैं—
 अविमूत्रं सतिक्तं स्यात्सिन्धं पित्ताविरोधि च ।
 आजं कपायमधुरं पश्वं दोयान्निहन्ति च ॥ १०० ॥
 गव्यं समधुरं किञ्चिद्वोपदनं क्रिमिकुष्ठनुन् ।
 कण्ठूलं शमयेत्पीतं सम्यग्दोषोदरे हितम् ॥ १०१ ॥
 अशंशोकोदरधनं तु सक्षारं माहिषं सरम् !
 हास्तिकं लवणं मूत्रं हितं तु क्रिमिकुष्ठनाम् ॥ १०२ ॥
 प्रशस्तं वद्धविष्मूत्रविषश्लेषमामयार्शसाम् ।
 सतिक्तं श्वासकासन्नमर्शोन्नं चौष्ट्रमुच्यते ॥ १०३ ॥
 वाजिनां तिक्तकटुकं कुष्ठब्रणविषापहम् ।
 खरमूत्रमपस्मारोन्मादप्रहविनाशनम् ॥ १०४ ॥

१. भेड़ का मूत्र योद्धा तिक्त, स्तिर्ग्ध एवं पित्त का अविरोधी है, वह न तो पित्त को बढ़ाता है, और न पित्त को शमन करता है ।

२. वकरी का मूत्र कषाय और मधुर रस, खांतों के लिये हितकारी है, और चिदोपनाशक है ।

३. गाय का मूत्र कुछ मधुर, दोगनाशक, कृमि, और कुष्ठ का नाशक है । इसके पीने से खाज शमन होता है, एवं वात आदि से उत्पन्न पेट के रोगों में हितकर है ।

४. भैंस का मूत्र बवासीर, शोथ, और उदर रोगों को नाश करने वाला, योद्धा खारा और मलभेदक है ।

५. हाथी का मूत्र नमकीन, कृमि और कुष्ठ रोग वाले पुरुषों के लिये हितकारी है । अवस्था मल और मूत्र रोग अल्सक रोग, विष रोग, इलेम जन्य रोगों और बबासीर में श्रेष्ठ है ।

६. ऊँट का नूत्र योद्धा तिक्त, श्वास, कास और अश्व रोग का नाशक है ।

७. घोड़ों का मूत्र तिक्त और कदु, कुष्ठ, विष और ब्रण का नाशक है ।

८. गधे का मूत्र अपस्मार, (मृगो, हिस्टीरिया) उन्माद आदि (नाग-पन) का नाशक है ॥ १००-१०४ ॥

आठ प्रकार के दूध—

इतीहोक्तानि मूत्राणि यथासामर्थ्ययोगतः ।

अतः क्षीराणि वक्ष्यन्ते कर्म चैपां गुणाश्च ये ॥ १०५ ॥

अविश्वीरमजाक्षीरां गोक्षीरं माहिषं च यत् ।

उष्ट्रीणामध्य नारीनां वडवायाः क्षियास्तथा ॥ १०६ ॥

इस प्रकार ते इस शास्त्र में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से यथा-सामर्थ्य अयांत् मूत्रों की जैसों जैसी शक्ति हैं, वैसे गुण कह दिये हैं ।

अब आठ प्रकार के दूध, इन के कर्म और गुण भी कहे जाते हैं:—

१. भेड़ का, २. वकरी का, ३. गाय का, ४. भैंस का, ५. ऊँटनी का, ६. हथिनी का, ७. घोड़ी का और ८. क्षियों का दूध ॥ १०५-१०६ ॥

सब दूधों के सामान्य गुण—

प्रायशो मधुरं स्तिर्ग्धं शीतं स्तन्यं पयः स्मृतम् ।

प्रीणनं बृहणं बृद्ध्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम् ॥ १०७ ॥

जीवनीयं श्रमहर्तुं श्वासकासनिवर्हणम् ।

हन्ति शोणितपित्तं च संधानं विहतस्य च ॥ १०८ ॥

सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा ।

तृष्णाद्वन् दीपनीयं च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु च ॥ १०६ ॥

पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे ।

अतीसारे ज्वरे दाहे इवयथौ च विधीयते ॥ ११० ॥

योनिशुक्रप्रदोषेषु गृत्रेषु प्रदर्पेषु च ।

पुरीषे ग्रथिते पश्य वातपित्तविकारिणाम् ॥ १११ ॥

सब दूध प्रायः^१ मधुर रत्न, स्तिर्य, शीत, (स्तन्य) दूध वढाने वाले, (प्रीणन) पुष्टि देने वाले, (वृद्धण) शरीर को वढाने वाले; (वृप्त) वीर्य-वर्धक, (मेघ) बुद्धि के लिये हितकारी, (बल्य) शरीर को बल देने वाले, (मनस्त्वर) मन को प्रसन्न करने वाले, (जीवनीय) जीवन के लिये हितकारी, (श्रमहर) थकावट को मिटाने वाले, श्वास और कास (कफ, कास को छोड़कर दोष समस्त कासों को) मिटाने वाले हैं । दूध रक्त पित्त को नाश करता और दूटे हुए को जोड़ने वाला है, सब प्राणियों के लिये सात्य दोषों को शमन अथोत् स्वस्थान में स्थित दोषों को शान्त करने वाला है, प्यास को नाश करने वाला, अग्नि वर्धक, क्षीण और क्षत रोगियों के लिये हितकारी, पाण्डु रोग वातपित्त, शांप, गुल्म. उदर अतीसार ज्वर (जांरी ज्वर), दाह, (शव्यशु) शोथ रोग में विशेष करके पश्य है । यानि रोगों में, शुद्ध तांस में, मृत्रकृद्ध रोग में, मलावरोध में; पश्य और हितकारी है । वह वात-पित्त रोगियों के लिये भी पश्य है ॥ १०७-१११ ॥

दूध के कर्म कहते हैं:—

नस्याल्पेषावगाहेषु वमनास्थापनेषु च ।

विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र चुञ्जयते ॥ ११२ ॥

यथाक्रमं क्षीरगुणानेकेकस्य पृथक्पृथक् ।

अन्नपानादिकेऽध्याये भूयो चक्ष्याभ्यशेषतः ॥ ११३ ॥

यह दूध नस्य कर्म में, अवगाहन किया में, आलेपन में, वमन में, आस्थापन में, वस्ति में, विरेचन में, स्नेह कर्म में, सब स्थानों पर रसायन अर्थात् वाजीकरण आदि में भी प्रयुक्त होता है । यहां पर आठों प्रकार के दूधों के गुण-कर्म सामान्य रूप में कह दिये हैं । आगे ‘अन्न पान विधि’ नामक अध्याय (सूत्रस्थान अ० २७) में क्रमानुसार प्रत्येक दूध के गुण-कर्म पृथक् पृथक् समर्पण रूप से कहेंगे ॥ ११२-११३ ॥

अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथग्ये फलमूलिभिः ।

१ प्रायः शब्द से ऊँटनी के दूध का निषेध है । ऊँटनी का दूध नमकीन है ।

सुद्धर्काइमन्तकास्तेषामिदं कर्म पृथकपृथक् ॥ ११४ ॥

वमनेऽइमन्तकं विद्यात्सुहीक्षीरं विरेचने ।

क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने ॥ ११५ ॥

अब शोधन के लिये कहे हुए छः वृक्षों में तीन का दूध और तीन का त्वचा ग्रहण की जाती है । इनमें प्रथम दृश्याले तीन वृक्ष फलिनी और मूलिनी वनस्पतियों के पृथक हैं, उन के नाम १. सुही (भोर); २. अर्क (आक) और ३. अश्मन्तक हैं । अश्मन्तक का दूध वमन के लिये; सुही का दूध विरेचन के लिये और आक का दूध वमन और विरेचन दोनों कार्यों के लिये जानना चाहिये * । ११४-११५ ॥

इमांलानपरान् वृक्षानाहुर्येषां हितास्त्वचः ।

पृथिकः कृष्णगन्धा च तिल्कवश्च तथा तसः ॥ ११६ ॥

विरेचने प्रयोक्तव्यः पृथिकस्तिल्कवश्च ।

कृष्णगन्धा परीसर्पे शोधेष्वर्णःसु चोच्यते ॥ ११७ ॥

ददुविद्रोधगण्डेषु कुषेष्वप्यलजीयु च ।

पहुवृक्षाऽछोधनानेतानपि विद्याद्विचक्षणः ॥ ११८ ॥

दूसरे—दूष तीन वृक्ष हैं—जिनका त्वचा हितकारी है । उन वृक्षों के नाम—पुरीक (करंज), कृष्णगन्धा और तिल्कवश्च (लोध्र) हैं । इन में करंज और लोध वृक्ष की छाल विरेचन कार्य में प्रयुक्त होती है, और कृष्णगन्धा की छाल परि सर्प (वीमर्प, इक्जीमा, त्वग् रोग में), शोथ, अर्श रोग, दहु (दाद), विद्रोधि, गण्डमाला, कुष और अलजी नामक नाना रोगों में प्रयुक्त होती है ।

शिरोविरेचन में इसका प्रयोग रोगभिषग् जितीय अथवाय (विमानस्थान अ० ८) में कहेंगे ॥ ११६-११८ ॥

इन ऊपर कहे हुए छः वृक्षों को शोधनकारक जाने ।

उपसंहार—

इत्युक्ताः फलमूलिन्यः स्नेहाश्च लवणानि च ।

मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च षड्ये दृष्टाः पयस्त्वचः ॥ ११६ ॥

फलिनी १६, मूलिनी १६, स्नेह ४, लवण ५, मूत्र ८, दूध ८, और शोधन वृक्ष ६, जिनके दूध और त्वचा काम में आते हैं वे कह दिये हैं ॥ ११६ ॥

* अश्मन्तक के समान कार्य करने वाला वृक्ष अष्टा है जो महाराष्ट्र में होता है, इसका दूध वामक है ।

ओषधीनामरूपाभ्यां जानते ह्यजपा वने ।

अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः ॥ १२० ॥

बकरियां चराने वाले, मैडे चराने वाले, गौवें चराने वाले और अन्य तपरवी या भील आदि जो कि जंगल में रहते हैं ये लोग ओषधियों को नाम रूप और आकृति से पहचानते हैं ॥ १२० ॥

न नामज्ञानमात्रेण रूपज्ञानेन वा पुनः ।

ओषधीनां परां प्राप्तिं कश्चिद्द्रुदत्तुनहृति ॥ १२१ ॥

योगविज्ञानमरूपज्ञानासां तत्त्वविद्युत्यते ।

किं पुनर्यो विजानीयादोषधीः सर्वथा भिषक् ॥ १२२ ॥

योगमासां तु यो विज्ञादेशकालोपपादितम् ।

पुरुषं पुरुषं वौक्षय स विज्ञयो भिषक्तमः ॥ १२३ ॥

ओषधियों के नाम जान लेने मात्र से, अथवा रूप से पहचान लेने से भी कोई ओषधि के सम्बन्ध प्रयोग को नहीं जान सकता । इसीन्द्रिये शास्त्र में इनका वर्णन किया जाता है ।

जो वैद्य ओषधियों को नाम, रूप, और उनके योग और प्रयोगों सहित जानता है, वह तो तत्त्वविद् है ही, जो वैद्य ओषधियों को सभी प्रकार से समझता है; उसके लिये कहना ही क्या ? और जो व्यक्ति क्रमेक पूरुष के बल, शरीर, आहार, सार, सात्म्य, सत्त्व प्रदूर्घात और वयस का दिचार करके देश, काल, मात्रा के अनुसार ओषधि को जानता है वह दैवी में श्रेष्ठ है ॥ १२१-१२३ ॥

न जानी हुई औषधियों से हानिवाँ—

यथा विषं यथा शस्त्रं यथा गिरशनिर्यथा ।

तथौषधमविज्ञातं विज्ञातममृतं यथा ॥ १२४ ॥

ओषधं ह्यनभिज्ञातं नामरूपगुणीस्त्रिभिः ।

विज्ञातमपि दुर्युक्तमनर्थायोपपद्यते ॥ १२५ ॥

जिस प्रकार न जाना हुआ (मूढ़ आदमी से प्रयुक्त किया हुआ) विष, जिस प्रकार शस्त्र, जिस प्रकार अग्नि और जिस प्रकार अशनि (वज्र) या (विजली) मृत्यु के कारण बनते हैं, उसी कार नाम रूप गुण से न जानी हुई औषधि भी मृत्यु का कारण हो सकता है और नामरूप और गुण से जानी हुई औषधि अमृत के समान है । नाम, रूप एवं गुण से न

जाने हुई औपय या जाना हुई भी देश काल आदे का विचार न करके देने से अनिष्ट के लिए होती है, वह भारी अनर्थ-उत्पन्न करती है ॥ १२४-१२५ ॥

योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् ।

भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ १२६ ॥

तस्मान्न भिषजा युक्तं युक्तिवाद्येन भेषजम् ।

धीमता किञ्चिदादेयं जीवितारोग्यकाङ्क्षिणा ॥ १२७ ॥

तीक्ष्ण प्राणनाशक विष भी सम्यक् प्रकार से प्रयोग करने पर उत्तम औपय का कार्य करता है । औपय भी अनुचित प्रकार से प्रयोग करने पर तीक्ष्ण-प्राण नाशक विषका काम करती है ।

इसलिये अनुचित रूप में प्रयोग को जाने वाली औपयिति के विष के समान होने के कारण आयु एवं आरंभ को चाहने वाले दुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि, देश काल-मात्रा आदि का विचार न करके देने वाले मूढ़ वैद्य ने दी हुई औपय को कभी ग्रहण न करे ॥ १२६-१२७ ॥

कुर्यान्निपतितो मूर्धिन सरोपं वासवाशनिः ।

सशेषमातुरं कुर्यान्नि तद्वामतमोपयम् ॥ १२८ ॥

इन्द्र के हाथ से छटा हुआ बड़ा वृद्धि मनुष्य के सिर पर गिर पड़े तो उससे वचना सम्भव हो सकता है, परन्तु मूर्ख वैद्य से दी हुई औपयिति रोगी को समाप्त ही कर डालती है, इससे वचना असम्भव है ॥ १२८ ॥

दुःखिताय शयानाय श्रहधानाय रोगिणे ।

यो भेषजमविज्ञाय प्राज्ञमानी प्रयच्छति ॥ १२९ ॥

त्यक्तधर्मस्य पापस्य मृत्युभूतस्य दुर्मतेः ।

नरो नरकपाती स्यात्तस्य संभापणादपि ॥ १३० ॥

जो प्राज्ञमानी-अपने को दुद्धिमान् गिनने वाला वैद्य, औपय को न जान कर दुखी, अचेत पड़े, वैद्य में श्रद्धा करने वाले रोगी को औपय देता है, ऐसे धर्म को छाँड़ देने वाले विश्वासघाती, मृत्यु के समान साक्षात् यम और दुर्मति, अज्ञ, मूढ़ वैद्य के साथ बोलने से भी मनुष्य नरकगामी होता है, फिर स्पर्श आदि से वर्यों नहीं होगा ॥ १२९-१३० ॥

वरमाशीविषविषं कथितं ताम्रमेव वा ।

पीतमत्यग्निसंतप्ता भक्षिता बाऽप्ययोगुडाः ॥ १३१ ॥

न तु श्रुतवतां वेषं विभ्रता शरणागतात् ।

गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ॥ १३२ ॥

सौंप का विष अथवा ताम्बे को उचाल कर पीना या आग में लाल किये हुए लोहे के गोले खा लेना, कहीं अधिक अच्छा है, परन्तु वैद्य का वेप पहिनकर शरण में आये हुए रंगी से, अन्न, पान अथवा धन ग्रहण करना अच्छा नहीं ॥ १३१-१३२ ॥

वैद्य को क्या करना चाहिये ?

भिषग्दुमूरुर्निमानतः स्वगुणं पदि ।

परं प्रयत्नमातिष्ठेत् प्राणदः स्याद्यथा नुणाम् ॥ १३३ ॥

इसलिये वैद्य बनने की इच्छा करने वाले, बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि, वैद्य के गुणों को प्राप्त करने में अत्यधिक प्रयत्न करे जिससे कि वह मनुष्यों के रोगों को दूर करके प्राण देने वाला सिद्ध हो ॥ १३३ ॥

तदेव युक्तं भैषज्यं यदारोग्याय कल्पते ।

स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्यो यः प्रमोचयेत् ॥ १३४ ॥

जो औषध रोग को शान्त करने में समर्थ है; वही ठीक प्रकार से प्रयुक्त की हुई औषध है और जो रोगों से रोगियां को भूक्त कर, वह ही वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य है ॥ १३४ ॥

सम्यक्प्रयोगं सर्वेषां सिद्धिराख्याति वर्मणाम् ।

सिद्धिराख्याति लवच्च गुणं युक्तं भिषजम् ॥ १३५ ॥

सब प्रकार के कम्मों की सिद्धि, सफलता, उन कम्मों के सम्यक् प्रयोग की बतलानी है । सफलता ही सब गुणों से युक्त वैद्य की श्रेष्ठता को भी बतलाती है । अर्थात् सफलता से ही वैद्य का नाम लगता है ॥ १३५ ॥

अथाय वा संग्रह—

तत्र श्लोकः ।

आयुर्वेदागसो हेतुरागस्य प्रवर्तनम् ।

सूत्रणस्याभ्यनुज्ञानमायुर्वेदस्य निर्णयः ॥ १३६ ॥

सम्पूर्णं कारणं कार्यमायुर्वेदप्रयोजनम् ।

हेतवश्चैव दोषात्र भेषजं संग्रहेण च ॥ १३७ ॥

रसाः संग्रत्यद्रव्यास्त्रिविधो द्रव्यसंग्रहः ।

मूलिन्यश्च फलिन्यश्च स्नेहाश्च लवणानि च ॥ १३८ ॥

मूत्रं क्षीराणि वृक्षाश्च पठ्ये क्षीरत्वगाश्रयाः ।

कर्माणि चेषां सर्वेषां योगायोगगुणागुणाः ॥ १३९ ॥

१. वैद्यगुण-सम्पत्—श्रुतैः पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।

दात्यं शौचामिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्प्रयम् ॥

वैद्यापवादो यत्रस्थाः सर्वे च भिषजां गुणाः ।
सर्वमेतत्समाख्यातं पूर्वाध्याये महर्षिणा ॥ १४० ॥

आयुर्वेद का मर्त्यलोक में आना, हेतु-रोगों का उत्पन्न होना, भरद्वाज मुनि द्वारा मर्त्यलोक में शास्त्रों का प्रचार, अग्निवेशादि का तन्त्र बनाना, अग्निवेशादि द्वारा बनाये हुए तन्त्रों के लिये क्रपियों से दी हुई आज्ञा, हिताहित आदि लक्षण रूप सामान्यादि छः कारण, कार्य-धातुओं को समान करना आयुर्वेद का प्रयोजन है, संकेप से रोगों के कारण, काल, तुष्टि, इन्द्रियार्थ का अतियोग, अयोग, मिथ्याक्रान्त होः शोष वात, पित्त, कफ, इनकी औपच; आकाश आदि तीन, द्रव्य, जल और पृथिवी, इनके साथ, रसमधुर आदि, द्रव्यसंग्रह; शमन आदि; एवं बंगम आदि के भेद से, नूलिनो-हस्तिदन्ती आदि सोलह; फलिनी-शंखिनी आदि उन्नीस; स्नेह वा आदि चार, महास्नेह; लवण-सौंवर्चल आदि पांच; मूत्र आठ; क्षीर आठ, दूध बाले बृक्ष, छाल वाले स्तुही, पूतीक आदि छः बृक्ष; इनके वमन-विरेचन आदि सब कर्म; औपच के सम्यक् योग से जो गुण और असम्यक् योग से जो दुर्गुण हैं; मृदु वैद्य का निन्दा और सब गुणों से युक्त वैद्य के लक्षण; यह सब इस प्रथम 'दीर्घजीवितीय' नामक अध्याय में महर्षि भगवान् आद्रेव ने सम्यक् प्रकार संकह दिया है ॥ १३६-१४० ॥

इत्याग्निवेशकृतं तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने सभापाभाष्ये भेषज-
चतुष्कं दीर्घजीवितीयो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

अथातोऽपामार्गतण्डुलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

वमन आदि पांच कर्म स्वस्थ एवं रोगी दानों व्यक्तियों के लिये उपदोगी हैं । इसलिये पूर्व अध्याय में कहे हुए वमन आदि के द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ मिला कर इस अध्याय का अवतरण करते हैं ।

अपामार्ग (चिरचिटा) के बीजों का तुप रहित करके, तण्डुल बना कर काम में लाना चाहिए, यह बताने के लिये 'अपामार्गन्तण्डुलीय' अध्याय है ।

अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च ।

विड्ङ्गान्यथ शिमणि सर्षपांस्तुम्बुरुणि च ॥ ३ ॥

अजाजीं चाजगन्धां च पीलून्येलां हरेणकाम् ।
 पृथ्वीकां सुरसां श्वेतां कुठेरकफणिज्जकौ ॥ ४ ॥
 शिरीषवृत्तं लशुनं हरिद्रे लवणद्रुयम् ।
 ज्योतिष्मतीं नागरं च दद्याच्छीर्षविरेचने ॥ ५ ॥
 गौरवे शिरसः शूले पीनसेऽर्धावभेदके ।
 क्रिमिव्याधावपस्मारे ग्राणनाशे प्रमोहके ॥ ६ ॥

अपामार्ग (चिरचिटे) के तण्डुल, पिप्पली, मरिच, वायविडंग, सहंजना के बीज, श्वेत सरसों, तेजबल के बीज, जोरा, अजमोदा (तिलबन), पीलू, एला (छोटी इलायची), हरेण (रेणुका, मैंहदी के बीज), पृथ्वीका (कलैंजी), सुरसा (काली तुलसी), श्वेता (अगराजिता), कुठेरक (मरवा), फणिज्जक (तुलसी का भेद), शिराप बीज (सिरस के बीज), लशुन (लहसन), दांतों हरिद्रा (हल्दी और दाढ़ हल्दी), दांतों लवण (सैन्धव और सौंवर्चल), ज्योतिष्मती (मालकंगानी), और नागर (सोंठ) ये शिरोविरेचन के लिये उपयोग में लानी चाहिये ।

इन उपरोक्त औपचियों में ‘श्वेता’ और ‘ज्योतिष्मती’ ये दो द्रव्य ‘मूलिनो’ आपचियों में गिने गये हैं । इसालिये इनका मूल ग्रहण करना चाहिये, और अपामार्ग (चिरचिटा) के तण्डुल उपयोग में लाने चाहिये ।

(गौरव) शिर के भारीपन में (शिरःशूल) शिर के दुखने में, (पीनस) नाक से दुर्गन्ध युक्त स्वाव, कफ आता हो, (अद्वावभेदक) आधा शिर दुःखता हो, (कृष्ण-व्याधि) कृष्ण जन्य शिरों रोग में, (अरस्मार) मृगी में, (ग्राण नाश) ग्राण शक्ति के नष्ट होने पर और (प्रमोहक) मूर्छा इन रोगों में शिरो विरेचन के रूपमें प्रयोग करना चाहिये ॥ ३-६ ॥

वमनकारक द्रव्य—

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम् ।
 पिप्पलीकुटजेक्षवाकूण्येला धामार्गवाणि च ॥ ७ ॥
 उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये ।
 वमनार्थं प्रयुक्षीत भिषण देहमदूषयन् ॥ ८ ॥

मदन (मैनफल), मधुक (मुलहेठी), नीम (नीम की छाल), जीमूत (कडुकी तुरई), कृतवेधन (कडुबा तुम्बा), पिप्पली, कुटज (कुड़ा), इक्षवाकु (कडुकी विद्या या आल), एला (छोटी इलायची) धामार्गव (तुरई

कडुबी) ये दस वस्तुएँ कफपित जन्य व्याधि में अथवा आमादय में आन्तित व्याधि की अस्था में, शरीर को हानि किये चिना वैद्य वमन के लिये देवे ।

इनमें मदन, मधुक, जीमूत, कृतवेनन, कुटज, इक्ष्वाकु और धार्मार्गव इनका फल लेना चाहिये और पिपली इलायची का भी फल तथा नीम की छाल लेनी चाहिये ॥ ७-८ ॥

विरेचन द्रव्य—

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं नलिनीं नमलां वचाम् ।
कम्पिलकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकार्यकाम् ॥ ६ ॥
पीलून्यारग्वधं द्राश्रां द्रवन्तीं निचुलानि च ।
पक्षाशयगते दोषे विरेकार्यं प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

त्रिवृत (निशोथ) त्रिफला (हरड, वहेडा, आंवला), दन्ती (जमाल-गोटा), नलिनी (नील का मूल), सतला (शिकाकाई), वच, कम्पिलक (कमीला), गवाक्षी (हन्दायण), क्षीरिणी (हिरवी) उदकार्या (नाटा करञ्ज), पीलू फल, आरग्वध (अमलतात), द्रवन्ती (वडा जमाल गोटा), निचुल (हिङ्गल फल), ये वस्तुएँ दोष के पक्षाशय में स्थित होने पर विरेचन के लिये देनी चाहिये (शर्गर में अन्यत्र स्थित होने पर नहीं) ।

इन में त्रिवृत, नागदन्ती, सतला गवाक्षी, क्षीरिणी, और द्रवन्ती का मूल लेना चाहिये, और नालिनी, तथा वच का भी मूल और शेषों का फल ग्रहण करना चाहिये ॥ ६-१० ॥

आस्थापन और अनुवासन के द्रव्य—

पाटलां चाग्निमन्थं च विल्वं श्योनाकमेव च ।
काशमर्यं शालपर्णीं च पृश्नपर्णीं निदिग्धिकाम् ॥ ११ ॥
बला श्वदंष्ट्रां वृहतीमेरण्डं सपुनर्नवम् ।
यवान् कुलत्थान् कोलानि गुहूचीं मदनानि च ॥ १२ ॥
पलाशं कटूं चैव सनेहांश्च लवणानि च ।
उदावते विवन्धेषु युक्त्यादास्थापने सदा ।
अत एषोषधगणात्संकल्प्यमनुवासनम् ।
मारुतधनमिति प्रोक्तः संग्रहः पाञ्चकर्मिकः ॥ १३ ॥

पाटला (पाटल), अग्निमन्थ (अरणी), विल्व (बेल), श्योनाक (टेंटु, सोनापाठा), काशमरी (गम्भारी), शालपर्णी (सलवन), पृश्नपर्णी (पोठापर्णी), निदिग्धिका (कटेरी, भटकटैया), बला (खरैंटी), श्वदंष्ट्रा (गोखरु)

बृहती (बड़ी कट्टेरी), एरण्ड (एरण्डमूल), पुनर्वा (सांठी वास), यव (जौ), कुक्कुत (कुलथी), काल (वेर), गुद्धना (गिलोय), मदन (मैनफल), पलाश (ढाक), कत्तूण (राहिप तृण), स्नेह (चारों स्नेह धी आदि), लवण (पांचों नमक) ये उनर्तास द्रव्य (उदावर्त्त) अगान वायु की ऊर्ध्व गति होने पर, विवन्ध मल मूत्र आदि के अपराव में और आस्थापन नामक वस्ति कर्म में प्रयोग करने चाहिये । इन्हीं औंगवियों ने अनुवासन वस्ति बना कर वायु को नष्ट करने के लिये प्रयोग करनी चाहिये । यह स्क्षेप में पंच कर्म (वमन, विरेचन, नस्य, आस्थापन और अनुवासन) कह दिये हैं ॥ ११-१४ ॥

तान्युपास्थतदोपाणां स्नेहस्वेदोपपादनः ।

पञ्च कर्माणि कुर्वति मात्राकालौ विचारयन् ॥ १५ ॥

प्रवृत्त होने के लिये तैयार दोप वालों को स्नेहन और स्वेशन कराके, शरीरन्त्रल की अपेक्षा से मात्रा और काल का विचार बरके वैद्य पंच कर्मों का करावे ॥ १५ ॥

मात्रा और काल के विचार करने की आवश्यकता ।

मात्राकालाश्रदा युक्तिः, सिद्धियुक्तो पर्वष्टितः ।

तिष्ठत्युपार युक्तज्ञा द्रव्यज्ञानवत्ता सदा ॥ १६ ॥

पदार्थों की योजना नाशा और काल पर असम्भव है । शरीरदा, अपेन-बल, आयु, व्याधिबल, दोपबल आदि के अनुकूल नाशा और विशेष समय में प्रयुक्त हुआ द्रव्य भलो प्रकार अपने कार्य को कर सकता है । तिद्वि चिकित्सित क्रिया की सफलता युक्ति ने आश्रित है । योजना का जानने याला वैद्य द्रव्य-ओषध को जानने वालों में से सदा श्रेष्ठ है । उत्तर स्वन्ध तथा आत्मरुपुरुषों के लिये पंच कर्मों का उपदेश कर चुक ॥ १६ ॥

रोगियों के लिये आहार विशेष यवागू—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधोपधाः ।

विविधानां विकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये ॥ १७ ॥

इसके आगे यवागू से अच्छे होने वाले नाना प्रकार के रोगों के नाश के लिये नाना प्रकार की औषधियों से सिद्ध यवागू (लाप्सी) कहेंगे ॥ १७ ॥

पिष्पलीपिष्पलीमूलचन्द्रचित्रकनागरैः ।

यवागूर्दीपनीया स्थान्छूलघ्नी चोपसाधिता ॥ १८ ॥

१. जिस प्रकार मृदु-विरेचक औषधियां रात्रि को सोते समय लेने से उत्तम गुण करती हैं ।

चूंकि आरोग्य का मूल साधन कोष्ठाग्नि है, इस लिये सब सं मुख्य वस्तु कोष्ठाग्नि है। अतः अग्नि का सन्दीपन करने के लिये यवागू कहते हैं,

(१) पिष्पली, पिष्पली मूल (पीपला मूल), (चव्य) चविका, (चित्रक) चीता, सोठ इन से बनाई हुई यवागू (दीपनी) अग्निवर्धक और शूलनाशक होती है ॥ १८ ॥

यनागू तीन प्रकार की है, १. यवागू जो छः गुने जल में पकती है, २. मण्ड चौदह गुने जल में और ३. विलेपी चार गुने जल में पकाई जाती है।

दधित्य-विल्व-चाङ्गरा-नक्र-दाढ़म-साधिता ।

पाचनी ग्राहिणी पेया, सवाते पाञ्चमूलिकी ॥ १९ ॥

(२) दधित्य (कैथ), विल्व (बेलागरा-नूदा), चांगरा (चोपतिया), तक (छाँछ), दाढ़म (अनारदाना) इन से बनाई हुई यवागू 'पाचनी' पाचन करने वाली 'ग्राहिणी' अर्थात् स्तम्भक वा मल को रोकने वाली है।

(३) पांच मूल बृहत्पञ्चमूल-शालपर्णा, पृश्नपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू-यह पांच वातहर हैं इनसे साधित यवागू वातविकार के लिये उपयोगी है ॥ २० ॥

शालपर्णी-बला-बिल्वः पृश्नपर्णी च साधिता ।

दाढ़मास्ला हिता पेया पित्तश्लेषमातिसारिणाम् ॥ २० ॥

(४) शालपर्णी (सालवन), बला (खरैंटी), बिल्व (बेलगिरी), और पृश्नपर्णी (पीठापर्णी) इन से बनाई तथा अनार के रस से खट्टी की हुई यवागू पित्त-श्लेष जन्य अतिशार रोग में हितकारी है ॥ २० ॥

पयस्यर्धोदके छागे हीवेरोत्पलनागरैः ।

पेया रक्तातिसारङ्गी पृश्नपर्णी च साधिता ॥ २१ ॥

(५) बकरी का जितना दूध हो, उससे आधा पानी इस में मिला कर (मिलित परिमाण छः गुना), हांबेर (नेत्रबाला), उत्पल (कमलगद्वा) और सोठ, और पृष्ठपर्णी (पिठवन) ये एक कर्प मात्रा लेकर यवागू सिद्ध करनी चाहिये। यह यवागू रक्तातिसार को नष्ट करती है ॥ २१ ॥

१. पिष्पली आदि सब साधन द्रव्य मिलकर एक कर्प अर्थात् चार मासे लेने चाहिये। इसको थोड़ा कूट लेना चाहिये, पकाने में आधा पानी जलाना चाहिये, पानी की मात्रा के मेद से नाना मेद हो जाते हैं।

द्यात्सविषया पेयां सामे साम्लां सनागराम् ।

शुद्धैष्टकारीङ्यां मूत्रकृच्छ्रे सफाणिताम् ॥ २२ ॥

(६) अतिविषया (अतीत), नागर (सोठ) इनके कषाय अथवा कल्क से छः गुने जल में यवागू सिद्ध करे, इसे अनार के रस से खट्टी कर के आमा-तिसार (रक्तातिसार) में दे ।

(७) मूत्र कृच्छ्र रोग में श्वदंष्ट्रा (गोखरु) और कण्टकारी (कट्टेरी) इन के कषाय या कल्क से छः गुने जल में यवागू सिद्ध करके इस में फाणित (राब, आधा पका गुड़) डाल दे ॥ २२ ॥

विड्ज्ञ-पिप्पलीमूल-शिशुभिर्मस्तेन च ।

तक्रसिद्धा यवागूः स्यात्क्रिमिज्जी समुवर्चिका ॥ २३ ॥

(८) वायविंडंग, पिप्पलीमूल, शिशु (सहजना) और मरिच इनके कल्क से छः गुने तक्र में सिद्ध की हुई यवागू में सुवर्चिका (सौवर्चल नमक) डालकर रोगी को देने से कृमि नष्ट होते हैं । यहाँ पानी के स्थान पर तक्र का प्रयोग करे ॥

मृद्धीका-सारिवा-लाजा-पिप्पली-मधुनागरैः ।

पिपासाध्नीं विपद्धनीं च सोमराजाविपाचिता ॥ २४ ॥

(९) मृद्धीका (द्राक्षा दाख) सारिवा (अनन्त मूल) लाजा (खोले), पिप्पली, और सोठ इन के कल्क या कषाय से यवागू को छः गुने जल में सिद्ध करे । ठण्डा होने पर इस में शहद मिला कर पीने से प्यास शान्त होती है ।

(१०) सोमराजी (वाचवी) से सिद्ध की हुई यवागू 'विषज्जी' अर्थात् राये हुए विष को नष्ट करने वाली है ॥ २४ ॥

सिद्धा वराहनियूहे यवागू बृहणी भता ।

गवेधुकानां भृष्टानां कर्षणीया समाक्षिका ॥ २५ ॥

(११) सुअर के मांस रस में सिद्ध की हुई यवागू पुष्टि कारक होती है ।

(१२) भूने हुए गेहुओं के सत्तू से बनाई हुई यवागू में शहद मिला कर लेने से शरीर पतला होता है ॥ २५ ॥

सर्पिष्मती बहुतिला स्नेहनी लक्षणान्विता ।

कुशामलकनिर्यूहे इयामाकाना विरुक्षणी ॥ २६ ॥

(१३) धी वाली, तिलयुक्त नमकीन यवागू स्नेहकारक है । वह शरीर को स्त्रिघ बरती है । तिलों के साथ कुछ चाषल मिला लें । यवागू सिद्ध करके फिर इस में भी और नमक मिलावें ।

(१४) कुश (दाभ) को जड़ और आमलक (आवले का फल) इनको एक २ कर्ष लेकर छः गुने जल में कषाय करे इसमें श्यामाक तण्डुल पाक कर के सिद्ध करनी चाहिये । यह पान करने योग्य यवागू शरीर में रुक्षता उत्पन्न करती है ॥ २६ ॥

दशमूलोशृता कास-हिक्का-इवास-कफापहा ।

यमके मदिरासिद्धा पकाशयरुजापहा ॥ २७ ॥

(१५) दशमूल (शालपर्णी, पृथिनपर्णी, कटेरी, हृषती, गोखरू, विल्व, श्योनाक, अरणी, गम्भारी, पाठा) से सिद्ध की हुई यवागू कास, हिक्का, श्वास और कफ को नष्ट करती है ।

(१६) यमक अर्थात् समान भाग धी और तैल लेकर इन में भूनी हुई एवं पानी के स्थान पर मदिरा लेकर उनमें सिद्ध की हुई यवागू (मदिरा मिलाकर देने से) पकाशय की पीड़ा को मिटानी है ॥ २७ ॥

शाकैर्मासेस्तिलंर्मायैः सिद्धा वर्चो निरस्यति ।

जम्बुवाम्रास्थि-दधित्थाम्ल-विल्वैः सांग्राहिकी मता ॥ २८ ॥

(१७) 'शाक' (हरी संबिजयाँ) मांस, तिल, माष (उड़द) इन के कल्क और कषाय से सिद्ध की हुई यवागू मल को बाहर निकालती है ।

(१८) जम्बु-अस्थि (जासुन की गुठली) आम्रास्थि (आम की गुठली की गिरी) दधित्थाम्ल (कैथ कच्चा, खट्टी अवस्था में), विल्व (बेलगिरी कच्चे हरे), इनसे सिद्ध की हुई यवागू 'स्तम्भक' है ॥ २८ ॥

क्षार-चित्रक-हिङ्गवम्ल-वेतसंभेदिनी मता ।

अभया-पिप्पलीमूल-विश्वैर्वातानुलोमनी ॥ २९ ॥

(१९) क्षार (जवाखार ^२), चित्रक (चीतामूल), हींग, अम्लवेतस (अम्लवेत), इन से सिद्ध की हुई यवागू मल को भेदन करके बाहर निकालती है ।

(२०) अभया (जंगी हरड़), पीपल मूल और विश्व (सोठ) इन से

१ 'यमक' एक भाग धी और एक भाग तैल परस्पर समान और एक भाग मदिरा लेनी चाहिये । अथवा मूंग की दाल और सांठी के चावल परस्पर समान भाग मिलाकर मदिरा में यवागू सिद्ध करनी चाहिये । (जल्य कल्प-तत्र)

२. जवाखार बनाने के लिये हरे जबों को आग में सच्छ रथान में जाला लेना चाहिये । जिर इस को पानी में धोककर छब्ब में से छान लेना चाहिये । छाने हुए पदार्थ को आग पर गरम करके शुष्क कर लेना चाहिये ।

सिद्ध की हुई यवागू वात का अनुलोमन अर्थात् कफ वातादि दांतों का परिपाक करके मल को अच्छी प्रकार से बाहर करती है ॥ २६ ॥

तकसिद्धा यवागूः स्याद् घृतव्यापत्तिनाशिनी ।

तैलव्यापदि शस्ता तु तकपिण्याकसाधिता ॥ ३० ॥

(२१) छाछ में सिद्ध की हुई यवागू धी के अधिक खाने से उत्पन्न चिकार को नष्ट करती है ।

(२२) छाछ और पिण्याक (खल) से सिद्ध की हुई यवागू तैल के अधिक खाने से उत्पन्न व्याधि में देने योग्य है ॥ ३० ॥

गव्यमांसरसैः साम्ला विषमज्वरनाशिनी ।

कण्ठ्या यवानां यमके पिप्पल्यामलकः शृता ॥ ३१ ॥

(२३) गाय के मांस के रस में सिद्ध की हुई यवागू को अनार, आंबला आदि ज्वर नाशक खटाई से खटा करके देने पर विषम ज्वर नष्ट होता है ।

(२४) जौ को समान भाग लेकर धी और तैँड में भूनकर पिप्पली और आंबले इनके कथाय या कल्क से सिद्ध की हुई यवागू कण्ठ के रोगों के लिये हितकर है ॥ ३१ ॥

ताम्रचूदरसे सिद्धा रेतोमार्गक्रापदा ।

समाषविदला वृद्ध्या घृतक्षीरोपसाधिता ॥ ३२ ॥

(२५) 'ताम्रचूद' अर्थात् कुकुट के मांस के रस में सिद्ध की हुई यवागू शुक्र मार्ग की पीड़ा को मिटाती है ।

(२६) जल के स्थान पर दूध और घृत वथापरिमाण में लेकर उनमें उड़द की दाल या इसकी पिसी हुई पिटां को पहिले धी में भूनकर दूध में यवागू सिद्ध करनी चाहिये । यह शुक्रवर्धक है ॥ ३२ ॥

उपोदिकादधिभ्यां तु सिद्धा मदविनाशिनी ।

क्षुधं हन्यादपामार्गक्षीरोधारसे शृता ॥ ३३ ॥

(२७) उपोदिका अर्थात् पोई को कल्क रूप में तथा दही को पानी के स्थान में लेकर यवागू सिद्ध करनी चाहिये । यह यवागू धूत्रे आदि के विष को नष्ट करती है । पोई और दही से सिद्ध की यवागू मद नाशक है ।

(२८) चिरचिटे के चावलों को दूध और गोह के मांस में पकाकर यवागू सिद्ध करे । इस से भूत का नाश होता है । यहां पर जल वा सादे चावल नहीं प्रयुक्त होते ॥ ३३ ॥

उपसंहार—

तत्र श्लोकाः ।

अष्टाविंशतिरित्येता यवाग्वः परिकीर्तिः ।
पञ्चकर्माणि चाप्रित्य प्राक्तो यैषज्यसंग्रहः ॥ ३३ ॥
पूर्वं मूलफलद्वानहेतोरुक्तं यदौपधम् ।
पञ्चकर्माणश्चज्ञानहेतोस्तत्कीर्तिं पुनः ॥ ३५ ॥

इस अध्याय में अद्वाईस प्रकार की यवागू कह दी हैं और पंच कर्म (वमन, विरेचन, नस्य, आस्थापन और अनुचानन) इन के बोग्य औपयित्रियां भी कह दी हैं। मूलिनी, फलनी आदि वाज्ञान करने के लिये जो औपयित्रियां प्रथम अध्याय में कही हैं, वे औपयित्रियां पंचकर्मों भे आधा वयावित्रियों में उपयुक्त हैं, इसलिये यहां पर किर लिखी हैं ॥ ३३-३५ ॥

सृतिमान् युक्तिहेतुक्षो जितात्मा प्रतिपत्तिमान् ।

भिपर्गोपधमंयोगेश्चकित्सा कर्तुमर्हति ॥ ३६ ॥

(सृतिमान्) स्मरण शार्क वाला, (हेतुक्ष) रोग के कारण का जानने वाला, (युक्तिश) शोजना, व्याधि के साधन रूप ऐषज्य की कल्पना को जानने वाला, अथवा मात्रा की भाँति द्रव्य, व्याधि वठ और व्याधि रूप को जानने वाला, (जितात्मा) भ्रम-प्रानाद रहित, (प्रतिपत्तिमान्) उत्तम सूक्ष्म वाला, वैद्य औपयित्रियों के योग से उपचार करने में समर्थ हो सकता है ॥ ३६ ॥

इत्यग्निवेशाङ्कते तन्त्रे २२कप्रतिशंकुते सूत्रस्थाने सुमापाभाष्ये भेषज-
चतुष्केऽपामागत्पुलोयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ दृतीयोऽध्यायः ।

अथात आरग्वधीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

गेगा की हितकामना से यवागू कहकर उसी प्रसंग में प्रदेह चूर्ण आदि कहते हैं। इसके लिये 'आरग्वधीय' नामक तीसरे अध्याय का व्याख्यान करते हैं ऐसा भगवान् आत्रेय कहते हैं। इस अध्याय का आरम्भ 'आरग्वध' से हुआ है, इसलिये इस अध्याय का नाम आरग्वधीय है ॥ १-२ ॥

आरग्वधः सैङ्गजः करञ्जो वासा गुद्धूची मदनं हरिद्रे ।
श्याह्हः सुराह्हः खदिरो धवश्च निष्ठो विडङ्गं करवीरकत्वक् ॥३॥
ग्रन्थिश्च भौजों लशुनः शिरीषः सलोमशो गुम्गुलुकृष्णगन्धे ।
फणिज्जको वत्सकसप्तपौं पीलूनि कुष्ठं सुमनःप्रवालाः ॥४॥
बचा हरेण्णिवृता निकुम्भो भल्लातकं गैरिकमञ्जनञ्च ।
मनःशिलाले गृहधूम एला काशीसलोधार्जुनमुस्तमर्जाः ॥ ५ ॥
इत्यर्धरूपैर्विहिताः षडेते गोपित्तपीताः पुनरेव पिष्टाः ।
सिद्धाः परं सर्षपतैलयुक्ताश्वर्णप्रदेहा भिषजा प्रयोज्याः ॥ ६ ॥
कुष्ठानि कुच्छाणि नवं किलासं सुरेन्द्रलुप्तं किटिमं सददु ।
भगन्दराशास्यपचीं सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम् ॥ ७ ॥

‘आरग्वध’ से लेकर ‘सर्ज’ इस शब्द तक तीन श्लोकों में कहे हुए छ: योग हैं, इनको गाय के पित्त में पीस कर काम में लाना चाहिये । यथा—
(१) आरग्वध (अमलास), ऐङ्गज (पनवाह), करञ्ज (नाटा करंज), वासा (वासे के पत्ते), गुद्धूची (गिलोय), मदन (मैनफल), दों हरिदा (हल्दी और दाढ़ हल्दी) । (२) श्याह्ह (गन्दा विरोजा), सुरा (देवदार), खदिर (खैर), और धव (धावन), निष्ठ (नोम के पत्ते), विडङ्ग (वायविडंग), करवीरत्वक् (कनेर की छाल) यह दूसरा । (३) भाजत्र की गाठें, लशुन (लहसन), शिरीष (सिरस की छाल), लोमशा (जटामांसा), गूगल, कृष्ण-गन्धा (सहजना) यह तीसरा । (४) फणिज्जक (मरवा) वत्सक (इन्द्र जौ) सप्तपौं (सातवन), पीलू कुष्ठ (कूठ), सुमनःप्रवाल (चमेली के कोंमल पत्ते) यह चौथा । (५) बचा (बच), हरेणु (रेणुका बांज, मैहदी के बीज), त्रिवृत (निशोथ), निकुम्भ (जमाल गोटा), भल्लातक (भिलावा), गैरिक (गोरु), अंजन (रसाऊन), यह पांचवां, (६) मनःशिला (मैनसिल), आल (हरिताल), गृहधूम (घरका धुंआसा), एला (छोटी इलायची), काशीस (पुष्प कासांस), लोप्र (पठानी लोध), अर्जुन (अर्जुन वृक्ष की छाल), मुस्ता (नागरमोथा), सर्ज (राल) यह छठा योग हुआ ।

इनमें से किसी योग को चूर्ण के रूप में तैयार करके गाय के पित्त के साथ फिर पीसे । फिर इसको सरसों के तेल में मिला कर द्रव रूप बनाकर लगाने से कष्टसाध्य कुष्ठरोग, नया किलास इन्द्रलुप्त बालों का गिरना किटिम (कुष्ठ भेद) दहु (दाद), भगन्दर बवासीर, चर्मकील, अपची (न पकने वाली गाठें) और पामा (खाज) शीघ्र ही मनुष्यों के नष्ट होते हैं ॥ ३-७ ॥

अथ सातवां योग कहते हैं—

कुष्ठं हरिद्रे सुरसं पटोलं निम्बाश्वगन्वे सुरदारु शिशु ।

ससर्पं तुम्बुरुधान्यवन्यं चण्डा च चूर्णानि समानि कुर्यात् ॥८॥
तैस्तक्षयुक्ते: प्रथमं शरीरं तेलाक्तमुद्रत्यितुं यतेत ।

तेनास्य कण्डूः पिङ्काः सकोठाः कुष्ठानि शाफाश्च शमं ब्रजन्ति ॥९॥

कुष्ठ (कूठ), दोनों हल्दी (दारहल्दी और हल्दी), सुरसा (तुलसी), पटोल (परबल), निम्ब (नीम के पत्ते), अश्वगन्धा (असमन्ध), सुरदारु (देवदार), शिशु (सहजना), सर्प (इवेत सरसां), तुम्बुरु, धान्य (धनिया) वन्य (कैवर्त मुस्ता), चण्डा (चांक) इन पन्द्रह ओषधियों को परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण को छाल में पीसकर शरीर पर लगाना चाहिए । शरीर पर लगाने से पूर्व तैल का उबटन लगा लेना चाहिये । इस लेप के लगाने से कण्डू (खाज), पिङ्का (छोटी २ फुन्सियां), कोठ (न दबने वाली फुन्सियां), कुष्ठ कोढ और शाफ़ (सूजन) नष्ट होते हैं ॥८-९॥

आठवां योग---

कुष्ठामृतासङ्गकट्कटेरीकाशीसकम्पिङ्गकलोधमुस्ताः

सौगन्धिकं सर्जरसो विङ्गङ्गं मनःशिलाले कर्वीरकत्वक् ॥ १० ॥

तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णान्येतानि दद्याद्वचूर्णनार्थम् ।

दद्रः सकण्डूः किटिभानि पामा विचर्चिका चैव तथेति शान्तिम् ॥ ११ ॥

कुष्ठ (कूठ), अमृता (गिलोय), संग (नीला तुत्य), कट्कटेरी (दारहल्दी), काशीस (हीरा कसीस), कम्पिङ्गक (कमीला), मुस्त (नागर मोथा), लोध (पठानी लोध), सौगन्धिक (कह्वार पुष्प, सुगन्धि), सर्जरस (राल), मनःशिला (मैनसिल), आल (हरताल), कर्वोरत्वक् (कनेर को छाल), इन चौदह ओषधियों का चूर्ण करके अवचूर्ण (अर्थात् मलने) के लिए देना चाहिये । प्रथम शरीर पर तैल की मालिश कर लेनी चाहिये । इस से दाद, कण्डू, खाज़, किटिभ, कुष्ठ, पामा, विसर्प, विचर्चिका स्वावयुक्त फुन्सियां, नष्ट होती हैं । कोई अमृतासंग एक वस्तु मानकर नीला योथ अर्थ करते हैं ॥ १०-११ ॥

नवां योग—

मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पशः कुष्ठहरः प्रदेहः ।

मनःशिला (मैनसिल), आल (हरताल), मरिच, तैल (सरसों से तैल कुष्ठहर होने से), 'आर्करयस्' (आक का दूष) इनको परस्पर मिला कर लेप बना कर लगाने से कुष्ठ अच्छा होता है ।

इस योग में पानी को मिलाना नहीं चाहिये, अपितु आक के दूध में ही सब बनाना चाहिये ।

दसवां योग—

तुथं विडङ्गं मरिचानि कुष्ठं लोधं च तद्रूपसमनःशिलं स्यात् ॥ १२ ॥

तुथ (नीला थोथा), विडङ्ग (बायविडङ्ग), मरिच (काली मरिच), कुष्ठ (कूठ). लोध (पटानी लोध), मनःशिला (मनसिल) इनके चूर्ण को पूर्ण की भाँति आक के दूध में मिलाकर लगाना चाहिये ॥ १२ ॥

ग्यारहवां लेप—

रसाञ्जनं सप्रपुनाड्वीजं युज्ञः कपित्थस्य रसेन लेपः ।

रसाञ्जन (रसांत), प्रपुनाड्वीज (पनवाङ के बीज), इन को कैथ के पत्तों के रस में मिलाकर लगाने से कुष्ठ रोग नष्ट होता है । पानी का उपयोग नहीं करना चाहिये ।

बारहवां योग—

करञ्जज्वीजेडगजं स्फुष्टं गोमृतपिष्टं च परः प्रदेहः ॥ १३ ॥

करञ्ज (नाटा करञ्ज वीज), ऐडगज (चक्रमर्द) और कुष्ठ (कूठ), इनको गोमृत में पास कर लेप करने से कुष्ठ नष्ट होता है ॥ १३ ॥

तेरहवां योग—

उभे हरिद्रे कुटजस्य वीजं करञ्जवीजं सुमनःपदलःन् ।

त्वचं समध्यां हयमारकस्य लेपं तिलक्ष्मारयुनं विश्वायान् ॥ १४ ॥

दोनों प्रकार की हल्दी (साधारण हल्दी और दाद हल्दी), कुटज वीज (इन्द्रजौ), करञ्ज वीज (करञ्ज का वीज), सुमनःपदल (चमेली के कोमल नये पत्ते), हयमारक (कनेर) की अन्दर की त्वचा, और तिल क्षार (तिल की नाल का क्षार भस्म) इनका लेप बनाकर लगाने से कुष्ठ रोग भिट्ठा है ॥ १४ ॥

चौंदहवां योग—

मनःशिला त्वक्कुटजात्सकुष्ठात् सलोमशः सैडगजः करञ्जः ।

ग्रन्थिश्व भौजः करवीरमूलं चूर्णानि साध्यानि तुपोदकेन ॥ १५ ॥

पलाशनिर्दीहरसेन चापि कपोद्वृत्तान्याढकसंमितेन ।

दर्भीप्रलेपं प्रवदन्ति लेपमेतत्परं कुष्ठनिपूदनाय ॥ १६ ॥

मनःसिल, कुटजत्वक् (कूड़े की छाल), कुष्ठ (कूठ) लोमश, (जटा-मांसी), ऐडगज (चक्रमर्द), करञ्ज, (करञ्जआ), भौजः (भौजपत्र की गाँठ), करवीर (कनेर की जड़), ये आठों द्रव्य प्रत्येक एक एक कर्व (दो २

तोला) लेकर तुधोदक (यव-काञ्जिक) एक आढ़क तथा 'पलाशनिर्दाह रस' अर्थात् दाक के वृक्ष को जलाने से उत्पन्न रस' एक आढ़क परिमाण (द सेर) लेकर पाक करना चाहिये । पाक इतना करना चाहिये कि वह कड़ी पर चिपटने लगे । यह प्रलेप कुष्ठ रोग को नष्ट करने के लिये श्रेष्ठ है ॥१५-१६ ॥

पन्द्रहवां योग—

पर्णानि पिष्टवा चतुर्गुणस्य तत्रग पर्णान्वयं काकमाच्याः ।
तेलाक्तगात्रस्य नरस्य कुष्टान्युद्वत्येदश्वद्वनच्छदैश्च ॥ १७ ॥

अमलतास के पत्तों, मकोष के पत्तों का और अश्वद्वनच्छद (कनेर) के पत्तों की छाँच के साथ पीसकर दारार पर तैयार का मालिदा करके कुष्ठरोग में मले ।

कई विद्वान् 'तात्माच्याः पर्णानि' शब्द ने एक अन्य योग की कल्पना करते हैं । इसी प्रकार 'अश्वद्वनच्छदैश्च' इन से दीक्षित योग मानते हैं ॥ १७ ॥

सांलहवां योग—

कोलं कुलत्थाः सुरदारु रास्ना मायातर्सीत्यलक्षानि कुष्ठम् ।

वचा शताद्वा यवचूर्णमस्तुष्यानि वातामयिनां प्रदेहः ॥ १८ ॥

कोल (शार्ङ्गी के बेर), कुलत्थ (कुलत्थी), सुरदारु (देवदारु), रास्ना उड्ड, अतर्सी (अलसी), तैलाल (एरण्ड के बीज), कुष्ठ (कूट), वचा (वच) शताद्वा (सौंफ), और यवचूर्ण (यवक्षार) इनको 'अम्ल' (कांची) के साथ पीसकर प्रलेप बनाकर गरम करके वातरोगी के लिये प्रयुक्त करे । इससे वातरोग नष्ट होते हैं ॥१८॥

सन्तहवां योग—

आनूपमत्स्यामिपवेसवारंसृष्टौः प्रदेहः पवनापहः स्यात् ।

स्नेहैश्चतुर्भिर्दशमूलमिश्रेगन्धौपघेश्चानिलजित्प्रदेहः ॥ १९ ॥

आनूपमिप (जलप्राय देश में चरने वाले पशुओं का मांस) मत्स्यामिप (मछलियों का मांस) इनसे बनाये हुए वेसवार (अस्थि रहित मांस को भाप से स्विन्न करके शिला पर पीस लेना चाहिये, फिर इसमें गुड़, धी, पिप्पली, मरिच मिलाने से वेसवार बनता है) । इस को गरम करके लेप करने से वायु का नाश होता है ।

१—दाक के वृक्ष की प्रधान मुख्यजड़ को काट कर इस के नीचे एक मिट्टी का घड़ा रख देना चाहिये । और ऊपर के भाग को जलाना चाहिये । जलाने पर जो रस निकलता है, उस रस को लेना चाहिये । आज कल खैर या शीशम का तैल पाताल यन्त्र से निकालते हैं ।

अठारहवां योग—

घी, तैल, वसा और मज्जा इन चार स्नेहों को दशमूल के साथ मिला कर अथवा चारों स्नेहों को ज्वर अधिकार में कही चन्दन आदि सुमन्धित औषधियों के साथ मिलाकर लेप करने से वातविकार नष्ट होते हैं। यहां पर न कहने पर भी पानी मिलाना चाहिये ॥ १६ ॥

उच्चीसवां योग—

तक्रेण युक्तं यवचूर्णमुष्णं सक्षारमार्तिं जठरे निहन्यात् ।

जौ के आटे को यवखार के साथ छाँ में पीसकर पेट पर लगाने से पीड़ा को नष्ट करता है ।

बीसवां योग—

कुष्ठं शताह्वां सवचां यवानां चूर्णं सतैलाम्लमुशन्ति वाते ॥ २० ॥

कुष्ठ (कृट), शताह्वा (सौंफ), वचा (वच), जौ के आटे को तिल के तैल और अम्ल (कांजी) में मिलाकर लगाने से वातविकार नष्ट होते हैं ॥ २० ॥

इक्षीसवां योग—

उभे शताह्वे मधुकं मधूकं बलां प्रियालं च कशेरुकं च ।

घृतं विदारीं च सितोपलां च कुर्यात्प्रदेहं पवने सरक्ते ॥ २१ ॥

सौंफ और सोया, मधुक (मुलैहठी), मधूक (महुवा) बला (खरैंटी), प्रियाल (प्याल, पकने पर यह काला फल होता है, जिसमें से चिरैंजी निकलती है), कशेरु, घृत (गाय का) विदारी कन्द, सितोपला (मिश्री, खड़ी शकर), इनका पानी के साथ लेप वातरक्त रोग में लाभदायक है ॥ २१ ॥

बाईसवां योग—

रासनां गुद्धचीं मधुकं बले द्रुं सजीवकं सर्षभकं पयश्च ।

घृतं च सिद्धं मधुशोषयुक्तं रक्तानिलार्ति प्रणुदेत्प्रदेहः ॥ २२ ॥

रासना, गुद्धची (गिलाय), मधुक (मुलैहठी), दानों प्रकार की बलाएं (खरैंटी और अतिवला—सफेद और पीले फूल की खरैंटी), जोक, शूषभक, गाय का दूध; गाय का धी, मधुशोष (मोम) इनसे सिद्ध धी रूप लेप वातरक्त रोग को नष्ट करता है । इस योग से घृत सिद्ध किया जाता है । ॥ २२ ॥

१. रासना से लेकर शूषभक तक सब औषधियों का कल्क बनाना चाहिये ।
यह कल्क धी, स्नेह से चतुर्थीश होना चाहिये । और दूध धी स्नेह से दूना होना चाहिये । इससे धी सिद्ध करना चाहिये । धी सिद्ध होने पर वस्त्र में से छन कर उष्णावस्था में ही इसमें मोम मिला देनी चाहिये । मोम की मात्रा स्नेह से चतुर्थीश अर्थात् कल्क के बराबर होनी चाहिये ।

तेईसवां योग—

वाते सरके सघृतः प्रदेहो गोधूमचूर्णं छगलीपयश्च ।

गोधूम (गेहूँ) के चूर्ण को बकरी के दूध और धी के साथ मिलाकर लगाने से वातरक रोग मिटाता है । यहां भी दूध में गेहूँ के चूर्ण के साथ धी सिद्ध कर लेना चाहिये ।

चौबीसवां योग—

नतोत्पलं चन्दनकुप्तयुक्तं शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहः ॥ २३ ॥

‘नत’ (तगर), उत्पल (नीला कमल), चन्दन, कुष्ठ (कूठ) इनके चूर्ण को धी में मिलाकर शिर पर लगाने से शिर की पीड़ा मिटती है ॥ २३ ॥

पच्चीसवां योग—

प्रपौण्डरीकं सुरदारु कुष्ठं यष्ट्याहूमेला कमलोत्पले च ।

शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो, लाहौरकापद्मकचोरकेश ॥ २४ ॥

प्रपौण्डरीक (पुण्डरीक काष्ठ), सुरदारु (देवदारु), कुष्ठ (कूठ) यष्ट्याह (मुलहठी), एला (इलायची), कमल (श्वेत कमल, कमल गट्टा), उत्पल (नीला कमल), लाहौर (अगर), ऐरक (रोहिणी धास), पद्मक (पद्माल) और चोरक (चोरपुष्णी, सुगन्धित द्रव्य है, पर्वतीय लोग दाल आदि में गेरते हैं), इनको धी में मिलाकर शिर दुखने पर माथे में लगाने से आराम मिलता है । यहां पर पीसने के लिये पानी मिला लेना चाहिये ॥ २४ ॥

छब्बीसवां योग—

रास्ना हरिद्रे नलदं शताहे द्वे देवदारूणि सितोपङ्कां च ।

जीवन्तिमूलं सघृतं सतैलमालेपनं पार्श्वरुजासु कोष्णम् ॥२५॥

रास्ना, दोनों हरिद्रा (हल्दी और दारु हल्दी), नलद (जटायांसी), दोनों शताहा (सौंफ और सोया), देवदारु, सितोपङ्का (मिश्री), जीवन्ती का मूल, इनके चूर्ण को वृत और तैल (तिल का तैल) में (ये धी तैल दोनों परस्पर समान भाग हों) मिलाकर गरम करके पार्श्व शूल में लेप करना चाहिये ॥२५॥

सत्ताईसवां योग—

शैवालपद्मोत्पलवेत्रतुङ्कं प्रपौण्डरीकाण्यमृणाललोधम् ।

प्रियङ्कुकालीयकचन्दनानि निर्वापणः स्यास्सघृतः प्रदेहः ॥२६॥

शैवाल (सरवाल), पद्म (पद्माल), उत्पल (नील कमल), वेत्र (श्रेष्ठ वेत्र, लोटी वेत्र), तुङ्क (कमल का केशर), प्रपौण्डरीक (पुण्डरीक), अमृणाल (खस), लोध (पडानी) प्रियङ्क (फूल प्रियङ्क), कालीयक (चन्दन मेद),

हरि चन्दन), और चन्दन इनको (पानी में पीस कर) सब ड्रव्यों के समान घो मिलाकर लेप करने से त्वचा का दाह, आग से जले की जलन शान्त होती है ॥२६॥

अटाईसवां योग—

सितालतावेतसपद्मकानि यष्ट्याहृसैन्द्री नलिनानि दूर्वा ।

यवासमूलं कुशकाशयोऽत्र निर्वापणः स्याजलमेरका च ॥२७॥

सिता (इवेत दूर्वा), लता (धियंगूया सारिवा), वेतस (जल वेतस), यष्टि (मुलहर्टी), ऐन्द्री, 'नलिन' (नीला कमल), दूर्वा (दूर्वा), यवासमूल (धमामे की जड़), कुश (दाम), काश की जड़, जल (बालक), ऐरक (होगला) इनको जल के साथ प्रसक्तर लेप करने से त्वचा की जलन शान्त होती है । कोई सिता से मिश्री और लता से मर्जाठ का ग्रहण करते हैं ॥२७॥

उनर्तासवां तथा तासवां योग—

शैलेयमेलाऽगुरु चाथ कुष्ठं चण्डा नतं त्वक्सुरदाह रास्ता ।

शीतं निहन्यादचिरान् प्रदेहो, विषं शिरीपम्नु ससिन्युवारः ॥ २८ ॥

शैलेय (छड़ाला), एला (इन्द्रायनी) अगर, कुष्ठ (कूठ), चण्डा (चोर पुष्पी), नत (तरर), त्वक् (दालचानी), सुरदाह (देवदार), रायसन. इनको पानी में पीस कर लेप करने से शोल, टण्डक नष्ट होती है । तीसवां योग—‘शिरीप’ (सिरस) का शिरिदार (सम्भालु के पर्ती) के साथ पीसकर मलने से विष दाय नष्ट होता है ॥ २८ ॥

इकतीसवां योग—

शिरीपलामज्जकहेमलोध्रेत्वगदोपसंस्वेदहरः प्रवर्पः ।

शिरीप (सिरस), लामज्जक (उशंर, खस), हेम (नागकेसर), लोध्र (पठानी लोध), इनको चूर्ण बनाकर शरीर पर रखने से त्वचा के रंग एवं पसीने का अधिक आना नष्ट होता है ।

बत्तीसवां योग—

पत्राम्बुलोध्राभयचन्दनानि शरीरदौर्गन्ध्यहरः प्रदेहः ॥२९॥

पत्र (तेजपात), अम्बु (नेत्रवाला), लंध्र (पठानी लोध), अभय (उशीर, खस), और इवेत चन्दन इनको पानी में पीसकर लेप करने से शरीर की दुर्गन्ध मिटती है ॥ २९ ॥

तत्र इलोकः ।

इहात्रिजः सिद्धतमानुवाच द्वात्रिंशतं सिद्धमहिंपूज्यः ।

चर्णप्रदेहान्विविधामयग्रानारग्वधीये जगतो हितार्थम् ॥३०॥

सिद्ध एवं शृणियों से पूजित कृष्णाच्रेय पुनर्वसु ने रोगों को नष्ट करने वाले बत्तीस सिद्ध योग जगत् के लाभ के लिये कहे हैं ॥ ३० ॥

इत्यग्निवेशङ्कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतं सूत्रस्थाने भेषजचतुष्के
आरम्भधार्यां नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथातः पद्मविरेचनशताश्रीनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मासाह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'पद्मविरेचन' से अःरम्भ किये जाने वाले अध्याय का अवतरण करते हैं । भगवान् आत्रेय ने कहा है ॥ १-२ ॥

शरीर के लिये अन्तः परिमार्जन और ब्रह्मपरिमार्जन की औपचियों को पूर्व अध्यायों में कहकर अवशिष्ट परिमार्जन की औपचियों को कहते हैं—

इह खलु पद्मविरेचनशतार्नि भवन्ति, पद्मविरेचनाश्रयाः,

पञ्च कपाययोनयः, पञ्चविधं कपायकल्पनं,

पञ्चाशनमहाकपाया पञ्च कपायशतार्नि इति संग्रहः ॥ १ ॥

इस तंत्र में छः सौ विरेचन योग हैं, न अधिक और न कम ।

'विरेचन' शब्द उभयार्थ वाचक है । अर्थात् शरीर के अवोभाग से मल निःसारण का नाम भी विरेचन है और शरीर के ऊख भाग से वमन के रूप में किये जाने वाले संशोधन रूप कर्म को भी 'विरेचन' कहते हैं । विरेचन द्रव्यों के छः आश्रय हैं, यथा—दूध, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्ट और फल ।

कषायों के पांच जातियां हैं (इनमें ल्वण रस को छोड़ कर) कषायों की कल्पना पांच प्रकार की है । पचास महाकषाय हैं, पांच सौ कषाय हैं । यह संक्षेप में कह दिया है ॥ ३ ॥

पद्मविरेचनशतानीति यदुक्तं तदिह संग्रहेणोदाहृत्य

विस्तरेण कल्पोपनिषद्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

'छः सौ विरेचन योग हैं' यह जो कहा है उसे यहां पर संक्षेप में कहेंगे । विस्तार से कल्प-उपनिषद् अर्थात् 'कल्प-स्थान' में व्याख्या करेंगे ॥ ४ ॥

त्रयस्त्रिंशत्योगशतं प्रणीतं फलेषु, एकोनचत्वारिंशत्तीमूतकेषु योगाः,
पञ्चचत्वारिंशदिक्षवाकुषु, धामार्गवः षष्ठिधा भवति योगयुक्तः, कुटज-
स्त्वष्टावशधा योगमेति, कृतवेधनं षष्ठिधा भवति योगयुक्तं, इयामात्रि-

बृद्धोगमज्ञतं प्रणीतं दशापरे चात्र भवन्ति योगः, चतुरञ्जलो द्वाइशधा
योगमेति, लोध्रं विधौ षोडशयोगयुक्तं, महावृक्षो भवति विशतियोग-
युक्तः, एकोनचत्वारिंशत्सप्तलाशङ्किन्योर्योगाः, अष्टचत्वारिंशहन्तीद्रव-
न्त्योरिति षड्विरेचनशतानि ॥ ५ ॥

मदन फल के कल्प में १३३ विरेचन योग, 'जीमूतक' (वन्दाल) फल के
कल्प में ३६, ईक्षवाकु (कडवी तुम्ही) कल्प में ४५, धामार्गव (बड़ी तुरद्द
पीले फूल की, राज कोषातकी) कल्प में ६०, कुटज (कूड़े) के फल कल्प में
१८ प्रकार के, कृतवेधन (कडुबी तोरी) के उपयोग में विरेचन योग ६०, इस
प्रकार से ये वर्मन रूप विरेचन योग हैं । अब अधोगामी विरेचन योग कहते हैं—

शामा (अशमूल) की निशोथ और त्रिवृत् (सफेद निशोथ) कल्प के
११० यंग, चतुरञ्जुल (अमलतास) कल्प के १२ प्रकार के योग, लोध्र विधि
(लोध्र कल्पों में विरेचन विधि) के अन्दर १६ योग, महावृक्ष (स्तुही, सुधा
वृक्ष) कल्प में २०, सप्तला और शंखिनी (शिकाकाई) के कल्प में ३६ और
दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती के ४८ प्रकार के योग हैं । इस प्रकार से ६००
विरेचन योग बन जाते हैं ॥ ५ ॥

षड्विरेचनाश्रया इति क्षीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानीति ॥६॥

विरेचन किया ओषधियों के छः (अंगों में) आश्रय है । यथा—क्षीर
(दूध), मूल, त्वक्-त्वचा, पत्र, पुष्प और फल ॥ ६ ॥

**पञ्च कषाययोनय इति मधुरकषायोऽम्लकषायः । कटुकषायस्तिक्त-
कषायः कषायकषायश्चेति तन्त्रे संज्ञा ॥ ७ ॥**

'कषाय' की पांच योनि (जातियाँ) हैं । यथा—मधुरकषाय
(मधुर रस वाले पदार्थों से बना हुआ कषाय), अम्लकषाय (खट्टे रस वाले
पदार्थों से बनाया हुआ कषाय), कटुकषाय (कडुबे रसवाले पदार्थों से तैयार
किया कषाय), तिक्तकषाय (तीखे पदार्थों से तैयार किया हुआ कषाय),
कषायकषाय (कसैले पदार्थों से तैयार किया हुआ कषाय) इन पांचों को इस
शास्त्र में 'कषाय' संज्ञा है, 'लवण' कषाय नहीं है लवण रस से कषाय तैयार
नहीं होता है ॥ ७ ॥

**पञ्चविधं कषायकल्पनमिति, तत्त्वा स्वरसः कल्पः शृतः शीतः
फाण्टः कषाय इति ॥ ८ ॥**

कषायकल्पन अर्थात् कषाय तैयार करने की विधि पांच प्रकार से है । यथा—
स्वरस, कल्प, शृत, शीत और फाण्ट । कषाय शब्द लवके क्षाय संबुक्त है ॥ ८ ॥

कषायों के लक्षण—

(यन्त्रप्रपीडनाद् द्रव्याद्रसः स्वरस उच्यते ।
यत्पिण्डं रसपिण्डानां तत्कलं परिकीर्तिम् ॥ ६ ॥
बहौ तु कथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चकित्सकाः ।
द्रव्यादापेक्षितात्तोये प्रतमे निशि संस्थितात् ॥ १० ॥
कषायो योऽभिनिर्वाति स शीतः समुदाहृतः ।
क्षिप्तोष्णतोये मृदितं तत्काण्टं परिकीर्तिम् ॥ ११ ॥)

तेषां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अतः कषायकल्पना व्याध्यातुरबला-
पेक्षिणी । नत्वेवं खलु सर्वाणि सर्वत्रोपयोगीनि भवन्ति ॥ १२ ॥

स्वरूप कषाय—द्रव्य को कूट कर यंत्र प्रपीडन अर्थात् यंत्र से वा
हाथ आदि से दया कर जो रस निकलता है उसे 'स्वरस' कहते हैं
कल्प कषाय—रस सहित द्रव्य को शिला आदि पर पीस कर जो गोला बना
लिया जाता है उसे 'कल्प' कहते हैं । शृत कषाय अग्नि में उबाले हुए
द्रव्य को वैद्य 'शृत' कहते हैं । बहुत गरम जल में रात भर रखले हुए कूटे हुए
द्रव्य से जो कषाय निकलता है उसे 'शीत' कहा जाता है । फाण्ट कषाय—द्रव्य
को कूटकर गरम पानी में रखकर कुछ काल पीछे मलकर जो किट्ठ रहित सार-
भाग निकलता है, उसे 'फाण्ट' कहते हैं ।

इन में स्वरस में कल्प की अपेक्षा, कल्प में शृत की अपेक्षा से, शृत में
शीत की अपेक्षा से, और शीत में फाण्ट की अपेक्षा से अधिक बल, सामर्थ्य
और शक्ति है । इसलिये 'कषाय कल्पना' अर्थात् रोगी के लिये कषाय का
विचार व्याधिबल, आतुरबल अर्थात् रोगी के सामर्थ्य को देखकर करना चाहिये ।
ये सब कषाय सब अवस्थाओं में उपयोगी नहीं होते अर्थात् बलवान् व्याधि
या बलवान् रोगी में अल्प बल वाले या मध्यम बल वाले कषाय कार्य करने में
समर्थ नहीं होते । इसी प्रकार अल्प बल की अवस्था में अधिक बल वाले कषाय
कार्य करने में असमर्थ होते हैं । ॥ ६-१२ ॥

पञ्चशान्महाकषाया इति यदुर्क्तं तदनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—

पहिले जो यह कहा है कि पचास महाकषाय हैं, उनकी अब व्याख्या
करते हैं । जैसे—

जीवनीयो वृहणीयो छेखनीयो भेदनीयः संधानीयो दीपनीय इति
षट्कः कषायवर्गः ।

(जीवनीय) जीवन के लिये हितकारी आयुर्वेदिक, (वृहणीय) शरीर के

बृहण के लिये हितकारी, (लेखनोय) देह के धर्यण के लिये, भेदनीय, संधानीय, दीपनीय अग्नि को बढ़ाने वाला यह छः कषायों का एक वर्ग हुआ ।

बल्यो वर्ण्यः कण्ठ्यो हृद्य इति चतुष्कः कषायवर्गः ।

‘बल्य’ (बल कारक), वर्ण्य (शरीर का कान्ति बढ़ाने वाला) ‘कण्ठ्य’ (कण्ठ या गले के स्वर के लिये हितकारी) ‘हृद्य’ (हृदय—मन के लिये हितकारी), यह दूसरा चार से बना हुआ कषाय वर्ग है ।

त्रृप्तिष्ठोऽशोधनः कुष्ठधनः कण्ठधनः कृमिधनो विषधन इति षट्कः कषायवर्गः ।

‘त्रृप्तिष्ठ’ (जब रोगी विना खाये अपने को भरा पेट अनुभव करता है, उसके शिकायत को दूर करने वाला) ‘अशोध्न’ (अर्द्ध रोग में हितकारी), ‘कुष्ठधन’ (कुष्ठ रोगनाशक), ‘कण्ठधन’ (खाज़ नाशक), ‘कृमिधन’ (क्रिमि तथा विष विनाशक) यह तीसरा छः से बना कषाय वर्ग हुआ ।

स्तन्यजननः स्तन्यशोधनः शुक्रजननः शुक्रशोधन इति चतुष्कः कषायवर्गः ।

स्तन्य जनन (दूध बहाने वाला), (स्तन्यशोधन दूध का शोधन करने-वाला), शुक्र जनन (धातुवर्धक), शुक्रशोधन (धातु शोधक), यह चौथा चार से बना कषाय वर्ग हुआ ।

स्नेहोपगः स्वेदोपगो वमनोपगो विरेचनोपग आस्थापनोपगोऽनु-वासनोपगः शिरोविरेचनोपग इति सप्तकः कषायवर्गः ।

स्नेहोपग १ (मार्दव कर), स्वेदोपग (पक्षीना लाने वाला), वमनोपग (वान्तिकारक), विरेचनोपग (मलनिःसारक), आस्थाःनोपग (रुक्ष बस्ति के लिये उपयोगी), अनुवासनोपग (स्नेह-बस्ति के लिये उपयोगी), शिरो-विरेचनोपग (नस्य के लिये उपयोगी), यह सात कषायों से बना वर्ग ।

छर्दिनिग्रहणस्तृष्णानिग्रहणो हिक्कनिग्रहण इति त्रिकः कषायवर्गः ।

छर्दि-निग्रहण (वमननाशक), तृष्णानिग्रहण (प्यास को नष्ट करने वाला), हिक्कनिग्रहण (हिचकी नाशक), यह तीन से बना कषाय वर्ग हुआ ।

पुरीषसंग्रहणीयः पुरीषविरजनीयो मूत्रसंग्रहणीयो मूत्रविरजनीयो मूत्रविरेचनीय इति पञ्चकः कषायवर्गः ।

पुरीषसंग्रहणीय (मल को बांधने के लिये हितकारी), पुरीषविरजनीय (दोष के कारण जब मल में उत्तित रंग नहीं आता इसके लिये हितकारी जैसे—

१‘उपग’—का अर्थ सहायक जैसे-वमनोपग वमन कार्य में मदद देने वाला ।

कामला रोग में मल इवेत रंग का आता है, पीलापन नहीं आता), ‘मूत्र-संग्रह-
णीय’ (मूत्र को कम करने वाला), ‘मूत्रविरजनीय’ (मूत्र के रंग को टीक
करने वाला), मूत्रविरेचनीय (मूत्रवर्धक), यह पांच से बना कषाय वर्ग है ॥

**कासहरः श्वासहरः शोथहरो ज्वरहरः श्रमहर इति पञ्चकः
कषायवर्गः ।**

कासहर (खांसी के लिये हितकारी), श्वासहर (दमे के लिये हितकारी),
शोथहर (सूजन के लिये हितकारी), ज्वरहर (ज्वरनाशक), श्रमहर (थका-
वट को मिटाने वाला), यह पांच से बना कषाय वर्ग है ॥

**दाहप्रशमनः शीतप्रशमन उदद्प्रशमनोऽङ्गमर्दप्रशमनः शूलप्रशमन
इति पञ्चकः कषायवर्गः ।**

‘दाहप्रशमन’ (जलन को शान्त करने वाला), ‘शीतप्रशमन’ (ठंडक
को दूर करनेवाला), ‘उदर्द प्रशमन’ (कोठ, छापाकी, त्वचा पर उठने वाले
मांटे २ चकतों को शान्त करने वाला), ‘अङ्गमर्द प्रशमन’ (अंगों को ऐंठन
को दूर करने वाला), यह पाँच से बना कषाय वर्ग है ॥

**शोणितस्थापनो वेदनास्थापनः संज्ञास्थापनः प्रजास्थापनो वयः-
स्थापन इति पञ्चकः कषायवर्गः ।**

‘शोणित-स्थापन’ (रक्त रोधक), ‘वेदनास्थापन’* (पीड़ा नाशक),
‘संज्ञास्थापन’ (चेतन करने वाला), ‘प्रजास्थापन’ (संतातजनक), वयः-
स्थापन (आयु को टिकाने वाला), यह पांच से बना कषायवर्ग है ।

**इति पञ्चाशनमहाकषायाः, महतां च कषायाणां लक्षणोदाहरणार्थं
व्याख्याता भवन्ति । तेषामेककस्मिन्महाकषाये दशदशावयविकान्कषा-
याननुव्याख्यास्थामः । तान्येव पञ्च कषायशतानि भवन्ति ॥ १३ ॥**

इस प्रकार से पचास महाकषाय बनते हैं । महाकषाय के लक्षण और
उदाहरण संक्षेप में कह दिये गये हैं । इन एक-एक महाकषायों में दस-दस अव-
यवों वाले कषायों की व्याख्या आगे कहेंगे । इस प्रकार से पांच साँ कषाय बनते
हैं । अथात् ‘जीवनीय’ आदि संज्ञा वाले पचास महाकषायों में से प्रत्येक ‘जीव-
नीय’ आदि संज्ञा वाले कषाय में दस-दस अवयव हैं ॥ १३ ॥

**तद्यथा—जीवकर्षभकौ भेदा महाभेदा काकोली क्षीरकाकोली
मुद्रगमाषण्यौं जीवन्ती मधुकमिति दशमानि जीवनीयानि भवन्ति (?)**

*वेदना-स्थापन—शरीर को वेदना को मिटाकर शरीर को स्वस्थ रूप में
करने वाला ।

जैसे—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्रगपर्णी (मूंगपर्णी) माषपर्णी, जीवन्ती, और मधुक (मुलैटी) ये दस जीवनीय (जीवनबधक) हैं ॥

क्षीरणी राजक्षवकं बला काकोली क्षीरकाकोली वाञ्छायनी भद्रोदनी भारद्वाजी पयस्यर्घ्यगन्धा इति दशेमानि वृंहणीयानि भवन्ति ॥ (२) ॥

क्षीरणी (क्षीरविदारी), राजक्षवक (दूधी), बला (खरेटी), काकोली, क्षीरकाकोली, वाञ्छायनी (कंधी), भद्रोदनी (खिरेटी), भारद्वाजी (उलट-कम्बल), पयस्या (विदारी कन्द), ऋष्यगन्धा (वृद्धदारक विवारा), ये दस वृंहणीय अर्थात् शरीर में (वीर्य) वृद्धि करने वाले हैं ॥

मुस्त-कुष्ठ-हरिद्रा-दारहरिद्रा-वचातिविषा-कटुरोहिणी-चित्रक-चिर-बिल्व-हैमवत्य इति दशेमानि लेखनीयानि भवन्ति ॥ (३) ॥

मुस्त (नागर मोथा), कुष्ठ (कूट), हरिद्रा (हल्दी), वच (धोड़ा-वच), अतिविषा (अतीस), कटुरोहिणी (कुट्टी). चित्रक (चीता मूल), चिरबिल्व (करंज), हैमवत्य (श्वेत वच), ये दस लेखनीय हैं ॥

सुव्रहाकोरुवृकाग्निमुखी-चित्रा-चित्रक-चिरबिल्व-शाङ्खनी-शकुलाद-नी-स्वर्णक्षीरण्य इति दशेमानि भेदनीयानि भवन्ति ॥ (४) ॥

सुव्रहा (निशाथ), अर्क (आक दो प्रकार का है इकेत और अदृण), उरुबूक (एरण्ड), अग्निमुखी (कालदार), चित्रा (जमाल गोंद की जड़), चित्रक (चीता मूल), चिरबिल्व (करंज), धार्खिनी, शकुलादनी (कटुकी), और स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी), ये दस भेदनीय हैं ॥

मधुक-मधुपर्णी-पृश्निपर्ण्यस्वस्त्रक-समझा-मोचरस-धातकी-लोध-प्रियङ्क-कटफलानीति दशेमानि संधानीयानि भवन्ति ॥ (५) ॥

मधुक (मुलैटी), मधुपर्णी (गिलोय), पृश्निपर्णी (पिटबन), अम्बड़की (पाठा), समंगा (मजीठ), मोचरस (सिम्बल का गोंद), धातकी (धाय के फूल), लोध (पटानी लोध), प्रियंगु (फूल प्रियंगु), और कटफल (काय-फल), ये दस 'संधानीय' हैं ॥

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शङ्खवेराम्लवेतस-मरिचाजमो-दा-भज्जातकास्थि-हिङ्गनिर्यासा इति दशेमानि दीपनीयानि भवन्ति (६)

इति षट्कः कषायवर्गः ॥ [१] ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य (चविका), चीतामूल, शृंगवेर (सोठ या

अदरव), अम्लवेतस, मरिच (काली मिरच), अजमोदा (अजवायन), भज्जातकास्थि (भिलावे के बीज), हिंग-निर्यास (हींग), ये दस 'दीपनीय' अर्थात् भूख लगाने वाले अर्थन संदीपक हैं ॥ यह छः का बना हुआ कषायवर्ग है ।

ऐन्द्र-चूष्ण्यतिरसर्घ्यप्रोक्ता-पयस्याइवगन्धा-स्थिरा-रोहिणी-बलाति-बला! इति दशेमानि बल्यानि भवन्ति ॥ (७) ॥

ऐन्द्री, चूष्ण्यभी (कौंच), अतिरसा (शतावरी), चूष्ण्यप्रोक्ता (मावपर्णी), पयस्या (विदारी), अव्यगन्धा (असगन्ध), स्थिरा (शालपर्णी), रोहिणी (कटुकी), बला (खरेटी), अनिवला (पीतबला), ये दस 'बल्य' अर्थात् बल कारक हैं ॥

चन्दन-तुङ्ग-पद्मकोशीर-मधुक-मंजिष्ठा-सारिवा-पयस्या-सिता-लता इति दशेमानि वर्ण्यानि भवन्ति ॥ (८) ॥

चन्दन (लाल चन्दन), तुङ्ग (लाल नाग वेशर), पद्मक (पद्मान्व), उशीर (खस), मधुक (मुलेहठी), मंजिष्ठा (मंजीठ), सारिवा (अनन्तमूल), पयस्या (विदारी कन्द), सिता (अफेर दूब), और लता^१ (लाल दूब वा प्रियंगु), ये दस 'वर्ण्य' अर्थात् वर्णकारक, वर्ण बढ़ाने वाले हैं ॥

सारिवेक्षुमूल-मधुक-पिपली-द्रःक्षा-विदारी-कैटर्ड्य-हंसपदी-बृहती-कण्टकारिका इति दशेमानि कण्ठ्यानि भवन्ति ॥ (९) ॥

सारिवा (अनन्तमूल), इक्षुमूल (ईख की जड़), मधुक (मुलेहठी), पिपली, द्रःक्षा (किशामध), विदारा कन्द, कैटर्ड्य (नीम), हंसपदी (मण्डू-कपर्णी या ब्राह्मी), बृहती (बड़ी कटेरी) कण्टकारिका (छोटी कटेरा), ये दस ओषधियाँ 'कण्ठ' स्वर के लिये हितकारी हैं ॥

आम्राप्रातक-निकुच-करमदं-बृक्षाम्लाम्लवेतस-कुवल-बदर-दाढिम-मातुलुङ्गानीति दशेमानि हृद्यानि भवन्ति ॥ (१०) ॥

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ [२] ॥

आम्र (आम), आम्राप्रातक (अम्बाडा), निकुच (डहु बडहल), करमदं (करञ्ज), बृक्षाम्ल (इमली); अम्लवेतस, कुवल (बड़ा बेर), बदर (ज्ञाही का बेर), दाढिम (अनार), मातुलुङ्ग (विजौरा), ये दस 'हृद्य' अर्थात् हृदय के लिये हितकारी हैं ॥ यह चार से बना हुआ कषायवर्ग है ।

१. जल्पकल्पतद में 'लता' का अर्थ मंजीठ किया है, परन्तु मंजीठ का कथन भी इसमें है, अतः दूब अर्थ ही उचित है ।

नागर-चित्रक-चत्य-विडङ्ग-मूर्च्छा-गुद्धची-वचा-मुस्त-पिष्ठली-पटोला-
नीति दशेमानि तृष्णनानि भवन्ति ॥ (११) ॥

नागर (सोठ), चित्रक (चीतामूल), चत्य (चविका), विडंग
(चायविडंग), मूर्च्छा (मोरबेल), गुद्धची (गिलोय), वचा (वच), मुस्त
(नागर मोथा), पिष्ठली, पटोल (परबल) ये दस 'तृष्णन' अर्थात् श्लेष्मा
जनित तृष्ण को नाश करने वाली हैं ॥

कुटज-विल्व-चित्रक-नागरातिविषाभया-धन्वयासक-दारुहरिद्रा-वचा-
चत्यानीति दशेमान्यशोषनानि भवन्ति ॥ (१२) ॥

कुटज (कुड़ा), विल्व (बेलगिरी), चित्रक (चीतामूल), नागर (सोठ),
अतिविषा (अतीस), अभया (बड़ी हरड़), धन्वयासक (धमासा), दारु-
हरिद्रा (दारुहल्दी), वच और चत्य (चविका) ये दस ओषधियां 'अशोष्ण'
अर्थात् बवासीर रोग के नाशक हैं ॥

खदिराभयामलक-हरिद्रारुष्कर-सतपर्णारगवध-करवीर-विडङ्ग-जा-
तिप्रबाला इति दशेमानि कुष्ठनानि भवन्ति ॥ (१३) ॥

खदिर (खैर), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आबला), हरिद्रा-
(हल्दी), अरुष्कर (निलावा), सतपर्ण (सातवन), आरगवध (अमलतास),
करवीर (कनेर), विडंग (चायविडंग), और जातज्वाल (चमेली के
नर्वीन कोमल पत्ते) ये दस कुष्ठन अर्थात् कोढ़ रोग के नाशक हैं ॥

चन्दन-नलद-कृतमाल-नक्तमाल-निम्ब-कुटज-सारंप-मधुक-दारुहरि-
द्रा-मुस्तानीति दशेमानि कण्ठद्वन्नानि भवन्ति ॥ (१४) ॥

चन्दन (लाल चन्दन), नलद (जटामांसी), कृतमाल (अमलतास) नक्त-
माल (करंज), निम्ब (नीम के पत्ते), कुटज (कुड़े की छाल), सरंप (सरसी),
मधुक (मुलैहटी), दारु हरिद्रा (दारु हल्दी), और मुस्त (नागर मोथा),
ये दस औषधियां 'कण्ठद्वन्न' अर्थात् खाज नाशक हैं ॥

अक्षीव-मरिच-नाणडीर-केमुक-विडङ्ग-निर्गुण्डी-किणिही-श्वदंष्ट्रा-वृष-
पर्णिकासुष्पर्णिका इति दशेमानि क्रिमिघ्नानि भवन्ति ॥ (१५) ॥

अक्षीव (सहजन), काली मरिच, गणडीर (जिमीकन्द), केमुक, विडंग
(चायविडंग), निर्गुण्डी (सम्पालु), किणिही (अगमार्ग), श्वदंष्ट्रा (गोखरु),
वृषपर्णी, आखुपर्णिका (मूसाकानी), ये दस क्रमिघ्न अर्थात् क्रमिनाशक हैं ॥

हरिद्रा-मञ्जिष्ठा-सुवहा-सूक्ष्मैला-पालिन्दी-चन्दन-कतक-शिराण-
सिन्धुवार-शेषमातका इति दशेमानि विषव्यानि भवन्ति ॥ (१६) ॥

इति पट्कः कथायवर्गः ॥ [३ , ॥

हरिद्रा (हल्दी), मञ्जिष्ठा (मंजोट) सुवहा (निशोथ), सूक्ष्मैला (छोटी इलायची), पालिन्दी (काली निशाथ), चन्दन (लाल चन्दन), कतक (निर्मली का जल को शोधन करने वाला फल), शिरीप (सिरस), सिन्धुवार (सम्भालु, निर्णुई), शेषमातक (लिङाडा), ये दस 'विषव्य' अर्थात् विषनाशक हैं ॥ यह छ से बना हुआ कथायवर्ग है ।

बीरण-शालि-पष्टिकेशुवालिका-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-कत्तूण-मूला-
नीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति ॥ (१७) ॥

बीरण (खस), शालि (हैमन्त जटहु में पकने वाले धान्य का चावल), पष्टिक (साटी चावल), ईक्षुवालिका (ईख), दर्भ (दाभ), कुश (कुशा), काश (सरकडा), गुन्द्रा (होगला) इत्कट, (तृण विशेष) कत्तूण (रंगिप तृण) ये दस 'स्तन्यजनन' अर्थात् दूध बढ़ाने वाले हैं । इन में गिलोय को छोड़कर सब के मूल काम में लाने चाहिये ॥

पाठा-महौपथ-सुरदारु-मुस्त-मूर्वा-गुद्धची-वत्सक-फल-किरातिक-
क-कुरुरोहिणी-सारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति ॥ (१८) ॥

पाठा (पाढ़ल), महौपथ (सोंठ), सुरदारु (देवदारु), मुस्त (नागर-मांथा), मूर्वा (मांर बेल), गुद्धची (गिलोय), वत्सक फल (इन्द्र जौ), किरातिक (चिरायता), कुरुरोहिणी (कुटकी), सारिवा (अनन्त मूल) ये दस 'स्तन्यशोधन' दूध को शुद्ध करने वाले हैं ॥

जीवकर्पभक-काकोली-क्षीरकाकाली-मुद्रगपर्णी-मापपर्णी-मेदा-वृद्ध-
रुहा-जटिला-कुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥ (१९) ॥

जीवक, शृष्टभक, काकोली, क्षीर काकाली, मुद्रगपर्णी (मूंगपर्णी) माप-पर्णी (उड़दपर्णी); मेदा, वृद्धरुहा (शतावरी), जटिला (जटामांसी), कुलिंग (उटंगण) ये दस 'शुक्रजनन' अर्थात् वीर्य-बातु के वर्धक होते हैं ॥

१. (क) जीवक शृष्टभक, मेदा महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, शृदि वृद्धि इन के स्थान पर परिमाणा आदेश से, शतावरी, विदारीकन्द अवश्यगन्धा और बाराही कन्द प्रयोग करने चाहियें । (ख) कुलिंगशब्द धन्व-न्तरिनिधनहु में, 'विष्कर'पक्षियों के लिये और सप्तार्थकों में दूर्वा के लिये आया है ।

कुष्ठेलवालुक-कट्टफल-समुद्रफेन-कदम्ब-निर्यासेज्जु-काण्डेश्विष्ठुरक-
वसुकोशीराणीति दशेमानि शुकशोधनानि भवन्ति ॥ (२०) ॥

इति चतुष्कः कषायवर्गः ॥ [४] ॥

कुष्ठ (कूठ), एलवालुक, कट्टफल (कायफल), समुद्रफेन, कदम्ब निर्यास, इज्जु (गन्धा), काण्डेश्वु (मोटा गन्धा), इज्जुरक (तालमत्ताना); वसुक (वक-पुष्प), और उशीर (खस की जड़) ये दस ‘शुकशोधन’ अर्थात् वीर्य-वातु को शुद्ध करने वाले हैं ॥ यह चार का बना हुआ कयाय वर्ग है ।

मृद्वीका-मधुक-मधुपर्णी-मेदा-विदारी-काकोली-क्षीरकाकोली-जीवक-
जीवन्ती-शालपर्ण्य इति दशेमानि स्नेहोपगानि भवन्ति ॥ (२१) ॥

मृद्वीका (बड़ी दात्त्व), मधुक (मुहैदटी), मधुपर्णी (गिलोय), मेदा, विदारी (विदारी कन्द), काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, जीवन्ती, शालपर्णी ये दस ‘स्नेहोपग’ अर्थात् शरीर में कोमलता ओर चिकनाई उत्पन्न करने में सहायक हैं ॥

शोभाज्ञनकेरण्डार्क-वृश्चीर-पुनर्नवा-यव-तिल कुलत्थ-माष-बदरा-
णीति दशेमानि स्वेदोपगानि भवन्ति ॥ (२२) ॥

शोभाज्ञन (सहजन), एरण्ड, अर्क (आक), वृश्चीर (इवेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), यव (जौ), तिल, कुलत्थ (कुलत्थी), माष (उड्ड), बदर (ज्ञाड़ी के बेर) ये दस आपवियाँ ‘स्वेदोपग’ अर्थात् शरीर में पसीना लाने में सहायक हैं ॥

मधु-मधुक-कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल - विम्बी-शणपुष्पी-सदा-
पुष्पी-प्रत्यक्षपुष्प्य इति दशेमानि वमनोपगानि भवन्ति ॥ (२३) ॥

मधु (शहद), मधुक (मुलहटी), कोविदार (लाल कचनार), कर्बुदार (इवेत कचनार), नीप (कदम्ब); विदुल (जल वेतम), विम्बी (कन्दरी), शणपुष्पी (शनशनिया), सदा पुष्पी (आक), प्रत्यक्षपुष्पी (अगामार्ग, चिर-चिटा) ये दस ‘वमनोपग’ अर्थात् वमन में मदद देती हैं ॥

द्राक्षा-काश्मर्य-पर्खकाभयामलक-विभीतक-कुवल-बदर-कर्कन्धू-पी-
लूनीति दशेमानि विरेचनोपगानि भवन्ति ॥ (२४) ॥

द्राक्षा (किशमिश), काश्मर्य (गम्भारी), पुरुषक (फालसा), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आंबला), विभीतक (बहेड़ा), कुवल (बड़ा बेर), बदर (बृक्ष का बेर), कर्कन्धू (ज्ञाड़ी का बेर), पीलू ये दस ‘विरेचनोपग’ अर्थात् विरेचन में सहायक हैं ॥

त्रिवृद्-बिल्व-पिप्पली-कुष्ठ-सर्पप-वचा- वत्सकफल-शतपुष्पा-मधुक-
मदनफलानीति दशेमान्यास्थापनोपगानि भवन्ति ॥ (२५) ॥

त्रिवृद् (निशोथ), बिल्व (बेलगिरी), पिप्पली, कुष्ठ (कृठ), सर्पप
(सरसों), वच, वत्सक फल (इन्द्र जौ), शतपुष्पा (सौफ), मधुक (मुले-
हठी) मदनफल (मैनफल) ये दस 'आस्थापनोपग' अर्थात् रूक्ष वस्ति के लिये
उपयोगी हैं ॥

रासना-सुरदारु-बिल्व-मदन- शतपुष्पा-वृश्चीर-पुनर्नवा-श्वदंष्ट्राग्नि-
मन्थ-श्योनाका इति दशेमान्यनुवासनोपगानि भवन्ति ॥ (२६) ॥

रासना, सुरदारु (देवदारु), बिल्व (बेलगिरी), मदन (मैनफल),
शतपुष्पा (सौफ), वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), श्वदंष्ट्रा
(गांवल), अग्निमन्थ (अणी की छाल), श्योनाक (टेढ़ी की छाल) ये दस
'अनुवासनोपग' अर्थात् रूक्ष वस्ति के लिये उपयोगी हैं ॥

ज्योतिष्मती-क्षवक-मरिच-पिप्पली-बिडङ्ग-शिशु-सर्पपापामार्गतण्डुल-
श्वेता-महाश्वेता इति दशेमानि शिरोविरेचनापगानि भवन्ति ॥ (२७) ॥

इति सप्तकः कपायवर्गः ॥ [५] ॥

ज्योतिष्मती (माल कंगनी), क्षवक (नक्छिकनी), मरिच, पिप्पली,
बिडङ्ग (चायबिडङ्ग), शिशु (सहजन), सर्पप (सरसों), अपामार्गतण्डुल
(चिरचिटे के चावल), श्वेता (अपराजित श्वेत कोयला), और महाश्वेता
(श्वेता का भेद) ये दस 'शिरो-विरेचनापग' अर्थात् शिरोविरेचन के लिये
उपयोगी हैं ॥ यह सात का एक 'कपायवर्ग' हुआ ।

जम्बु-म्रपल्लव - मातुलङ्घाम्लबदर - दाढिम-यव-यष्टिकोशीर-मृज्जाजा
इति दशेमानि छर्दिनिग्रहणानि भवन्ति ॥ (२८) ॥

जम्बु (जामुन); और आम (आम), इनके पल्लव (पत्ते); मातुलुंग
(विजोरिया-नींवू), अम्ल बदर (खड्डे बेर), दाढिम (अनार), यव (जौ),
यष्टिका (मुलैहठी), उशीर (खस), मृत (सौराष्ट्र देश की मिट्टी), और
लजा (खीलें) ये दस 'छर्दिनिग्रहण' वर्मन को रोकती हैं ॥

नागर-धन्वयासक-मुस्त-पर्षटक-चन्दन-किराततिक्क-गुडूची-हीबे-
र-धान्यक-पटोलानीति दशेमानि-रुष्णानिग्रहणानि भवन्ति ॥ (२९) ॥

नागर (सोठ), धन्वयासक (धमासा), मुस्त (नागरमोथा), पर्षटक
(पित्तपापडा), चन्दन (लाल चन्दन), किराततिक्क (चिरायता), गुडूची

(गिलोय), हीबेर (नेत्रबाला), धान्यक (धनिया), पटोल (परबल) ये दस औषधियां 'तृष्णानिग्रहण' अर्थात् प्यास को रोकने वाली हैं ॥

शटी-पुष्करमूल-बदरबीज-कण्टकारिका-बृहती-क्षरुहाभया-पिप्पली-दुरालभा-कुलीरशृङ्ग-य इति दशेमानि हिक्कानिग्रहणानि भवन्ति ॥ (३०) ॥

इति त्रिकः कषायवर्गः ॥ [६] ॥

शटी (कच्चर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), बदरबीज (बेर के बीज, गुठलो), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), बृहती (बड़ी कटेरी), वृक्षरुद्धा (बन्दा, यह एक पेड़ पर ही पौधा उत्पन्न हो जाता है) अभया (जंगी हरड़), पिप्पली, दुरालभा (धमासा), कुलीरशृङ्गी (कांकड़ा सीगी) ये दस 'हिक्का-निग्रहण' अर्थात् हिचकी को शमन करती हैं ॥ यह तीन से बना हुआ कषाय वर्ग है ।

प्रियङ्गवनन्नाम्नास्थि-कट्वङ्ग-लोध्र-मोचरस-समङ्ग-धातकीपुष्प-पद्मा-पद्माकेशराणीति दशेमानि पुरीषसंग्रहणीयानि भवन्ति ॥ (३१) ॥

प्रियंगु (पूल प्रियंगु), अनन्ता (अनन्तमूल), आम्नास्थि (आम का गुठली), कट्वंग (श्योनाक की छाल), लोध्र (पटानी लांध), मोचरस (सिम्बल का गोंद), समंगा (मंजीठ), धातकी पुष्प (धाय के फूल), पद्मा (भार्गी), पद्माकेशर (कमल का केशर), यह दस 'पुरीषसंग्रहण' अर्थात् मल को रोकनेवाले हैं ॥

जम्बु-शळकीत्वकच्छुरा-मधुक-शालमली-श्रीवेष्टक-भृष्टमृत्युस्तोत्पल-तिलकणा इति दशेमानि पुरीषविरजनीयानि भवन्ति ॥ (३२) ॥

जम्बु (जामुन), शळकीत्वक् (कुन्दुरु की छाल), कच्छुरा (काँच या धमासा), मधुक (मुलेहठी), शालमली (सिम्बल का गोंद), श्रीवेष्टक (विरोजा) भृष्टमृत् (अग्नि के जलाने से जली हुई मिट्ठी, चूल्हे की मिट्ठी), पयस्या (बिदारी कन्द), उत्पल (नील कमल), तिल कण ये दस 'पुरीषविरजनीयः अर्थात् मल के दूषित रंग को बदलने वाले हैं ॥

जम्बवाम-प्लक्ष-वट-कपीतनोदुम्बराइवत्थ-भङ्गातकाइमन्तक-सोम-बलका इति दशेमानि मूत्रसंग्रहणीयानि भवन्ति ॥ (३३) ॥

जम्बु (जामुन), आम्न (आम), प्लक्ष (पिलखन), वट (बड़), कपीतन (पारस पीपल), उदुम्बर (गूलर), अशवत्थ (पीपल), भङ्गातक (भिलावा), अशम-न्तक, सोमबलक (खैर सफेद) ये दस 'मूत्र-संग्रहण' अर्थात् मूत्र को कम करते हैं ॥

पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-मधुक प्रियङ्ग-धातकीपुष्पाणीति दशेमानि मूत्रविरजनीयानि भवन्ति ॥ (३४) ॥

पद्म (कमल), उत्तर (नीला कमल), नलिन, कुमुद, सौगन्धिक (कमल का एक भेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतरंत्र, मधुक (मुलैहटी), प्रियंगु (फूल प्रियंगु) धातकी पुष्प (धाय के फूल) ये दस 'मूत्र-विरजनीय' अर्थात् मूत्र में रंग लाते हैं, और दूषित रंग को प्राकृत रूप में लाते हैं ॥

शृङ्खादनी-श्वदंष्ट्रा-बसुक-बशिर-पाणाणभेद-दर्भ-कुश-काशा-गुन्द्रेत्कट-
मूलानीति दशेमानि मूत्रविरेचनीयानि भवन्ति ॥ (३५) ॥

इति पञ्चकः कपायवर्गः ॥ [७] ॥

वृक्षादनी (बन्दार्क), श्वदंष्ट्रा (गोखरु), बसुक (पुनर्नवा), बशिर (चिरचिटा), पाणाणभेद, दर्भमूलानि (दान), कुश (कुशा), काशा (सरकन्डा), गुन्द्रा (दोगला), इत्कट (ईकड़ी), इत्कट का मूल 'मूत्र-विरेचनीय' अर्थात् मूत्र बढ़ाने वाले हैं । यह पांच से बना कपाय वर्ग है ।

द्राक्षाभयामलक-पिष्ठली-दुरालभा-शृङ्खी-कण्टकारिका-वृद्धोर-पुनर्न-
वा-तामलक्य इति दशेमानि कासहराणि भवन्ति ॥ (३६) ॥

द्राक्षा (किशमिश), अभया (जंगी हरड़), आमलक (आंवला), पिष्ठली, दुरालभा (धमासा), शृङ्खी (काकड़ासिंगा), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), वृश्वीर (श्वेत पुनर्नवा), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), तामलकी, (भूई उरंवता) ये दस 'कासहर' अर्थात् खांसी को शान्त करते हैं ॥

शटी-पुष्करमूलाम्लवेतसेला-हिण्डगुरु-सुरसा-तामलकी-जीवन्ती-
चण्डा इति दशेमानि श्वासहराणि भवन्ति ॥ (३७) ॥

शटी (कचूर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), अम्लवेतस, एला (छोटी इला-यची), हिण्ड (हींग), अगुरु (अगर), सुरसा (तुलसी), तामलकी (भूम्यामलकी), जीवन्ती, चण्डा (चोख) ये दस 'श्वासहर' अर्थात् श्वास रोग के नाशक हैं ॥

पाटलार्गिनमन्थ-विल्व-श्योनाक-काशमर्य-कण्टकारिका-वृहती-शालप-
र्णी-पृश्निपर्णी-गोल्दुरका इति दशेमानि शोथहराणि भवन्ति ॥ (३८) ॥

पाटला (पाढ़ल), अग्निमन्थ (अरणी), विल्व (बेलगिरी), श्योनाक (टेंडु), काशमर्य (गम्भारी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), वृहती (बड़ी कटेरी), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोल्दुरक (गोखरु), ये दस 'शोथहर' अर्थात् सूजन कम करते हैं ॥

सारिवा-शर्करा-पाठा-मजिष्ठा-द्राक्षा-पीलु-परूषकाभयामलक-बिभी-
तकानीति दशेमानि ज्वरहराणि भवन्ति ॥ (३६) ॥

सारिवा (अनन्तमूल), शर्करा (मिश्री), पाठा (पाढ़ल), मंजिष्ठा
(मर्जीठ), द्राक्षा (फिशमिश), पीलु , परूषक (फालसा), अभया (बड़ी
हड़), आमलकी (आंवला), विमोतक (वहेड़ा), ये दस 'ज्वरहर' अर्थात्
ज्वर नाशक हैं ॥

द्राक्षा-खर्जूर-पियाल-बदर-दाढ़िम-फलगु-परूषकेक्षु-यव-यष्टिका इति
दशेमानि अमहराणि भवन्ति ॥ (४०) ॥

इति पञ्चकः कपायवर्गः ॥ [c] ॥

द्राक्षा (किशमिश), खर्जूर (पिण्डखजूर), पियाल (प्याल चिरौंजी फल),
बदर (बेर), दाढ़िम (अनार), फलगु (अंजीर), परूषक (फालसा), इक्षु
(ईख), यव (जौ), यष्टिक (साठा चावल) ये दस 'अमहर' अर्थात् थका-
वट को मिटाते हैं ॥ यह पांच मे बना 'कपायवर्ग' है ।

लाजा-चन्दन-काश्मर्यफल-मधुक-शकरा-नीलोत्पलोशीर-सारिवा-गु-
द्धुची-हींबेराणीति दशेमानि दाहप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४१) ॥

लाजा (खील), चन्दन (इवेत चन्दन), काश्मर्यफल (गम्भारी फल)
मधुक (मुलहठी), शकरा (मिश्री), नीलोत्पल (नीला कमल), उशीर (खस)
सारिवा (अनन्तमूल), गुड्ढुची (गिलोय), हींबेर (नेत्रचाला), ये दस 'दाह-
प्रशमन' अर्थात् जलन कम करते हैं ॥

तगरागुरु-धान्यक-शृङ्खवेर-भूतीक-वचा-कण्टकारिकाग्निमन्थ-इयो-
नाक-पिप्पल्य इति दशेमानि शीतप्रशमनानि भवन्ति : (४२) ॥

तगर, अगुरु (अगर), धान्यक (धनिया), शृङ्खवेर (सोंठ), भूतीक
(अजवायन), वचा, कण्टकारिका (छोटी कटेरी) अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक
(टेंदु), और, पिप्पली, ये दस 'शीत-शप्रशमन' अर्थात् शीतनाशक हैं ॥

तिन्दुक-पियाल-बदर-खदिर-कदर-सप्तपर्णीश्वर-र्णार्जुनासनारिमेदा
इति दशेमान्युदर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४३) ॥

तिन्दुक (तेंदू), पियाल (चिरौंजी का फल), बदर (बेर), खदिर (खैर),
कदर (सफेद खैर), सप्तपर्ण (सातवन) अश्वकर्ण (साल), अर्जुन, असन

१. कदर—'सोमवल्कस्तु रोठायांकदरे कृष्णगर्भके' । ध० निष्ठण्डु ।

(पीतसाल), अरिमेद ('विट्कदिर इरिमेद'), ये दस 'उदर्द' अर्थात् शोतपिरा रोग को शान्त करते हैं ॥

विदारीगन्धा-पृश्निपर्णी-बृहती-कण्टकारिकैरण्ड-काकोली-चन्दनो-शीरैला-मधुकानीति दशेमान्यङ्गमर्दप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४४) ॥

विदारीगन्धा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी (पिठवन), बृहती (बड़ी कंटेरी) कण्टकारिका (छोटी कंटेरी) एरण्ड, काकोली, चन्दन (लाल चन्दन), उशीर (खस), एला, (छोटी इलायची), मधुक (मुलहठी), ये दस 'अंगमर्द-प्रशमन' अर्थात् अंगों के टूटने की बेचैनी को मिटाते हैं ॥

पिष्पली-पिष्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्खवेर-मरिचाजमोदाजगन्धाजा-जी-गण्डीराणीति दशेमानि शूलप्रशमनानि भवन्ति ॥ (४५) ॥

इति पञ्चकः कपार्यगः ॥ [६] ॥

पिष्पली, पिष्पली-मूल, चव्य (चविका), चित्रक (चातामूरू), शृङ्खवेर (सांट), मरिच, अजमोदा (अजवायन), अजगन्धा (ढूँढ़), अजाजी (जीरा), गंडीर ये दस 'शूलप्रशमन' अर्थात् तीव्र पीड़ा के नाशक हैं ॥ यह पांच का एक 'क्षय वर्ग' होता है ।

मधु-मधुक-रुधिर-मोचरस-मृत्कपाल-लोभगैरिक-प्रियङ्गु-शर्करा-लाजा इति दशेमानि शोणित-स्थापनानि भवन्ति ॥ (४६) ॥

मधु (शहद), मधुक (मुलेहठी), रुधिर (केशर), मोचरस (सिम्बल का गोद), पृत्कपाल (मिट्ठी का ठीकरा), लोभ (पठानी लोध), गैरिक (गेल), प्रियंगु (फूल प्रियंगु), शर्करा (मिश्री), लाजा (स्वीले) ये दस 'शोणित-स्थापन' अर्थात् रक्तरोधक वा बहते खून वा रोकने वाले हैं ॥

शाल-कट्फल-कदम्ब -पद्मक-तुङ्ग-मोचरस-शिरीष-वच्च-जुलैलवालुका-शोका इति दशेमानि वेदनास्थापनानि भवन्ति ॥ (४७) ॥

शाल (साल), कट्फल (कायफल), कदम्ब, पद्मक (पद्माख), तुंग^२ (नाग केशर) मोचरस (सिम्बल का गोद), शिरीष (सिरस), वंजुल (जलवेतस), एलवालुक, अशोक ये दस 'वेदनास्थापन' अर्थात् तीव्र वेदना को कम करते हैं ॥

हिङु-कैडर्यारिमेद-वचा-चोरक-वयःस्थांगोलामी-जटिला-पलङ्गुषाशो-करोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति ॥ (४८) ॥

हिङु (हींग), कैडर्य (नीम). अरिमेद (रेवा), वच, चोरक, वयस्था

१. विट्कदिर—इस खैर से बदबू आती है ।

२ तुङ्ग के स्थान पर तुम्ब पाठ होने पर तेजवल लेना चाहिये ।

(ब्राह्मी), गोलोमी (वच या दूर्वा), जटिला (जटामांसी), पलंकपा (गुग्गुलु), अशोकरोहिणी (कुटकी) ये दस 'संज्ञा-स्थापन' अर्थात् संज्ञा उत्पन्न करते हैं ॥

ऐन्द्री-ब्राह्मी-शतवीर्या-सहस्रबीर्यामोघान्यथा-शिवारिष्टा-वाट्वपुष्पी-विष्वक्सेनकान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति ॥(४६)॥

ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या (शतावरी), सहस्रबीर्या (महाशतावरी), अमोघा (आंवला), अन्यथा (गिलोय), शिवा (हरीतकी), अरिष्टा (कुटकी), वाट्वपुष्पी (खरैटो), विष्वक्सेनकान्ता (प्रियंगु) ये दस 'प्रजास्थापन' अर्थात् संतति जनक हैं ॥

अमृताभया-धात्री-मुक्ता-इवेता-जीवन्त्यतिरसा-मण्डूकपर्णी-स्थिरा-पुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति ॥ (५०) ॥

इति पञ्चकः कपायवर्गः ॥ [१०] ॥

अमृता (गिलोय), अभया (हरड़), धात्री (आंवला), मुक्ता (रासना), इवेता (अपराजिता), जीवन्ती, अतिरसा (शतावरी), मण्डूकपर्णी स्थिरा (शालपर्णी), और पुनर्नवा ये दस औपचिधि 'वयः स्थापन' अर्थात् वय को टिकाती है ॥ यह पाँच से बना हुआ कपाय वर्ग है ।

इति पञ्चकपायशतान्यभिसमस्य पञ्चाशन्महाकषायाः, महतां च कपायाणां लक्षणोदाहरणार्थं व्याख्याता भवन्ति ॥१३॥

इस प्रकार से (प्रत्येक द्रव्य के गिनने से) पांच वर्ग (५००) कपाय पूर्ण हो जाते हैं, एवं पचास (५०) 'महाकषाय' भी हो जाते हैं । इन कपायों के लक्षण उदाहरण भी कह दिये गये हैं ॥१४॥

न हि विस्तरस्य प्रमाणमस्ति, न चाप्यतिसंक्षेपोऽल्पबुद्धीनां साम-र्थ्यायोपकल्पते, तस्मादनन्तिसंक्षेपेणानन्तिविस्तरेण चोपदिष्टाः । एतावन्तो द्व्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुकृत्यज्ञानायेति ॥ १५ ॥

फैलाव की सीमा नहीं है और बहुत थोड़े में कहे हुए अर्थ को थोड़ी बुद्धि वाले नहीं समझ सकते । इसलिये न तो बहुत संक्षेप में और न बहुत विस्तार से यहाँ कहा है । यहाँ पर जितना भी कहा है वह थोड़ी बुद्धिवालों के व्यवहार चलाने के लिये है और जो लक्षण अनुमान, युक्ति में निपुण हैं, उन बुद्धिमानों के लिये न कहे हुए अर्थ को जानने के लिये सहायक होगा ॥१५॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतानि भगवन् !

पञ्चकषयशतानि पूर्यन्ते, तानि तानि हेवाङ्गानि संप्रवन्ते तेषु तेषु
महाकपायेविति ॥ १६ ॥

इस प्रकार से कहते हुए 'भगवान् आत्रेय' के प्रति अग्निवेश बोले—हे
भगवन् ! ये पांच सौ कपाय पूरे नहीं होते । क्योंकि वे ही द्रव्य उन उन महा
कपायों में बार-बार आते हैं । अर्थात् एक द्रव्य भिन्न २ कपायों में बार-बार
आता है । इस प्रकार से ५०० कपाय पूरे नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—नैतदेवं बुद्धिमता द्रष्टव्यमग्निवेश !
एकोऽपि ह्यनेकां संज्ञां लभते कार्यान्तराणि कुर्वन् । तद्यथा—पुरुषो
बहूनां कर्मणां करणे समर्थो भवति । स यद्यत्कर्म करोति तस्य तस्य
कर्मणः कर्तृकरणकार्यसंप्रयुक्तं तत्तद्गोणं नामविशेषं प्राप्नोति तद्व-
दौषधद्रव्यमपि द्रष्टव्यम् । यदि त्वेकमेव किंचिद् द्रव्यमासादयामस्तथा-
गुणयुक्तं यत्सर्वकर्मणां करणे समर्थं स्यात् कस्तोऽन्यदिच्छेदुपधारयि-
तुमुपदृष्टुं वा शिष्येभ्य इति ॥ १७ ॥

अग्निवेश के प्रति भगवान् आत्रेय बोले हे अग्निवेश ! बुद्धिमान् व्यक्ति को
इस प्रकार से नहीं देखना चाहिये । एक द्रव्य भी दूसरे २ काम करता हुआ
भिन्न २ संज्ञा बाला हो जाता है । जिस प्रकार एक पुरुष बहुत से काम करने
में समर्थ होता है । वह जो जो भी काम करता है, वह उन कर्मों के बह कत्ता,
करण (साधन) और कार्य के अनुसार वह गुणवाले नाम विशेष को प्राप्त होता है ।
इस प्रकार से औपचार्य द्रव्य को भी कार्य साधन और कत्ता आदि दृष्टि से देखना
चाहिये । और यदि किसी ऐसे एक ही द्रव्य को प्राप्त करलें, जो द्रव्य सब काम
करने में समर्थ हो, तो फिर कौन दूसरी औपचार्य को पास में रखने अथवा शिष्यों को
उपदेश करनेके लिये ज्ञानात्मक करें, इसलिये काम करने में समर्थ शक्ति बाला ऐसा
कोई एक द्रव्य नहीं है ॥ १७ ॥

तत्र श्लोकाः ।

यतो यावन्ति येद्रव्यैर्विरेचनशतानि षट् ।

उक्तानि संग्रहेण ह तथैवेषां षडाश्रयाः ॥ १८ ॥

रसा लवणवज्याश्च कषाय इति संज्ञिताः ।

तस्मात्पञ्चविधा योनिः कषायाणामुदाहृता ॥ १९ ॥

तथा कल्पनमप्येषामुक्तं पञ्चविधं पुनः ।

महतां च कषायाणां पञ्चात्शपरिकीर्तिः ॥ २० ॥

पञ्च चापि कषायाणां शतान्युक्तानि भागशः ।

लक्षणार्थं प्रमाणं हि विस्तरस्य न विद्यते ॥ २१ ॥

न चालमतिसंक्षेपः सामर्थ्यायोपकल्पते ।

अल्पबुद्धेरयं तस्मान्नातिसंक्षेपविस्तरः ॥ २२ ॥

मन्दानां व्यवहाराय बुधानां बुद्धिवृद्धये ।

पठ्चाशत्को ह्यं वर्गः कषायाणामुदाहृतः ॥ २३ ॥

तेषां कर्मसु वाह्येषु योगमाभ्यन्तरेषु च ।

संयोगं च प्रयोगं च यो वेद स भिपग्वरः ॥ २४ ॥

इस विषय में इलोक हैं—

जिन द्रव्यों में से (छ: सौ) विरेचन योग होते हैं वे एवं विरेचन योगों के छ: आश्रय भी संक्षेप से कह दिये हैं ।

लवण (नमक) का छोड़कर शेष पांच रसोंकी 'कपाय' संज्ञा है । इसलिये कपायों की पांच प्रकार की योनि कही है । एवं इन पांच कपायों की पांच प्रकार की कल्पना (बनावट) भी कह दी है और पचास प्रकार के 'महाकपाय' कहे हैं । कपायों के पांच सौ प्रकार भी दिग्दर्शन के लिये, न तो बहुत विस्तार से और न बहुत संक्षेप में कहे हैं । वे शार्दूल बुद्धि वालों को काज देने के लिये पर्याप्त हैं । इसलिये न विस्तार किया है और न बहुत संक्षेप । मन्द बुद्धिवाले व्यवहार का चला सकें, और बुद्धिमान् की प्रतिभा दढ़ाने के लिये पांच सौ कपायों का वर्ग कह दिया । इन कपायों का वाय्य कर्मों लक्ष्य आभ्यन्तर प्रयोगोंमें संदोग, और प्रयोग (योजना) को जो जानता है वह उत्तम वंद्य है । १८-२४।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूक्ष्म्यार्थे भेषजचतुष्कं

पद्धतिरेचनशताध्रितीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति भेषजचतुष्कं ॥ १ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

१-वाय्य प्रयोग प्रलेप आदि में, अन्तःप्रयोग वमन आदि कार्यों में स्वस्थ एवं आतुर दोनों व्यक्तियों के लिये करने में समर्थ एवं संयोग मिश्रण अयोगिक, हानिकारक अनुचित औपचिधियों को योग में से निकाल देना एवं उचित को न कहने पर भी मिश्रण करना, प्रयोग देश, काल, प्रकृति, व्याधि, रोगी, बल आदि को देख कर योजना करना जो जानता है, वही उत्तम वैद्य है ।

मेपज चतुष्क कहने के अनन्तर 'मात्राऽशितीय' अध्याय की व्याख्या करेंगे । इस प्रकार भगवानात्रेय ने कहा है ॥१-२॥

मात्राशी स्यात् । आहारमात्रा पुनरग्निवलापेक्षिणी । यावद्यथस्या-शनमशितमनुपहृत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्रा-प्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ ३ ॥

मात्रा में आहार करने वाला होना चाहिये । आहार^१ की मात्रा जाठर अग्नि के बल की अपेक्षा करती है । जितना स्वाया हुआ भोजन मनुष्य की प्रकृति, स्वास्थ्य को नुकसान न पहुँचा कर ठीक नमय में जीर्ण हो जाता है भोजन की उतनी मात्रा जाननी चाहिये^२ ॥ ३ ॥

तत्र शालि-पष्टिक-मुद्ग-लावक-पिञ्जलेण-शश-शरभ-दाम्बरादीन्या-हार-न्द्रव्याणि प्रकृतिलघून्याप मात्रापेक्षाणि भवन्ति, तथा पिष्टेष्टु-क्षीर-विघृति-तिल-मापानूपोदकपिण्डितादीन्याहारद्रव्याणि प्रकृतिगुरुण्ययि मात्रामेवापेक्षन्ते ॥ ४ ॥

क्योंकि (शाल), हैमन्तक धान्य, (नटिक) माटो चावल, (मुद्ग), मूंग, (लाव) घटेर, (कपिञ्जल) तातर, (एण) काला मूग, (शश) खरगोश,

१. आहार चार प्रकार का है । यथा—मक्ष्य, चांथ, लेख्य और पेय । मक्ष्य रोटी आदि, चांथ चूसने योग्य, लेहा चाटने योग्य, और पेय पानी आदि द्रव ।

एक ही मनुष्य की शाक तदा एक समान नहीं रहती । यीवनावस्था में जितनी जाटराग्नि समर्थ होती है, उतनी वाल्यावस्था या वृद्धावस्था में नहीं होती । इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में जितना अग्नि प्रबल रहती है उतनी वर्षा में नहीं रहती । इस लिये प्रत्येक समय के लिये एक मात्रा एक व्यक्ति के लिये भी निश्चित करना असम्भव है, फिर सब के लिये सामान्य रूप से मात्रा निश्चित करना तो और भी असम्भव है । इसलिये 'मात्रा' का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर ही छोड़ दिया है ।

२ (क)—'यथाकालं'—प्रातःकाल का भोजन सायंकाल तक और सायंकाल का भोजन प्रातः कालतक जीर्ण हो जाये । क्योंकि हमारे यहां दो ही समय भोजन का विधान है । यथा—

'सायं प्रातर्मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितम् ।

नान्तरे भोजनं कुर्याद् अग्निहोत्रसमो विधिः ॥' सर्वांगसुन्दरी टीका ॥

(शरभ) वडे सींगों वाला पाढ़ा हरिण, (शम्वर) हरिण सावर आदि आहार द्रव्य स्वभाव से लघु होने पर भी मात्रा की अपेक्षा करते हैं^१ । इसी प्रकार (पिष्ट) पिट्ठी से बनी हुई वस्तुएँ; (इच्छु) गुड खांड आदिसे बनी; (क्षीर-विकृति) दूध, माचे आद से बनी; तिल, (माष) उड्डद, (आनूपौदक पिशित) अथात् जल प्रदेश में या जल के अन्दर रहने वाले प्राणियों का मांस आदि आहार द्रव्य स्वभाव से ही भारी हैं । ये सब भी मात्रा^२ की ही अपेक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

न चेवमुक्ते द्रव्ये गुरुलाघवमकारणं मन्येत । लघूनि हि द्रव्याणि वायवग्निं-गुण-वहुलानि भवन्ति, प्रुथिची-सोम-गुण-वहुलानीतराणि; तस्मात्स्वरुणादपि लघून्यग्निं-संधुक्षण-स्वभावान्यल्प-दोषाणि चोच्य-न्तेऽपि सौंहित्योपयुक्तानि, गुरुणि पुनर्नाग्निं-संधुक्षण-स्वभावान्यसामान्यात्, अतश्चातिमात्रं दोषवन्ति सौंहित्योपयुक्तान्यन्यत्र व्यायामाग्नि-बलान्; सेषा भवत्यग्निवलापेक्षिणा मात्रा ॥ ५ ॥

शालि, सांठी आदि पदार्थ विना मात्रा में खाने से अहितकर हैं और पीढ़ा गुड आदि से बने पदार्थ मात्रा में खाने से हितकर होते हैं, यदि मात्रा की ही अपेक्षा से ये हितकर या अहितकर होते हों, तो द्रव्यों का गुरु एवं लघुण-

(ख)-मतुष्य की प्रकृति के ऊपर मात्रा का निर्णय रखने से, विषम और तीक्ष्ण अग्निवाले व्यक्ति भी अपनी भोजन को मात्रा भव्य निश्चय कर सकते हैं । तीक्ष्ण अग्नि वाले को इतना भोजन करना चाहिये, जो कि टीक समय में जीर्ण हो जाये, इसी प्रकार विषम अग्नि वाले भी टीक समय में जीर्ण हो सके ऐसा भोजन करें, यही उनकी मात्रा है ।

(ग)-‘प्रकृतिमनुपहत्य’—भोजन से कुक्षि का पांडन न होना, हृदय का न रुकना, पाश्वों का न फूलना, पेट का न तनना या भारी न होना, श्वास में कठिनाई का न होना, भूख, प्यास की शान्ति, उठने बैठने, चलने फिरने, लेटने या बात-चीत में हल्कापन अथवा नुस्ख की प्रतीति होना ही प्रकृति है । देखिये विमानस्थान अध्याय २ ।

१. एक पदार्थ लघु होता हुआ भी अधिक मात्रा में खाने से ‘गुरु’ हो जाता है । इसी प्रकार गुरु पदार्थ योद्धा खाने से ‘लघु’ हो जाता है ।

२. मात्रा के साथ ‘संस्कार’ रांधने की विधि से भी लघु पदार्थ गुरु और गुरु पदार्थ लघु बन जाते हैं ।

सम्बन्धी ज्ञान करना व्यर्थ है ? ऐसा नहीं, क्योंकि द्रव्यों का गुरु या लघु होना भी अकारण या निष्प्रयोजन नहीं है ।

वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता वाले पदार्थ लघुगुण वाले होते हैं [आकाश गुण वाले बहुतसे द्रव्य लघु होते हुए भी अग्नि का बढ़ाने वाले नहीं होते, इसलिए इनका मरण नहीं किया] । पृथ्वी, साम (जल) गुणों की अधिकता वाले पदार्थ गुरु होते हैं ।

इसलिये लघु पदार्थ वायु एवं अग्नि से बने होने के कारण; और अपने गुणों के कारण से—जैसे वायु रूक्ष लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर गुण वाला है, इससे भी लघु पदार्थ जाटराग्नि को संदीपन करने वाले एवं तृतीय पूर्वक मात्रा का व्यतिक्रम करके खाने पर भी थोड़े दाष वाले होते हैं; ये अधिक दाष नहीं करते^१ ।

गुरु द्रव्य अग्नि को संदीपन करने वाले नहीं होते । क्योंकि असमान होने से अग्नि से विपरीत गुण वाले हैं अथोत् पृथ्वी और जल के गुण वाले होते हैं । अतः तृतीय पूर्वक पेट भर के खाने से बहुत अधिक दाष कारक होते हैं । व्यायाम अग्निवल और हेमन्त ऋतु आदि में स्वभावतः अग्नि ढूँढ़ि होने के कारण ये विकार नहीं करते; अन्य अवस्थाओं में विकार उत्पन्न करते हैं^२ ।

इसलिये ‘मात्रा’ अग्नि वल की अपेक्षा करती है गुरु लघु द्रव्य की अपेक्षा नहीं करती ॥५॥

न च नापेक्षते द्रव्यम् । द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यम धर्सौहित्यं वा गुरुणामुपदिश्यते; लघुनामपि च नातिसौहित्यमग्नेयुक्त्यर्थम् ।

मात्रा द्रव्य की अपेक्षा नहीं करतो, ऐसा भी नहीं क्योंकि मात्रा की अपेक्षा से गुरु द्रव्यों का तान हिस्सा या आधे पेट, जिससे कि कुक्षि में प्रवीड़न, भारी-पन प्रतीत न हो, इतना खाना बताया है । परिमाण या मात्रा से नहीं बताया । इसी प्रकार लघु गुण वाले पदार्थों का भी पेट भर के खाने का आदेश नहीं

१. अग्नि भी रूक्ष, लघु, सूक्ष्म चल, विशद, खर है, इसलिये इस गुणवाले पदार्थ अग्नि को बढ़ायेंगे । समान गुण वाले समान गुणों को बढ़ाते हैं । अतः अधिक मात्रा में खाने पर भी लघु पदार्थ अग्नि को बढ़ायेंगे ही ।

२. व्यायाम करने वाले मनुष्य को विशद वा अविशद सब प्रकार का भोजन पच जाता है । क्योंकि व्यायाम से अग्नि बढ़ती है । हेमन्त में अग्नि स्वभावतः प्रबल होती है, अतः गुरु पदार्थ खाने का आदेश दिया है ।

दिया । इतना खाना चाहिये जिससे कि अग्नि समान रूप से स्थिर रह सके । जीवन के लिये खाना, खाने के लिये जीना नहीं ।

मात्रा में खाने के फल—

मात्रावद्धथ शनमश्तमनुपहत्य प्रकृतिं बल-वर्ण-सुखायुषा योजयत्युप-योक्तारमवश्यमिति ॥ ६ ॥

क्योंकि मात्रा में खाया हुआ आहार प्रकृति और स्वास्थ्य को न बिगड़ कर उपयोग करने वाले मनुष्य को बल, वर्ण (कान्ति), सुख, आयु से युक्त करता है, इसलिये मात्रानुसार भोजन करना चाहिये ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि ।
न जातु सुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद् बुभुक्षितः ॥ ७ ॥
बल्लूरं शुद्धकशाकानि शालूकानि विसानि च ।
नाभ्यसेद् गौरवान्मांसं कृशं नेवोपयोजयेत् ॥ ८ ॥
कूर्चिकांश्च किलाटांश्च शौकरं गव्यमाहिषे ।
मत्स्यान्दधि च मार्णांश्च यचकांश्च न शीलयेत् ॥ ९ ॥

इसलिये भोजन कर चुकने पर भारी पिण्डी से बने चावल, चिवडा इनको कभी भी नहीं खाये । मात्रा में भी भोजन करने के बाद इनको नहीं खाना चाहिये । भूखे होनेपर इन पदार्थों को मात्रामें ही खाना चाहिये अधिक नहीं ।

बल्लूर (सूखा हुआ मांस); सूखे हुए शाक-कचरी आदि शालूक (कमल का कन्द) और बिस मृणाल इनका निरन्तर उपयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि ये पदार्थ गुरु हैं । इसी प्रकार दुबंल, रुग्ण पशु का मांस भी नहीं खाना चाहिये । (कूर्चिक) छाँच के साथ पकाया हुआ दूध, (किलाट) छाँच के साथ पकाये हुए दूध का घन ठोस भाग, सुअर का मांस, गाय और मैस का मांस, मच्छलियों का मांस, दही, उड्ढ और शूक धान्य, जई इनको निरन्तर लगातार नहीं खाना चाहिये ॥ ७-९ ॥

षष्ठिकाब्धालिमुदगांश्च सैन्धवामलके यवान् ।

आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं मधु चाभ्यसेत् ॥ १० ॥

१. लघु भोजन अधिक मात्रा में खाने से अग्नि को सन्दीपन करने का गुण रखते हुये भी शरीर के लिये हानिकारक होंगे, क्योंकि शस्त्र पत्थर पर ही तेज होता है, और पत्थर पर अधिक पैनाने से वह खुन्डा भी बन जाता है । आंख तेजोमय है, वही आंख तेज की अधिकता से बिगड़ भी जाती है ।

षष्ठिक (साठी चावल), शालि (हेमन्त शृङ्ग में पकने वाले धान्य), मुदग (मूंग), सैन्धव (सैंधा नमक), आमलक (आंबले), यव (जौ), आन्तरिक्ष अर्थात् बरसात का जल, दूध, धी, जंगल में हाँने वाले मृग आदि का मास और शहद इनका निरन्तर (अग्नि बल को देखते हुए उचित मात्रा में) उपयोग करना चाहिये ॥ १० ॥

तच्च नित्यं प्रयुन्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते ।

अज्ञातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत् ॥ ११ ॥

जो विशुद्ध क्षीण होते हुए शरीर को पोषण दे और जो न उत्पन्न हुए विकारों वा रोगों को न उत्पन्न करे ऐसा आहार का स्वास्थ्य के लिये नित्यप्रति उपयोग करे ।

रोगों की उत्पत्ति में 'प्रज्ञापराध' 'परिणाम' और 'असात्मयेन्द्रियार्थ' संयोग ये तीन ही कारण हैं । अतः इनका छोड़कर और सब करना चाहिये, इनका सेवन नहीं करना चाहिये, इनसे बचना चाहिये । ऐसा करने से भावी में रोग उत्पन्न नहीं होगे ॥ ११ ॥

स्वस्थवृत्त—

अत ऊर्ध्वं शरीरस्य कार्यमद्यज्ञनादिकम् ।

स्वस्थवृत्तमभिप्रत्यं गुणतः संप्रवक्ष्यते ॥ १२ ॥

स्वास्थ्य के लिये आहार विधि को कह कर इस के आगे शारीरिक कार्यों का उपदेश करते हैं ।

स्वस्थवृत्त अर्थात् स्वास्थ्य की वृष्टि से अज्ञन आदि एवं शारीरिक कार्य उनके गुणों सहित कहते हैं ॥ १२ ॥

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्षणोः प्रयोजयेत् ।

पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा सावणार्थं रसाञ्जनम् ॥ १३ ॥

आँख तेजोमय (अग्नि रूप है) इसलिये आँख को शरीर के दोष बात, पित्त और कफ इनसे भय बना रहता है । इनमें भी विशेष कर कफ से । इसलिये श्लेष्मा के जय के लिये पांचवें, छठे दिन तीक्ष्ण अंजन (रसांजन) रात्रि में लगाना चाहिये ।

सौवीराञ्जन को प्रतिदिन आँखों में लगाना चाहिये, क्योंकि यह आँखों के लिये हितकारी है । इससे आँख के तेज की रक्षा होती है, इससे आँखों के दोष दूर नहीं होते । आँखों के दोष दूर करने और आँखों से पानी का दोष निकालने के लिये पांचवें या आठवें दिन दोष के बलाबल की अपेक्षा से रसांजन को रात्रि में प्रयोग करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम् ।
 दिवा तश्च प्रयोक्तव्यं नेत्रयोस्तीक्ष्णमञ्जनम् ॥ १४ ॥
 विरेकदुर्बला हृष्टिरादित्यं प्राप्य सीदति ।
 तस्मात्स्वाव्यं निशायां तु ध्रवमञ्जनमिष्यते ॥ १५ ॥
 ततः श्लेष्महरं कर्म हितं दृष्टं प्रसादनम् ।
 यथा हि कनकादीनां मर्णानां विविधात्मनाम् ॥ १६ ॥
 घौतानां निर्मला शुद्धिस्तंल-चेल-कचादिभिः ।
 एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाइच्योतनादिभिः ॥ १७ ॥
 हृष्टिरिनिराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत् ।

ओंख तेजोमय हैं, उसे खास करके कफ से भय है। इसलिये विशेषतः दिन में तीक्ष्ण अंजन आँखों में नहीं करना चाहिये। क्योंकि इष्टि तीक्ष्णांजन के लगाने से एवं दोष के कारण निर्बल होती है, इसलिये सूर्य को नहीं सहती, और यदि सूर्य के सामने अंजन दिन में लगाया जाय तो ओंख पीड़ित होती है। इसलिए स्वावण अंजन को रात्रि में ही लगाना चाहिये^१।

श्लेष्मा के निकलने के बाद श्लेष्मा को घटाने वाला और आंख को स्वच्छ करने वाला प्रयोग करना चाहिये। जिस प्रकार की धूल आदि से मैले हुए नाना प्रकार के स्वर्णादि की तेल, (वस्त्र), बाल आदि से त्रिसने पर स्वच्छता होती है इसी प्रकार मनुष्यों की ओंख स्रोताञ्जन, निर्मल, (वातादि दोषों से रहित) होकर स्वच्छ आकाश में चन्द्रमा के समान चमकता है ॥ १८-१७ ॥

अंजन के पीछे इष्टि के प्रसादन के लिये श्लेष्महर कर्म करने का विधान है। इसलिये अंजन के पीछे धूमपान कहते हैं।

धूमप्रयोग की विधि—

हरेणुकां प्रियहुं च पृथ्वीकां केशरं नखम् ॥ १८ ॥
 ह्र्षीवेरं चन्दनं पत्रं त्वं गोलोशीरपद्मकम् ।
 ध्यामकं मधुकं मासीं गुग्मुल्वगुरुशर्करम् ॥ १९ ॥

१. कुछ विद्वान् 'सीदति' का अर्थ 'अवजयति' करते हैं। इस प्रकार अर्थ करने से दिन में तीक्ष्ण अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि आँख तेजोमय हैं, इसलिये विरेचन (रात्रि में स्वावण अंजन लगाने) से निर्बल हुआ व कफ के निकलने से कमजोर पड़ा हुआ दोष श्लेष्मा, प्रातः सूर्य की किरणों में बाकी बचा निकल जाता है। इसलिये वमन की भांति पूवाह में सूर्य की किरणों में आँखों का स्वावण करना चाहिये और अंजन रात्रि में ही।

न्यग्रोधोदुम्बराइवत्थ-सक्ष-लोध्र-त्वचः शुभाः ।
 वन्यं सर्जरसं मुस्तं शैलेयं कमलोत्पले ॥ २० ॥
 श्रीवेष्टकं शङ्खकीं च शुकवर्हमथापि च ।
 पिष्ठा लिम्पेच्छरेषीकां तां वर्ति यवसन्निभाम् ॥ २१ ॥
 अङ्गुष्ठसंमितां कुर्यादष्टाङ्गुलसमां भिपक् ।
 शुष्कां निगर्भां तां वर्ति धूमनेत्रापितां नरः ॥ २२ ॥
 स्नेहाकामग्निसंप्लुष्टां पिवेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ।

हणुका (मेहन्दी के बीज), प्रियंगु, (फूल प्रियंगु), पृथ्वीका (काला जींग), केशर (नाग केशर), नख (नखी, एक सुगन्धित द्रव्य है), 'हर्षवेर' (नेत्रबाला), चन्दन (श्वेतचन्दन), पत्र (तेज पात), त्वग् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), उशीर (खस), पद्माक (पद्माख), ध्यामक (गन्ध तृण, सुगन्धित तृण), मधुक (मुलैहटी), मांसी (जटामांसी), गुग्गुल (गूगल), अगुरु (अगर), शर्करा (शर्करा), न्यग्रोध (बड़ी की छाल), उदुम्बर (गूलर की उत्तम छाल), अश्वत्थ (पोपल की उत्तम छाल), पल्क्ष (पिलखन की छाल) और लोध्र (लोध वृक्ष की उत्तम छाल), वन्य (कैवर्त मुस्तक, जल मुस्त), सर्ज रस (राल), मुस्त (नागर मोथा), शैलेय (शिलाहा) कमल-उत्पल (कमल और नील कमल इनका केशर), श्रीवेष्टक (धूपविशेष), शङ्खकी (कुन्दरु धूप विशेष, अथव शिलारस); और शुकवर्ह (स्यौणेयक) इन सब को जल के साथ पीसकर 'शंगविका' (सरकण्डा) के ऊपर, जौ के समान बीच में से मोटी और पासों पर पतली एवं अंगूठे के बराबर मोटी, आठ अंगुल लम्बी बत्ती बना लेनी चाहिये, उसे सूख जाने पर सरकण्डे पर से बीच से खोखली खींच कर उतारनी चाहिये, बत्ती को धी से स्तिर्ण्य करके मुख पूर्वक नित्य प्रति पान करे । यह प्रायोगिक नित्य पाने योग्य धूम है ॥ १८-२२ ॥

स्नैहिक धूम—

वसा-घृत-मधुच्छिष्टैर्युक्ति-युक्तेवंरौषधैः ॥ २३ ॥

वर्ति मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत् ।

वसा (चर्वा), घृत (धी), मधुच्छिष्ट (मोम), इनको जीवनीय गण के साथ वर्ती बनने योग्य मात्रा में मिलाकर वर्ती बना ले । रक्ष व्यक्ति स्नेहन करने वाले इस स्नैहिक धूम का पान करे; इस धूम का नित्य व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

शिर में अवरुद्ध कफ को निकालने के लिये स्वस्थ पुरुष के लिये वैरेचनिक धूम—

इवेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला ॥ २४ ॥
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमः शीर्षविरेचनम् ।

इवेता (अपराजिता), ज्योतिष्मती (माल कंगनी), हरिताल (हरताल), मनःशिला (मैनसिल), 'गन्ध अगुरु पत्रादि' (ऊर चिकित्सा में 'अगुरुआदि तेल' में कहे हुए अगरु, कुष्ठ, तगर, पत्रज आदि [इनमें कुष्ठ और तगर को छोड़कर अन्य] द्रव्य लेकर पीसकर पूर्व को भांति बत्ती बना कर पीना चाहिये । यह धूम शिरोविरेचन के लिये वैरेचनिक धूम है ॥ २४ ॥

धूमपान के गुण—

गौरवं शिरसः शूलं पीनसार्धावभेदकौ ॥ २५ ॥

कर्णाक्षिशूलं कासश्च हिक्काश्वासौ गलग्रहः ।

दन्तदौर्बल्यमास्रावः भोत्रघाणाक्षिदोषजः ॥ २६ ॥

पूतिघ्राणास्यगन्धश्च दन्तशूलमरोचकः ।

हनुमन्याग्रहः कण्ठः क्रिमयः पाण्डुता मुखे ॥ २७ ॥

श्लेष्मप्रसेको वैस्वर्यं गलशृण्डयुपजिह्वा ।

खालित्यं पिञ्जरत्वं च केशानां पतनं तथा ॥ २८ ॥

क्षवथुश्वातितन्द्रा च तुद्धेमहोऽतिनिद्रता ।

धूमपानात्प्रशास्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ॥ २९ ॥

शिरोखकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च ।

न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वर्जजुञ्जाः ॥ ३० ॥

धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ।

(गौरव) शिर का भारीपन, शिर का दुखना, शिरोवेदना (पीनस) नाक की श्लैष्मिक कला का सूजन, (अद्रोवभेदक) आधा-सीसी, (कर्णशूल) कान की पीड़ा, (अक्षिशूल) आंख का दुःखना, (कास) खांसी, (हिक्का) हिचकी, (श्वास) दमा, (गलग्रह) स्वर भंग, (दन्तदौर्बल्य) दान्तों की निबलता, (आस्राव) कान नाक और आंख के रोग स्वाव का आना, (पूतिघ्राण) नाक से दुर्गन्ध आना, (आस्यगन्ध) मुख को बदबू, (दन्तशूल) दाँत की पीड़ा, (अरोचक) भोजन में अदृचि, अनिच्छा, (हनुग्रह) जबाझी भिच्छना, (मन्याग्रह) गर्दन का जकड़ जाना, इधर-उधर न हिलना, (कण्ठ) खाल, कूमि, (मुखपाण्डुता) चेहरे का पीलापन, (श्लेष्मप्रसेक) मुख से पानी का बहना

अर्थात् लाला स्वाब, (वैस्वर्य) स्वर का साफ न होना गलशुण्डी, उपजिह्विका (खालित्य) बालों का गिरना, (विजरत्व) बालों का धूसर रंग होना, (केचप-तन) बालों का झाङ जाना, (क्षवथु) छांक आना, (अतितन्द्रा) आलस्य की अधिकता, (बुद्धिमोह) बुद्धिका जड बनना मूर्छा, (अतिनिद्रा) नींदका अधिक आना ये रोग धूम पीने से अच्छे होते हैं और बाल, शिर की अस्थि, आँख कान आदि इन्द्रियों का, स्वर, और गले का बल अधिक होता है ।

बलवान् कारण से भी वात कफ से उत्पन्न गले से ऊपर होने वाले आँख, कान, नाक, मुख, गले के रोग खास कर शिर सम्बन्धी रोग मुख से धूम्रपान करने वाले व्यक्ति को नहीं होते । मुख से धुआ लेकर नाक से निकाल देना चाहिये ॥ २५-३० ॥

धूम्रपान के आठ काल—

प्रयोगपाने तस्याण्टो कालाः संपरिकीर्तिताः ॥ ३१ ॥

वात-श्लेष्म-समुत्कलेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते ।

स्नात्वा भुक्त्वा समुलिख्य क्षुत्वा दन्तान्तिघृष्य च ॥ ३२ ॥

नावनाञ्जननिद्रान्ते चात्मवान् धूमपो भवेत् ।

तथा वातकफात्मानो न भवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥ ३३ ॥

रोगास्तस्य तु पेयाः स्युरापानाद्विषयस्ययः ।

प्रायोगिक धूम के मुख से पीने के आठ समय ब्रह्मा आदि ने कहे हैं, क्योंकि इन आठ समयों में वात और कफ का प्रकोप देखा जाता है अन्य समयों में इतना कोप नहीं दिखाई देता ।

स्नान करके, भोजन करके, वमन करके, छोंके लेकर दांत जीभ साफ करके नाक से नस्य लेकर, आँख में अंजन करके, सो के उठकर, प्रसन्न मन हो तब धूम को पीना चाहिये । इसी प्रकार से वातजन्य और कफजन्य, ग्रीवा से ऊपर के रोग नहीं होते हैं ।

शीत गुण के कारण यदि वायु प्रकृपित हुई है, तो वातजन्य रोग होते हैं । ऐसी अवस्था में स्नैहिक धूम लेना चाहिये । जब पुरुष रुक्ष हो, रुक्ष हर 'स्नैहिक धूम' पीना चाहिये । कफ जन्य रोग तब होते हैं, जब कि पुरुष में स्तिर्घटा (रुक्षता का अमाव) होता है । इसलिये कफ के नाश के लिये 'वैरेचनिक धूम' लेना चाहिये । तीन प्रकार के धूम्रपान की धूंढों की सीमा ६ (नौ) है । अर्थात् धूम पीने के समय में किसी भी प्रकार का धूम ६ धूंट से अधिक नहीं पीना चाहिये ॥ ३१-३३ ॥

परं द्विकालपायी स्यादहः कालेषु बुद्धिमान् ॥ ३४ ॥

प्रयोगे, स्नैहिके त्वेकं, वैरेच्यं त्रिश्रुतः पिबेत् ।

यथापि धूम्रपान के आठ समय चताये हैं, तथापि बुद्धिमान् को अपने शरीर के दोष वृद्धि, क्षय आदि का विचार करके दिन में आठ समयों में दो समय 'प्रायोगिक धूम' का पान करना चाहिये । स्नैहिक धूम का दिनभर में एक बार, और 'वैरेचनिक' धूम तीन बार पीना चाहिये, इससे अधिक नहीं ॥ ३४ ॥

ठीक प्रकार से पीये हुए धूम्रपान के लक्षण—

हृत्कण्ठेन्द्रियसंशुद्धिर्घुर्वं शिरसः शमः ॥ ३५ ॥

यथेरितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम् ।

हृदय (छाती, उरःस्थल), गला, उरःस्थल का ऊर्ध्वभाग, इन्द्रियों—आँख कान नासिका आदि, इनकी स्वच्छता का प्रतीत होना, शिर का हल्कापन दोष—बात, पित्त, कफ, दोषों की शान्ति ये सम्यक् प्रकार से पीये हुए धूम्र के लक्षण हैं ॥ ३५ ॥

अधिक धूम्रपान के लक्षण—

वाधिर्यमान्धर्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् ॥ ३६ ॥

अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान् ।

(वाधिर्य), बहरापन, (आन्धर्य), आँखों से कम या सर्वथा न दोखना, (मूकत्व), गूंगापन, जीभ से बोला न जाना (रक्तपित्त) पित्त प्रकोप से रक्त चिकार होना (शिरोभ्रम) सिर में चक्रर आना, ये रोग अकाल अर्थात् ठीक समय पर धूम न पीने से अथवा अधिक पीने से होते हैं ॥ ३६ ॥

अधिक धूम्रपान से उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा—

तत्रेषुं सपिंशः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥ ३७ ॥

स्नैहिकं धूमजे दोषे वायुः पित्तानुगो यदि ।

शीतं तु रक्तपित्ते स्याच्छ्लेष्मपित्ते विरुक्षणम् ॥ ३८ ॥

अधिक धूम्रपान करने पर धी का पिलाना अच्छा है । नस्य, आँखों में अंजन करना और संतर्पण करने वाले स्निग्ध कर्म करने चाहिये ।

पित्त के कारण जहाँ रक्त दूषित हो वहाँ पर शीतल चिकित्सा, शीतस्पर्श शीत वीर्य वाले द्रव्यों से बनी औषध नस्य, अंजन आदि कार्य में बरतनी चाहिये, श्लेष्मप्रधान पित्त की अवस्था में 'विरुक्षण' अर्थात् रुक्ष गुण वाले द्रव्यों से नावन अंजन कर्म करने चाहिये ॥ ३७-३८ ॥

परं त्वतः प्रवद्यामि धूमो येषां चिरगहितः ।

न चिरिक्षः पिबेद् धूमं न कुते वस्तिकर्मणि ॥ ३९ ॥

न रक्ती न विषेणातों न शोचन्न च गर्भिणी ।
 न अमे न मदे नामे न पित्ते न प्रजागरे ॥ ४० ॥
 न मूच्छाभ्रमतृष्णासु न क्षीणे नापि च क्षते ।
 न मददुग्धे पीत्वा च न स्नेहं न च माश्किकम् ॥ ४१ ॥
 धूमं न भुक्त्वा दध्ना च न रूक्षः कुद्ध एव च ।
 न तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च ॥ ४२ ॥
 न शङ्खके न रोहिण्यां न मेहे न मदात्यये ।
 एषु धूममकालेषु मोहात्पिबति यो नरः ॥ ४३ ॥
 रोगास्तस्य प्रवर्धन्ते दारुणा धूमविभ्रमात् ।

इसके अगे कहेंगे कि किन २ पुरुषों के लिये धूम पान निनिदत है । 'विरिक्त' विरेचन जिसने लिया हो, वस्ति कर्म (रूक्ष या स्नेहन वस्ति जिसने ली हो), रक्ती (रक्त दोष वाला), विषार्ता (विष से पीड़ित), शोचन (शोकातुर मनुष्य), गर्भिणी (गर्भवती), श्रम (थकान चढ़ा होने पर), मद (नशा किया हुआ होने से पर) आम (अजीणीयस्था में), प्रजागर (रात्रि में जागने पर), मूच्छी (बेहोशी), भ्रम (चक्र आना), तृष्णा (प्यास लगी होने पर), क्षीण (धातु क्षय होने पर), क्षत (उरः क्षत रोग में), मद्य (शराब पीकर), दुग्ध (दूध पीकर), स्नेह (धीं तैल आदि पीकर), माश्किक (शहद खाकर), दही के साथ चावल आदि खाकर रूक्ष (रूक्ष शरीर में रूखापन होने पर स्नैहिक धूम के अतिरक्त धूम), कुद्ध (कोप की अवस्था में), तालु शोष (गला सूख जाने पर), तिमिर (तिमिर नामक अक्षि रोग में), शिर पर चोट लगाने पर; शंखक (शंखक नामक शिरो रोग में), रोहणी रोग डिप्थीरिया, गलरोग में, मेह (प्रमेह रोग में), मदात्यय (मद्यापान करने पर शराब का नशा चढ़ा होने पर) इन अवस्थाओं में धूम पान नहीं करना चाहिये । इन कुसमयों में जो मनुष्य अज्ञान से धूम पान करता है, उसके धूम पान से कुपित वातादि दोष और रोग बढ़ाते हैं । जो ऊपर गिनाये जिन २ रोगों में मनुष्य धूम पीता है, उसके बे बे रोग बढ़ जाते हैं और नीरोगी व्यक्ति के अकाल में पीने से कठिन रोग हो जाते हैं ॥ ३६-४३ ॥

धूम किस प्रकार पीना चाहिये—

धूमयोग्यः पिबेहोषे शिरो-घ्राणाक्षिन्संश्रये ॥ ४४ ॥
 घ्राणेनाऽस्येन कण्ठस्थे, मुखेन घ्राणपो वमेत् ।
 आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत् ॥ ४५ ॥
 प्रतिलोमं गतो श्वाश धूमो हिंस्यद्धि चक्षुषी ।

विरक्तादि से भिन्न, बारह वर्ष से ऊपर, स्नानादि काल में धूम पीनेके योग्य मनुष्य दोष के नासिका, औंख में आश्रित होने पर नाक से धूम पान करे और कण्ठ (गले या छाती में) दोष स्थित होने पर मुख से धूम पान करना चाहिये । जो धूम नासिका से पिया है, उसको मुख मार्ग से निकालना चाहिये । अर्थात् धूम नासिका से पीकर मुख से निकालना चाहिये, नासिका से नहीं ।

परन्तु मुख से धूम पान करते हुए नासिका से धुँआ नहीं निकालना चाहिये, बल्कि मुख से पीकर मुख से ही वाहर करना चाहिये, क्योंकि धुँआ विपरीत मार्ग से निकाल कर जल्दी ही ओंखों को हानि पहुँचाता है ॥४४-४५॥

धूम पान के आसन—

ऋज्वङ्गच्छ्रुतच्चेताः सूपविष्टिपर्ययम् ॥ ४६ ॥

पिवेच्छिद्रं पिधायैकं नासया धूममात्मवान् ।

अकुटिल, शरीर, चक्षु, हाथ, पांव, शिर, पाट, ग्रीवा को सीधे रख कर धूम्रपान में मनोयोग करके, अच्छी प्रकार शान्ति से बैठे हुए तीन-तीन दम एक साथ, कुल नौ बार पीना चाहिये और पीते समय नासिका का एक छेद बन्द कर लेना चाहिये । इसी प्रकार क्रम से दोनों नासिकाओं से पीना चाहिये ॥

चतुर्विंशतिकं नेत्रं स्वाङ्गुलीभिर्विरेचने ॥ ४७ ॥

द्वात्रिशदङ्गुलं स्नेहे प्रयागोऽध्यर्थमिष्यते ।

ऋजुत्रिकाषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम् ॥ ४८ ॥

बस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते ।

वैरेचनिक धूम में पीने वाले की अपनी अंगुलियों से २४ अंगुल नेत्र नलिका होनी चाहिये, स्नैहिक धूम प्रयोग में बत्तीस अंगुल परिमित हो । प्रायोगिक धूम प्रयोग में ३६ छत्तीस अंगुल होनी चाहिये ।

नलिका की बनावट—पर्व गांट गिरह सीधे तीन सीधी गिरह बाली गिरहों पर टीक प्रकार से मिली हुई, एवं आगे से मुख पर बेर के समान नलिका होनी चाहिये । नलिका को बनाने के द्रव्य पदार्थ बस्ति की नलिका के समान होने चाहिये ॥

दूराद्विनिर्गतः पर्वच्छिद्भ्रो नाडीतनूकृतः ॥ ४९ ॥

नेन्द्रियं बाधते धूमो मात्राकालनिषेचितः ।

यदा चोरश्च कण्ठश्च शिरश्च लघुतां ब्रजेत् ॥ ५० ॥

कफश्च तनुता प्राप्तः सुपीतं धूममादिशेत् ।

चौबीस या छत्तीस अंगुली लम्बी नलिका में दूर से आने के कारण तीन गिरह गांठों के होने से तीक्ष्णता का घट जाना, बेर के समान छेद होने से

एक दम जोर से नहीं आ सकना, और मात्रा तथा उचित समय में सेवन किया हुआ धूम इन्द्रियों को पीड़ा नहीं पहुंचाता ।

उत्तम प्रकार से किये हुए धूम्रपान के लक्षण—

जब उरः (वशःस्थल), कण्ठ (गला), शिर का हल्के होना और कफ पतला हो जाये या घट जाये तब धूम अच्छी प्रकार से पीया हुआ समझना चाहिये ।

अयोग्य रूप में पिये हुए धूम के लक्षण—

अविशुद्धः स्वरो यस्य कण्ठश्च सकको भवेत् ॥ ५१ ॥

स्तिमितो मस्तकश्चैवमर्पीतं धूममादिशेत् ।

जिस पुरुष का स्वर, अविशुद्ध स्पष्ट साफ न हुआ हो कफयुक्त हो एवं जिसका गला कफयुक्त हो, और मस्तिष्क स्तिमित अथात् जकड़ा हुआ भारी प्रतीत होता है उसने टीक प्रकार से धूम नहीं पिया ऐसा समझना चाहिये ॥ ५१ ॥

अतियोग के रूप में धूम्रपान के लक्षण—

तालुर्मूर्धा च कण्ठश्च शुज्यते परितप्यते ॥ ५२ ॥

तृप्यते मुहते जन्तु रक्तं च स्रवतेऽधिकम् ।

शिरश्च अभ्रतेऽत्यर्थं मूर्छा चास्योपजायते ॥ ५३ ॥

इन्द्रियाण्युपतप्यन्ते धूमेऽत्यर्थं निषेविते ।

तालु, मूर्छा (शिर) और कण्ठ (गला) खुशक हो जाते हैं और जलते हैं, इनमें जलन होती है । जन्तु (पुरुष) को प्यास लगती है, मूर्छा आ जाती है, विशेष रूप से रक्तस्राव होता है, शिर धूमता है, मूर्छा बेहोशी आ जाती है, और इन्द्रियों में दाह, जलन होती है, ये अति धूम्रपान के लक्षण हैं ॥ ५२-५३ ॥

नस्य प्रयोग—

वर्षे वर्षेऽनुतैलं च कालेषु त्रिषु नाऽचरेत् ॥ ५४ ॥

प्रावृद्धशरद्दुसन्तेषु गतमेघे नभस्तले ।

नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते ॥ ५५ ॥

न तस्य चक्षुर्न द्वाणे न श्रोत्रमुपहन्यते ।

न स्युः इवेता न कपिलाः केशाः इमश्चणि वा पुनः ॥ ५६ ॥

न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः ।

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितं हनुसंप्रहः ॥ ५७ ॥

पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति ।

शिराः शिरःकपालानां सन्धयः स्नायुकण्ठराः ॥ ५८ ॥

नावनप्रीणिताङ्गास्य लभन्तेऽथधिकं वलम् ।

मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान् ॥ ५९ ॥
 सर्वे निद्रयाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम् ।
 न चास्य रोगः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः ॥ ६० ॥
 जीर्यतश्चेत्तमाङ्गे च जरा न लभते बलम् ।

आंख अथवा ग्रीवा से ऊपर के अंग कान, नाक, आंख, शिर के स्नावण थार्त धोने के लिये और अणु स्रोतस् इनके लिए हितकारी अणु तैल को पुरुष व्याघ्र छातु (श्रावण भाद्रपद), अथवा वर्षा का पूर्व भाग (आषाढ़ श्रावण), शरद् (आदिवन और कार्तिक), वसन्त (माघ फाल्गुन), इन तीनों कालों-में जब आकाश बादलों से रहित एक दम निर्मल हो उस समय नस्य कर्म करे । जो पुरुष नस्य कर्मको टीक प्रकारसे उचित समय पर करता है उसके न तो आंख, न कान और न नासिका पीड़ित होती हैं । उसके शिर के बाल न तो इकेत होते हैं न भूरे (धूसर रंग के) होते हैं और न दाढ़ी मूँछ ही इकेत होती हैं । बाल भा गिरते-झड़ते नहीं; अपिनु विशेष रूपसे बढ़ते हैं । नस्य लेने से (मन्यास्तम्भ) ग्रीवा का अकड़ना, (शिरःशूलम्) शिरांवेदना (अर्दित) मुख का लकवा, (हनुसंग्रह) जवाङ्गों का जकड़ जाना, (पीनस) नासा रान्, (अद्वोवभेदक) आधा सीसी और (शिरःकम्प) शिर का हिलना ये रोग शान्त हो जाते हैं ।

धमनियां, रक्तवाहिनी नाड़ियां और शिर की अभियां, शिर की सन्वियां (स्नायु) सूक्ष्म शिरायें, अथवा बन्धन-कण्ठरा दृढ़ बन्धन रञ्जु रूप शिर के बन्धन, नस्य प्रयोग से अधिक बलवान् हो जाते हैं । मुख प्रसन्न और तेजस्वी हो जाता है, स्वर (आवाज़) स्निग्ध, स्थिर, मदान् . गम्भीर मीठा हो जाती है और सब इंद्रियां (आंख, कान, नाक आदि) निर्मल स्वच्छ एवं अधिक बलवान् बन जाती हैं । नस्य कर्म करने वाले मनुष्य को गले से ऊपर के रोग अचानक उत्पन्न नहीं होते । क्षीण होते हुए उत्तमांग में नाक, आंख, शिर, गले के ऊपर के अंगों में बुढ़ापे का शुरियां आदि नहीं होते ॥ ५४-६० ॥

अणु तैल की विधि—

चन्दनागुरुणी पत्रं दार्वीत्वङ्ग-मधुकं बलाम् ॥ ६१ ॥
 प्रपौण्डरीकं सूक्ष्मैलां विडङ्गं बिल्वमुत्पलम् ।
 हीवेरमभयं बन्यं त्वङ्गमुस्तं सारिवां स्थिराम् ॥ ६२ ॥
 सुराहं पृथिवण्णी च जीवन्तीं च शतावरीम् ।
 हरेणुं बृहतीं व्याघ्रीं सुरभीं पद्मकेशरम् ॥ ६३ ॥
 विपाच्येच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि ।

तैलाहशगुणं शेषं कषायमवतारयेत् ॥ ६४ ॥

तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत् ।

अथास्य दशमे पाके समांशं छागलं पयः ॥ ६५ ॥

दद्यादेषोऽनुतंलस्य नावनीयस्य संचिधिः ।

चन्दन, अगर, तेजपत्र, वाशविडंग, बेल वृक्ष की जड़, नील कमल पुण्डरीक, द्वेत कमल, छोटी हलायची, दारुहलदी की छाल, मुलेहटी, बला खरैटी, नेत्रबाला, जंगी, हरड़, वन्य (केवत्तंसुस्ता या मुद्रगपर्णी), त्वक् (दाल चीनी), नागर मोथा, अनन्तमूल, दालपर्णी, जीवन्ती, पीठबन, देवदारु, शतावर, रेणुकावीज, बड़ी कटोरा, सलकां, पद्मकेशर, (कमल का केशर), इन को निर्मल, आकाशा में बरसे मां गुने त्रुटि केजल में पकाना चाहिये और तैल से दस गुना (दशांश भाग) रहने पर कपाय को उतार कर लान ले । इस कपाय के दस भाग करके प्रत्येक में उस तैल को पकाये, अथात् प्रथम एक भाग के साथ तैल सिद्ध करे, फिर उसी तैल का दूसरे भाग के साथ, इसी प्रकार दसों भागों के साथ तैल सिद्ध कर लेने पर दसवें भाग में समांश तैल के बराबर बकरी का दूध कपाय में मिला दे । यह नस्य कर्म के योग्य अणु तैल बनाने की विधि है । ॥ ६२-६५ ॥

अस्य मात्रां प्रयुज्ञात तंलस्यार्धपलोनिमताम् ॥ ६६ ॥

स्तिरधस्तिव्वोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनेस्त्रिभिः ।

त्यहात्त्यहाच्च मप्ताहेतरकर्म समाचरेत् ॥ ६७ ॥

निवातोष्णसमाचारी हिताशी नियतेन्द्रियः ।

तैलमेतत्त्विदोषष्टनमिन्द्रियाणां बलप्रदम् ॥ ६८ ॥

प्रयुज्ञानो यथाकालं यथोक्तानश्नुते गुणान् ।

इस तैल की अर्धपल अथात् (दो तांल) मात्रा को ले गिर के तैल लगा कर, चिकना कर के एवं पसीना लेकर तब रुई के फांये से तीन बार नस्य देना चाहिये ।

१. “अकल्काऽप भवेत्स्तनहा यः साध्यः कवले द्रवे” इस परिभाषा के अनुसार चन्दन आदि पदार्थों का ऊखल में कूट कर ५० तोले परिमित लेकर ४०० तोले पानी में क्वाथ करना चाहिये । ४० तोले रहने पर छान कर दस भाग कर लेने चाहिये । और एक भाग के बराबर अथात् ४ तोले तिल तैल मिला कर पाक पूर्व विधि से करना चाहिये । इस प्रकार ६ बार करके दसवीं बार बकरी का दूध ४ तोले मिला कर तैल पाक कर लेना चाहिये । यह अणु तैल विधि है । अणु तैल का नस्य सप्ताह में लगभग दो बार लेना चाहिये ।

यह (दो तोला तैल) तीन तीन दिन के पीछे नस्य करे । अर्थात् यदि आज नस्य लिया है, तो तीन दिन छोड़कर पांचवें दिन नस्य ले । इस प्रकार से प्रत्येक ऋतु में कुल सात दिन तक लेना चाहिये । सप्ताह में लगभग दो बार नस्य ले ।

इस तैल का नस्य लेने वाला व्यक्ति वायु के शोंके में, खुली वायु में न रहे, शरीर को गरम बनाये रखें, पश्चाशी, जितेन्द्रिय, ब्रह्मचारी, संयमी रहे । यह तैल वात, पित्त कफ तीनों दोषों का नाश करने वाला और आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को बल देने वाला है । जो व्यक्ति इस अणु तैल को समय दूर पर विधिपूर्वक प्रयोग करता है उसे ऊपर लिखे हुए गुण मिलते हैं ॥ ६६-६८ ॥

दन्त धावन की विधि—

आपोथिताग्रं द्वौ कालौ कषायकटुतिक्ककम् ॥ ६६ ॥

भक्षयेहन्तपवनं दन्तमांसान्यवाधयन् ।

कसैले, कटु (कटुवे) नीम आदि, तिक्क (तीखे) तेजबल, जीयापांता आदि, रसयुक्त दातुन को आगे से चवाकर कृद कर अर्थात् नरम बनाकर, मसूदों को नुक्सान न पहुँचाते हुए, प्रातःकाल विस्तर में उठ कर और साथकाल सोने के समय दांत साफ़ करे ॥ ६६ ॥

दातुन करने से लाभ—

निहन्ति गन्धवैरेस्यं जिह्वादन्तास्यजं मलम् ॥ ७० ॥

निष्कृष्ट्य रुचिमाधत्ते सद्यो दन्तविशेषधनम् ।

दातुन दुर्गन्ध को, बुरे स्वाद को, जीभ दांत और मुख के मल, और मुख के दुर्गन्ध को नष्ट करती है । दांतों को साफ करने से मुख में रुचि प्रसन्नता अथवा भोजन में रुचि उत्पन्न होती है ॥ ७० ॥

जीभ को साफ़ करने की विधि—

मुर्वण्णरूप्यताम्राणिं त्रपुरीतिमयानि च ॥ ७१ ॥

जिह्वा-निलेखनानि स्युरतीक्षणान्यनृजूनि च ।

जिह्वा-भूल-गतं यज्ञ मलमुच्छ्वासरोधि च ॥ ७२ ॥

दौर्गन्धं भजते तेन तस्माज्जहां विनिर्दिखेत् ।

जीभ को निलेखन अर्थात् खुरेच करके साफ करने के लिए सोना, चाँदी, ताम्बा, रँगा, जस्ता, पीतल और लोह इनकी बनी जीभी अतीक्षण, जो तेज धारवाली न हो, टेढ़ी मुड़ी हुई होनी चाहिये । जो मल जिह्वा के पिछले भाग में लगा हुआ हो और जो मल श्वास को रोकता हो या दूषित करता हो उसको इससे खुरेचकर निकाल देना चाहिये ॥ ७१-७२ ॥

दातुन के लिये उत्तम वृक्ष—

करञ्ज-करबीरार्क-मालती-कुम्भासनाः ॥ ७२ ॥

शस्यन्ते दन्तपवने ये चाप्येवंविधा द्रमाः ।

धार्याण्यास्येन वैश्वा-रुचि-सौगन्ध्यमिच्छता ॥ ७४ ॥

जाती-कटुक-पूगानां लवङ्गस्य फलानि च ।

कङ्कोलकफलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा ॥ ७५ ॥

तथा कपूर-निर्यासः सूक्ष्मेलायाः फलानि च ।

करञ्ज (नाटा करञ्ज), करबीर (कनेर), अर्क (आक), मालती (जुही),
कुम्भ (अर्जुन), असन (आसन), ये दृष्ट अथवा इनके तमान . इस गुण
वाले वृक्ष दातुन के लिये उत्तम हैं ।

मुख की निर्मलता, भोजन में मूँह एवं मुख की सुर्गन्ध चाहने वाले
पुरुष को चाहिये कि जातिफल (जायफल), कटुकफल (लता कस्तूरी), पूग
(सुपारी), लवङ्ग (लाङ्ग), कङ्कोल (शीतल चानी), उत्तम पान, कपूर (कपूर
वृक्ष का गोद) और छोटी इलायची इन वस्तुओं को मुख में धारण करे ॥ ७५ ॥

स्नेह-गण्डूष के गुण—

हन्त्वोर्विलं स्वरवलं वदनोपचयः परः ॥ ७६ ॥

स्यात्परं च रसज्ञानमन्ने च रुचिरुत्तमा ।

न चाऽस्य-कण्ठ-शोपः स्यान्नौष्ठयोः स्फुटनाद्यम् ॥ ७७ ॥

न च दन्ताः क्षयं यान्ति दृग्मूला भवन्ति च ।

न शूल्यन्ते न चाम्लेन हृष्यन्ते भक्षयन्ति च ॥ ७८ ॥

परानपि खरान् भक्ष्यान् तैल-गण्डूष-सेवनात् ।

जबाड़ों को बल मिलता है, बाणी, स्वर, आवाज को बल प्राप्त होता है,
मुख, गाल आदि की वृद्धि, उत्तरि, रसों का ज्ञान भली प्रकार से होता है और
अन्न में भली प्रकार से भोजन के लिये रुचि होती है ।

स्नेह-गण्डूष अर्थात् तैल के गरारे करने वाले को गले में खुशकी, रुक्षता
नहीं होती और न ओठों के फटने की आशङ्का होती है । दाँत जल्दी गिरते भी
नहीं, अपितु और भी अधिक जड़ें मजबूत बन जाती हैं और न दाँतों में दर्द
होती है, और न खटाई से खड़े होते हैं, कठोर खाने की वस्तु को भी खा
सकते हैं ॥ ७६-७८ ॥

शिर पर तैल लगाने से लाभ—

नित्यं स्नेहाद्र्वशिरसः शिरःशूलं न जायते ॥ ७९ ॥

न खालित्यं न पालित्यं न केशः प्रपतन्ति च ।

बलं शिरः कपालानां विशेषेणाभिवर्धते ॥ ८० ॥
 दृढमूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णाः केशा भवन्ति च ।
 इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चामला ॥ ८१ ॥
 निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्धितं तैल-निषेवणात् ।

नित्य प्रति शिर पर तेल की मालिश करने से शिरःशूल (शिर का दुखना) नहीं होता, न बाल उड़ते हैं न गंजापन आता, न पालित्य अर्थात् बाल जल्दी श्वेत नहीं होते और बाल नहीं गिरते । शेर की अस्थियों का बल विशेष रूप से बढ़ता है और बालों की जड़ें मजबूत होती हैं, बाल लम्बे और काले हो जाते हैं । ऊँख कान आदि इन्द्रियाँ स्वच्छ, प्रसन्न हो जाती हैं, त्वचा स्वच्छ, निर्मल हो जाती है और सुख पूर्वक नींद आती है । शिर पर तैल लगाने से ये लाभ हैं ॥ ७६-८१ ॥

कान में तैल डालने से लाभ—

न कर्णरोगा वातोत्था न मन्या-हनु-संप्रहः ॥ ८२ ॥

नोच्चैः श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्तित्यं कर्णतपेणात् ।

नित्य प्रति कान में तैल डालने से वात जन्य कान के रोग, एवं 'मन्याग्रह' (ग्रीवा का जकड़ना) और 'हनुग्रह' (जवाड़ों का भिचना), उच्चैः श्रुति (ऊँचा सुनना), बाधिर्यं (बविरता, बहरापन) नहीं होता ॥ ८२ ॥

शरीर पर तैल लगाने की विधि—

स्नेहाभ्यङ्गाद्यथा कुम्भश्चर्चमं स्नेह-विर्मदनात् ॥ ८३ ॥

भवत्युपाङ्गादक्षश्च दृढः क्लेशसहो यथा ।

तथा शर्दारमभ्यङ्गाद् दृढं सुत्वकप्रजायते ॥ ८४ ॥

प्रशान्त-मारुतावादं क्लेशन्यायाम-संसहम् ।

स्पर्शने चाधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् ॥ ८५ ॥

त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात् शीलयेन्नरः ।

न चाभिधाताभिहतं गात्रमभ्यङ्गसेविनः ॥ ८६ ॥

विकारं भजतेऽत्यर्थं बलकर्मणि वा कचित् ।

सुस्पर्शोपचिताङ्गश्च बलवान् प्रियदर्शनः ॥ ८७ ॥

भवत्यभ्यङ्ग-नित्यत्वान्नरोऽल्पजर एव च ।

जिस प्रकार स्नेह, चिकनाई की मालिश से घड़ा और जिस प्रकार स्नेह के मर्दन से चमड़ा, और जिस प्रकार स्नेह के चुपड़ने से गाढ़ी का धुरा, दृढ़ (मजबूत) और क्लेशसह अर्थात् (दुःख कष्ट सहने योग्य हो जाता है) उसी प्रकार शरीर पर तेल मलने से शरीर भी दृढ़, मजबूत हो जाता है, त्वक्

(त्वचा, चमड़ी) अच्छी कोमल हो जाती है । वायु के रोग शान्त हो जाते हैं, और शरीर क्लेश कष्ट दुःख आदि, व्यायाम-परिश्रम सहन करने योग्य बन जाता है ।

अन्य श्रोतादि इन्द्रियों की अपेक्षा त्वचा में वायु का आधिक्य रहता है और सर्व ज्ञान भी त्वचा में ही आश्रित है, इसलिये अभ्यंग (तैल का मलना) त्वचा के लिये अति उपकारी है । इस लिये मनुष्य को चाहिए कि उसे करता रहे ।

तैल मर्दन करने वाले व्यक्ति के शरीर पर अभिधात (चोट) लगने पर भी विशेष कोई हानि नहीं आती; क्योंकि वायु शान्त हुई होती है, आघात जो कि वायु को कुपित करने वाला है वह भी वायु को कुपित नहीं कर सकता । इसी प्रकार कभी अचानक श्रम या मेहनत का काम करने से भी शरीर में विकार उत्पन्न नहीं होता ।

नित्य प्रति अभ्यंग (शरीर पर तैल मर्दन करने से) मनुष्य की त्वचा को मल, उत्तम स्पर्शज्ञान वाली, तथा पुश्प भरे हुए सुश्रद्धित अंगों वाला बलवान् एवं सुन्दर शरीर वाला हो जाता है । ऐसे मनुष्य को बुद्धापा भी जल्दी नहीं आता ॥ ८३-८७ ॥

पाँव में तैलमर्दन के गुण—

खरत्वं शुष्कता रौक्षयं श्रमः सुमिश्र पादयोः ॥ ८८ ॥

सद्य एवापशास्त्र्यन्तं पादाभ्यङ्ग-निषेवणात् ।

जायते साकुमार्यं च बलं स्थैर्यं च पादयोः ॥ ८९ ॥

द्वाष्टिः प्रसादं लभते मारुतश्चापशास्त्र्यति ।

न च स्युग्रैश्चसां-वाताः पादयोः स्फुटनं न च ॥ ९० ॥

न शिरा-स्नायु-संकाचः पादाभ्यङ्गं न पादयोः ।

पाँव में (खासकर पाँव के तनुओं पर तैल लगाने से खरत्व (खुखुरा पन), शुष्कता (सूखापन, फटना), रौक्षय (रूक्षता, रुक्खाई), श्रम (थकान) और पाँव की सुस्ति (सां जाना, स्तब्ध, जड़ सा हो जाना), शोष ही अच्छे हो जाते हैं । पाँव में तेल मर्दन करने से पाँव में कांमलता, सुकुमारता आ जाती है, पाँव बलवान्, स्थिर (न कांपने वाले) हो जाते हैं । इसके सिवाय आंख स्वच्छ, निर्मल हो जाती है, और वायु भी पाँव की शान्त हो जाती है । पाँव में तैल मालिश करने वाले व्यक्ति को न तो गृष्णसी रोग न पाँव का फटना (पादवारी, विवाई आदि रोग), और न शिरा या स्नायुओं का संकुचित होना (पाँव के ज्ञान तनुओं या मांस पेशियों का संकुचित होना) होते हैं ।

उबटन लगाना—

दीर्घन्धं गौरवं तन्द्रां कण्डूं मलमरोचकम् ॥ ६१ ॥

स्वेदं बीभत्सतां हन्ति शरीर-परिमार्जनम् ।

शरीर पर उबटन (वेसन आदि) मलने से शरीर की दुर्गन्ध, भारीपन, तन्द्रा (काम में आलस्य), खाज़, मल, अरुचि (भोजन में अनिच्छा), स्वेद, बीभत्सता (पर्सने की बदबू) नष्ट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

स्नान का फल—

पवित्रं वृद्ध्यमायुष्यं श्रम-स्वेद-मलापहम् ॥ ६२ ॥

शरीर-बल-संधानं स्नानं मोजस्करं परम् ।

नित्य प्रति स्नान करने से मनुष्य को पवित्रता, वृद्धता (पुरुषत्व), दीघांशु मिलती है । स्नान से थकावट, पर्सना और मल की हुर्दन्ध दूर हो जाती है । स्नान करने से शरीर का बल और ओज (तेज, कान्ति, दीपि) विशेष रूप में बढ़ता है ॥ ६२ ॥

('ओज' आठवीं धातु है । 'मजा' के सूक्ष्म भाग का शुक्राम्नि से पाक होने पर जो सूक्ष्मतम भाग बनता है, वही 'ओज' है । 'दृष्टि' का अन्तःस्वात (Internal secretain) का नाम 'ओज' है, जिसके कम होने से मनुष्य का तेज कम हो जाता है और जिसके नाश होने पर मनुष्य भी मर जाता है ।)

स्वच्छ वस्त्र पहिनने के गुण—

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीच्छं प्रहर्षणम् ॥ ६३ ॥

श्रीमत्पारिपदं शस्तं निर्मलाम्बर-धारणम् ।

निर्मल, स्वच्छ साफ वस्त्र पहिनने से मनुष्य को कमनीयता, सुन्दरता, यश, कीर्ति, दीघांशु मिलती है । स्वच्छ वस्त्र अलक्ष्मीच्छ अथात् दरिद्रता को दूर करता है और प्रहर्षण अथात् (चित्र को खुश करता है) । स्वच्छ वस्त्र राजाओं की सभा में भी प्रशंसित होता है ॥ ६३ ॥

गन्धमाला आदि के धारण करने के गुण—

वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ॥ ६४ ॥

सौमनस्यमलक्ष्मीच्छं गन्ध-माल्य-निषेवणम् ।

सुगन्धित पदार्थ, इत्र आदि और पुष्प माला आदि को धारण करने से मनुष्य को पुरुषत्व, सुगन्धि, दीघांशु मिलती है । इनके धारण करने से शरीर में कमनीयता, पुष्टि और बल आता है । माला के धारण करने से मन प्रसन्न रहता है और दरिद्रता का नाश होता है ॥ ६४ ॥

रत्न आभूषण आदि धारण करने से लाभ—

धन्यं मङ्गलमायुज्यं श्रीमद्वयसन-सूदनम् ॥ ६५ ॥

हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाऽभरण-धारणम् ।

रक्त हीरे आदि, आभरण इनसे या स्वर्ण आदि से बने आभूषण धारण करना धन्य अर्थात् भाग्यवान्, धनी होने का चिह्न है। इनका धारण करना मङ्गलकारी, दीर्घायु देने वाला एवं शांभा बढ़ाता है। इनके धारण करने से सब व्युत्पन्न, सर्प कांटादि की विपत्ति नष्ट हो जाती है। आभूषण इत्यादि को धारण करने से मन प्रसन्न होता है, सुन्दरता आती है और ओज, तेज, कांति बढ़ती है ॥ ६५ ॥

दीर्घायु के लिये आवश्यक शुचि कर्म—

मेध्यं पवित्रमायुप्यमलक्ष्मीक-विनाशनम् ॥ ६६ ॥

पादयोर्मलार्गाणां शौचाधानमभर्त्तिक्षणशः ।

बार-बार मल त्याग आदि के पीछे शुद्धि करने से अर्थात् पवित्र रहने से मेशा बुद्धि बढ़ती है, पवित्रता, दीर्घायु मिलती है और दरिद्रता एवं कलि (पाप या हुःख) का नाश होता है। इसलिए पांव और मल मार्ग गुद और उपस्थ, और शिर के सात छिद्र—दो नाक, दो कान, दो आंख और एक मुख इन सातों छेदों को बार-बार साफ करना चाहिये ॥ ६६ ॥

पौष्टिकं वृष्यमायुज्यं शुचि रूप-विराजनम् ॥ ६७ ॥

केश-श्मश्रु-नस्यादीनां कल्पनं संप्रसाधनम् ।

केश (शिर के बाल), श्मश्रु (दाढ़ी मूँछ) और नस आदि का काटना और इनका प्रसाद, शृंगार करने से पुष्टि, पुरुषत्व, दीर्घायु मिलती है एवं रूप भी सुन्दर, पवित्र बन जाता है ॥ ६७ ॥

जूता पहिनने का गुण—

चक्षुज्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम् ॥ ६८ ॥

बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम् ।

जूता पहिनना आँखों के लिये हितकारी, त्वचा के लिये लाभकारी, एवं कीड़े आदि से बचाता है और वक्त पराक्रम, सुख और पुरुषत्व को देता है ॥ ६८ ॥

छत्र धारण का गुण—

ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणसंकरम् ॥ ६९ ॥

घर्मनिलरजोऽम्बुद्धं छत्रधारणमुच्यते ।

छत्र धारण करना भावी हुःख को शान्त करने वाला, बलकारक, बुरे

प्रभावों से भली प्रकार रक्षा करता है। छाता धारण करने से धूप, बायु, धूल बरसात से बचता है ॥ ६६ ॥

दण्ड धारण के गुण—

स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम् ॥ १०० ॥

अवष्टमनमायुष्यं भयधनं दण्डधारणम् ।

दण्ड गिरते हुए को भली प्रकार से रोकता है, शत्रुओं का नाश करता है, बल में सहायता देता है, दीर्घायुष्य कारक और सांप आदि के भय को मिटाता है ॥ १०० ॥

संक्षेप से स्वस्थवृत्त—

नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी सदा ॥ १०१ ॥

स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ।

जिस प्रकार नगराधिगति राजा नगर की और रथी अपने रथ की रक्षा करता है उसी प्रकार मेधावी, (बुद्धिमान् मनुष्य) अपने शरीर के कर्तव्यों में सावधान रहे ॥ १०१ ॥

भवति चात्र—वृन्युयायान्निषेवते ये स्युर्धर्माविरोधिनः ।

शममध्ययनं चैव सुखमेव समश्नुते ॥ १०२ ॥

जो धर्म के अविरोधी कार्य हों उन उपायों का (जीविका के साधनों का) पालन करना चाहिये । शम (शान्त वृत्ति) और अध्ययन (वेदादि सद्ग्रन्थों का पठन), करने से मनुष्य को सुख मिलता है ॥ १०२ ॥

तत्र इलोकाः—मात्रा द्रव्याणि मात्रां च संश्रित्य गुरुलाघवम् ।

द्रव्याणां गर्हितोऽभ्यासो येषां येषां च शस्यते ॥ १०३ ॥

इस अध्याय में मात्रा को लक्ष्य करके द्रव्य, मात्रा, गुरु लघु का ज्ञान, निन्दित द्रव्य पदार्थ, और जिन जिन पदार्थों का अभ्यास करना चाहिये वे कह दिये हैं ॥ १०३ ॥

अञ्जनं धूम-वर्तिश्च त्रिविधा वर्तिं-कल्पना ।

धूमपान-गुणाः कालाः पानमानं च यस्य यत् ॥ १०४ ॥

व्यापत्ति-चिह्नं भैषज्यं धूमो येषां विगर्हितः ।

पेयो यथा यन्मयं च नेत्रं यस्य च यद्विधम् ॥ १०५ ॥

नस्य-कर्म-गुणा नस्तः कार्यं यज्ञं यथा यदा ।

भक्षयेद्वन्त-पवनं यथा यद्वद्गुणं च यत् ॥ १०६ ॥

यदर्थं यानि चाऽस्येन धार्याणि कवलप्रहे ।

तैलस्य ये गुणा दृष्टाः शिरस्तैलगुणाश्च ये ॥ १०७ ॥

कर्णतैले तथाऽभ्यङ्गे पादाभ्यङ्गे च मार्जने ।

स्नाने वाससि शुद्धे च सौगन्ध्ये रत्नधारणे ॥ १०८ ॥

शौचे संहारणे लोमनां पादत्र-च्छत्र-धारणे ।

गुणा मात्राशितीयेऽस्मिन् तथोक्ता दण्डधारणे ॥ १०९ ॥

अज्ञन, धूम वर्ति के तीन प्रकार, प्रायोगिक, वैरेचिक और स्नैहिक धूम की कल्पना, धूमपान के गुण, धूमगान के समय, धूमपान का परिणाम, धूप पान से होनेवाली हानियाँ और इन हानियों की 'भैपञ्च' (औषध), जिन पुरुषों के लिये धूम निन्दित है, वह जिस प्रकार से पीना चाहिये, नलिका जिस वस्तु और जिस प्रकार की बनी होनी चाहिये वह भी कह दिया है । नस्य कर्म्म के लाभ, उसके बनाने की विधि, नस्य लेने का समय एवं विधि, दन्त धावन के गुण, सुख में धारण करने यांग वस्तुएँ, तैलगण्डूष के गुण, घिर पर तेल लगाने के लाभ, कान में तेल डालने के गुण, पाँव में और शरीर में तेल लगाने के लाभ, उबटन, स्नान करने के लाभ, शुद्ध बछ माला आदि सुगन्धि द्रव्य, रत्न धारण करने के गुण, गुच्छ कर्म के, बालों को काटने, जूता छाता और दण्ड को धारण करने के गुण, लाभ यह सब इस 'मात्राशितीय' अध्याय में कह दिये हैं ॥ १०४-१०९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृद्धे
मात्राशितीयो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पष्ठोऽध्यायः ।

अथातस्तस्याशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'तस्याशितीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा है ॥ १-२ ॥

तस्याशिताद्याद्याराद् बलं वर्णश्च वर्धते ।

तस्यतुसात्म्यं विदितं चेष्टाऽहारव्यपाश्रयम् ॥ ३ ॥

परिमित मात्रा में भोजन करने वाले पुरुष के मात्रा में खाने-पीने से बल, वर्ण, कान्ति, सुख और आयुष्य बढ़ता है । मात्राशी पुरुष का सात्म्य शृद्धु के गुण के विपरीत चेष्टा, व्यायाम, अभ्यङ्ग आदि, आहार खाना-पीना, चाटना [के आश्रय पर ही श्रुतुओं का सात्म्य भी जाना जाता है ॥ ३ ॥

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विद्यात् । तत्राऽऽदित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतून् शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्थेत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च ॥ ४ ॥

इस संसार में संवत्सर (वर्ष) रूपी काल को छः ऋतुओं के विभाग से जानना चाहिये । जब भगवान् सूर्य उत्तरायण होते हैं, तब 'आदान' (ग्रहण) काल होता है । इससे शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म तीन ऋतुएँ बनती हैं और जब सूर्य दक्षिणायन हो तब 'विसर्ग' काल होता है । इससे वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतुएँ बनती हैं ॥ ४ ॥

विसर्गं च पुनर्वायद्वो नातिरूपाः प्रदान्तीतरे पुनरादाने, सोम-आव्याहतवलः शिशिराभिर्भास्मिरापूरयज्ञगदाप्यायर्यति शश्वन्, अतो विसर्गः सौम्यः । आदानं पुनराग्नेयं, तावेतावकवायू सोमश्च काल-स्वभाव-मार्ग-परिग्रहाताः । कालर्तु-रस-दोष-दृढ़-वल-निर्वैति-प्रत्यय-भूताः समुपदिश्यन्ते ॥ ५ ॥

'विसर्ग' काल में वायु बहुत अविक रूपी नहीं बहती और आदान काल में वायु बहुत रूप खुशक बहता है । क्योंकि विसर्गकाल में चन्द्रमा का बल परिपूर्ण होता है । इसलिये चन्द्रमा शातल किरणों से जगन् का पोषण करता है, जगत् को नित्य बद्धान् करता है । इसलिये विसर्गकाल सौम्य है ।

'आदान' काल आग्नेय (अग्नि तत्व प्रशान) है । इसलिये सूर्य, वायु और चन्द्रमा के समय स्वाभाविक मार्ग से चलते हुए काल, ऋतु, रस, दोष, और शारीरिक बल के बनाने में कारण होते हैं ॥ ५ ॥

तत्र रघिर्भास्मिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्त्रावलङ्घाश्चोपशोष-यन्तः शिशिर-वसन्त-ग्रीष्मेष्वृत्युपु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूपान् रसान् तिक्त-क्षयाय-कटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दीव्रेल्यमावहन्ति ॥६॥

आदान काल में सूर्य अपनी किरणों से संसार की स्तूपता को ले लेता है, इसलिये वायु तीव्र, तीक्ष्ण, रूखी, मुखाती हुई बहती है । इससे शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म में क्रमशः (शिशिर से अधिक वसन्त में, और वसन्त से अधिक ग्रीष्म में) रूपता उत्पन्न हो जाती है । इस रूपता के उत्पन्न होने से रूप रस, यथा—तिक (तीव्र), क्षय (कसैला) और कटु (कटुवा) रस बढ़ जाते हैं । इन रसों की वृद्धि से मनुष्यों के शारीर में निर्बलता आ जाती है ॥६॥

वर्षा-शरद्देवमन्तेष्वृत्युपु तु दक्षिणाभिसुखेऽकें काल-मार्ग-मेष-चात-वर्षाभिहृत-प्रतापे, शोशिनि चाव्याहतवले, माहेन्द्र-सलिल-प्रशान्तः

सन्तापे जगति, अरुक्षारसाः प्रवर्धन्तेऽमल-लवण-मधुराः, यथाक्रमं तत्र
बलमुपचीयते नृणामिति ॥ ७ ॥

वर्षा शरद् और हेमन्त ऋतु में जब सूर्य दक्षिणायन हो जाता है, काल के स्वाभाविक मार्ग के कारण, वादल, वायु, वर्षा के कारण सूर्य का तेज घट जाने से और सोम का बल कम न होने से, वया जल के कारण गरमी के शान्त हो जाने से संसार में अरुक्ष, स्निग्ध रस बढ़ते हैं। इससे अमृ, लवण और मधुर क्रमशः वया, शरद् और हेमन्त में बढ़ते हैं। इन रसों का बढ़ने से मनुष्यों का बल भी बढ़ जाता है ॥ ७ ॥

भवन्ति चाव - आदावन्तं च द्विवल्यं विसर्गादानयोर्नुगम् ।

मध्ये मध्यवल्ल त्वन्ते श्रेष्ठमग्र च निर्दशत् ॥ ८ ॥

शीते शीतानिल-स्वर्ण-संरुद्धो वलिनां वली ।

विशुग और आदान काल के आदि और अन्त में पुरुषों के शरीर में दुर्बलता आती है। यथा-विसर्ग के आदे काल वया में और आदान के अन्त समय ग्रीष्म ऋतु में मनुष्यों में दिव्यता रहता है। दोनों कालों के मध्य में (अर्थात् शरद् और वसन्त) समय बढ़ रहता है। विशुग के अन्त समय (हेमन्त में) और आदान काल के पद्धिले (पिशिर में) काल में मनुष्यों का बल श्रेष्ठ अर्थात् बढ़ा रहता है ॥ ८ ॥

पक्ता भवति हेमन्ते नक्ता द्रव्या-गुरु-ऋगः ॥ ९ ॥

स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तदा ।

रसं द्विस्त्रयतो वायुः शीतः शीते प्रकृप्यति ॥ १० ॥

नस्मात्तुषार-समयं मिनग्वाम्ल-लवणान् रसान् ।

ओदकानूप-मांसानां भेद्यानामुपयोजयेत् ॥ ११ ॥

बिलेश्यानां मांसानि प्रसादानां भूतानि च ।

भक्षयेन्मदिरां सीधुं सधु चानुपिवेन्नरः ॥ १२ ॥

गोरसानिष्ठविकृतीर्दिसां तेलं नवौदनम् ।

हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तोयमुष्णां चाऽऽयुने हीयते ॥ १३ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनं मूर्च्छिं तेलं जेन्ताकमातपम् ।

भजेद् भूमिगृहं चोष्णमुष्णं गर्भगृहं तथा ॥ १४ ॥

शीतेषु संवृत्ते सेव्यं यानं शयनमासनम् ।

हेमन्त काल की परिचर्या—हेमन्त रूपी शीत काल में ठण्डी वायु के अर्द्ध से जठराग्नि, शरीर से बाहर न निकल कर अन्दर ही रुक कर (जिस

प्रकार कि कुम्हार वर्तन पकाते समय या ईटों के भड़े में आग को अन्दर ही बन्द कर देते हैं, और वहाँ पर अग्नि तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार) प्रबल हो उठती है । इसलिये मनुष्यों की जठराग्नि काल स्वभाव से ही हेमन्त में प्रबल और अधिक मात्रा में भोजन को पचाने में समर्थ होती है । इस समय यदि जाठराग्नि को अग्नि बल के अनुसार अन्न रूपी आहार न मिले, तो शरीर के सौम्य (द्रव्य) भाग को नष्ट करने लगती है । इसलिये शीत काल में शीत गुण के बढ़ने से वायु भी बढ़ती है ।

इस वायु की वृद्धि को रोकने के लिये स्तिर्घ (मधुर), अम्ल और नम-कीन पदार्थ खाने चाहिये । चर्वी वाले जलचर प्राणियों का मांस रसे, बिल में रहने वाले (नकुल आदि) पशुओं का मांस, प्रसह (कुकुट आदि) पक्षियों का मांस खाना चाहिये, मांस खाकर ऊपर से मादिरा संधु (गुड़ की शराब) और मधु पीना चाहिये । दूध, दही, मावा आदि एवं गन्ने के रस से बनी खीर, राब, शर्करा आदि से बनी वस्तुएँ, बसा, तैल और नये चावल खाने चाहिये । हेमन्त काल में स्नान आदि में गरम पानी का व्यवहार करने वाले की आयु कम नहीं होती । तैलमर्दन, उबटन, शिर पर तैल लगाना, जेन्ताक (स्वेद,) धूप का सेवन, भूमि के नीचे बने तहखानों में रहना, घर के अन्दर घर बना उसे गरम करके रहना चाहिये, भली प्रकार घिरा हुआ घर हो, आसन या सवारी आदि करते समय खूब लिपटकर बैठे जिससे शीत न लगे ॥ ६-१४ ॥

प्रावाराजिन-कौशेय-प्रवेणी-कुथकास्तृतम् ॥ १५ ॥

गुरुष्णवासा दिग्धाङ्गो गुरुणाऽगुरुणा सदा ।

शयने प्रमदां पीनां विशालोपचित्तस्तनीम् ॥ १६ ॥

आलिङ्ग्याऽगुरुदिग्धाङ्गी सुप्यात्समदमन्मथः ।

प्रकामं च निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे ॥ १७ ॥

वर्जयेदन्नप्रानानि लघूनि वातलानि च ।

प्रवातं प्रसिद्धाहारसुदमन्थं द्विमागमे ॥ १८ ॥

भारी कम्बल, मूरग छाल (कौशेय) रेशम, (प्रवेणी) कम्बल, गहे इनको फैलाकर भारी और गरम कपड़ों को पहिनकर मनुष्य अङ्गों पर अगर का गाढ़ा लेप सदा करे । भरे शरीर वाली (दुबली-पतली नहीं), कामवती एवं उच्चत स्तनों वाली, अङ्गों पर अगर का लेप की हुई छी का आलिङ्गन करके हर्ष और कामेच्छा के साथ सोये । शिशिर जल्द मैथुन यथेच्छ सेवन करे ।

हेमन्त शृङ्ग में त्याज्य—लघु गुण वाले एवं वायुपकोपक आहार विहार हेमन्त शृङ्ग में छोड़ देने चाहिये । एवं सामने की वायु, थोड़ा खाना और पानी में घोलकर सत्त् खाना छोड़ देना चाहिये ॥ १५-१८ ॥

हेमन्तशिशिरे तुल्ये शिशिरेऽलं विशेषणम् ।

रौक्ष्यमादानजं शीतं भेद-मारुत-वर्षजम् ॥ १६ ॥

तस्माद्वैमन्तिकः सर्वः शिशिरे विधिरिष्यते ।

निवातमुण्णमधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत् ॥ २० ॥

कटु-तिक्त-कषायाणि वातलानि लघूनि च ।

वर्जयेदन्न-पानानि शिशिरे शीतलानि च ॥ २१ ॥

हेमन्त और शिशिर शृङ्गुँ प्रायः शीत वी इष्टि से समान हैं । परन्तु शिशिर काल में हेमन्त से इतना भेर है कि शिशिर का आदान काल होने से वायु रुक्ष होती है एवं वातल, वायु और वर्गसात शिशिर में अधिक होने से इस शृङ्ग में शीत अधिक होता है । इसलिये शिशिर शृङ्ग में हेमन्त की संपूर्ण विधि पालन करनी चाहिये । परन्तु शिशिर में हेमन्त से अधिक गरम और वायु रहित घरों में (खुली वायु जहाँ न आये) रहे । शिशिर काल में कटुवे, तिक्त, कसैले, वायुकारक और लघु तथा ठण्डे खान-पानको छोड़ दे ॥ १६-२१ ॥

वरन्त की शृङ्गु चर्याः—

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकुद्धाभिरीरितः ।

कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥ २२ ॥

तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत् ।

गुर्वस्त्र-स्निग्ध-मधुरं दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ॥ २३ ॥

व्यायामोद्वृत्तनं धूमं कवल-ग्रह-मञ्जनम् ।

सुखाम्बुना शौचविधि शीलयेत्कुसुमागमे ॥ २४ ॥

चन्दनागुरु-दिग्धाङ्गो यव-गोधूम-भोजनः ।

शारभं शाशमैयेयं मांसं लावक-पिञ्जलम् ॥ २५ ॥

भक्षयेन्निगदं सीधुं पिवेन्माधवीकमेव वा ।

वसन्तेऽनुभवेत्स्तीणां काननानां च योवनम् ॥ २६ ॥

हेमन्त काल में सञ्चित हुआ कफ सूर्य की किरणों से (धी के समान)

पिघल कर—द्रव बनकर शरीर की अग्नि को (धातुओं की अग्नि को नहीं)

कम करके कफजन्य बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है । इसलिये कफ को

कालने के लिये वसन्त शृङ्ग में बमन, शिरोविरेचन कार्य करने चाहिये ।

व्यायाम उबटन, धूमपान, कवल (गरारे करना) और अङ्गन लगाना चाहिये । स्नान एवं शौच कार्य में गरम पानी का व्यवदार करना चाहिये (पीनेमें नहीं) । शरीर पर चन्दन और अगर का लेप करना चाहिये, जो और गेहूँ, शरम बारहसींगे, खरगोश, हरिण, बटेर, कपिजल (कट फोड़ा) इनका मांस खाना चाहिये । कफ दोष नाशक सीतु या अंगूरों का बना शराब पीना चाहिये । वसन्त काल में युवतीं क्षियों आर जङ्गलों में मनोरंजन करे ॥ २२-२६ ॥

ग्रीष्मचययाः—

मयूरवर्जिगतः सारं ग्रीष्मे पेरीयते रविः ।

स्वादु शीतं द्रव्यं स्तिग्धजन्मानं तदा हितम् ॥ २७ ॥

शीतं सशक्करं मन्थं जाङ्गलान्मृगश्वेणः ।

घृतं पथः सशाल्यन्नं भजन ग्रीष्म न सीदति ॥ २८ ॥

मद्यमल्पं न वा पयमथया सुपूदूदकम् ।

लवणाम्ल-कटूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ॥ २९ ॥

दिवा शीतगृहं निद्रां निशि चन्द्रांशुरातले ।

भजेचन्दन-दिग्ग्राङ्गः प्रवाते हम्यनस्तक ॥ ३० ॥

व्यजन्नः पाणिसंस्पर्शवन्दनोदक-शोतलः ।

सेव्यमानो भजेदास्यां मुर्त्ताभणि-विभूषितः ॥ ३१ ॥

काननानि च शोतानि जलानि कुतुमानि च ।

ग्रीष्मकालं निपेवते मधुनाद्विरतो नरः ॥ ३२ ॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनों किरणों द्वारा संसार का सार लीचिता रहता है । इसलिये इस समय मोठा, ठण्डा द्रव पदार्थ पीना, निकने (धो आदि) खान पान हितकारी हैं । ठण्डे और शक्करा मिश्रित सत्तु खाने से, जंगली पशु-पक्षियों का मांस खाने से, धो और दूध के साथ चावल खाने से ग्रीष्म ऋतु में कष्ट नहीं होता । इस ऋतु में मद्य नहीं पीना चाहिये आर यदि पीना ही हो तो बहुत पानी मिलाकर पीना चाहिये । नमकीन, खट्टे, कडुके और गरम रस पदार्थ तथा व्यायाम इस ऋतु में छोड़ देना चाहिये । दिन के समय ठण्डे मकानों में सोना चाहिये और रात में चन्द्रमा की किरणों से ठण्डी की हुई मकान की छत पर खुली बायु में शरीर पर चन्दन मलकर सोना चाहिये । चन्दन और पानी से ठण्डे किये हुए पह्लों से या हाथ के स्पर्श से, मोती और

१ मन्थ—सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीत-वारिन्प्रिप्लुताः ।

नात्यच्छा नात्सान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते ॥

मणियों से शोभित होकर पलंग पर सोये । जङ्गलों को, ठण्डे पानी (शरने आदि) को और फूलों को ग्रीष्म काल में सेवन करे । ग्रीष्म ऋतु में मैथुन से अलग रहे ॥ २७-३२ ॥

वर्षा काल की ऋतुचर्या—

आदान-दुर्बले देहं पत्ता भवति दुर्बलः ।

स वर्षास्वनिलादीनां दूषणं वाच्यत पुनः ॥ ३३ ॥

भू-वाषपानं भवति स्थानदात्याकादम्लाजलस्य च ।

वर्षास्वर्वास्ववले दीप्तिः कुप्यन्ति पश्चात्यः ॥ ३४ ॥

तम्मात्मात्मारणः सर्वो विभिर्वर्षास्य ऋत्यते ।

उदमन्थं दिवान्प्रत्यावद्यार्थं नानाजलम् ॥ ३५ ॥

व्यायामजातपै चेद उद्दारं चात्र वर्जयेत् ।

पान-भोजन-स्त्रारान् प्राप्तः श्वासान्वय भास् भजेत् ॥ ३६ ॥

व्यक्ताम्ल-लवण-स्तंहं वा-वर्षाकुलेऽहनि ।

विशेषशीते भोक्तव्यं वर्षास्वनिल-शान्तये ॥ ३७ ॥

अग्निं संरक्षणद्वा दव-गोधूम-शालयः ।

पुराणा जाङ्गले मीसोंडिया शूपेश्च संस्कृतैः ॥ ३८ ॥

पिवेत्क्षीद्रान्वितं चालं मार्धाकारिष्टमम्बु दा ।

माइन्द्रं तप्तशीतं वा कौदं सारसमेव वा ।

प्रघर्षोद्दूर्तन-स्तान-गन्ध-माल्य-परो भवेत् ।

लघुशुद्धाम्बरः स्थानं भजेद्वक्तेदि वार्षिकम् ॥ ४० ॥

आदान काल में शरीर के निर्वल होने से अग्नि गां निर्वल हो जाती है ।

यह अग्नि वर्षा ऋतु में वातु, पित्त, कफ तीनों के दूषणों से दूर्पत हो जाती है । ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य की गरमा से भूमि के तप जाने से, वषां में बरसात पड़ने से, पानी के स्पर्श से, भूमि में से गरम भाप के निकलने से तीनों दोष कुपित हो जाते हैं, इसी प्रकार वादलों के बरसने से बात, कफ कुपित होते हैं, जल के अम्लपाक होने से पित्त कुपित होता है । वर्षा ऋतु में अग्नि-बल के क्षण होने से बात, पित्त कफ तीनों कुपित हो जाते हैं । इसलिये वर्षा में साधारण विधि का पालन करना चाहिये । पानी में बुला सत्, दिन में सोना, ओखा का पानी, समोग-मैथुन, धूप और व्यायाम इस ऋतु में नहीं सेवन करने

चाहिये । वर्षा काल में खान पान के अन्दर प्रायः करके शहद का उपयोग करना चाहिये । बरसात के दिनों में जिस दिन वायु और बरसात जोर का पड़ रहा हो और सर्दी बहुत हो, उस दिन वायु को शान्त करने के लिये अम्ल, लवण रस तथा स्नेह धी जिस अन्न में स्पष्ट दीवता हो, उसे विशेष करके खाना चाहिये । अग्नि की रक्षा करने के लिये जौ, गेहूँ, चावल (पुराने), जंगली-बन के पश्चाओं का मांस एवं धी आदि से संस्कृत युष खाने चाहिये । पित्त को शान्त करने के लिये थोड़ा शहद मिला माध्वीकारिष्ठ (द्राक्षासव), अथवा पानी में शहद (थोड़ा) मिलाकर पीना चाहिये । वर्षा ऋतु में या तो आकाश से गिरा स्वच्छ पानी पीना चाहिये अथवा कुएं या तालाब के पानी को गरम करके ठण्डा करके पीना चाहिये । तैल का मर्दन, उबटन लगाना, स्नान करना सुगन्ध धारण करना, माला पहिनना, हल्का और साफ् वस्त्र पहिनना, तथा सूखे स्थान पर रहना चलना आदि कार्य वर्षा ऋतु में करना चाहिये ॥३३-४०॥

शरद् ऋतु की परिचर्या—

वर्षा-शीतोचिताङ्गानां सहसैवार्करशिमभिः ।

तप्तानामाचितं पित्तं प्रायः शरदि कुप्यति ॥ ४१ ॥

तत्रान्नपानं मधुरं लघु शीतं सतित्तकम् ।

पित्त-प्रशमनं सेव्यं मात्रया सुप्रकाङ्गत्तैः ॥ ४२ ॥

लावान् कपिञ्जलान् हरिणानुरभ्राञ्छरभाञ्छशान् ।

शालीन् सयवगोधूमान् सेव्यानाहुर्घनात्यये ॥ ४३ ॥

तित्तस्य सर्पिषः पानं विरेको रक्तमोक्षणम् ।

धाराधरात्यये कार्यमातपस्य च वर्जनम् ॥ ४४ ॥

वसां तैलमवश्यायमौदकानूपमामिषम् ।

क्षारं दधि दिवास्वप्नं प्राग्वातं चात्र वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

वर्षा ऋतु में काल स्वभाव से संचित हुआ पित्त शरद् काल में बादलों के हट जाने से, सूर्य के किरणों के ताप से सहसा कुपित होता है । इसलिये इस ऋतु में मधुर, लघु, शीत और तिक, पित्तशामक खान पान परिमाण में खाना चाहिये । बटेर, कटफोडा, हरिण, मेढ़ा, बारहसींगा और खरगोश इनका मांस, चावल, जौ, गेहूँ इनको शरद् काल में खाना चाहिये । तिक औषधियों से संस्कृत धूत (पंचतिक धूत), विरेचन, रक्तमोक्षण, शिरावेध, जोक आदि से रक्त का निकलवाना और धूप का सेवन न करना ये काम बादलों के चले जाने पर शरद् ऋतु में करने चाहिये । इस ऋतु में चर्बी, तेल, खोल, जलचर प्राप्ति

का मांस, खार, दही दिन मे साना मामने मे आती हुई वा पुरवा वायु का
त्याग करना चाहिये । ४१-४५ ॥

हंसोदक का लक्षण—

दिवा सूर्यांशु-सन्नप्रं निशि चन्द्रांशु-शीतलम् ।
कालेन पकं निर्दोषमगस्त्येनाविपाकृतम् ॥ ४६ ॥
हंसोदकमिति ख्यात शारदं विमलं शुचि ।
स्नानपानावगाहयु हितममु यथाऽमृतम् ॥ ४७ ॥
शारदानि च माल्यानि वासांसि विमलानि च ।
शरत्काले प्रशस्यन्ते प्रवाणे चेन्दुरश्मयः ॥ ४८ ॥

दिन मे सूर्य की किरणा से गरम आर रात्रि मे चन्द्रमा की शोतल किरणों से ठण्डा होने वाला कालस्वभाव से पका हुआ अर्यात् वश का जल जिसमें न रहा हो; इससे दाप रहित; अगस्त्य नक्षत्र क उदय होने क प्रभाव से निर्मल, (विष रहित) पाना का हसादक (चन्द्रार्क) कहत है । यह हंसोदक शरद श्रृङ्खल मे निर्मल और पवित्र है । इसिये स्नान काय मे, पीने मे, अवगाहन, पानी मे बैठने आदि कावो मे उत्तम और अमृत के समान है । शरत्काल मे रात्रि के प्रथम प्रहर मे चन्द्रमा का किरणों का सेवन करना तथा शरत् कालीन मालावें, और निर्मल वस्त्र प्रशस्त है ॥ ४६-४८ ॥

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यज्ञोपाद्धार-न्यपाश्रयम् ।
उपशेते यदाचित्यादाकःसात्म्यं तदुच्यते ॥ ४९ ॥
देशनामामयाना च विपरीतगुणं गुणः ।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्वेष्टितं चायमेव च ॥ ५० ॥

(चेष्टा) किया आर आहार, खान विहार क आश्रित अयात् श्रृङ्खलों के अनुकूल जो कर्म है, वे कह दिये । पुरुष को प्रकृति के अनुसार जो उचित अनुकूल पड़ता है, उसे 'आकः-सात्म्य' कहते हैं ।

जो आहार या विहार देश (जागल आनूप और साधारण) एवं रोग इनके गुणों से विपरीत, गुण वाले होते है उस आहार विहार को 'सात्म्य' को जानने वाले विद्वान् 'सात्म्य' कहते है ॥ ४९-५० ॥

तत्र श्लोकाः—

ऋतावृतौ नृभिः सेव्यमसेव्यं यज्ञ किञ्चन ।
तस्याशितीये निर्दिष्टं हेतुमत्सात्म्यमेव च ॥ ५१ ॥
अप्रत्येक श्रृङ्खल मे मनुष्यों को क्या २ सेवन करना चाहिये और क्या २ नहीं

सेवन करना चाहिये; तथा कारण रूपसत्त्व को भी इस 'तस्याशितीय' अध्याय में कह दिया ॥ ५१ ॥

इत्यग्निवेदाकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
तस्याशितीयो नाम पठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो न वेगान्धारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मात् भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने का प्रतियेत करने के लिये 'न वेगान् धारणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं । जैसा भगवानात्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

न वेगान् धारयेद्धीमाञ्जातान्मूत्रपुरुषयाः ।

न रेतसो न वातस्य न बम्याः क्षवथान च ॥ ३ ॥

नोद्गारस्य न जूम्भाया न वेगान् छुतिपासयोः ।

न बाषपस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥ ४ ॥

एतान् धारयतो जातान् वेगान् रोगा भवन्ति ये ।

पृथक्कृशक् चिकित्सार्थं दन्ते निगदतः शृणु ॥ ५ ॥

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि उपस्थित हुए नूत्र मल के वेगों को नहीं रोके । इसी प्रकार शुक्र, अपान आदि वायु, वमन, छांक, डकार, जम्भाई, भूत और प्यास, हर्ष या शोक के कारण उत्पन्न आंखू; नोंद और श्रमजनित तीव्र प्रश्वास के वेगों को भी नहीं रोकना चाहिये । इन उपस्थित वेगों को रोकने से जो जो रोग होते हैं, उनकी चिकित्सा के लिये पृथक् पृथक् उपदेश करते हैं, सुनो ।

बस्ति-मेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ।

विनामो वड्क्षणानाहुः स्यालिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ६ ॥

मूत्र के उपस्थित वेगको रोकने से 'बस्ति' (मूत्राशय) और लिंग में दर्द होती है, मूत्र त्याग में कष्ट होता है, शिर में दर्द, मूत्र वेग के कारण खींच होने से शरीर शुक्र जाता है वंक्षण प्रदेश (पेढ़) जकड़ा हुआ प्रतीत होता है, अथवा उस प्रदेश में फुलाव प्रतीत होता है ये लक्षण मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने से होते हैं ॥ ६ ॥

इस की चिकित्सा—

स्वेदावगाहनाभ्यङ्गान् सर्पिषश्चावपीडकम् ।

मूत्रे प्रतिहते कुर्यात् त्रिविधं वस्तिकर्म च ॥ ७ ॥

(स्वेद) पसीना देना, (अवगाहन) गरम पानी की नाद में वेटना, (अस्यंग) तैल आदि मर्दन और धी का नस्य देना, तीन प्रकार का वस्ति कर्म (निरुहण, अनुवासन और उचर वस्ति) मूत्र के उपस्थित वेग को रुकने के प्रतीकार हैं ॥ ७ ॥

पक्षाशय-शिरःशूलं वात-वर्द्धनी-निरोधनम् ।

पिण्डकोद्ग्रेषुनाव्यामानं पुरांषे स्यादिधारिते ॥ ८ ॥

मल के उपस्थित वेग को रोकने से पक्षाशय अथवा नाभि के नीचे के भाग में और शिर में वेदना होती है, अगर वातु और मल बन्द हो जाते हैं, पिण्ड-लयों में घुटन होने लगती है, पेट में अपरा चढ़ जाता है ॥ ८ ॥

चिकित्सा—

स्वेदाभ्यङ्गावगाहनाभ्य वर्द्धयो दग्धिकर्म च ।

हितं प्रतिहते वर्चस्यन्नपानं प्रभात्य च ॥ ९ ॥

स्वेद पसीना देना, अस्यंग, अवगाहन (नाद वा टव आदि में स्नान), फलवर्त्ति, और वास्तिकर्म करे । विरचन द्रव्यों का धी और तैल आदि द्वारा चूर्ण, काथ, कल्कादि के रूप में बनाकर देना और वात को अनुलोमन करने वाली औषध मल के रोकने में हितकारी है ॥ ९ ॥

मेढे वृपणयाः शूलभङ्गमर्दी दृष्टि व्यथा ।

भवेत्प्रतिहते शुक्रं विदद्धं मूत्रमेव च ॥ १० ॥

वीर्य के उपस्थित देना को रोकने से लिंग और अण्डकोयों में वेदना होती है, अंग दूटते हुए प्रतीत होते हैं, चेतना के स्थान हृदय में वेदना अनुभूत होती है और मूत्र भी बन्द हो जाता है ॥ १० ॥ चिकित्सा—

तत्राभ्यङ्गावगाहन्य यदिरा चरणायुधाः ।

शालिः पया निरुहाश्च शस्तं मेथुनमेव च ॥ ११ ॥

तैलमर्दन, अवगाहन स्नान (द्राणीस्नान), मद्य, कुकुट का मांस, हैमन्तिक धान्य, दूध, वस्तिकर्म और मेथुन कर्म ये शुक्र वेग के निरोध से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा है ॥ ११ ॥

वात-मूत्र-पुरीपाणीं सङ्गो ध्यानं कलमो रुजा ।

जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिप्रहात् ॥ १२ ॥

अपान वायु के रोकने से, अपान वायु, मूत्र और पुरीष रुक जाते हैं ।

अफरा हो जाता है थकान की अंगों में प्रतीति होना, पेट में पीड़ा और अन्य वातजन्य रोग भी हो जाते हैं ॥ १२ ॥ चिकित्सा—

स्नेह-स्वेद-विधिस्त्र वर्तयो भोजनानि च ।

पानानि बस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम् ॥ १३ ॥

स्नेह (तैल) एवं स्वेद देना चाहिये, फलवर्तियाँ, वातनाशक खानपान और वातनाशक वस्तिकर्म उत्तम हैं ॥ १३ ॥

कण्डू-कोठ-रुचि-व्यञ्ज-शोथ-पाण्डवामय-ज्वराः ।

कुट-हङ्गास-वीसर्पाश्छर्दिन-निग्रहजा गदाः ॥ १४ ॥

वमन के रोकने से खाज, कोढ, भोजन में अनिच्छा, शार्द, मुखपर काले काले दाग आना, सूजन, पाण्डु रोग, ज्वर, कोढ, हल्लास (वमन की रुचि), जी मिचलाना, वीसर्प ये रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ चिकित्सा—

मुक्त्वा प्रच्छर्दनं धूमो लघ्ननं रक्तमोक्षणम् ।

रुक्षान्नपानं व्यायामो विरेकश्चात्र शस्यते ॥ १५ ॥

भोजन खिलाकर वमन कराना चाहिये, धूमपान, उपवास, शिराव्यधन करके रक्त का निकालना, रुचे अन्न और पान, व्यायाम और विरेचन ये उपाय उत्तम हैं ॥ १५ ॥

मन्यास्तम्भः शिरः-शूलमदितार्थावभेदकौ ।

इन्द्रियाणां च दोर्बल्यं क्षबथोः स्याद्विधारणात् ॥ १६ ॥

छींक के रोकने से ग्रीवा का जकड़ जाना, शिरोवेदना, चेहरे का लकवा, आधा सीसी, आँख आदि इन्द्रियों की निवृत्तता हो जाती है ॥ १६ ॥

तत्रोर्ध्वं जत्रुकेऽभ्यङ्गः स्वेदो धूमः सनावनः ।

हिंतं वातधनमाद्यं च घृतं चोत्तरभक्तिकम् ॥ १७ ॥

चिकित्सा—ग्रीवा से ऊपर के भागों में मालिश, पसीना देना, धूमपान नस्य, वातनाशक भोजन और खाना खानेके पीछे वृतपान करना हितकारी है ॥

हिंका श्वासोऽहुचिः कम्पो विवन्धो हृदयोरसोः ।

उद्गार-निग्रहात्तत्र हिंकायास्तुल्यमावधम् ॥ १८ ॥

डकार को रोकने पर हिंचकी का आना, श्वास, भोजन में अनिच्छा, सिर-छाती का कौपना, छाती और हृदय का रुक जाना ये रोग हो जाते हैं । चिकित्सा—डकार के रोकने से उत्पन्न विकार की शान्ति के लिये हिंचकी के समान औषध करनी चाहिये ॥ १८ ॥

विनामाक्षेपसङ्कोचाः सुमिः कम्पः प्रवेपनम् ।

जृम्भाया निग्रहात्तत्र सर्वं वातधनमौषधम् ॥ १९ ॥

जम्भाई के रोकने से शरीर का शुकना, आक्षेप अथात् हाथ-पौंब का जोर से कम्पन, पर्वसन्धियों का आकुब्बन, अङ्गों का सो जाना, (स्पृशे जान का अभाव), कौपना-दिलना आदि होता है । चिकित्सा के लिये वातनाशक उपचार करना चाहिये ॥ १६ ॥

काश्य-दीर्घल्य-वद्यग्वंज्ञमदाऽरुदिर्भेमः ।

क्षुद्रेग-निप्रहात्तत्र स्त्रियाद्य लुप्तु भोजनम् ॥ २० ॥

भूख रोकने से कृदाता, दुर्दृष्टा, रंग का ददृश जाना, अङ्ग-प्रत्यङ्गों में वेदना, उनका दूटने हुए प्रत्यक्ष गम, भोजन में अनिच्छा, चक्र अना ये लक्षण होते हैं । चिकित्सा—स्त्रेग (निप्रहात्त), शरन और दूल्हा, भोजन देना चाहिये ॥ २० ॥

कठास्य-शोपां वार्षिक श्रमः इवातो हृदि व्यथा ।

पिपासा-निप्रहात्तत्र शार्तं तपणानिष्टते ॥ २१ ॥

प्यास के रोकने से गले और मुख का खुशक हो जाना, वहरापन, थकान, श्वास, दम का चढ़ना, दृद्य प्रदेश में दर्द ये लक्षण होते हैं । चिकित्सा—थीतल, तृष्णि करनेवाले श्वानन्दान देने चाहिये ॥ २१ ॥

प्रतिश्यायोऽक्षिरागश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भेमः ।

बाष्प-निप्रहात्तत्र स्वप्ना भव्यं प्रियाः कथाः ॥ २२ ॥

ऑँसुओं के रोकने से नाक से पानी शरना, कफ का स्वाव होना, ऑँखों के रोग, दृद्य रंग, अनिच्छा और भ्रम, (तिरमें चक्र) आदि होते हैं । चिकित्सा—नींद, मदिरा का पान, आनन्ददात्रक भ्रिय वातचात करना चाहिये ॥ २२ ॥

जूम्भाऽङ्गमदस्तन्द्रा च शिरो-रोगाऽङ्ग-गौरवम् ।

निद्रा-विधारणात्तत्र स्वप्नः संवाहनाने च ॥ २३ ॥

नींद रोकने से जम्भाई, अङ्गों का दूटना (शरार में भारीपन), शिर की वेदना और ऑँखें भारी हो जाती हैं । चिकित्सा—नींद लाना, अङ्गों का संवाहन अथात् हाथों से अङ्गों को दबाना कल्याणकारी है ॥ २३ ॥

गुल्म-हृद्रोग-संमोहाः श्रम-निद्वास-धारणात् ।

जायन्ते, तत्र विश्रामो वातघ्नाश्च क्रिया हिताः ॥ २४ ॥

थकान से उत्पन्न निःश्वास को रोकने से गुल्म रोग, हृद-रोग, (मूर्छा) उत्पन्न होती है । इस के लिये विश्राम, (आराम) एवं उपचार करने चाहियें ॥ २४ ॥

वेग-निप्रहजा रोगा च एते परिकीर्तिः ।

इच्छुंस्तेषामनुत्यन्ति वेगानेताऽथ धारयेत् ॥ २५ ॥

उपस्थित वेगों को रोकने से उत्पन्न होने वाले जो ये रोग कहे हैं, रोगों की उत्पत्ति को न चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि वह इन वेगों को न रोका करे ॥ २५ ॥

इमास्तु धारयेद्वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च ।

साहसानामशस्तानां मनो-वाक्याय-कर्मणाम् ॥ २६ ॥

लोभ-शोक-भय-क्रोध-मान-वेगान् विधारयेत् ।

नैर्लज्जेष्वर्तिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥ २७ ॥

परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च ।

बाक्यस्याकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ॥ २८ ॥

देहप्रवृत्तिर्या काचिद्वृत्तं परपीडया ।

खीभोगस्तेय-हिंसादा तस्या वेगान्विधारयेत् ॥ २९ ॥

पुण्यशब्दो विपाप्त्वान्मनो-वाक्याय-कर्मणाम् ।

धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुज्ञते चिनोति च ॥ ३० ॥

इहलोक और परलोक की हित कामना करने वाले मनुष्य को चाहिये कि इन आगे कहे वेगों को धारण करे, जैसे—अयोग्य अनुचित साहस और मन वाणी और शरीर के निन्दित कर्मों के उपस्थित वेगों का रोके ।

मन के निन्दित कार्य जैसे—लोभ, अनुचित विषय में मन की प्रवृत्ति, (शोक) घन बान्धव आदि के कारण दुःख में मन की प्रवृत्ति, भय, क्रोध जितके कारण मनुष्य अपने को जलता हुआ प्रतीत करता है, (द्वेष) वैर, दूसरे के अपकार करने में मन की प्रवृत्ति, (मान) महत्व, अभिमान में मन की प्रवृत्ति, (जुगुप्तित) दूसरे की निन्दा, (निर्लज्जा) लजा का अभाव, (ईर्ष्या) कुढ़ना, (अभिध्या) दूसरे के द्रव्य को लेने की लालसा-बुद्धि, इन मन के निन्दित कार्यों को रोकना चाहिये ।

वाणी के निन्दित कर्म—कर्कश, कठोर विशेषतः दूसरे की निन्दा या अनिष्ट करने की इच्छा से झूटी और अप्रासंगिक वाणी को रोकना चाहिये ।

शरीर के निन्दित कर्म—दूसरे को दुःख देने की जो कोई शरीर की चेष्टा हो, उसे खी-भोग (पर-खीसम्भोग), स्तेय (चारा), हिंसा (दुःख कष्ट देना-, मारना) आदि शरीर कार्यों के उपस्थित वेगों का रोकना चाहिये ।

अपनी आत्मा के प्रतिकूल जो कार्य हों वे कार्य दूसरे के लिये ।

करने चाहिये । मनुष्य मन बचन और शरीर से पापरहित होकर ही 'पुण्य' शब्द का भागी होता है । उसमें 'पुण्य' शब्द तभी सार्थक होता है और तभी वह धर्म, अर्थ और काम इनको प्राप्त करता है, और सुख का भी भोग कर सकता है ॥ २६-३० ॥

व्यायाम—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यर्था बलवर्धिनी ।

देह-व्यायाम-संख्याता मात्रया तां समाचरेत् ॥ ३१ ॥

लाघवं कर्म-सामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेश-सहिष्णुता ।

दोषक्षयोऽभिवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते ॥ ३२ ॥

जो शारीरिक चेष्टायें शरीर की स्थिरता, दृढ़ता के लिये शरीर के बल को बढ़ाने की इच्छा से की जाती हैं, उनको 'व्यायाम' कहते हैं । इस व्यायाम को 'मात्रा' में सेवन करना चाहिये । व्यायाम के गुण—

व्यायाम करने से शरीर में हल्कापन, काम करने की शक्ति, शरीर एवं यौवन का टिकाऊपन, दुःख को सहन करने की शक्ति, वात आदि दोषों का शमन, जठराग्नि की प्रदीपि होती है । ॥३१-३२॥

अधिक व्यायाम से हानियाँ—

अमः क्लृमः क्षयस्तृष्णा रक्तपितृं प्रतामकः ।

अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छादिंश्च जायते ॥ ३३ ॥

शरीर का थकान, मन और इन्द्रियों का थकान धातुओं का क्षय, रक्तपितृ रोग, प्रतमक संशक श्वास, खांसी, ज्वर और वमन अधिक व्यायाम से उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

व्यायाम-हास्य-भाष्याध्व-ग्राम्यधर्म-प्रजागरान् ।

नोचिवानपि सेवेत बुद्धिमानतिमात्रया ॥ ३४ ॥

एतानेवंविधाश्चान्यान् योऽतिमात्रं निषेवते ।

गजः सिंहमिवाऽकर्षण् सहसा स विनश्यति ॥ ३५ ॥

उचिताद्विताद्वीमान् क्रमशो विरमेभरः ।

शरीर का परिअम, हँसना, झँचा या अधिक बोलना, (मार्ग चलना सफर करना), ग्राम्यधर्म, (मैथुन), प्रजागर (रात को जागना), इन उचित कार्यों को भी बुद्धिमान् मनुष्य अधिक मात्रा में सेवन न करे ।

इन ऊपर लिखे हुए या अन्य इसी प्रकार के कार्यों को जो मनुष्य अधिक

सेवन करता है, जिस प्रकार कि हाथी सिंह, को खींचता हुआ

पता है, उसी प्रकार वह मनुष्य भी नष्ट हो जाता है । इसलिये बुद्धि-

मान् मनुष्य को चाहिये कि छोड़ने योग्य उन दुःखदायी कर्मों से क्रमशः हट जावे ॥ ३४-३५ ॥

हितं क्रमेण सेवेत्, क्रमश्चात्रोपदिश्यते ॥ ३६ ॥

प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत् ।

एकान्तरं तत्त्वशोध्वं व्यान्तरं व्यन्तरं तथा ॥ ३७ ॥

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः ।

सन्तो यान्त्यपुनभावमप्रकम्प्या भवान्त च ॥ ३८ ॥

हितकारी कार्यों का (क्रमशः) सेवन करना चाहिये । यहां अब क्रम का उपदेश करते हैं । छोड़ने लायक (सच्च दरन योग्य) कार्य को चाहाइ भाग करके क्रम से सेवन करना चाहिये । फिर दो और पिर तीन भाग छोड़ कर ग्रहण करना चाहिये । अथात् छोड़ने योग्य एवं ग्रहण करने योग्य कार्य दोनों के चार चार भाग करने चाहिये । छोड़ने योग्य कर्म का एक भाग छोड़कर ग्रहण करने योग्य कर्म का एक भाग उसके स्थान पर ग्रहण करना चाहिये । फिर दो भाग छोड़ कर दो भाग ग्रहण करने चाहिये और पिर तीन भाग छोड़ कर तीन भाग ग्रहण करने चाहिये और पुनः सारा छोड़कर सारा ग्रहण कर लेना चाहिये । ग्रहण करते समय एक दो तीन चार दिन का अन्तर क्रम से देना चाहिये । छोड़ने योग्य कर्म को चतुर्थीश छोड़ कर ग्रहण करने योग्य कर्म का चतुर्थीश ग्रहण करे । इस प्रिधान को एक दिन बरते । तीसरे दिन छोड़ने योग्य कर्म के दो भाग छोड़ कर ग्रहण करने योग्य कर्म के दो भाग ग्रहण करे-इस प्रकार दो दिन करें । फिर तीन भाग छोड़कर ग्रहण करने योग्य कर्म के तीन भाग ग्रहण करे-इस प्रकार तीन दिन करे और फिर सारा कर्म छोड़कर समूर्ण का ग्रहण कर लेवे । ऊपर बताये हुए क्रम पूर्वक छोड़े हुए दोप फिर पैदा नहीं होते और क्रम से ग्रहण किये हुए गुण नष्ट नहीं होते, चिरकाल तक स्थिर रहते हैं । हितकारी पदार्थ भी सहसा उपयोग करने से अग्निनाश, अरुचि आदि करते हैं, इसलिये इनको भी क्रम से ही ग्रहण करना चाहिये । इन सब कार्यों में मनुष्य की प्रकृति का ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि कुछ कार्य ऐसे हैं जो कि एक के लिये अहितकारी हों, परन्तु दूसरे के लिये हितकारी ॥ ३६-३८ ॥

सम-पित्तानिल-कफाः केचिद् गर्भादि-मानवाः ।

दृश्यन्ते वातलाः केचिपित्तलाः श्लेष्मलास्तथा ॥ ३९ ॥

तेषामनातुराः पूर्वे, वातलाद्याः सदाऽतुराः ।

दोषानुशयिता ह्येषा देहप्रकृतिरुच्यते ॥ ४० ॥

विपरीत-गुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिहितः ।
सम-सर्व-रसं सात्यं समधातोः प्रशस्यते ॥ ४१ ॥

कुछ मनुष्य जन्म या गर्भकाल से ही पिता, बायु, कफ की असमानावस्था बाले होते हैं और कुछ मनुष्य गर्भाधान काल से ही बात प्रकृति बाले, पिता प्रकृति बाले और कफ प्रकृति बाले जोते हैं । इन में पिता बायु और कफ की साम्यावस्था बाले मनुष्य प्रायः नींग रहते हैं, और बात प्रकृति या पिता प्रकृति अथवा कफ प्रकृति के मनुष्य मदा रोगी रहते हैं । इन में बातादि दोषों का सात्य अर्थात् अनुकूल हो जाता है। शरीर की 'प्रकृति' कही जाती है । अर्थात् बात प्रकृति बाले मनुष्य में बात दोष उस के शारार के अनुकूल हो जाता है । इसलिये वही उसकी प्रकृति है, प्रकृति होने से बात उस में दोष नहीं, परन्तु जब स्वस्थावस्था में चान बढ़ेगा तभी दोष होगा । जिस प्रकार कि विषकीट अपने विष से नींग मरा, उसी प्रकार प्रकृतिस्थ बात से भी बात प्रकृति का मनुष्य पीड़ित नहीं होता । इन बात आदि की अविकता में बात आदि के विपरीत विरुद्ध गुणों का इनके कारणों के विपरीत गुण भी सेवन करना स्वास्थ्य के लिये कल्याणकारी उपाय है । और पिता, बायु और कफ की समानता बाली प्रकृति के मनुष्यों के लिये सब (मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कवाय) रसों का समानावस्था में अस्यास करना उच्चम है । समान धातुओं वाला आदमी प्रशस्त है ॥ ३६-४१ ॥

द्वे अधः सप्त शिरमि खानि स्वेदमुखानि च ।
मलायनानि वाध्यन्ते दुष्टर्मात्राधिकेमलैः ॥ ४२ ॥

मलवृद्धिं गुरुत्वेन लायवान्मलसंक्षयम् ।
मलायनानां बुद्धयेत सङ्घोत्सर्गादनीव च ॥ ४३ ॥

तान्दोपलिङ्गैरादिश्य व्याधीन् साध्यानुपाचरेन् ।

व्याधिं-हेतु-प्रतिद्रन्द्वेर्मात्रा-कालौ विचारयन् ॥ ४४ ॥

विषम-स्वस्थ-वृत्तानामेते रोगास्तथाऽपरे ।

जायन्तेऽनातुरस्तमात्स्वस्थ-वृत्त-परो भवेत् ॥ ४५ ॥

जब मल परिमाण से अविक हो जाते हैं, तब वे विकृत होकर मल के स्थानों को पीड़ित करते हैं, मल के स्थान नीचे के दो-गुदा और उपस्थ (खियों योनि भी); शिर में सात—दो नाक, दो कान, दो आंखें और एक मुख, नृनिकलने के सब छिद्र ये मल के स्थान हैं, मल इनको पीड़ित करते हैं । भूरीपन होने से मल की वृद्धि समझनी चाहिये और शरीर में हल्कापन

होने से मल का क्षय समझना चाहिये । मल के स्थानों से मल के न निकलने से मल का क्षय, मल स्थानों से मल का बार-बार अधिक बाहर निकलना बृद्धि को बताता है । मलों की बृद्धि और क्षय दूसरों के कारण हुए हैं, यह समझकर उनके चिन्हों से पहचानकर उन से उत्पन्न साध्य रोगों को रोग और व्याधि के देतु इन दोनों के विपरीत गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव से विशद् औषध, आहार और विहार द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । चिकित्सा करते समय वैद्य मात्रा औषध, आहार और विहार का परिमाण काल, दोष, व्याधि के प्रकोप, श्रद्धा, रात, दिन आदि समयों का विचार कर ले । ये विषम धातु वाले रोगी और नीरोगी इन दोनों के लिये हितकारी हैं, धातु की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोग और मानस या आगन्तुज रोग नहीं उत्पन्न होते । इसलिये मनुष्य रोगी नहीं होता, रोगी न हो अतः रोगी होने से पूर्व ही स्वस्थवृत्त का सेवन करना चाहिये ॥ ४२-४५ ॥

कारण से उत्पन्न होने वाले रोगों से बचने के उपाय—

माघव-प्रथमे मासि नभस्य-प्रथमे पुनः ।

सहस्य-प्रथमे चैव हारयेदोषसंचयम् ॥ ४६ ॥

स्त्रिग्ध-स्त्रिङ्ग-शरीराणामूर्ध्वं चाषश्च बुद्धिमान् ।

बस्तिकर्म ततः कुर्यान्नस्तः कर्म च बुद्धिमान् ॥ ४७ ॥

यथाकर्म यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।

रसायनानि सिद्धानि बृद्ध्ययोगाश्च कालविन् ॥ ४८ ॥

रोगास्तथा न जायन्ते प्रकृतिस्थेषु धातुषु ।

धातवश्चाभिवर्धन्ते जरा-मान्द्यमुपैति च ॥ ४९ ॥

विधिरेष विकाराणामनुत्पत्तौ निदर्शितः ।

निजानामितरेषां तु पृथगेवोपदिश्यते ॥ ५० ॥

वैशाख और इस से पूर्व के मास अर्थात् चैत्र में, और भाद्रपद, इससे पूर्वके मास अर्थात् श्रावण में तथा पौष इससे मास पूर्व के मार्गशीर्ष में एकत्रित दोषों को बमन विरेचन आदि से निकाल देना चाहिये । इमन्त श्रद्धा में संचित कफ को चैत्र मास में ग्रीष्म में संचित वायुको श्रावण मास में, वर्षा में संचित पित्त को मार्गशीर्ष में निकाल देना चाहिये । इन मासों में दोषों के प्रकोप होने का भय रहता है, इसलिये प्रकोप होने से पूर्व ही दोषों को निकाल देना चाहिये । पहिले शरीर को त्वि और आदि से चिकित्सा करके पसीना देना चाहिये जिससे कि शरीर के ग्रे-

जायें । स्नेहन और स्वेदन के पीछे वमन कार्य और विरेचन करना चाहिये । इन के पीछे बस्ति कर्म और अन्त में नस्य कर्म अर्थात् शिरोविरेचन देना चाहिये । स्निग्ध और स्विन्ध शरीर वाले पुरुषों के लिये वमन कफ नाशक होने से चैत्र में, अनुवासन, बस्तिकर्म वात हर होने से श्रावण मास में एवं पित्त-नाशक होने से विरेचन मार्गशीर्ष मास में लेना चाहिये । अथवा चैत्र मास में वमन के पीछे विरेचन, मार्गशीर्ष में विरेचन से पूर्व वमन और फिर चैत्र और मार्गशीर्ष दीनों में बस्तिकर्म एवं नस्य कर्म करना चाहिये । चैत्र में यदि वमनादि कार्य कर लिए हों तो श्रावण मास में अनुवासन और आस्थापन करना चाहिये । और यदि चैत्र में वमनादि न किये हों तो वमन विरेचन करके फिर बस्तिकर्म और नस्य कर्म करना चाहिये । स्नेह के पीछे स्वेद, स्वेद के पीछे वमन, वमन के पीछे विरेचन, विरेचन के पीछे बस्तिकर्म और बस्तिकर्म के पीछे नस्य देना चाहिये । प्रथम स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति आंदर नस्य कर्म ये क्रमशः तथा जिस पुष्टि के लिये जो २ कर्म योग्य हों उन्हें करने के पीछे जरा और रोग को दूर करने वाली औपध का उपयाग करना चाहिये । रसायन सेवन के पीछे सिद्ध एवं वृद्ध योषिक प्रयोगों का सेवन समय को जानने वाला वैद्य करावे । रस रक्तादि धातुओं के प्रकृतिस्थ होने से शरीर में दोषजन्य रोग नहीं होते । वृद्ध आदि किया करने से रस रक्तादि बढ़ते हैं और बुद्धापे का अन्त हो जाता है, बुद्धापा नहीं आता । यह उपरोक्त विधि शरीर-दोषजन्य रोगों को अनुत्पत्ति के लिये कहा है । आगन्तुक रोगों के लिये भिन्न विधि कहते हैं ।

ये भूत-विष-वायवग्नि-संप्रहारादि-संभवाः ।

नृणामागन्तबो रोगाः प्रक्षाते द्वपराध्यति ॥ ५१ ॥

ईर्ष्या-शोक-भय-क्रोध-मान-द्वेषाद्यश्च ये ।

मनो-विकारारंतेऽप्युक्ताः सर्वे प्रक्षापराधज्ञाः ॥ ५२ ॥

जो कि (भूत) नाना सूक्ष्म प्राणी ग्रह आदि, (विष) स्थावर या जंगम विष, (वायु) ज्ञानावात्, (अग्नि) ज्वालामुखो, दावानल आदि (संप्रहार) चौट आदि से मनुष्यों के 'आगन्तुज' अर्थात् बाहर से होने वाले रोग होते हैं, उन में बुद्धि का अपराध मिथ्या या अन्यथा रूप में प्रयोग हुआ होता है ।

'सत्त्वर), शोक, भय, क्रोध, अभिमान, द्वेष आदि मन के विकार अर्थात्

वात आदि दोषजन्य नहीं प्रत्युत ये सब बुद्धि के दोष से ही उत्पन्न

आगन्तुज रोगों के प्रतीकार—

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।
देश-कालात्म-विज्ञानं सद् वृत्तम्यानुवर्त्तनम् ॥ ५३ ॥
आगन्तुनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः ।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्द्रुतं विद्याद्यदात्मनः ॥ ५४ ॥
आपोपदेश-प्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम् ।
विकाराणामनुत्पत्तावृत्पन्नानांश्च शान्तये ॥ ५५ ॥

आगन्तुज एवं मानसिक रोग बुद्धि के दोष से उत्पन्न होते हैं, इस लिये इस प्रशापराध को छोड़ना चाहिये । इन्द्रियों को कियों से रोकना बुद्धि, स्मृति, भगवान् का स्मरण, देश काल और आत्मा या चिन्तन, (सद् वृत्त) सञ्चे, कल्याणकारी मार्ग का अनुसरण करना, यह विधि आगन्तुज रोगों की उत्पत्ति से बचने का मार्ग है । इस प्रकार वरतने से आगन्तुज रोग उत्पन्न नहीं होते । बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि अपने लिये जो हितकारी काम हों उनको रोगों-त्पत्ति से पूर्व ही करे ।

(आपोपदेश) रजस और तमस से मुक्त निर्भान्त विद्वानों के उपदेश और (प्रश्न) बुद्धि से सिद्ध, प्रमाण द्वारा सिद्ध किये, बुद्धि से स्वीकार किये ये दोनों मानसिक विकारों की अनुत्पत्ति में तथा उत्पन्न विकारों की शान्ति में कारण है ॥ ५३-५५ ॥

बर्जने योग्य मनुष्य—

पाप-वृत्त-वच्चः सन्त्वाः सूचकाः कलह-प्रियाः ।
मर्मोपहासिनो लृघ्वाः पर-बुद्धि-द्विषः शठाः ॥ ५६ ॥
परापवाद-रत्यश्वपला रिपु-सेविनः ।
निर्दृष्णास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नरावमाः ॥ ५७ ॥

जिनकी वाणी और मन पापमय हों, त्रुगलखोर, शगड़ाल्, कमजोरी या छिद्र को हूँढ़कर उस पर हँसनेवाले, लालची, जो दूसरी की उच्चति में द्वेष भाव रखते हैं, दूसरों की निन्दा ही करना जिनका काम है, चंचल प्रकृति, अस्थिर मन, हुश्मन से मिले हुए, या काम क्रोधादि के वशीभृत, दयारहित, निर्देयी, धर्म से न डरने वाले, ऐसे नीच पुरुषों को छोड़ देना चाहिये ॥ ५६-५७ ॥

सेवन करने योग्य मनुष्य—

बुद्धि-विद्या-बयः-शील-धैर्य-स्मृति-समाधिभिः ।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञा गत-न्यथाः ॥ ५८ ॥

सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसित-न्त्रताः ।
सेव्याः सन्मार्ग-वक्तारः पुण्य-श्रवण-दर्शनाः ॥५६॥

जो बुद्धि, विद्या, आयु, शील, स्वभाव, धैर्य साहस, स्मरण शक्ति, (समाधि) मन का संयम आदि में अपने से बड़े हों, जो बृद्धों की सेवा करते हों, स्वभाव को जानने वाले, अनुज्ञाती, जिनको कि किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, सुमुख-सब प्राणियों के लिये प्रश्नपूछन, (प्रशान्त) इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त, ब्रह्मचारी, सब्दे मार्ग का उपदेश करने वाले, पुण्य शब्दों को सुनाने वाले एवं पुण्य दर्शनशील, जिनका शहद और दर्शन पवित्र करता है, इस प्रकार के आस पूरपां का सेवन करना चाहिये, उनको गृह मनना चाहिये, ये ज्ञान, विज्ञान, धैर्य : मृति आदि की विकाश देकर मानस रागों को नष्ट कर सकते हैं ॥

आहाराऽऽधार्यचेष्टानु सुवार्थी प्रेत्य चेद च ।
परं प्रयत्नमानिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने ॥ ६० ॥
न नक्तं दधि भुज्ञात न चाप्यनृत-शर्करम् ।
नामुदगसूपूर्णं नाक्षीद्रं नोण्णं नाऽमलकविना ॥ ६१ ॥
(अलक्ष्मा-दोष-युक्तत्वान्तर्कं तु दधि वर्जितम् ।
इष्टेष्मलं स्यात्सर्पिष्ठं दधि मारुत-सूदनम् ॥ ६२ ॥
न च सन्धुश्वयेत्पित्त माहारं च विपाचयेन् ।
शर्करा-संयुतं दयात्तप्पा-दाह-निवारणम् ॥ ६३ ॥
मुदगसूपेन संयुक्तं दयाद्रक्तानिलापहम् ।
सुरसं चाल्पदोषं च क्षोद्रयुक्तं भवेद्धधि ।
उच्छं पित्तास्तकृदोपान् धात्रीयुक्तं तु निहरेत् ॥ ६४ ॥
ज्वरासृक्षिप्त-वीसर्प-कुष्ठ-पाण्डवामय-श्रमान् ।
प्राप्नुयात्कामलां चोप्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः) ॥ ६५ ॥

इहलोक और परलोक में सुख चाहने वाले बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि हितकारी आहार, खान पान, आचार वर्तन और चेष्टा-क्रियाओं इन में विशेष रूप से यत्नवान् रहे ।

रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये, और रात के सिवाय अन्य समय में जब खाना हो तब भी धी या शकर के बिना, मूँग की दाल के बिना, शहद के बिना किये बिना, अथवा आंवले के बिना नहीं खाना चाहिये । जब खाना हो चुप्पा, शहद, आंवला इन के साथ या गरम करके खाना चाहिये । रात भी प्रकार से नहीं खाना चाहिये । रात्रि में दही खाने से शरीर की

इलेष्मा और स्वास्थ्य नष्ट हो जाते हैं और शरीर के दोष कुपित होते हैं । दही में भी मिलाने से दही कफकारक हो जाता है, परन्तु वायु का नाश करता है । शर्करा युक्त दही 'पिच्च' (जटरायन या पिच्च को) नहीं बढ़ाता, परन्तु आहार भोजन को पचा देता है । इस लिये तृष्णा, प्यास और कलेजे की जलन को मिटाता है । मूँग के साथ मिलाकर दही खाने से 'वातरक्त' रोग में लाभ होता है । शहद के मिलाने से दही सुस्वाद और थोड़ा दोष बाला हो जाता है । दही को गरम करके खाने से रक्पित्त जन्य विकार नष्ट होते हैं, आंबले के साथ खाने से भी रक्त पित्त रोग शान्त होता है । बहुत दही खाने वाला मनुष्य जो इस उपरोक्त विधि को छोड़ कर दही खाता है, उसको ज्वर, रक्पित्त, बीसर्प, कुष्ठ, पाण्डुरोग, भ्रम, और तीव्र कामला रोग हो जाते हैं ॥ ६०-६५ ॥

तत्र इलोकाः—

वेगा वेगसमुत्थाश्च रोगास्तेषां च भेषजम् ।
 येषां वेगा विधार्याश्च यदर्थं यद्विताहितम् ॥ ६६ ॥
 उचिते चाहिते वज्र्ये सेव्ये चानुचिते क्रमः ।
 यथाप्रकृति चाऽहारो मलायनगदौषवम् ॥ ६७ ॥
 भविष्यतामनुत्पत्तौ रोगाणामौषधं च यत् ।
 वज्र्याः सेव्याश्च पुरुषा धीमताऽर्थम्-सुखार्थिना ॥ ६८ ॥
 विधिना दधि सेव्यं च येन यस्मात्तदत्रिजः ।
 न वेगान्धारणेऽध्याये सर्वमेवावदन्मुनिः ॥ ६९ ॥

मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक वेग, वेगों को रोकने से उत्पन्न होने वाले रोग, इन रोगों की औषध, जिन उपस्थित वेगों को धारण करना चाहिये, जिस के लिये जो लाभकारी है, उचित एवं अहितकारी, छोड़ने योग्य और सेवनीय क्रम प्रकृत के अनुसार आहार, मलस्थान मल की बुद्धि, क्षय, औषध, भविष्य में न होने वाले रोगों की औषध, सुख चाहने वाले बुद्धिमान् मनुष्य को जिन पुरुषों को छोड़ना या जिनका सेवन करना उचित है, और दही को सेवन करने की विधि यह सब आत्रेय मुनि ने 'न वेगान्धारणीय' नामक अध्याय में समूर्ण रूप से उपदेश किया है ॥ ६६-६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंकृते सूत्रस्थाने स्वस्थवृत्तचतुष्के
 'न वेगान्धारणीयो' नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथात इन्द्रियोपकमणीयमध्यार्यं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माईह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

आद्वार एवं 'स्वस्थ-चतुष्क' कहने के अनन्तर 'इन्द्रियोपकमणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे ॥ ३ ॥

इस आयुर्वेद के प्रकरण में पाँच इन्द्रियों हैं । पाँच ही इन्द्रियों के ग्राह्य द्रव्य हैं । पाँच ही इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं । पाँच ही इन्द्रियों के अर्थ, पाँच प्रकार की इन्द्रियों का ज्ञान है ऐसा पूर्वाचार्यों ने इन्द्रियों के विषय में कहा है ॥

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसञ्ज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसंपत्त-दायत्त्वेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ ४ ॥

'मन' अतीन्द्रिय अथात् इन्द्रियों में सूक्ष्मतम है वह इसी मन को 'सत्त्व' कहते हैं । इसी मन को कितने 'कित्त' इस नाम से कहते हैं । वह मन अपने विषय और अत्मा इन की श्रेष्ठता के अधीन व्यापार वाला है और इन्द्रियों की चेष्टाओं का कारण है । एवं इन्द्रियों की चेष्टाओं, व्यापार वा प्रतीति का कारण मन ही है ॥ ४ ॥

स्वार्थेन्द्रियार्थ-संकल्प-ल्यभिचरणाचानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वम्, रजस्तमः-सत्त्व-गुण-योगाच; न चानेकत्वम्, नद्येकं ह्येकालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैक-काला सर्वेन्द्रिय-प्रवृत्तिः ॥ ५ ॥

बास्तव में 'मन' एक ही है, परन्तु इन्द्रियों के अपने २ द्रव्य में विषय के संकल्पों के बदलते रहने से एक पुरुष में अनेक मन एवं मन के सत्त्व गुण होने पर, सत्त्व, रजस्, तमस् इन गुणों के न्यूनाधिक होने से अनेक मन एकही मनुष्य में प्रतीत होते हैं । बास्तव में मन एक ही है अनेक नहीं है । क्योंकि एक ही समय में एक मन अनेक इन्द्रियों में प्रवृत्त नहीं हो सकता इसलिये एक ही समय में सब इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ चेष्टा नहीं होती ॥ ५ ॥

एवं गुणं चाभीक्षणं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वम्, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति योग्यहत्यानुशयाम् ॥ ६ ॥

लिपि गुण (सत्त्व, रजस् या तमस्) वाला मन बार बार अनु-

सरण करता है, मन को उसी ही गुण वाला सुनि लोग कहते हैं। क्योंकि जिस गुण की अधिकता होगी उसी गुण वाला मन होगा ॥ ६ ॥

मनः-पुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थ-ग्रहण-समर्थानि भवन्ति ॥ ७ ॥

इन्द्रियां मन को साथ में लेकर ही विषय के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

बिना मन के इन्द्रियां विषय को ग्रहण नहीं कर सकती ॥ ७ ॥

तत्र चक्षुः श्रोत्रं द्वाणं रसतं स्पर्शीत्समिति पठ्चेन्द्रियाणि ॥ ८ ॥

पञ्चेन्द्रियशुद्ध्याणि—खं वायुज्योतिरादो भूरति ॥ ९ ॥

पञ्चेन्द्रियाश्रितानानि अश्रिणी कर्णो नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥१०॥

पठ्चेन्द्रियार्थाः—शब्द स्पर्श-रस गत्वा ॥ ११ ॥

आंख, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा और त्वक्का ये पांच इन्द्रियां हैं। पांच इन्द्रियों के पांच ग्राहण पदार्थ हैं, तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल आर पृथिवी। इन्द्रियों के पांच अधिष्ठान हैं, तथा चक्षु गोलक ढों, दोनों वाह्य कान, जीभ, दोनों नासिकायें और त्वक्का। इन्द्रियों के पांच विषय हैं:—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्द्रिय-ज्ञान भी पांच प्रकार का है:—चक्षुज्ञान, श्रोत्र-ज्ञान, गत्वा-ज्ञान, रस ज्ञान और रसय-ज्ञान ॥ ८-११ ॥

पञ्चेन्द्रियशुद्ध्याणि ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वा-त्वसंनिकर्पजाः क्षणिका नित्यतत्त्वपञ्चकम् ॥१२॥

ये पांचों इन्द्रियों के विषय, मन और आत्मा इनका एक साथ संयोग होने से उत्पन्न होते हैं। यह और ही क्षणिक निश्चयात्मक (स्थायी ज्ञान) है। इस प्रकार से ये पांच-पांच पदार्थों के समूह होते हैं ॥ १२ ॥

मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्म-द्रव्य-गुण-संत्रिदःशुभाशुभ-प्रवृत्तिनिवृत्ति हेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति ॥ १३ ॥

मन, मन के अर्थ (विषय), बुद्धि और आत्मा यह अध्यात्म द्रव्यों का और गुणों का संग्रह है। तथा जो कर्म द्रव्य में आश्रित है उसे क्रिया कहते हैं। 'शुभ' दोनों लोकों में कल्याणकारी, अशुभ (लोकों में निन्दित), प्रवृत्ति, निवृत्ति ये कारण हैं ॥ १३ ॥

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूत-विकार-समुदायात्मकानामपि स-तामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, द्वाणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपदिश्यते ॥ १४ ॥

अनुमान द्वारा जानने योग्य इन्द्रियां पंचमहाभूतों के विकार के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई हैं तो भी, तेज आंखों में, आकाश श्रोत्रों में, पृथिवी जल में और जल रसना में और वायु त्वक्का में विशेष रूप से रहते हैं ॥ १४ ॥

तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुधावति,
तत्स्वभावाद्विभूत्वाच ॥ १५ ॥

इनमें जो जो इन्द्रियों, जिन जिस रूप से बनो हैं वे विशेष रूप से उसी उसी (भूत) से बने अर्थ (विप्रय) का ग्रहण करती हैं । ये अपने समान स्वभाव वाली होने से उसान जनितारी विप्रय को ग्रहण करने में समर्थ होने ने प्रथान भूतात्मक विप्रय को ही ग्रहण करना है । यथा आंख दैजस है, इसलिये वह तेज का आर दौड़ती है, कान अन्तर्क्ष जन्म है इसलिये शब्द का ओर दौड़ते हैं । हरर्दी नाड़ी होती है और तु की ओर, जिहा अप्प है इसलिये रत का ओर और आप पर्विन होने के अधिकार का अंतर दौड़ती है ॥ १५ ॥

यदर्थातियोगायोग-सिद्ध्यायामात्मनस्तमिन्द्रियं विकृतिमापद्यमानं
यथास्वं बुद्ध्यचूपवाताय चंपद्यते, भमयोगात्मपुनः प्रकृतिमापद्यमानं
यथास्वं बुद्धिमाप्याययति ॥ १६ ॥

इनमें मन के साथ इन्द्रिय का निपत में अतियोग, अयोग, या मिथ्यायोग होने से 'विकृति' अथात् रोग उत्पन्न होकर अपने अपने ज्ञान के नाश के लिये उद्यत हो जाता है । रमयोग से इन्द्रिय स्वभाव में रहकर अपने ज्ञान की बुद्धि करती है । सगान अथात् उपर्युक्त योग से बुद्धि होती है ॥ १६ ॥

मनसस्तु चिन्त्यसर्थः, न व भमयोग तु द्वय त एव समाप्ताति हीन-
मिथ्यायोगः प्रकृतिनविकृत-हेतुयोग भद्रन्ति ॥ १७ ॥

मन का विप्रय चिन्त्य करना है (नव, दुःख, प्रयत्न आदि चिन्तनीय होने से मन के विप्रय हैं) । इसलिये मन आर बुद्धि का समान योग स्वस्थता कारण है और मन एवं बुद्धिका अतियोग वा हीनयोग अथवा मिथ्यायोग विकृति अथात् 'विकार' वा रोग का कारण है ॥ १७ ॥

तत्रेन्द्रियाणां समनस्तानामनुपत्तापाय प्रकृतिभावे प्रय-
तितव्यमेभिर्हेतुभिः । तद्यथा—सात्म्येन्द्रियार्थं संयोगेन, बुद्ध्या सम्यग-
वेक्ष्यावेक्ष्य करणां सम्यकप्रतिपादनेन, देशकालात्मगुणावेपरीतोपसेव-
नेन चेति । तस्मादात्महितं चकीषेता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय
सद्बृत्तमनुष्ठेयम् । तद्यथनुष्ठितं युगपत्संपादयत्यर्थद्वयमारोग्यमिन्द्रि-
यविजयं चेति ॥ १८ ॥

इसलिये अपनी प्रकृति में स्थित मन सहित इन्द्रियों को स्वस्थ तथा अपने स्थेषु रखने के लिये, विकृति से बचाने के लिये निम्न कारणों द्वारा प्रयत्न
। उचित अनुकूल रूप से इन्द्रिय और विषय के संयोग न अति,

न हीन और न मिथ्यासंयोग से, एवं बुद्धि द्वारा भली प्रकार देखकर कर्मों को उचित रूप में करने से और देश, काल, आत्मा के गुण के अविपरीत, हितकारी वस्तुओं के सेवन करने से इन्द्रियां उपतप्त न होकर प्रकृति अवस्था में रहती हैं। इसलिये अपना या अपने शरीर का ओर आत्मा का कल्याण चाहने वाले उबे पुरुषों को सदा स्मरण रखकर सद्वृत्त का (पांचों इन्द्रियों को मन के साथ संयुक्त करके) मन, वचन और कर्म से पालन करना चाहिये ।

इस सद्वृत्त के पालन करने से आरोग्यता एवं 'इन्द्रियविजय' दोनों कार्य एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ १८ ॥

तत्सद्वृत्तमस्तुलेनोपदेक्ष्यामः । तदथा—देव-गो-ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-
सिद्धाचार्यार्थार्थयेत्, अग्निमुपाचरेत्, ओषधीः प्रशस्ता धारयेत्, द्वौ
कालावृपस्थृतेत्, मलायनेष्वर्भाक्षणं पादयोश्च वैमल्यमादध्यात्. त्रिः
पक्षस्य केश-इमश्र-लोम-नखान् संहारयेत्, नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः
सुगन्धिः स्यात् ॥ १९ ॥

इस सद्वृत्त को सम्पूर्ण रूप में कहते हैं—देवता, गौ, ब्राह्मण, गुरु (माता पिता अभ्यागत अतिथि) वृद्ध (विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्ध, शौर्यवृद्ध,) लिङ्ग (तापस, भिन्नुक), आचार्य (उपनयन संस्कार करने वाले गुरु), इनकी पूजा सेवा करनी चाहिये । अग्निहोत्र प्रातःसायं दोनों समय करना चाहिये, अनिन्दित, (दांषों को नष्ट करने वाली ओषधियां) वनस्पतियां, धारण करनी चाहिये । दोनों समय प्रातःसायं स्नान करना चाहिये । मल के स्थानों को बार बार एवं पांच को सदा पवित्र रखें । बाल, दाढ़ी, मूँछ नाखून, कक्ष के एवं गुह्य स्थानों के बालों को पन्द्रह दिन में तीन बार, पांच पांच दिन के पांचे कटवाना चाहिये । नित्य प्रति शुद्ध रख धारण करे, प्रसन्न मन रहे, सुगन्ध धारण करे ॥ २० ॥

साधुवेशः प्रसाधितकेशो मूर्धं-श्रोत्रं ब्राण-पाद-त्वेष-नित्यो धूमपः,
पूर्वाभिभाषी, सुसुखः, दुर्गेष्वर्भ्युपपत्ता, होता, यष्टा, दाता, चतुष्प-
थानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले
हितन-मित-मधुरार्थवादी, वश्यात्तना, धर्मात्मा, हेतावीर्षुः, फले नेषुः, नि-
श्चिन्तः, निर्भीकः, धीमान्, हीमान्, महात्साही, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः
आस्तिकोः, विनय-बुद्धि-विद्या, भिजन-वयोवृद्ध-सिद्धाचार्याणामुपसिता,
छत्री, दण्डी, मौली, सोपानतकः, युगमात्रहांगवचरेत्, मङ्गलाचारसीमा-
कुचेलास्थि-कण्टकामेष्य-केश-तुषोत्कर-भस्म-कपाल-स्नान-बलि, और
परिहर्ता, प्राक श्रमाद व्यायामवर्जी च म्यात . मन्त्रेष्वप्राणिष ने

स्यात्, कुद्धानामनुनेता, भीतानामश्वासयिता, दीनानामश्युपपत्ता,
सत्यसन्धः, सामप्रधानः, पर-पुरुष-बचन-सहिष्णुः, अमर्षज्ञः, प्रशम-
गुणदर्शी, राग-द्वेष-हेतूनां हन्ता च ॥ २० ॥

उत्तमवेश धारण करे, शिर के बाल संवार कर कंधी कर रखें, शिर,
कान त्वचा पर तैल का मर्दन करे, नित्य प्रति प्रायोगिक धूमयान करे, घर
आये हुए का या मिलने पर पहिले कुशल क्षेम पूछे, सुमुख, सुन्दर, प्रसन्न चेहरे
वाला कठिन अवसरों पर भी सोचकर काम करने वाला, होम करने वाला,
यज्ञ—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव यज्ञ और नृयज्ञ करने वाला, दान
देनेवाला, चौराहों को नमस्कार करने वाला, देवता के लिये उपहार भेट देने
वाला, अस्यागतों को पूजा करने वाला, पिता पितामह आदि को श्रद्धापूर्वक
अज्ञ वस्त्र देने वाला हो, समय पर हित परिमित और मधुर अर्थ से युक्त वाणी
बोले । जितेन्द्रिय संयमी, धर्मात्मा हों, दूसरे की उन्नति को देखकर उन्नति
करने में ईर्षा भाव रखे कि मैं भी ऐसा करूँ जिस से मेरी भी उन्नति हो,
परन्तु फल में ईर्षा न करे । चिन्ता रहित न डरने वाला, साहसी आहार और
व्यवहार को छोड़कर अन्यत्र लज्जाशील, महत्वाकांक्षा, उत्साही, कामों में निपुण,
प्राणियों पर क्षमा करनेवाला, अपकारी को भी क्षमा देने वाला धर्म में चित्त
रखने वाला, आस्तिक (वेदादि सत् शास्त्रों को मानने वाला), विनय बुद्धि,
विद्या, अभिजन (पवित्र कुलोत्तमि से), और आयु में जो बढ़े हों, सिद्ध, तप से
जो बढ़े हों ऐसे तपस्ची, और आचार्य (सावित्री का उपदेश देने वाले गुरु)
इनकी सेवा करे । छत्र और दण्ड धारण करे, व्यर्थ या अकाल में न बोले,
जूता पहिने, अपने चारों ओर कुछ दूर (चार हाथ) तक देखता हुआ चले ।
मंगलजनक क्षियाशील रहें, कुचंले (मैले वस्त्र), हाङ्ग-मांस, कांटे युक्त, अमेघ्य
अपवित्र (इमशान आदि,) बाल, धान्यों के तुष, रोड़े-कंकड़ आदि, राख,
घड़े आदि के ठीकरे, नहाने के स्थान, पूजा स्थान, इन स्थानों को छोड़ने
वाला हो । अम से पूर्व ही आधी (शक्ति से) व्यायाम को छोड़ दे, सब
प्राणियों में बन्धुभाव भ्रातु भाव रखने वाला, क्रोधी पुरुषों को मनालेने वाला,
डरे हुए पुरुषों के लिये आश्वासन (सांत्वना), देने वाला, दीनों ग्रनीतों
के लिये उपकार करने वाला, सत्य प्रतिज्ञा वाला, शान्ति को मुख्य गिनने वाला,
कठोर बचनों को सहन करने वाला, अक्रोधी, क्रोधियों को शान्त

शान्तिमान्, लङ्घाई क्षणगढ़े के कारणों को नष्ट करने वाला हो ॥ २० ॥

शात्, नान्यस्त्वमादद्यात्, नान्यस्त्रियमभिलेषेन्यश्रियम्,

न वैरं रोचयेत् , न कुर्यात्पापम् , न पापेऽपि पापी स्यात् , नान्यदोषान
ब्रूयात् , नान्यरहस्यमागमयेत् , नाधार्मिकैर्न नरेन्द्रियैः सहाऽसीत् ,
नोन्मत्तर्न पतितर्न भृगृहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न लुप्तेः , न दुष्यानान्यारोहेत् , न
जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत् , नानास्तीणीमनुपहितमविशालमसमं
वा शयनं प्रपन्त , न गिरिक्षिपन-मस्तकेष्ट्रवृत्तरेत् , न द्रुममारो-
हेत् , न जलोग्रवेगमवगाहेत् , कूलच्छायां नोपासीद् , नाग्न्युतानमभि-
तश्चरेत् , न अर्चर्हसेत् , न शब्दवन्तं माहूरं मुञ्चेत् , नासंवृतमुखो
ज्ञम्भां क्षवशुं हास्यं वा प्रवर्तयेत् , न वानिकां कुल्णायात् , न
द्वन्द्वान् विवद्येत् , न नखान् वाद्येत् , नात्यान्यभिहन्यात् , ने भूमि
विलिखेत् , न छिन्द्याचृणम् , न लोष्टं मुद्र्गायान् , न विगुणमङ्गेश्वेष्टेत् ,
ज्योतींष्यगिनिममेधमशस्त्रं नाभिर्विशेत् , न हुङ्कर्याच्छवम् , न चेत्य-
ध्वज-गरु-पूज्याशस्त-च्छायामाकामेत् , न क्षपास्वनर-सदत-चेत्य-चत्वर-
चतुष्पथोपवन-इमशानाशानान्यासेवेत् , नैकः शून्यगृहं न चाटवीमनु-
प्रविशेत् , न पापवृत्तान् खो-मित्र-भृत्यान् भजेत् , नोत्तर्विरुद्ध्येत् , नाव-
रानुपासीद् , न जिङ्घं रोचयेत् , नानार्थसाश्रयंत् , न भयमुत्पादयेत् ,
न साहसातिरिवत्प्रजागर-स्तान-पालाशतान्वालेकः । नोर्ध्वजानुश्चिरं
तिष्ठेत् , न व्यालानुपत्तर्वेत्र देष्ट्रिणो न विगतिरिः , मुरुंवात् तपायद्या-
यातिप्रवातान् जलात् , कर्कि नाऽस्तरसा , नामुलयृतोऽग्निमुपासीत् ,
नोच्छिष्टो नाथःकृत्वा प्रतापयेत् , नाविगतक्ला नापद्य वदना न नग्न
उपरपृशोद् , न स्तनशशांड्या स्त्रुरात्तमग्न्यन् , न क्षशांत्राण्यग्निहन्यात् ,
नोपस्पृश्य त पद्म वासस्त विश्वात् , भास्त्रश्चाशनाय-पूज्य-ज्ञाल-सुम-
सोऽभिनिष्कामेत् , न पूज्य-मङ्गलान्यपत्तव्यं गच्छत् , ने नराण्यनुदक्षिणम्॥

शूठ न बैले, दूसरे के धन को न लेवे, दूसरों की खी को न चाहे, दूसरे
की समर्प्ति की चाहना न करे, वेर न करे, पाप न कर, पाप में मन न लगाये
अथवा पापी पुरुष पर भी पाप न करे, दूसरों के दोओं को न कहे, दूसरों की
गुस बातों को न जाने अवार्मिक, एवं राजा से देष्य करने वाले (राजशत्रुओं)
के साथ न बैठे, पागल, पतित, नीच कर्म करने वाले, चाण्डाल आदि, भ्रू-
धाती (गर्भपात करने वाले) लुद्र, (छोटे पुरुष) दुष्ट (चोर डाकू आदि)
के साथ न बैठे । दुष्यान (अनभ्यस्त थोड़े आदि) पर न बैठे, बुटने कर
कर (उत्कट आसन से) भी देर तक न बैठे, बिना नीचे बिछाये, न ! और
हाने रखे बिना, संकुचित स्थान पर, ऊँची नीची जगह पर न सोए ।

ऊंचे नीचे प्रदेशों में या चोटियों पर न धूमे किरे, वृक्ष पर न चढ़े, पानी के तेज प्रवाह में स्नान न करे । नदी के किनारे खड़े वृक्ष की छाया में नहीं बैठे, अग्नि की लपट के चारों ओर न फिरे । ऊंचे से (जोर से) न हँसे । शब्द के साथ अधोवायु, (अपान वायु) न छोड़े, मुख का बिना ढापे जम्भाई, छींक अथवा हास्य-हँसी न करे, नाक को न कुरेदे, दांतों को न किटकिटाये । नखों को न रगड़े, अस्थियों को न बजाये, भूमि को न कुरेदे, भूमि पर न लिखे, तिनके न तोड़े, मिठ्ठी के ढेले को न फोड़े, अंगों को व्यर्थ में टेढ़ा मेढ़ा न करे, न हिलाये । ज्योति (तैजस पदार्थ) सूर्य, अग्नि, तीव्राग्नि, अपवित्र चिता आदि निन्दित वस्तुओं को न देखे । शब्द को देखकर हुँकार न छोड़े, चेत्य (गांव के देवता) ध्वजा, पताका, गुरु माता पिता, आचार्य, पूज्य आदरणीय, प्रशस्त कल्याणकारी वस्तुओं की छाया को न लांघे, रात्रि में देवाल्य, मनिदर, चैत्य (ग्राम्य देवता) गृह, आगन, चौराहा, बाग, शमशान, (वध स्थान) में न रहे । अकेला एकान्त गृह में, शून्य घर में या जंगल में प्रवेश न करे । पाप-बृति वाले छीं, मित्र अथवा नौकर का साथ न दे, अपने से श्रेष्ठों के साथ विरोध न करे, अपने से नीच हाँन की सेवा न करे । कुटिल की चाहना न करे, अनार्य दुष्ट का आश्रय न ले, किसी के लिये भय उत्पन्न न करे, अतिसाहस अति सोना, बहुत जागना, बहुत स्नान, बहुत पीना, बहुत खाना नहीं करे । बुटने उठा कर देर तक न बैठे । सांप, दाढ़ वाले सिंह आदि, सींग वाले भैंड बैल आदि जन्तुओं के पास न जाये । सामने की बायु, धूप, ओस, तेज बायु को छोड़ दे । क्षगङ्गा आरम्भ न करे । विना सावधानी के अग्नि की उपासना पूजा न करे, जूठे भोजन को पुनः आग पर गरम न करे (जूठा भोजन आग में नहीं डालना चाहिये) । यकान मिटे बिना, मुख और सिर को जल से गीला किये बिना, वा नंगा होकर स्नान न करे । नहाने की धोती (कटि वस्त्र से) से शिर का स्पर्श न करे, बालों के अप्रभागों को ताड़न न करे; स्नान करके जिन कपड़ों से स्नान किया है, उन्हीं को निचोड़कर फिर धारण नहीं करे । रत्न, मणि आदि, पूज्य भगवान् आदि का नाम, मंगल कल्याणकारी वस्तुएं फूल आदि को बिना स्पर्श किये घर से बाहर न निकले । पूज्य एवं मंगलकारी वस्तुओं के बाम पाश्व से न जाये, अपूज्य, अमंगल वस्तुओं के दक्षिण पाश्व से न जाये ॥ २१ ॥

~~त्वं पार्णिनास्नातो नोपहवासा नाजपित्वा नाहुत्वा देवताभ्यो
सिद्ध्यो नादत्वा गुरुभ्यो नातिथिभ्यो नोपाश्रितेभ्यो नापुण्य-~~

गन्धो नामाली नाप्रश्नालितपाणिपादवदनो नाशद्वमुखो नोद्भमुखो न
विमना नाभक्ताशिष्टाशुचि-क्षुधित-परिचरो नापात्रीष्वमेघ्यासु नादेशे
नाकाले नाकीर्णे नादस्वाऽग्रमग्नये नाप्रोक्षितं प्रोक्षणोदकैर्ने मन्त्रैरन-
भिमन्त्रितं न कुत्सयन् न कुत्सितं न प्रतिकूलोपहितमन्नमाददीत, न
पर्युषितमन्यत्र मांस-हरित-शुष्क-शाक-फल-भक्ष्येभ्यः । नाशेषमुक्त्याद-
न्यत्र दधि-मधु-लवण-सत्तु-सर्पिभ्यः । न नक्तं दधि भुज्जीत, न सत्तैन-
कानश्रीयात्, न निशि न भुक्त्वा न बहून् न द्विर्नोदकान्तरितान् न
छिच्वा द्विजैर्भक्षयेत् ॥ २२ ॥

इन अवस्थाओं में भोजन न करे—रत्न को हाथ में लिये बिना, स्मान
किये बिना, बख्त पहिने बिना, गायत्री जप किये बिना, हवन किये बिना, देव-
ताओं के लिये दिये बिना, पिता माता को स्तिलाये बिना, आचार्य एवं बड़े
पुरुषों को, अतिथियों को, आश्रितों को खिलाये बिना, अशुभ गन्धबाला,
पुष्पमाला धारण किये बिना, हाथ पांव मुख धोये बिना, मणिन मुख से, उत्तर
दिशा की ओर मुख करके, अन्य मन से, बिना भक्ति के दिया, ठीक प्रकार से
या पवित्रता से न दिया, भूखे के हाथ से परसा, बिना पात्रों के मैले पात्रों में,
अदेश में, (मैले वा अनुचित स्थान पर) कुसमय में, संकुचित स्थान में,
अग्नि का दिये बिना (वैश्वदेव यज्ञ किये बिना), प्रोक्षणोदक से विधिपूर्वक
प्रोक्षित किये बिना, (वेदमन्त्रों से अभिमन्त्रित किये बिना) निन्दा करते हुए,
निन्दित और प्रतिकूल अन्न को अपने मन के विरुद्ध मनुष्यों के पास में भोजन
नहीं करना चाहिये । पर्युषित जिसे एक रात बीत गई है ऐसे बासी भोजन का
नहीं खाना चाहिये । मांस, हरड, सूखे हुए शाक, फल इनको बासी अर्थात्
एक रात बीतने पर भी खा सकते हैं । सम्पूर्ण न खावे, पात्र में थोड़ा छोड़ देना
चाहिये । परन्तु दही, शहद, लवण, सत्तू और धी इनको सम्पूर्ण खा लेना
चाहिये, पवित्र होने से इन को झटा न छोड़े । रात में दही नहीं खाये, अकेले
सत्तुओं को न खाये अर्थात् केवल सत्तू न खाये । रात में सत्तू न खाये, भोजन
खाकर सत्तू न खाये, बहुत अधिक मसाज में सत्तू न खाये, एक दिन में दो
बार सत्तू न खाये, पानी में भीगे हुए सत्तू या जौ का सत्तू बनाकर नहीं
खाना चाहिये । दौंतों से काटकर न खाये ॥ २३ ॥

नानृजुः क्षुयान्नाद्यान्नं शयीत । न वेगितोऽन्यकार्यः स्थात् । न जात्य-
ग्निसलिल-सोमार्द्द-द्विज-गुरु-प्रतिमुखं निष्ठिविका-बात-वचोऽ-
स्त्रजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेत्, न जनवति नाशकाले । जप-
वृलि-मङ्गल-क्रियासु श्वेतमसिङ्घाणकं सुब्येत् ॥ २३ ॥ ,

विना शुके छींक न ले, न खाये, न सोये । मल-मूत्र आदि के वेग उपस्थित हांने पर दूसरा काम न करे, पहला वेग का निराकरण करे । बायु, अग्नि, जल, चन्द्रमा, सूर्य, ब्राह्मण, गुरु, पिता, माता, इनकी ओर मुख करके न थूके, न अपान बायु और मल, मूत्र का त्याग करे । रास्ते में, मनुष्णों के बैठने के स्थान में, भोजन के समय मूत्र त्याग न करे । जप, हवन, पठन, बलि, पवित्र क्रियाओं के स्थान पर नाक का मल (सिंधाणक) नहीं फेंके ॥ २२ ॥

न खियमवजानीत, नातिविश्रमयेन्न गुह्यमनुश्रावयेन्नाधिकुर्यात् ।
न रजस्वला नाऽनुतुरां नामेध्यां नाशस्तां नानिष्टरूपाचारोपचारां नादक्षां
नादक्षिणां नाकामां नान्यकामां नान्यश्चियं नान्ययोनिं नायोनी न चैत्य-
चत्वर-चतुष्पथोपवन-इमशान-न्यानन-सलिलोपधि-द्विज-गुरु-सुरालयेषु न
सन्ध्ययोर्नातिथिषु नाशुचिनांजग्धभेषजो नाप्रणीतसंकल्पो नानुपस्थित-
प्रहर्षो नामुकवान् नात्यशितो न विषमस्थो न मूत्रोच्चारपीडितो न
श्रम-व्यायामोपवास-क्लमाभिहृतो नारहसि व्यवायं गच्छेत् ॥ २४ ॥

छी का तिरस्कार न करे । छी का अधिक विश्वास न करे । छोंको गुप्त बात न कहे । छी को अधिकारी न करे, अधिकार न देवे । रजस्वला, रोगिणी, अपवित्र, चण्डाल आदि, कुष्ठ आदि निनिद रोग से पीड़ित, इच्छित रूप आचार-उपचार से रहित, अचतुर, जो स्वयं नहीं चाहती हो, दूसरे पुरुष को चाहने वाली, परखी, असमानजातीय, कामनारहित इन खियों के साथ, वा योनि को छोड़कर अन्यत्र गुदा या मुख में, मैथुन नहीं करना चाहिये । चैत्य (देवता का मन्दिर), चौराहा, आंगन, उपवन, बाग, शमशान, वध्य-भूमि में, पानी, लोषधि, ब्राह्मण, गुरु, माता-पिता और मन्दिर के पास, ग्रातः साथ दोनों सन्ध्याकालों में, अति अधिक मात्रा में, निष्ठ तिथियों में (पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी, संकाल्पि, धाद दिनों में, अमावस्या में, प्रतिपदा में), अपवित्रित अवस्था में, बाजीकरण औषध खाये विना, मन में मैथुनेच्छा किये विना, शिवन में उरोजना हुए विना, खाये विना, खाली पेट, अधिक खाये, पेट भर के और विषम स्थान पर स्थित होकर, मूत्र वेग से पीड़ित, खुले अनावृत स्थान में छी के साथ मैथुन न करे ॥ २४ ॥

न सतो न गुरुम् परिवदेत्, नाशुचिरभिचार-कर्म-चैत्य-पूज्य-पूजा-
धर्मसमभिनिर्वर्तयेत् ॥ २५ ॥

स्वास्थ्यन या गुरुओं की निन्दा न करे । अपवित्र अवस्था में अभिचार (इक्षु का ग्रस्तोग, इयेनादि उपचार) कर्म, चैत्य पूजा, एवं देवता, ज्ञा, अध्ययन, पठन आदि नहीं करे ॥ २५ ॥

न विद्युत्स्वनातवीषु नाभ्युदितासु दिष्टु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे
न महोत्सवे नोल्कापाते न महाअबोपगमने न नष्टचन्द्रायां तिथौ न
सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं नातिमात्रं तान्तं न विश्वरं नानवस्थि-
तपदं नातिद्रुतं न विलम्बितं नातिकलीवं नात्युच्चैर्नातिनीचैः स्वरै-
रध्ययनमभ्यसेत् ॥ २६ ॥

निभन अवस्थाओं में अध्ययन-पठन नहीं करना चाहिये—श्रृङ्गु के बिना
विजली चमकने पर, दिशाओं के जलने पर, ग्राम नगर आदि में आग लगने
पर, भूकम्प आने पर, विवाहादि बड़े उत्सवों में, विजयादशमी, दीपमालिका
होली आदि में, उल्कापात होने पर, चन्द्रग्रहण, या सूर्यग्रहण होने पर, कृष्णपक्ष
की चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा को जिन तिथियों में चन्द्रमा नहीं
दीखता, सन्ध्या कालों में, गुरुके मुख से बिना पढ़े, अक्षर का छोड़ते हुए,
खाते हुए, अधिक मात्रा में, रुक्ष स्वर से, स्वर के बिना, पदों की व्यवस्था के
बिना, विराम आदि चिह्नों का ध्यान न रखकर, रुक रुक कर, अति निर्बल
(बलहीन), बहुत ऊँची आवाज से बहुत ऊंचार से, बहुत धीमी आवाज से भी
नहीं पढ़ना चाहिये ॥ २६ ॥

नातिसमर्यं जहान् । न नियमं भिन्न्यान् । न नक्तं नादेशो चरेत् ।
न सन्ध्यास्वभ्यवदाराध्ययन-स्त्री-नवपन्न-सेवी स्थान् । न वाल-वृद्ध-लुब्ध-
मूर्ख-क्लिष्ट-क्लीचैः सह सख्यं कुर्यात् । न मध्य-द्यूत-वैश्या-प्रसङ्ग-रुचिः
स्यान्, न गुह्यं विवृणुयात् । न कञ्चिदवजानीयात् । नाहंमानी स्यान्नादक्षो
नादक्षिणा नासूयकः । न ब्राह्मणान् परिवदेत् । न गवीं दण्डमुद्यच्छेत्,
न वृद्धान् न गुरुन् न गणान् न नृपान् वाऽधिक्षिपेत् । न चार्तव्र्यात् ।
न बान्धवानुरक्तकृच्छ्रद्वितीयगुद्धज्ञान् बहिः कुर्यात् ॥ २७ ॥

समय को न खोये । नियम का उल्लंघन न करे । रात्रि में न धूये । जंगल
आदि बीवाचान स्थानों में न धूमे । सन्ध्या समयों में भोजन, अध्ययन, मैथुन,
नोंद नहीं करनी चाहिये । बालक, वृद्ध, लालची, मूर्ख, कुष रोगी, नपुंसक अनु-
त्साही अल्पसत्त्व के साथ मित्रता न करे । मद्य शराब, जुआ, वेश्या इनमें मन
नहीं लगाये । गुस रहस्य को न कहे । किसी का भी अपमान न करे ।
अहंकार या घमण्ड न करे । कायों में मूढ़ न रहे । गुणों में दोषों को न देखे ।
निन्दक, चुगलखोर न बने । ब्राह्मणों की निन्दा न करे । गाय के प्रति उड़ान
उठाये । जो अपने अनुकूल हो उनकी निन्दा न करे । गुरु, और
आचार्य, समा, वयोवृद्ध, जनसमूह, समाज और राजा की

भाई बन्धु आदि, अनुरक्त, स्नेही, मित्र आदि, आपत्ति में सहायक इनको कभी बाहर न निकाले, कष्ट न दे ॥ २७ ॥

नाधीरो नात्युच्छ्रूतसत्त्वः स्यात् । नाभृतभैत्यो, नाविश्रब्धस्त्रजनो,
नैकः सुखी, न दुःखशीलाचारोपचारो, न सर्वविश्रम्भी, न सर्वाभिषङ्खी,
न सर्वकालविचारी । न कार्यकालमनिपातयेत् । नापरीक्षितमभिनिवि-
शेत् । नेन्द्रियवशगः स्यात् । न चञ्चलं मनोऽनुभ्रामयेत् । न बुद्धीन्द्रि-
याणामतिभारमादध्यात् । न चातिदीर्घसूत्री स्यात् । न कोधर्वावनु-
विदध्यात् । न शोकमनुवसेत् । न सिद्धवौत्सुक्यं गच्छेत्रासिद्धौ दैन्यम् ।
प्रकृतिमभीक्षणं स्मरेत् । हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात् हेत्वारम्भनित्यश्च । न
कृतमित्याइवसेत्, न वीर्यं जह्यात् । नापवादमनुस्मरेत् ॥ २८ ॥

बहुत अधीर, उतावला जल्दवाज़ न हो, बहुत उच्छृङ्खल उद्धत न बने। नौकरों का पोषण अवश्य करे। अपने मनुष्यों में, घर के आदिमियों में अविश्वास न करे। अकेला सुख का अनुभव न करे। अकेला मधुर पदार्थ न खाये शील (स्वाभाविक व्यवहार), आचार, (शास्त्रानुकूल व्यवहार), उपचार, (बच्च धारण करने और रहन सहन) में दुःखों व्यक्तियों की माँति (गरीबों को तरह) न रहे; सम्य बनकर रहे। सब जगह सब का विश्वास न करे। सब स्थानों पर सब का अविश्वास भी न करे, सन्देह भी न करे। सब समय शोचता विचारता भी न रहे। काम के समय का उल्लंघन न करे। अपरीक्षित (अज्ञात) स्थान आदि पर न बैठे न जाये। इन्द्रियों के वश में न हो। चंचल मन को इधर उधर न धूमावे। बुद्धि, और ज्ञानेन्द्रियों का अतियोग न करे, उन पर अधिक बोक्ष न डाले, अधिक विषय सेवन न करे। दीर्घ-सूत्री अर्थात् विलम्ब से काम करने वाला न बने। जितना क्रोध आये उतना उग्र कर्म न करे और जितनी खुशी हो उतनी अधिक खुशी न मनाये। शोक चिन्ता के वश में न हो। कार्य में सफलता मिलने पर बहुत प्रसन्न न हो और कार्य में असफलता मिलने पर दीन, (उदास चेहरा) न बनाये मुंह न लटकाये। बार बार प्रकृति अर्थात् जन्म मरण के स्वामाव को ध्यान में रखे। शुभ कारण से कार्य का आरम्भ करे। हतना कर लिया बस है, यह समझकर बैठ न जाये। वीर्य (पराग) का त्याग न करे। निन्दा का स्मरण न करे ॥ २८ ॥

पृष्ठमाज्याक्षत-तिल-कुण्ड-सर्षपैरगिन्म जुहुयादात्मानमाशीर्भिरा-
[नमे] नापगच्छेच्छरीराद्, वायुमे प्राणानादधातु, विष्णुमे
द्वो मे वीर्यः शिवा मी प्रविशन्त्वाप आपोहिष्टेत्यपः

स्पुश्रोत्, द्विः परिसूज्यौष्टी पादौ चाभ्युद्य मूर्धनि स्नानि चोपस्पुश्रोदद्विर-
रात्मानं हृदयं शिरश्च, ब्रह्मचर्य-ज्ञान-दान-मैत्री-कारण्य-हृषोपेक्षा-प्रशम-
परश्च स्यादिति ॥ २६ ॥

अपवित्र अवस्था में उत्तम गौ का धी, अक्षत, तिल, कुशा और सरसों
द्वारा अग्नि में वेदमन्त्रों से दबन न करे और प्रार्थना करे कि अग्नि मेरे शरीर
से बाहर न जाये । दायु मेरे अन्दर प्राणों को धारण करे । विष्णु मेरे अन्दर
बल का संचार करे । इन्द्र मुक्ष में बल बढ़ावे । कल्याणकारी जल मुक्ष में प्रविष्ट
हों । 'आपो हिष्ठा मयो सुवस्ता न ऊर्जे दधातन०' इस मन्त्र से जल का स्पर्श
स्नान आचमन करना चाहिये । दोनों समय भोजन करने के उपचान्त ओष्ठ
और पांव को धोकर शुष्क कर लेना चाहिये शिर और आंख, कान, नाक
इन्द्रियों को जल से स्पर्श करे । पिर अपने हृदय, शिर को जल से स्पर्श करे ।
ब्रह्मचर्य (काय और मन याणि ने मैथुन को छोड़ना ब्रह्मचर्याश्रम में, यहस्था-
श्रम में भी अपनी पत्नी में श्रूतुकाल को छोड़कर) तथा अन्यों को ज्ञान-दान,
'मैत्री' सब प्राणियों में आत्मवत् प्रवृत्ति, सब प्राणियों में दयामाव, हर्ष, प्रसन्नता
सब प्राणियों में, उपेक्षा अर्थात् अप्रतिग्रह बुद्धि, प्रशम अर्थात् शान्त इन्द्रिय
एवं चित्तवाला बने ॥ २६ ॥

तत्र इलोकाः—

पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टं मनो हेतुचतुष्प्रयम् ।
इन्द्रियोपक्रमेऽध्याये सदूचृतमस्तिलेन च ॥ ३० ॥
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यः सम्यगनुतिष्ठति ।
म समाः शतमत्याधिरायुपा न वियुज्यते ॥ ३१ ॥
नृलोकमापूरयते यशसा साधुसंमतः ।
धर्मार्थवेति भूतानां बन्धुतामुपगच्छाते ॥ ३२ ॥
परान् सुकृतिनो लोकान् पुण्यकर्मा प्रशद्यते ।
तस्माद् वृत्तामनुष्टेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥ ३३ ॥
यच्चान्यदपि किञ्चित्स्यादनुक्तमिह पूजितम् ।
वृत्तं तदपि चाऽऽत्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते ॥ ३४ ॥

पंचेन्द्रिय और इनके पांच प्रकार, मन एवं चार कारण (समयोग, मिथ्या-
योग, हीनयोग, और अतियोग) और सभूर्ण सदृच्छ को 'इन्द्रियों'
अच्याय में कह दिया है । जो मनुष्य कहे हुए स्वस्थवृत्त का
रूप से पाठन करता है वह सौ वर्षों तक नीरोग रहत और

आयु का भंग नहीं होता, वह सौ वर्षतक जीता है। साधुओं से पूजित होकर मनुष्यलोक को अपने यश से भर देता है, यशस्वी बनता है। धर्म और अथ को प्राप्त करता है। सब प्राणियों के प्रति बन्धुभाव उत्पन्न कर लेता है। पुण्य कर्मों वाला मनुष्य अति उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करता है। इसलिये सब पुरुषों को चाहिये कि सदा इस 'सद्गृह्ण' का पालन करे। इस 'सद्गृह्ण' के अतिरिक्त और जो कुछ उत्तम कर्म हों जो कि यहां पर नहीं भी कहे हैं, उनको भी स्वीकार करके पालन करना चाहिये ऐसा भगवान् आत्रेय का अभिप्राय है॥ ३०-३४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्ने नरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थद्वृत्तचतुष्के
इन्द्रियोपकमणीयो नामाऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ इति स्वस्थचतुष्कः ॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातः खुड्डाकचतुष्पादमध्यायं न्यायास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽष्टम भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'खुड्डाक चतुष्पाद' (चिकित्सा के छुट्र चार चरण) नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्प्रयम् ।

गुणवत्कारणं झेयं विकारब्युपशान्तये ॥ ३ ॥

वैद्य, आपद, परिचारक और रोगों ये चार पाद अर्थात् चिकित्सा के चार अंग हैं। ये चारों ही विकार अर्थात् रोगों की शान्ति में गुणवान् कारण हैं ॥३॥

विकारो धातुवैपर्यं, साम्यं प्रकृतिरूच्यते ।

सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च ॥ ४ ॥

शरीर के धातु वात, पिण्ड और कफ की विषमता का नाम ही 'विकार' अर्थात् रोग है और धातुओं का 'साम्य' अर्थात् अनुकूलता रहने का नाम 'प्रकृति' है। आरोग्यता ही सुख है, रोग का हाना दुःख है। वैष्णव शास्त्र में सुख-आरोग्यता है, और दुःख रोग है ॥४॥

चिकित्सा का लक्षण—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुबैकृते ।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्थी चिकित्सेत्यथिधीयते ॥ ५ ॥

पादओं के विषम होने पर भिषक्, रोगी, औपद और परिचारक ये चारों

वैद्य वाले मिलकर धातुओं को साम्य अर्थात् अनुकूल करने के लिये

कैरहे, उसी को चिकित्सा कहते हैं ॥ ५ ॥

वैद्य के गुण—

श्रते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।
दाक्षयं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥ ६ ॥

सद्गुरु के उपदेश मे पूर्ण रूप से शास्त्र का ठीक २ ज्ञान, चिकित्सा-कर्म का बहुत बार दर्शन, चिकित्सा कार्य में कुशलता, चिकित्सा कर्म की सिद्ध-हस्तता, पवित्रता, स्वच्छता ये वैद्य के गुण हैं ॥ ६ ॥

द्रव्य के गुण—

बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥ ७ ॥

(बहुता) द्रव्य की प्रचुरता (योग्यता) रोगियों के दिये जाने वाले द्रव्य में रोग को दूर करने का सामर्थ्य और जिसके अनेक प्रकार के कल्प, (स्वरस कल्प, चूर्ण, कषाय आदि) बनाये जा सकें, 'सँपत्' अर्थात् रस, वीर्य, प्रभाव, गुण समूर्ण हों, ठीक २ श्वतु में एकत्र की गई हो, ये चार गुण ओषध में होने चाहिये ॥ ७ ॥

परिचारक के गुण—

उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तारे ।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरं जने ॥ ८ ॥

सेवा कर्म को जानने वाला, कर्मकुशल, रोगी में प्रांति रखने वाला शौच, अर्थात् शुद्धि, स्वच्छता ये चार गुण परिचारक के हैं ॥ ८ ॥

रोगी के गुण—

स्मृति-निर्देश-कारित्वमभीरुत्वमथापि च ।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ ९ ॥

(स्मृति) स्मरण शक्ति, वैद्य के आदेश के अनुसार करने वाला, डरपोक न हो, रोग या चिकित्सा कर्म से न घबराने वाला, अपनी शिकायतों को भली प्रकार बता सके, ये चार गुण रोगी के हैं ॥ ९ ॥

कारणं षोडशगुणं सिद्धौ पादचतुष्टयम् ।
६-ज्ञाता शासिता योक्ता प्रधानं भिषगत्र तु ॥ १० ॥

पत्तौ हि कारणं पक्तुर्यथा पात्रेन्धनानलाः ।

विजेतुविजये भूमिश्वमूः प्रहरणानि च ॥ ११ ॥

आतुराद्यास्तथा सिद्धौ पादाः कारणसंज्ञिताः ।

बैद्यस्यातिर्चकित्सायां प्रधानं कारणं भिषक् ॥ १२ ॥

सोलह गुण युक्त चारों पाद मिलकर ही चिकित्सा में कारण हैं। इन सब में प्रधान कारण 'भिषक्' अर्थात् वैद्य ही है। क्योंकि वही विशेष रूप से जानने वाला, परिचारक आदि को आदेश देने वाला, दवाइयों का प्रयोग करने वाला होता है; तीनों पाद वैद्य के अधीन हैं और वैद्य स्वतन्त्र है, इसलिये प्रधान है। खाना पकाने में जिस प्रकार पाचक कारण है, और पात्र, ईश्वन और आग ये उसके अधीन रहते हैं और जिस प्रकार विजेता की विजय में भूमि, स्थान, सेना, प्रहरण, शस्त्र आदि कारण निमित्त बनते हैं, उसी प्रकार सिद्धि अर्थात् चिकित्सा की सफलता में रोगी, औषध और परिचारक ये तीन कारण निमित्त होते हैं। चिकित्सा में सुख्य कारण वैद्य ही होता इ॥ १०-१२॥

मृदृण्डचक्रसूत्राद्याः कुम्भकाराहते यथा ।

न वहन्ति उगुणं वैद्याहृते पादत्रयं तथा ॥ १३ ॥

गन्धर्वपुरवन्नाङ्गं यद्विकाराः सुदारुणाः ।

यान्ति यच्चेतरे वृद्धिमाशपायप्रतोक्षिणः ॥ १४ ॥

सति पादत्रये ज्ञाज्ञाभिषजावत्र कारणम् ।

जिस प्रकार कुम्भार के बिना मिट्टी, दण्ड, चक्र (चाक) सूत्र आदि मिलकर भी घड़े को नहीं बना सकते उसी प्रकार वैद्य के बिना रोगी, द्रव्य और परिचारक भी चिकित्सा-कार्य में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। रोगी परिचारक और द्रव्य इन तीनों के होनेपर भी अतिशय भयानक जो रोग गन्धर्व पुर की मांति नष्ट हो जाते हैं और दूसरे साधारण राग भी जो थोड़ी चिकित्सा से भी अच्छे हो सकते हैं—वे जो बढ़ते हैं—इन दानों में ज्ञानवान् और अज्ञानो वैद्य ही कारण होता है। गन्धर्व पुर जादूगर का बनाया मकान अथवा आकाश का महल ॥ १३-१४ ॥

वरमात्मा हतोऽज्जेन न चिकित्सा प्रवर्तिता ॥ १५ ॥

पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद्वीतभीतवत् ।

नौर्मारुतवशेवाज्ञो भिषक्वरति कर्मसु ॥ १६ ॥

यद्यच्छया समापन्नमुन्नार्यं नियतायुषम् ।

भिषङ्गमानी निहन्त्याशु शतान्यनियतायुषम् ॥ १७ ॥

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने ।

भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणभिसर उच्यते ॥ १८ ॥

ये चृढ़ वैद्य इलाज करे, इससे अच्छा अपनी हत्या कर लेना है। अन्वा-

न् लैकरके डरता हुआ जिस प्रकार हाथ से टोल कर चलता है, वायु

के वश में पढ़ी हुई नाव जिस प्रकार कहीं की कहीं वह जाती है, उती प्रकार मूढ़ वैद्य भी चिकित्सा-कर्म में प्रवृत्त होता है। नियत आयु वाले रोगियों के स्वतः अच्छा हो जाने से अपने को वैद्य मानने वाला मनुष्य जिनको आयु अभी शेष है, ऐसे सैकड़ों रोगियों को अपनी चिकित्सा से विना समय के ढी शांघ मार देता है। इसलिये शास्त्र में तत्त्वार्थ के ज्ञान में, क्रिया में, कर्म और कुशलता में इन चार गुणों से युक्त वैद्य ही 'प्राणमिश्र' अर्थात् रोगी के जाति प्राणों को भी लौटा लाने वाला कहलाता है ॥ १५-१८ ॥

हेतौ लिङ्गे प्रश्नमने रोगाणामपुनर्भवे ।

ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजाहों भिष्टकमः ॥ १९ ॥

जिस वैद्य को रोगोर्त्पत्ति के कारण, लक्षण, प्रश्नमन, रोगों का शान्ति और पुनः आक्रमण न होना इन चार बातों का ज्ञान है, वही 'राजवैद्य' होने योग्य है ॥

शब्दं शास्त्राणि सलिलं गुणदोप्रवृत्तये ।

पात्रापेक्षण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥ २० ॥

शब्द, शास्त्र और पानी ये तीनों गुण और दोष को उत्पन्न करने में पात्र की अपेक्षा करते हैं। जैसे निर्मल पानी मैले पात्र में रखने से मैला हो जाता है और स्वच्छ पात्र में साफ दीखता है, तल्वार से जहाँ दुष्ट चार आदि का वय हो सकता है, वहाँ सज्जन का भी गला काटा जा सकता है, शास्त्र द्वारा जहाँ रोगी को बचाया जा सकता है, वहाँ मूढ़ वैद्य मार भी सकता है। इसलिये चिकित्सा के लिये वैद्य को अपनी बुद्धि को सदा स्वच्छ रखना चाहिये ॥ २० ॥

विद्या वितर्कों विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।

यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥ २१ ॥

विद्या भवितः कर्महृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः ।

वैद्यशब्दभिनिष्पत्तावलमेककमप्यदः ॥ २२ ॥

यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः ।

स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः ॥ २३ ॥

(विद्या) आयुर्वेद विद्या, (वितर्कः) शास्त्रार्थ मूळक ऊहापांड, (विज्ञान) बहुत शास्त्र के ज्ञान से विज्ञत्व, (तत्परता) लग्न, (क्रिया) चिकित्साकुशलता जिस वैद्य में ये उपरोक्त छः गुण हैं उसके लिये कोई भी व्याधि असाध्य नहीं है। आयुर्वेद विद्या, विशुद्ध बुद्धि, दृष्ट चिकित्सा, चिकित्सा कार्य में अस्त्र अनेक रोगियों को आरोग्य युक्त करने में सफलता, सद्गुरु का आश्रय, एक एक भी गुण वैद्य पद प्राप्तकरण में समर्थ है। परन्तु जिस पुरुष की

आदि सब गुण होते हैं, वही सच्चे अर्थों में 'वैद्य' कहला सकता है। वही प्राणियों के लिये सुख देने वाला होता है ॥ २१-२३ ॥

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।

ताष्ट्र्यां भिषक्सुयुक्ताभ्यां चिकित्सापराध्यति ॥ २४ ॥

चिकित्सिते त्रयः पादा यस्माद्वैद्यव्यपाश्रयाः ।

तस्मात्प्रयत्नमातिष्ठेद्विषक् स्वगुणमंपदि ॥ २५ ॥

मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु, शक्त्यं प्रीतिरुपेक्षणम् ।

प्रकृतिस्थेषु भूतेषु, वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधेति ॥ २६ ॥

आयुर्वेद शास्त्र तो प्रकाश करने के लिये ज्योति हैं और अपनी बुद्धि आंख है। इन दोनों को मिलाकर ठीक तरह से प्रयोग करके चिकित्सक भूल नहीं करता। चिकित्सा के तीन चरण रोगी, परिचारक और द्रव्य वैद्य पर ही आधित हैं। इसलिये अपने गुणों को विशेष रूप से प्राप्त करने में वैद्य को प्रयत्नवान् रहना चाहिये। वैद्य का व्यवहार चार प्रकार का है। रोग से पीड़ित पुरुष में मिथता और उन पर दया का भाव; साध्य रोगी में स्नेहभाव, मरणासन्न रोगी में उपेक्षा बुद्धि रखना ॥ २४-२६ ॥

तत्र श्लोको—

भिषग्नितं चतुष्पादं पादः पादश्चतुर्गुणः ।

भिषक् प्रधानं पादेभ्यो यस्माद्वैद्यस्तु यद्गुणः ॥ २७ ॥

ज्ञानानि बुद्धिर्ब्रह्मो च भिषजां या चतुर्विधा ।

सर्वमेतत्तुष्पादे खुड्हाके लंप्रकाशितम् ॥ २८ ॥

चिकित्सा के चार चरण प्रयेक चरण के चार-चार गुण, सब चरणों में प्रधान 'भिषक्' है, क्यों प्रधान है? वैद्य के गुण, वैद्यों की चार प्रकार को बुद्धि और ब्राह्मी बुद्धि यह सब 'खुड्हाक चतुष्पाद' अव्याय में कह दिया है।

इत्यनिवेशकृते तन्त्रे चरकपतिसंकृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्के

खुड्हाकचतुष्पादो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

दशमोऽध्यायः ।

स्ये भूथातो महाचतुष्पादमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के अनन्तर 'महाचतुष्पाद' नामक अध्याद का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते, यदुक्तं पूर्वा-
ध्याये षोडशगुणमिति, तद्रूपेऽन्युक्तियुक्तमलमारोग्यायेति भगवान्
पुनर्वसुरात्रेयः ॥ ३ ॥

चार चरण और सोलह कलायुक्त चिकित्सा होती है ऐसा बैद्य कहते हैं। पूर्व के (खुड़ाक-चतुष्पाद) अध्याय में जो सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा का उपदेश किया है उसी चिकित्सा को युक्ति पूर्वक प्रयोग करने से आरोग्यता मिलती है ऐसा पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है ॥ ३ ॥

नेति मैत्रेयः । किं कारणम् , दृश्यन्ते ह्यातुराः केचिदुपकरणवन्तश्च
परिचारकसंपन्नाश्चाऽऽत्मवन्तश्च कुशलेश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठ-
मानानास्तथायुक्ताश्चापरे म्रियमाणास्तस्माद्रेषजमकिंचित्करं भवति ।
तथाथा श्वभ्रे सरसि च प्रसित्तमल्पसुदकं नद्यां वा स्यन्दमानार्यां
पांसुधाने वा पांसुमुष्टिः प्रकीर्ण इति । तथाऽपरे दृश्यन्तेऽनुष्करणाश्चा-
परिचारकाश्चानात्मवन्तश्चाकुशलेश्च भिषग्भिरनुष्ठिताः समुत्तिष्ठमानाः;
तथायुक्ता म्रियमाणाश्चापरे । यतश्च प्रतिकुर्वन् सिद्ध्यर्थति प्रतिकुर्वन्
म्रियते, अप्रतिकुर्वन् सिद्ध्यत्यप्रतिकुर्वन् म्रियते; ततश्चिन्त्यते भेषज-
मभेषजेनाविशिष्टमिति ॥ ४ ॥

'मैत्रेय' के विचार में यह ठांक नहीं, क्योंकि कुछ रोगी जिन को सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं, जिनके सेवक भी हैं, जो संयमी, जितेन्द्रिय भी हैं, और चतुर बैद्य उनकी चिकित्सा करते हैं, वे अच्छे (स्वस्थ) होते देखे जाते हैं। इस के सिवाय उपरोक्त सब कुछ होते हुए भी कुछ रोग मरते हुए भी देखे जाते हैं। इसलिये कहते हैं कि सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा कुछ फलदायक नहीं। जिस प्रकार एक बड़े भारी गढ़े या तालाब में थोड़ा सा पानी डालने पर कुछ लाभ नहीं होता और जिस प्रकार बहती हुई नदी में फेंकी हुई धूँि की मुट्ठी निरर्थक होती है, वह पानी में वह जाती है और जिस प्रकार रेत के बहुत बड़े ढेर में डाली हुई रेत की एक मुट्ठी का कुछ लाभ नहीं, इसी प्रकार शुभ कर्मवाले रोगी में चिकित्सा का कोई लाभ नहीं। कुछ रोगी साधनों के बिना ही, सेवकों से रहित, अजितेन्द्रिय, अपश्यसेवी, और मूढ़ बैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी स्वस्थ होते हुये देखे जाते हैं, एवं कुछ (इस उपरोक्त अवस्था में) मरते हुए भी देखे जाते हैं (सोलह गुणों से युक्त) चिकित्सा करने पर आरोग्ययुक्त स्वस्थ हो जाते हैं ।

बहुत से चिकित्सा करने पर भी मर जाते हैं, बहुत चिकित्सा न करने पर भी स्वस्थ हो जाते हैं, और न करने पर भी मर जाते हैं, अतः सन्देह होता है कि चिकित्सा करना और न करना दोनों बराबर हैं ॥४॥

मैत्रेय ! मिथ्या चिन्त्यत इत्यात्रेयः । कि कारणम् ? ये ह्यातुराः षोडशगुणसमुदितेनानेन भेषजेनोपपद्यमाना मियन्त इत्युक्तं तदनुपप-ञ्म, न हि भेषजसाध्यानां व्याधीनां भेषजमकारणं भवति । ये पुनरातुराः केवलाद्वेषजाद्वते समुच्चिष्टन्ते न तेषां संपूर्णभेषजोपपादनाय समुत्थानविशेषो नास्ति । यथा हि पतितं पुरुषं समर्थमुत्थानायोत्थापयनं पुरुषो बलमस्योपादव्यान्, स क्षिप्रतरमपरिक्लिष्ट एवाच्चिष्टेतद्वत्संपूर्णभेषजोपलभादातुराः । ये चाऽतुराः केवलाद्वेषजादपि मियन्ते, न च सर्व एव ते भेषजोपपन्नाः समुच्चिष्टेतरन्, न हि सर्व व्याधयो भवन्त्युपायसाध्याः, न चापायसाध्यानां व्याधीनामनुपायेन सिद्धिरस्ति, न चासाध्यानां व्याधीनां भेषजसमुदायोऽयमस्ति । न ह्यलं ज्ञानवान् भिषग् समूर्पुमातुरमुत्थापयितुम् । परीक्षयकारिणो हि कुशला भवन्ति । यथा हि यागद्वाऽध्यायसन्त्य इवासो धनुरादयेषु मगास्यन्नातिविप्रकृद्वे महनि काये नापराधवान् भवति सम्पादयति चेष्टकायंम्, तथा भिषक् स्वगुणसंपन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्माऽस्तरभाणाः साध्यरोगमनपराधः संपादयत्येवाऽतुरमारोग्येण, तस्मान्न भेषजमभेषजेनाविशिष्टं भवति ॥५॥

आत्रेय भगवान् इसका उत्तर देते हैं कि हे मैत्रेय ! दुम्हारा ऐषा विचार करना ठीक नहीं है । क्योंकि, रोगी सोलह गुणों से युक्त चिकित्सा करने पर भी स्वस्थ नहीं होते, मर जाते हैं, यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि चिकित्सा से अच्छे होने वाले रोगों में चिकित्सा निष्कल नहीं हाती, और जो रोगी औषध-चिकित्सा के विना भी स्वस्थ हो जाते हैं, उनमें चिकित्सा के पूर्ण कारणों के होने की आवश्यकता भी नहीं होती । जैसे गिरे हुए मनुष्य को जो कि अपने आप उठने में समर्थ है, उठाने के लिये दूसरा पुरुष सहायता देता है, तब वह जल्दी, विना कष्ट के ही खड़ा हो जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण (सोलह गुणों से युक्त) चिकित्सा प्राप्त होने से रोगी स्वस्थ हो जाते हैं । जो रोगी सम्पूर्ण चिकित्सा के मिलने पर भी मर जाते हैं वे सब रोगी भी सोलह गुण युक्त चिकित्सा से स्वस्थ नहीं हो सकते, क्योंकि सब रोग उपाय से साध्य नहीं हैं (न से रोग असाध्य भी हैं) और जो रोग उपाय से अच्छे होने वाले हैं वे सब उपाय के अच्छे भी नहीं होते । इसी प्रकार जो रोगी असाध्य हैं उन को

सारा औषध-समुदाय भी ठीक नहीं कर सकता । ज्ञानवान् वैद्य भी मरणासन्न रोगी को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होता । जो वैद्य साध्य-असाध्य का विचार करके चिकित्सा का प्रारम्भ करते हैं वे कुशल चिकित्साकार्य में सफल, यशस्वी होते हैं । जिस प्रकार कि प्रयोग विधि को जानने वाला अभ्यासी धनुर्धारी धनुष को लेकर बहुत दूर के नहीं, प्रत्युत समीपवर्तीं स्थूल लक्ष्य पर बाण फेंकता हुआ नहीं चूकता लक्ष्य वेद कर ही लेता है, इसी प्रकार वैद्य अपने गुणों ने युक्त, उपकरणवान्, साधनवान्, साध्य-असाध्य का विचार करके काम आरम्भ करके, रोगी के साध्य रोग को स्वस्थ कर देता है, इसमें भूल नहीं करता, इस लिये कहते हैं कि चिकित्सा करना और न करना दोनों समान नहीं हैं ॥ ५ ॥

इदं चेदं च नः प्रत्यक्षं यदनातुरेण भेषजेनाऽस्तुरं चिकित्सामः, क्षाम-मक्षामेण, कृशं च दुर्वलमाप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः, शीतोष्णाभिमूतमुपचरामः शीताभिमूतमुष्णोन्, न्यूनान् धातुन् पूर्यामः, व्यतिरिक्तान् हासयामः, व्याधीन् मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः, तेषां नस्तथा कुर्वतामयं भेषजसमुदायः कान्ततमो भवति ॥ ६ ॥

और यह हमारा प्रत्यक्ष भी है कि रोगी की हम रोगों की प्रकृति से विपरीत गुण वाली औषध से चिकित्सा करते हैं, क्षीणधातु वाले व्यक्ति की पौष्टिक औषधियों से चिकित्सा करते हैं, (कृश) पतले-दुबले को मोटा बनाते हैं, स्थूल चर्वीं वाले पुरुष को पतला (कृश) करते हैं, गरमी से पीड़ित व्यक्ति की शीतल चिकित्सा करते हैं, शीत से पीड़ित व्यक्ति की उष्ण पदार्थों से चिकित्सा करते हैं, कम हुए धातुओं को पूर्ण करते हैं, परिमाण से अधिक बढ़े हुए धातुओं को कम करते हैं, रोगों की कारण के विपरीत विशद्ध चिकित्सा करते हुए दोषों को प्रकृति में भली प्रकार से स्थित करते हैं । रोगी पुरुषों के लिये ऐसा करते हुए ये भैषज्य-समुदाय अर्थात् सोलह गुणयुक्त चिकित्सा व्याविनाशक और सुखकारी होती है ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः ।

काले चाऽस्त्रभते कर्म यत्तत् साध्यति ध्रुवम् ॥ ७ ॥

अर्थ-विद्या-यशो-हानिसुपक्षोऽशमसंप्रहम् ।

प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥ ८ ॥

इसमें इको है—

रोग के साध्य-और असाध्य रूप को एवं साध्य असाध्य के छूटे,

जाग्रकर विचारपूर्वक समय पर जो चिकित्सक कार्य का आरम्भ करता है वह उस कर्म को अवश्य पूर्ण करता है और जो चिकित्सक असाध्य व्याधि की चिकित्सा करता है, वह धन, विद्या और यश की हानि उठाता है। उस की निन्दा होती है और लोग उस से चिकित्सा नहीं करवाते, उसका धन्धा नहीं चलता ॥ ७-८ ॥

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च ।

द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्यायं यच्चवानुपक्रमम् ॥ ६ ॥

साध्यानां त्रिविधश्च। ल्पमध्यमात्कृष्टानं प्रति ।

विकल्पा न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना ॥ १० ॥

मध्य व्याधियां दो प्रकार की हैं, एक (सुखसाध्य) सरलता से अच्छी होने वाली और दूसरी (इच्छ्र-साध्य, कठिनाई से अच्छी होने वाली)। असाध्य व्याधियां भी दो प्रकार की हैं, एक (साध्य) जो कि चिकित्सा से कुछ समय के लिये शान्त की जा सकती है और चिकित्सा के छोड़ने पर फिर खड़ी हो जाती है। दूसरी (अनुपक्रम) सर्वेषां असाध्य जो कभी अच्छी नहीं होती। साध्य व्याधियों के पुनः तीन भेद हैं, (१) अल्पसाध्य, (२) मध्यमसाध्य, और (३) उत्कृष्टसाध्य और जो निश्चित रूप से 'असाध्य' हैं, उनका कोई नियत भेद नहीं है, याप्य, असाध्य रोगों के तीन भेद हैं। यथा अल्पयाप्य, मध्यम याप्य और उत्कृष्टयाप्य ॥ ६-१० ॥

सुखसाध्य व्याधि के लक्षण—

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च ।

न च तुल्यगुणो दूष्यो, न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

न च कालगुणस्तुल्यो, न देशो दुरुपक्रमः ।

गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥ १२ ॥

दोषश्चैकः समुत्पत्ती देहः सर्वौषधक्षमः ।

चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १३ ॥

रोगोत्पत्ति के कारण योद्दे हों, बहुत अधिक या तीव्र कारण न हो, (पूर्वरूप) अर्थात् रोग के प्राथमिक लक्षण भी हल्के हों, और 'रूप' अर्थात् स्पष्ट लक्षण रोग के योद्दे और हल्के हों। (दूष्य रक्त, मांसादि धातु) दोष वातादि कारण के समान न हों, वित्त के कारण से रक्त कुपित न हों, रोगोत्पादक दोष वात आदि रोगी की प्रकृति न हो, वातजन्य व्याधि में सेंगी की प्रकृति 'कात' न हो। उपर्युक्त न हो, ऐमन्त में कफ संचय होता है, इस समय कफ का रोग न शरीर का अवयव या अनूप अर्थात् जलबहुल प्रदेश अर्कात्

कष्टसाध्य स्थान पर रोग न हुआ हो, अथवा जहां पर कठिनता से चिकित्सा की जाय ऐसे स्थान पर रोग न हुआ हो, दोष को गति एक मार्ग में हो, दो मार्ग में न हो, रोग नवीन हो, रोग के साथ कोई उपद्रव (पीछे उत्पन्न हुई व्याधि या उपसर्ग) न हो, और चिकित्सा के चारों चरण प्राप्त हों, रोगोत्पत्ति में कारण एक दोष हो तथा शरीर सम्पूर्ण प्रकार की औषध का सहन कर सके तो ये मुख्यसाध्य अर्थात् सुगमता से अच्छे होने वाले रोग के लक्षण हैं ॥१५-१६॥

कृच्छ्रसाध्य रोग के लक्षण—

निर्मन्त्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे वर्ते ।

कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥ १४ ॥

गर्भिणी वृद्ध-बालानां नात्युपद्रवपीडितम् ।

शस्त्र-क्षाराग्नि-कृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥ १५ ॥

विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम् ।

द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रमाध्यं द्विदोषजम् ॥ १६ ॥

रोग का कारण, रोग का पूर्वरूप और रोग का रूप, स्पष्ट चिन्ह, माध्यम बल, संख्या में मध्यम हां अर्थात् जिस रोग को उत्पन्न करने वाले दोष-प्रकारों के कारण न तो कम और न अधिक हों, काल पकृति और दूष्य इनमें से कोई एक रोगोत्पादक दोष के समान साधारण हो, अधिक उपद्रवों से पीड़ित न हो, तो वह रोग कृच्छ्रसाध्य है ।

गर्भवती, वृद्ध और बालक, इनकी सब व्याधियां कृष्टसाध्य हैं । शस्त्र, क्षार और अग्नि इनसे चिकित्सा करते समय जो व्याधि उत्पन्न हां जाय, नवीन न हो, जो रोग पुराना हो, मर्म स्थान, सन्धिस्थान आदि में जो रोग हो, एक मार्गामी हो, चिकित्सा के चारों अंग पूर्ण न हों दोष दों मार्गानुसारी हों, बहुत समय का न हो, और दो दोषों से उत्पन्न हुआ हो वह रोग भी कष्टसाध्य है ॥१५-१६॥

याप्य व्याधि का लक्षण—

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया ।

लब्ध्वाऽत्युपसुखमल्पेन हेतुनाऽशुप्रवर्तकम् ॥ १७ ॥

असाध्य व्याधि, पथ्य, आहार विहार के पालन करने से आयु के शेष होने के कारण 'याप्य' होती है । कुछ काल तक आराम मिलता है, परन्तु थोड़े से भी कारण से पुनः शीत्र उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार की व्याधि कृच्छ्र होते हैं ॥ १७ ॥

असाध्य व्याधि का लक्षण—

गम्भीरं बहुधातुभ्यं मर्मसन्धिसमाश्रितम् ।
 नित्यानुशासिनें रोगं दीर्घकालमवस्थितम् ॥ १८ ॥
 विद्याद् द्विदोषजं, तद्वप्त्याख्येयं त्रिदोषजम् ।
 क्रियापथमतिक्रन्तं सर्वमार्गानुसारिणम् ॥ १९ ॥
 औत्सुक्यारनिसंमोहकरनिन्द्रयनाशनम् ।
 दुर्बलस्य सुसंबृद्धं व्याधि सारिष्टमेव च ॥ २० ॥

मेद आदि गम्भीर धातु में स्थित, रस रक्तादि बहुत धातुओं में स्थित, मर्म सन्धि में आश्रित हो, लगातार रात दिन रहता हो २४ घन्टे बारह महीने बना रहे, देर तक दो चार साल का हो गया हो, दो दोषों से उत्पन्न हो ऐसे रोग को य-प्य, और इस प्रकार के (गम्भीर बहु धातुभ्य आदि) तीनों दोषों से उत्पन्न रोग 'असाध्य' समझने चाहिये । जो रोग चिकित्सा से बाहर चला गया हो, बहुत बढ़ गया हो, सब मार्ग (ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्) तीनों मार्गों में पहुंच गया हो, अत्यन्त प्रसन्नता, अति वेचैनी, एवं मूर्छा (गम्भीर निद्रा) को उत्पन्न करे, जिस रोग से इन्द्रिय, आँख का देलना, या कान का सुनना आदि नष्ट हो जाये, निर्वल पुरुष में जो रोग बहुत बढ़ा हुआ हो, जिस रोग के लक्षण निश्चित मृत्यु को बताने वाले स्पष्ट हों वह रोग 'असाध्य' है, ऐसा रोगी भी असाध्य है ॥१८-२०॥

भिपजा प्राक् परीक्ष्येवं विकारणां स्वलक्षणम् ।
 पञ्चात्कायेसमारम्भः कार्यः साध्येषु धीमता ॥ २१ ॥
 साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान् ।
 न स मंत्रेयतुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

वैद्य को चाहिये कि चिकित्सा करने से पूर्व रोगों की उनके लक्षणों से परीक्षा, जांच कर ले कि यह साध्य है या असाध्य है । पीछे साध्य रोगों में कार्य आरम्भ करना चाहिये असाध्यों में हाथ न लगाये । जो वैद्य साध्य और असाध्य के भेदों को भली प्रकार जानता है, वह ज्ञानी बुद्धिमान् वैद्य, मंत्रेय के समान लोगों की मिथ्या बुद्धि को नहीं बढ़ाता ॥२१-२२॥

तत्र श्लोकौ—इहौषधं पादगुणाः प्रभावो भेषजाश्रयः ।
 आत्रेय-मंत्रेय-मती मति-द्वैविष्य-निष्यः ॥ २३ ॥
 ये यतुविष्यविकल्पाश्च व्याधयः स्वस्वलक्षणाः ।
 महाचतुर्ष्पादे येष्वायत्तं भिषण्जितम् ॥ २४ ॥ इति ॥

इसमें दो श्लोक हैं—

इस महाचतुष्पाद नामक अध्याय में औरध, चतुष्पाद, गुण, भेषज व आश्रित प्रभाव, आत्रेय एवं मैत्रेय की दो प्रकार की बुद्धि, चार प्रकार के मेट से रोग एवं उनके लक्षण कह दिये हैं, और उन कारणों का भी वर्णन कर दिया है जिनसे देव यशस्वी होता है ॥२३-२४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतं सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्पके
महाचतुष्पादो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

—०००—

अथातस्त्वैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'तिस्त्वैषणीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

इह खलु पुरुषेणानुपहत-सत्त्व-बुद्धि-पौरुष-पराक्रमेण हितमिह चामु-
ष्मिश्च लोके समनुपश्यता तिस्त्वैषणाः पर्येष्टव्या भवन्ति, तद्यथा प्राणै-
षणा, धनैषणा, परलोकैषणेति ॥ २ ॥

इस जगत् में जिस पुरुष का मन, ज्ञान, पौरुष, और पराक्रम मानसिक बल नष्ट नहीं हुआ, जो इह लोक में और परलोक में हित चाहता है उस को तीन एषणायें (इच्छायें) रखनी चाहियें, (१) प्राणैषणा (प्राण या जीवन की इच्छा), (२) धनैषणा (धन की इच्छा), (३) परलोकैषणा ॥३॥

आसाँ तु खलैषणानां प्राणैषणां तावत्पूर्वतरमापद्येत । कस्मात् ?
प्राणपरित्यागे हि सर्वत्यागः । तम्यानुपालनं-स्वस्थस्य स्वस्थवृत्तिरातु-
रस्य विकारप्रशमनेऽप्रमादः, तदुभयमेतदुक्तं वक्ष्यते च; तद्यथोक्तमनु-
वर्त्तमानः प्राणानुपालनादीर्घमायुरवाज्ञांतीति प्रथमैषणा व्याख्याता
भवति ॥ ४ ॥

इन तीनों एषणाओं में से 'प्राणैषणा' को सब से प्रथम करे, क्योंकि प्राणों
के छूट जाने पर सब कुछ छूट जाता है । प्राणैषणा के लिये स्वस्थ प्र-
चाहिये कि स्वस्थकृत का पालन करे, जिससे कि वह रोगी न हो औं
शान्त करने में प्रगाढ़ी न हो । [स्वस्थकृत और रोगशान्ति के]

वार्ते पूर्व कह दा गई हैं आगे विस्तार से भी चहेंगे। उनका ठीक २ एकार से पालन करने से मनुष्य प्राणों की रक्षा कर के दीर्घायु प्राप्त करता है। इस प्रकार से प्रथमैषणा का उपदेश कर दिया ॥८॥

अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत्, प्राणेभ्यो हानन्तरं धनमेव पर्येष्टव्यं भवति, न ह्यतः पापात्पापीयोऽस्ति यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः, तस्मादुपकरणानि पर्येष्टुं यतेत् । तत्रोपकरणोपायाननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा कृष्ण-पाशुपाल्य-बाणिज्य-राजोपसेवादीनि श्रानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिं-पुष्टिं-कराणि विद्यात्तान्यरभेत कर्तुम्, तथा क्रुवन् दीर्घजीवितं जीवत्यनवमतः पुरुषो भवतीति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति ॥५॥

अब दूसरी 'धनैषणा' को भी करे। प्राणों से उत्तर कर धन ही आवश्यक होता है। क्योंकि इससे बढ़कर और कोइ पाप संसार में नहीं है बिना साधनों के दीर्घ जीवन व्यतीत करना, इसलिये उपकरणों अर्थात् धन कमाने के साधनों को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये। धन कमाने के साधनों का भी उपदेश करते हैं, जैसे खेती, पशुओं का पालन, बाणिज्य-व्यापार, राजा की सेवा आदि। इनके सिवाय अन्य और भी जो २ कार्य सज्जन पुरुषों से अनिन्दित, जीविका को देने वाले हां, उन को करे इह प्रकार करने से दीर्घायु प्राप्त करता है और तिरस्काररहित जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार से दूसरी 'धनैषणा' की भी व्याख्या करदी ॥५॥

अथ तृतीयां परलोकैषणामापद्येत् । संशयश्वात्र—कथं ? भविष्याम इतङ्ग्युता न वेति । कुतः संशयः पुनः इति ? उच्यते—सन्ति ह्येके प्रत्यक्षपराः परोक्षत्वात् पुनर्भवस्य नास्तिक्यमाश्रिताः । सन्ति चापरे ये त्वागमप्रत्ययादेव पुनर्भेदमिच्छन्ति । श्रुतिभेदाच्च ।-

'मातरं पितरं चैकं मन्यन्ते जन्मकारणम् ।

स्वभावं परनिर्माणं यदच्छां चापरे जनाः ॥९॥

इत्यतः संशयः—किं तु खल्वस्ति पुनर्भवो न वेति ॥६॥

अब तीसरी 'परलोकैषणा' को भी प्राप्त करे। इस 'परलोकैषणा' के विषय में सन्देह है कि यहां से मरने के पीछे फिर जन्म होगा वा नहीं। संशय क्यों है ? कहते हैं—कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो कि प्रत्यक्ष से जानने योग्य वस्तु को नहे हैं और परोक्ष को नहीं मानते। परोक्ष आंख से दिखाई नहीं देता, अतः ये नास्तिक भूत को स्वीकार करते हैं, पुनर्जन्म को नहीं मानते। देवोपदेश को प्रमाण मानकर ही पुनर्जन्म को मानते हैं। श्रुति की

भिज्ञता के कारण पुनर्जन्म में सन्देह है। कुछ मनुष्य जन्म का कारण माता-पिता को मानते हैं, और कोई स्वभाव को ही जन्म का कारण मानते हैं। तीसरे दूसरे को समस्त जगत् का कारण मानते हैं। चौथे लोग 'यद्यच्छा' को ही जन्म का कारण मानते हैं, अर्थात् अपने आप विना कारण के ही जन्म हो गया है। इसलिये सन्देह होता है कि पुनर्जन्म है, वा नहीं ॥ ६ ॥

तत्र बुद्धिमान्नास्तिक्यवुद्धि जह्याद्विचिकित्सां च । कस्मात् ?
प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति यदागमानुमान-युक्तिभिरूपलभ्यते ।
येरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्र-
त्यक्षाणि ॥ ७ ॥

इस अवस्था में तुष्टिमान् मनुष्य को चाहिये कि 'नास्तिक्य बुद्धि' अर्थात् परलोक नहीं है इस विचार को और संशय को छोड़ दे। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान बहुत थोड़ा है और अप्रत्यक्ष ज्ञान बहुत है जिसको आगम शास्त्र, अनुमान और युक्ति से जाना जाता है। जिन ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है वे इन्द्रियां स्वयं अप्रत्यक्ष हैं, आंख आंख को नहीं देख सकती, नाक नाक को नहीं सूंघ सकती, कान कान को नहीं सुन सकते ॥ ७ ॥

सती च रूपाणामतिसंनिकर्पदितिविप्रकर्षादावरणात्करणदौर्बल्या-
न्मनोऽनवस्थानात्समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्याच्च प्रत्यक्षानुपल-
ब्धिस्तस्मादपरीक्षितमेतदुच्यते—प्रत्यक्षमेवास्ति, नान्यदस्तीति ॥ ८ ॥

और रूप आदि के बहुत समीप होने से (जैसे पलकों में लगा हुआ काजल), अति विप्रकर्ष अर्थात् बहुत दूर होने से (जैसे बहुत दूर उड़ता हुआ पक्षी), बाँच में व्यवधान आने से (जैसे दीवार के पांछे रक्खी बस्तु), इन्द्रिय के निर्बल होने से, मन स्थिर न होने से, एक साथ दो या अधिक भिज्ञ विषयों में इच्छा करने से, तिरस्कृत होने से यथा—मध्यान्ह में सूर्य की किरणों द्वारा तिरस्कृत नक्षत्रादि, अतिसूक्ष्म होने से, जैसे कृमि या द्रव्यानुकादि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता । इसलिये जो चारोंक आदि नास्तिक का यह कहना कि 'प्रत्यक्ष' इन्द्रियों से जिसका ज्ञान होता है वही है, उसके अतिरिक्त और नहीं है वह अपरीक्षित अर्थात् विना सोचे विचारे कहा गया है ॥ ८ ॥

श्रुतयश्चैता न कारणं, युक्तिविरोधात् ॥ ९ ॥

नाना वादिजनों के बचन भी परलोक के न होने में प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे युक्ति (तर्क) से विरुद्ध हैं ॥ ९ ॥ युक्ति—

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत् ।

द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा ॥ १० ॥,

सर्वश्चेत्संचरेन्मातुः पितुर्बा मरणं भवेत् ।

निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चाऽऽत्मनः ॥ ११ ॥

जो लोग कहते हैं कि माता पिता की आत्मा पुत्र रूप में उत्पन्न होती है; इस अवस्था में आत्मा की गति दो प्रकार से हो सकती है। एक, आत्मा सम्पूर्ण पुत्र रूप में आये; दूसरी अवस्था में आत्मा का कोई अवयव पुत्र रूप में आये। यदि सम्पूर्ण आत्मा पुत्र रूप में आता है तो माता या पिता किसी एक की मृत्यु हो जानी चाहिये, और दूसरीं अवस्था में सूक्ष्म आत्मा का कोई अवयव हो ही नहीं सकता। परमाणुओं के संयोग से बनी वस्तु का भाग हो सकता है, परमाणु का नहीं ॥ १०-११ ॥

बुद्धिमनश्च निर्णते यथैवाऽत्मा तथैव ते ।

येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा ॥ १२ ॥

विद्यात्स्वाभाविकं पर्णां धातुनां यत्स्वलक्षणम् ।

संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मेव कारणम् ॥ १३ ॥

जिस प्रकार माता पिता की आत्मा उत्पत्ति का कारण नहीं बन सकती उसी प्रकार ये बुद्धि और मन भी उत्पत्ति का हेतु नहीं बन सकते, क्योंकि मन और बुद्धि दोनों दूर्धम हैं, इसलिये इनका भी विभाग नहीं बन सकता। और यदि सम्पूर्ण अवतरण मानो तो माता पिता में से एक मन और बुद्धि से रहित अर्थात् ज्ञान, चिन्तन, बोध से शून्य होना चाहिये। इसलिये यह भी ठीक नहीं। एक और भी दोष है। उनके मतमें योनि चार प्रकार की (स्वेदज, अण्डज, उद्दिज और जरायुज) नहीं होती। (क्योंकि उद्दिज योनि वनस्पति आदि में माता और पिता नहीं है)। प्राणियों की उत्पत्ति में छः धातु (पंच महाभूत, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश एवं छठी चेतना आत्मा) अपने लक्षणों से स्वभाव से ही कारण बनते हैं। इनके संयोग और वियोग में कर्म ही कारण है ॥ १२-१३ ॥

अनादेश्वेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः ।

पर आत्मा स चेद्गेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः ॥ १४ ॥

ईश्वर का ही बनाया जगत् मानकर जो लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते उनका कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनादि (जिसका आदि नहीं)

धातु (आत्मा) का दूसरे से बनाया जाना भी सम्भव नहीं। यदि पूर्व आत्मा नहीं है तो दूसरा पुरुष भी किस उपादान को ले कर दूसरे को

क्योंकि अचेतन वस्तु चेतन को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि

परमात्मा के केवल शरीर का बनाने वाला मानते हो तो तुम्हारे और हमारे सिद्धान्त में कोई भेद नहीं। इसलिये आत्मा नित्य है, वह सभय २ पर स्थृत शरीर को छोड़कर परलोक में कर्मों का भोग करके भाग की समाप्ति पर और भोग्य कर्म फलों के भोग के लिये पुनः उत्तम होता है ॥१४॥

न परीक्षा न परीक्ष्य न कर्ता कारणं न च ।
न देवा नर्थयः सिद्धाः कर्म कर्मफलं न च ॥ १५ ॥
नास्तिकस्यास्ति नैवाऽत्मा यदच्छोपहतात्मनः ।
पातकेभ्यः परं चैतत्पातकं नास्तिकग्रहः ॥ १६ ॥

यदच्छा भी जन्म का कारण नहीं है, क्योंकि यदच्छावादी के मत में न कोई परीक्षा (प्रमाण) है, और न कोई परीक्ष्य अर्थात् प्रमेय वस्तु है। इसलिये माता, पिता, कन्या, बहिन, पनी, गुरु, बृद्ध, तपस्वी इत्यादि परीक्षणीय वस्तु के अभाव में मनमाना आचार होना सम्भव है और कर्म भी नहीं है, जिसका किं अच्छा या बुरा फल मिलेगा, इसलिये कर्म फल भी नहीं है। न कर्म का कोई कर्ता है, जो कर्म करे। यह सब यदच्छा से ही, विना कारण होता है, कारण के न होने से भनचाहा आचरण करने में कोई दोष नहीं होगा, इससे गुरु, बिद्ध पुरुषों में पूज्यापूज्य भाव भी नहीं रहेगा। वह माता, कन्या आदि में दारवत् बुद्धि कर सकेगा, इसलिये जिसका आत्मा यदच्छावाद से नष्ट हो जाता है ऐसे नास्तिक का आत्मा नहीं रहता। अतः नास्तिक होना सब पातकों से बड़ा पातक है ॥ १५-१६ ॥

तस्मान्मति विमुच्यैतामार्गप्रसृतां बुधः ।
सतां बुद्धिप्रदीपेन पश्येत्सर्वं यथातथम् ॥ १७ ॥ इति ।

इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि उल्टे मार्ग में जाने वाली इस विपरीत बुद्धि को छोड़ दे और सजन एुदयों की बुद्धि रूप दीपक से सब वस्तुओं को ठीक २ रूप में देखे ॥ १७ ॥

द्विविधमेव खलु सर्व—सञ्चासञ्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा आपो-पदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्वेति ॥ १८ ॥

संसार में जो कुछ दीख रहता है, वह सब दो प्रकार का है, एक सत् और दूसरा असत्। इस की परीक्षा चार प्रकार से होती है, १. आपोपदेश २. प्रत्यक्ष ३. अनुमान और ४. युक्ति।

आपास्तावत्—

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपो-ज्ञान-बलेन ये ।

येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ १९ ॥

आपाः शिष्टा विवृद्धास्ते तेषां बाक्यमसंशयम् ।
सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्माद्सत्यं नारजस्तमाः ॥ २० ॥

जो पुरुष तप और ज्ञान के लल से रजोगुण और तमोगुण से मुक्त हो चुके हैं, केवल सत्त्व गुण ही जिन में रह गया है, उनका ज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विवृद्ध और कभी भी बाधित नहीं होता । ऐसे पुरुष 'आप', 'शिष्ट' और 'विवृद्ध' होते हैं, इन के बाक्य विना सन्देह के होते हैं । ये पुरुष सदा सत्य ही कहेंगे, जो पुरुष रजस् और तमस् से रहित हैं वे असत्य कैसे बोल सकते हैं ॥ १६-२० ॥

प्रत्यक्ष का लक्षण—

आत्मेन्द्रिय-प्रनोदर्थानां भन्तिकर्पात्प्रवर्तते ।
व्यक्ता तदात्वे या तुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ २१ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (पदार्थ) इन चारों का एक साथ संयोग होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं ॥ २१ ॥

अनुमान—

प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते ।
वहिर्निर्गूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात् ॥ २२ ॥
एवं व्यवस्थ्यन्त्यर्तां, वीजात्कलमनागतम् ।
हप्ता वीजात्कलं जातमिहैव सदृशं त्रुधाः ॥ २३ ॥

प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण से देखकर तीन प्रकार से कार्य—लिंगानुमान, कारण-लिंगानुमान और कार्य-कारण लिंगानुमान होता है, भूत, भविष्यत्, और वर्तमान इन तीनों समय में प्रत्यक्ष का अनुमान किया जाता है । जैसे कि छिपी अग्नि को धुंआ देखकर जानते हैं और गर्भ को देखकर मैथुन कर्म का ज्ञान कर लेते हैं । इसी प्रकार से अतीत काल का ज्ञान अनुमान से कर लेते हैं और जिस प्रकार बीज को देखकर अनागत फल का अनुमान हो जाता है, जैसा बीज होता है, वैसा ही फल लगता है । इसी प्रकार भविष्य काल का भी अनुमान से ज्ञान करते हैं ॥ २२-२३ ॥

युक्ति—

जल-कर्षण-धीर्जर्तु-संयोगात्सस्य-संभवः ।
युक्तिः षड्धातु-संयोगाद् गर्भाणां संभवस्तथा ॥ २४ ॥
मध्य-मन्थन-मन्थान-संयोगाद्गिनिसंभवः ।
युक्तियुक्ता चतुष्पाद-संपन्न्याधिनिर्वर्णी ॥ २५ ॥

पानी, कर्षण (हल चलाया हुआ खेत), बीज और शृङ्ग इन चारों के संयोग से अन्न उत्पन्न होता है । उत्तम क्षेत्र में समय पर उत्तम धीज पानी से सींचकर बोने से अनाज इंता है । इसलिये पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश एवं चेतना इन छः के संयोग से गर्भ का होना सम्भव है; यह युक्ति है । इसी प्रकार 'मथ्य' अरणी का अधः काश (नाने की लकड़ी), मन्थन (मथने का ढण्डा) और (मन्थन) मथनी चलाने वाला कत्ता, इन तीनों के संयोग से अग्नि उत्पन्न होना सम्भव है । इसी प्रकार चतुष्पाद (चिकित्सा के चारों अङ्ग की) युक्ति से युक्त सम्पूर्ण रोग को नाश करने वाली है । यदि चिकित्सा के चारों अंग टीक तरह से प्रयुक्त किये जायें, तो रोग मिटना सम्भव है ॥ २४-२५ ॥

बुद्धिः पश्यति या भावान् बहु-कारण-योगजान् ।

युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यथा ॥ २६ ॥

एषा परीक्षा नाम्यन्या यथा सर्वं परीक्ष्यते ।

परीक्ष्यं सदसञ्चेव तथा चास्ति पुनर्भवः ॥ २७ ॥

जो बुद्धि बहुत प्रकार के कारणों से उत्पन्न, पदार्थों को ज्ञान के लिए देखती है उस बुद्धि को 'युक्ति' कहते हैं । यह बुद्धि तीनों कालों के विषय को देखती है, इस युक्ति से त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं । यह चार प्रकार की (आसोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति) परीक्षा है, इसमें भिन्न और परीक्षा नहीं है । इस चार प्रकार की परीक्षा से सब कुछ सत्, असत्, भाव, अभाव जो कुछ ज्ञेग है, नह सब जाना जाता है । सत् असत् की परीक्षा करके ही जाना गया है कि पुनर्जन्म होता है ॥ २६-२७ ॥

**तत्राऽप्नागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वैदार्थोदविपरीतः परी-
क्षकैः प्रणीतिः शिष्टानुमतो लोकानुप्रह-प्रवृत्ताः शास्त्र-वादः स चाऽप्नागमः ।**
आप्नागमादुपलभ्यते-दान-तपो-यज्ञ-सत्याहिंसा-ब्रह्मचर्याण्यभ्युदय-निः-
श्रेयस-कराणीति । न चानतिवृत्त-सत्त्व-दोषाणामदोपरपुनर्भवो धर्मद्वारेषु-
पदिश्यते । धर्मद्वारावहितेष्व व्यपगत-भय-राग-द्रष्टव्योम-मोह-माननीवद्वा-
पररामैः कर्मविद्वानुपहत-सत्त्व-नुद्धि-प्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्य-
चक्षुर्भिर्द्वौपदिष्टैः पुनर्भव इति व्यवस्थेदेवम् ॥ २८ ॥

आस पुरुषों का आगम वेद (शृङ्ग, यजुः, साम और अर्थव्) हैं । वेदों के सिवाय और भी कोई अन्य जो कि वेद के अर्थ के अनुकूल, परीक्षा से बनाया हुआ शिष्ट पुरुषों से अनुमत, जनसमाज के कल्याण के लिये प्रच-

जो अन्य ज्योतिष, व्याकरण, आयुर्वेद स्मृति आदि हैं, वे भी आसागम अर्थात् शब्द प्रमाण हैं। आसागम से भी जाना जाता है कि ज्ञान, तप (द्वन्द्व-सहिष्णुता), यज्ञ (अग्निहोत्रादि), सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कर्म अभ्युदय (इस लोक में कल्याण) और निःश्रेष्ठता (परलोक में मङ्गल) करने वाले हैं। मनोदोष, रजस् और तमस् जिन के ज्ञान नहीं हो गये उन रजोगुणी या तमोगुणी पुरुषों को अपुनर्भव नहीं कहा गया, अतः रजोगुणी या तमोगुणी पुरुषों का पुनर्जन्म होता है। ऐसा धर्म शास्त्रों में उपदेश किया गया है। धर्मशास्त्रों में सावधान, राग, मोह, द्वेष, भय, लंभ, मोह, मान से रहित, ब्रह्मचारो, आस विद्वान्, कर्म योग को जानने वाले, जिन के मन, बुद्धिएवं प्रचार (व्यवहार) ठीक बने हुए हैं, ऐसे अति प्राचीन महर्षियों ने दिव्य चक्षुओं से देखकर निश्चयपूर्वक पुनर्जन्म का उपदेश किया है, इसलिये उनका निश्चय सत्य करके जाने ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते-मातादित्रिविसद्वशान्यपत्यानि, तुल्यसंभवानां वर्णस्वराकृति-सत्त्व-बुद्धिभाग्यविशेषाः, प्रवरादर-कुल-जन्म, दास्यैश्वर्यम्, सुखासुखमायुः, आयुषो वैपन्नम्, इहाकृतस्यात्रातिः, अशिक्षितानां च रुदित-स्तन-पान-हास-त्रासादीनां च प्रवृत्तिः, लक्षणोत्पत्तिः, कर्मसामान्ये फलविशेषाः, मेधा क्वचित्क्वचित्कर्मण्यमेधा, जातिस्मरणम्, इहाऽऽगमनमितश्च्युतानां च भूतानां समदर्शने प्रियाप्रियत्वम् ॥२९॥

प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है कि पुनर्जन्म है, माता पिता से विभिन्न प्रकृति के पुत्र (रूपवान् माता पिता का काला पुत्र) होते हैं। एक ही माता पिता के दो पुत्रों में सुगे भाइयों में रंग, स्वर, आकृति, चेहरा, मन, ज्ञान और भाग्य, प्रारब्ध भिन्न होते हैं। श्रेष्ठ और नीच कुल में जन्म होते हैं। किसी की दासता और किसी की ऐश्वर्य-सम्पत्ति होती है, कोई सुख पूर्वक जिन्दगी बसर करता है, कोई दुःख से जीवन व्यतीत करता है, आयु की विषमता, योद्धा जीना या अधिक देर जीना, यहां किए कर्म का फल न मिलना, पढ़े सीखे जिना ही रोने, दुर्घ पान (स्तन्य पान), हँसने डरने आदि कायों में प्रवृत्ति का होना, शरीर पर राज्यचिह्न या दारिद्र्यसूचक चिह्नों का होना, एक सदृश काम करने पर भी फल में भिन्नता का रहना, कहीं पर बुद्धि का होना और कहीं पर बुद्धि का न होना, जाति, पूर्व जन्म वृत्तान्त का स्मरण करना, यहां मरने पर फिर यहां आना, एक समान एक दृष्टि से देखने पर प्रिय एवं दीर्घ, राग-द्वेष बुद्धि का उत्पन्न होना ये सब बातें पुनर्जन्म को सिद्ध करती हैं ॥

अत एवानुमीयते—यत्त्वकृतमपरिहार्यमविनाशि पोर्वदेहिकं
दैवसंज्ञकमानुबन्धिकं कर्म, तस्येतत्कलम्, इतश्चान्यद्विष्यतीति ।
फलाद्वीजमनुमीयते, फलं च बीजात् ॥ ३० ॥

उपरोक्त बातों को देखकर ही अनुमान भी किया जाता है कि अग्रना किया
हुआ कर्म नहीं छोड़ा जा सकता, उसका विनाश नहीं हो सकता, पूर्व जन्म में
किया हुआ 'भास्य' नामक अनुबन्धिक अर्थात् आत्मा के साथ परलोक में भा-
निश्चित रूप से बैठा हुआ है । उसी का यह फल है जो कि माता पिता से
पुनर्भूति के उत्पन्न होते हैं इत्यादि । यहाँ किये कर्म से दूसरा जन्म
होगा, बीज से फल का अनुमान होता है, कर्म से पुनर्जन्म का और पुनर्जन्म
से कर्म का अनुमान होता है ॥ ३० ॥

युक्तिश्चेष्टा—षष्ठधातुसमुदायाद् गर्भजन्म, कर्तृकरणसंयोगात्
क्रिया, कृतस्य कर्मणः फलं नाकृतस्य, नाष्टकुरोत्तरत्तिर्बोजात्, कर्म-
सदृशं फलं नान्यस्माद्वीजादन्यस्योत्पत्तिरिति युक्तिः ॥ ३१ ॥

युक्ति भी है कि—पृथ्वी, अप्., तेज, वायु, आकाश और चेतना इन छः
धातुओं के समुदाय मिलने से गर्भ उत्पन्न होता है और कर्ता और करण
(साधन) के मिलने से क्रिया उत्पन्न होती है, कर्ता आत्मा, करण खी पुरुष
उनके संयोग से गर्भाशय रूप क्षेत्र में जन्म होता है । किये हुए हो कर्म का
फल होता है, न किये हुए कर्म का फल नहीं होता । जिस प्रकार बिना बीज
के अंकुर उत्पन्न नहीं होता वैसे कर्म के अनुसार समान ही फल मिलता है
यथा—एक जाति के बीज से दूसरी जाति का फल उत्पन्न नहीं होता ॥ ३१ ॥

एवं प्रमाणैश्चतुभिरुपदिष्टे पुनर्भवे धर्मद्वारेष्ववधीयेत, तद्यथा-
गुरुशुश्रूषायामध्ययने ब्रतचर्यायां दारक्रियायामपत्योत्पादने भृत्यभरणेऽ-
तिथिपूजायां दानेऽनभिध्यायां तपस्यनसूयायां देहवाह्मानसे कर्मण्य-
किळटे देहेन्द्रिय-मनोऽर्थ-बुद्ध्यात्म-परीक्षायां मनःसमाधाविति, यानि
चान्यान्यव्येष्वंविधानि कर्मणि सत्तामविग्नहितानि स्वर्ग्याणि वृत्तिपुष्टि-
कराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम्, तथा हि कुर्वन्निह चंब यशो लभते
प्रेत्य च स्वर्गमिति तृतीया परलोकैषणा व्याख्याता भवति ॥ ३२ ॥

इस प्रकार आसोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति चारों प्रमाणों द्वारा
पुनर्जन्म के सिद्ध होने पर धर्म-साधन के मार्गों में चिरा लगावे । यथा—सु-
माता, पिता, आचार्य की सेवा, अध्ययन-पठन में, ब्रह्मचर्य काय, मन, वा-
से मैथुन त्याग, ब्रह्मचर्यपालन, विवाह कर्म में, सन्तानोत्पत्ति, आभित ज-

के पोषण में, अतिथि सत्कार में, यथाशक्ति राजन देने में, दूसरे के धन को न चाहने में, दुन्दु मुख-दुःख सहने में, दूसरे के गुणों में दोष न देखने में, शरीर को विना कष्ट पहुँचाये शरीर, वाणी और मन स कर्म करने में, देहपरीक्षा में, इन्द्रिय परीक्षा, मन परीक्षा, विषय की परीक्षा, ज्ञान की परीक्षा, आत्म परीक्षा, और मन की समाप्ति (चिरावृत्ति निराव) में मन का लगाना ही धर्म मार्ग है। और भी दूसरे इसी प्रकार के कर्म, सजनों से अविनंदत, पूजित, स्वर्ग मुख को देने वाले, जीवन पालन करने वाले हाँ, उनको करने का उद्योग करे, ऐसा करने पर इहलोक में यश मिलता है और मरने पर स्वर्ग अथात् पुर्नजन्म में सुख मिलेगा, इस प्रकार से तीनों परलोकेषण भी कह दी ॥ ३२ ॥

अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः, त्रिविधं बलम्, त्राण्यायतनानि, त्रयो रोगाः, त्रयो रोगमार्गाः, त्रिविद्या भिपजः, त्रिविधमौषधमिति ॥ ३३ ॥

तीन प्रकार के उपस्तम्भ अर्थात् शरीर को धारण करने वाले तत्त्व हैं, तीन प्रकार के बल हैं, तीन कारण हैं। तीन प्रकार के रोग हैं, तीन रोगमार्ग हैं, तीन प्रकार के चिकित्सक हैं, तीन प्रकार की औषध हैं ॥ ३३ ॥

त्रय उपस्तम्भा इति-आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यमिति । एभिष्ठिभिर्युक्तियुक्तेहृपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्त्तते यावदायुः-संस्कारात् संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य, य इहंवोपदक्षयते ॥ ३४ ॥

तीन उपस्तम्भ तत्त्व जो शरीर को धारण करते हैं, आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य हैं। ये तीनों का युक्ति पूर्वक प्रयुक्त करने पर शरीर दृढ़, मजबूत बल, वर्ण, पुष्टि से युक्त होता है, जब तक शरीर में धर्मधर्म आयु के बनाने में कारण रहते हैं। इन तीनों उपस्तम्भों का उचित मात्रा में सेवन करना ही आयु का कारण है। अहित वस्तुओं का सेवन न करना ही आयु में कारण है, उन अहित वस्तुओं को यहाँ पर कहेंगे ॥ ३४ ॥

त्रिविधं बलमिति सहजं कालजं युक्तिकृतं च । तत्र सहजं यच्छरी-रसत्वयोः प्राकृतम्, कालकृतमृतुविभागजं वयःकृतं च, युक्तिकृतं पुनर्स्तद्यदाहारचेष्टायोगजम् ॥ ३५ ॥

तीन प्रकार का बल है—सहज, कालजन्य और युक्तिजन्य, इन में उत्पत्ति समय ही शरीर और मन का गर्भाशय में मिलता है जो बल उसे सहज या ग्राहकिक बल कहते हैं। कालजन्य श्रृङ्खलों के विभागानुसार आहार-विहार के शरीरा और बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था में उत्पन्न बल । यौवनावस्था में बला-

धिक्य रहता है । बलकारक आदार या चेष्टा विदार से जो बल उत्तरज्ञ किया जाता है वह युक्तिकृत है ॥ ३५ ॥

त्रीण्यायतनानीति अर्थानां कर्मणः कालस्य च अतियोगायोग-मिथ्यायोगः । तत्रातिप्रभावनां इश्यानामतिमात्रं दर्शनमनियोगः, सर्वशोऽदर्शनमयोगः, अतिसूक्ष्मानिश्लिष्टानिविप्रकृष्ट-रूप-भैरवःद्वृत् द्विपु-चीभ-त्स-विकृतादि-स्त्व-दर्शनं मिथ्यायोगः । तथाऽन्तिमात्र-मननिन-पटहोत्कृष्टादीनां शब्दानामतिमात्रं श्रवणमतियोगः, सर्वशोऽन्त्रवृणमयोगः, परुषेष्ट-विनाशोपवान-प्रथर्षणं भीषणादि-शब्द-श्रवणं मिथ्यायोगः । तथाऽन्तितीक्ष्णोप्राप्तिष्ठन्दिनां गन्धानामतिमात्रं ग्रागमतियोगः, सर्वशोऽग्राणमयोगः, पूति-द्विपुमेध्य-किलन्न-विष-पवन-कुणप-गन्धादि ग्राणं मिथ्यायोगः, तथा रसानामत्यादानमतियोगः, अनादानमयोगः, मिथ्यायोगो राशि-वज्येष्वाहार-विधि-विशेषायतनेषुपदेश्यते; तथाऽन्तरीक्षानां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्कात्सादनादीनां चात्युपसेवनमतियोगः, सर्वशोऽनुपसेवनमयोगः, स्नानादीनां शीतोष्णादीनां च स्पृश्यानामनानुपूर्वोपसेवनं विषम-स्थानामिधानाशुचि-भूत-संसर्पशाद्यस्त्वेति मिथ्यायोगः ॥ ३६ ॥

रोग के आयतन अर्थात् कारण तीन हैं, अर्थ, अर्थात् इन्द्रियों के विषय कर्म और काल इन तीनों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायंग ये तीन रोगों के 'आयतन' हैं । बहुत चमकने वाले पदार्थ सूर्य आरि का देर तक देखना चल्लु इन्द्रिय का 'अतियोग' है, सर्वथा ही न देखना 'अयोग' है । बहुत कठेशदायक पदार्थ का देखना, बहुत दूर की वस्तु को देखना, रोद, भयानक-डरावनी, अन्द्रुत, अप्रिय, वीभत्त्व और विकृत रूपों को देखना, आंख का 'मिथ्यायोग' है । इसी प्रकार वादन की प्रथराहटकी अविक सुनना, ढोल या नगाड़ की आवाज को बहुत सुनना, तांग आरि के बहुत ऊँचे शब्द की अधिक सुनना, कान का 'अतियंग' है । सर्वथा न सुनना 'अयंग' है । कठोर, पुत्र धन आदि इष्ट वस्तुओं के नाश को सुनना, इष्ट वस्तु के मरण को सुनना, दुर्वचन, तिरस्कार सुनना, भयानक भयानक शब्दों का सुनना, आंत्रेन्द्रिय का 'मिथ्यायोग' है । अति तत्र (मरिन आदि) गन्ध का सूचना, उष्म, चमेली आदि गन्ध का अधिक सूचना, माल कंगनी आदि गन्ध का अधिक मात्रा में सूचना, नासा का 'अतियोग' है । सर्वथा न सूचना नाक का 'अयोग' है, सही दुर्गन्धयुक्त, गली की अपवित्र जहरीली वायु, मुद्रे की गन्ध जैसी वस्तुओं के सूचना नाक का 'मिथ्यायोग' है । इसी प्रकार मधुर आदि रसों का अधिक

मात्रा में उपयोग रसनेन्द्रिय का 'अतियोग' है, सर्वथा रसों का न खाना अयोग है । आगे विमान स्थान (अ० १) में कहे हुए प्रकृति, करण, संयोग, देश, काल, उपयोग, निष्ठोपयोगः और राशि इन आठ में से राशि को छोड़कर शेष सात के विरुद्ध आहार करने का नाम रसनेन्द्रिय का 'मिथ्यायोग' है । बहुत ठण्डे बहुत गरम स्पर्श, बहुत अधिक स्नान, बहुत मालिश, बहुत उबटन लगाना, त्वक्-इन्द्रिय का 'अतियोग' है । इनके बिलकुल सेवन न करना 'अयोग' है, जो चेरनीचे स्थान का, चोट घाव आदि और शव आदि अपवित्र वस्तुओं का स्पर्श करना 'मिथ्यायोग' है ॥ ३६ ॥

तत्रेकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियापकं चेतः समवायि स्पर्शनव्याप्त्यायपकमपि च चेतः, तस्मात्सर्वेन्द्रियाणां व्यापकस्पर्शकृतो यो भावविशेषः सोऽन्यमनुशशयात्पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्यसात्म्यन्द्रियार्थसायोगः; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ ३७ ॥

इन पांच ज्ञानेन्द्रियों में से एक स्पर्शन (त्वचा) इन्द्रिय शेष प्राण, रसना, चक्षु और कर्ण इन चार इन्द्रियों में और गुदा, लिंग, हाथ, पैर और वाणी में भी व्यापक हैं और वह त्वग्-इन्द्रिय मन के साथ समवाय सम्बन्ध से संयुक्त है, इसलिये त्वग्-इन्द्रिय सब इन्द्रियों में पैली होने से और चित्त का इस त्वगिन्द्रिय के साथ समवाय सम्बन्ध होने से मन भी व्यापक हो जाता है । इसलिये सब इन्द्रियों में व्यापक स्पर्शेन्द्रिय के साथ समवाय सम्बन्ध से जुड़ा हुआ मन, आत्मा के अभीप्सित विषय को ग्रहण करने के लिये स्पर्शेन्द्रिय द्वारा प्राप्त मार्ग से, उस विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय तक पहुँच जाता है । इस से सब इन्द्रियों में व्यापक त्वक् के स्पर्श से उत्पन्न जो अपने अपने विषय के ज्ञान विशेष उत्पन्न होते हैं, वे शरीर के अनुकूल न होने पर, पांच प्रकार के होने पर भी तीन प्रकार होते हैं । वया (१) 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' अयांत् इन्द्रियों का विषय के साथ अनुचित रूप से संयोग होना अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग इन तीन प्रकार का हो जाता है । सात्म्य का अर्थ उपशय है, शरीर के जो अनुकूल पड़े वह 'सात्म्य' है ॥ ३७ ॥

कर्म वाङ्मनः-शरीर-प्रवृत्तिः । तत्र वाङ्मनःशरीरातिप्रवृत्तिरति-
ष्टेगः, सर्वशोऽप्रवृत्तिरयोगः, वेग-धारणोदीरण-विषम-स्खलत-गमन-प-
र्याप्त-जाङ्ग-प्रणिधानाङ्ग-प्रदूषण-प्रहार-मर्दन-प्राणोपरोध-संक्लेशनादिः शा-
पेरो मिथ्यायोगः । सूचकानुसाकाल-कलहाप्रियावद्वानुपचार-परुष-बच-

नादिवर्ढ-मिथ्यायोगः । भय-शोक-क्रोध-लोभ-मोह-मानेष्या-मिथ्यादश-
नादिर्मानसो मिथ्यायोगः ॥ ३८ ॥

वाणी मन और शरीर इन की चेष्टा का नाम 'कर्म' है, इन में वाणी, मन और शरीर की अतिप्रबृत्ति का नाम 'अतियोग' है। इन की सर्वथा प्रबृत्ति न होना 'अयोग' है। वाणी, मल-मूत्रादि के उपस्थित बेगों को रोकना, अनुपस्थित बेगों को बलपूर्वक बाहर निकालना, सम स्थान पर चिष्ठम (टेढ़ा-मेढ़ा) गिरना, अनुचित रूप से चलना, ऊचे स्थान से कूदना, अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा करना, अंगों को पीड़ित करना, खुजाना, दबाना आदि, अङ्गों पर दण्ड आदि से प्रहार करना, अङ्गों को मर्दन करना, श्वास घोटना, श्वास बन्द करना, स्कलेश ब्रत, उपवास आदि, चिष्ठम नृत्य आदि कर्म भी शरीर के 'मिथ्यायोग' हैं। निन्दा, चुगली, मिथ्या बोलना, विना समय के बात करना, झगड़ा करना, जीको दुःखाने वाला अप्रिय, असम्बद्ध, प्रतिकूल और कर्कश बोलना, वाणी का 'मिथ्यायोग' है। भय, शोक, चिन्ता, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, मान, अहंकार, ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन, नास्तिक्य बुद्धि ये मन के 'मिथ्यायोग' हैं ॥ ३८ ॥

संग्रहेण चातियोगायोगवर्जं कर्म वाढ़-मनःशरीरजमहितमनुप-
दिष्ट्यं यत् तत्त्वं मिथ्यायोगं विद्यात् ॥ ३९ ॥ इति त्रिविध-विकल्पं त्रिवि-
वर्मेव कर्म प्रश्नापराध इति व्यवस्थेत् ॥ ४० ॥

संक्षेप में—वाणी, मन और शरीर के जो अहितकारी और नहीं कहे हुए कर्म हैं, जिनका अतियोग या अयोग में समावेश नहीं होता, वे सब 'मिथ्यायोग' जानने चाहिये। वाणी, मन और शरीर इनके अतियोग अयोग और मिथ्यायोग को 'प्रश्नापराध' कहते हैं ॥ ३८-४० ॥

शीतोष्ण-वर्ष-लक्षणः पुनर्हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षाः संवत्सरः स कालः ।
तत्रातिमात्र-स्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीन-स्वलक्षणः कालः काला-
योगः, यथास्वलक्षण-विपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः । कालः
पुनः परिणाम उच्यते ॥ ४१ ॥

हेमन्त और शिशिर शीत काल, वसन्त और ग्रीष्म उष्ण काल, वर्षा और शरद और वर्षा काल। इस प्रकार से हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद इन छः शृनुओं वाला सम्वत्सर रूप काल, शीत, उष्ण और वर्षा के रूप में तीन प्रकार का है। इन में अपने लक्षणों से अधिक हेमन्त आदि का होल्क काल का 'अतियोग' है, शीतकाल में बहुत अधिक शीत, ग्रीष्म में बहुत अधिक गरमी, वर्षा काल में बहुत अधिक बरसात पड़ना ये काल के 'अतियोग' हैं।

और हेमन्त आदि काल में अपने लक्षणों से कम शीत आदि का होना 'अयोग' है। हेमन्त आदि काल में अपने लक्षणों से विपरीत लक्षणों का होना अर्थात् शीत काल में बर्षा या गरमी पड़ना, गर्भियाँ में शीत या वर्षा होना, वर्षा काल में शीत या गरमी पड़ना, काल का 'मिश्यायोग' है। काल का ही दूसरा नाम 'परिणाम' है ॥ ४१ ॥

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रयच्चिविध-
विकल्पाः कारणं चिकारणाम्, समयोगयुक्तास्तु प्रकृतिहेतवो भवन्ति ॥

सर्वेषामेव भावानां भावाभावौ नान्तरेण योगायोगातियोगमिथ्या-
योगान् समुपलभेते । यथास्वयुक्त्यपेक्षिणौ हि भावाभावौ ॥ ४२ ॥

ये ऊपर कहे 'असात्म्येन्द्रियार्थ', 'प्रज्ञापराध' और 'परिणाम' ये तीनों अतियोग, अयोग मिथ्यायोग के द्वारा सब रोगों के कारण बनते हैं। इन्द्रियार्थ संयोग, बुद्धि-संयोग और काल-संयोग ये तीनों स्वास्थ्य के कारण बनते हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में जितने ही पदार्थ हैं, उनके दो ही स्वरूप हैं, एक भाव दूसरा अभाव। अपने स्वरूप में रहने का नाम 'भाव' और अपने स्वरूप में भिन्न दूसरे स्वरूप से रहना 'अभाव' है। ये दोनों (भाव और अभाव) काल, बुद्धि और इन्द्रियार्थ संयोग के समयोग, अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के बिना नहीं होते ॥ ४२-४३ ॥

त्रयो रोग इति-निजागन्तुमानसाः । तत्र निजःशरीरदोष-समुत्थः,
आगन्तुर्भूत-विष-वाय्वर्गिन-संप्रहारादि-समुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्या-
लाभाल्लाभाश्चानिष्टस्योपजायते ॥ ४४ ॥

रोग तीन प्रकार के हैं, (१) निज जो अपने शरीर में उत्पन्न हैं, (२) आगन्तुज और (३) मानस। इनमें (१) निज जो शरीर के दोष वात, पित्त, कफ के कारण उत्पन्न होने वाले हैं। (२) आगन्तुज भूत, विष, स्थावर, जंगम विष से जन्य, दुष वायु से, आग से चोट आदि से उत्पन्न होने वाले (३) इष्ट वस्तु के न मिलने और अनिष्ट वस्तु के मिल जाने से मानस रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ४४ ॥

तत्र बुद्धिमता मानस-व्याधि-परीतेनापि सता बुद्ध्या हिताहितम-
वेक्ष्यावेक्ष्य धर्मार्थकामानामहितानामनुपसेवने हितानां चोपसेवने
प्रतितत्व्यम्, नहन्तरेण लोके त्रयमेतन्मानसं किञ्चिभिष्यते-सुखं वा
श्च वा, तस्मादेतच्चानुष्ठेयं, तद्विद्याषृद्धानां चोपसेवने प्रयतितत्व्यम्,
प्रात्म-देश-काल-बल-शक्ति-ज्ञाने यथावच्चेति ॥ ४५ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि मानस व्याधि के रहते हुए भी लोम, काम, क्रोध, मोह के विपरीत, उत्तम बुद्धि से हित और अद्वित कायों का विचार करते हुए, धर्म, अर्थ और काम इनके अद्वितकारक कायों को छोड़ने में, तत्पर, एवं धर्म, अर्थ और काम के लिये हितकारी कायों को सेवन करने में प्रयत्नवान् रहना चाहिये । क्योंकि रंगार में धर्म अर्थ और काम तीनों के विना मनोजन्य सुख वा दुःख कुछ भी नहीं होता । इसलिये इन (धर्म, अर्थ और काम) के हितकारी कायों का ग्रहण और अद्वितकारी कायों का त्याग करने में प्रयत्नशील रहना चाहिये, इन के लिये विद्यावृद्ध पुरुषों का सेवन करना चाहिये । आत्म-शान, देश-ज्ञान, काल-ज्ञान, वर्ळ-ज्ञान, और शक्ति ज्ञान के लिये उचित रीति से प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४५ ॥

भवति चात्र ।

मानसं प्रति भैषज्यं त्रिवर्गस्यान्ववेक्षणम् ।

तद्विद्यसेवा विज्ञानमात्मादीनां च सर्वशः ॥ ४६ ॥ इति ।

और इस प्रसङ्ग में एक इलाक है औपचार धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) का सेवन करना, धर्म, अर्थ काम इन को उपदेश करने वाले विद्यावृद्ध पुरुष की सेवा करना, आत्मज्ञान, देश, काल, वर्ळ आदि का ज्ञान करना मानस रोगों की औपचार है ॥ ४६ ॥

त्रयो रोगमार्गा इति-शास्त्रा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च । तत्र शास्त्रा रक्तादयो धातवस्त्वक्च, स बाह्यो रोगमार्गः । मर्माणि पुनर्वस्ति-हृदय-मूर्धादीनि. अस्थि-सन्धयाऽस्थि-संयोगाः, तत्रोपनिवद्वाश्च स्नायुकण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः । कोष्ठः पुनरुच्यते महास्तोतः शरीरमध्यं महा-निम्नमामपकाशयश्चेति पर्यायशब्ददेस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः ॥ ४७ ॥

रोगों के तीन मार्ग हैं, जैसे—(१) शास्त्रा, (२) मर्म, अस्थि-सन्धियाँ और (३) कोष्ठ । इन में शास्त्रा रक्त आदि छः धातु और त्वचा ये सात बाह्य रोगमार्ग हैं, वस्ति (मूत्राशय), हृदय (दिल) और शिर, मस्तिष्ठ एक सौ सात मर्म और अस्थि (हड्डियाँ), सन्धियाँ (अस्थियों के जोड़), तथा इन में बंधी हुई स्नायु और कण्डरायें ये 'मध्यम रोगमार्ग' हैं, यह दूसरा मार्ग है । शरीर के बीच में, बड़ा भारी स्रोत, बड़े भारी गढ़े के तुल्य है, इस को आमाशय या पक्काशय के नाम से कहते हैं, यह तीसरा 'आभ्यन्तर रोगमार्ग' है ॥ ४७ ॥

त्रयगण्ड-पिण्डकालज्यपची-चर्म-कीलाधि-मास-मशक-कुष्ठ-च्यञ्जाद-
विकारा वहिर्मार्गजाश्च वीसर्प-इवयथु-गुल्मार्गो-विद्रव्यादयः शास्त्रानु-
सारिणो भवन्ति रोगाः ॥ ४८ ॥

पश्च-वध-यदापतान नार्दिन-शोष-राज्यक्षमार्शि-मन्त्र-गूरु-गुरु-ध्रं-
शादयः शिरो-हृदस्ति-रोगादयश्च मध्यम-मार्गानुभारिणो भवन्ति गोगाः ॥
इवरातीस। र-न्द्रव्यलमक-विपूचिका-कास-श्वास-हिकाऽनाहोदर-
स्त्रीहाइयोऽनमार्ग त्राश्च वीरपै-इवयथु-गुलमाशो-विद्रध्यादयः काष्ठ-मा-
र्गानुभारिणो भवन्ति गोगाः ॥ ५० ॥

इन में गण्ड (शोष, गलगण्ड रोग नहीं), फुन्सी, अलजी, अरनी, चर्म, कील, अधिमास, मशक (मस्ते), कुष्ठ, व्यंग, और अजगल्लिमा आदि रोग ‘बहिमार्ग’ में होते हैं । वोसर्प, सूजन, गुलम, अर्ध, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी अथान् रक्तादि मार्गों के अनुमारी होते हैं । पक्षाधात, मन्यामद, अगतानक अर्दित, शोष, राज्यक्षमा, अस्थि शूरु, सन्धिशूरु, गुरुध्रंश्च आदि, हिका आदि एवं शिरो रोग, हृदय रोग तथा बस्ति रोग और अण्ड हृदंद भी ये मध्यम, ‘मार्गानुसारी’ रोग हैं । उत्तर, अर्नीशार, छोर्द, अचम्र, विपूचिका, (हैजा) कास, श्वास, हिका, आनाह, उदर, पशोहा, आदि रोग ‘अन्तमार्ग’ से उत्पन्न होते हैं । वीरपै, सूजन, गुलम, अर्ग, और विद्रधि जो शाखानुसारी रोग हैं, वे काष्ठानुसारी होते हैं, (रक्तानुसारा रोग काष्ठानुसारी नहीं होते और काष्ठानुसारा रोग शाखानुसारी रोग नहीं होते) ॥ ४८-५० ॥

त्रिविधा भिषज इति-

भिषक्तुद्वावराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।

सन्ति वैद्यगुणं युक्ताक्षावधा भिषजा भुवे ॥ ५१ ॥

भिषक् भी तान प्रकार क होते हैं, १. छद्मनर, २. विद्रधावित और ३. वैद्य गुणों से युक्त ये तान प्रकार के विकित्स । इस पृष्ठी पर मिलते हैं ॥ ५१ ॥

वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तः पञ्चवैरवलाक्नैः ।

लभन्ते ये भिषक्तुद्वद्मज्जाते प्रतिरूपकाः ॥ ५२ ॥

छद्मनर वैद्या का लक्षण—वैद्यों या ओषधियों के बर्तन, पुस्त अर्थात् भिट्ठी या लांडे के बने मनुष्य के ढाँचे, पुस्तकों, पत्तों को देखने से जो मनुष्य ‘भिषक्’ शब्द प्राप्त करते हैं, वे वैद्यों के नकलचा ढाँग मूल हैं, वे त्याग्य हैं ॥ ५२ ॥

श्री-यशा-ज्ञान-सद्वानी व्यपदेशादताद्वधाः ।

वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥ ५३ ॥

सिद्धसाधित वैद्य—अन्य स्थान पर विकित्सा कर्म में यश, ज्ञान, और सफ-ज्ञा प्राप्त किय हुए वैद्यों के नाम से धोखा करके जो वैद्य बन जाते हैं, उनको सिद्धसाधित वैद्य समझना । इनको भी छांड देना चाहिये ॥ ५३ ॥

प्रयोग-ज्ञान-विज्ञान-सिद्धि-सिद्धाः सुखप्रदाः ।
जीविताभिसरा ये स्युवैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ ५४ ॥

सदैवैद्य का लक्षण—औषध का, प्रयोग और शास्त्र का ज्ञान, लोक व्यवहार के जानने, प्रत्यात एवं रोगियों को सुखी करने वाले 'प्राणाभिसर' कहाँ हैं । इन्हीं पुरुषों में वैद्य का लक्षण विद्यमान है । उन्हीं को वैद्य कहना चाहिये ॥

त्रिविधमौषधमिति दैवव्यपाश्रयम्, युक्तिव्यपाश्रयम्, सन्त्वावजयश्च । तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-तीर्थगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं पुनराहरौषधद्रव्याणां योजना । सन्त्वावजयः पुनरहितेभ्योऽथेभ्यो मनो-विनिग्रहः ॥ ५५ ॥

औषध तीन प्रकार की है—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सन्त्वावजय । इनमें दैव-व्यपाश्रय देव अर्थात् ईश्वर पर आश्रित औषध, मन्त्र, ओषधि, मणि, मंगल, शुभ कर्म, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्तिपाठ, नमस्कार तीर्थाटन आदि हैं । युक्ति अर्थात् योग पर आश्रित औषध आहार एवं औषध द्रव्यों दोष नाशक पदार्थों की योजना । सन्त्वावजय—मन, कं अहितकारक विषयों से रोकना तीसरी प्रकार की औषध है ॥ ५५ ॥

शारीर-दोष प्रकोपे तु खलु शारीरमेवाऽश्रित्य प्रायश्चित्तिविधमौषध-मिळ्ठन्ति-अन्तःपरिमार्जनम्, बहिःपरिमार्जनम्, शस्त्रप्रणिधानं चेति । तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तःशरीरमनुप्रविश्यौषधमाहार-जात-व्याधीन् प्रमार्श्च । यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकोन्मर्दनाद्यैरामयान् प्रमार्श्च तद्बहिःपरिमार्जनम् । शस्त्रप्रणिधानं पुनश्छेदन-भेदन-व्यध-न-दारण-लेखनोत्पाटन-प्रच्छन-सीवनैषण-क्षार-जलौकसश्चेति ॥ ५६ ॥

शरीर के बात, पिच्च, कफ इन दोषों के कुपित होने पर शरीर को ही आश्रय करके तीन प्रकार की औषधों का विशेष रूप से व्यवहार करते हैं । जैसे अन्तःपरिमार्जन, बहिःपरिमार्जन और शस्त्र-प्रणिधान । इनमें जो औषध या आहार शरीर के अन्दर घुसकर उत्पन्न हुए रोगों को शान्त करता है वह 'अन्तःपरिमार्जन' है और जो शरीर के बाहर ही त्वचा पर अम्बिंग, स्वेद, प्रलैप, परिषेक, उन्मर्दन (मालिश) आदि द्वारा रोगों को शान्त करता है, उसे 'बहिःपरिमार्जन' कहते हैं । छेदन (दो करना) भेदन (आशय के अन्दर घुसना) व्यधन (आशयों से भिज स्थान में भेदन करना), दारण (चीरना), लेखन (खुरेचना), उत्पाटन (उल्लाङ्घना), प्रच्छन (शस्त्र आदि से काढना),

सीवन (सीना), एषण (नाढ़ी या गति ब्रण को हृदंगना), श्वार (द्रव्यों को भस्मकर श्वरण होने वाला सार भाग), जलौका (जोक) इनके उपयोग को शब्दप्रणिधान कहते हैं ॥ ५६ ॥

प्राङ्गो रोगे समुत्पन्ने बाह्येनाऽऽश्यन्तरेण वा ।
 कर्मणा लभते शम शब्दोपकमण्णन वा ॥ ५७ ॥
 बालस्तु खलु मोहाद्रा प्रमादाद्रा न बुध्यते ।
 उत्पद्यमानं प्रथमं रोगं शत्रुमवाचुधः ॥ ५८ ॥
 अणुहिं प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद्विचर्धते ।
 स जातमूला मुण्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः ॥ ५९ ॥
 न मूढो लभते संज्ञां तावद्यावन्न पीड्यते ।
 पांडितस्तु मति पश्चात्कुरुते व्याधिनग्रहे ॥ ६० ॥
 अथ पुत्रांश्च दारांश्च ज्ञातीश्चाऽऽहूय भाषते ।
 सर्वस्वेनापि मे कश्चिद्दुष्पगानीयतामिति ॥ ६१ ॥
 तथाविधं च कः शक्तो दुर्बर्लं व्याधिपीडितम् ।
 कृशं क्षीणेन्द्रियं दीनं पर्वत्रातुं गतायुषम् ॥ ६२ ॥
 स त्रातारमनासाद्य बालस्त्यजति जावितम् ।
 गोधा लाङ्गूलच्छ्वेवाऽऽकृज्यमाणा बलीयसा ६३ ॥
 तस्मात्प्रागेव रांगेभ्यो रांगेषु तरुणेषु वा ।
 भेषजैः प्रातिकुर्वीत य इच्छेत्सुखमात्मनः ॥ ६४ ॥

बुद्धिमान् रोग के होने पर 'बहिःपरिमार्जन' अथवा 'अन्तःपरिमार्जन' या 'शब्द-क्रिया' से शान्ति प्राप्त करता है। परन्तु बाल, अनभिज्ञ पुरुष मोह वश अथवा प्रमाद से उत्पन्न होते हुए रोग को पहिले से उसी प्रकार नहीं जानता; जिस प्रकार मूर्ख अपने उत्पन्न होते हुए शत्रु को नहीं पहिचानता। रोग प्रथम सूक्ष्म रूप में होता है, और पीछे बढ़ जाता है। बढ़ने पर इस रोग की जड़ जम जाती है, जड़ पकड़ लेने पर रोग मूढ़ व्यक्ति की आयु और बल दोनों को दूर लेता है। जब तक मनुष्य रोग से पीड़ित नहीं होता, तब तक प्रतीकार का विचार नहीं करता और जब दुःखित हो जाता है, तब रोग के निराकरण सोचा करता है। सब पुत्रों, खियों और जाति सम्बन्धियों को बुला कर कहता है कि 'मेरा सर्वस्व देकर भी किसी वैद्य को लाओ' इस प्रकार के रोगप्रस्त, नर्बल, क्षीणेन्द्रिय, दीन, मरणासन्ध व्यक्ति की कौन वैद्य रक्षा कर सकता है? वह मूढ़ रक्षा करने वाले को न पाकर प्राण त्याग देता है, जिस प्रकार पूँछ में

रस्सी से बँधी गोह बलबान पुरुष द्वारा लीचने पर मर जाती है—ऐसे ही वह मो मर जाता है। इसलिये जो व्यक्ति सुख चाहे वह रोगों के उत्पन्न होने से पूर्ण, (संचयावस्था में, रोगों की तरणदशा में) ही दंषों का औषधियों से प्रतीकार करे ॥ ५७ ६४ ॥

तत्र इलोकौ ।

एषणाक्षाप्युपस्तम्भा बलं कारणमामयाः ।

तिस्मैषणाये मार्गाश्च भिषजो भेषजानि च ॥ ६५ ॥

त्रित्वेनाष्टौ समुहिष्टाः कृष्णात्रेयेण धीमता ।

भावा भावेष्वसक्तेन येषु सर्वं प्रलिपिनम् ॥ ६६ ॥ इति । ~

तिस्मैषणीय अध्याय में बुद्धिमान् श्रविष्ठि कृष्णात्रेयने तीन एषणायें, उपस्तम्भ, बल, रोगों के कारण, रोगमार्ग, वैद्य, भैषज्य, औषध, इन आठों के तीन तीन मेद कर कल्पना सहित उपदेश किये हैं ॥ ६५-६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने निर्देशचतुष्पके

तिस्मैषणीयो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो वातकलाकलीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्वा भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'वातकलाकलीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

वातकलाकलानमधिकृत्य परस्परमतानि जिज्ञासमानाः समु-
पविश्य महर्षयः प्रच्छुरन्योन्यं किंगुणो वायुः, किमस्य प्रकोपनम्,
उपशमनानि वाऽस्य कान, कथं चैनमसंव्यातवन्तमनवस्थितमनासाद्य
प्रकोपनप्रशमनानि प्रशमयन्ति प्रशमयन्ति वा, कान चास्य कुपिता-
कुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्मणि वहिःशरीरेभ्यो
वैति ॥ ३ ॥

वायु के अंशोंश विकल्पना के सम्बन्ध में महर्षि लोग एकत्र होकर परामर्श एक दूसरे के मत जानने के लिये पूछने लगे । क—वायु के क्या गुण हैं ? वायु को प्रकुपित करने वाले कौन से कारण हैं ? कुपित वायु को शान्त करने

वाली कौन सी वस्तुएं हैं ? और किस प्रकार से इस अमूर्त, अदृश्य एवं निरन्तर गतिशील, चंचलस्वभाव वायु को विना प्राप्त किये कुपित करने वाली वस्तुएं इसे कैसे कुपित करती हैं, अथवा शान्त करने वाली वस्तुएं किस प्रकार से इस को शान्त करती हैं ? और शरीर के अन्दर गति करने वाले एवं लोक में चलने वाले, कुपित एवं अकुपित वायु के शरीर के अन्दर गति करते हुए कौन र से कर्म हैं, और शरीर के बाहर लोक में गति करते हुए इस के जौन से कर्म होते हैं ? ॥ ३ ॥

अत्रोवाच कुशः साङ्कृत्यायनः-रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खर-विशदाः षड्मे वानगुणा भवन्ति ॥ ४ ॥

इस प्रसङ्ग में शूष्प साङ्कृत्यायन कुश बोले—वायु के रूक्ष, लघु, शीत, दारुण, खर, विशद ये छः गुण होने हैं ॥ ४ ॥

तच्छुत्वा वाक्यं कुमारशिरा भरद्वाज उवाच—एतमेतदथा भगवानाह. एत एव वानगुणा भवन्ति, स त्वेवंगुणं द्रव्ये वै व्रप्रभावे श्वर्कर्मभिरभ्यस्य मानैर्वायुः प्रकोपमापद्यते, समानगुणाऽऽश्रासो हि धातूना वृद्धिकारणमिति ॥ ५ ॥

इस को सुनकर शूष्प कुमारशिरा भरद्वाज बोले—“जिस प्रकार आपने कहा, ठीक इनी प्रकार है । ये रूक्ष आदि छः गुण ही वायु के हैं, इनलिये इन गुणों वाले पदार्थों इन गुण वाले प्रभावों और इन गुण वाले कर्मों के पुनः २ सेवन करने से वायु का प्रकोप होता है । क्योंकि धातुओं के समान गुण वाले पदार्थों वा कर्मों के पुनः २ सेवन करने से धातुओं को वृद्धि होती है” ॥ ५ ॥

तच्छुत्वा वाक्यं काङ्क्षायनो बाह्यीकभिषगुवाच—एवमेतदथा भगवानाह, एतान्येव वानप्रकोपनानि भवन्ति, अतो विपरीतानि स्वल्पस्य प्रशमनानि भवन्ति, प्रकोपनविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणमिति ॥ ६ ॥

इस बात को सुनकर काङ्क्षायन नाम बाह्यीक (बल्लव) देश के बैद्य बोले—“जिस प्रकार आपने कहा ठीक ऐसा ही है । ये ही करण वात को कुपित करते हैं । इनके विपरीत स्निग्ध, गुरु, उष्ण, मृदु, पिञ्चिल, क्लक्षण, स्थूल, स्थिर, गुण वाले द्रव्य या इस प्रकार के कर्म इस कुपित वायु को प्रशमन करते हैं । क्योंकि कोपक वस्तुओं के कारणों के विपरीत गुण वाले द्रव्य धातुओं को शान्त करते हैं” ॥ ६ ॥

तच्छुत्वा वाक्यं षड्मो धामार्गव उवाच—एवमेतदथा भगवा-

नाह, एतान्येव बातप्रकोपप्रशमनानि भवन्ति, यथा खेनमसंधातनमव-
स्थितमनासाद्य प्रकोपप्रशमनानि प्रकोपयन्ति प्रशमयन्ति वा, तथाऽनु-
व्याख्यास्यामः । बातप्रकोपनानि खलु रूक्ष-लघु-शीत-दारुण-खग-विशद-
शुषिर-कराणि शरीराणाम्, तथाविधेपु शरीरेषु वायुराश्रयं, गत्वाऽप्या-
श्यमानः प्रकोपमापद्यते, बातप्रशमनानि पुनः मिनग्ध-गुरुरूण-इलक्षण-
मृदु-पिच्छिल-घन-कराणि शरीराणाम्, तथाविधेपु शरीरेषु वायुरसञ्ज्य-
मानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते ॥ ७ ॥

कांकायन ऋषि के वचन सुनकर बडिश धामार्गब बोले—आपने जो कहा
मो ठीक ही कहा है । ये ही आपके कहे हुए कारण वायु को कुपिते और
शान्त करने वाले होते हैं । जिस प्रकार कि इस सूक्ष्म एवं निरन्तर गतिशील
वायु को प्राप्त करके ये रूक्ष आदि गुण इस वायु को कुपित करते हैं,
तथा शान्त करते हैं इसकी व्याख्या करेंगे । बात को कुपित करने वाले द्रव्य
शरीर को रूक्ष लघु ठण्डा दारुण (कठिन) खरखरा विशद (जो
चिप चिपा न हो) और छिद्र युक्त कर देते हैं । रूक्ष लघु आदि
शरीर में आश्रय पाकर संचित हुआ वायु प्रकुपित हो जाता है ।
बात को शान्त करने वाले द्रव्य एवं कर्म शरीर को स्निग्ध, गुरु, उष्ण (गरम),
लक्षण, मृदु (कोमल), चिपचिपा, तथा गाढ़ा कर देते हैं । इस प्रकार के
शरीर में संचार करता हुआ वायु आश्रय न पाकर शान्त हो जाता है ॥ ७ ॥

तच्छुत्वा बडिशबचनमवितथमृषिगणैरनुभवाच वायोविदो
राजर्षिः—एवमेतत्सर्वमनपवादं यथा भगवानाह, यानि तु खलु वायोः
कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कमोणि बहिः
शरीरेष्यो वा भवन्ति, तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुभानोपमानैः साध-
यित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः, वायुस्तन्त्रन्त्रन्त्रधरः,
प्राणोदान-समान-व्यानापानानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुक्षावचानां, नियन्ता
प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोदा,
सर्वशरीरधातु-व्यूह-करः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तकोवाचः, प्रकृतिः
स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हृषेऽत्साहयायोनिः; समीरणोऽनेः;
दोषसंशोषणः, क्षोपा बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्नातसां भेत्ता, कर्ता गर्भा-
कृतीनाम्, आयुषाऽनुवृत्त्य-प्रत्यय-भूता भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु
शरीरे शरीरं नानाविधिविकाररूपतपति खलवर्ण-सुखायुषामुपधाताय,
मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमा-

पादयत्यतिकालं धारयति, भय-शोक-मोह-देन्यातिप्रलापाञ्जनयति,
प्राणाश्वोपरुणद्वि ।

प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा-
धरणीधारणं, ज्वलनोज्जवालनं, आदित्य-चन्द्र-नक्षत्र-ग्रह गणानां सन्तान-
गति-विधानं सृष्टिश्च मेघानां, अपां च विसर्गः, प्रवर्तनं स्रोतसां,
पुष्पफलानां चाभिनिर्वर्तनम्, उद्ग्रेदनं चोद्दिवानां, शृतूनां प्रविभागः,
विभागो धातूनां धातुमानसंस्थानव्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्या-
भिवधनमविक्लेदोपशोषणं वै कारिक-विशाराइचेति ।

प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति, तद्यथा-
उत्तीर्णनं सागराणां, उदूतेनं सरसां, प्रतिसरणमापगानाम्, आकम्पनं च
भूमेः, आधमनमभुवानां, शिखरिश्चखारवमथनं, उन्मथनमनाकहानां,
नीहार-निर्छाद-पासु-सिकता-मस्य-भेकारग क्षार रुधिराश्माशनि-विसर्गः
ज्यापादनं च षणामृतूनां, शस्यानामसंधानः, भूतानां चापसर्गः, भावानां
चाभावकरणं, चतुर्युगान्तकराणां भेष-सूर्यानलानिडानां विसर्गः ।

स हि भगवान् प्रभवश्चाभ्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखा-
सुख्याविधाता, मृत्युः, यमो, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा,
विश्वरूपः, सवागः, सवतन्त्राणां विधाता, भावानामणुविभूषणः,
क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति ॥८॥

बृदिश के सत्य एवं शृष्टियों के अनुमोदित उस वचन को सुन कर राजर्षि
वायोविद ने कहा—आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक ही है, अर्थात् इन नियमों
के प्रतिकूल एक भी उदाहरण नहीं है । “अपवाद” का अर्थ निन्दाभी होता है ।
अभिप्राय यह है कि सब शृष्टियों का इस विषय में एक ही मत है । कुपित तथा
शान्त हुये शरीर में संचार करने वाले एवं शरीर से बाहर संचार करने वाले
वायु के शरीर में तथा शरीर से बाहर जो कर्म हैं उनके अवयवों को प्रत्यक्षादि
प्रमाणों से सिद्ध कर तथा वायु को नमस्कार कर यथाशक्ति कहूँगा । वायु
शरीरस्थी यन्त्रों को धारण करने वाला है । ‘तन्त्र’ शब्द से शरीरस्थ
धातुओं के जो अपने-अपने नियम हैं उनसे अभिप्राय है । यन्त्र से अभिप्राय
जिसके द्वारा शरीरस्थ धातुओं का एक जगह से दूसरी जगह जाना आदि
यापार होता है । अर्थात् तन्त्र (नियम) एवं यन्त्र दोनों को धारण करनेवाला है ।

वायु प्राणादि पांच रूपों वाला है । सम्पूर्ण उच्च या नीच विधिप्रकार
की चेष्टाओं का प्रवर्तक है, मनका नियामक तथा नेता (लेजाने वाला) है (वायु

मनको अनिष्ट विषय से लौटा कर इष्ट विषय में लगाता है) यही वायु सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों में प्रेरणा करता है ।

सम्पूर्ण शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों का बड़न करने वाला भी वायु हो है । वायु ही शरीरस्थ धातुओं को यथानियम अपने २ स्थलों पर स्थापित करता है । शरीर को जोड़ने वाला भी यही वायु है, वाणी को प्रकृत करने वाला, स्वर्ण तथा शब्द की प्रकृति (कारण) औंत्रेन्द्रिय एवं स्पर्शेन्द्रिय का मूल कारण वायु ही है ।

यह वायु हर्ष तथा उत्साह की योनि है (अभिव्यक्ति) का कारण है । अग्नि का प्रेरक शरीरस्थ दोयों का शोषण करनेवाला । मलों को बाहर निकालने वाला, स्थूल एवं सूक्ष्म स्रोतों को भेदन करने वाला, शरीरस्थत्ति के समय गर्भ की आकृतियों को बनाने वाला भी वायु ही है । यह वायु आयु के अनुवत्त्वेन-परिपालन का कारणभूत होता है । उपर्युक्त सभी कर्म शान्तवायु के कहे गये हैं । शरीर में कुपित हुआ वायु तो शरीर को नाश प्रकार के रांगों से पीड़ित करता है, जिस से बलवर्णादि क्षण होता है, मनको दुःखित करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को नष्ट करता है, गर्भ को नाश करता है । अथवा जितने काल तक गर्भ को गर्भाशय में रहना चाहिये उससे अधिक काल तक गर्भाशय में ठहराता है । भय, शोक, मोह, दीनता, अतिप्रलाप इनको उत्पन्न करता है और मृत्यु कामी कारण होता है । प्रकृतिस्थ वायु के लोक में संचरण करने से ये कर्म होते हैं, जैसे—पृथ्वी का धारण करना, अग्नि को जलाना, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा ग्रहों को बराबर नियश्च पूर्वक गति में रखना, बादलों को बनाना, जलों का छोड़ना, स्रोतों को बहाना फल-पूर्वों को उत्पन्न करना, वृक्षादि को पृथ्वी से बाहर निकालना (अंकुरित करना), शूद्रों का विभाग करना, स्वर्णादि धातुओं का आकार तथा परिमाण को व्यक्त करना, वीजों में अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति पैदा करना, शस्यादि को बढ़ाना, उसे सड़ने तथा सूखने न देना अन्य जो भी प्रकृति कार्य हैं उसे करना, जब यह वायु प्रकृति हो कर संसार में संचरण करता है तो इससे ये कर्म होते हैं—समुद्रों का उर्ध्वाङ्गन करना, तालाब आदि जलाशय के जलों को ऊँचाकरना (अथात् टट के बाहर जल को निकालना) नदिओं को विपरीत दिशा में बहाना मूँकंप करना, मेघों का गर्जन करना, पर्वतों के चांटियों को तोड़ना, वृक्षों को उत्खाड़ना, नीहार, गर्जन, धूलि, बालू, मछली, मेढ़क, संप, झार (राख), रुधिर, छोटेर पत्थर तथा दिलजी को आकाश से गिराना, छहों शूद्रों को नाश करना, अज्ञको उत्पन्न न होने देना, प्राणियों को मारना, उत्पन्न हुये वस्तुओं का नाश

करना, चारों युगोंका संहार करनेवाले बादल, सूर्य, अग्नि एवं वायु की सृष्टि करना इत्यादि होते हैं ।

वह भगवान् वायु उत्पत्ति के कारण हैं, अविनाशी हैं, एवं प्राणियों का उत्पादक तथा नाशक हैं । सुख एवं दुःख को देने वाला, मृत्यु, यम, नियन्ता, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा, विश्वरूप सर्वग (व्यापक), सम्पूर्ण नियमों, कर्मों तथा दारीरों को बनाने वाला सभी वस्तुओं का विधाता, दूसरा, व्यापक, विष्णु पृथ्व्यादिलोकों को आक्रमण करने वाला भगवान् वायु ही हैं ॥ ८ ॥

तच्छुत्वा वायोविदवचो मरीचिरुवाच—यदप्येवमेतत्किर्मर्थ-स्यास्य बचने विज्ञाने वा सामर्थ्यमस्ति भिषग्विद्यायां, भिषग्विद्या चाधिकृत्येयं कथा प्रवृत्तोति ॥ ९ ॥

वायोविदि के बचन को सुनकर भगवान् मरीचि ने कहा, यद्यपि आपने जो कहा है वह ठीक है तथापि आयुर्वेद में इस विषय को कहना या जानना निष्प्रयोजन है यहां तो केवल चिकित्सा सम्बन्धी ही कथा हो रही है ॥ ९ ॥

वायोविद उवाच—भिषक् पवनमतिश्लमतिपहृष्मतिशीघ्र-कारिणमात्ययिकं चेन्नानुनिश्चयेत्, सहसा प्रकुपितमतिप्रयतः कथमप्रेऽभिरक्षितुमधिदास्यति प्रागेवैनमत्ययभयादिति । वायोर्यथार्था स्तुति-रपि भवत्यारोग्याय बलवर्णवृद्धये बचेस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुःप्रक्षणोय चेति ॥ १० ॥

वायोविद बोले—चिकित्सा-शास्त्र में वायु बहुत बलवान्, बहुत कठोर, अति शीघ्रकारी अतिच्चपल; अति दुःखदायक है, यदि ऐसा ज्ञात न हो तो, सहसा वायु के कुपित होने पर, वैद्य किस प्रकार से उसको विना जाने पहिले ही इससे बचने को कहेगा । वायु के विषय में यथार्थ रूप में कहना, जानना, स्तुति करना भी आरोग्यलाभ, बल, कान्ति, तेज, शक्ति को बढ़ाने, ज्ञान वृद्धि करने और दीर्घतम आयु को प्राप्त करने और बढ़ाने के लिये है ॥ १० ॥

मरीचिरुवाच—अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभा-शुभानि करोति, तद्यथा-पक्षिमपर्क्ति दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृति-विकृति-वर्णं शौर्यं भयं क्रोधं हृष्टं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्रन्दानीति ॥ ११ ॥

मरीचि बोले—शरीर में स्थित पित्त के अन्दर पहुंची हुई अग्नि ही कुपित और अकुपित अवस्था में शुभ एवं अशुभ कर्मों को (क्रमशः) करती है ।

यथा—कुपित न होने पर वचन किया को (भाजक पित्त), स्वाभाविक रंग को (रंजक पित्त), शौर्य, हर्ष, प्रसाद प्रमत्तता को (साधक अधिन) उत्पन्न करती है । कुपित होने पर, पाचन किया की जड़ता, मन्द दृष्टि, उण्ठता को अयोग्य प्रमाण में, विकृत वर्ण, भय, कोष, मूच्छों उत्पन्न करता है । इसी प्रकार कुपित और अकुपित अवस्थाओं में पित्त अन्य दृढ़दों को भी उत्पन्न करता है ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा मर्दीचिवचः काप्य उवाच—सोम एव शरीरं श्लेष्मान्तर्गतः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा—दाढ्यं शैथिल्यमुपचयं काश्यमुत्साह-मालस्यं वृषतां कलीबतां ज्ञानमज्ञानं वुद्धिं माहमेवमादीनि चापरोणि दृढ़द्वानीति ॥ १२ ॥

मरीचि शूष्णि के वचन सुनकर काप्य बोले—शरीरस्थ कफ में सोम (जल तत्त्व) पहुंच कर कुपित और अकुपित अवस्था में शुभ एव अशुभ कर्मों को करता है । अकुपित अवस्था में—शरीर की दृढ़ता वृद्धि, कायों में उत्साह, पुरुषत्व, ज्ञान, बुद्धि आदि को उत्पन्न करता है । कुपित होने पर शरीर का ढीलापन, निर्वलता, आलस्य, नपुंसकता, मूढ़ता मूच्छों आदि उत्पन्न करता है । इस प्रकार कुपित और अकुपित अवस्था में दूसरे दृढ़दों को भी उत्पन्न करता है ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—सर्व एव भवन्तः सम्यग्हाहुरन्यत्रैकान्तकवचनात्, सब एव खलु वातपित्त-श्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्याप्नोन्निद्र्यं बल-वर्ण-सुखोपपन्नमायुषा महतोपपादयान्त सम्यगेवाऽऽचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महतोपपादयन्ति पुरुषमिह चामुहिमश्च लोके, विकृतास्त्वेन महता विपर्ययेणोपषादयान्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापना लोकमशुभेनोपघातकाले इति ॥ १३ ॥

काप्य शूष्णि के वचनों को सुनकर पुनर्वसु आत्रेय बोले—आप सबने जो कुछ कहा वह सब ठीक है । परन्तु आपने जो यह कहा कि अकेला वायु या अकेला पित्त अथवा अकेला कफ ही कुपित और अकुपित अवस्था में सब शुभ-अशुभ कर्म करते हैं—यह वचन व्यभिचरित होने से ठीक नहीं है । सब ही वात पित्त कफ (तीनों) अकुपित अर्थात् स्वास्थ्यावस्था में प्रकृति युक्त, स्वस्थ हन्द्रिययुक्त पुरुष को, बल, वर्ण, सुख और दीर्घायुष्य प्रदान करते हैं । जिस प्रकार कि उचित रूप में सेवन किये हुए जर्म, अर्थ और काम पुरुष को

इस लोक में और परलोक में बड़े भारी कल्याण से युक्त करते हैं, जिस प्रकार की विकृत हुई तीनों श्रुतुएं (शीत, ग्रीष्म और वर्षा) संसार को प्रलयकाल में कष्टों से पीड़ित करते हैं । इसी प्रकार कुपित हुए वात पित्त और कफ पुरुष को बड़े भारी विपरीत बल, वर्ण, सुख से हीन तथा अल्पायु बनाते हैं ॥ १३ ॥

**तद्वयः सर्वे एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भवगतोऽभिननन्दु-
श्चेति ॥ १४ ॥**

भवति चात्र ।

तदात्रेयवचः श्रुत्वा सर्वे एवानुमेनिरे ।

ऋषयोऽभिननन्दुश्च यथेन्द्रवचनं सुराः ॥ १५ ॥

भगवान् आत्रेय के कथन को सब ऋषियों ने अनुमोदन किया । जिस प्रकार कि देवता इन्द्र के वचनों का सराहते हैं, इस प्रकार ऋषियों ने आत्रेय के वचनों की प्रशंसा की ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्लोकौ-गुणाः षड् द्विविधो हतुर्विविधं कर्म यस्तुनः ।

वायोश्चतुर्विधं कर्म पृथक्कर्म कफपित्तयोः ॥ १६ ॥

महर्षीणां मतिर्या या पुनर्बसुमतिश्च या ।

कलाकलीये वातस्य तत्सर्वं संप्रकाशितम् ॥ १७ ॥ इति ।

वायु के छः गुण, दो प्रकार के कारण कुपित और अकुपित, वायु के नाना प्रकार के कर्म; कफ और पित्त के पृथक् कर्म, महर्षियों एवं पुनर्बसु आत्रेय की संमति, ये सब इस 'वात-कलाकलीय' अध्याय में सम्पूर्ण रूप में कह दिया ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने स्वस्थृत्तचतुष्के

वातकलाकलीयो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इति निर्देशचतुष्कस्तृतीयः ॥ ३ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातः स्नेहाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्र भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे स्नेह-अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवानात्रेय ने कहा था ॥ १०२ ॥

साख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहाऽसीनं पुनर्वसुम् ।

जगद्ग्रितार्थं पप्रच्छ वह्निवेशः स्वसंशयम् ॥ ३ ॥

जिन तत्त्वज्ञानी लोगों ने जानने योग्य बातों को भली प्रकार जान लिया था ऐसे मुनियों के साथ बैठे हुए पुनर्वसु आत्रेय से, मृष्टि अग्निवेश ने अपने सन्देह को जगत् के कल्पणा के लिये पूछा ॥ ३ ॥

किंयोनयः, कति स्नेहाः, के च स्नेहगुणाः पृथक् ।

कालानुपाने के, कस्य, कति, काञ्च वि वारणाः ॥ ४ ॥

कति मात्राः, कथंमाना; का च वेष्टुपदिश्यते ।

कञ्च वेष्टयो हितः स्नेहः, प्रकर्षः स्नेहने च कः ॥ ५ ॥

स्नेहाः के, के न च स्निग्धाः, स्निग्धातिस्निग्धलक्षणम् ।

कि पानातप्रथमं, पीते जीर्णे कि च हिनादितम् ॥ ६ ॥

के मृदु-क्रूर-कोषाः, का व्यापदः, भिद्धयन्त्र काः ।

अच्छे संशोधने चैव स्नेहे का वृत्तिरिक्ष्यते ॥ ७ ॥

विचारणाः केषु योज्या विधिना केन नन् प्रभो ! ।

स्नेहस्यामितविज्ञानं ! शाखमिच्छामि वेदितुम् ॥ ८ ॥

स्नेहो के उत्पत्ति स्थान कौन से हैं ? स्नेह कितने हैं ? पृथक् पृथक् प्रत्येक स्नेह के गुण क्या हैं ? प्रत्येक स्नेह का समय, अनुग्रान क्या है ? विचारणाएं कितने प्रकार की हैं ? मात्र ये कितनी हैं ? उनका परिमाण क्या है ? और कौन सा परिमाण किसके लिये कहा गया है ? कौनसा स्नेह किस के लिये हितकारी है ? स्नेहन में कौन से स्नेह उत्तम हैं ? स्नेह के योग्य कौन है ? स्नेह के अयोग्य कौन हैं ? अस्तिनग्ध और अतिस्तिनग्ध के लक्षण क्या हैं ? स्नेहापान से पूर्व क्या पीना और क्या नहीं पीना चाहिये ? स्नेह के जीर्ण होने पर क्या पीना हितकारी और क्या अहितकारी है ? मृदु, क्रूर, कंष्ठ वाले कौन हैं ? स्नेह से कौन से रोग उत्पन्न होते हैं ? उनका उपचार क्या है ? सशमन, संशोधन और स्नेहन में कैसे बताव से रहें ? किन २ पुरुषों में विचारणा किस विधि से प्रयोग करनी चाहिये ? हे प्रभो ! स्नेह सम्बन्धी अनन्त ज्ञान को जानने की मेरी इच्छा है ॥ ४-८ ॥

अथ तत्संशयच्छेत्ता प्रत्युवाच पुनर्वसुः ।

स्नेहानां द्विविधा सौम्य ! योनिः स्थावर-जड़मा ॥ ९ ॥

तिळः प्रियालाभिमुक्तो विभीतकञ्जित्राभ्यरण्ड-मधूक-सर्षपाः ।

कुसुम-बिल्वारुक-मूलकातसो-निकोटकाक्षोड-करञ्ज-शिप्रुकाः ॥ १० ॥

स्नेहाभयः स्थावरसंज्ञिनास्तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः ।
तेषां दधिनक्षीर धृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथापदिश्यते ॥ ११ ॥

अग्रवेद के सन्देह को दूर करने वाले भगवान् पुनर्बुतु ने उत्तर दिया—
स्नेहो के उत्तरात् स्थान दो प्रकार के हैं; स्थावर और जंगम । इनमें—तिल,
पियाल, (चिरोंजी फल) अभिपुक (चिलगोजा), बहेहा, चीता, हरड़ बड़ी,
ऐरण्ड, महुआ, सरसी, कुसुम, बेलगरी, मिलावा, मूलक, अलसी, निकाटक,
अखराट, नाटा करंजुआ, सांदाजन ये स्नेह के स्थावर उत्तरति स्थान हैं ।
मछलियाँ, मूर्ग (पशु), पक्षी एवं उनका दूध, दही, शूत, मौंस वसा और
मज्जा ये स्नेह के जंगम उत्तरात् स्थान कहे हैं ॥ ६-११ ॥

सर्वेषां तेलज्ञातानां तिलतलं प्रशस्यते ।
बलाथे स्नेहं चाम्यमरण्डं तु वरेचने ॥ १२ ॥
सपिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहात्तमा मताः ।
एष्यश्वेषात्तमं सर्पिः संस्कारस्थानुवत्तनात् ॥ १३ ॥

सब प्रकार के तैलों में तिल का तैल श्रव्य है । बल और मृदुता लाने के
लिये तिल का तैल सब में श्रेष्ठ है और विरेचन के लिये ऐरण्ड का तैल सर्व-
श्रेष्ठ है । सब प्रकार के स्नेहों में धी, तैल, वसा और मज्जा ये चार श्रेष्ठ हैं ।
इन चारों में भी धी सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि यह अन्य पदार्थों का गुण अपन में
के छेता है ॥ १२-१३ ॥

घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रोजसां द्वितम् ।
निर्वापणं मृदुकरं स्वर-वर्ण-प्रसादनम् ॥ १४ ॥

धी वात और पित्त का नाशक है, रस, शुक्र और ओज को बढ़ाता है,
बड़ी हुई उम्बिया को शान्त करता है, शरीर में कोमलता पैदा करता है, स्वर
और कान्ति को बढ़ाता है ॥ १४ ॥

माहतद्धनं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धनम् ।

त्वच्यसुष्ठुं स्थिरकरं तेलं योनिविशोधनम् ॥ १५ ॥

तैल वायु नाशक, परन्तु कफ को नहीं बढ़ाता, बलवर्धक, त्वचा के लिये
द्वितकारी, उम्बिय, उम्बिगुण, शर्तर को स्थिर (टिकाऊ) बनाने वाला एवं
स्त्री-जननेद्रिय (गभोशय) का शोधन करने वाला है, (तिल तैल में ये गुण
विद्येष रूप से हैं) ॥ १५ ॥

विद्व-भग्नाहस भ्रष्ट-योनि-कर्ण-शिरोहज्जि ।

पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेष्यते वसा ॥ १६ ॥

भाले आदि से विघ्ने चोट लगाकर अस्थि आदि के टूटने चोट लगने, योनि की भ्रंशता (गर्भाशय आदि अंगों की स्थान च्युति), कर्ण रोग, शिरोरोग, पुरुषत्व बढ़ाने, शरीर को चिकना करने और व्यायाम अर्थात् शारीरिक अम में वसा (चर्बी) हितकारी है ॥ १६ ॥

बल-शुक्र-रस-श्लेष्म-मेदो मज्जा-विवर्धनः ।

मज्जा विशेषतोऽस्थनां च बलकृत्स्नेहने हितः ॥ १७ ॥

बल, शुक्र, रस, कफ, मेद और मज्जा को बढ़ाती है । विशेषकर अस्थियों की शक्ति बढ़ाती एवं शरीर को चिकना बनाने में विशेष रूप से हितकारी है ॥ १७ ॥

सर्पिः शरदि पातव्यं, वसा मज्जा च माधवे ।

तैलं प्रावृष्टि, नात्युष्णशीते स्नेहं पिवेन्नरः ॥ १८ ॥

वातपित्ताधिके रात्रावृष्णे चापि पिवेन्नरः ।

श्लेष्माधिके दिवा शीते पिवेष्वामलभास्करे ॥ १९ ॥

धी शरद शूद्रु (आश्विन-कार्तिक) में, चर्बी और मज्जा वसन्त शूद्रु (फाल्गुन-चैत्र) में और तैल वाषोकाल (आवण-भाद्रपद) में सेवन करना चाहिये । अति उष्ण काल (ग्रीष्म) अथवा आते शीतकाल (हेमन्त) में स्नेह नहीं पीना चाहिये । तीव्र व्याधि में, ग्रीष्म शूद्रु में, रात्रि के समय; वात और पित्त की अधिकता होने पर स्नेह पी लेना चाहिये ; कफप्रधान व्याधि में शीतकाल के अन्दर (हेमन्त-शिविर शूद्रु में) मध्याह्न समय में दिन के समय स्नेहपान करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

अत्युष्णे वा दिवा पीतो वातपीताधिकेन वा ।

मूर्छां पिपासासुन्मादं कामलां वा समीरयेत् ॥ २० ॥

शीते रात्रो पिवेत्स्नेहं नरः श्लेष्माधिकोऽपि वा ।

आनाहमर्हत्वं शूलं पाण्डुतां वा समृच्छति ॥ २१ ॥

जलमुष्णं धृते पेयं, यूषमतैलेऽनुशस्यते ।

वसामज्ज्ञोस्तु मण्डः स्यात्सर्वेषुष्णमथाम्बु वा ॥ २२ ॥

वातप्रधान या पित्तप्रधान रोगी ग्रीष्म शूद्रु में या दिन के समय यदि स्नेहपान करता है तो मूर्छा, प्यास, उन्माद अथवा कामला रोग उत्पन्न हो जाते हैं । कफप्रधान रोगी यदि शीत शूद्रु में या रात्रि के समय स्नेहपान करता है तो उसे अफरा, अच्छि, शूल-यीड़ा या पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है । धी पीने के उपरान्त गरम जल, तैल के उपरान्त यूष और वसा एवं मज्जा के

उपरान्त मण्ड (माड) पीना उत्तम है । अथवा सब (धी, तैल, वसा और मज्जा) के पीछे गरम पानी पीना श्रेयस्कर है ॥ २०-२२ ॥

स्नेह की विचारणाएँ—

आदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयो दधि ।

यवागृः सूपशाको च यूषः काम्बलिकः खडः ॥ २३ ॥

सक्तवर्णमित्तलिपिष्टुं च मर्द्यं लेहासनथैव च ।

भक्ष्यमध्यवृजनं वर्णितस्तथा चोत्तरबस्तयः ॥ २४ ॥

गण्डूषः कर्णतेलं च नस्यं कर्णाश्चिनपर्गम् ।

चतुर्विंशतिरित्येताः स्नेहस्य प्रविचारणाः ॥ २५ ॥

स्नेह की विचारणा (उपयोग-प्रयोग विवि) २४ चौबीस प्रकार की है । जैसे—(१) आदन—चावल पांच गुणे जल में पकाओ, (२) विलेपी अर्थात् दरकच किये चावलों को चार गुणे जल में पकाने से बहुत मांडयुक्त यवागृ बनता है (३) रस (मांस रस) ठीक तरह से पका मांस, (४) यवागृ (दरकच किये चावलों को छः गुणे जल में पकाने से मांड युक्त द्रव हो) । (५) सूप—दाल को १६ या १८ या १८ गुणे जल में पका कर चतुर्थीश शेष रखें, (६) शाक, (७) यूष—अच्छ को दल कर १४ या १८ गुणे जल में पकाके आधा पानी शेष रखें । काम्बलिक, खड़, सत्तृ, तिलिपिष्ट (तिलकुट या खल) मदिरा, चाटन, भक्ष्य, (मालपूआ, पूरणपोली आदि), अध्यंजन मालिश, वस्ति, उच्चर वस्ति, गण्डूष (गराले), अर्थात् मुख में तैल का रखना, कान में तैल डालना, नस्य कर्म, नेत्र के अन्दर स्नेह प्रदान करके आंख की तृप्ति करना, यह स्नेह की चौबीस प्रकार की प्रविचारणा अर्थात् सेवन विवि है* ॥ २३-२५ ॥

अच्छपेयस्तु यः स्नेहो न तामाहुर्विचारणाम् ।

स्नेहस्य स भिपरदृष्टः कल्पः प्राथमकल्पकः ॥ २६ ॥

शुद्ध स्नेहपीने को 'विचारणा' नहीं कहते । यह तो स्नेह का सर्व प्रथम श्रेष्ठ रूप है । इसके पीछे प्रकृति, देह, दोष आदि देखकर पाचन शक्ति का विवेचना करके ओटन आदि सेवन विधि करनी चाहिये ॥ २६ ॥

रसश्चापहितः स्नेहः समास-न्यास-योगिभिः ।

घट्टभृष्टवाष्टधा संख्यां प्राप्तोत्येकश्च केवलः ॥ २७ ॥

एवमेषा चतुर्षिः स्नेहानां प्राचिवारणाः ।

* प्राचिवारणायं अवचायते तु कल्पेनांपद्यतेऽनयेति प्राचिवारण ।

ओकर्तु-न्याधि-पुरुषान् प्रयोज्या जानना भवेत् ॥ २७ ॥

छः रसो (मधुर अम्ल, लवण, तिक, कटु और कशाय) के परस्पर मिलने से ६३ प्रकार के मेद हो जाते हैं। इन तिरसठ मेदों के साथ जब स्नेह मिलता है, तो वह भी ६३ प्रकार का हो जाता है और जब किसी भी रस के साथ न मिलकर शुद्ध स्नेह रूप में ही रहता है, तब एक मेद होता है। इस एक प्रकार को भी मिळाकर स्नेह के ६४ प्रकार हो जाने हैं। इस प्रकार से स्नेह की विचारणा अर्थात् सेवन विधि ६४ (चौंपठ) प्रकार की है। (ओक) सात्य, श्रुतु और रोग-बल आदि का विचार करके सेवन विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥ २७-२८ ॥

स्नेह की मात्रा—

अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते ।

प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरा प्रति ॥ २९ ॥

इति तिसः समुद्दिष्टा मात्रा स्नेहस्य माननः ।

वासा प्रयोगान्वक्ष्यामि पुरुषं पुरुषं प्रति ॥ ३० ॥

स्नेह की मात्रा तीन प्रकार की है। प्रवान, मध्यम और ह्रस्व। इनमें जो स्नेह की मात्रा रात और दिन (२४ घण्टे) में जीर्ण होती है, वह स्नेह की प्रधान मात्रा है और जा सारे दिन भर (१२ घण्टे) में जीर्ण होती है वह मध्यम, और जो आवे दिन (६ घण्टे) में जाण होती है वह स्नेह की ह्रस्व मात्रा है। ये मात्राएं स्नेह के जाण होने के समय के अनुसार हैं। इस प्रकार से स्नेह की मात्रा और मान कह दिया है ॥ २९-३० ॥

अब प्रथेक पुष्प के लिये स्नेह के प्रयोगों को कहते हैं—

प्रभूतस्नेहनित्या ये क्षुत्पिपासासदा नराः ।

पात्रकश्चोत्तमवलो येवा ये चोत्तमा बले ॥ ३१ ॥

गुलिमनः संपेदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये ।

उन्मत्ताः कुच्छ्लमूत्राश्च गाढवर्चस एव च ॥ ३२ ॥

पित्रेयुरुत्तमा मात्रा, तस्याः पाने गुणान् शृणु ।

विकारान् शमयत्येषा शीघ्रं सम्यक्प्रथाऽजिता ॥ ३३ ॥

दोषानुदर्शिणी मात्रा सर्वमार्गानुसारिणी ।

बल्या पुनर्नवकरी शरीरेन्द्रियचेतसाम् ॥ ३४ ॥

“तके कपित्थ वाङ्गेरोमरिचा जाजित्रिकैः । सुरक्षः खण्डयूरोड्य काम्बलिको

मरुः ॥ दध्यम्भो छवण-स्नेह-तिलमाषान्वितः शृतः ॥”

जो मनुष्य नित्य प्रति विशेष रूप में स्नेह का व्यवहार करते हैं, भूत और प्यास को न सहन कर सकने वाले, उत्तम बलबान्, जठराग्नि वाले, अेष्ट शारीरिक बल वाले, गुल्मरणगी, सर्पविषाक्तान्त रोगी, बीसर्प रोगी, पागल, मूत्रकृच्छ्र रोगी और जिनका मल सूखा रहता है, वे स्नेह की उत्तम मात्रा का पान करें। स्नेह की प्रधान मात्रा के पाने का गुण सुनो—यदि मात्रा को भली प्रकार से प्रयोग किया जाये तो उपरोक्त समस्त रोग मिट जाते हैं। वह शरीर के दोषों को खींच कर बाहर कर देती है, शरीर के सब भागों में ऊपर, नाचे, तिरछे सब जगह फैल जाता है। वह बलवद्धक एवं शरीर, इन्द्रिय और चिंच को पिर से हरा भरा बना देती है ॥ ३१-३४ ॥

मध्यम मात्रा—

अरुड़का स्फोट-रिडका-कण्ठू-पामाभिरदिताः ।

कुष्ठिनश्च प्रमाणादाश्च वातशाणितिकाश्च ये ॥ ३५ ॥

नातिव्याश्निनश्चैव मृदुकाष्ठास्तथैव च ।

पिवेयुमध्यमां मात्रा मध्यमाश्चापि ये बले ॥ ३६ ॥

मात्रषा मन्दविश्रंशा न चातिव्यलहारिणी ।

सुखे न च स्नेहयति शोधनार्थं च युज्यते ॥ ३७ ॥

गाठें, फोड़े, फुन्सियां, खाज, पामा, कुष्ठरोगी, प्रमेही, अतिमूत्ररोगी, बातरक्तरोगी, अधिक न खाने वाले, न कम खाने वाले, मृदुकाष्ठ वाले, (जिनको दूध से भी विरेचन हो जाता है), और मध्यम बल वाले व्यक्ति स्नेह की मध्यम मात्रा का पान करें। यह मध्यममात्रा मृदु-विरेचक, योङ्गा कष्ट करने वाली, एवं बल को बहुत नहीं घटाती, सुखपूर्वक सरलता से शरीर को कोमल कर देती है, इसीलिये शरीर को शोधन करने के लिये हितकारी है ॥ ३५-३७ ॥

हस्त मात्रा—

ये तु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमाराः सुखोचिताः ।

रिक्तकाप्त्वमहितं येषां मन्दाप्रयश्च ये ॥ ३८ ॥

ज्वरातीसार-कासाश्च येषां चरसमुत्थिताः ।

स्नेहमात्रा पिवेयुत्ते हृस्वां ये चावरा बले ॥ ३९ ॥

परिहारे सुखा चंचा मात्रा स्नेहनृहर्णा ।

हृष्या बल्या निराधाधा चिरं चाप्यनुवर्तते ॥ ४० ॥

हृद, बालक, कोमल, नाजुक प्रकृति के, ऐश की जिन्दगी कसर करने

बाले, खाली पेट रहने से जिनके पेट में दर्द होने लगता है, मन्दाग्नि, निर्बल जाठराग्नि वाले, जिनको ऊर, अतीसार, कास पुराना बहुत दिनों का हो, और निर्बल, अल्प शारीरिक बल वाले व्यक्ति स्नेह की हस्त्र मात्रा लेवें। यह मात्रा जीर्ण होने में सरल है, सुखपूर्वक पच जाती है। शरीर को चिकना करती एवं बल बढ़ाती है। पुरुषत्वकारक, बलकार्यक, निरापद, एवं देर तक सेवन व्यवहार में लाइ जा सकती है ॥ ३८-४० ॥

कौनसा स्नेह किस के लिये हितकारी है—

वात-पित्त-प्रकृतयो वात-पित्त-विकारिणः ।

चक्षुष्कामाः क्षत्ताः क्षीणा वृद्धा वालास्तथाऽवलाः ॥ ४१ ॥

आयुःप्रकर्षकामाश्च बल-वर्ण-स्वरार्थिनः ।

पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये ॥ ४२ ॥

दीप्तयोजः-स्मृति-मेधाग्नि-बुद्धीर्निद्र्य-बलार्थिनः ।

पिबेयुः सपिरात्मश्च दाह-शस्त्र-विषाग्निभिः ॥ ४३ ॥

जिनकी प्रकृति वात-पित्त हो, वात-पित्त के रोगी, उत्तम दृष्टि चाहने वाले, उरःक्षत रोग से क्षीण, निर्बल, वृद्ध, बालक, निर्बल मनुष्य, आयु की बृद्धि की कामना करने वाले, बल, वर्ण, कान्ति, स्वर को चाहने वाले, शरीर पुष्टि के इच्छुक, संतानि की चाह वाले, सुकुमारता, कोमलता के इच्छुक, तेज, ओज, स्मृति, बुद्धि, अग्नि, धारण करने की शक्ति और इन्द्रिय बल को चाहने वाले और आग, जल, शस्त्र, विष से आक्रान्त रोगी घी का सेवन करें ॥ ४१-४३ ॥

प्रवृद्ध-इलेघ्म-मेदस्काश्चल-स्थूल-गलोदराः ।

वात-व्याधिभिराविष्टा वात-प्रकृतयश्च ये ॥ ४४ ॥

बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थरगात्रताम् ।

स्त्रिगृध-इलक्षण-तनुत्वक्त्वा ये च काङ्क्षन्ति देहिनः ॥ ४५ ॥

कमिकोप्ताः कूरकोष्टास्तथा नाडीभिरदिताः ।

पिबेयुः शांतले काले तैलं तंलोचिताश्च ये ॥ ४६ ॥

जिनमें कफ की या चबौं की अधिकता हो, जिनका पेट या गर्दन मोटी और ढीली हो, वात रोगों से पीड़ित, वात प्रकृति के, जो बल, पतलापन, हल्कापन, मजबूती, शरीर की स्थिरता (संघटन), चिकनापन, और त्वचा की कोमलता चाहते हैं, कूमिरोग से आक्रान्त, कूर कोष्ट वाले (जिनको तीव्र विरेचन से प्रभाव होता है), नाडीब्रण से आक्रान्त और जिनको तैल सेवन

करने का अभ्यास है वे शीतकाल (डेमन्ट शिशिर) में दिन के समय तैल का पान करें ॥४७-४८॥

बातातपसहा ये च रुक्षा भाराध्वकर्शिताः ।

संशुष्क-रेतो-रुधिरा निष्पीत-कर्फ-मेदसः ॥ ४७ ॥

अस्थि-सन्धि-शिरा-स्नायु-मर्म-कोष्ठ-महारुजः ।

बलवान्मारुतो येपां खानि चाऽस्त्रिय तिष्ठुति ॥ ४८ ॥

महद्वाग्निवलं येपां वसा-सात्याश्च ये नराः ।

तेषां भ्नेद्यितव्यानां वसापानं विधीयते ॥ ४९ ॥

वायु और धूप को सहन करने वाले, रुक्ष प्रकृति, भार के उठाने या मार्ग चलने वाले, परिश्रम के कारण जो निर्वल हो गये, जिनका बीर्य या रक्त सूख गया है; कफ क्षीण हो, मेद क्षीण हो, जिनका अनिधि; सन्धि-सेरा, स्नायु मर्म कोष्ठ के भयानक रोग हों, जिनकी इन्द्रियां को बलवान् वायु धेरे रहता है, जिनका अग्निवल-जाठराग्नि बलवान् हो, और जो वसा सेवन करने के अभ्यासी हों, ऐसे पुरुष स्नेहन करने के लिये वसा (चर्वी) का पान करें ॥४७-४९॥

दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मराः स्नेहसेविनः ।

बातार्ताः क्रूर-कोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नयुः ॥ ५० ॥

जिनकी जाठराग्नि दीप्त है, जो क्लेश को सहन कर सकते हों, खूब खाने वाले, स्नेहसेवन के अभ्यासी; वात रोगी और क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्तियों को मज्जा द्वारा स्नेहन करना चाहिये ॥५०॥

येऽग्नो येम्यो हितो यो यः स्नेहः स परिकीर्तिः ।

स्नेहनस्य प्रकर्षीं तु सप्तरात्र त्रिरात्र क्षौ ॥ ५१ ॥

जिन जिन पुरुषों के लिये जो जो स्नेह हितकारी हैं, उनके लिये उसी स्नेह का उपदेश किया है। स्नेह की सेवन विधि दो प्रकार की है। एक सात रात की और दूसरी तीन रात की। इनमें क्रूरकोष्ठ व्यक्तियों के लिये सात रात, और मृदुकोष्ठ व्यक्ति के लिये तीन रात हैं# ॥५१॥

स्वेद्याः शोधयितव्याश्च रुक्षा वातविकारिणः ।

व्यायाम-मद्य-खीनित्याः स्नेहाः स्युर्ये च चिन्तकाः ॥ ५२ ॥

स्नेहन के योग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति स्वेद देने या संशोधन के योग्य हैं;

*जैसा आगे कहेंगे “न्यहावरं सप्तदिनं परन्तु स्तिर्घो नरः स्वेदयितव्य इष्टः । नातः परं स्नेहनमादिशन्ति” ।

रुक्षप्रकृति, वातरोगी, नित्य व्यायामसेवी, नित्य मध्यसेवी, नित्य खोमेवी, और जो चिन्ता (शोक) करते रहते हैं; वे व्यक्ति स्नेहन के योग्य हैं ॥ ५३ ॥

स्नेह के अयोग्य व्यक्ति—

संशोधनाद्वते येषां रुक्षणं संप्रवक्ष्यते ।
न तेषां म्नेन न शस्त्रमुत्सन्न-कफ-मेदसाम् ॥ ५३ ॥
अभिष्ठण्णानन गुदा नित्यं मनश्चामनवृच्च ये ।
तृष्णा मूच्छर्ढा-पर्यातश्च गर्भिण्यस्तालु-शापिणः ॥ ५४ ॥
अन्नद्विषश्छदयन्ता जठरा न-गरादिताः ।
दुब्लाश्च प्रवान्ताश्च स्नेहम्लाना मदातुराः ॥ ५५ ॥
न स्नेहा वर्तमानेषु न नस्तावस्थिकर्मसु ।
स्नेहपानात्प्रजायन्ते तेषां रागाः सुरारुणाः ॥ ५६ ॥

संशोधन किये विना जिनका रुक्षण करना कहा जायेगा; उनको; जिनका कफ और में बढ़ा है, जिनके नाक, मुख और गुदा से स्राव होता है, जिनको सदा मन्दाग्नि रहती है, प्यास और मूच्छों से आकान्त, गर्भवती, तालुकण्ठ जिनका सूखता है; भाजन से अरुचि करने वाले, वमन करते हुए, उदर रोगी या विष से आकान्त, दुब्ल, ग्लानि करने वाले (कच्चे दिल के, पूरा करने की प्रकृति के), स्नेह के पाने में जो प्रसन्न नहीं होते, वृणा करते हैं और मद (नशे) से ग्रस्त व्यक्तियों को और नस्य कर्म एवं अनुवासन वस्ति जिन्होंने ली हो उनका स्नेहन नहीं देना चाहिये । यदि इनको स्नेह पिलाया जायगा तो भयानक रोग उत्पन्न हो जायेंगे । रुक्षण के योग्य—‘अभिष्ठन्दा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ये । ऊरुतम्भ-प्रभृतयो रुक्षणीया निर्दिष्टाः’ ॥ ५३-५६ ॥

अस्तिनग्ध, त्विनग्ध और अतिस्तिनग्ध के लक्षण—

पुरीषं ग्रथितं रुक्षं, वायुप्रगुणो, मृदुः ।
पक्ता, खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्यास्तिनग्धलक्षणम् ॥ ५७ ॥

जिसका मल बंधा हुआ, रुक्षता वायु अपनी प्रकृति में न हो, जाठराग्नि मन्द हो, शरीर में कर्कशता रुखापन हो, तो समझे कि स्नेहन किया ठीक नहीं हुई ॥ ५८ ॥

बातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वच्चः स्तिनग्धमसंहतम् ।

मादवं स्तिनग्धता चाङ्गे स्तिनग्धानामुपजायते ॥ ५९ ॥

बायु का अनुकूलता, जाठराग्नि को बढ़ाना (मूख का रुगना), मक

चिकना और पतला, अंगों में कोमलता और चिकनापन हो, तो समझना चाहिये कि उचित रूप में स्नेहन हुवा है ॥ ५८ ॥

पाण्डुता गौरवं जाङ्घं पुरीपस्यात्रिपक्ता ।

तन्द्रीरुद्धच्छत्कलेशः स्यादतिस्तिनग्धलक्षणम् ॥ ५९ ॥

पाण्डुता (पीलापन, निस्तेज वर्ण), शरीर में भारापन, आलस्य, मल का भली प्रकार पाक न होना, अरुचि, सुस्ती, बमन की इच्छा ये अतिस्तिनग्ध के लक्षण हैं ॥ ५९ ॥

द्रवोष्णमनभिष्यन्दि भोज्यमन्नं प्रमाणतः ।

नातिस्तिनग्धमसंकीर्ण शः स्नेहं पातुमिच्छता ॥ ६० ॥

पिबेत्संशमनं स्नेहमन्नकाले प्रकाङ्क्षतः ।

स्नेह से पूर्व लेने योग्य हितकारी पदार्थ—स्नेह पान करने की इच्छावाले व्यक्ति को चाहिये कि स्नेह पाने से पहिले दिन, द्रव, और गरम, जो कफकारक न हो, अतिस्तिनग्ध, अतिविकार युक्त, असंकर्ण ऐसे भोजन को मात्रा से खावे, जो दो तीन वस्तुओं को मिलाकर न बनाया गया हो और अगले दिन जब भोजन के समय आकंक्षा हो तब संशमन स्नेह का हो पान करे ॥ ६० ॥

शुद्धथर्थं पुनराहारे नशे जीर्णे पिबेन्नरः ॥ ६१ ॥

संशोधन के उद्देश्य से स्नेह पान करने के लिये रात्रि का भोजन जीर्ण होने पर प्रातःकाल स्नेहपान करे ॥ ६१ ॥

उष्णोदकोपचारी स्याद् ब्रह्मचारी क्षपाशयः ।

शक्तन्मूत्रानिलोद्गारानुदार्णांश्च न धारयेत् ॥ ६२ ॥

व्यायामसुष्वेच्छनं क्राद्यशोकौ हिमातपौ ।

वर्जयेदप्रवातं च सेवेत शयनासनम् ॥ ६३ ॥

स्नेहं पीत्वा नरः स्नेहं प्रतिभुज्ञान एव च ।

स्नेहमिथ्योपचाराद्वि जायन्ते दारुणा गदाः ॥ ६४ ॥

ह स्नेहनकाल में हित अद्वित—पीने, स्नान, शौच आदि कार्यों में गरम पानी का व्यवहार करे, मैथुन को छोड़ दे । रात्रि में सोये, दिन में न सोये रात में न जागे, उपस्थित हुए मल, मूत्र, वायु और डकार के बेगों का न रोके । व्यायाम-अभ्यास, और जोर से या अधिक भाषण, क्रोध, शोक, सरदी या गरमी न सहे । खुली-चायु में वायु के सामने न बैठे और न सोये । स्नेह को पीने के पीछे इन कार्यों का पालन करे । स्नेह पीने के पीछे पुनः स्नेह पान करने पर, स्नेह पीर, भोजन आदि में दूसरी बार स्नेह युक्त पदार्थ खाने से, स्नेह के मिथ्याक्षय से भयानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ६२—६४ ॥

मृदुकोष्ठाद्या त्रेण स्निग्धत्यच्छोपसेवया ।

स्निग्धति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः ॥ ६५ ॥

मृदुकोष्ठ वाला व्यक्ति स्नेह का अच्छापान करके तीन रात्रि तक सेवन करने पर स्निग्ध हो जाता है । क्रूरकोष्ठ वाला व्यक्ति स्नेह का सात दिन अच्छापान करके स्निग्ध होता है ॥ ६५ ॥

गुडमिक्षुरसं मस्तु श्रीरमुल्लाडितं दधि ।

पायसं कृसरं सर्पिः काशमर्य-त्रिफला-रसम् ॥ ६६ ॥

द्राक्षारसं पीलुरर्ण जलमुष्णमथापि वा ।

भद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठो विरेच्यते ॥ ६७ ॥

गुड, गन्ने का रस, मस्तु (दही का द्रव्य भाग), दूध, बिनोई हुई दही (मढ़ा), स्वीर, लिच्चाँ, धी, गम्भारो का रस, त्रिफला (हरड़, बहेड़, आंवले का रस), अंगूर का रस, पंलू का रस, गरम जल, नवीन मदिरा (पुरानी नहीं), इनको पीने से मृदुकोष्ठ, व्यक्तियों को विरेचन हो जाता है । अथात् जिनको इन वस्तुओं के सेवन से विरेचन हो जाय, वह मृदुकोष्ठ होता है ॥ ६६-६७ ॥

विरेच्यन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन ।

भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला ॥ ६८ ॥

इन पदार्थों से 'क्रूरकोष्ठ' वाले व्यक्ति को कभी विरेचन नहीं होता । क्योंकि 'क्रूरकोष्ठ' व्यक्ति की ग्रहणी (नाड़ी) अति प्रबल वायुवाली होती है ॥ ६८ ॥

उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता ।

मृदुकोष्ठस्य तस्मात्सुविरेच्यो नरः स्मृतः ॥ ६९ ॥

मृदुकोष्ठ की ग्रहणी और पित्त प्रबल एवं मन्दकफ तथा अल्पवायु युक्त है । इसलिये गुड आदि से उसे विरेचन हो जाता है ॥ ६९ ॥

स्नेह की व्यापत्तियां—

उदीर्णपित्ता ग्रहणी यस्य चाग्निवर्लं महत् ।

भस्मीभवति तस्याऽशु स्नेहः पीतोऽग्निरेजसा ॥ ७० ॥

स जम्खा स्नेहमात्रा तामोजः प्रक्षारयन् बली ।

स्नेहाग्निरुत्तमा तृष्णा सोपसर्गमुदीरयेत् ॥ ७१ ॥

नालू स्नेहसमृद्धस्य शमायानं सुगुर्वपि ।

स चेत्सुशीतं सलिलं नाऽसादयनि दृष्टते ॥ ७२ ॥

यथैवाऽर्शीविषः कक्षमध्यगः स्वविषागिना ।

जिसको ग्रहणी (अग्नि का अधिष्ठान-भूमि) प्रवर्ल पित्तवाली हो (कफ और वायु से युक्त न हो), और जिसका अग्निवल बढ़ा होता है, उस पुरुष का पिता हुआ स्नेह अग्नि के तेज से शीघ्र भस्म हो जाता है । यह महाबलवान् जाठराग्नि पीये हुए स्नेह को जीर्ण करके फिर बलवान् बनकर ओज को घटाती हुई, उपद्रवों से युक्त प्रबल प्यास को पैदा कर देती है । ऐसी अवस्था में स्नेह के कारण बहुत बढ़ी हुई जाठराग्नि को शान्त करने के लिये गुरु भोजन भी समर्थ नहीं होता । इसलिय स्नेहगान से प्रबल अग्नि बाले पुरुष को यदि शीतल जल पीने के लिये नहीं दिया जाय तो वह इसी अग्नि से जलने लगता है । जिस प्रकार कि वास फूम या कांटों के बीच में फंसा हुआ सांप अपनी अग्नि रूपी अपने विष से स्वयं जलने लगता है और दुगुने क्रोध से फुकारे मारता है ॥ ७०-७२ ॥

व्यापत्तिशों के उपाय कहते हैं—

अजीर्णं यदि तु स्नेहे तृष्णा स्याच्छुदयेद्विषक् ॥ ७३ ॥

शीतोदक्षं पुनः पात्वा भुक्त्वा रूक्षान्नमुज्जेखेत् ।

न सर्विः कंवलं पित्तं पंयं सामं विशेषतः ॥ ७४ ॥

सर्वं द्विनुरजेहेहं हत्या संज्ञां च मारयेत् ।

यदि स्नेह के पान में अजीर्णोद्धरणा अथान् स्नेह के जीर्ण न हुए विना ही प्यास लगने लगे तब वैद्य स्नेह को बमन से बाहर करा देवे । इसके पीछे शीतल जल और रक्ष भोजन कराके फिर बमन करा देवे । इसलिये केवल पित्त की प्रधानता में, विशेष कर आम सदित पित्त विकार में धो नहीं पीना चाहिये । क्योंकि पित्त के तोक्ष गुण ताला होने से समृद्ध देह में व्यास होने वाला वीरु रूप स्नेह सारे शरीर में फैल जायगा । शरीर में फैलकर उसको पीला कर देता और चेताना नाश करके प्राण नाश कर देता है ॥ ७३-७४ ॥

तन्द्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तम्भो विसंज्ञता ॥ ७५ ॥

कुष्ठानि कण्ठः पाण्डुत्वं शोकार्द्दिश्यरुचिस्तुष्टा ।

जठरं ग्रहणादोषः स्तेमित्यं वाक्यनिप्रहः ॥ ७६ ॥

शूलमामप्रदोषाश्च जायन्ते स्नहविभ्रमात् ।

तत्राप्युज्जेलनं शस्तं स्वेदः कालराक्षगम् ॥ ७७ ॥

प्रति प्राते व्याधिवलं बुद्ध्वा संसनमेव च ।

तकारिष्टप्रयोगश्च रूक्ष-पानान्न-सेवनप् ॥ ७८ ॥

मूत्राणा त्रिफलायाश्च स्नेह-व्यापत्ति-भेषजम् ।

तन्द्रा (आलस्य), उत्क्लेश (वमन की इच्छा), आनाह (अफ़रा) ज्वर, स्तम्भ (शरीर की जड़ता), संज्ञानाश, कुष्ठ, खाज, पाण्डुता, शोथ, अर्श, अरुचि, प्यास, मरोड़ा, ग्रहणी रोग, स्तैमित्य (अंगों का गीले कपड़े में लिपटने का सा भान होना, वा ऐंडन), वाणी का चन्द हो जाना, उदरशूल, आमदोष, स्नेह के मिथ्यायोग के ये लक्षण हैं । इन लक्षणों के होने पर भी वमन करना चाहिये, स्वेद देना चाहिये, समय की प्रतीक्षा करनी (स्नेह दोष के क्षय होने तक भोजन नहीं करना) चाहिये, प्रत्येक व्याधि का बल विचार करके जो व्याधि स्वंसन योग्य हो उसका स्वंसन करना चाहिये । इसी प्रकार 'तक्षारिष्ट' का प्रयोग, रुक्ष (सूखा) खान-गन देना आठों प्रकार के मूत्रों और त्रिफला का सेवन करना स्नेह जन्य रोगों की चिकित्सा है ॥ ७५-७८ ॥

रोग होने के कारण—

अकाले चाहितश्चैव मात्रया न च योजितः ॥ ७९ ॥

स्नेहो मिथ्योपचाराच्च व्यापयेतातिसेवितः ।

स्नेह लेने के ठीक समय पर स्नेह न लेने से, जो स्नेहः जिस पुरुष के लिये हितकारी नहीं है उसके सेवन से, उचित मात्रा में न लेने से, स्नेह के मिथ्या, अनुचित उपयोग से, और स्नेह के अति सेवन से स्नेह जन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥ ७९ ॥

स्नेहात्प्रस्कन्दनं जन्तुखिरात्रोपरतः पिबेत् ॥ ८० ॥

स्नेहचद्-द्रवमुष्णं च त्रयं भुक्त्वा रसौदनम् ।

एकाहोपरतस्तद्वद्गुक्त्वा प्रचल्दर्दनं पिबेत् ॥ ८१ ॥

स्नेह पान के पीछे पुरुष तीन रात तक ठहरे । इन तीन दिनों में स्नेह मिश्रित द्रव, उष्ण मांस रस दूक भात खाकर विरेचन लेवे । एक दिन जिसने आराम किया ऐसा पुरुष पहले की भाँति भोजन करके वमन (कारक द्रव्य) पीये ॥ ८०-८१ ॥

स्यात्त्वसंशोधनार्थये वृच्चिः स्नेहे विरिक्तवत् ।

संशयन के उद्देश्य से स्नेहपान करने में विरेचन लिये हुए के समान व्यवहार करना चाहिये ।

विचारणा का प्रयोग—

स्नेहद्विषः स्नेहनित्या मृदुकोषाश्च ये नराः ॥ ८२ ॥

ऋग्यासहा मद्यनित्यासरेषामिष्टा विचारणा ।

लाभ-तैत्तिर-मायूर-हासि-वाराह-कौकुटाः ॥ ८२ ॥

गव्याजौरभ्र-मात्म्याश्च रसाः स्युः स्नेहने हिताः ।
 यव-कोट-कुलत्थाश्च नेहाः सगुडशर्कराः ॥ ४ ॥
 दाढिमं दधि सव्योषं रस-संयोग-मंग्रहः ।

जो मनुष्य स्नेह से द्रेप करते हों, जो नित्य प्रति स्नेह का व्यवहार करते हों, मटुकोष्ठ वाले, कष्ट को सदृश न करने वाले, जो नित्य मदिरासेवी हों, उनमें विचारणा का प्रयोग करना चाहिये । प्रयोग करने की विधि कहते हैं— वटेर, मोर, हंस, सुअर, मुर्गी, हाथी, बकरा, मेंढा और मछली इनके मांसों का रस स्नेहन किया में हितकारा है । इन मांसरसों का संस्कार करने के लिये जौ, बेर, कुलधी, धी या तेल, गुड़, शक्कर अनारदाना, दही, सोठ, काली मिर्च, पिप्पली, ये यथायोग्य मिलाने चाहियें ॥ ८२-८४ ॥

स्नेहयन्ति तिलाः पूर्वं जग्धाः सम्नेहफाणिताः ॥ ८५ ॥
 कृशराश्च बहुमेहास्तिव्यक्तिभिरुक्ताः ।

धी में (स्नेह में) भून कर बनाये हुए तिलकुट को भोजन से पूर्व खाने से शरीर का स्नेहन करते हैं । इसी प्रकार बहुत स्नेह वाली खिचड़ी तथा तिल युक्त 'काम्बलिक अर्थात् यूप'—भोजन से पूर्व खाने से शरीर का स्नेहन करते हैं ॥ ८५ ॥

फाणितं शृङ्गवेरं च तेलं च सुरया मह ॥ ८६ ॥
 पिवेद्रूक्षो भृत्यर्मां सैर्जीणैऽनीयाश्च भोजनम् ।

फाणित (आधा पका गन्ने का रस, राब), अदरख, और तैल इन तीनों को एक करके, शराब में मिलाकर सूक्ष्म व्यक्ति पीये । इसके जीर्ण होने पर भुने हुए मांस से भोजन खाये ॥ ८६ ॥

तैलं सुराया मण्डेन वसां मज्जानमेव वा ॥ ८७ ॥
 पिवेत्सफाणितं क्षीरं नरः स्निहाति वातिकः ।

वातप्रकृति का मनुष्य मद्य, या मण्ड के साथ तैल, वसा या मज्जा को मिलाकर पीये तो स्नेहन होता है । वात प्रकृति का आदमी राब के साथ दूध को पीये तो भी स्नेहन होता है ॥ ८७ ॥

धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं प॒त्वा सशकरं पयः ॥ ८८ ॥
 नरः स्निहाति प॒त्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ।

धारोष्ण, ताजे दुहे हुए दूध को शर्करा एवं धी के साथ पीने से शरीर का तुरन्त स्नेहन होता है । अथवा राब के साथ दही की मलाई खाने से भी स्नेहन तुरन्त होता है ॥ ८८ ॥

पाञ्चप्रसृतिकी पेया पायसा माषमिश्रकः ॥ ८६ ॥

क्षीरसिद्धो बहुस्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम् ।

सपिस्तेल-वसा-मज्जा-न्तण्डुल-प्रसृतेः शृता ॥ ८० ॥

पाञ्चप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता ।

आगे कही जाने वाली 'पांचप्रसृतिका पेया' को पांकर मनुष्य शीघ्र ही स्तिथ बन जाता है । उड़ों को चावलों में मिलाकर वो आदि स्नेह में खूब भून कर दूध में पकाई (घी से युक्त) खीर जलदी ही स्तिथ कर देती है । पांचप्रसृति की पेया—घी, तैल, वसा, मज्जा और चाशल प्रत्येक आठ आठ तोले लेकर छः गुने जल में पकावे । इसका नाम 'पाञ्चप्रसृतिकी पेया' है । स्नेहन की इच्छा करने वाले व्यक्ति को इसका सेवन करना चाहिये ॥=८०-८१॥

ग्राम्यानुपौदकं मांसं गुडं दधि पयस्तिलान् ।

कुष्ठी शोथा प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ॥ ८१ ॥

स्नेहैर्यथास्वं तान् सिद्धेः स्नेहयेदविकारिभिः ।

पिप्पलाभिर्हरीतक्या सिद्धेभ्य फलयाऽपि वा ॥ ८२ ॥

कुष्ठ रोगी, शोथ (सोज) रोगी, प्रमेह रोगी—इनके स्नेहन के लिए ग्राम्य निनिट मांस, जलीय मांस, गुड, दही, दूध और तिल इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये । क्योंकि ये वस्तुयें इनको बढ़ाती हैं । इन रोगियों के लिये, इन रोगों को नाश करने वाली औषधियां से सिद्ध किये हुए वृत्त आदि स्नेह, एवं इन रोगियों के लिये विकार न करने वाले स्नेहों से इनकी चिकित्सा करनी चाहिये । अथवा पिप्पली के कल्क या हरीतकी (हरड़) के कल्क अथवा त्रिफला के कल्क द्वारा सिद्ध वृत्तादि स्नेह द्वारा कुष्ठ-रोगी, शोथ-रोगी, प्रमेह-रोगी का स्नेहन करना चाहिये ॥ ८१-८२ ॥

द्राक्षाऽमलक-यूषाभ्यां दधना चाम्लेन साधयेत् ।

द्योषगर्भं भिषक् स्नेहं पीत्वा स्तिथ्यति तन्नरः ॥ ८३ ॥

द्राक्षायूष, आंवले का यूष, और खट्टी दही (ये मिलित चार भाग) सोठ, मरिच और पिप्पली (मिलित एक भाग) इनका कल्क डाल कर उचित मात्रा से धूत सिद्ध करना चाहिये । इस धूत के पान करने से मनुष्य का स्नेहन होता है ॥ ८३ ॥

यव-कोल-कुलथानीं रसाः क्षीरं सुरा दधि ।

क्षारः सपिंश्च तस्सिद्धं स्नेहनीयं धृतात्तमम् ॥ ८४ ॥

जौ, बेर, कुलथी, प्रत्येक का काथ (रस), दूध, दही और मध्य, क्षार

और धी, इनको मिला कर धी सिद्ध करना चाहिये । यह स्नेहन के लिये अष्ट है ॥ ६४ ॥

तैल-मज्ज-बसा-सर्पिंवैदर-त्रिफला-रसैः ।

योनि-शुक्र-प्रदोपेषु माध्यित्वा प्रयोजयेत् ॥ ६५ ॥

तैल, बसा, मज्जा, धी, वेर और त्रिफला (हरड, बहेड़ा, आंवला) इनका रस (काथ) में (पृथक् २ वा मिलिन चारों स्नेह सिद्ध करने चाहिये) । यह स्नेह योनिरोग और वीर्यरोगों में स्नेहन कार्य के लिये उपयोगी हैं ॥ ६५ ॥

गृह्णात्यम्बु यथा वस्त्रं प्रस्त्रवत्यधिकं यथा ।

तथाऽग्निर्जीविति भ्नेहं तथा स्वर्वात् चाधिकम् ॥ ६६ ॥

जिस प्रकार वस्त्र पानी का उचित मात्रा का ही ग्रहण करता है और अधिक पानी निकल जाता है; इसी प्रभार अग्नि स्नेह की योग्य मात्रा को ही जीर्ण करती है, अधिक मात्रा निकल जाती है ॥ ६६ ॥

यथा वाऽक्लंद्य मृत्यिण्डमासिक्तं त्वरया जलम् ।

स्ववति स्तंसते स्नेहस्तथा त्वरितसेवितः ॥ ६७ ॥

लब्धोपहिताः स्नेहाः स्नेहयन्त्यचिरान्नरम् ।

तद्वच्यभिष्यन्द्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च ॥ ६८ ॥

स्नेहमग्रे प्रयुक्तीत ततः स्वेदमनन्तरम् ।

स्नेहस्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत् ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार मिट्ठी के ढेले पर जल्दी से गिरा हुआ बहुतसा पानी, ढेले को गीला करके वह जाता है, और ढेला गलने लगता है, उसी प्रकार जल्दी से अधिक मात्रा में पिया स्नेह जल्दी से गुदा मार्ग से बाहर बह जाता है । जितने भी स्नेह कहे हैं, वे सब संन्वव-लवण के साथ सेवन करने से मनुष्य को शीघ्र ही स्त्रिय बनाए देते हैं । क्योंकि नमक अभिष्यन्दि, (द्रवकारक) अस्त्र, सूक्ष्म, उष्ण और व्यवायी गुण वाला है ॥ ६९ संशोधन करने से पूर्व स्नेहन करना चाहिये । इसके पीछे स्वेदन करना चाहिये । स्नेह और स्वेदन कर चुकने पर पीछे संशोधन अथवा संशमन चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६७-६६ ॥

ॐ अभिष्यन्दि होने से दोषसमूह को तोड़ता है । सूक्ष्म होने से स्नेहन करता है । सूक्ष्म होने से शीर के सूक्ष्म भागों में शुभ जाता है । गरम होने से पिये हुए स्नेह को शीघ्र जीर्ण करता है । व्यवायी होने से स्नेह के साथ सारे शीर में फैल जाता है ।

तत्र श्लोकः ।

स्नेहाः स्नेहविधिः कृत्स्नो व्यापत् सिद्धिः सभेषजा ।

यथाग्रश्नं भगवना व्याहृतं चान्द्रभागिना ॥ १०० ॥

स्नेहों के प्रकार, मध्यूर्ण स्नेहविधि, स्नेह की व्यापत्तियाँ और उनकी मैषज-औषध समेत सिद्धि भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के प्रश्नानुसार सब कह दी ॥ १०० ॥

इत्यग्निवेशकृते तत्त्वे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
स्नेहाध्यायो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातः स्वेदाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मारकं भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब (स्नेह कर्म के उपरान्त) स्वेद सम्बन्धी अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

अतः स्वेदाः प्रवक्ष्यन्ते यैर्यथावत्प्रयोजितैः ।

स्वेदसाध्याः प्रशास्यन्ति गदा वातकफात्मकाः ॥ ३ ॥

अब स्वेद विधियों का उपदेश करेंगे, जिनको उचित प्रकार से करने पर स्वेदन से शान्त होने वाले, वात-कफ-जन्य रोग शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन स्वेदेनाऽवर्जितेऽनिले ।

पुरीष-मूत्र-रेतांसि न सज्जन्ति कथञ्चन ॥ ४ ॥

पहले स्नेहन कार्य करके वायु को शमन कर लेने पर शरीर में मल, मूत्र और वीर्य ये किसी भी प्रकार रुके नहीं रहते ॥ ४ ॥

शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनेः ।

नमयन्ति यथान्यायं किं पुनर्जीवतो नरान् ॥ ५ ॥

सूखे हुए काठ (बांस आदि लकड़ियाँ) भी स्नेहन और स्वेदन द्वारा मन के अनुसार मोर्जी या सांधी की जा सकती हैं, फिर जीवित (रसयुक्त और कोमल) मनुष्यों को वैद्य क्या स्नेहन और स्वेदन द्वारा इच्छानुसार परिवर्तित नहीं कर सकेगा ? ॥ ५ ॥

रोगर्तु-व्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिमुदुर्न च ।

द्रव्यवान् कलिपतो देशे स्वेदः कार्यकरो मतः ॥ ६ ॥

व्याधि, काल, रोगी पुरुष, इच्छा हनके अनुसार न बहुत गरम, न बहुत कोमल, उत्तर-उत्तर रोग को नाश करने वाले द्रव्यों द्वारा, स्वेदन करने योग्य स्थानों से दिया गया स्वेद कार्य करने में समर्थ होता है ॥ ६ ॥

व्याधौ शीते शर्णरे च महान् स्वेदो महाबले ।

दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः ॥ ७ ॥

वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते ।

स्तिर्घ-रुक्षस्तथा स्तिर्घो रुक्षश्चाप्युक्तलिपतः ॥ ८ ॥

शीत रोग में और शीतशरीर में महाबलवान् पुरुष के लिये महास्वेद जिसे शरीर सहन कर सके उतना ही देना चाहिये । शीत रोग और शीत शरीर वाले निर्बल पुरुष में दुर्बल स्वेद देना चाहिये । 'मध्यम बल' पुरुष में शीत व्याधि और शीत शरीर में 'मध्यम स्वेद' देना चाहिये । वात-कफ-जनित व्याधि में स्तिर्घ और रुक्ष द्रव्यों से बनाया स्तिर्घ-रुक्ष स्वेद देना चाहिये । केवल वातजन्य व्याधियों में स्तिर्घ पदार्थों से स्तिर्घ स्वेद देना चाहिये । केवल कफजन्य व्याधि में रुक्ष पदार्थों से रुक्ष स्वेद देना चाहिये ॥ ७-८ ॥

आमाशयगते वाते कफे पक्षाशयाश्रिते ।

रुक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥ ९ ॥

वृषणो हृदयं हृष्टी स्वेदयेन्मृदुनेत्र वा ।

मध्यमं वल्क्षणो शेषमङ्गावयवमिष्टतः ॥ १० ॥

वायु यदि आमाशय (कफस्थान) में पहुंचा हो तो प्रथम स्नेहकर्म न करके रुक्ष कर्म करे जिससे कफ निकल जाय । फिर वायु को शान्त करने के लिए स्नेहन कार्य करे । इसी प्रकार जब कफ पक्षाशय (वात स्थान) में पहुंचा हो तब पहिले रुक्ष कार्य न करके स्नेहन कार्य करे (जिससे कि वायु की शान्ति हो फिर कफ की शान्ति के लिये रुक्ष कार्य करे) हृदय, आँख, इनका मृदु स्वेद द्वारा स्वेदन करना चाहिये । यदि दूसरी चिकित्सा से कार्य चल जाय, तो स्वेद बिलकुल न करे । वंक्षण स्थित रोग में वंक्षणों में मध्यम स्वेद देना चाहिये । शेष अगों को (रोगी की) इच्छानुसार स्वेदन करे ॥ १० ॥

सुगुद्दैर्लक्ष्मैः पिण्डया गोधूमानामथापि वा ।

पश्योत्पल-पलाशैर्वा स्वेदः संदृत्य चक्षुषी ॥ ११ ॥

मुक्ताबलीभिः शीताभिः शीतर्भैर्जनैरपि ।

जटाद्रिंजलजैर्हस्तैः स्विद्यतो हृदयं रुपृशेत् ॥ १२ ॥

धूल आदि दूषक पदार्थों से रहित, रुई से, रुई के बलों से अथवा गेहूं

की पोटली बांध कर आंख पर स्वेद देना चाहिये । स्वेद देने से पूर्व आंख को कमल, या नीला कमल इनके पत्तों से ढांप लेना चाहिये । शीतल मोतियों की मालाओं से, शीतल पात्रों से, जल से भोगे कमलों से और हाथों से स्वेदन किये जाते रोगी ने हृदय को स्पर्श करता रहे ॥११-१२॥

शीत-शूल व्युपरमे स्तम्भ-गौरव-निग्रहे ।

संजाते मार्दवे स्वेदे स्वेदनाद्विगतिर्मता ॥ १३ ॥

सरदी और वेदना हट जाने पर, शरीर में जड़ता तथा भारीपन प्रतीत न होने पर और शरीर में कोमलता उत्पन्न होने से, तथा शरीर पर पसीना आ जाने पर स्वेद देना बन्द कर दे ॥१३॥

पित्तप्रकोपो मूर्च्छा च शरीर-सदनं तृष्णा ।

दाहः स्वेदङ्ग-दोर्बल्यमतिस्विन्नस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

उत्तस्तस्याशिताये यो ग्रेडिमकः सर्वशो विधिः ।

सोऽतिस्विन्नस्य कर्तव्यो मधुरः स्त्रिघशीतलः ॥ १५ ॥

अतिस्वेदन के लक्षण और उपचार—अतिस्वेद देने से पित्त का प्रकोप, मूर्च्छा, शरीर में सुस्ती, प्यास का लगना, जलन, पसीने का बहुत आना, अंगों में निर्बलता आ जाती है । अतिस्वेद के लिये 'तस्याशिताय' (अध्याय ६ में) कही हुई ग्रीष्म शूद्रु की मधुर, स्त्रिघ, शीतल गुणवाली सम्पूर्ण परिचर्या (मध्य विधि को छोड़ कर) करे । यह अतिस्वेद की चिकित्सा है ॥१४-१५॥

कषाय-मद्य-नित्यानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् ।

पित्तिनां सातिसाराणां रुक्षाणां मधुमेहिनाम् ॥ १६ ॥

विदग्ध-भ्रष्ट-ब्रह्मानां त्रिष्म-मद्य-विकारिणाम् ।

श्रान्तानां नष्टसंज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनाम् ॥ १७ ॥

तृष्णतां शुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि ।

कामल्युदरिणां चैव क्षतानामाद्वरोगिणाम् ॥ १८ ॥

दुर्बलातिशुष्कणामुपक्षीणोजसां तथा ।

मिषक् तैमिरकाणां च न स्वेदमवतारयेत् ॥ १९ ॥

स्वेद न देने योग्य व्यक्ति—जो वात-कफ प्रकृति के मनुष्य नित्य प्रति पाचनादि कषायों और मद्य का सेवन करते हों, गर्भवती, रक्त-पित्त रोगी, पित्त प्रकृति या पित्त जन्य रोग वाले व्यक्ति, अतिसार रोगी, रुक्ष प्रकृति, मधुमेही, सब प्रकार के प्रमेह रोगी, इनमें भी खास कर मधुमेह के रोगी, जिनकी गुदा पक गई हो, या गुदा बाहर आगई हो, विषरोगी, या नशे में मस्त अथवा

शराब से उत्पन्न रोगबाला, परिश्रम करने से थके, मूर्छित, बेहोश रोगी, स्थूल-चर्चावाले पुरुष, पित्तजन्य प्रमेही, प्वासे पुरुष, भूखे, कोधी, शोक-चिन्ता-ग्रस्त, कामला, उदर रोगी, कुष्ठ रोगी, बात रक्त रोगी, निर्बल, बहुत रुक्ष शरीर वाले, जिनका आज्ञ क्षीण हो गया हो उनका, तथा तिमिर रोगियों को स्वेद नहीं देना चाहिये । (परन्तु तोत्र च्याखि में अल्पस्वेद दिया जा सकता है) ॥१६-१६॥

प्रतिश्याये च कासे च दिक्का-इवासेष्टरलाघवे ।
कर्णमन्या-शिरःशूले स्वरभेदे गलग्रहे ॥ २० ॥
अर्दितेकाङ्ग-सर्वाङ्ग-पक्षाधाते विनामके ।
कोष्टानाहविवन्धेषु शक्राधाते विजुभ्मके ॥ २१ ॥
पार्श्व-पृष्ठ-कटी-कुक्षि संग्रहे गृध्रसांपु च ।
मूत्रकृच्छ्रे महत्त्वे च मुष्कयोरङ्गमदके ॥ २२ ॥
पादोरु-जानु-जङ्घातिन-संग्रहे श्रयथावर्णप ।
खल्लीष्वामेषु शांते च वंपथो वातकण्टके ॥ २३ ॥
संकोचायामशूलेषु स्तम्भन्तौरव-सुमिषु ।
सर्वाङ्गेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते ॥ २४ ॥

स्वेद योग्य व्यक्ति—जुकाम, खांसा, हिक्का, दमा, शरीर का भारपन, कान की दर्द, मन्या-शूल, शिरावेदना, स्वरभेद, गलग्रह, अर्दित (चेहरे का लकवा), एकांग वात, सवाङ्ग वात, पक्षाधात रोग, विनामक (दण्डापतानक आदि) में, पेट का अफ्ता, मल-मूत्र के अवरोध में (कब्ज), शुक के अवरोध, जड़माई का अधिक आना, पार्श्वशूल, पृष्ठवेदना, कटिशूल, कुक्षिशूल, गृध्रसी रोग, मूत्रकृच्छ्र रोग, अण्डवृद्धि, सारे शरीर में वेदना, पांव की वेदना या ऐठन, हुटना अथवा जंघा वी पीड़ा अथवा ऐठन, खल्ली अर्थात् हाथ-पांव के ऐठन में, आम रोग, शीतावस्था, कंपकपी, वातकण्टक, गुल्फ़ाश्चित वात रोग, शरीर को संकुचित करने वाले वात रोग, आयाम अन्तरायाम वात रोग, शूल-वेदना, स्तम्भ (शरीर की जड़ता), भारीपन, अंग का सो जाना या स्पर्श शान का अभाव, शून्यता, ज्वरादि और वात-द्लेघा आदि रोगों की दशाओं में स्वेद देना हितकारी है ॥२०-२४॥

स्वेदन द्रव्य—

तिल-माष-कुलत्याम्ल-घृत-तैलामिषौदनैः ।
पायसैः कूशरैर्मसैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

गो-खरोऽवराहाश्व-शकृद्धिः सतुष्यवैः ।
 सिक्ता-पांशु-पाषाण-कर्णाषायस-पूटकेः ॥ २६ ॥
 इलाहियकान् स्वेदयेत् पूर्वैर्वातिकान् ममुपाचरेत् ।
 द्रव्याण्यतान् शस्यन्ते यथाऽर्थं प्रस्तरेष्वपि ॥ २७ ॥
 भृगु-इपु च जेन्ताकेपूर्णगर्भगुहेषु च ।
 विनूमाङ्गारतस्त्रभ्यक्तः स्त्रियति ना सुखम् ॥ २८ ॥

तिल, उड़द, कुञ्ठी, अम्ल (चांगेरी-चौपतिया), मृत, तैल, ओदन-वके हुए चावर, खोर (मात्रा-दूध का खोया), (तिल और मांस की खिनड़ी), मास, इन पदार्थों को गोआकार बना कर 'पिण्ड स्वेद' आ प्रयोग करना चाहिये । रूक्ष स्वेद के द्रव्य—गाय का गोवर, गधे का मल, ऊँट का मल, मुअर का मल और घोड़े की लाद, छिल्कों वाले जौ, रेता, पांतु (धूली-वारीक रेत), पत्थर (ईंट का) चूरा, छाना (अरना) का चूर, आपस-लोहे का चूरा। इनका पांटडी बनाकर कफ रोगियों को स्वेद देना चाहिये और तिल, उड़द आदि में वातरोगियों का स्वेद देना चाहिये । पिण्ड स्वेद को 'संकर स्वेद' कहते हैं । ये तिल आदि पदार्थ प्रस्तर स्वेद में भी प्रशस्त हैं । नाड़ी स्वेद—भूमि की खोद कर बनाया हुआ घर, जेन्ताक अर्थात् कृत्रिम विधि से गरम किया हुआ घर, उष्ण गर्म अर्थात् हमाम-बिना खिड़का के घर, इनमें, वातहर, या कफहर लकड़ियों को जलाकर, धुवें रहित अंगारों से इन घरों को गरम करके, शरीर का स्नेहन करने के पीछे मनुष्य सुखपूर्वक स्वेद ले सकता है ॥ २५-२८॥

ग्राम्यानूपौदकं मांसं पयो बस्तशिरस्तथा ।
 वराह-मध्य-पित्तासूक्ष्मं स्नेहवत्तिल-तण्डुराः ॥ २६ ॥
 इत्यतान् समुत्काश्य नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ।
 देश-काल-विभागज्ञा युक्त्यपेक्षा भिषक्तमः ॥ ३० ॥
 वारुणामृतवैरण्ड-शिश्रु-मूलक-सर्षपैः ।
 वासा-वश-करञ्जार्क-पत्र-इमन्तकस्य च ॥ ३१ ॥
 शोभाञ्जनक-शरेय-मालती-सुरसार्जकैः ।
 पत्रेन्तकाश्य सलिलं नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥
 भूतांक-पञ्चमूलाद्या सुरया दधिमस्तुना ।
 मूत्रैरग्न्तेश्च सस्नेहैर्नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ३३ ॥
 एत एव च निर्यूहाः प्रयोज्या जलकोष्ठके ।

स्वेदनार्थं घृत-क्षीर-तैल-कोष्ठांश्च कारयेत् ॥ ३४ ॥

नाडीस्वेद के लिए—ग्राम्य (पालतू) पञ्च और जलीय जन्तुओं का मांस, दूध, बकरी का शिर, सुअर का मध्यभाग, पिच, रक्त, एरण्ड के बीज, तिल (तुष रहित) इन सबको यथायोग्य उत्तराकर नलिका द्वारा स्वेद देवे । देश, काल के विभाग को समझने वाला और युक्ति-प्रयोगविधि जानने वाला वैद्य स्वेद देवे । यह स्वेद वात रोग में हितकारी है । वरना, गिलोय, ऐरण्ड, सहजन, मूली के बीज, बांसा, रेणु, करञ्ज, आक, पाषाणमेद और चागेरी के पत्तों लाल सहजन, शिलाहा, अजक (तुलसी मेद) इनके पत्तों को और छालों को भी काथ करके देश, काल के विभाग को जानने वाला, युक्ति को समझने वाला वैद्य नाडीस्वेद देवे, यह स्वेद कफ जन्य रोगों में हितकारी है । भूताक (बड़ी अजवायन), पञ्चमूल (बृहत्त्रञ्चमूल वात कफ हर दांने से), सैरेय (क्षिटी), दही का पानी (मस्तु), आटों प्रकार के मूत्र, अम्लवर्ग से, स्नेह, घृत, तैल आदि के साथ काथ करके वात-कफ में नाडीस्वेद देना चाहिये । ये ग्राम्य मांस आदि तीनों निर्यूह (काथ) क्रम से, वात जन्य, कफ जन्य, और वात-कफ जन्य रोगों में 'जल कोष्ठक' अर्थात् इनके काथों से भरे द्वोणोपात्र में खड़ा करक आदमी को स्वेद देवे । स्वेदन के लिये धी का कोठा (कोण्ठ), दूध का कोठा, या तैल का कोठा भी बना लेना चाहिये ॥ २६—३४ ॥

गोधूम-शकलैङ्कूर्णैर्यवानाममलसंयुतः ।

सस्नेह-किणव-लवणरूपनाहः प्रशस्यते ॥ ३५ ॥

गन्धैः सुरायाः किणवेन जीवन्त्या शतपुष्टया ।

उमया कुष्ठतेलाभ्यां युक्तया चोरनाहयेत् ॥ ३६ ॥

चर्मभिस्च पनद्वयः सलोमभिरपूतिभिः ।

उष्णवीर्येरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः ॥ ३७ ॥

रात्रौ बद्धं दिवा मुख्नेमुच्चेद्रात्रौ दिवाकृतम् ।

विदाह-परिहारार्थं, स्यात्प्रकर्षस्तु शीतले ॥ ३८ ॥

उपनाह विधि—गेहूं का दरकच चूर्ण, जौ का चूर्ण, कांजी, तैल, मद्यकिट्ट के साथ मिलाकर गरम करके उपनाह (पुलटिस) बांधना वातजन्य रोगों में उपकारी है । चन्दन अगरु आदि सुगन्धित पदार्थ मध्य पात्र में बैठे तलछट-प्रस्त्रेप, जीवन्ती सौंफ, कफ जन्य रोगों में इनकी पुलटिस लगावे । अलसी, कूठ और तैल से पुलटिस तैयार करे, इसे वात-कफ रोगियों में प्रयोग करे दुर्गन्ध रहित, बालोंवाली एवं उष्ण वीर्य वाली खालों से लेप को बांध देना चाहिये । और जब ऐसे चमड़े न मिले तो रेशमी बब्लों से या ऊन से बने कम्बल से

बांधना चाहिये । रात्रि में प्रलेप लगाकर बांधे हुए बन्धन को दिन में खोल देना चाहिये । दिन में बांधे बंधन को रात में खोल देना चाहिये । जिससे कि जलन उत्पन्न न हो । शीत (हेमन्त और शिंशिर) काल में बंधी रहने में कोई डर नहीं दिन में बंधी पट्टी रात भी रह जाय, तो कोई डर नहीं ॥ ३५-३८ ॥

संकरः प्रस्तरो नाढी परिषेकोऽवगाहनम् ।

जेन्ताकोऽश्मघनः कर्षुः कुटी भूः कुम्भकैव च ॥ ३९ ॥

कूपो होलाक इत्येते स्वेदयन्ति त्रयोदश ।

तान् यथावत्प्रवक्ष्यामि सर्वानेवानुपूर्वशः ॥ ४० ॥ इति ।

स्वेदकर्म के तेरह प्रकार हैं १. संकर, २. प्रस्तर, ३. नाढी, ४. परिषेक, ५. अवगाहन, ६. जेन्ताक, ७. अश्मघन, ८. कर्ष, ९. कुटी, १०. भू ११. कुम्भक, १२. कूप, १३. होलाक, ये तेरह प्रकार के स्वेद हैं । इन तेरह स्वेदों को क्रमशः कहते हैं ॥ ३९-४० ॥

तत्र वस्त्रान्तरितैरवस्त्रान्तरितेवा पिण्डैर्यथोक्तैरुपस्वेदनं संकरस्वेद इति विद्यात् ॥ ४१ ॥

(१) संकरस्वेद—तिल, माष आदि पदार्थों का पिण्ड बनाकर वस्त्र में लपेट कर अथवा विना वस्त्र में लपेटे ही गरम करके स्वेदन कार्य करने का नाम 'संकर-स्वेद' है ॥ ४१ ॥

शूक-शमी-धान्य-पुलाकानां वेसवारायस-कृशरोत्कारिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविकोत्तर-प्रच्छुदे पद्माङ्गुलोरुवकार्कपत्र-प्रच्छुदे वा स्वैर्यक्त-सर्व-गात्रस्य शयानस्योपरि स्वेदनं प्रस्तरस्वेद इति विद्यात् ॥ ४२ ॥

(२) प्रस्तर स्वेद—शूक धान्य (चावल गेहूँ आदि), शमी धान्य (मूंग, उड्ड, चना आदि), पुलाक (चावल रहित धान्य, पटास), वेसवार, पायस (मावा, खोया), दृश्यर, तिल, उड्ड की बनी यवागू, उत्कारिका (उड्ड की बनी पूरी या पूवा), आदि वस्तुओं को गरम करके, पत्थर (अथवा काष आदि कड़ी वस्तु पर फैलाये हुए) रेशम, कम्बल (ऊनी वस्त्र) को फैलाकर, अथवा ऐरण्ड, उठवक (छोटा ऐरण्ड), या आक के पत्ते को हु फैलाकर इन पर औषध लगा देवे । फिर सारे शरीर पर स्नेह लगा कर इन पत्तों या वस्त्र पर लेट कर स्वेद लेने का नाम 'प्रस्तरस्वेद' है ॥ ४२ ॥

स्वेदनद्रव्याणां पुनर्मूल-फल-पत्र-शुज्जादीनां मूग-शकुनि-पिण्डित-शिर-स्पदादीनामुष्णस्वभावानां वा यथार्हमग्न्य-लवण-स्नेहोपसंहितानां मूत्रस्फृ-रादीनां वा कुरुत्या वाष्पमनुद्धमन्त्यामुत्कथितानां नाड्या शरेषीका-त्रैश-

दृष्टकरञ्जार्क-पत्रान्यतम-कृतया गजाग्रहस्त-संस्थानया व्यामन्दीर्घया
व्यामाधेदीर्घया वा व्यामचतुभाँगाष्टभागमूलाग्रपरिणाहस्तोतसा सर्वतों
वातहर-पत्र-संवृत्त-च्छिद्रया द्विखिर्वा विनामितया वातहर-सिद्धस्नेहा-
भ्यक्तगात्रो बाष्पमुपहरंत्, बाष्पाणा हानूधर्वगामीं विहत-चण्ड-वेगस्त्व च-
मविदहन सुखं स्वेदयर्ताति नाडीस्वेदः ॥ ४३ ॥

(३) नाडीस्वेद—यहिले कहे हुए स्वेदन द्रव्यों के मूल, फल, पत्र
और कौपल और पशु, पक्षी इनका मांस, शिर, पांव आदि उष्ण स्वभावयुक्त
अथवा यथायोग्य अम्ल, लवण एवं स्नेह युक्त, आठों प्रकार के मूत्र, गौ
आदि के दूध और मस्तु को घड़े में बन्द करके इसके मुख को ढक्कन से बन्द
कर दे फिर इस को गरम करे । इस घड़े में शर, ईंपीक आदि से बनी नलिका
(नली) को लगाकर इसके द्वारा वातहर तैल से स्तिरघ पुरुष को स्वेद देना
चाहिये । नलिका का स्वरूप सरकणडा का अगला भाग, पत्ता, बांस का पत्ता,
करंज का पत्ता, आक का पत्ता इन में से किसी की नलिका बनाले । नली
हाथी की सूंड के समान ऊपर से मांटी नीचे पतली मुख पर से गोल हो, तथा
व्याम अर्थात् पुरुष के दोनों हाथ पैला लेने पर इस लम्बाई के बराबर लम्बी,
अथवा आधे व्याम लम्बी, और जड़ से अग्र तक व्याम के चौराई भाग घेर
में, वा व्याम का आठत्रयं भाग होना चाहिये । और नाड़ी के चारों ओर
जितने भी छेद हों, उन सब को वातनाशक एरण्ड आदि के पत्तों से बन्द
करके दो या तीन बार टेझी धूमा कर पात्र के मुख में लगी हुई नलिका से
बाष्प रोगी को देने चाहिये । दों तीन बार टेझी-मेझी धुमाने से बाष्प ऊपर
की ओर न जाकर, प्रबल वेग से त्वचा को न जलाता हुआ सुखपूर्वक स्वेदन
करता है ॥ ४३ ॥

वातिकोत्तरवातिकानां पुनर्मूलादीनामत्काथैः सुखोष्णैः कुम्भीर्ब-
र्षणिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्हसिद्धस्नेहाभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छलं
परिषेचयेदिति परिषेकः ॥ ४४ ॥

(४) परिषेक स्वेद—वातनाशक एवं विशेष रूप से त्रिदोषनाशक द्रव्यों
के मूल, फल, पत्र, शुंग आदि को सुखदायक क्षाय—जिसे शरीर सहन कर
सके इतने गरम क्षाय को सचिन्द्र बर्तन के ढक्कन में छेद रखकर जिससे बाष्प
निकल सकें, अथवा बर्तन में नाली लगाकर यथायोग्य स्नेह से स्तिरघ शरीर
बाले मनुष्य को कपड़ों से सम्पूर्ण रूप में ढांप कर स्वेद देना चाहिये ॥ ४४ ॥

वातहरोत्काथ-क्षीर-तैल-धृत-पिशित-रसोष्ण-सलिल-कोष्ठकावगाहस्तु
यथोक्त एवावगाहः ॥ ४५ ॥

(५) अवगाह स्वेद—बात नाशक द्रव्यों से काथ, धी, तैल, मांस रस गरम पानी बनाकर 'कोठी' लकड़ी का बना हुआ बड़ा पात्र जिसमें मनुष्य बैठ सके उसमें बैठकर स्नान करना अवगाहन है ॥ ५ ॥

अथ जेन्ताकं चिकीषुभूमि परीक्षेत—तत्र पूर्वस्यां दिश्युत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप-पुष्टकारण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे सम-सुविभक्त-भूमि-भागे सप्ताष्टौ वाऽरबीरुपक्रम्योदकात्प्राङ्-मुखमुद्भूत्वं वाऽभिमुखतीर्थं कूटागारं कारयेत्, उत्सेधविस्तरतः परमरन्त्राः षोडश, समन्तात्सुवृत्तं मृत्कर्मसंपञ्चमनेकवातायनम् । अस्य कूटागारस्यान्तः समन्ततो भित्तिमग्निविस्तारोत्सेधां पिण्डिकां कार-येदाकपाटात्, मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्कष्टकुमात्र-पुरुषप्रमाणं मृन्मयं कुन्दसंस्थानं वहु-सूक्ष्म-च्छिद्रमङ्गार-कोष्ठक-स्तम्भं सपिधानं कारयेत्, तं च खादिराणामाइवकर्णादीनां वा काष्ठानां पूरयित्वा प्रदीपयेत्, स यदा जानीयात्साधुदग्धानि काष्ठानि, विगतधूमान्यवरमं च केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोषणा युक्तमिति, तत्रैवं पुरुषं बातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्, प्रवेशयं इच्चेनमनु-शिष्यात्—“साम्य ! प्रविश कल्याणायाऽरोग्याय चेति, प्रादृश्य चेनां पिण्डिकामधिरूपा पार्श्वापरपार्श्वाभ्यां यथा सुखं शर्योथाः, न च त्वया स्वेद-मूच्छी-परीतेनापि सता पिण्डिकैषा विमोक्त्याऽप्राणोच्छ्रुतासात्, भ्रश्यमानो हृतः पिण्डिकावकाशाद् द्वारमनाधगच्छन् स्वेद-मूच्छी-परीततया सद्यः प्राणान् जह्नाः, तस्मात्विष्णिद्वाकामेनान् न कथं चन मुख्येथाः, त्वं यदा जानीया विगताभिष्यन्दमात्मानं सम्यक् प्रस्तुत-स्वेद-पिच्छं सर्व-स्रोतो-विमुक्तं लघुभूतमपगत-विवन्ध-स्तम्भ-सुर्मिवेदना-गौरव-मिति, ततस्ता पिण्डिकामनुसरन् द्वारं प्रपद्येथाः, निष्कर्म्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थं शीतोदकमुपस्थृतेथाः, अपगत-सन्ताप-क्लमस्तु मुहुर्तात्सुखोष्णेन वारिणा यथान्यायं परिविक्तोश्रीयाः—इति जेन्ताक-स्वेदः ॥ ४६ ॥

(६) जेन्ताक स्वेद—जेन्ताक स्वेद करने की इच्छा करने वाला वैद्य सब से प्रथम मूर्मि की परीक्षा करे । इसके लिये मनुष्य के निवास स्थान से पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जो भूमि-प्रदेश (वृक्ष आदि के उत्पन्न होने से) प्रशस्त एवं गुणवान् तथा सुन्दर हो, काली मिही वाला या स्वर्ण (पीली

मिट्ठी) मिट्ठी का हो, तालाव, पुष्करिणी, बावड़ी अथवा बड़े तालाव के दक्षिण या पश्चिम किनारे पर, जहां पर किनारे का अच्छा घाट बना हो, जहां भूमि ऊंची नीची न हो, बिल्कुल समान हो। (२) कूटागार निर्माण—वहां पर पानी से सात या आठ हाथ पीछे हटकर जलाशय के पश्चिम किनारे पर पूर्व-भिमुख अथवा जलाशय के दक्षिण किनारे पर उत्तरभिमुख कूटागार बनाना चाहिये । यह कूटागार ऊंचाई में १६ हाथ और चौड़ाई में १६ हाथ चारों ओर से गोलाकार बहुत रोशनदारी वाला मिट्ठी से लिंग पुता कर तैयार करना चाहिये । इस घर के अन्दर दिवार के चारों ओर किवाड़ तक एक हाथ भर ऊंची चबूतरी बनानी चाहिये । मध्य में चार हाथ विस्तृत पुरुष के परिमाण की मिट्ठी से बनी, कन्दूक आकार की बहुत सूक्ष्म, छोटे २ छिद्रों वाला अंगार कोष्ठ रूप स्तम्भ बनाये, और इस का ढक्कन भी बनाये । (३) स्वेदन विधि—इस भाड़ को खैर, अशकर्ण (बड़े पत्तों वाला ढाक) को लकड़ियों से भरकर जला देवे । जिस समय यह मालूम हो जाए कि लकड़ियां भी प्रकार जल नुकी, धुंआ नहीं रहा, और घर भी आग से गरम हो गया है तथा पसोना देने की योग्यता वाली गरमी से युक्त है, तब वातहर तैल से स्तिरव एवं बख्त से ढंके हुए पुरुष को इस घर में प्रवेश करावे । प्रवेश कराने से पूर्व उस को समझा दे कि—हे सौम्य ! कल्याण, मंगल और आरोग्यता के लिये इस घर में प्रवेश करो । इस घर में प्रविष्ट होकर इस चबूतरे के ऊपर दक्षिण पार्श्व से, या बाम पार्श्व से, जिससे चाहो उस पार्श्व से (जैसे आराम मिले, बैसे) सुखपूर्वक लेटो । परन्तु पसीने आने से उत्तर मूर्छां के कारण व्याकुल होने पर भी इस चबूतरे को प्राणों के रहने तक बिल्कुल मत छोड़ो । क्योंकि इस चबूतरे पर से फिसल कर दर्बाजे को न पाकर मूर्छां की व्याकुलता के कारण प्राण निकल जायेंगे । इसलिए चबूतरे को बिल्कुल न छोड़ना । जिस समय कफ का जोर घट जाय, पसीना भी सब स्थों से भली प्रकार निकल जाय, तारे छिद्र खुल जायें, शरीर हल्का हो जाय, मल बन्ध, जड़ता, स्पर्श ज्ञान का अभाव, पीड़ा और भारीपन शरीर में नहीं रहे, उस समय चबूतरे के साथ साथ चलकर दर्बाजे के पास पहुंच जाना और बाहर निकल कर आंदों की रक्षा के लिये सहसा शीतल जल का प्रयोग न करना कुछ देर ठहर कर जब थकान और गरमी, श्यथिलता दूर हो जाय तब थोड़े गरम पानी से इच्छानुसार स्नान करके भोजन करना ॥ ४६ ॥

शयानस्य प्रमाणेन घनामममर्यी शिलाम् ।

तापयित्वा मारुतघ्नेदर्दरुभिः संप्रदीपितैः ॥ ४७ ॥

न्यपोद्द्वय सर्वानङ्गारान् प्रोद्द्वय चवाण्डणारिणा ।
 तां शिलामथ कुर्वीत कौषेयाचिक-संस्तराम् ॥ ४८ ॥
 तस्यां स्वध्यक्तसर्वाङ्गः स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ।
 कौवाजिन-कौषेय-प्रावारायैः सुरांश्वतः ॥ ४९ ॥
 इत्युक्तोऽस्मधनस्वेदः, कर्पूरस्वेदः प्रवक्ष्यते ।

(७) अशमधन स्वेद विधि—पुरुष लेट सके, इतनी बड़ी लम्बी, चौड़ी, मजबूत पत्थर की बनी शिला को; वातनाशक (देवदार या अगर आदि) लकड़ियां जलाकर गरम करे । गरम होने पर सब अंगारों को दूर हटा दे, शिला पर गरम पानी छिड़क देवे (जिससे कि ऊपर की गरमी बाहर हो-जाये) सब अंगों पर तैल का अभ्यंज्ञ करके मनुष्य सोता हुआ सूत का चादर, मृग चर्म, रेशमी चादर कम्बल आदि भली प्रकार आढ़कर मुख पूर्वक स्विन्न होता है । इस प्रकार अशमधन स्वेद बता दिया गया, अब कर्पूर-स्वेद बताया जाता है ॥ ४७-४८ ॥

खानयेन्ठ्यथनस्याधः कर्पूर, स्थानविभागवित् ॥ ५० ॥
 दीप्तैरस्थूमैरङ्गरैस्तां कर्पूरयेत्ततः ।

तस्यामुपुरिशश्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम् ॥ ५१ ॥

(८) कर्पूर-स्वेद विधि—स्थान के विभाग को जानने वाला बैद्य शश्या के नीचे हाण्डा के आकार का एक गोल गड्ढा बनावे । इस गड्ढे को जलते हुए परन्तु धूमरहित अंगारों से भर दे । इस गड्ढे के ऊर खाट विछाकर लेटने से सुख पूर्वक पक्षीना आता है ॥ ५०-५१ ॥

अनल्युत्सेधविस्तारा द्वृत्ताकारामलोचनाम् ।

घनभित्ति कुटीं कृत्वा कुष्ठायैः संप्रलेपयेत् ॥ ५२ ॥

कुटीमध्ये भिषकशश्यां स्वास्तीणां चोपकल्पयेत् ।

प्रावाराजिन-कौषेय-कुथ-कम्बल-गोलकः ॥ ५३ ॥

इसनितिकाभिरङ्गार-पूर्णभिस्तां च सर्वशः ।

परिवार्यान्तरारहेऽध्यक्तः स्विद्यते सुखम् ॥ ५४ ॥

(९) कुटीस्वेद विधि—न बहुत ऊंचा और न बहुत चौड़ी गोलाकार, रोशनदान रहित (जिसमें बायु के लिये छेद न हों) तथा मोटी दिवारों वाली कुटी बनाये । इस घर को अन्दर से कुछ आदि उष्णवोर्य द्रव्यों से लें देना चाहिये । इस लिये कुटी के बीच में बैद्य लम्बी, चौड़ी शश्या बनाये । इस शश्या के चारों ओर अंगारों से भरी अंगीठियां रख देवे । फिर व्याघ्रचर्म, मृगचर्म, रेशम, कम्बल, चित्र विचित्र गरम बख शश्या पर विछाकर, लपेट लेने चाहिये । शरीर

पर स्नेह लगाकर स्वेद लेना चाहिये । इस प्रकार सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है ॥ ५२-५४ ॥

य एवाश्मघनस्वेद-विधिर्भूमो स एव तु ।

प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते ॥ ५५ ॥

(१०) भू-स्वेद विधि—जो विधि अश्मघन स्वेद की है, वही भू-स्वेद की है । इस स्वेद के लिये भूमि उच्चम, वायु रहित तथा समान हो ऊंची-नीची नहीं होनी चाहिये ॥ ५५ ॥

कुम्भी वा तहर-काथ-पूर्णा भूमो निखानयेत् ।

अर्धभागं त्रिभागं वा शयनं तत्र चोपरि ॥ ५६ ॥

स्थायेदासनं वाऽपि नातिसान्दरिच्छदम् ।

अथ कुम्भाणा सुसन्तप्तान् प्रक्षिपेदयसो गुडान् ॥ ५७ ॥

पाषाणांश्चोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति ना सुखम् ।

सुसंबृताङ्गः स्वध्यक्तः स्नेहरनिलानाशनः ॥ ५८ ॥

(११) कुम्भ-स्वेद विधि—घड़ को वातहर देवदारु आदि के काथ से भरकर भूमि में आवा या तिहाई भाग गाड़ देना चाहिये । इसके ऊपर एक खाट बिछा दे । खाट के ऊपर बहुत गहरा मोटा कपड़ा न बिछाना चाहिये । फिर लोंडे के गोले, या पत्थरों को खूब गरम करके भूमि में या गड़ी और बात हर काथ से भरी कुम्भाण (घड़े) में गिरा दे । इनकी गरमी से, शय्या के ऊपर अंगों को लेपेट कर लेटे हुए, शरीर पर वातनाशक स्नेह का मर्दन किये हुए पुष्प को सुखपूर्वक स्वेदन हाता है ॥ ५६-५८ ॥

कूपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेध्यतः ।

देशो निवाते शस्ते च कुर्यादिन्तः सुमार्जितम् ॥ ५९ ॥

हस्त्यश्वन्गो-खराष्ट्राणां करीषेदग्धपूरिते ।

स्वच्छलञ्जः सुरस्तीर्णःध्यक्तः स्विद्यति ना सुखम् ॥ ६० ॥

(१२) कूप-स्वेद—जितनी जगह पर खाट बिछती हो, उतने स्थान पर शय्या के बराबर लम्बा, चौड़ा एक गड्ढा खांदे । इस गड्ढे की गहराई दुगनी हो । इस कुए को वायु रहित स्थान पर बनावे इस कुए को अन्दर भली प्रकार लेप कर साफ स्वच्छ कर लेना चाहिये । इस गर्ते में हाथी, घोड़े आदि के शुष्क मल (गोटों को) को डाल कर जला देना चाहिये । जब धुआ निकलना बन्द हो जाय तब इस कूप के ऊपर चारपाई बिछा कर कोई बख्त इस पर बिछाकर, शरीर पर वातहर तैल मर्दन करके, व्याघ्रचर्म, मूगछाला, कम्बल आदि ओढ़कर लेटने से सुख पूर्वक स्वेद हो जाता है ॥ ५९-६० ॥

धीतिकां तु करीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत् ।
 शयनान्तःप्रमाणेन शश्यामुपरि तत्र च ॥ ६१ ॥
 सुदर्घायां विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत् ।
 स्ववच्छन्नः स्वप्स्तत्राश्यत्तः स्वित्यति ना सुखम् ॥ ६२ ॥
 होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा ।
 इति द्रयोदशविधिः स्वेदोऽग्निगुणसंश्रयः ॥ ६३ ॥

(१३) होलाक स्वेद—हाथी, घोड़ा, गाय, गधा, उंट इनके छानों (मल) को लम्बी परन्तु गोलाकार (धीतिका अर्थात् चिता के रूप में) बना कर जला देना चाहिये और जब यह चिता धूम रहित हो जाय, तबे इस पर यथांक शश्या आदि विछाकर, बातहर तैल का मर्दन करके, उष्ण वस्त्र ओढ़कर सोने से सुखपूर्वक पसीना आता है । यह सुखकारक होलाकस्वेद है । ये तेरह प्रकार के स्वेद अग्नि के अधीन हैं, इनका महर्षि ने उपदेश किया है ॥६१-६३॥

व्यायाम उष्णसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा ।

बहुपानं भयक्रोधावुपनाहाहवातपाः ॥ ६४ ॥

स्वेदयन्ति दशैतानि नरमर्मिनगुणादते ।

अग्निरहित स्वेद—व्यायाम (शारीरिक भ्रम), उष्ण सदन (वायु और शीत स्पर्श रहित तहखाना भूमि के नीचे के गरम घर), कम्बल आदि भारी वस्त्र, क्षुधा (भूख), बहुपान (गरम पानी या मद्य आदि का बहुत पीना), भय, क्रोध, उपनाह (पुलिटिस) आहव (युद्ध), आतप (धूप), ये दस अग्नि के विना भी शरीर में स्वेदन करते हैं ॥ ६४ ॥

इत्युक्तो द्विविधिः स्वेदः संयुक्तोऽग्निगुणैर्च ॥ ६५ ॥

एकाङ्ग-सर्वाङ्ग-नातः स्तिनग्धो रूक्षस्तथैव च ।

इत्येतद् द्विविधं द्वन्द्वं स्वेदमुद्दिश्य कीर्तितम् ॥ ६६ ॥

स्तिनग्धः स्वेदैरुपक्रम्य मिन्नः पथ्याशनो भवेत् ।

तदहः स्विन्नगात्रस्तु व्यायामं वर्जयेन्नरः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार से दो प्रकार की स्वेद कह दिया; अग्नि गुण वाला और अग्नि-गुण रहित, एकांग और सर्वांग स्वेद, स्तिनग्ध एवं रूक्ष स्वेद, इस प्रकार तीन प्रकार के दो-दो स्वेदों को कह दिया, स्तिनग्ध मनुष्य की स्वेद द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । स्वेदन हो जाने पर पथ्य भोजन करना चाहिये । स्वेद दिया मनुष्य उस दिन व्यायाम को न करे ॥६५-६७॥

तत्र इकोकाः । स्वेदो यथा कार्यकरो हितो येभ्यश्च यद्विधिः ।

यत्र देशे यथा योग्यो देशो रक्ष्यश्च यो यथा ॥ ६८ ॥

स्विन्नातिस्विभ्रूपाणि तथाऽतिस्विभ्रमेषजम् ।
 अस्वेद्याः स्वेदयोग्याश्च स्वेदद्रव्याणि कल्पना ॥ ६६ ॥
 त्रयोदशविधः स्वेदो विना दशविधोऽग्निना ।
 संग्रहेण च षट् स्वेदाः स्वेदाध्याये निदर्शिताः ॥ ७० ॥
 स्वेदाधिकारे यद्वाच्यमुक्तमेतन्महर्षिणा ।
 शिष्यैस्तु प्रतिपत्तव्यमुपदेष्टा पुनर्वसुः ॥ ७१ ॥ इति ।

किस प्रकार से स्वेद कार्य कर सकता है, किनके लिये उपकारी है, किस प्रकार, किस स्थान पर, कैसा स्थान, किस प्रकार रक्षा करनी, सम्यक् स्वेद, अतिस्वेद के लक्षण, अतिस्वेद की चकित्सा, स्वेद के अयोग्य और स्वेद के योग्य, स्वेदन द्रव्य, तेरह प्रकार का स्वेद और विना अग्नि के दस प्रकार का स्वेद, संक्षेप रूप में छः स्वेद—ये सब स्वेदाध्याय में कह दिया । स्वेद अधिकार में जो कुछ कहना चाहिये था वह सब महर्षि ने कह दिया है । शिष्यों को ठीक २ प्रकार समझना चाहिये, इसके उपदेश करने वाले पुनर्वसु आत्रेय हैं ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्कं
 स्वेदाध्यायो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथात उपकल्पनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह म्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब उपकल्पनीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे । ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

इह खलु राजानं राजमात्रं वाऽन्यं विपुलद्रव्यं संभृतसंभारं वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा प्रागेवौषधपानात्संभारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक्षैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्थाः, व्यापन्ने चौषधे व्यापदः परिसंस्थाय प्रतीकारार्थाः । नहि संनिष्ठे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयाक्ये सुकरमाशु संभरणमौषधानां यथावदिति ॥ ३ ॥

इस लोक में राजा अथवा राजा के समान ठाठ वाले पुरुष को या बहुत घन और नौकर चाको वाले किसी रईस को वमन, विरेचन देने की इच्छा करने

बाले वैद्य को चाहिये, कि, औषध पिलाने से पूर्व ही सब आवश्यक वस्तुएं अपने पास एकत्र कर ले । क्योंकि यदि औषध टीक प्रकार से काम कर गई तो ये वस्तुें फिर काम में आ जायेंगी और यदि प्रयोग से कुछ तकलीफ हो गई तो इनकी सहायता से प्रतिकार किया जा सकेगा । और यदि सब आवश्यक उपकरणों को समीप में न रखला जाय तो उपद्रव हो जाने पर, तुरन्त बाज़ार से खरीद कर सब वस्तुओं को लाना भा उतना सरल नहीं होता जितना कि प्रथम से ही सब वस्तुओं का संग्रह करना सरल है ॥ ३ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—ननु, भगवन् ! आदावेव ज्ञानवता तथा प्रतिविधातव्यं यथा प्रतिविहिते सिध्येदौषधमेकान्तेन, सम्यक्प्रयागनिमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा, व्यापचासम्यक्प्रयोगनिमित्ता । अथ सम्यगसम्यक्च समारब्धं कर्म सिध्यति व्यापद्यते बाडनियमेन, तुल्यं भवति ज्ञानमज्ञानेनेति ॥ ४ ॥

ऐसा कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले—भगवन् ! ज्ञानवान् वैद्य को पहिले से ही चाहिये कि वह संशोधन देने से पूर्व रोगी के बल, आयु, क्रिया, सहनशक्ति, सत्त्व, देश, काल, दाष का बलाबल, प्रकृति आदि बातों का विचार करक योग्य मात्रा में औषध पियावे । जिसस कि औषध देने पर वह औषध निश्चय से ही गुणकारी सफल हो । क्योंकि सब कार्यों को भली प्रकार उचित रूप से करने पर सफलता अवश्य होती है । अनुचित राति से करने पर आपत्तियों का हाना भी निश्चित है । और यदि ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म उचित या अनुचित रूप से करने पर कर्मा सिद्ध हो जाता है, और कभी सिद्ध नहीं होता, तो ज्ञान अज्ञान के समान ही है, पढ़ना न पढ़ना वरावर हो जाता है ॥ ४ ॥

तमुवाच भगवानात्रयः—शक्यं तथा प्रतिविधातुमस्माभिरस्मद्विधर्वाऽप्यमिवेश ! यथा प्रतिविहिते सिध्येदौषधमेकान्तेन, तद्यत्योगसौष्ठवमुपदेष्टुं यथावत् न हि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयितुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोक्तुं वा, सूक्ष्माणि हि दौषध-भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसामवस्थान्तराणि यान्यनुचिन्त्यमानानि विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाङ्कुलीकुर्युः कि पुनरल्पबुद्धेः ? । तस्मादुभयमेतद्यथावदुपदेश्यामः सम्यक्प्रयोगं चौषधानां व्यापनार्नां च व्यापत्साधनानि सिद्धिरूत्तरकालम् ॥ ५ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! औषध देने पर निश्चय रूप से सफल हो, ऐसा औषधोपचार करना हम वा हम जैसे तपोबल द्वारा

रजस्, तमस् से निरुक्त हुए पुरुषों से ही सम्बन्ध है और इस प्रयोग की सफलता को पूरे पूरे रूप से उपदेश करने के लिये कोई तैयार नहीं। इसी प्रकार ऐसा भी कोई शिष्य नहीं है जो कि इस प्रयोग को यथावत् रूप में जान सके और जानकर प्रयोग ठीक २ प्रकार से कर सके, ऐसा भी कोई आदमी नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पुश्प में दोष, औषध, देश समय, बल, शरीर, भोजन, सात्त्व, सत्त्व, प्रकृति, और आयु इनकी स्थिति प्रतिक्षण वदलती रहती है। इन दोष आदि की सूक्ष्म विवेचना निर्मल एवं विशाल बुद्धि वाले पुरुष की भी बुद्धि का चकरा देते हैं, फिर अल्पबुद्धि वाले मनुष्य का तो कहना ही क्या? इसलिये योङ्गी बुद्धि वाले मनुष्य को बुद्धि को व्याकुल करने के कारण दोनों वाते अर्थात् औषधियों का उचित प्रयोग और औषध प्रयोग के मिथ्यायोग से उत्पन्न आपत्तियों को सिद्धिस्थान में कहेंगे ॥५॥

इदानीं तावत्संभारान्विविधानपि समासेनोपदेश्यामः, तद्यथा-
द्वं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामन-
भिगमनीयमनिष्टानां च शब्द-स्पष्ट-रस-रूप-गन्धानां सोदपानोल्खल-
मुसल-वर्चः-स्थान-स्नान-भूमि-महानसोपेतं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं
गृहमेत्र तावत् पूर्वमुक्तलपयेत् ॥ ६ ॥

इस अध्याय में संशोधन के उपयोगी नाना प्रकार के उपकरणों का संक्षेप से उपदेश करेंगे। सबसे पहिले मकान बनाने की विद्या (स्थापत्य कर्म या वास्तुविद्या) को जानने वाला चतुर शिल्पी ऐसा एह बनाये जो मज़बूत हो, जिसमें खुशी वायु सामने से न आकर एक पार्श्व से पर्याप्त मात्रा में आ सके। जिसमें रोगी आराम से धूम-फिर सके, पहाड़ की तराई या पहाड़ पर न बना हो, धुंवा, गरमी, धूप और धूल जिसमें न आ सकें, मन को अच्छे न लगाने वाले शब्द, स्वर्ण, रूप, रस और गन्ध जहां पर न जा सकें, पानी का घड़ा, ऊखल, मूसल, मलत्याग का स्थान, स्नानघर, रसोई, पाकशाला साथ हों ॥६॥

ततः शीळ-शोचाचारानुराग-दाक्ष्य-ग्रादक्षिण्योपपन्नानुपचार-कुश-
लान् सर्वकर्मसु पर्यवदातान् सूपोदन-पाचक-स्नापक-संवाहकोत्थापक-
संवेशकौषधपेषकांश्च परिचारकान् सर्वकर्मस्वप्रतिकूलान्, तथा गीत-
वादित्रोऽग्नापक-श्लोक-गाथाख्यायिकेतिहास - पुराण-कुशलानभिप्रायङ्गान-
नुमतांश्च देशकालविदः पारिषद्यांश्च, तथा लावक-पिञ्जल-शश-हरिणेण-
कालपुच्छक-मृग-मातृकोरञ्जान्, गां दोग्धी शीळवतीमनातुरा जीवद्रूत्सां

सुप्रतिविहित-नृण-शारण-पानीया, जलपाञ्चाचमनीयोदकोष्टमणिक-घ-
पिठर-पर्योग-कुम्भी-कुम्भ-कुण्ड-शराव-दर्वा-कटोदङ्गन-परिपचन-मन्थान-
चर्म-चेल-सूत्र-कार्पासोर्णादीनि च, शयनामनादीनि चोपन्यस्त-भृङ्गार-
प्रतिग्रहाणि सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर-प्रच्छदोपधानानि स्वापाश्रयाणि संवेश-
नोपवेशन-नेह-नवेदाभ्यङ्ग-प्रदेह-परियेकानुलेपन-वमन-विरेचना-स्थापना-
नुवासन-शिरोविरेचन-मूत्रोच्चार-कर्मणासुपचारसखानि, सप्रशालिनोप-
धानाश्च सुशक्षण-खर-मध्यमा हृषदः, शब्दाणि चोपकरणार्थानि. धूमनेत्रं
च, बस्तिनेत्रं चोत्तरवस्तिकं च, कुशहस्तकं च, तुला च, मानभाण्डं च,
धृत-तैल-वसा-मज्ज-क्षोड-फाणित-लवणं धनोदः-मधु-सीधु-सुरा-सौवी-
रक-तुषोदक मेरेय-मेदक-दधि-मण्डोदशिवद्वान्याम्ल-मूत्राणि च, तथा
शालि-षष्ठिक-मुद्रा-माप-यव-निल-कुलत्थ-चदर-मृद्दीका-काइमर्य-परूषका-
भयामलक-विर्भातकानि, नानाविधानि च स्नेहस्वेदोपकरणानि द्रव्याणि,
तथैवोर्ध्वहरानुलोमिकोभय-भाव्य-ज संग्रहणीय-दीपनीय-पाचनीयोपशम-
नीय-वातहराणि समाख्यातानि चोषधानि, यज्ञान्यदपि किंचिद् व्यापदः
परिसंख्यायोपकरणं विद्यात्, यज्ञ प्रतिभांगार्थः; तत्तदुपकल्पयेत् ॥ ७ ॥

इस के उपरान्त पवित्र शुद्ध स्वभाव, निर्मल आचरण के, रोगी से प्रेम
रखने वाले, कर्मकुशल, सेवाकर्म में दक्ष, अपने २ कर्म में कुशल (शिक्षित)
रसेई बनाने में होशियार रसोइये, स्नान कराने वाले, हाथ पांव मलने वाले,
शरीर को पकड़ थाम कर खड़ा करने वाले, चिठानेवाले, औषध-दवाईं पासने-
वाले सब कार्यों में अनुकूल नौकर, गाने बजाने में चतुर, सुनिपाठ करने
वाले, श्लोक, गाथा, कहानी, आख्यायिका, वात-चीत, इतिहास, पुराण आदि
सुनाने वाले, अभिग्राहों, को उसके इशारों से पहिन्चानेवाले, मालिक के मन के
अनुकूल, देश, काल को समझने वाले यार-न्देस्त, सोसायटी के आदमी वहाँ
रहने चाहिये । इसी प्रकार वटेर, कपिञ्ज़ल (कबड्डा), खरगोश, हरिण; काला
हरिण, कालपुच्छ (हरिण का भेद), मृगमारुका (बड़े पेटवाला हरिण,
बारहसींगा), और मेढ़ा इन को भी एकत्र करना चाहिये । दूध देनेवाला,
अच्छे शान्त स्वभाव की, रोगरहित, जिसका बछड़ा जीता हो, ऐसी गाय रखें ।
इस गाय के लिये रहने, घास और पानी का अच्छा बन्देवस्त करे, छोटा पात्र,
आचमन का पात्र, पानी रखने का बड़ा पात्र, मणिक (मटका), घड़ा, थाली,
कड़ाही, बड़ा घड़ा, मजबूत छोटा कलसा, कूड़ा गहरा बर्त्तन, उकोरा, ढक्कन,
कड़छी, चटाई, ढांकने का ऊपर का ढक्कन, तेल पकाने की कड़ाही, रई

(मथानी), मृगचाल, पुराने (परन्तु साफः धुले) बछ, सूत, कपास, रुई, ऊन तथा लेटने या बैठने के साधनों (खाट, तकिया, आसन) के पास में पानी बरतने का गंगासागर, पीकदान, और मुन्दर सफेद चांदनी की भाँति इवेत चादर और तकिया लगा पलंग, सुखपूर्वक बैठने के लिये गार्दा, तकिया या आराम-कुर्सी, एवं स्नेहन, स्वेदन अभ्यंग, प्रलेप, स्नान, अनुलेपन, बमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, मूत्रस्थान (पेशाब घर) का स्थान, मल्त्याग का स्थान (संडास), उत्तम एवं मुख्कारक तथा साधनयुक्त बनावे । स्वच्छ धुली, चिकनी, खुरदरी, मध्यम रूप की पत्थर की शिला (सिल, दवाई आदि पीसन के लिये) एवं केंची, फांबड़ा गण्डासा, दरांती आदि शब्द ये सब पदार्थ एकत्र करे । धूमनेत्र-धूमनलिका, और उत्तर बस्ति को नलिका, बुहारनी (शाहू), तराजू, द्रव मापने के लिये पात्र, धी, तैल, बसा, मज्जा, मधु, राब (आधा पका गुड़), नमक, ईधन, पानी, मधु, सीधु, सुरा, कांजी, तुंगदक, मैरेय, मेदक, दहो, दही का पानी, छाँच, धान्य, कांजी, आटा पकार के मूत्र, शालि (हेमन्त धान्य), साठा चावच, मूंग, उड्ड, जौ, तिळ, कुकुर्थी, बेर, किशमिस, फालसा, हरड़, अंधव्या, बहेड़ा और नाना प्रकार के स्नेह एवं स्वेदन के साधन, दमन, विरेचन के पदार्थ, संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय, शामक, बातनाशक गण की ओषधियां, तथा इनके अतिरिक्त और भी जो साधन या द्रव्य आपत्तियों का दूर करने वाले हों, उनको और जो उत्तरोंग के लिये आवश्यक प्रतीत हों, उन सबका एकत्र करना चाहिये ॥ ७ ॥

ततस्तु पुरुषं यथोक्ताभ्यां स्नेहस्वेदाभ्यां यथाहनुपादयेत् । तं चेदस्मिन्नन्तरे मानसः शारीरो वा व्याधिः कश्चित्तीव्रतः सहसाऽध्यागच्छेत्तमेव तावदस्योपावतंयितुं यतेत । ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनेव कर्मणोपाचरेत् ॥ ८ ॥

काधन द्रव्य एकत्र करने के उपग्रन्थ पुष्ट कां पहिंचे कही हुई विविसे स्नेह एवं स्वेदन किया करनी चाहिये । स्नेहन और स्वेदन किया करते हुए च में यदि सहसा कोई भयानक तीव्र, शारोरिक या मानसिक व्याधि उत्पन्न जाय तो स्नेहन और स्वेदन बन्द करके प्रथम उत्पन्न व्याधि का प्रतीकार नरना चाहिये । इस उपस्थित रोग के प्रतीकार में जितने दिन लगें, उतने दिनों तक रोग को आराम करना चाहिये ॥ ८ ॥

ततस्तु पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नमनुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं प्रजीर्णभर्तु शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्त्रियनुपहतवस्त्रसंबीतं देवताग्निं दिज-गुरुवृद्धवैद्यानचिंतवन्तं, इष्टे नक्षत्र-तिथि-करण-मुहूर्ते कारयित्वा

ब्राह्मणान् स्वस्तिवाचनं प्रयुक्तभिराशीभिरभिमन्त्रिता मधु-मधुक-
सैन्धव-फाणितोपहितां मदन-फल-कषाय-मात्रां पाययेत् ॥ ६ ॥

फिर मनुष्य को स्नेह एवं स्वेदन किया से युक्त कराकर, सुखपूर्वक विठाकर,
पहिले दिन का खाया भोजन जीर्ण होने पर, सम्पूर्ण अंगों का स्नान कराके,
शरीर पर चन्दन-अगर आदि द्रव्य लगाकर, माला पहिना कर, उत्तम-स्वच्छ
वस्त्र पहिने हुए, देवता, ब्राह्मण, गुरु, बृद्ध और वैद्य की पूजा कराकर, पुण्य
नष्टव्रत, तिथि मुहूर्त में, ब्राह्मणों से मंगल पाठ करवा कर, प्रशस्त मंगल किया-
आशीर्वाद मन्त्रों से अभिमन्त्रित शहद, मुलैहटी, सैन्धव नमक, गुड़ से युक्त
मदनफल के कषाय को उचित मात्रा में पिलावे ॥ ६ ॥

मदनफल-कषाय-मात्राप्रमाणं तु खलु सर्वसंशोधनमात्राप्रमाणानि
च प्रतिपुरुषमपेक्षितव्यानि भवन्ति; यावद्दि यस्य संशोधनं पीतं
वैकारिक-दोष-हरणायोपयद्यते; न चातियोगायोगाय, तावदस्य मात्रा-
प्रमाणं वेदितव्यं भवति ॥ १० ॥

मदनफल के कषाय की मात्रा, तथा सम्पूर्ण संशोधनों की मात्रा प्रत्येक
पुरुष को देखकर निश्चित की जाती है। जितनी मात्रा पान करने पर शरार
के विकार जन्य दोषों को बाहर निकाल सके और अतियोग आदि विकार
उत्पन्न न करे, उतनी इस संशोधन औषध की मात्रा वैद्य को समझनी चाहिये ॥

पीतवन्तं तु खल्वेन मुहूर्तमनुकाङ्क्षेत् । तस्य यदा जानीयात्स्वेद-
प्रादुर्भावेण दोषं प्रविलयनमापयमानं, लोमहर्षेण च स्थानेभ्यः प्रच-
लितं, कुक्षिसमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं, हङ्गासास्यस्नवणाभ्यामपिचो-
र्ध्वं सुखीभूतमथास्मै जानुसमसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तरप्रच्छं दोष-
धानं स्वापाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत् ॥ ११ ॥

प्रतिग्रहाश्चोपचारयेत्—ललाटप्रतिग्रहे पाश्वोपग्रहणे नाभिग्रपीडने
पृष्ठोन्मदने चानपत्रपनीयाः सुहृदोऽनुमताः प्रयतेरन् ॥ १२ ॥

उचित मात्रा में वमन-औषध पिलाकर कुछ काल तक एकाग्र चित्त रे
ध्यानावस्थित होकर प्रतीक्षा करे और जब पसीना उत्पन्न होकर दोष निकल
जावे, शरीर में रोमांच हो तब दोष को अपने स्थान से चलायमान समझे। जब
उदर में अफारा प्रतीत हो, उस समय दोष को पेट में आया समझे। जब वमन
की इच्छा, और मुख से शूक गिरने लगे उस समय दोष को एकत्र होकर ऊपर
की ओर आता हुआ जानना चाहिये। इसके पीछे रोगी मनुष्य को शुटने उठा-
कर मिलाकर, बैठने को उत्तम गदे और चहर तथा तकिये से युक्त खाट देवे।

बमन करते हुए रोगी को पकड़ कर सहारा देना चाहिये । इसके लिये कोई माथे को, कोई पसलियों को पकड़े, काई पेट को दबाये, और कोई पीठ को मले । इस कार्य में जिनके सामने लज्जा अनुभव न हो ऐसे मनोनुकूल मित्र सहायता करें ॥११-१२॥

अथैनमनुशिष्यात्— विवृतौष्ट-तालुकण्ठो नातिमहता व्यायामेन वेगानुदीर्णानुदीरयन् किञ्चिद्वनस्य श्रीवामूर्धवशरीरमुषवेगमप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् सुपरिलिखितनस्याभ्यामङ्गुलीभ्यामुख्यल-कुमुद-सौगन्धिक-ना-लैर्वा कण्ठमनभिस्पृशन् सुखं प्रवत्तयस्व—इति ॥ १३ ॥

स तथाविधं कुर्यात् । ततोऽस्य वेगान् प्रतिग्रहागतानवेक्षेताव-हितः । वेगविशेषदर्शनाद्वि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत, वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुध्येत लक्षणेन, तस्माद्वेगानवेक्षेतावहितः ॥ १४ ॥

इसके अनन्तर वैद्य रोगी को उपदेश दे कि तालु और गला खोल कर बहुत अधिक बल से नहीं, प्रत्युत साधारण शक्ति से बाहर आते हुए वेग को बाहर करे । इसके लिये गर्दन, तथा सुख को आगे की ओर छुका दे तथा अनु-पस्थित वेग को बाहर निकालने के लिये खूब अच्छी प्रकार से नखों से रहित दो अंगुलियों, अथवा कमल, कुमुद या सुगन्धित कमल की डण्डों से धोरे-धोरे गले के भीतर स्पर्श करे और वेग को बाहर कर देवे । रोगी वैद्य के कहे अनु-सार करे । वैद्य रोगी के बमन किये पदार्थ को सावधानी से देखे । कुशल, चतुर वैद्य वेग को देख कर ही सम्यक् योग, अयंग और अतियंग का अनु-मान कर सकता है । वेग को समझने में चतुर वैद्य वेग देखकर लक्षणों से अतियोग आदि के प्रतिकार को ठीक प्रकार से समझ लेता है । इसलिये वैद्य सावधानी से वेगों को देखे ॥१३-१४॥

तत्रामून्ययोग-योगातियोग-विशेषज्ञानानि भवन्ति, तद्यथा—अप्रवृत्तिः कुतश्चित् केवलस्य वाऽप्यौषधस्य विभ्रंशो वेगानामयो-गलक्षणानि भवन्ति । काले प्रवृत्तिरनतिमहतो व्यथा यथाक्रमं दोषह-रणं स्वयं चावस्थानमिति योगलक्षणानि भवन्ति । योगेन तु दाष्प्रमाण-विशेषेण तीक्ष्ण-मृदु-मध्यविभागो ज्ञेयः, योगाधिक्येन तु फेनिल-रक्त-चन्द्रिकोपगमनमित्यतियोगलक्षणानि भवन्ति । तत्रातियोगयोगनि-मित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात्-आध्मानं परिकर्तिका परिस्त्रावो हृदयो-पसरणमङ्ग्रहो जीवादानं विभ्रंशः स्तम्भः क्लम उपद्रव इति ॥ १५ ॥

अयोग, सम्यक् योग और अतियोग के विशेष लक्षण ये हैं । जैसे किसी विशेष कारण से (गले में अंगुली आदि डालने से भी वमन का योड़ा आना अथवा, वमनकारक औषध ही का केवल बाहर आना,) वेगों का रुक जाना ये अयोग के चिन्ह हैं । न तो बहुत जल्दी और न देर में ठीक समय पर वमन का आना; वमन करने में कष्ट का अधिक न होना, कम से पहले कफ, फिर पित्त और अन्त में वायु इन दोषों का बाहर आना; और वमन का अपने आप रुक जाना सम्यक् योग के लक्षण हैं । सम्यक् योग में दोषों के प्रमाणों के अनुसार तीक्ष्ण, मृदु और मध्य भाग होते हैं । वमन के अतियोग से ज्ञागदार, रक्तमिश्रित, चन्द्रिका का आना ये अतियोग के लक्षण हैं । अतियोग और अयोग से होने वाले उपद्रवों को जानना चाहिये । अफारा, गुदा में काटने के समान पीड़ा होना, स्वाव होना, हृदय का बाहर आना, अर्थात् कलेजे का मुख को आना (आमाशय का बाहर आना सा प्रतीत होना), अंगों में बेदना और जकड़ना, रक्त का बाहर निकलना, शरीर का विभ्रम (चक्कर आना), शरीर की जड़ता, शरीर में थकान, उदासी का होना, ये अयोग और अतियोग के उपद्रव हैं ॥ १५ ॥

योगेन तु खल्वेन छद्मितवन्तमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालित-पाणि-पादास्थं
मुहूर्तमाश्वास्य, स्नैहक्वैरचनिकोपशननायानां धूमानामन्यतमं साम-
श्वेतः पाययित्वा, पुनरेवोद्दकमुपस्थर्येत् ॥ १६ ॥

उपस्थृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रवेश्य संवेश्य चानुशिष्यात्—
उच्चर्मीष्यमत्यासनमतिस्थानमतिचढ़कमण्ड्रोध-शोक-हिमातपावश्याया-
तिप्रवातान् यानयानं ग्राम्यवर्ममस्वपनं निशि दिवा स्वप्नं विरुद्धजीर्ण-
र्णासात्म्याकालप्रमितातिहीन-गुरु-विषम-भोजन-वेग-सन्धारणादीरण-
मिति भावानेतान् मनसाऽप्यसेवमानः सर्वमाहारमद्यात्-इति । स तथा
कुर्यात् ॥ १७ ॥

सम्यक् योग से वमन कर चुकने पर रोगी को देख कर उसके हाथ पांव, मुख धुलवा कर योड़ी देर विश्राम लेने दे । इसके पीछे स्नैहिक, बैरेचनिक या उपशमनीय कोई एक प्रकार का धूम यथाशक्ति पिलाकर फिर पानी से हाथ पांव धुला देवे । पानी से मुंह हाथ धुलाकर वमन किये पुरुष को वायुरहित—
सीधी वायु जिसमें न आ सके, एक पाश्व से आये, ऐसे घर में लेजा कर लेटा दे और निम आदेश करे—ऊंचा बोलना, बहुत देर बैठना, बहुत सोना,
बहुत चलना-फिरना, कोध, शोक, ठण्डक, धूप, ओस, वायु में अधिक बैठना,
घोड़े आदि की रुचारी अधिक करना, मैथुन, रात में जागना, दिन में सोना,

विश्व भोजन अजीर्ण, असात्मग्रहण के प्रतिकूल, अकाल, कुसमय, मात्रा से कम, गुरु-भारी और विषम भोजन; उपस्थित बेगों को रोकना, अनुपस्थित बेगों को बल पूर्वक बाहर करना, इस प्रकार के कर्मों का विचार मन से भी न करे और सब प्रकार का उचित आहार-भोजन करे। वह रोगी इसी प्रकार करे ॥ १७ ॥

अथैनं सायाहे परे वाऽहि सुखोदकपरिविक्तं पुराणानां लोहितशालि-
तण्डुलानां स्ववक्षिनानां मण्डपूर्वां सुखोष्णां यवागूँ पाययेदग्निव्युठम्-
भिसमीक्ष्य च, एवं द्विर्तये तृतीये चान्नकाले । चतुर्थे त्वन्नकाले
तथाविधानामेव शालितण्डुलानासुस्त्वनां विलेपीमुष्णादकद्वितीयाम-
स्नेह-लवणामल्य-स्नेह-लवणां वा भाजयेत्, एवं पञ्चमे षष्ठे चान्नकाले,
सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालानां द्विप्रसूतं सुस्विन्नमादनमुष्णो-
दकानुपानं तनुना तनु-स्नेह-लवणापवत्रेन मुद्गयूषेण भाजयेत्,
एवमष्टमे नवमे चान्नकाले, दशमे त्वन्नकाले लावकपिङ्गलादीनामन्य-
तमस्य मांसरसेनोदकलावणिकनापि सारवता भाजयेदुष्णादकानुपानम्,
एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले, अत ऊर्ध्वमन्नगुणान् कमेणोपभुज्ज्ञानः
सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेत् ॥ १८ ॥

इसके पांछे रोगी को सायंकाल अथवा अगले दिन कुछ गरम पानी से समूर्ण अंगों का स्नान कराये। एक साल पुराने सांठी चावलों का यवागू बना कर जब गल जावे, तब थोड़ी गरम यवागू के ऊर की माण्ड का पहिल पीले। फिर अग्नि का बल देखकर शेष गाढ़ भाग को खावे। इस प्रकार दूसर तांसरे भोजन के समय भी अग्निवल को देखकर इसी प्रकार का यवागू खावे। चौथे भोजन काल में इसी प्रकार पुराने सांठों के चावलों से (विलेपी रूप में बनाई) थोड़े नमक और स्नेहरहित यवागू को गरम पानी के साथ खाये। (प्रथम दो तीन समयों में जल, नमक और स्नेह नहीं खाना चाहिये)। इस प्रकार पांचवें और छठे अन्न-काल में चांथे समय के अनुसार बरते। सातवें भोजन समय में पुराने सांठी के चावलों को दो प्रस्तुति लेकर पकाये। इन चावलों को गरम पानी के साथ, थोड़े से धी एवं नमक के साथ मूँग के यूष के साथ खावे। इसी प्रकार आठवें और नवे भोजन के समय में भी करे। दसवें अन्न-काल में बटेर, कपिङ्गल आदि किसी पशु-पक्षी के मांस रस के साथ धनी व भाई चावलों की यवागू खाये, तथा गरम पानी ऊपर से पाये। इसी प्रकार ग्यारहवें और बारहवें अन्न-काल में क्रम से, मुदु, मध्य, कठिन (अथवा

गुरु, कठिन मधुर) पदार्थों को सेवन करने पर सात दिन पीछे अपने स्वाभाविक भोजन को ग्रहण करे ॥१८॥

अथैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्यानुपहतमनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं कृत-होम-वर्चल-मङ्गल-जप्य-प्रायश्चित्तमिष्टति-थिनक्षत्र-करण-मुहूर्ते ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा त्रिवृत्कलकाक्षमात्रं यथार्हाल्लोडनप्रतिविनीतं पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोष-भेषज-देश-काल-दल-शरीराहार-सात्म्य-सत्त्व-प्रकृति-बयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च । सम्यग्बिरिक्तं चैनं वमनानन्तरलक्षणोक्तेन धूमवर्जेन विधिनोपपादये-दाबल-वर्ण-प्रकृति-लाभात् । बलवर्णोपपन्नं चैनमनुपहतमनसमभिस-मीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्णभक्तं शिरःस्नातमनुलिप्तगात्रं स्फुग्विणमनुप-हत-वर्धन्संबीतमनुरूपालङ्घारालङ्घुतं सुहृदां दर्शयित्वा ज्ञातीनां दर्शयेत्, अथैनं कामेष्ववसृजेत् ॥ १९ ॥

भवन्ति चात्र—अनेन विधिना राजा राजमात्रोऽथवा पुनः ।

यस्य वा विपुलं द्रव्यं स संशोधनमर्हति ॥ २० ॥

दरिद्रस्त्वापदं प्राप्य प्राप्तकालं विरेचनम् ।

पिवेत्काममसंभृत्य संभारानपि दुर्लभान् ॥ २१ ॥

न हि सर्वमनुष्याणां सन्ति सर्वपरिच्छिदाः ।

न च रोगा न बाधन्ते दरिद्रानपि दाहणाः ॥ २२ ॥

यद्यच्छुक्यं मनुष्येण कर्तुमौषधमापदि ।

तत्त्वसेव्यं यथाशक्ति वसनान्यशनानि च ॥ २३ ॥

मलापहं रोगहरं बल-वर्ण-प्रसादनम् ।

पीत्वा संशोधनं सम्यग्युषा युज्यते चिरम् ॥ २४ ॥

इसके सात दिन पीछे जब मनुष्य में बल आजाय, तब फिर स्नेहन और स्वेदन कर्म करके, प्रसन्न मन देखकर, रात्रि में मुखपूर्वक सोने पर, पहिले दिन का खाया भोजन भली प्रकार जीर्ण होने पर, अग्निहोत्र, बलि, मंगल, जप, प्रायश्चित्त वरके, पवित्र तिथि, नक्षत्र मुहूर्त का विचार करके, ब्राह्मणों से मंगल पाठ करा कर त्रिवृत् कलक (विरेचन द्रव्य) निशोथ के चूर्ण की एक अष्ट मात्रा, योग्य द्रव्य में मिलाकर पिलावे । औषध देते समय दोष, औषध मात्रा, देश, समय, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रवृत्ति, आयु और रोगों की विवेचना कर ले । सम्यक् विरेचन होने पर वमन के पीछे की सम्पूर्ण विधि (धूमपान को छोड़कर) करे । जब तक कि शरीर में बल कान्ति न आय,

शरीर स्वाभाविक रूप में न आय, तब तक वमनान्तर की विधि करे । जब बल और वर्ण आजाय, मन भी स्वस्थ हो जाय, तब सुखपूर्वक सुलाकर, खाया हुआ भोजन भली प्रकार पचने पर, सम्पूर्ण अंगों का स्नान कराके चन्दन, अगर आदि शरीर में मलकर, माला, स्वच्छ वस्त्र पहिना कर, सुन्दर बना कर, आभूषणों से आभूषित करके, मित्रों को दिखाकर, जाति, भाई, बन्धुओं को दिखाये और फिर नित्य के उचित आहार-विहार करने का छूट देदे । इस उपरोक्त विधि से राजा अथवा राजा के समान या बहुत धनी आदमी ही संशोधन करवा सकता है । दरिद्र निर्धन व्यक्ति को जब रोग हो जाय और विरेचन लेने का अवसर हो, तो उस समय कठिन उपकरणों को इकट्ठा करना छोड़कर दवाई पान करावे । सब मनुष्यों को सब साधन नहीं जुट सकते और निर्धन व्यक्तियों को भयंकर रोग भी नहीं सताते ऐसा नहीं, आपत्ति काल (रोगावस्था) में मनुष्य जो भी औषध, वस्त्र या खान-पान कर सके, वह यथाशक्ति उसे करना नहाहिये । मल-नाशक, रोगनाशक, बल, कान्ति को बढ़ाने वाले संशोधन औषध को पोकर मनुष्य दीर्घायु होता है ॥ २४ ॥

तत्र श्लोकाः—इश्वराणां वसुमतां वमनं सविरेचनम् ।

संभारा ये यदर्थं च समानीय प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

यथा प्रयोज्यं या मात्रा यदयोगस्य लक्षणम् ।

योगातियोगयोर्यच्च दोषा ये चाप्युपद्रवाः ॥ २६ ॥

यदसेव्यं विशुद्धेन यश्च संसर्जनक्रमः ।

तत्सर्वं कल्पनाध्याये व्याजहार पुनर्वसुः ॥ २७ ॥

इसमें श्लोक है—राजाओं के या धनी पुरुषों के वमन, विरेचन कार्य, उपकरण, इनको एकत्र करने का कारण, मात्रा, प्रयोग विधि, अयोग के लक्षण, योग और अतियोग के दोष, और उपद्रव, संशुद्ध व्यक्ति को क्या सेवन करना, किस प्रकार से छोड़ना, ये सब बातें इस ‘कल्पनाध्याय’ में पुनर्वसु आत्रेय ने कह दीं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्याने उपकल्पनीयाः ।

नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

पोडशोऽध्यायः ।



अथातश्चिकित्साप्राभृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्रह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

संशोधन कार्य के अनन्तर 'चिकित्सा प्राभृतीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

चिकित्साप्राभृतो विद्वान् शास्त्रवान् कर्मतत्परः ।

न रं विरेचयति यं स योगात्सुखमभ्रुते ॥ ३ ॥

यं वैद्यमानी त्वबुधो विरेचयति मानवम् ।

सोऽतियोगाद्योगाच्च मानवो दुःखमभ्रुते ॥ ४ ॥

चिकित्सा प्राभृत चिकित्सा में कुशल या साधन सम्पन्न विद्वान्, ज्ञानवान्, शास्त्रवान्, आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन किया हुआ, चिकित्सा-कार्य में कुशल वैद्य जिस मनुष्य को वमन, विरेचन द्वारा संशोधन कराता है, वह मनुष्य वमन और विरेचन के सम्यक् योग से सुख भोगता है । अपने को वैद्य मानने वाला मूर्ख वैद्य जिस मनुष्य का वमन विरेचन द्वारा संशोधन कराता है वह मनुष्य वमन-विरेचन के अयोग या अतियोग के कारण दुःख भोगता है ॥ ३-४ ॥

दौर्बल्यं लाघवं ग्लानिर्व्याधीनामणुताऽरुचिः ।

हृद्वर्णशुद्धिः क्षुत्तृष्णा काले वेगप्रवर्तनम् ॥ ५ ॥

बुद्धीन्द्रियमनःशुद्धिर्मारुहतस्यानुलोमता ।

सम्यग्विरिक्तलिङ्गानि कायाग्नेश्वानुवर्तनम् ॥ ६ ॥

सम्यग् विरेचन के लक्षण—शरीर में कमज़ोरी आना, हल्कापन, शरीर में ग्लानि (प्रसन्नता का अभाव), रोगों का घटना, भोजन में अनिच्छा, हृदय का शुद्ध होना, रंग का निखरना, भूख प्यास, समय पर वेगों का उपस्थित होना, बुद्धि-इन्द्रिय और मन की शुद्धता, प्रसन्नता, अपान वायु का नीचे को जाना और जाठरामिं का क्रमशः बढ़ना ये सम्यग् योग के लक्षण हैं ॥ ५-६ ॥

ष्टीवनं हृदयाशुद्धिरुत्क्लेशः इलेष्मपित्तयोः ।

आध्मानमरुहत्तर्दिर्ददीर्वल्यमलाघवम् ॥ ७ ॥

जह्योरुसदनं तन्द्रा स्तैमित्यं पीनसागमः ।

लक्षणान्यविरिक्तानां मारुतस्य च निप्रहः ॥ ८ ॥

विरेचन के अयोग के लक्षण—मुख से थोड़ा २ थूक या ओषध का बाहर आना, हृदय की जड़ता, वमन आने की भाँति कर और पित्त का मुख में आना, पेट में अफारा, भोजन में अनिच्छा, वमन की इच्छा, शरीर में निर्बलता का अनुभव न होना, शरीर में भारीपन, जांब और टांग में पीड़ा, नीद का भान, शरीर के अंगों का गाले वस्त्र के तुल्य ठंडा प्रतीत होना, सरदी-छुकाम होना, और अपान वायु का रुक जाना, ये विरेचन के अयोग के लक्षण हैं ॥ ७-८ ॥

बिट्पित्त-श्लेष्म-बातानामागतानां यथाक्रमम् ।

परं स्वति यद्रक्तं मेदोमांसोदकोपमम् ॥ ६ ॥

निःश्लेष्मपित्तमुदकं शोणितं कृष्णमेव वा ।

तृप्यतो मारुतार्तस्य सोडतियोगः प्रमुहृतः ॥ १० ॥

विरेचन के अतियोग के लक्षण—गुदा से प्रथम क्रमानुसार मल, पित्त, कफ और वायु बाहर निकलते हैं, परन्तु पीछे से रक्त बहता है। यह रक्त मांसरस, मेद मिश्रित या कफमिश्रित अथवा पित्तमिश्रित पानी की भाँति, या लाल अथवा काला होता है। रोगी को वायु के कारण प्यास और मूँछां आ जाती है, ये अतियोग के लक्षण हैं ॥६-१०॥

बमनेऽतिकृते लिङ्गान्येतान्येव भवन्ति हि ।

उर्ध्वगा वातरोगाश्च नाग्न्यहश्चाधिको भवेत् ॥ ११ ॥

चिकित्साप्राभृतं तस्मादुपेयाच्छरणं नरः ।

युद्ध्याद्य एनमत्यन्तमायुषा च सुखेन च ॥ १२ ॥

बमन के अतियोग में भी यही विरेचन के अतियोग के लक्षण होते हैं। परन्तु शरीर के कटिभाग से ऊपर यातरोग एवं जवान का रुकना, ये लक्षण विशेष-अधिक होते हैं। इसलिये संशोधन कराने वाले मनुष्य को चाहिये कि विद्वान्, कर्मकुशल वैद्य की शरण में जाय जो इस रोगी को बमन-विरेचन द्वारा आयु और सुख से युक्त कर सके, मूढ़ अज्ञानी के पास नहीं ॥११-१२॥

अविपाकोऽरुचिः स्थोल्यं पाण्डुता गौरवं क्लमः ।

पिढका-कोठ-कण्ठूनां संभवोऽरतिरेव च ॥ १३ ॥

आलस्य-श्रम-दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यमवसादकः ।

इलेष्म-पित्त-समुत्क्षेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता ॥ १४ ॥

तन्द्रा क्लैद्यमबुद्धित्वमशस्त-स्वप्न-दर्शनम् ।

बल-वर्ण-प्रणाशश्च तृप्यतो द्रुंहणेरपि ॥ १५ ॥

बहुदोषस्य लिङ्गानि, तस्मै संशोधनं हितम् ।

ऊर्ध्वं चैवानुलोम्यं च यथादोषं यथाबलम् ॥ १६ ॥

संशोधन योग्य व्यक्ति—अपचन, अरुचि, मोटापा (स्थूलता), पाण्डुता, निस्तेज, पीलापन, शरीर का भारीपन, बिना परिश्रम के यक्षान चढ़ना, उदासी, शरीर पर छोटी व कुनिसियां होना, कोठ (छपे) उठना, खाज का होना, बेचैनी, आलस्य, थकान, निर्बलता, शरीर से दुर्गन्ध आना, मन को अवसरता, सुस्ती, कफ या पित्त का बढ़ना, नींद का न आना, अथवा नींद का बहुत

आना, नपुंसकता, निरुत्साहता, बुद्धिमान्य बुरे भयानक स्वप्नों का आना, बल और कान्ति का नाश होना, पुष्टिकारक आहार खाने पर शरीर का पुष्ट न होना, जिसके शरीर में इनमें से बहुत से लक्षण हों तो उसमें सब दोष बढ़े हैं यह समझकर संशोधन करना हितकारी है । इसलिये अविपाक आदि लक्षणों को देख कर बल और दोष के अनुसार ऊर्ध्व अनुलोमन (वमन) या अधो-अनु-लोमन (विरेचन) रूपी संशोधन देना हितकारी है ॥ १३-१६ ॥

एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते ।

व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥ १७ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।

बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥ १८ ॥

जरां कृच्छ्रेण लभते चिरं जीवत्यनामयः ।

तस्मात्संशोधनं काले युक्तियुक्तं पिवेन्नरः ॥ १९ ॥

दोषाः कदाचित्कृप्यन्ति जिता लड्घनपाचनैः ।

जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥ २० ॥

दोषाणां च द्रुमाणां च मूलेऽनुपहते सति ।

रोगाणां प्रसवानां च गतानामागतिप्रभुवा ॥ २१ ॥

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारेरेव बृहणम् ।

घृत-मास-रस-क्षीर-हृद्य-यूषोपसंहितैः ॥ २२ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैर्निरुहैः सानुवासनैः ।

तथा स लभते शर्म युज्यते चाऽयुषा चिरम् ॥ २३ ॥

संशोधन का फल—इस उपरोक्त विधि से मनुष्य का कोष्ठ (उदर) साफ़ होने पर जाठराग्नि बढ़ जाती है, रोग शान्त हो जाते हैं, शरीर स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है । इन्द्रियां, मन-बुद्धि और कान्ति निर्मल हो जाती है । शरीर में बल, शक्ति, सामर्थ्य, संतान और पुष्टपत्व उत्पन्न हो जाता है । बुद्धापा देर में आता है और नीरोगी होकर मनुष्य देर तक जीता है । इसलिये मनुष्य दोष-संचयकाल में और संशोधन काल में वमन-विरेचन कार्य को युक्तियुक्त रूप में करे । लंघन (उपवास) और पाचन रूपी संशमन किया द्वारा वश में किये हुए दोष कभी फिर भी (समय मिलने पर) कुपित हो सकते हैं; परन्तु जो दोष संशोधन कार्य के द्वारा वश में कर लिये जाते हैं, वे फिर कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते । क्योंकि—दोषों या वृक्षों का मूल अवशेष रहने पर रोगों अथवा न नष्ट होने पर रोगों की उत्पत्ति फिर हो जानी सम्भव होती है । औषध द्वारा दोष की जड़ कट जाने पर संशुद्ध हुए पुरुष को पथ्यकारक एवं शरीर

को बढ़ाने वाले भोजन देवे । यथा धो, मांसरस, दूध, द्वदय के लिये हितकारी या मन का अच्छे लगने वाले यूप आदि बनाकर देवे । शरीर पर तेल मलना, उबटन लगाना, स्नान, निरूह बस्ति, अनुवासनबस्ति का प्रयोग करे । इस प्रकार करने से सुख मिलता है तथा देर तक आयु का भोगता है ॥१७-२३॥

अतियोग होने पर क्या करना चाहिये—

अतियोगानुबद्धार्ना सर्विःपानं प्रशस्यते ।

तेलं मधुरकैः सिद्धमथवाऽप्यनुवासनम् ॥ २४ ॥

यस्य त्वयोगस्तं स्निग्धं पुनः संशोधयेन्नरम् ।

मात्रा-काल-बलापेक्षी स्मरन पूर्वमनुक्रमम् ॥ २५ ॥

स्नेहने स्वेदने शुद्धौ रोगाः संसर्जने च ये ।

जायन्ते भार्गविहिते तेषां सिद्धिषु साधनम् ॥ २६ ॥

जिन पुरुषों में अतियोग के लक्षण हों, उनके लिये उन-उन रोगों को शान्त करने वाली उन आोषधियों से सिद्ध किया धृत पान करावे और मधुक अर्थात् जीवनीयगण से सिद्ध तैल अनुवासन बस्ति के रूप में दे । जिस पुरुष में अयोग के लक्षण हों, उसको किर से स्नेह और स्वेद देकर, पूर्व कही हुई मात्रा को, समय, वल आदि को क्रम से स्मरण करता हुआ, किर से संशोधन के लिये देवे । स्नेहन, स्वेदन संशोधन और पेयादि क्रम से विधिपूर्वक किया न होने से जो रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उनको चिकित्सा 'सिद्धिस्थान' में कहेंगे । पहले जो मात्रा दी थी दुबारा उससे कुछ अधिक देवे ॥२४-२६॥

जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः ।

हेतुसाम्यात्समास्तेषां स्वभावोपरमः सदा ॥ २७ ॥

प्रवृत्तिहेतुर्भवानां न निराधेऽस्ति कारणम् ।

केचिच्चत्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हंतोरवर्तनम् ॥ २८ ॥

शरीर को धारण करने वाले जो धातु हैं वे कारणों की विषमता अर्थात् बढ़ने या घटने से बढ़ते या घटते हैं और शरीर के धातु कारण की समानता से समान रहा करते हैं । विषम और सम धातुओं का सदा स्वभाव से नाश होता है । इस समता और विषमता की निरन्तर प्रवृत्ति में ऐसा कारण रहता है जिससे कि उनका वृद्धि और क्षय होता है, अर्थात् साम्य या विषमता के होने में कोई कारण अवश्य होता है, विना कारण इनके स्वाभाविक धर्म में अन्तर नहीं आता । धातु एक क्षण भी विषमावस्था में नहीं रह सकते । यह उनका धर्म है । सब पदार्थों की उत्पत्ति का कारण होता है, परन्तु विनाश कार्य में

कारण नहीं होता । इसलिये कुछ आचार्य पदार्थों के निरन्तर विनाश में कारण की अपेक्षा नहीं करते हैं । कुछ विद्वान् पदार्थों के नाश में उत्पादक या प्रवर्तक कारण के अभाव को ही कारण मानते हैं ॥२७-२८॥

एवमुक्तार्थमाचार्यमनिवेशोऽश्यभाषत ।

स्वभावोपरमे कर्म चिकित्साप्राभृतस्य किम् ॥ २९ ॥

भेषजैविषमान् धातून् कान समीकुरुते भिषक् ।

का वा चिकित्सा भगवन् किमर्थं वा प्रयुज्यते ॥ ३० ॥

तच्छिष्यवचनं श्रुत्वा व्याजहार पुनर्वसुः ।

इस प्रकार कहते हुए आचार्य पुनर्वसु को लक्ष्य करके अग्निवेश बोले—
भगवन् ! शरीर की धातुवें जब स्वतः अपने स्वभाव में आ जाती हैं तब चिकित्सा के साधनों से सम्पन्न वैद्य से कर्म साध्य क्या है । फिर क्या काम ? और तब किन विषम हुए धातुओं के ओषधियों से वैद्य समान करता है ? और यदि धातुओं की विषमता ही सदा रहे, तब चिकित्सा क्या वस्तु है ? और यदि विषमता का नाश सदा होना ही अवश्यम्भावी है, फिर वैद्य किस लिये चिकित्सा कर्म करते हैं ? इस प्रकार अग्निवेश के वचन को सुनकर पुनर्वसु आत्रेय बोले ॥

श्रूतामत्र या सौम्य युक्तिर्हष्टा महर्षिभिः ॥ ३१ ॥

न नाशकारणाभावाद्वावानां नाशकारणम् ।

ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम् ॥ ३२ ॥

शीघ्रगत्वाद्यथाभूतस्तथा भावो विपश्यते ।

निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया ॥ ३३ ॥

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।

सा चिकित्सा विकाराणा कर्म तद्विषजां स्मृतम् ॥ ६४ ॥

कथं शरीरे धातूनां वैषयं न भवेदिति ।

समानां चातुर्बन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया ॥ ३५ ॥

त्यागाद्विषमहेतुनां समानां चोपसेवनात् ।

विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः ॥ ३६ ॥

समैस्तु हेतुभिर्यस्माद्वातून् संजनयेत्समान् ।

चिकित्साप्राभृतस्तस्मादाता देहसुखायुषाम् ॥ ३७ ॥

धर्मस्यार्थस्य कामस्य नृलोकस्योभयस्य च ।

दाता संपदते वैद्यो दानादेहसुखायुषाम् ॥ ३८ ॥

हे सौम्य ! जो युक्ति महर्षियों ने बुद्धि द्वारा देखी, वह मुनो । नित्यगमन-

शील काल के नाश के कारण की तरह नाश के कारण के अभाव से पदार्थों के नाश का कारण नहीं जाना जाता। कोई भी पदार्थ जैसा उत्पन्न होता है, वैसा ही शीघ्रगामी होने से नष्ट होता है। उनके विनाश में कोई कारण नहीं है। उनमें किसी संस्कार का आधान नहीं किया जा सकता। पदार्थों के नाश होने के कारण का पता नहीं चलता क्योंकि नाश के कारण का ही अभाव है। जैसे-नित्य काल का भी नाश होता दिखाइ देता है, परन्तु इस नाश के कारण का पता नहीं चलता, क्योंकि यह काल बहुत शीघ्रगामी है। धातु-पदार्थ भी काल के समान बहुत शीघ्रगामी हैं इसलिये इनके नाश का कारण न होने से ही अशात है। धातुओं की पूर्वावस्था के निरोग में भी कोई कारण नहीं है। जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर के अन्दर विषम हुए धातु समानावस्था में आते हैं, उन क्रियाओं को रोगों की चिकित्सा कहते हैं, यह 'चिकित्सा' वैद्यों का कर्म है। शरीर के अन्दर धातुओं में विषमता उत्पन्न न हो और समान अवस्था में ही धातु सदा बने रहें, इसलिये चिकित्सा क्रिया की जाती हैं। काल, बुद्धि, इन्द्रियार्थों के अतियोग, अयोग या मिथ्यायोग इन विषम हेतुओं के छोड़ने से, समयोग रूप में कारणों के सेवन करने से धातु विषम नहीं होते, और विषम हुए धातु समान हो जाते हैं। चिकित्सा-कुशल वैद्य समान कारणों से धातुओं को समान बनाने का यत्न करें। इस प्रकार करने से वैद्य शरीर के सुख और आयुष्य अर्थात् दीधोयु को प्रदान करता है। मनुष्य को शारीरिक सुख और आयुष्य प्रदान करने से वैद्य इहलोक एवं परलोक दोनों लोकों में धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) को देने वाला होता है ॥ ३१-३८ ॥

तत्र श्लोकाः—चिकित्साप्राभृतगुणो दोषो यश्चेतराश्रयः ।

योगायोगातियोगानां लक्षणं शुद्धिराश्रयम् ॥ ३६ ॥

बहुदोषस्य लिङ्गानि संशोधनगुणाश्च ये ।

चिकित्सा॑सूत्रमात्रं च सिद्धि-व्यापत्ति-संश्रयम् ॥ ४० ॥

या च युक्तिचिकित्सार्था यं चार्थं कुरुते भिषक् ।

चिकित्साप्राभृतेऽध्याये तत्सर्वमवदन्मुनिः ॥ ४१ ॥

चिकित्साप्राभृत में वैद्य के गुण; वैद्य के विपरीत मूढ़ वैद्य के अवगुण, संशोधन के सम्यक्योग और अतियोग के लक्षण; बहुत दोषों के लक्षण, संशोधन के गुण, चिकित्सा का सूत्र रूप, चिकित्सा के युक्तियुक्त होने में शंका-समाधान;

चिकित्सा का प्रयोजन—ये सब बारें ‘चिकित्सा-प्राभृतीय’ अध्याय में आत्रेय शूष्मि ने उपदेश की हैं ॥ ३६-४१ ॥

इत्यमिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने कल्पनाचतुष्के
चिकित्साप्राभृतीयो नाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १६ ॥
इनि कल्पनाचतुष्कः समाप्तः ॥ ४ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातः कियन्तःशिरसीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब दोषों को उपदेश करने की इच्छा से ‘कियन्तःशिरसीय’ नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

कियन्तः शिरसि प्रोक्ता रोगा हृदि च देहिनाम् ॥ ३ ॥

कति चाप्यनिलादीनां रोगा मानविकल्पजाः ।

क्षयाः कति समाख्याताः पिङ्काः कति चानघ ॥ ४ ॥

गतिः कतिविधा चोक्ता दोषाणां दोषसूदन ।

अथिनवेश ने पूछा कि हे दोषों को नाश करने वाले महर्षि ! मनुष्यों के शिर सम्बन्धी रोग कितने हैं ? हृदय सम्बन्धी रोग कितने हैं ? वात आदि दोषों के संसर्ग में से कुल कितने प्रकार के रोग हो जाते हैं ? क्षय रोग कितने प्रकार के हैं ? पिङ्कायें कितनी प्रकार की हैं ? और दोषों की गति कितने प्रकार की है ? कृपा कर कहिये ॥ ३-४ ॥

द्रुताशवेशस्य वचस्तच्छ्रुत्वा गुरुरब्रवीत् ॥ ५ ॥

पृष्ठवानसि यत्सौम्य तन्मे शृणु सुविस्तरम् ।

दृष्टाः पञ्च शिरोरोगाः पञ्चैव हृदयामयाः ॥ ६ ॥

व्याधीनां द्रुचधिका षष्ठिदोष-मानविकल्पजा ।

दशष्टौ च क्षयाः सप्त पिङ्का माधुमेहिकाः ॥ ७ ॥

दोषाणां त्रिविधा चोक्ता गतिविस्तरतः शृणु ।

सन्धारणाद्विवास्वप्नाद्रात्री जागरणान्मदात् ॥ ८ ॥

उद्दैर्मीष्यादवश्यायात्प्रावातादतिमैथुनात् ।

गन्धादसाम्यादाग्रातादज्ञो-धूम-हिमातपात् ॥ ९ ॥

गुर्वम्लहरितदानादिशोताम्बु-सेवनात् ।
 शिरोभितापाद् दुष्टामाद्रोदनाद् वाष्पनिग्रहात् ॥ १० ॥
 मेघागमान्मनस्तापादेशकाळ-विपर्ययात् ।
 वातादयः प्रकृष्टप्रति शिरस्यस्यं च दुष्यति ॥ ११ ॥
 ततः शिरसि जायन्ते रोगा विविधलक्षणाः ।

अग्निवेश के वचन को सुनकर गुरु महाराज बोले—हे सौम्य ! जो कुछ तुमने पूछा है उसको ध्यान देकर सवित्तर सुनो । शिर के रोग पांच प्रकार के हैं, और पांच ही प्रकार के दृश्य रोग हैं । दोषों के वात-पित्त-कफ के परिमाण से हाने वाले रोग बासठ (६२) प्रकार के हैं । धय अटारह (१८) प्रकार के, प्रमेह मधुमेह के कारण हाने वाले पोड़े सात प्रकार के, और दोषों की गति तान प्रकार की है । इसी को अब विस्तार से बुनो । मूत्र आदि के उपस्थित वेषों को रोकने से, दिन में सोने से, रात्रि में जागने से, नशा करने (मदकारक पदार्थों के सेवन) से, ऊँचे या अधिक बोलने से, ओस से, सामने की वायु के झोके से, अति खी-संभोग से, असात्म्य अर्थात् प्रतिकूल, गंभ के सूखने से, धूल धुवां वर्फ़ या धूप के सेवन से, गरिष्ठ, खड़े; धनिया-मरिच आदिके अधिक खाने से बहुत ठण्डे पानी के सेवन से, शिर पर चोट लगने से, आम के दोष युक्त होने से (अजीर्ण होने से), रोने से, आंसुओं को रोकने से, बादलों के आने से, मानसिक विक्षोभ से, देश-काल के बदलने से (इन के अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग होने से), (अथवा भूकम्प, उल्कापात आदि देश के मिथ्यायोग हैं इनसे वात, पित्त और कफ दूषित होकर शिर में रक्त को दूषित करते हैं । रक्त के दूषित होने से आगे कहे जाने वाले नानाप्रकार के लक्षणों वाले रोग शिर में उत्पन्न होते हैं ॥५-११॥

प्राणः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ १२ ॥
 यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ।

प्राणधारियों के प्राण (जीवन) और सब इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) जहां पर स्थित हैं और जो शरीर के सब अंगों में सुख्य, श्रेष्ठ अंग है, उसको 'शिर' कहते हैं ॥१२॥

अर्धावभेदको वा स्यात्सर्वं वा रुज्यते शिरः ॥ १३ ॥
 प्रतिइया-मुख्य-नासाक्षि-कर्ण-रोग-शिरो-भ्रमाः ।
 अर्दितं शिरसः कम्पो गलमन्या-हनुग्रहः ॥ १४ ॥
 विविधाक्षापरे रोगा वातादि-क्रिमि-संभवाः ।

पृथग्घट्टास्तु ये पञ्च राग्रहे परमर्षिभिः ॥ १५ ॥
शिरोगदांस्तान् शृणु मे यथास्वैर्हतुलक्षणैः ।

शिर में उत्पन्न होने वाले रोग—आधे शिर का दुखना, सारे शिर का दुखना, प्रतिद्वयाय (जुकाम, सर्दी), मुखरोग, नासिका के रोग, आँख के रोग, शिर में चक्कर आना; चेहरे का लकवा, शिर का हिलना, गलग्रह (गले का बन्द होना), मन्त्यग्रह (गर्दन का इधर उधर न मुङ सकना), हनुग्रह (जबाड़ी मिचना) और दूसरे बात आदि दोषों तथा कृमियों से उत्पन्न होने वाले रोग शिर में होते हैं । बात, पित्त, कफ, सन्त्रिप्त और कृमिजन्य ये जो पांच प्रकार के शिरोरोग (आगे जो अष्टोदरीय अध्याय १६ में) महर्षियों ने कहे हैं उनमें से एक एक लक्षण सुनो ॥ १३-१५ ॥

उच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां तीक्ष्णपानात्प्रजागरात् ॥ १६ ॥

शीत-मारुत-संस्पर्शद् व्यवायाद् वेगनिप्रहात् ।

अभिघातोपवासाच्च विरेकाद् वमनादपि ॥ १७ ॥

बाष्प-शोक-भय-त्रासाद् भार-मार्गोतिकर्षणात् ।

शिरोगता वै धमनीर्वायुराविश्य कुप्यति ॥ १८ ॥

ततः शूलं महत्तस्य वातात्समुपजायते ।

निस्तु द्योते भृशं शङ्खौ धाटा संभिद्यते तथा ॥ १९ ॥

भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च तपतीवातिवेदनम् ।

बध्यते स्वनतः शोश्रे निष्ठृष्ट्यते इवाक्षिणी ॥ २० ॥

घूर्णतीव शिरः सर्वं संधिभय इव मुच्यते ।

स्फुरत्यतिशिराजालं स्तम्भ्यते च शिरोवरा ॥ २१ ॥

स्तिर्गधोष्णमुपशेते च शिरोरोगेऽनिलात्मके ।

ऊंचे बोलने से, बहुत अधिक बोलने से, मद्य आदि तीक्ष्ण पदार्थों के पीने से, रात्रि में जागने से, ठण्डी वायु के स्पर्श से, अतिमैथुन से, मल मूत्रादि के उपस्थित बेगों को रोकने से, उपवास से, शिर पर चोट लगने से, अतिविरेचन से, अतिवमन से, बाष्प (आंसु) को रोकने से, शोक से, भय से, भार के उठाने से, अतिराग के चलने से, परिश्रम से वायु कुपित होकर सिर में गया हुआ, सिराओं में बढ़कर शिरमें महान् शूल को उत्पन्न करता है । इस शूल के कारण शंख (कनपटियों) पीड़ित होते हैं, गर्दन फटती है, भ्रुवों के बीच में माये पर बहुत बेदना होती है और माथा बहुत गरम होता है । कानों में गुंजार (आवाज) सुनाई देती है, आँखें बाहर निकलती प्रतीत होती हैं, शिर घूमता

हुआ प्रतीत होता है, शिर की सन्धियां फटती प्रतीत होती हैं, शिरोओं के अन्दर घड़कन विशेष (स्पन्दन) स्प से प्रतीत होती है, गर्दन जड़ बन जाती है, इधर-उधर नहीं हिलाई जा सकती और स्निग्ध और उष्ण किया आराम देते प्रतीत होती है । ये वातजन्य शिरोरोग के लक्षण हैं ॥१६-२१॥

कट्टवम्ल-च्छवण-क्षार-मद्य-क्रांतिपानलैः ॥ २२ ॥

पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते ।

दद्यते रुजयते तेन शिरः शीतं सुपूयते ॥ २३॥

दद्यते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते ।

आन्ध्रासुखैः स्वप्नसुखैर्गुरु-स्निग्धातिभोजनैः ॥ २४ ॥

इलेघ्मा शिरसि संदुष्टः शिरोरोगाय कल्पते ।

शिरो मन्दरुजं तेन सुप्रस्तिमितभारिकम् ॥ २५ ॥

भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथा८८लस्यमरोचकम् ।

बाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्वाहा मदभृषा ॥ २६ ॥

कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे ।

तिल-क्षीर-गुदाजीर्ण-पूति-संकोर्ण-भोजनात् ॥ २७ ॥

क्लोदो८सूक्कफ-मांसानां दाषमस्योपजायते ।

ततः शिरसि संलोदात्क्रिमयः पापकर्मणः ॥ २८ ॥

जनयन्ति शिरोरोगं जाता बीमत्सलक्षणम् ।

व्यथच्छेद-रुजा-कण्डु-शोफ-दोर्गन्ध्य-दुःखितम् ॥ २९ ॥

क्रिमिरोगातुरं विद्यात्क्रिमीणा लक्षणेन च ।

पित्तजन्य शिरोरोग—कठुवे, खटे, नमकीन, क्षार पदार्थों के सेवन से, शराब के पीने से, क्रोध से, धूर से, आग से, पित्त शिर में कुपित होकर शिरोरोग को उत्पन्न करता है । इससे शिर में जलन और पीड़ा होती है, तथा शिरोरोग को उत्पचार अनुकूल पड़ता है । आंखें जलती हैं, प्यास होती है, चक्कर आता है, और पसीना आता है । कफजन्य शिरोरोग में निरुद्योगी आलस्य का सुख है, भीवन व्यतीत करना, दिन में सोना, गुरु, भारी और स्निग्ध धो आदि मय जीवन व्यतीत करना, दिन में सोना, गुरु, भारी और स्निग्ध धो आदि युक्त पदार्थों के अतिभोजन से, लेघ्मा अथोत् कफ शिर में कुपित होकर शिरोरोग को उत्पन्न करता है । इससे शिर में धीमी २ बैदना होती है, शिर सोया हुआ रहा प्रतीत होता है, शिर जड़ हो जाता है, भारी हो जाता है । तन्द्रा, कार्य में अनिच्छा, आलस्य और भोजन में अव्यवहार उत्पन्न हो जाती है । त्रिदोषजन्य शिरोरोग— वात के कारण चक्कर आना और कम्पन, पित्त के कारण जलन, शिरोरोग मूर्ढा और प्यास, कफ के कारण भारीषन, और तन्द्रा, त्रिदोष जन्य शिरोरोग

में होती है। कुमि जन्य शिरोरोग—तिल, दूध, गुड़ इनके अधिक सेवन से, अजीर्ण और दुग्धयुक्त सड़ा गला भोजन करने से, संकीर्ण (बहुत गङ्गवङ्चीजें मिलाकर) भोजन करने से शिर के बातादि दोष बढ़कर शिर में रक्त, कफ और मांस को दूषित बनाकर रोग उत्पन्न करते हैं। पाप करनेवाले पुरुष के शिर में इस क्लेद से कीड़े उत्पन्न होकर बीभत्स अर्थात् घृणाजनक भयंकर शिरोरोग उत्पन्न करते हैं। इससे काटने, छेदने, के समान पीड़ा, खाज, सूजन, दुर्गन्ध और बहुत अधिक कष्ट होता है। इन लक्षणों को तथा कुमियों को देखकर कृमिरोग समझना चाहिये ॥२२-२६॥

पांच प्रकार के हृदयरोग—

शोकोपवास-न्यायाम-शुष्क-रुक्षाल्प-भोजनैः ॥ ३० ॥
 वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम् ।
 वेपथुर्वैष्टनं स्तम्भः प्रमाहः शून्यता दरः ॥ ३१ ॥
 हृदि वातातुरे रूपं जीर्णं चात्यर्थवेदना ।
 उच्चाम्ल-लवण-श्वार-कटकाजीर्ण-भोजनैः ॥ ३२ ॥
 मद्यक्राधातपेश्वाशु हृदि पित्तं प्रकुप्यति ।
 हृदाहस्तिक्तता वक्त्रे तिक्ताम्लोद्गिरणं झूमः ॥ ३३ ॥
 तृणा मूच्छां भ्रमः स्वेदः पित्त-हृद्रोगलक्षणम् ।
 अत्यादानं गुरुस्तिनग्धमचिन्तनमचेष्टनम् ॥ ३४ ॥
 निद्रासुखं चाप्यधिकं कफहृद्रोगकारणम् ।
 हृदयं कफहृद्रोगे सुप्त-स्तिमितभारिकम् ॥ ३५ ॥
 तन्द्रा-हृचि-परोतस्य भवत्यशमावृतं यथा ।
 हेतु-लक्षण-संसर्गाद्वच्यते सात्रिशातिकः ॥ ३६ ॥
 (हृद्रोगः कष्टदः कष्टसाध्य उक्तो महर्षिभिः)
 त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।
 तिल-क्षीर-गुडादीनि प्रनिःस्तस्योपजायते ॥ ३७ ॥
 ममैकदेशो संक्लेदं रसश्वास्योपगच्छति ।
 संक्लेदात्क्रिमयश्वास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ३८ ॥
 ममैकदेशे संजाताः सर्पन्तो भक्षयन्ति च ।
 तुद्यमानं स हृदयं सूचीभिरिव मन्यते ॥ ३९ ॥
 छिद्यमानं यथा शब्दैर्जात-कण्ठ-महारुजम् ।
 हृद्रोगं क्रिमिजं त्वेतैर्लिङ्गैरुद्धवा सुदारुणम् ।
 त्वरेत जेतुं तं विद्वान् विकारं शीघ्रकारिणम् ॥ ४० ॥

(१) धोक, उपवास, व्यायाम (परिश्रम), रुच, शुष्क, और स्वत्प भोजनों से कुपित होकर वायु हृदय में जाकर इसको दूषित करके तीव्र वेदना को उत्पन्न करती है । इससे कम्पन, ऐटन के समान वेदना, जड़ता, मूँछां, शून्यता (ज्ञान का अभाव), चक्र आना आदि लक्षण वातजन्य हृदय वेदना में होते हैं । भोजन के जीर्ण होनेपर ये लक्षण बहुत बढ़ जाते हैं । (२) पिच्छ-जन्य हृदय शूल—गरम, खड़े, नमकीन, क्षार, कटु रस के अधिक सेवन से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, मद्यपान से, कोध या धूप में बैठने या चलने से, पिच्छ हृदय में पहुँचकर जल्दी ही कुपित हो जाता है, कुपित होकर तीव्र वेदना उत्पन्न करता है । इस कारण हृदय में जलन, मुख में कड़आपन, खड़े, पिच्छयुक डकार का आना, विना परिश्रम के थकान, प्यास, मूँछां, चक्र आना, पसीना आना ये पिच्छजन्य हृदयशूल के लक्षण हैं । (३) कफजन्य हृदयशूल—बहुत परिणाम में भोजन करने से, भारी, स्निग्ध पदार्थों के सेवन से, चिन्ता न करने या थोड़ा करने, शारीरिक चेष्टाओं के कम करने से, दिन में बेफिकरी से सोने और अधिक सोने से कफ कुपित होकर हृदय में जाकर रस को दूषित करके हृदयशूल उत्पन्न करता है । इसके कारण हृदय सोया हुआ, सुस्त, गीले बज्जे से ढंपा हुआ सा, भारी प्रतीत होता है और आलस्य, अरुचि उत्पन्न होती है और ऐसा मालूम होता है कि किसी ने हृदय पर पत्थर रख दिया हो । (४) त्रिदोषजन्य हृदय शूल—तीनों दोषों के मिलने से, तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं, उसको त्रिदोषजन्य हृदयशूल कहते हैं । (५) कृमि जन्य—त्रिदोषजन्य हृदयरोग में जो दुरात्मा तिल, दूध, गुड (अजीर्णावस्था में भोजन, सड़ा हुआ भोजन, विशद भोजन आदि) सेवन करता है, उसके हृदय के एक भाग में ग्रन्थि (गांठ) उत्पन्न हो जाती है तथा रस का संक्लिन्न-भाग सङ्केन लगता है । रस के सङ्केन से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं । ये कृमि हृदय के एक भाग में उत्पन्न होकर अन्य स्थान में कैलने लगते हैं और हृदय को खाने लगते हैं । इस अवस्था में रोगी को ऐसी वेदना होती है मानों कोई उसके हृदय में सुईयां चुमा रहा है । शर्कों से कोई हृदय को काटता है, हृदय में बहुत खाज एवं पीड़ा उठती है । इन लक्षणों को देखकर कृमिजन्य भयानक हृदय रोग को समझकर विद्वान् शीघ्र मृत्यु करने वाले रोग को शान्त करने का यत्न करे ॥३०-४०॥

द्वयुल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।

समैश्चैको विकारास्ते सञ्चिपाताख्योदश ॥ ४१ ॥

सीसर्गे नव षट् तेऽस्य एकवृद्धया समैश्चयः ।

पृथक् त्रयः स्युस्तैर्वृद्ध्याधयः पञ्चविंशतिः ॥ ४२ ॥

यथा वृद्धस्तथा क्षीणदोषैः स्युः पञ्चविंशतिः ।

वृद्धि-क्षय-कृतश्चान्यो विकल्प उपदेश्यते ॥ ४३ ॥

वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य रांक्षयः ।

द्वन्द्व-वृद्धिः क्षयश्चैकस्यैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः ॥ ४४ ॥

वात आदि दोषों के परस्पर संसर्ग से होने वाले विकारों के बासठ (६२)
भेद-बढ़े हुए वात, पित्त, कफ के परस्पर संसर्ग से सन्निपात जन्य तेरह (१३)
विकार होते हैं । दो दोषों की अधिकता और एक की न्यूनता से (वात-पित्त
बढ़े, कफ कम हो, पित्त-कफ बढ़े और वात कम हो, वात कफ बढ़े और पित्त
कम हो) तीन; एक दोष की वृद्धि और दो दोष की न्यूनता से (वात बढ़े,
पित्त-कफ न्यून, पित्त बढ़े वायु-कफ न्यून; कफ बढ़े और वायु-पित्त न्यून)
तीन; इस प्रकार छः सन्निपात हैं; हीन, मध्य और अधिक भेद से ये छः
सन्निपात हैं (जैसे—वृद्ध वात, वृद्धतर पित्त, वृद्धतम कफ; वृद्ध वात, वृद्धतर
कफ, वृद्धतम पित्त; वृद्ध पित्त, वृद्धतर कफ और वृद्धतम वात; वृद्ध कफ,
वृद्धतर वात और वृद्धतम पित्त) और वात-पित्त कफ तीनों दोषों के बढ़ने से
एक प्रकार का; इस प्रकार से तेरह प्रकार के सन्निपात हैं । अब दो दोषों के
भेद कहते हैं—बढ़े हुए वात, पित्त, कफ इनमें किन्हीं दो दोषों के परस्पर
मिलने से नौ भेद हो जाते हैं । यह संयोग एक-एक दोष की वृद्धि से छः प्रकार
का, और तीनों की समान वृद्धि से तीन प्रकार होता है । छः प्रकार का यथा—
वृद्ध वात अधिक, वृद्ध पित्त; वृद्ध पित्ताधिक, वृद्ध वात; वृद्ध वाताधिक, वृद्ध
कफ; वृद्ध कफाधिक, वृद्ध वात, वृद्ध पित्ताधिक वृद्धकफ, वृद्धकफाधिक
वृद्धपित्त—ये छः प्रकार का । तीन प्रकार का यथा—वृद्ध समवात पित्तज,
वृद्ध समवातकफज, वृद्ध समपित्तकफज । इस प्रकार से नौ प्रकार का हुआ ।
पृथक् रूप में बढ़े हुए वात, पित्त, कफ से (अलग-अलग उत्पन्न हुए) रोग
तीन प्रकार से होते हैं । यथा—वृद्धवातज वृद्धपित्तज और वृद्धकफज । इस
प्रकार बढ़े हुए दोषों से २५ प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार दोषों
के बढ़ने से २५ भेद बनते हैं, उसी प्रकार दोषों के क्षीण होने से भी पच्चीस
भेद बन जाते हैं । वृद्धि और क्षय द्वारा उत्पन्न भेदों के अतिरिक्त दोषों के
अन्य भेद बतलाते हैं । यथा—एक दोष की वृद्धि, एक दोष की समता, और
एक दोष का क्षय । यथा—वृद्ध वात, समपित्त, क्षीण कफ; वृद्ध वात, सम कफ,
क्षीण पित्त; वृद्ध पित्त, सम वात, क्षीण कफ; वृद्ध पित्त, सम कफ, क्षीण पित्त;

वृद्ध कफ, सम पित्त; क्षीण वात; वृद्ध कफ, सम वात, क्षीण पित्त ये छः प्रकार। दो दोषों की वृद्धि और एक दोष का क्षय, यथा—वृद्ध पित्त कफ, क्षीण वात; वृद्ध वात कफ, क्षीण पित्त; वृद्ध वात पित्त, क्षीण कफ, यह तीन प्रकार का। एक दोष की वृद्धि और दो दोषों का क्षय—यथा वृद्ध कफ, क्षीण वात-पित्त, वृद्ध पित्त क्षीण कफ-वात, वृद्ध वात क्षीण पित्त-कफ ये तीन। इस प्रकार से ये बारह भेद उपरोक्त पचास भेद ने पृथक हैं। कुल मिलकर बासठ (६२) भेद हो जाते हैं ॥४१-४४॥

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः इलेघ्मणः क्षये ।
 स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पेति ॥ ४५ ॥

तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ।
 गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमा दौर्वल्यमेव च ॥ ४६ ॥

सास्ये स्थितं कफं वायुः क्षीणे पित्ते यदा वर्णा ।
 कर्षेत्कुर्यात्तदा शूलं सशैत्यस्तम्भगौरवम् ॥ ४७ ॥

यदाऽनिलं प्रकृतिं पित्तं कफपरिक्षये ।
 संरुणद्धि तदा दाहः शूलं चास्योपजायते ॥ ४८ ॥

इलेघ्माणं हि समं पित्तं यदा वातपरिक्षये ।
 निपीड्येत्तदा कुर्यात्सतन्द्रागौरवं ज्वरम् ॥ ४९ ॥

प्रवृद्धो हि यदा इलेघ्मा पित्ते क्षीणे समीरणम् ।
 रुच्यात्तदा प्रकुर्वीत शीतकं गौरवं रुजम् ॥ ५० ॥

समोरणे परिक्षीणे कफः पित्तं समत्वगम् ।
 कुर्वीत संनिरुन्धानो मृद्गिनित्वं शिरोग्रहम् ॥ ५१ ॥

निद्रां तन्द्रां प्रलापं च हृदोगं गात्रगौरवम् ।
 नखादीनां च पीतत्वं ष्टीवर्नं कफपित्तयोः ॥ ५२ ॥

हीनवातस्य तु कफः पित्तेन सहितश्वरन् ।
 करोत्यरोचकापाकौ सदनं गौरवं तथा ॥ ५३ ॥

द्व्यासमास्यस्वर्णं दूयनं पाण्डुतां मदम् ।
 विरेकस्य हि वैषम्यं वैषम्यमनलस्य च ॥ ५४ ॥

क्षीणपित्तास्य तु इलेघ्मा मारुतेनोपसंहितः ।
 स्तम्भं शैत्यं च तोदं च जनयत्यनवस्थितम् ॥ ५५ ॥

गौरवं मृदुतामग्नेभक्ताश्रद्धां प्रवेपनम् ।
 नखादीनां च शुक्रत्वं गात्रपारुच्यमेव च ॥ ५६ ॥

हीने कफे मारुतस्तु पित्तं तु कुपितं द्रव्यम् ।
 करोति यानि लङ्घानि शृणु तानि समासतः ॥ ५७ ॥
 भ्रमसुद्वेष्टनं तोदं दाहं स्फुटनवेपने ।
 अङ्गमर्दं परीशोषं दूयनं धूपनं तथा ॥ ५८ ॥
 वात-पित्त-क्षये श्लेष्मा स्रोतास्यपि दध्वशम् ।
 चेष्टा-प्रणाशं मूच्छां च वाक्सङ्गं च करोति हि ॥ ५९ ॥
 इलेष्मवातक्षये पित्तं देहौजः संसयेच्चरत् ।
 ग्लानिमिन्द्रियदौर्बल्यं तृष्णां मूच्छां क्रियाक्षयम् ॥ ६० ॥
 पित्त-इलेष्म-क्षये वायुर्मर्माण्यभिन्निपीडयन् ।
 प्रणाशयति संज्ञां च वेपयत्यथवा नरम् ॥ ६१ ॥

जिस समय कि पित्त अपनी प्रकृति में होता है और कफ क्षीण होता है, उस समय वायु पित्त को उसके स्थान से लेकर शरीर में इधर-उधर दौड़ता है। जिससे कि फटने की सी दर्द, जलन, यकान और निर्बलता उत्पन्न होती है। शरीर में कफ के प्रकृत अवस्था में होने से, पित्त के क्षीण होने पर कुपित बद्धवान् वायु कफ के साथ मिलकर वेदना, जड़ता, ठण्डक और भारीपन शरीर में उत्पन्न करती है। शरीर में कफ क्षीण हो, पित्त कुपित हो, वायु प्रकृति रूप में हो, तो पित्त वायु की गति बन्द करके जलन और दर्द उत्पन्न करता है। कफ समानावस्था में हो, पित्त कुपित और वायु का क्षय हो तो, कफ को रोककर पित्त शरीर में तन्द्रा अर्थात् आलस्य, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है। कफ बढ़ा हुआ हो, पित्त क्षीण हो, और वायु समानावस्थ हो, तो कफ वायु की गति को बन्द करके ठण्डक, भारीपन और ज्वर उत्पन्न कर देता है। वायु का क्षय हो, पित्त समानावस्था में हो, कफ बढ़ा हुआ हो, तो कफ पित्त की गति को बन्द करके, मन्दाग्नि, शिर का जकड़ना, नींद का आना, आलस्य, प्रलाप, हृदय रोग, शरीर का भारीपन, नख, ओष्ठ, आंख आदि को पीलापन तथा थूक में कफ और पित्त आने लगता है। वायु क्षीण हो और कफ एवं पित्त दोनों बढ़े हुए एक साथ मिलकर शरीर में अद्वितीय अविपाक भोजन का अपचन, पीड़ा, भारीपन, वमन की रुचि, मुख से लार गिरना, पीड़ा, पीलापन, नशा सा, मल त्याग में विषमता, मल का कभी आना कभी नहीं आना, इसी प्रकार अग्नि की विषमता कभी भूख लगना और कभी नहीं लगना ये लक्षण उत्पन्न करते हैं। पित्त के क्षीण होने पर कफ वायु के साथ मिलकर शरीर में जड़ता, ठण्डक, कभी यहां और कभी वहां, अनिवित स्थान पर वेदना, भारीपन, अग्नि की निर्बलता, भोजन में अनिच्छा, कम्पन, नख (मल, ओष्ठ,

आंख) में सफेद रंग और शरीर में रुक्षता अर्थात् रुक्षापन आ जाता है। कफ के क्षीण होने पर, वायु और पित्त दोनों कुपित होकर जो लक्षण शरीर में उत्पन्न करते हैं, उनको संक्षेप से मुनो। द्यार में चक्र आना ऐंठन की पीड़ा, ऊभने की सी दर्द, जलन, शरीर का घटना, कम्फन, अंगों का दृटना, शुष्कता, पीड़ा और धूप में बैठने से जैसे अंग गरम हो जाते हैं ऐसी जलन होती है। वात और पित्त दोनों क्षीण हो, केवल कफ बढ़ा हो तो—सब स्रोतों को कफ रोक लेता है। इससे क्रियायें नष्ट हो जाती हैं, मूर्छा, जीभ-वाणी का बन्द हो जाना, होता है। कफ और वात के क्षीण होने पर पित्त गति करता हुआ शरीर के ओज (कान्ति) को चलायमान कर देता है। शरीर में गलानि, यकान, इन्द्रियों की दुर्बलता, प्यास, मूर्छा और चेष्टाओं का नाश हो जाता है। पित्त और कफ के क्षीण होने पर वायु मर्म स्थानों का विशेष रूप में पीड़ित करती है। इससे मनुष्य की संज्ञा (चेना) नष्ट हो जाती है, अथवा मनुष्य कांपता है ॥४५-६१॥

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथावलम् ।

क्षीणा जहृति लिङ्गं म्वं, समा: स्वं कर्म कुर्वते ॥ ६२ ॥

बढ़े हुए दोष अपनी शक्ति के अनुसार अपने (स्वाभाविक) लक्षणों को उत्पत्ति की अवस्था में दिखाते हैं। यथा—पित्त का स्वाभाविक लक्षण उष्णत्व है। बढ़ने पर तीव्र उष्णिमा उत्पन्न करेगा। दोष क्षीण होने पर अपने स्वाभाविक लक्षणों को छोड़ देते हैं, जैसे पित्त के क्षीण होने से स्वाभाविक उष्णिमा नहीं रहती। समानावस्था में दोष अपना अपना काम करते हैं ॥६२॥

वातादीनां रसादीनां मलानामोजसस्तथा ।

क्षयास्त्रानिलादीनामुक्तं संक्षीणलक्षणम् ॥ ६३ ॥

घट्टते सहते शब्दं नोचैर्द्रवति दूयते ।

हृदयं तास्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥ ६४ ॥

परुषा स्पुटिता म्लाना त्वग्रूषा रक्तसंशये ।

मांसक्षये विशेषेण स्फिङ्ग्रीबोदरशुष्कता ॥ ६५ ॥

सन्धीना स्फुटनं ग्लानिरक्षणोरायास एव च ।

लक्षणं मेदांस क्षीणे तनुत्वं चोदरस्य च ॥ ६६ ॥

केश-छोम-नस्त्र-इमशु-द्विज-प्रपतनं श्रमः ।

ज्ञेयमास्थक्षये रूपं सन्धिशैथिल्यमेव च ॥ ६७ ॥

शीयेन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च ।

प्रतर्तं वातरोगात्र क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥ ६८ ॥

दीर्घल्यं मुखशोपश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः ।
 लौब्यं शुक्राविसर्गश्च श्रीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ ६९ ॥
 क्षीणे शक्ति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः ।
 रूक्षस्योन्नमयन् कुर्क्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति ॥ ७० ॥
 मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रुं मूत्रवेवण्यमेव च ।
 पिपासा बाधते चाम्य मुखं च परिशुष्यति ॥ ७१ ॥
 मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च ।
 विशुष्काणिं च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये ॥ ७२ ॥
 विभेति दुर्बलोऽभीक्षणं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः ।
 दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्वैवौजसः क्षये ॥ ७३ ॥

अढारह प्रकार के क्षय—वात, पित्त, कफ ये तीन दोष; रस-रक्त आदि धातु, मल, मूत्र, कान का मल, इत्यादि सात मल और ओज इन (अढारह) के क्षीण होने के लक्षण कहते हैं । इनमें वात, पित्त, कफ के क्षीण अवस्था के लक्षण कह दिये हैं । रस के क्षीण होने पर हृदय मथा-विलोया हुआ प्रतीत होता है, ऊँची आवाज़ को सहन नहीं कर सकता, हृदय जल्दी-जल्दी चलता है । पीड़ा होती है, ग्लानि होती है और थोड़ी किया होती है, अथवा थोड़ी चेष्टा से भी हृदय में उद्घिनता आ जाती है । रक्त का क्षय होने पर त्वचा कठोर हो जाती है, फट जाती है, सुरियां पड़ जाती हैं और रुखों बन जाती है । मांस के क्षय होने पर—सारा शरीर क्षीण हो जाता है, परन्तु नितम्ब, ग्रीवा और पेट विशेष रूप से पतले हो जाते हैं । अस्थों मेद-चर्बी के क्षांण होने पर सन्धियां दूटने-फूटने लगती हैं, अंगों में ग्लानि, आलस्य, आंखों पर यकान और पेट पतला हो जाता है । अस्थियों के क्षय होने पर—शरीर के बाल, शरीर के रोम, दाढ़ी-मूँछ के बाल, दांत, नख गिरने लगते हैं । शरीर यका प्रतीत होता है, और सब सन्धियां शिथिल पड़ जाती हैं । मज्जा के क्षीण होने पर—अस्थियां मुरझाती गिरती हुई प्रतीत होती हैं, अस्थियां निर्वल और छोटी (हल्की) हो जाती हैं और वातरोग जोर कर जाते हैं, निरन्तर वात रोग रहने लगता है । शुक्र के क्षीण होने पर—शरीर में निर्बलता, मुख में सूखापन, चेहरे पर पीलास, पीड़ा, यकान, पुरुषत्व की न्यूनता, सम्मोग समय में शुक्र का अभाव रहता है । मल के क्षीण होने पर—वायु आंतों (अन्तिङ्गियों) को दबाती दुःखी करती प्रतीत होती है । शरीर अन्दर और बाहर से रुक्ष हो जाता है । वायु पेट को ऊपर उठाती हुई तिरछी या ऊपर को जाती है (नीचे नहीं जाती) । मूत्र के

क्षय होने पर—मूत्र कठिनाई से थोड़ा-थोड़ा आता है, मूत्र का रंग बदल जाता है। प्यास बहुत लगती है, गला और मुख सूखता है। कान, नाक, आंख मुख और त्वचा (रोम कृप) इन इन्द्रियों के मलों का क्षय होने से शून्यता, (ज्ञान की कमी), तथा रुक्षता और हल्कापन इन इन्द्रियों में अपने-अपने मल के क्षय होने से उत्पन्न हो जाता है। ओज (कान्ति) के क्षीण होने पर—मनुष्य डरने लगता है, निर्वल हो जाता है, वार-वार सोचने लगता है, चिन्ता करने लगता है। इन्द्रियों का ज्ञान ठीक नहीं रहता, पीड़ित हो जाता है। शरीर की कान्ति बिगड़ जाती है, मन अनवरित हो जाता है, शरीर रुक्षा और दुर्बल हो जाता है ॥ ६३-७३ ॥

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीपत्सपीतकम् ।

ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ ७४ ॥

(प्रथमं जायते होजः शरीरेऽस्मिन् शरीरिणाम् ।

सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धिं प्रजायते ॥ १ ॥

भ्रमरेः फलपुष्पेभ्यो यथा संहियते मधु ।

एवमोजः स्वकर्मझ्यो गुणैः संहियते नृणाम् ॥ २ ॥)

ओज का स्वरूप—हृदय के अन्दर जो शुद्ध (निर्मल) और लाल तथा थोड़ा सा पीला रस आदि धातुओं का सार रस रहता है, उसे 'ओज' कहते हैं। इसके नष्ट होने से मनुष्य भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि भौंरे फल और पुष्पों से मधु का संचय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के शरीरिक गुणों से ओज का संग्रह किया जाता है। शरीरधारियों के शरीर में सबसे प्रथम ओज उत्पन्न होता है। यह ओज धी के समान रंग में, मधुर-रस, और इसमें लाजा के समान (लाजा धान की खील के समान) गन्ध होती है ॥ ७४ ॥

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।

वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥ ७५ ॥

कफ-शोणित-शक्काणां मलानां चातिवर्तनम् ।

कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥ ७६ ॥

क्षय के कारण—व्यायाम का अधिक करना, उपवास करना, चिन्ता करना, रुक्ष, थोड़ा और एक ही रस का खाना, वायु का या धूप का सेवन, भय, शोक, रुक्ष गुणबाले पदार्थों का पीना, रात में जागना, कफ, रक, शुक्र, मल इनका अधिक स्थाग करना, छुट्टावस्था, भूत अर्थात् सूक्ष्म क्रिमि आदि का आक्रमण, इन कारणों से अढारह प्रकार का क्षय होता है ॥ ७५-७६ ॥

गुह्णस्त्रिगधाम्ल-लवणं भजतामतिमात्रशः ।
 नवमन्तं च पानं च निद्रामास्यासुखानि च ॥ ७७ ॥
 त्यक्त-व्यायाम-चिन्ताना संशोधनमकुर्वताम् ।
 इलेष्मा पित्तं च मेदश्च मांसं चातिप्रवर्धते ॥ ७८ ॥
 तैरावृत्तगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति ।
 यदा बस्ति तदा कृष्णो मधुमहः प्रवर्तते ॥ ७९ ॥
 समारूतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः ।
 दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः ॥ ८० ॥
 उपेक्ष्याऽस्य जायन्ते पिङ्काः सप्त दारुणाः ।
 मांसलेघ्ववकाशेषु मर्मस्वपि च सन्धिषु ॥ ८१ ॥

मधुमेह का कारण—अति मात्रा में गुरु, स्त्रिगध, खट्टे या नमकीन पदार्थों के खाने से, नवीन (नवीन श्रतु के चावल-गेहूँ आदि) अथवा नया पानी (वरसात का पानी, कूओं या नदी से पीने पर) अधिक सोने से, ऐश आरामतलबी का जीवन विताने से, व्यायाम और चिन्ता न करने से, वमन विरेचन कर्मों के न करने से, कफ, पित्त, मेद और मांस बहुत बढ़ जाते हैं । इनके बढ़ने से मार्गों के इक जाने से वायु आंज धातु को लेकर मूत्राशय (मूत्रसंस्थान) में चली जाती है । तब कष्ट साध्य 'मधुमेह' रोग उत्पन्न होता है । बढ़े हुए बात, पित्त, कफ के लक्षण प्रथम प्रकट होते हैं । कुछ समय पीछे इन्हीं दोषों की क्षीणता (क्षय) के लक्षण दीखने लगते हैं, और फिर बढ़े हुए दोषों के लक्षण दिखाई देने लगते हैं । इस समय उपेक्षा करने से सात भयानक पिङ्कायें अधिक मात्र से युक्त स्थानों में, मर्मस्थानों में और सन्धियों में उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ७५-८१ ॥

शराविका कच्छपिका जालिनी सर्पिपो तथा ।
 अल्जी विनतास्या च विद्रधी चेति सप्तमी ॥ ८२ ॥
 अन्तोष्ट्रता मध्यनिम्ना श्यावा क्षेद्रहजान्विता ।
 शराविका स्यात्पिङ्का शरावाकृतिसंस्थिता ॥ ८३ ॥
 अवगाढातिन-निस्तोदा महावास्तु-परिमहा ।
 शुक्षणा कच्छपपृष्ठाभा पिङ्का कच्छपी मता ॥ ८४ ॥
 स्त्रव्या शिराजाल्बती स्त्रिगधस्त्रावा महाशया ।
 रजा-निस्तोद-बहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ ८५ ॥
 पिङ्का नातिमहती क्षिप्रपाका महारुजा ।

सर्पपी सर्पपाभाभिः पिङ्काभिश्चिता भवेत् ॥ ८६ ॥
 दहति त्वचमुत्थाने तृष्णा-मोह-ज्वर-प्रदा ।
 विसर्पत्यनिशं दुःखाहत्यग्निरिवालजी ॥ ८७ ॥
 अवगाढ-रुजास्त्वेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा ।
 महती विनता नीला पिङ्का विनता मता ॥ ८८ ॥

रात पिङ्कायें—शराविका, कञ्जपिका, जालिनी, सर्पपी, अङ्गजी, विनता और विद्रधि ये सात प्रकार की पिङ्कायें उत्पन्न होती हैं। किनारों से ऊँची और बीच से दबी, श्याव अर्थात् ऊदे रंग की, सावयुक्त और पीड़ायुक्त, यह पिङ्का शराव (परद्वे, सकोरा के) के आकार की होती है, इसे शराविका कहते हैं। जों गम्भीर वेदना वाली दर्दयुक्त, महावस्तु का आभय करके रहती है [बहुत अधिक स्थान घेरा हा] ऊपर से चिकनी और कल्पुवे की पीठ के समान ऊपर से उठी पिङ्का 'कच्छपी' होती है। जड़ (न हिलने वाली), शिराओं के जालयुक्त, चिकने सावयुक्त, बड़े आशय में आश्रित, दर्द और चुम्ने की सी वेदनायुक्त तथा छोटे-छोटे लेटों से घिरी पिङ्का 'जालिनी' होती है। बहुत बड़ी नहीं, जल्दी पकने वाली, बहुत वेदना युक्त, सरसों के आकार की छोटी-छोटी पिङ्काओं से घिरी पिङ्का 'सर्पपी' है। अङ्गजी पिङ्का के उत्पन्न होने पर त्वचा जलने लगती है, तृष्णा, मूर्छा, ज्वर होता है। रात दिन दुःखी करती है, अग्नि के समान दुःख से रोगी जलता है, इसका नाम 'अङ्गजी' है। जिस में साव बहुत गाढ़ा हो, बहुत सख्त वेदना हो, साव हो, पिङ्का पीठ या उदर में हो, बहुत बड़ी, दबी हुई सी, नीले रंग की पिङ्का को 'विनता' कहते हैं ॥ ८२-८८ ॥

विद्रधिं द्विविधामाहुर्चाल्यामाभ्यन्तरी तथा ।
 बाला त्वक्स्त्रायु-मासोत्था कण्ठराभा महारुजा ॥ ८९ ॥
 शीतकालविद्युष्ण-सूक्ष-शुद्धकातिभोजनात् ।
 विरुद्धाजीर्ण-संक्लिष्ट-विषमासात्म्य-भोजनात् ॥ ९० ॥
 व्यापक-बहु-मध्यत्वाद्वेगसंधारणाच्छ्रमात् ।
 जिह्वा-न्यायाम-शयनादतिभाराष्वमैथुनात् ॥ ९१ ॥
 अन्तःशरीरे मासासृगविशन्ति यदा मलाः ।
 तदा संजायते प्रनिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥ ९२ ॥
 हृषये क्लोम्नि यकृति सीहि कुक्षी च वृक्षयोः ।
 नाड्वां वक्ष्युग्योर्दापि बस्तौ वा तीव्रवेदनः ॥ ९३ ॥

दुष्प्रकालिमात्रत्वात्स वै शीघ्रं विद्यते ।
 ततः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥ ६४ ॥
 व्यधच्छ्लेद-प्रमानाह-शब्द-स्फुरण-संपर्णैः ।
 वातिकीं, पैत्तिकीं तृष्णा-दाह-मोह-मद-व्यवरैः ॥ ६५ ॥
 जम्भोत्कलेशारुचि-स्तम्भ-शीतकैः इलैषिमिकीं विदुः ।
 सर्वासु च महच्छ्लूलं विद्रधीष्टपजायते ॥ ६६ ॥
 तसैः शख्यैर्यथा मध्येतोल्मुकैरिव दद्यते ।
 विद्रधी व्यग्लतां याता वृश्चिकैरिव दद्यते ॥ ६७ ॥
 तनुरुक्षारुणं सावं केनिलं वातविद्रधी ।
 तिळ-माष-कुलत्थोद-संनिभं पित्तविद्रधी ॥ ६८ ॥
 इलैषिमिकी स्रवति श्वेतं बहलं पिच्छिलं बहु ।
 लक्षणं सर्वमेवैतद्वज्ञते सान्निपातिकी ॥ ६९ ॥

विद्रधि पिडका दो प्रकार की होती है यथा—बाह्या और आन्तरी । इनमें बाह्या विद्रधि त्वचा, स्नायु और मांस में उत्पन्न होती है, इसका आकार कण्डरा के समान होता है, इसमें बहुत बेदना होती है । अन्तः विद्रधि का निदान कहते हैं—ठण्डा भोजन, दाह करने वाला भोजन, उष्ण, रक्त, शुष्क भोजन के खाने से, बहुत खाने में, विशुद्ध भोजन से अजीर्णवस्था में भोजन करने से, संकीर्ण (अर्थात् मिश्रण किये खाने से) विषम भोजन से, प्रकृति के प्रतिकूल भोजन से, व्यापच अर्थात् दूषित भोजन से, बहुत मध्यपान से, उपस्थित बेंगों को रोकने से, परिश्रम से, कुटिल व्यायाम (अंगों को अनुचित रूप से मोड़ने-तोड़ने) से, कुटिल शयन (टेढ़ा-मेढ़ा होकर सोने) से, बहुत बोझ उठाने से, बहुत मार्ग चलने से, बहुत मैथुन के कारण जब मल (वात, पित्त, कफ) शरीर के अन्दर मांस और रक्त में घुस जाते हैं, तब गहरी और कठोर गांठ उत्पन्न हो जाते हैं । गांठ उत्पन्न होने के स्थान—हृदय, झोम (पित्ताशय या आमाशय), यकृत, प्लीहा, कुक्षि (पाश्वों) में, वृक्षों (गुरुओं) में, नाभि में, वंक्षण (जांघ की सन्धियों) में और बत्ति (मूत्राशय) में उत्पन्न होती है और यहां तीव्र बेदना होती है । रक्त के बहुत अधिक दुष्ट होने से विद्रधि शीघ्र विदर्घ होने लगती है, विदर्घ होने से ही इसको 'विद्रधि' कहते हैं ।

वातजन्य विद्रधि में बींधने के समान, काटने के समान छेदने के समान पीड़ा होती है, चक्कर आता है, अफरा, शब्द सुनाई देता है, स्फुरण, घड़कनः

और सर्वण होता है। पित्तजन्य विद्रधि में—प्यास, जलन, मूर्छा, मद और ज्वर होता है। कफजन्य विद्रधि में—जग्माइ, बमन, भोजन में अरुचि, शरीर की जड़ता और ठण्डक होती है। सब विद्रधियों में बहुत अधिक शूल उत्पन्न हो जाता है। गरम शाम्भों से जिस प्रकार कोई मसल रहा हो, या गरम बस्तुओं से कोई जला रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। * विद्रधि के पकने पर विच्छुओं के काटने के समान दर्द होता है।

अब स्राव के लक्षण कहते हैं—स्राव व लक्षण—जो स्राव पतला, रुक्ष, लाल और ज्ञागदार हो तो उसे वातज विद्रधि का स्राव, जो स्राव तिल, उड्ढ, कुलथी के पानी के समान हो तो पित्तज विद्रधि का और जो स्राव इवेत, घना, चिकना और मात्रा में बहुत हो तो कफज विद्रधि का होता है। संनियातजन्य विद्रधि में सब दोषों के लक्षण होते हैं ॥ ८६-८८ ॥

अथासां विद्रधीनां साध्यासाध्यत्वं-विशेष-ज्ञानार्थं स्थानकृतं लिङ्ग-
विशेषमुपदेश्यामः—तत्र प्रधानमर्मजायां विद्रध्यां हृद्धृद्धन-तमक-प्रमोह-
कासाः, क्लोमजायां पिपासा-मुख-शोप-गल-न्रहाः, यक्षजायां इवासः,
प्लीहजायामुच्छव्यासोपरोधः, कुक्षिजायां कुक्षिपाइर्वान्तरासशूलं, वृक्ष-
जायां पाइर्व-न्यृष्ट-कटि-य्रहः, नाभिजायां हिका, बड्क्षणजायां सक्षियसादः,
बस्तिजायां कुच्छ-पृति-मूत्र-वर्चस्त्वं चेति ॥ १०० ॥

पक्प्रभिन्नासूर्धजासु मुखत्स्रावः स्रवति, अधोजासु गुदात्,
उभयतस्तु नाभिजासु ॥ १०१ ॥

तासां हन्नाभिवस्तिजाः परिपक्वाः सान्निपातिकी च मरणाय,
अवशिष्टाः पुनः कुशलमाशुप्रतिकारिणं चिकित्सकमासाद्योपशाम्यन्ति;
तस्मादचिरोस्थिता विद्रधि शब्द-संपर्क-विद्युदग्नि-तुल्यां स्नेह-स्वेद-विरेच-
नैराश्वेवोपक्रामेत् सर्वशो गुलमवच्छेति ॥ १०२ ॥

अब इन विद्रधियों के साध्य-असाध्य जानने के लिये स्थानजन्य विशेष लक्षण बतलाते हैं। यथा—प्रधान मर्मस्थान (हृदय) में उत्पन्न विद्रधि में हृदय का संघटन, तमक (आंखों के आगे अवेरा) सांस, मूर्छा, कास होता है। क्लोमजन्य विद्रधि में प्यास, मुख का सुखना, गलेका रुकना, यकृत-जन्य विद्रधि में—इवास, और प्लीहजन्य विद्रधि में इवास की रुकावट और मूर्छा, कुक्षि में विद्रधि होने पर कुक्षि और पाइर्व के बीच में शूल और उसी पाइर्व के

* कई स्थानों पर कलिकाता की छपी पुस्तकों में निम्न पाठ है—

“यज्ञालैभिन्नत इव चोलमुकैरिव दद्यते ॥”

के कन्धे में दर्द होता है। वृक्षजन्य विद्रधि में पीठ का अकड़ना, कमर का जकड़ जाना, नाभिजन्य विद्रधि में हिचकी, बंकणजन्य विद्रधि में जांघों में दर्द, बस्तिजन्य विद्रधि में मूत्र में कृच्छ्रता, दुर्गन्धयुक्त मूत्र, और बदबूदार मल आता है। हृदय, क्लोम, यकृत, प्लीहा, और कुक्षे की विद्रधियों के पक्कर फूटने से स्राव मुख से, और नाभि के नीचे वंकग एवं बस्ति की विद्रधियों के फटने से गुदा के मार्ग से तथा नाभि की विद्रधि के फटने से मुख और गुदा दोनों मार्गों से स्राव बहता है। इन विद्रधियों में हृदय, नाभि और बस्ति में उत्पन्न विद्रधि के पक्कने पर और सज्जिपातजन्य विद्रधि मृश्युकारक होती हैं और श्वेष विद्रधियों कुशल चिकित्सक से शीघ्र प्रतिकार करने पर शान्त हो जाती हैं। इसकिये जल्दी ही नवीन विद्रधि को जो कि शस्त्र, सर्व, विजली और अग्नि के समान पीड़ादायक है, उसकी स्नेहन, विरेचन द्वारा शीघ्र चिकित्सा करे। उनकी गुल्मों की भाँति सम्मूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥

भवन्ति चात्र—विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।

तावच्छैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥ १०३ ॥

शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहाः ।

जायन्ते ता श्वातिबलाः प्रभूत-झेडम-मेदसाम् ॥ १०४ ॥

सर्षपी चालजी चैव विनता विद्रधी च याः ।

साध्याः पित्तोल्बणास्ता हि संभवन्त्यल्पमेदसाम् ॥ १०५ ॥

मर्मस्वंसे गुदे पाण्योः स्तने सन्धिषु पादयोः ।

जायन्ते यस्य पिङ्काः स प्रमेही न जीवति ॥ १०६ ॥

तथाऽन्याः पिङ्काः सन्ति रक्तपीतासिताहणाः ।

पाण्डुराः पाण्डुवर्णश्च भस्माभा मेचकप्रभाः ॥ १०७ ॥

मृदूर्यश्च कठिनाश्वान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथाऽपराः ।

मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशूला महारुजाः ॥ १०८ ॥

ता बुद्ध्वा मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः ।

ब्रूयादुपाचरेषाम् प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥ १०९ ॥

ये पिङ्कायें मेद के दुष्ट होने पर विना प्रमेह के भी उत्पन्न हो जाती हैं, और जब तक कि 'वास्तुपरिग्रह' अर्थात् स्थान को चारों ओर से पकड़ नहीं लेतीं, तब तक इनका पता नहीं चलता। शराविका, कच्छपिका और जालिनी ये कठिनमई से सहन की जा सकती हैं। जिन में कफ और मेद अधिक होते हैं, उन में ये उत्पन्न होती हैं और बहुत बलवान् होती हैं। सर्षपी, अङ्गी, विनता

और विद्विधि ये पिता की अधिकता से होती हैं और ये साध्य हैं, ये योही चर्चावालों में होती हैं। जिस प्रमेह रोगी के मर्म (दृदय, बल्ति, और नाभि) में, कन्धे, गुदा, हाथ, स्तन, सन्धियों और पांव में पिण्डकार्ये उत्पन्न होती हैं, वह प्रमेह का रोगी नहीं बचता। इसी प्रकार अन्य दूसरी और भी पिण्डकार्ये हैं जो लाल, पीली, काली, पाण्डुर (धूसर) पीले रंग की, राख अर्थात् भस्म के समान; काले बालों की छाया जैसी, कुछ मटु, कुछ कठिन, कुछ बर्दा, कुछ छोटी, कुछ मन्द वेग, कुछ तीव्र वेग, कोई योही वेदनावाली, कोई बहुत ददर्शाली होती हैं। इन बात, पिता, कफ की विद्विधियों को इनके अपने अरने लक्षणों से पहचान कर उपद्रवों के उत्पन्न होने से पूर्व ही चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १०३-१०९ ॥

तृट्यासमाससंकोथ-मोह-हिक्का-मद-ज्वराः ।

बीसर्प-मर्मसंरोधाः पिण्डकानामुपद्रवाः ॥ ११० ॥

उपद्रव—ज्यास, श्वास, मांस का संकोच, मूँछा, हिचकी, मद और ज्वर, बीसर्प, और हृदय आदि मर्म का अवरोध, ये पिण्डकाओं के उपद्रव हैं ॥ ११० ॥

अथः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽप्यर्थः ॥ १११ ॥

इत्युक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ।

त्रिविधा चापरा कोष्ठ-शाखा-मर्मास्थिं-सन्धिषु ॥ ११२ ॥

चय-प्रकोप-प्रशमाः पित्तादीनां यथाकमम् ।

भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ ११३ ॥

गतिः कालकृता चैषा चयादा पुनरुच्यते ।

गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च च ॥ ११ ॥

पित्तादेवोप्यमणः पक्किर्नराणामुपजायते ।

तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥ ११५ ॥

प्राकृतसु बलं इलेष्मा विकृतो मल उच्यते ।

स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ ११६ ॥

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः ।

तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपहृष्यते ॥ ११७ ॥

नित्यसंनिहितामित्रं समीक्ष्याऽत्मानमात्मवान् ।

नित्यं युक्तः परिचरेदित्तुन्नायुरनित्वरम् ॥ ११८ ॥

दोषों की गति तीन प्रकार की होती है—चय (घटना), स्थान (लम लहा), और वृद्धि (बढ़ना), अथवा (ऊर्ध्व) ऊपर जाना, (अवः) नीचे जाना और (तिर्यक्), तिरछा जाना ये दूसरी प्रकार की दोषों की गति हैं। विधि

मेद से दोषों को तीन प्रकार की गति कह दी, एक और प्रकार से भी तीन प्रकार की गति होती है यथा—कोष्ठ, शास्वा, एवं मर्मास्थि और सन्धि इनमें दोषों का संचय, प्रकोप और शमन यह तीन प्रकार की गति हैं। यथा—छः शृङ्गुओं में एक-एक दोष की तीनों जातियां होती हैं। यथा—वर्षा शृङ्गु में पित्त का संचय, शरद शृङ्गु में प्रकोप और हेमन्त में शान्ति। ग्रीष्म में वायु का संचय, वर्षा में प्रकोप तथा शरद में शान्ति। हेमन्त में कफ का संचय वसन्त में प्रकोप और ग्रीष्म में कफ की शान्ति होती है। दोषों के संचय आदि की गति दो प्रकार की है। यथा—प्राकृत और वैकृत। पित्त का वर्षा शृङ्गु में संचय होना प्राकृत गति है और वसन्त में संचय होना वैकृत गति है। इसी प्रकार कफ का हेमन्त में संचय होना प्राकृत और वर्षा में संचय होना वैकृत है, वायु का ग्रीष्म शृङ्गु में संचय होना प्राकृत और शरद में संचय होना वैकृत है। प्राकृत-स्वास्थ्यावस्था, वैकृत रुग्णावस्था है, इस प्रकार से पित्त आदि दोषों की भी दो प्रकार की गति है। मनुष्यों का पाचन पित्त की ही गरमी से होता है और वह पित्त विकृत होकर बहुत से रोगों को उत्पन्न करता है। प्राकृत स्वास्थ्यावस्था में स्थित कफ शरीर का बल, और आजरूप होता है, परन्तु यही विकृत, रुग्णावस्था में मल और पापमा अर्थात् पापरंग उत्पन्न करता है। वायु के कारण ही शरीर की सब चेष्टाएं, क्रियाएं होती हैं। यही वायु प्राणियों का प्राण है। इस के विकृत होने पर रोग उत्पन्न होते हैं, और इन्हीं रोगों से इसी विकृत वायु से मनुष्य मर जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वह समझ ले कि शत्रु (वैकृत, पित्त, वायु, कफ ये दोष) सदा समीप में खड़े हैं, इसलिये अपने कल्याण में मन को लगाकर प्रशस्त मन से परीक्षा करके नित्य ही न जानेवाली दीर्घ आयु की सदा इच्छा करता हुआ दीर्घायु होने का प्रयत्न करे। १११-११८। तत्र श्लोकौ। शिरोरोगाः सहृद्रोगा रोग मानविकल्पजाः।

क्षयाः सपिङ्काशोका दोषाणां गतिरेव च ॥ ११९ ॥

कियन्तःशिरसीयोऽस्मिन्नध्याये तत्त्वदर्शिना ।

ज्ञानर्थं भिषजां चैव प्रजानां च हितैषिणा ॥ १२० ॥

शिरोरोग, हृदय के रोग, दोषों के परिमाण मेद से होनेवाले रोग, दीषों के क्षय से, पिङ्कायें, दोषों की गति, इन सब बातों का तत्त्वदर्शी महर्षि ने 'कियन्तःशिरसीय' अध्याय में, दोषों के ज्ञान और प्रजाओं की मंगलकामना से उपदेश किया है ॥ ११९-१२० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के

कियन्तःशिरसीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिशोधीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'त्रिशोधीय अध्याय' का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

त्रयः शोथा भवन्ति वात-पित्त-श्लेष्म-निमित्ताः । ते पुनर्द्विचिधाः निजागन्तुभेदेन । तत्राऽगन्तवश्लेदेन-भेदेन-क्षणन-भञ्जन-पिच्छनोत्पे-षण-प्रहार-बध-बन्धन-वेष्टन-व्यधन-पांडनादिभिर्वा भज्ञातक-पुष्प-फल-रसात्मगुप्ता-शूक-क्रिमिशूकाहितपत्र-लता-गुल्म-संस्पर्शनेवा स्वेदन-परि-सर्पणावमूत्रणैर्वा विषिणां, सविषाविष-प्राणिन्दृष्टा-दन्त-विषाण-नख-निपातैर्वा सागर-विष-वात-हिम-दहन-संस्पर्शनेवा शोथाः समुपजायन्ते । ते पुनर्बथास्वं हेतुजैर्व्यञ्जनैरादावुषष्ठलभ्यन्ते निजव्यञ्जनैकदेशविपरीतैः, बन्ध-मन्त्रागद-प्रलेप-प्रताप-निर्वापणादिभिर्शोपकर्मरूपकम्भ्यमाणाः प्रशा-न्तिमापद्यन्ते ॥ ३ ॥

शोथ (सूजन) तीन प्रकार का है । १. वात से, २. पित्त से और ३. कफ से । यह तीन प्रकार का शोथ फिर दो प्रकार का है । (१) शरीर में उत्पन्न होने वाला निज और (२) बाहर कारण से उत्पन्न होने वाला आगन्तु । इन में आगन्तु शोथ छेदन (दो खण्ड करना), भेदन (फाङ्ना), क्षणन (चूर्ण करना), भञ्जन (तोड़ना, सर्जारी करना), पिच्छन (बहुत दबाना), उत्पेषण (शिला पर पीसने की भाँति पीसने) से, वेष्टन (रज्जु आदि से लेपटना), प्रहार (चोट), बध (मारने) से, बन्धन (बांधना), व्यधन (बांधना), पीड़न और (दशाने) आदि से उत्पन्न होता है अथवा भिलाके के पुष्प या फल अथवा रसके लाने से, आत्मगुप्ता (कौच की फली), शूक, क्रिमिशूक (रोये वाला कीड़ा), अहितपत्र (बिच्छू बूटी के पत्र), लता (बेल) गुल्म (अंकार शाढ़ी) के स्पर्श से आगन्तु शोथ उत्पन्न होता है अथवा विषयुक्त प्राणियों के पसीने से, शरीर पर चलने फिरने से, इन के मूर्छों से, विषैले प्राणियों के जादू, दांत, सींग, नख आदि के प्रहार से, कृत्रिम विषयुक्त बायु, बरफ या अूनि के स्पर्श से आगन्तु शोथ उत्पन्न होता है । ये आगन्तु शोथ प्रथम कारणों से उत्पन्न लक्षणों से प्रकट होते हैं । आगन्तु शोथ या रोग में व्यथा प्रथम उत्पन्न होती है, और पीछे शरीर के दोषों से सम्बन्धित होते हैं ।

ये शोथ बन्धन (सुखप्रद लेप आदि की पही बांधने से), मन्त्र से, ओषध, प्रलेप, प्रताप, निर्वापण (सेक आदि द्वारा वायु को निकालने से) एवं शोधन रोपणादि से चिकित्सा करने पर शान्त हो जाते हैं ॥ ३ ॥

निजः पुनः स्नेह-स्वेदन-व्यमन-विरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगात् मिथ्यासंसर्जनाद्वा छर्घ्यलसक विसूचिका-श्वस-आसातीसार-ज्ञोष-पाण्डुरोग-ज्वरोदर-प्रदर-भगन्दराशों-विकारातिकर्षणैर्वा कुष्ठ-कण्ठ-पिङ्कादिभिर्वा छर्दि-क्षवथूदगार-शुक्र-बात-मूत्र-पुरा-घ-वेग-विधारणैर्वा कर्म-रोगोपवासातिकर्षितस्य वा सहसाऽविगुर्वम्ल-लवण-पिष्टाक्ष-फल-शाक-राग-दधि-हरीतक-मद्य-मन्दक-विरुद्ध-ज्वव-शूक्र-शमी-धान्यानपौदकपिशितोपयोगात् मृत्पङ्क-लोष-भक्षणाल्पवणातिभक्षणाद्वा गर्भ-संपीडनादाम-गर्भ-प्रपतनात् प्रजातानां च मिथ्योपचारादुदीर्णदोषत्वाच्च शोथाः प्रादुर्भवन्तीत्युक्तः सामान्यो हेतुः ॥ ४ ॥

‘निज’ अर्थात् शरीर के अन्दर स्वतः उत्पन्न होनेवाले शोथ—स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और विरोविरेचन के अति या हीन अथवा मिथ्या योग से, इन कर्मों के पीछे अपथ्य से, वमन, अलसक, विष-चिका, श्वास, कास, अतिसार, शोष, पाण्डु रोग, ज्वर, उदर रोग, प्रदर, भगन्दर, अर्श रोग से, संशोधन कर्म से, कुष्ठ, खाज, पिङ्का आदि से, छींक, वमन, डकार, शुक्र, वायु और मल के उपस्थित वेगों को राकने से और संशोधन कर्मों से उत्पन्न रोगों से, उपवास से, शरीर के बहुत कर्षण से, एक-दम से बहुत भारी, खट्टे, नमकीन पदार्थों के स्वाने से, पीठी से बने भोजनों से, फल, शाक, राग (रायता) वाहव, (खीर आदि), दही, हरी भाजी, मद्य, मन्दक-धीमे पढ़े उतरे मद्य को पीने से, अंकुरित अन्न, नवीन अन्न से, शूक्र धान्य-चावल गेहूँ आदि, शमीधान्य उड्ढ भूंग आदि, जलचर प्राणियों के मांस के सेवन से, मिट्टी, कीचड़, मिट्टी का ढेला इनके स्वाने से नमक के अधिक स्वाने से, गर्भ पर दबाव पढ़ने से, गर्भपात से, प्रसव के पश्चात् उचित परिचर्या न होने से, दोषों के बढ़ने से शोथ उत्पन्न होता है । ये शरीर जन्य शोथों के सामान्य लक्षण हैं ॥ ४ ॥

अर्थ त्वत्र विशेषः—शीत-रुक्ष-लघु-विशद-श्रमोपवासातिकर्षण-क्ष-पणादिभिर्वयुः प्रकृष्टपितस्त्वङ्ग-मांस-शोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति । स क्षिप्रोत्थापनप्रशमो भवति तथा श्यावाहणवर्णः प्रकृतिवर्णो वा, चलः स्पन्दनः खर-पद्म-भिन्न-त्वग्लोमा छिशत इव भिद्यत इव पीड्यत ।

इव सूचीभिरिव तुष्टते पिपीलिकाभिरिव संसृप्तते सर्वप-कल्कावलिम
इव चिमिचिमायते संकुच्यते आयम्यत इति वावशोथः ॥ ५ ॥

उष्ण - तीक्ष्ण - कटुक-क्षार - लघणाम्लाजीर्ण - भोजनेरग्न्यातप-प्रतापेश्च
विद्वा प्रकृषितं त्वड्मासशोणितान्यभिभूय शोथं जनयति । स क्षिप्रो-
त्थानप्रशमो भवति कृष्ण-पीत-नील-ताम्रावभास उष्णो मृदुः कपिल-
ताम्र-लोमा उष्टयते दूयते दह्यते धूयते ऊर्मायते स्विद्यति किलद्यते न च
स्पर्शमुष्णं बा सुपूर्यत इति पित्तशाथः ॥ ६ ॥

गुरु-मधुर-शीत-स्निग्धैरतिस्त्रप्तन्यायामादिभिश्च इलेष्मा प्रकृषितः
त्वड्मासशोणितादीन्यभिभूय शोथं जनयति । स कृच्छ्रोत्थानप्रशमो
भवति, पाण्डुः इवेतावभासः स्निग्धः इलक्षणो गुरुः स्थिरः स्थ्यानः
शुक्लाग्रोरोमा स्पर्शेष्णिसहस्रेति इलेष्मशोथः ॥ ७ ॥

यथास्वकारणाकृतिसंसर्गाद् द्विदोषजाश्यः शोथा भवन्ति ॥ ८ ॥

यथास्वकारणाकृतिसन्निपातात्सान्निपातिक एकः ॥ ९ ॥

एवं भेदप्रकृतिभिस्ताभिर्भिद्यमानो द्विविधखिविधश्चतुर्विधः सप-
विधश्च शोथ उपलभ्यते, पुनस्त्वयैक एव, उत्सेधसामान्यादिति ॥ १० ॥

इनमें इतना विशेष है कि—शीत, रुक्ष, लघु, विशद अन्न, खानपान,
परिश्रम, उपवास, वमन विरेचनादि कर्मों के बहुत करने और उपवास आदि
से वायु कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त और मेद आदि, धातुओं पर अधिकार
कर शोथ को उत्पन्न करता है । यह वातजन्य शोथ जल्दी ही उत्पन्न होता
और जल्दी ही शान्त हो जाता है । इस का रंग काला सा या लाल-काला
अथवा स्वाभाविक रंग का रहता है । यह शोथ गतिशील, धड़कन युक्त, कर्कश,
कठोर, त्वचा फटती सी जाती है, और बाल टूट जाते हैं । रोगी को ऐसा
प्रतीत होता है कि कोई चीरसा रहा हो, मेदन कर रहा हो, दवा रहा हो, सुर्दे
चुम्हाने का सा दर्द होता है, चिंतियां सी चलती हैं, सरसों पीतकर लेप करने
जैसी चिरमराहट लगती है, सिकुड़ता और फैलता है, यह वातजन्य शोथ के लक्षण हैं ।

गरम, तीक्ष्ण, कटुवे, क्षार, नमकीन और खट्टे पदार्थों के खाने से, अजीर्ण
अवस्था में भोजन करने से, आग और धूप के ताप के बहुत सेवन से, पित्त
कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त पर प्रबल होकर शोथ उत्पन्न करता है । यह
शोथ जल्दी ही उत्पन्न होता और जल्दी शान्त हो जाता है । इसका रंग
काला, पीला, नीला ताम्रे के समान, स्पर्श गरम और कोमल बाल भूरे या
ताम्रे के रंग के हो जाते हैं । यह शोथ गरम होता, जलता सा है, पीड़ा देता

है, तपाता है, गरम सा लगता है, परीना आता है, नरमा जाता है, न तो स्पर्श और न गरमी को सहन करता है। यह पित्तजन्य शोथ है।

भारी, मधुर, शीत, स्त्रियव भोजनों से, बद्धत सोने से, व्यायाम न करने से, श्लेष्मा कुपित होकर त्वचा, मांस, रक्त पर अधिकार करके शोथ उत्पन्न करता है। यह शोथ देर में उत्पन्न होता और देर में ही शान्त होता है। इसका रंग धूसर (धुमेड़ा) या इवेत, चिकना, स्नेहयुक्त, भारी, स्थिर (न हिलने वाला), गाढ़ा, बालों का अप्रभाग इवेत ही जाता है, स्पर्श को और गरमी को सहन कर लेता है, यह कफशोथ है।

अपने अपने कारणों से दो दोष कुपित हाफ़र दो दोषों के लक्षणों वाले शोय को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से संतर्ग जन्य शोय ३ प्रकार के हैं।

तीनों दोषों के कारणों के मिलने से उत्पन्न सान्निपातिक शोथ एक प्रकार का है, इस में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं।

इस प्रकार प्रकृति भेद से शोथ दो प्रकार के (निज और आगन्तु), तीन प्रकार के (वातज, पित्तज, कफज), चार प्रकार के (वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य), सात प्रकार के (वातज, पित्तज, कफज, वातपैत्तिक, वातश्लैषिक, पित्तश्लैषिक और सान्निपातिक) होते हैं। परन्तु घृजन की दृष्टि से शोथ एक ही प्रकार का है, घृजन का होना सब शोथों में सामान्य है ॥५-१०॥

भवन्ति चात्र—शून्यन्ते यस्य गात्राणि स्वपन्तीव रुजन्ति च ।

पीडितान्युन्मन्त्याशु वातशोथं तमादिशेत् ॥ ११ ॥

यश्चाप्यरुणवर्णीभः शोथो नक्तं प्रणश्यति ।

स्नेहोष्णमर्दनाङ्गयो च प्रणश्येत्स च वातिकः ॥ १२ ॥

यः पिपासाज्वरार्तस्य दूयतेऽथ विद्युते ।

खिद्यते क्लिद्यते गन्धी स पैतः श्वयथुः स्मृतः ॥ १३ ॥

यः पीत-नेत्र-बक्त्रत्वक् पूर्वं मध्यात् प्रश्यते ।

तनुत्वक् चातिसारी च पित्तशोथः स उच्यते ॥ १४ ॥

यः शीतलः सक्तगतिः कण्ठमान् पाण्डुरेव च ।

निपीडिता नोन्नमति इवयथुः स कफात्मकः ॥ १५ ॥

यस्य शक्तिशुच्छेदाच्छोणितं न प्रवर्तते ।

कृच्छ्रेण पिच्छान् ऊर्धवति स चापि कफसंभवः ॥ १६ ॥

निवानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।

सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोयो व्यामिश्रहेतुजः ॥ १७ ॥

सूजन होने पर जितका शरीर सोया हुआ, (चेतना, स्वर्ण ढान का अभाव) वा प्रतीत हो, पीड़ा होती हो, दबाने पर किर जहां से ऊपर उठ जाता हो, उसे बातजन्य शोथ समझना चाहिये और जिस शोथ का रंग लाल, काळा हो, जो सूजन रात्रि में नष्ट हो जाती है, एवं स्वेदन, उष्ण किया अथवा मर्दन से हो जाता है, वह बातजन्य शोथ है। जिस शोथ में रोगी को प्यास बहुत लगे, ज्वर की पीड़ा हो, जलन हो, पक्ता हो, पसीना आता हो, नरम पड़ता हो, गन्ध आती हो, वह पित्तजन्य शोथ है। जिस में कि त्वचा, नेत्र, मुख पीले हो जाते हों, और जो कि प्रथम बीच में से सूजता हो, त्वचा जिसमें पड़ली हो और रोगी को अतिसार हो तो उसे पित्तजन्य शोथ समझना चाहिये। जो सूजन ठण्डी, पसीना न हो, जो हिले जुके नहीं, जिसमें खाज उठती हो, जितका रंग घूसर हो, दबाने से किर ऊर उठ जाये, वह सूजन कफजन्य है। जिस में कि शब्द या कुशा से काटने पर रक्त नहीं बहता, अथवा कठिनाई से योद्धा योद्धा चिकना झाव बहता है, वह सूजन भी कफजन्य है। दो दोषों के कारणों से दो दोषों के लक्षणों वाला संसर्गजन्य (द्विदोषज) शोथ होता है। सब दोषों के मिलने से सब लक्षणों वाला सर्वज्ञातजन्य शोथ होता है ॥ ११-१७ ॥

यस्तु पादाभिनिवृत्तः शोथः सर्वाङ्गो भवेत् ।

जन्ताः स च सुकृदः स्यात्प्रसृतः खीमुखाच्च यः ॥ १८ ॥

यश्चापि गुदाप्रभवः खियो वा पुरुषस्य वा ।

स च कष्टतमो छ्वयो यस्य च स्युरुग्रद्रवाः ॥ १९ ॥

जो सूजन पुरुषों के पांव से आरम्भ करके और खियों के मुख से प्रारम्भ होकर उम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है वह कष्टाध्य होता है और जो शोथ खीया पुरुष के गुदा भाग से प्रारम्भ होकर सारे शरीर में फैलता है, अथवा जिस शोथ में उपद्रव हो, वह शोथ तो अति अधिक कष्टाध्य है ॥ १८-१९ ॥

छर्दिः इवासाऽरुचिस्तुष्णा उवरोऽतीसार एव च ।

सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंप्रहः ॥ २० ॥

उपद्रव—बमन, इवास, अरुचि, प्यास, ज्वर, अतीसार और निर्बलता संक्षेप में ये सात शोथ के उपद्रव हैं ॥ २० ॥

यस्य इलेष्मा प्रकृपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते ।

आशु संजनयेच्छोथं जायतऽस्योपजिह्विका ॥ २१ ॥

यस्य इलेष्मा प्रकृपितः काकले व्यवतिष्ठते ।

आशु संजनयेच्छोर्कं करोति गङ्गुणिष्ठकाम् ॥ २२ ॥

यस्य इलेघ्मा प्रकुपितो गलबाहेऽवनिष्टते ।
शनः संजनयेच्छोथं गलगण्डोऽस्य जायते ॥ २३ ॥
यस्य इलेघ्मा प्रकुपितस्तिष्ठत्यन्तर्गले स्थितः ।
आशु संजनयेच्छोथं जायते॒स्य गलग्रहः ॥ २४ ॥

उपजिह्विका रोग—जब कफ कुपित होकर जिह्वा की जड़ में एकत्र होकर शोथ उत्पन्न करता है, उसे 'उपजिह्विका' कहते हैं । गलशुण्डिका—जब कफ कुपित होकर काकल गलग्रन्थि का आश्रय लेकर शोथ उत्पन्न करता है, तब इस रोग को 'गलशुण्डिका' कहते हैं । जब कफ कुपित होकर गले के बाहर आकर शोथ उत्पन्न करता है, तब इसे 'गलगण्ड' कहते हैं । यह सूजन बहुत धीरे धीरे होता है । जब कफ कुपित होकर गले के अन्दर रहकर धीम्ब ही सूजन उत्पन्न करता है, उसे 'गलग्रह' (गले का रुक जाना, स्वर का बंट जाना) कहते हैं ॥ २१-२४ ॥

यस्य पित्तं प्रकुपितं सरकं त्वचि सर्पति ।
शोथं सरांगं जनयेद्विसर्पस्तस्य जायते ॥ २५ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं त्वचि रक्तेऽवंतष्टते ।
शोथं सरांगं जनयेन् पिण्डिका तस्य जायते ॥ २६ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शङ्ख्यति ।
तिलिका विसबो व्यङ्गो नीलिका चास्य जायते ॥ २७ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं शङ्ख्योरवतिष्टते ।
इवयथुः शङ्ख्यो नाम दाहणस्तस्य जायते ॥ २८ ॥
यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्टते ।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥ २९ ॥

जब पित्त कुपिता होकर रक्त के साथ मिलकर त्वचा में फैलता है, तब लाल रंग की सूजन उत्पन्न होती है, इस को 'विसर्प' कहते हैं । जब पित्त कुपिता होकर रक्त के साथ त्वचा में स्थिर हो जाता है, तब लाल रंग के उत्पन्न शोथ को 'पिण्डिका' (फुन्सी) कहते हैं । जब कुपित पित्त रक्त में पहुंच कर शुष्क हो जाता है तब नीलिका, तिल, व्यंग, चर्मकील, लसन, शाँई आदि रोग होते हैं । जब कुपित पित्त शांखप्रदेश (कनपटी) में आकर रुक जाता है, तब 'शांखक' नाम का भयानक शोथ उत्पन्न होता है । जब कुपित पित्त कान की जड़ में आकर रुक जाता है, तब ज्वर के अन्त में भयंकर सूजन उत्पन्न होती है, यह सूजन भारक होती है ॥ २५-२९ ॥

वातः सीहानमुदधूय कुपितो यस्य तिष्ठति ।
 शनैः परितुदन् पाश्वं सीहा तस्याभिबर्धते ॥ ३० ॥
 यस्य वायुः प्रकुपितो गुल्मस्थानेऽवतिष्ठते ।
 शोथं सशूलं जनयन् गुल्मस्तस्योपजायते ॥ ३१ ॥
 यस्य वायुः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन् ।
 वंडक्षणाद्वृषणो याति ब्रह्मस्तस्योपजायते ॥ ३२ ॥
 यस्य वातः प्रकुपितस्तद्भूमांसान्तरमाश्रितः ।
 शोथं संजनयेत् कुपावुदरं तस्य जायते ॥ ३३ ॥
 यस्य वातः प्रकुपितः कुक्षिमाश्रित्य तिष्ठति ।
 नाधो ब्रजति नाप्युदधमानाहस्तस्य जायते ॥ ३४ ॥
 रोगाश्वोत्सेधसामान्यादधिमांसाबुदादयः ।
 विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसंग्रहे ॥ ३५ ॥

जब वायु कुपित होकर पर्लाहा (तिळी) का ऊपर करती है, तब पाश्वों को धीरे धीरे दबाती हुई सीहा बढ़ जाती है। जब वायु कुपित होकर (हृदय, नाभि, बस्ति और दांतों पाश्व) गुल्म स्थानों का आश्रय ले लेती है तब शूलयुक्त सूजन उत्पन्न होती है, इसे 'गुल्म' कहते हैं। जब वायु कुपित होकर सूजन और दर्द को उत्पन्न करती हुई वंक्षण (जघासन्धि) प्रदेश से अण्ड कोष में जाती है, तब 'ब्रह्म' रोग होता है। जब वायु कुपित होकर त्वचा और मांस के बीच में उदर के अन्दर पहुंचकर आश्रय लेकर शोथ उत्पन्न करती है, तब 'उदर' रोग उत्पन्न हो जाता है। जब वायु कुपित होकर उदर का आश्रय लेकर स्थिर हो जाती है, न तो नीचे जाती है और न ऊपर जाती है, इस को 'आनाह' कहते हैं। अधिमांस, अर्दुद आदि रोग में सूजन की समानता होने से, नाम और रूप से भिन्न होने पर भी इनका इसे शोथसंग्रह में निर्देश करना चाहिये ॥ ३०-३५ ॥

वात-षित्ता-कफा यस्य युगपत्कुपिताख्यः ।
 जिह्वामूलेऽवतिष्ठन्ते विद्वन्तः समुच्छ्रूताः ॥ ३६ ॥
 जनयन्ति भृशं शोथं वेदनाश्च पृथग्विधाः ।
 तं शीघ्रकारिणं रोगं रोहिणीकेति निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥
 त्रिरात्रं परमं तस्य जन्तोभवति जीवितम् ।
 कुशलेन त्वनुक्रान्तः क्षिरसंपद्यते सुखी ॥ ३८ ॥
 सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साम्या वालणसंभताः ।
 ये हन्त्युरनुप्रकान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥ ३९ ॥

साध्याश्चाप्यपरे सन्ति व्याधयो मृदुर्समताः ।
यन्नायन्नकृतं येषु कर्म् सिद्ध्यत्यसंशयम् ॥ ४० ॥
असाध्याश्चापरे सन्ति व्याधयो याप्यसंज्ञिताः ।
सुसाध्वपि कृतं येषु कर्म् यात्राकरं भवेत् ॥ ४१ ॥

जिस पुरुष के बात, पिच्छ, कफ ये तीनों इकट्ठे मिलकर कुपित होकर जिह्वा की जड़ में स्थित होते हैं और जलन और बहुत सूजन उत्पन्न करते हैं, तथा नाना प्रकार की पीड़ायें देते हैं इस शीघ्रकारी रोग को 'रोहिणी' कहते हैं। इस रोग के कारण मनुष्य केवल तीन दिन जीवित रहता है। इस बीच में यदि कुछल वैद्य से शीघ्र चिकित्सा कराई जाये तो मनुष्य बच जाता है। इस प्रकार के बहुत से भयानक परन्तु साध्य रोग हैं, जिनकी चिकित्सा न करने अथवा मिथ्या वा अशुद्ध चिकित्सा करने से मनुष्य मर जाता है। दूसरे कोमल रोग ऐसे सुखसाध्य हैं, जिनमें कि यद्यपूर्वक या अयत्पूर्वक (योग्य वा अयोग्य वैद्य) के चिकित्सा करने से भी निश्चित रूप में आराम होजाते हैं। दूसरे असाध्य रोग हैं, जिनको 'शाप्य' कहा है। जिन रोगों में भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी जो याप्य रहते हैं, वे कुछ समय के लिये अच्छे हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

सन्ति चाप्यपरे रोगाः कर्म् येषु न सिद्ध्यति ।
अपि यन्नकृतं वैर्यं तान् विद्वानुपाचरेत् ॥ ४२ ॥
साध्याश्चैवाऽप्यसाध्याश्च व्याधयो द्विविधाः स्मृताः ।
मृदु-दारण भेदेन ते भवन्ति चतुर्विधाः ॥ ४३ ॥

एक और प्रकार के रोग हैं, जिनमें किसी प्रकार की भी चिकित्सा उफल नहीं होती। इन रोगों में मृदु लोग ही उत्पाद से काम करते हैं, परन्तु विद्वान् इनकी चिकित्सा नहीं करते। रोग दो प्रकार के हैं-'साध्य' और 'असाध्य'। और मृदु और दारण भेद से (दोनों) चार प्रकार के होंजाते हैं। मृदु-साध्य, दारण-साध्य, मृदु-असाध्य और दारण-असाध्य ॥ ४२-४३ ॥

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।
हजा-वण-समुत्थान-स्थान-संस्थान-नामभिः ॥ ४४ ॥
व्यवस्थाकरणं तेषा यथास्थूलेषु संप्रहः ।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥ ४५ ॥
विकारनामाकुशलो न जिह्वीयात्कदाचन ।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति भ्रुवा स्थितिः ॥ ४६ ॥
स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः ।

स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् वहन् ॥ ४७ ॥
 तस्माद्विकारप्रकृतोरधिष्ठानान्तराणि च ।
 समुत्थानविशेषाश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेन् ॥ ४८ ॥
 यो ह्येतत्त्रिविधं ज्ञात्वा कर्मण्यारभते भिषक् ।
 ज्ञानपूर्वं यथान्यायं स कर्मसु न मुद्यति ॥ ४९ ॥

ये रोग रुजा (पीड़ा), वर्ण, समुत्थान अथात् कारण (जैसे रुक्ष भोजन या रात्रि जागरण आदि के कारण से वायु कुपित होकर भिन्न चिकित्सा से शान्त होता है), स्थान (आमाशय, रसादि), संस्थान (आकृति गुल्म, अर्बुद आदि), नामभेद इन भेदों के कारण भेद होने से असंख्य बन जाते हैं । चिकित्सा कार्य में व्यवहार करने के लिये स्थूल संप्रह (अशोदरीय संप्रह) किया है । इसलिये चिकित्सा कार्य में प्रकृति की समानता से यह रोग वातजन्य, यह पित्तजन्य, यह कफजन्य इत्यादि रोगों की व्यवस्था बांधनी चाहिये । रोगों को नाम से न जानने वाला वैद्य कभी भी चिकित्सा कार्य में लज्जा न उठावे । सब रोगों की नाम द्वारा स्थिरं नहीं, (सब रोगों के नाम नहीं) हैं । कोई एक दोष कारण विशेष से कुपित होकर अन्य स्थान पर पहुंचकर नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देता है । इसलिये रोग के स्वभाव को, उस के अधिष्ठान को, उस के भेदों को और रोग के विशेष कारणों को जानकर चिकित्सा कार्य करना चाहिये । जो वैद्य इन तीन बातों को जानकर चिकित्सा का कार्य ज्ञानपूर्वक उचित रूप से करता है, वह चिकित्सा कार्य में मोहित नहीं होता, वह भूल नहीं करता ॥४४-४९॥

नित्याः प्राणभृतां देहे वात-पित्त-कफाख्यः ।
 विकृतः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥ ५० ॥
 उत्साहोच्छ्वास-निःश्वास-चेष्टा धातुगतिः समा ।
 समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ ५१ ॥
 दृश्यनं पक्षिरुद्धमा च छुत्पृष्ठा देहमार्दवम् ।
 प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ ५२ ॥
 स्नेहो बन्धः स्थिररत्वं च गौरवं वृषता वलम् ।
 श्वास धृतिरलोभश्च कर्माविकारजम् ॥ ५३ ॥
 वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते ।
 कर्मणः प्राङ्गताद्वानिर्वद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् ॥ ५४ ॥

दोष-प्रकृतिं चैक्षेद्यं निष्टतं वृद्धिलक्षणम् ।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिवृद्धिश्वैवं परीक्ष्यते ॥ ५५ ॥ इति ॥

शरीरधारियों के शरीर में वात, पित्त और कफ ये तीनों नित्य सदा रहते हैं। वे या तो विकृत अवस्था में रहते हैं, या प्रकृत अर्थात् स्वाभाविक रूप में रहते हैं। चिद्वान् को चाहिये कि वह इन को पहचाने, जाने कि विकृतावस्था में हैं, या प्रकृतावस्था में। काम करने में उत्साह, सांस का अन्दर और बाहर आना, चेष्टा, रस, रक्त आदि धातुओं की गति को समान रखना, पुरीष, मल-मूत्र आदि गमन शोल वस्तुओं को ठीक प्रकार से बाहर करना, ये अविकृत वायु के कर्म हैं। देखना, अन्न का पचन, देहकी, उष्णिमा, भूख प्याद का लगना, शरीर की कोमलता, क्षमित, मन की प्रसन्नता, और वृद्धि का होना ये अविकृत पित्त के कार्य हैं। चिकनाई, सन्धियों का बन्धन, स्थिरता, भारीपन, पुरुषत्व, बल, सहन शक्ति, मन की स्थिरता, धैर्य, लोभ का न होना ये अविकृत कफ के कार्य हैं; वात, पित्त, कफ इन के क्षीण होने पर लक्षण कहते हैं—स्वाभाविक कर्मों में न्यूनता आती है अथवा स्वाभाविक कर्मों के विरोधी कार्यों की वृद्धि होती है (यथा वायु के क्षीण होने पर उत्साह के विपरीत विषाद बढ़ता है, पित्त के क्षीण होने पर नहीं दीर्घता, कफ के क्षीण होने पर रुक्षता बढ़ती है)। वृद्धि का लक्षण कहते हैं—दोष की प्रकृति (स्वभाव) का वैषम्य (बढ़ना) वृद्धि का लक्षण होता है। यथा—कफ की स्निग्धता, मधुरता और शीतलता यह प्रकृति है, इसका अति स्निग्ध, अति शीत होना वृद्धि है। इस प्रकार दोषों की प्रकृति, इनि और वृद्धि की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५०-५५ ॥

तत्र श्लोकाः ।

संख्यां निमित्तं रूपाणि शोथानां साध्यता न च ।

तेषां तेषां विकाराणां शोकास्तास्तांश्च पूर्वजान् ॥ ५६ ॥

विधिभेदं विकारणं त्रिविधं बोध्यसंप्रहम् ।

प्राक्तं कर्म दोषाणां लक्षणं हानिवृद्धिषु ॥ ५७ ॥

वीत-राग-रजो-दोष-चोभ-मान-मद-स्तुः ।

व्याख्यातवाङ्गिशोकीये रोगाध्याये पुनर्वसुः ॥ ५८ ॥

शोथों की संख्या, कारण, लक्षण, साध्यासाध्य इनसे उत्पन्न रोगों को और जिन रोगों में शोथ प्रथम होता है उनको, रोगों के विविध, मेद से तीन प्रकार की प्रकृति का जान, दोषों के स्वाभाविक कर्म, दृष्टि और इन्हि के लक्षण, यह सब

मोह, रज दोष, लोभ, मान, मद, स्तृहा इन से रहित पुनर्बसु महर्षि ने 'त्रिशो-
शीय' अध्याय में कह दिया ॥५६-५८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के
त्रिशोशीयो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

उनर्विशोऽध्यायः ।

अथातोऽप्तोदरीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'अष्टोदरीय' अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ।

इह खलचत्वारुत्तराणि, अष्टौ मूत्रावाताः, अष्टौ क्षोरदोषाः, अष्टौ रेतोदोषाः, सप्त कुष्ठानि, सप्त पिडकाः, सप्त वीसर्पाः, षडतीसाराः, पञ्चावर्ताः, पञ्च गुल्माः, पञ्च सीहदोषाः, पञ्च कासाः, पञ्च श्वासाः, पञ्च हिकाः, पञ्च तुष्णाः, पञ्च छर्दयः, पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानि, पञ्च शिरोरोगाः, पञ्च हृद्रोगाः, पञ्च पाण्डुरोगाः, पञ्चोन्मादाः, चत्वारोऽप्स्माराः, चत्वारोऽक्षरोगाः, चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्यायाः, चत्वारो मुखरागाः, चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्च्छायाः, चत्वारः शोषाः, चत्वारि क्लेव्यानि, त्रयः शोथाः, त्रीणि किलासानि, त्रिविधं लाइतपित्तं, द्वो उवरो, द्वो ब्रणी, द्वावायामौ, द्वे गृध्रस्यौ, द्वे कामले, द्विविधमामं, द्विविधं वातरक्तं, द्विविधान्यशर्णसि, एक ऊरुस्तम्भः, एकः सन्यासः, एका महागदः, विशतिः किमिजातयः, विशतिः प्रमेहाः, विशतिर्योनियापदः, इत्यष्टचत्वारिंशत्रोगाविकरणा-न्यस्मिन् संग्रहे समुहिष्टानि ॥ ३ ॥

इस आयुर्वेद शास्त्र में आठ प्रकार के उदर रोग हैं, आठ मूत्राघात हैं, आठ प्रकार के दूध के दोष, आठ प्रकार के वीर्य दोष । सात प्रकार के कुष्ठ, सात पिडकायें, सात वीसर्प । छः प्रकार के अतीसार, छः उदावर्त । पांच गुल्म 'पांच छर्दिन्दमन, पांच प्रकार की अज्ज में अखचि, पांच प्रकार के शिरोरोग, पांच हृदय रोग, पांच प्रकार के पाण्डुरोग, पांच उन्माद । चार प्रकार के अपस्थाप, चार नेत्ररोग, चार कर्णरोग, चार प्रकार के प्रतिश्याय, चार मुख रोग, चार

प्रकार के ग्रहणी रोग, चार प्रकार के मदरोग, चार प्रकार की मूँछा, चार प्रकार के शोष, चार प्रकार की क्लीवता तीन प्रकार का शोथ, तीन प्रकार का किलास, तीन प्रकार का रक्तपित्त, दो प्रकार का ज्वर, दो प्रकार के ब्रण, दो प्रकार के आयाम, दो प्रकार की गुप्रसी, दो प्रकार का कामला, दो प्रकार की आम, दो प्रकार का बानरक, दो प्रकार का अर्द्ध । एक प्रकार का अस्तम्भ, एक प्रकार का संन्यास, एक प्रकार का महामद; बीस प्रकार के कुमिमेद, बीस प्रकार के प्रमेह, बीस प्रकार के योनि रोग, इस प्रकार से इस स्थूल संग्रह में अड़ताळीस प्रकार के रोगों की गणना है ॥ ३ ॥

इन को स्पष्ट करके कहते हैं—

एतानि यथोद्देशमभिनिर्देक्ष्यामः—अष्टावुदराणीति वात-पित्त-कफ-सन्निपात प्लीह-बद्ध-च्छिद्र-दकोदराणीति, अष्टौ मूत्राघाता इति वात-पित्त-कफ-सन्निपाताइमरी-शक्तेर-शुक्र-शोणितजा इति, अष्टौ श्वीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमति-स्नेहश्चेति, अष्टौ रेतोदोषा इति तनु शुष्कं फेनिलमश्वेतं पूत्यतिपिच्छिल-मन्यधातूपृष्ठितमवसादि चेति ॥ (१) ॥

आठ प्रकार के उदर रोग हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य प्लीहोदर, बद्धोदर, छिद्रोदर और दकोदर ये आठ । आठ मूत्राघात—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य, अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य, शुक्रजन्य और शोणितजन्य । छिद्रो के दूष में आठ प्रकार के दोष हैं—वैवर्ण्य, वैगन्ध्य, वैरस्य, पैच्छिल्य, फेनसङ्घात (शाग का बहुत आना), रौक्ष्य (रुखापन), गौरव (भारीपन पानी में नीचे बैठना) और अति स्नेह (चिकनाई की अधिकता) वीर्य के दोष आठ हैं—तनु (पतला), शुष्क, फेनिल (शागदार), अश्वेत (मेला, धूसर रंग), पूति (दुर्गन्धयुक्त), अति पिच्छिल (बहुत चिकना), अन्य धातु से गिरित और अवसादि (हीनतत्त्व) ॥ (१) ॥

सप्त कुष्ठानीति कपालोदुम्बर-मण्डलर्घ्यजिह्वा-पुण्डरीक-सिध्म-काक-णकानीति, सप्त पिङ्का इति शाराविका कच्छपिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रविधिश्चेति, सप्त वीसर्पा इति वात-पित्त-कफाग्नि-कर्दम-ग्रन्थि-सन्निपाताख्याः ॥ (२) ॥

सात प्रकार के कुष्ठ—कपाल, उदुम्बर, मण्डल, शूष्प्यजिह्वा, पुण्डरीक, सिध्म और काकणिका । सात पिङ्कायें—शाराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्पी, अड़जी, विनता और विद्रवि । सात विसर्प—वातजन्य, पित्त जन्य, कफजन्य, अग्नि, कर्दमक, ग्रन्थि और सन्निपातजन्य ॥ (२) ॥

• वहतीसारा इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-भय-शोकजाः; वहुदावर्ता
इति वात-मूत्र-पुरीष शुक्र-च्छर्दिं-क्षबथुजाः ॥ (३) ॥

छः अतीसार हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य, भयजन्य
और शोकजन्य । छः उदावर्त हैं—वातजन्य, मूत्रजन्य, पुरीषजन्य, शुक्रजन्य,
च्छर्दजन्य और क्षबथुजन्य ॥ (३) ॥

पञ्च गुल्मा इति वात-पित्त-कफ सन्निपात-रक्तजाः । पञ्च सीहदोषा
इति गुल्मैर्याख्याताः । पञ्च कासा इति वात-पित्त-कफ-क्षत-क्षयजाः; पञ्च
इवासा इति महोर्ध्वं-चिक्षण-तमक-क्षुद्राः । पञ्च हिका इति महती गम्भीरा
व्यपेता क्षुद्रा चान्नजा च । पञ्च तृष्णा इति वात-पित्ताम-क्षयोपस-
र्गात्मिकाः । पञ्च छर्दय इति द्विष्टार्थसंयोग-वात-पित्त-कफ-सन्निपातो-
द्रेकात्मिकाः । पञ्च भक्षस्थानशनस्थानानीति वात-पित्त-कफ-द्रेष्यायासाः;
पञ्च शिरोरोगा इति पूर्वोद्देशमभिसमभ्य वात-पित्त-कफ-सन्निपात-
क्रिमिजाः । पञ्च हृदोगा इति शिरोरोगैर्याख्याताः । पञ्च पाण्डुरोगा
इति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-मृद्घक्षणजाः । पञ्चवोन्मादा इति वात-
पित्त-कफ-सन्निपातगन्तुनिमित्ताः ॥ (४) ॥

पांच गुल्म हैं—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और रक्त
(आर्तव) जन्य । पांच प्रकार के झीहा दोष—गुल्म के समान (वात, पित्त,
कफ, सन्निपात और रक्तजन्य) हैं । पांच प्रकार के कास—वातजन्य, पित्तजन्य,
कफजन्य, क्षत (उरः क्षत) जन्य और क्षयजन्य । पांच प्रकार के इवास—
महा, ऊर्ध्व, छिङ्ग, तमक और क्षुद्र । पांच प्रकार की हिका (हिक्की)—
महती, गम्भीरा, व्यपेता, क्षुद्रा और अब्रजन्य । पांच प्रकार की प्यास (तृष्णा)—
वातजन्य, पित्तजन्य, आमजन्य, क्षयजन्य और औपर्सर्गिक कारण से होने
वाली । बमन भी पांच प्रकार का है—दूषित अज के खाने से, वातजन्य,
पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपात से होने वाला । पांच प्रकार का अपचन—
वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, द्रेष (भोजन से द्रेष) और आयात (मोजन
के लिए सहसा भ्रम करने से) । पांच प्रकार के शिरोरोग—(‘अर्द्धावमेदको
वा स्यात्’ से आरम्भ करके ‘कियन्तः शिरसीय’ अध्याय में कह दिये गये हैं) ।
वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपातजन्य और क्रमिजन्य । पांच प्रकार के
हृदय रोग—शिरोरोग की मात्रा हैं । पांच पाण्डुरोग—वातजन्य, पित्तजन्य, कफ-
जन्य, सन्निपातजन्य और मिही के खाने से उत्पन्न । पांच प्रकार का उन्माद—
वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, सन्निपात और आगन्तुज कारण से ॥ (४) ॥

चत्वारोऽप्स्मारा इति वात-पित्त-कफ-सन्निषात-निमित्तजाः ।
चत्वारोऽक्षिरोगाः, चत्वारः कर्णरोगाः, चत्वारः प्रतिश्वायाः, चत्वारो
मुखरोगाः, चत्वारो ग्रहणीदोषाः, चत्वारो मदाः, चत्वारो मूर्छार्या
इत्यपस्मारैव्याख्याताः । चत्वारः शोषा इति साहस-संधारण-क्षय-विष-
माशनजाः, चत्वारि क्लैव्यानीति शीजोपघातादूष्वजभङ्गाज्वरामाः
शुक्रक्षयाच् ॥ (५) ॥

चार अपस्मार—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निपातजन्य ।
चार आंख के और चार कान के रोग, चार प्रतिश्वाय, चार मुखरोग चार
ग्रहणी दोष, चार मद, चार मूर्छार्ये, ये अपस्मार के समान (वात, पित्त,
कफ और सन्निपातजन्य) हैं । चार प्रकार का शोष, साहस, संधारण (मल-मूत्र
के उपस्थित वेगों का रोकना) क्षय तथा विषम भोजनजन्य । चार प्रकार की
नएंसकता—शीज के (वीर्य के) दोष से, धज (साधन) के दोषसे, जरा
(बुढ़ापे) से और शुक्र के क्षय के कारण ॥ (५) ॥

त्रयः शोषा इति वात-पित्त-इलेश्म-निमित्ताः, श्रीणि किलासानीति
रक्त-ताप्र-शुक्रानि, त्रिविधं लोहित-पित्तमित्यूर्ध्वभागमधोभागमुभय-
भागं च ॥ (६) ॥

शोष तीन प्रकार का—वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य । तीन प्रकार
के किलास—रक (लाल), ताप्र और शुक्र (इवेत) । तीन प्रकार का रक्त-
पित्त उर्ध्वगामि, अधांगामि और उभयगामि (ऊर्ध्व एवं अधः दोनों मार्गों से
जाने वाला) ॥ (६) ॥

द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्रायः शीतसमुत्थञ्च शीताभिप्रायश्चोषणस-
मुत्थः; द्वौ ब्रणो इति निजश्वागन्तुजञ्च, द्रवावायामाविति वाह्यश्वायन्त-
रञ्च, द्वे गृष्टस्याविति वाताद्वातकफाच, द्वे कामले इति कोष्ठाश्रया शाखा-
श्रया च, द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका च, द्विविधं वातरक्तमिति
गम्भीरमुत्तानं च, द्विविधान्यर्थासीति शुष्काण्याद्वाणि च ॥ (७) ॥

ज्वर दो प्रकार का—शीत से उत्पन्न हुआ, जिसमें उष्ण उपचार की हच्छा
हो, यह एक प्रकार का, उष्णिमा से उत्पन्न हुआ जिसमें शीत उपचार की हच्छा
हो, यह दूसरी प्रकार का । ब्रण दो प्रकार के—निज (शारीरिक) और आगन्तुज
(वात कारण से) दो आयाम—बाह्य और आमन्तर । दो प्रकार का प्रश्नडी
—रोग—वातजन्य और वात-कफजन्य । कामला दो प्रकार का—कोहमिति और शास्ता-
मिति । आम दो प्रकार का—अछलक और विशुचिका (हेता) । वातरक दो

प्रकार का—गम्भीर और उत्तान (स्वचा के पृष्ठहृति), अर्था दो प्रकार के—
शुष्क और आर्द्ध ॥ ७ ॥

एक ऊरुस्तम्भ इति आमत्रिदोषसमुत्थानः, एकः संन्यास इति
त्रिहोषात्मको मनःशरीराधिष्ठानसमुत्थः, एको महागद इति अवस्था-
भिन्निवेशः ॥ (=) ॥

ऊरुस्तम्भ एक प्रकार का—आम-दोषमिश्रित त्रिदोष जन्य । संन्यास एक
प्रकार का त्रिदोषजन्य, मन और शरीर में आश्रित । महागद एक प्रकार
का अवस्थाभिन्निवेश अर्थात् यथार्थ तत्त्व का न जानना यह मन का विकार है
है और संसार के सब दुःखों का कारण है ॥ ८ ॥

विश्वितः किमिजातय इति यूकः पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्भू-
लज्जाः, केशादाः लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति
षट्शोणितज्जाः, अन्त्रादा उदरादा हृदयदराश्चुरुचो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका
महाशुद्धाश्चेति सप्त कफजाः, कंकरुका मंकरुका लेलिहाः सशूलकाः
सौसुरादाश्चेति पञ्च पुरीषजा इति विश्वितः किमिजातयः । विश्वितः
प्रमेहा इति उदकमेहश्चेष्टुरसमेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च
शुक्रमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेह-
श्चेति दश इलेघ्ननिमित्ताः, क्षारमेहश्च कलमेहश्च नीलमेहश्च लोहि-
तमेहश्च माञ्छष्टामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट् पित्तनिमित्ताः, वसामेहश्च
मज्जमेहश्च इस्तिमेहश्च मधुमेहश्चेति चत्वारो वातनिमित्ता इति
विश्वितः प्रमेहाः । विश्वितिर्योनिव्यापद इति वातिकी पैत्तिकी इलेघ्निमिकी
सान्निपातिकी चैत चतुर्सः, दोष-दूष्य-नंसर्ग-प्रकृतिनिदेशेरवशिष्टाः
षोडश निर्दिश्यन्ते, तदथा—रक्त्योनिश्चारजस्का चाचरणा चातिच-
रणा च प्राक्चरणा चोपल्लुता चोदावर्तिनी च कण्ठिनी च पुत्रन्नी चान्त-
र्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्डयोनिश्च महायोनि-
श्चेति विश्वितिर्योनिव्यापदः । केवलश्चायमुद्देशो यथोदेशमभिनिर्दिष्ट
इति ॥ ४ ॥

कुमियों की जातियाँ बीस प्रकार की हैं, यथा—यूक (जू) और पिपीलि-
काएं (लोग) ये दो प्रकार के कुमि वाशा मल (पक्षीने आदि) से उत्पन्न
होते हैं । केशाद ल्लेमाद, लोमद्वीप, सौरु, औदुम्बर और जन्तुमात्रा ये छः
रक्तजन्य, अन्त्राद, उदराद, हृदयचर, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक, महामुद ये
चातुर्षक्षजन्य, कफेशक, लेलिह, सशूलक, और सौसुराद ये पांच मुखीजन्य हैं ।
ये बीस प्रकार के कुमि हैं ।

प्रमेह बीस प्रकार के हैं । शुक्रमेह, शुक्रमेह, शीतमेह, शनैमेह, सिकतामेह, लालामेह, उदकमेह, इल्जुमेह, सान्द्रप्रसादमेह ये दस प्रमेह कफजन्य, खारमेह, कालमेह, नीलमेह, लोहितामेह, मंजिष्ठामेह, हरिद्रामेह ये छः प्रमेह पित्तजन्य, वसामेह, मज्जामेह, हस्तिमेह और मधुमेह ये चार प्रमेह वातजन्य हैं । इस प्रकार से बीस प्रकार के प्रमेह हैं । योनिरोग बीस प्रकार के यथा वातिकी, पैत्तिकी, इलैचिमीकी और साजिपातिकी ये चार और बाकी सोलह दोषवातादि, दूष्य रकादि इनके संर्ग से तथा प्रकृति निर्देश से होते हैं यथा—रक्तयोनि, अरजस्का, अचरणा, अतिचरणा, प्राक्चरणा, उपस्थुता, परिस्थुता, उदावर्तिनी, कर्णिनी, पुत्रश्ची, अन्तमुखी, सूचीमुखी, शृङ्खा, वामिनी, घण्डयोनि और महायोनि ये बीस प्रकार के योनिरोग हैं । यहां पर केवल रोगों को नाम गणना ही की गई है, आगे विस्तार से यथास्थान कहेंगे ॥ ४ ॥

सर्वएव विकारा निजा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निवर्तन्ते, यथा हि शकुनिः सर्वं दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नानिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तः सर्वविकारा वातपित्तकफात्रातिवर्तन्ते, वातपित्त-इलेघ्मणां पुनः स्थान-संस्थान-प्रकृति-विशेषानभिसमोद्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिग्नित बुद्धिमन्त इति ॥ ५ ॥

कहे या न कहे हुए सब प्रकार के रोग (शारीरिक रोग) वात पित्त कफ को छोड़कर नहीं हो सकते । वातरित कफ के कारण ही सब शारीरिक रोग होते हैं । जिस प्रकार कि सारे दिन भर उड़ता रहने पर भी पक्षी अपनी छाया का अतिक्रमण (उल्घंघन) नहीं कर सकता, उसी प्रकार शरीर के धातुओं की विषमता से उत्पन्न होनेवाले सब रोग वात पित्त और कफ को नहीं छोड़ सकते । वात, पित्त और कफ ही स्थान (रसादि वस्ति आदि), संस्थान (आकृति लक्षण), प्रकृति (कारण) इनकी विशेषताओं को देखकर, एवं वातादि जन्य सब विकारों को इन्हीं से उत्पन्न उक्तबुद्धिमान् कहते हैं ॥ ५ ॥

भवतश्चात्र—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा बहवः शरीरे ।

न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः ॥६॥

आगन्तुरन्वंति निजंविकारं निजस्तथाऽगन्तुमपि प्रवृद्धः ।

तत्रानुवन्धं प्रकृतिं च सम्यक् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥७॥

प्रायः जितने रोग शरीर के अन्दर शरीर की धातुओं की विषमता से उत्पन्न होते हैं, वे पित्त, कफ और वायु से पृथक् नहीं होते । आगन्तुक रोग इन वात पित्त, कफ से पृथक् हैं ।

निज (स्वतःशरीर में उत्पन्न हुए) रोग को आगन्तुज रोग अनुयान करता है। इसी प्रकार आगन्तुज (अभिशातजन्य) रोग के पीछे (कारण को लेकर), निज (अर्थात् शारीरिक लक्षणोंसे लक्षित) रोग भी हो जाता है। जैसे चोट लगाने के पीछे ज्वर हो जाता है इसलिये अनुबन्धन (अप्रचान, मुख्य) और प्रकृति (मूल कारण को भली प्रकार जानकर चिकित्साकर्म आरम्भ करना चाहिये ॥ ६-७॥

तत्र इलोकौ—विशकाश्चैककाश्चैव त्रिकाश्चोक्ताख्ययज्ञयः ।

द्विकाश्चाष्टौ चतुष्काश्च दश द्वादश पञ्चकाः ॥ ८ ॥

चत्वारश्चाष्टका वर्गाः पट्कौ द्वौ सप्तकाख्ययः ।

अष्टोदरीये रोगाणामध्याये संप्रकाशिताः ॥ ९ ॥

इस 'अष्टोदरीय' नामक अध्याय में बीस प्रकार के तीन, एक प्रकार के तीन, तीन प्रकार के तीन, दो प्रकार के आठ, चार प्रकार के दस, बारह प्रकार के पाँच, चार प्रकार के आठ छः प्रकार के दो और सात प्रकार के तीन रोग कहे हैं ॥ ८-९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के

अष्टोदरीयो नामैकोनविशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विशोऽध्यायः ।

अथातो महारोगाध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे महारोगाध्याय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे— जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तु-बात-पित्त-इलेम्म-निमित्ताः । तेषां चतुर्णामपि रोगाणां रोगत्वमेकविधिं, रुक्सामान्यात् । द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषां, आगन्तु-निज-विभागात् । द्विविधं चेषामधिष्ठानं, मनश्शरीर-विशेषात् । विकाराः पुनरेषामपरिसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठान-लिङ्गायतन-विकल्प-विशेषात्, तेषामपरिसंख्येयत्वात् ॥ ३ ॥

मुखानि तु खल्वागान्तोर्नेत्त-दशन-पतनाभिचाराभिश्चापभिश्च-
न्यव-न्यव-पीडनरख्जु-दहन-मन्त्राश्चनि-भूतोपसर्गादीनि. निजस्य तु मुखं
बात-पित्त-इलेम्मजावैष्ट्यम् ॥ ४ ॥

द्वयोऽस्तु खल्वागन्तुनिजयोः प्रेरणमसास्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञा-
पराधृ, परिणामश्चेति ॥ ५ ॥

सर्वेऽपि तु खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुब्रह्मन्ति, न
चान्योन्यसंदेहमापद्यन्ते ॥ ६ ॥

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्य वातपित्तश्लेष्मणः वैषम्यमा-
पदयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते, जघन्यं
व्यथामभिनिर्वत्यन्ति ॥ ७ ॥

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभाग उपदेह्यते. तद्यथा—
बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सकिथनी पादावस्थीनि च वातस्थोनानि,
तत्रापि पक्षाशयो विशेषेण वातस्थानं, स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामा-
शयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानं, उरः शिरो
ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण
श्लेष्मणः स्थानम् ॥ c ॥

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन शरीरे कुपिता-
कुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचय-बल-वण-
प्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्नानि विकारसंज्ञकानि ॥ ८ ॥

तत्र विकारः—सामान्यज्ञा, नानात्मजाश्च । तत्र सामान्यज्ञाः पूर्व-
मष्टोदरीये व्याख्याताः, नानात्मजास्त्विहाइयायेऽनुव्याख्यास्यामः;
तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशतिपित्तविकाराः विश्वितः
श्लेष्मविकाराः ॥ १० ॥

रोग चार प्रकार के हैं आगन्तुज, वान, पित्त, कफजन्य, । इन चारों में
ही रुक्ष-पीड़ा सामान्य है, इसलिये एक प्रकार है, वेदना की समानता होने से ।
इन चारों प्रकार के रोगों की प्रकृति दो प्रकार की है; आगन्तुज और निज
शरीर में उत्पन्न होने वाले । इन रोगों के अधिष्ठान, आशय दो प्रकार के हैं,
मन और शरीर । किन्तु रोग असंख्य है । क्योंकि प्रकृति, कारण नाम आदि
अधिष्ठान (दूध, रस, रक्तादि), लिंग (लक्षण), आयतन (बाह्य देतु—दुष्ट
आहार-विहार) इनके भेद असंख्य हैं । इसलिये रोग भी अगणित प्रकार के हो
जाते हैं । आगन्तुज रोगों के मुख्य कारण दान्त का लगाना, गिरना, अभिचार
(मारण आदि), अभिधाप-शाप देना, अभिषङ्ग, अभिधात (चोट का-
लगाना) वश (मारना), बन्धन (बँधना), दबाना, रसी से बांधना,
जलाना, शब्द का लगाना, विजली जा गिरना, वे सूक्ष्मभूत दत्त के उपद्रव
के कारण हैं । जिन शारीरिक जन्य रोगों के मुख्य काल्प वात,

पित्त और कफ की विषमता है। इन दोनों (आगन्तुज और निज) प्रकार के रोगों का मूल प्रेरक (प्रवृत्ति का) कारण असात्मेन्द्रियार्थ-संयोग, प्रशापराध और परिणाम है। ये चारों प्रकार के रोग बढ़कर परस्पर एक दूसरे में मिल जाते हैं। परन्तु तो भी सन्देह का उत्पन्न नहीं करते। परस्पर मिलने पर भी लक्षण पृथक् पृथक् दीख पड़ते हैं। आगन्तुज रोग प्रथम शरीर के अन्दर पीड़ा को उत्पन्न करता है और पीछे से वात, पित्त और कफ की विषमता को उत्पन्न करता है। निज रोग प्रथम वात, पित्त, कफ की विषमता को उत्पन्न करते हैं और फिर पीछे से पीड़ा को उत्पन्न करते हैं। तीनों ही दोषों का शरीर में स्थान विभाग कहते हैं—यथा—बस्ति (मूत्राशय), पुरीवाधान (पक्षाशय), कटि (कमर), सक्थिएं (जंघायें) और पांव की अस्थियां ये वायु के 'स्थान हैं। इनमें भी पक्षाशय विशेष करके वायु का स्थान है। पसीना, रक्त, लसीका, इधिर और आमाशय (का निचला भाग) ये पित्त के स्थान हैं। इनमें भी आमाशय मुख्य करके पित्त का स्थान है। छाती, शिर, ग्रीवा, व सन्धियां, आमाशय का (ऊपर का भाग) और मेद, ये कफ के स्थान हैं। इनमें भी छाती विशेष करके कफ का स्थान है^२। ये वात, पित्त, कफ तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में गति करते हैं, और गति करते हुए कुपित या अकुपित अवस्था में रहकर सम्पूर्ण शरीर में शुभ या अशुभ लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। यथा—प्रकृतिभूत स्वस्थरूप में रहकर शुभ लक्षणों को, यथा—उपचय (शरीर की पुष्टि), बल-कान्ति की वृद्धि, वर्ण (कान्ति) की उज्ज्वलता और विकृत (कुपित रूप) अशुभ लक्षणों (रोगों) को उत्पन्न करते हैं। विकार (रोग) दो प्रकार के हैं—सामान्य और नानात्मज। सामान्य-वातादि दोष प्रत्येक मिलकर जो रोग उत्पन्न करते हैं। नानात्मज—जब वातादि दोष परस्पर न मिल कर स्वतन्त्ररूप से रोग उत्पन्न करते हैं। इनमें सामान्यज रोग पहिले 'अष्टोदरीश' अध्याय में कह दिये हैं और नानात्मज रोगों का इस अध्याय में वर्णन करेंगे। यथा—अस्ती प्रकार के वात रोग, चालीस प्रकार के पित्तरोग और बीस प्रकार के कफ रोग हैं ॥ ३-१० ॥

तत्राऽदौ वातविकाराननुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—नखभेदश्च,
विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्रता च, वातखुड़ता च,

१ प्राण अपान भेद से वायु के स्थान अन्यत्र कहेंगे। यहां पर बताये हुए स्थानों में इन दोषों के विकार प्रायः करके होते हैं, अतः इनकी गणना की है।

२ आमाशय के ऊर्ध्वभाग में पित्त और अष्टोदरीश में कफ का स्थान है।

गुलकमहश्च, पिण्डिकोद्देष्टनं च, गृष्मसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च,
ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च, पाङ्गल्यं च, गुदभ्रशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणोत्क्षे-
पश्च, शोकस्तम्भश्च, वक्षणानाहश्च, ओणभेदश्च, विद्धभेदश्च,
उदावर्तश्च, खज्जत्वं च, [कुञ्जत्वं च,] बामनत्वं च, त्रिक्रग्नश्च,
पृष्ठग्रहश्च, पार्वांवर्मदश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च, हृदैवश्च, वक्ष-
उद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, (वक्षस्तोदश्च,) बाहुशापश्च प्रोवास्तम्भश्च,
मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोदृधर्वसश्च, हनुस्तम्भश्च, ओष्ठभेदश्च, (अक्षिभेदश्च,)
दन्तभेदश्च, दन्तशैथल्यं च, मूकत्वं च (गद्यादत्तवं च,) वाक्सङ्कश्च,
कषायास्त्यता च, मुखशापश्च. अरसङ्क्षता च, [अगन्वङ्क्षता च, ग्राण-
नाशश्च,] कण्ठशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चेश्रुतिश्च, बाधियं च,
बर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसंकोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिगुदासश्च,
भ्रूयुदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोक्षक् च, केशभूमिस्फुटनं
च, अर्दितं च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च, [पक्षवधश्च,] आक्षेपकश्च
दण्डकश्च, श्रमश्च, भ्रमश्च, वेपथुश्च, जूङ्मा च, विषादश्च, (हिक्का च),
अतिप्रलापश्च, उज्जनिश्च, रौक्ष्यं च, पारुष्यं च, इयावारुणावभासता
च, अस्वप्नश्च, अनश्चिथितत्यं चेत्यशीतिर्वातविकारा बातविकाराण-
मपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ ११ ॥

सबसे प्रथम बात रोगों को कहते हैं। यथा—नलों का दूटना, विपादिका
(पांव का फटना), पादशूल (पांव की बेदना), पादभ्रंश, पादसुसता (पांव
का सोना, ज्ञानशून्यता), बातखुड़का, गुलग्रह; पिण्डिकोद्देष्टन (पिण्डियों
में ऐंठन), पघरी, जानुभेद आर जानु विश्लेष, ऊरुस्तम्भ, ऊरुसाद, पंगुता,
गुदभ्रंश, गुदार्ति, वृषणोत्क्षेप (अंडकोश का ऊपर खींचना) शोकस्तम्भ (शिभ
में अकड़ाइट रहना), वंक्षण में आनाह, ओणभेद (नितम्बों का फटना),
विद्धभेद (मलभेद), उदावर्त, खज्जत्व (लंगड़ापन), कुञ्जत्व (कुञ्जापन),
बामनत्व (नाटापन), त्रिक्रग्न, पृष्ठग्रह. पार्वांवर्मद (पसलियों की पीड़ा),
उदरावेष्टन (पेट में ऐंठन), हृन्मोह (हृदय की मूर्छा), हृदाव (हृदय का
द्रवित या घड़कन अधिक होना) वक्षःउदर्ध (छातों में पीड़ा), वक्षोपरोध
(छाती का रुक्जाना), बाहुशोष (मुजा का सूखना), ग्रीवास्तम्भ (ग्रीवा
का अकड़ना), मन्यास्तम्भ (शाद की अकड़ाइट), कण्ठोदृधर्वस (ल्लर्पंग),
हनुस्तम्भ (मुख का, जबाको का खुआ रहना), ओष्ठभेद (ओष्ठ की विरींजना)
दन्तभेद (दांतों का दूटना), दन्तशैथिल्य (दांतों की शिथिलता), मूकत्व
(गूँगापन), वाक्संक्ष (वाणी का रक्फना), मुख का क्वेजापन, मुख की

शुद्धता, स्वाद का ज्ञान न होना, गन्धशान का अभाव, ग्राणयकि का अभाव, घाणयकि का नाश होना, कान में बेदना, शब्द का सुनाई न देना, ऊंचा सुनाई देना, बहरापन, पलकों का स्तम्भ, पलकों का उंकुचित होना, शंख, कनपटी का फटना, माये का फटना, शिरोबेदना, बालों की भूमि का फटना, अर्दित वात, एकांग रोग, सर्वांग रोग, पक्षवय (पक्षाशात) आखेपक, दण्डापतनक, यकान, चक्र आना, कम्पन, जम्माई, विषाद, चिन्ता, बहुत प्रलाप, ग्लानि, रुक्षता, कर्कशता, लाल-लाल रङ्ग की चमक, नींद का न आना, तिमिर (काच रोग), आँख में बेदना, आंख का पलटना, भुवों का उंकुचित होना और चित्त की अनवस्थितता, चंचलता (अस्थिरता) ये असी वात विकार हैं। वात विकार असंख्य हैं—यहां पर प्रधान प्रवान वात रोगों की गणना की है ॥ ११ ॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषुक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिद-
मात्मरूपमपरिणामि कर्मणेऽच स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा
विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्थन्ति कुशलाः, तदथा—रौक्ष्यं
लाघवं वैश्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि, एवंविधत्वाच
कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविश्वतः; तदथा—
संस-ञ्जन-न्यासङ्ग-भेद-साद-हृष-तर्ष-वर्त-मर्द-ऋम्प-चाल-तोद-न्यथा-चे-
ष्टादीनां, तथा खर-परुष-विशद-सुषिर तारुण-क्षाय-विरस-मुखशोष-
शूल-सुमिसंकुञ्जन-स्तम्भन-खज्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं
वातविकारमेवाध्यवस्थेत ॥ १२ ॥

तं भधुराम्ल-छवण-स्निग्धोष्णैरुपकमेत स्नेहस्वेदास्थापनानुषास-
ननस्तःकर्मभोजनाद्यङ्गोत्सादन-परिषेकादिभिर्बावहर्मोत्रां काळं च
प्रमाणीकृत्य; आस्थापनानुबासनं तु खलु सर्वोपकमेभ्या वाते प्रधान-
तमं मन्वन्ते भिजजः, तद्धथादित एव पकाशयमनुप्रविश्य केवलं
वैकारिकं बातमूलं छिनति, तत्राबजिते वातेऽपि शरीरान्तर्गता वात-
विकाराः प्रशान्तिमापयन्ते, यथा बनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशास्त्रावरोह-
कुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥ १३ ॥

इन सब यहां पर कहे हुए वातविकारों में वायु के अपने स्वाभाविक (अन्य उपाधि से न हुए) कमों से, तथा अपने लक्षणों से वायु को पहिचान कर वात के एक भाग को देखकर सन्देह रहेत हाकर कुशल चिकित्सक वात रोग ही है ऐसा पहिचानते हैं। वे ये हैं यथा—रुक्षता, असुता

(हल्कापन) विशदता, शीतलता, गति, अमूर्तत्व (अदृश्यत्व), ये वायु के स्वरूप हैं। वायु के कर्मों से पहिचान-शरीर के जिस जिस अवयव में वायु आधाय लेती है, वहां पर संस (खिसकना), भ्रंश (दूर खिसकना), विस्तार, अवसरता, हर्ष, प्यास, मर्दन की पीड़ा, आवर्तन, हिलने की चुभने की पीड़ा, चेष्टा आदि कम्पन, कर्कशता, कठोरता, पृथक्करण, छेद करना, लाल रंग, कषाय रस, मुख की विरसता, मुख का शुष्क होना, दर्द, शून्यता, संकोच, स्तम्भन, खञ्जत्व (लंगाहापन) आदि वायु के काम हैं। इन लक्षणों वाले को बातरोग ही जानना चाहिये। इस वायु की मधुर, अम्ल, लवण, स्निघ, उष्ण क्रियाओं से चिकित्सा करना चाहिये। स्नेहन, स्वेदन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य कर्म, भोजन, मर्दन, उबटन लगाना, परियेकन्स्नान आदि बातनाशक कर्मों को मात्रा और काल का विचार करके प्रयोग करना चाहिये। इन सब कर्मों में वैद्य लोग आस्थापन और अनुवासन (बस्ति) को ही सब से श्रेष्ठ उपाय वायु के लिये मानते हैं। यह शीघ्रता से पक्वाशय में पहुंचकर सम्पूर्ण रोगों को उत्पन्न करने वाले वायु को जड़ से नष्ट कर देती है। ऐसी अवस्था में वायु के पूर्ण शान्त न होने पर भी शरीर के अन्दर के वायुरोग शान्त हो जाते हैं, जैसे—वनस्पतियों के जड़ के कट जाने पर लता, शाखा, अंकुर, फल, फूल पत्ते आदि का नाश अवश्यभावी है॥ १२-१३॥

पित्तविकाराश्वत्वारिंशदत ऊर्ध्वं व्याख्याग्यन्ते; तद्यथा—ओषध्य, प्लोषश्च, दाहश्च, दवशुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, [अङ्गदाहश्च], उष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, [अङ्गम्वेदश्च,] अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च, शोणितवलेदश्च, मांसकलेदश्च, त्वग्दाहश्च, मांसदाहश्च, त्वग्वदरणं च, चर्मावदरणं च, रक्तकोठाश्च, (रक्तविस्फोटाश्च,) रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च, (लोहितगन्धास्यता च,) पूतिमुखता च, तृष्णाया आधिक्यं च, अतृप्तिश्च. आस्यपाकश्च, गलपाकश्च, अश्विपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ़पाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हारित-हारिद्र-मूत्र-नेत्र-वर्चस्त्वं चेति चत्वारिंशत्वित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमाव्याख्याता भवन्ति॥१४॥

इसके आगे पित्तजन्य, विकारों की व्याख्या करते हैं—पित्त विकार—ओषध (पात में रखी अर्द्धन की आंच), प्लोष (जलने के समान जलन), दाह (जलना), दवशु (सब अंगों में जलने के समान धक्क-धक्क होना), धूमक (धूमें जैसा बमन आना), खट्टास, जलन, शरीर के अन्दर दाह, अंगों में दाह, गरमी

की अधिकता, परीने का अधिक आना, अंगों (बगल आदि) में परीना आना, अंगों से दुर्गन्ध आवा, अंगों का फटना, रक्त में क्लिन्नता (बदबू) आना, मांस की क्लिन्नता, त्वचा का जलना, मांस की जलन, त्वचा और मांस का फटना, त्वचा के ऊपर के चर्म का फटना, लाल-लाल धब्बे चकते, हरा रंग हल्दी का सा पीला रंग, नीलिका (शाँई), कक्ष्या (बगल का मांस फटना), कामला मुख की कहुता, मुख से दुर्गन्ध आना, प्यास का अधिक लगना, भोजन में अतृप्ति, मुख का पकना, गले का पकना, आंख का पकना, गुदा का पकना शिशन का पकना, प्राणों का नाश, और आंखों के सामने अन्धेरा रहना, मल-मूत्र और आंख का हरा या पीला होना, ये चालीस पित्तजन्य रोग हैं। पित्त विकार असंख्य हैं, यहां पर मुख्य रोगों की गणना की गई है ॥ १४ ॥

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारं षष्ठ्यन्येषु चानुक्त्वा पित्तस्येदमात्मरूप-मपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलङ्घ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः । तदथा आँष्ट्रयं तैक्ष्णयं लाघवमन्तिस्लेहो वर्णश्च शुक्लारुणज्ञो गन्धश्च विस्तो रसाँ च कटुकाम्लो पित्तस्याऽत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच्च कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति । तं तं शरीरावयवमाविशतः । तदथा—दाहोष्यपाक-स्वेद-क्लेद-कोथ-म्राव-राग यथास्वं च गन्ध-वर्ण-रसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ १५ ॥

तं मधुर-तिक्त-कषाय-शीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेह-विरेचन-अद्रेह-परिपेकाद्यज्ञावगाहादिभिः पित्तहरैमात्रा कालं च प्रमाणीकृत्य, विरेचन तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तदूथादित एवाऽमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूळं चापकर्षति, तत्रावर्जिते पित्तेषु प्रशीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽमौ व्य-पोडे केवलमग्निशृङ्खलीतीभवति तद्वत् ॥ १६ ॥

इन सब यहां कहे या नहीं कहे हुए पित्त विकारों को या उसके एक भाग को स्वाभाविक रूप से (किसी दूसरे दोष से न मिला होने पर), कार्यों, एवं पित्त के लक्षणों से पहिचानकर कुशल वैद्य लोग पित्त रोग ही है, ऐसा निश्चय करते हैं । यथा गरमी, तीक्ष्णता, लघुता, चिकास की अधिकता न होना, सफेद और काले-लाल रंग को छोड़कर अन्यरंग, सहाद (दुर्गन्ध युक्त) कटु और खट्टा रस होना ये पित्त के लक्षण हैं । निम्न प्रकार के कर्मों से पित्त की पहिचान होती है शरीर के जिस जिस अवयव में पित्त आश्रय लेता है, वहां कह

पर दाह, गरमी, पाक (पकना), पसीना, क्लिज्जता, सडांद, खज, खाव, रंग तथा पित्त के समान गन्ध, वर्ण और रस की उत्तरति होना ये पित्त के कर्म हैं । इन कार्यों से युक्त रोग को पित्त का विकार जानना चाहिये । इस पित्त को शान्त करने के लिए मधुर, तिक्क, कथाय, शीत उपक्रमों से चिकित्सा करनी चाहिये । पित्त नाशक स्नेह, विरेचन, प्रदेह, स्नान, मर्दन आदि कार्यों को मात्रा एवं समय को देखकर प्रयोग करना चाहिये । पित्त को शान्त करने के लिए बैद्य लोग विरेचन को हा सब से मुख्य साधन मानते हैं । यह जल्दी ही आमाशय में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण पित्तविकार को जड़ से बाहर निकल देता है । ऐसी अवस्था में पित्त के सम्पूर्ण शान्त न होने पर भी शरीरस्थ पित्तरोग ऐसे ही शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार की भट्ठी से आग निकाल लेने पर भट्ठी अपने आप ठण्डी हो जाती है ॥ १६ ॥

इलेघ्मविकाराऽश्च विश्वितमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः, तथा—
तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राया आधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च,
आळस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्नादश्च, इलेघ्मोद्दुग्धिरणं च, मलस्याऽऽ-
धिक्यं च, कण्ठोपलेपश्च, बलासञ्च छृदयोपलेपश्च, धमनी-प्रतिच्चयश्च,
गलगण्डश्च, अतिस्थौर्लयं च, शीताग्निता च, उद्देश्च, इवेतावभासता
च, इवेत-मूत्र-नेत्र-वर्चस्त्वं चेति विश्वितः इलेघ्मविकाराः इलेघ्मविका-
राणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ १७ ॥

कफजन्यरोग बीस हैं । उन का कहते हैं यथा—भाजन न करने पर भा-
तृसि का अनुभव, तन्द्रा, नींद का अधिक आना, स्तैमित्य (शरीर का गीले वस्त्र से ढंपा प्रतीत होना), शरीर का भारीपन, आलस्य आना, मुख की मिठास, मुख से लाला बहना, कफ का वमन, शरीर से मल का अधिक निक-
लना, कफ का क्षय, हृदय का भरा रहना, कण्ठ का भरा रहना, धमनियों का अवरोध, गलगण्ड, अतिस्थूल, मन्दाग्नि, उदर्द (छाकी), इवेत रंग की प्रतीति, मूत्र मल और नेत्र में सफेदी, ये बीस कफजन्य रोग हैं । कफजन्य विकार असंख्य हैं, परन्तु यहां पर प्रधान रोगों की गणना की है ॥ १७ ॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु इलेघ्मविकारेष्वन्येषु चानुक्तेषु इलेघ्मण इद-
मात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तद्वयवं वा विमु-
क्तसंदेहाः इलेघ्मविकारमेवाध्यवस्थन्ति कुशलाः, तथा—इवैत्य-शैत्य-
स्नेह-गौरव-माधुर्य-मात्रन्यानि इलेघ्मण आत्मरूपाणि, एवंविधत्वाच
कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तथा—
इवैत्य-शैत्य-कण्डू-स्थैर्य-गौरव-स्नेह-मत्तम्भ - सुप्ति-क्लोषोपदेह-बन्ध-माधुर्य-

चिरकारित्वानि इलेघ्मणः कर्माणि, तैरन्वितं इलेघ्मविकारमेवाध्यव-
स्थेत् ॥ १८ ॥

तं कदुक्तिक्तक-कषाय-तोक्षणोष्ण-रुक्षेरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदन-वमन-
शिरोविरेचन-व्यायामादिभिः इलेघ्महरैर्मत्रां कालं च प्रमाणीकृत्य, वमनं
तु सर्वोपक्रमेऽयः इलेघ्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्वयादित
एवाऽमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं इलेघ्ममूलमपकर्षति, तत्राव-
जिते इलेघ्मण्यपि शरीरान्तर्गताः इलेघ्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते,
यथा—भिन्ने केदारसेती शालिन्यव-षष्ठिकादीन्यभिष्यन्दमानान्यम्भसा
प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ १९ ॥

इन सब कफ की विकारों में कहे हुए या नहीं कहे हुए रोगों को या उसके
एक भाग को कफ के अपने स्वाभाविक रूप से, कार्यों से, लक्षणों से पहिचान
कर कुशल पुरुष सन्देहरहित होकर इलेघ्मविकार ही हैं ऐसा निश्चय करते हैं।
यथा चिकास, शीतलता, सफेदी, भारीपन, मधुरता, मसृणता (पिंछलता),
ये कफ के रूप हैं। निम्न प्रकार के कार्यों से कफ की पहिचान होती है—

शरीर के अवयवों में प्रविष्ट होकर कफ सफेदी, शीतलता, खाज, स्थिरता,
भारीपन, चिकास, जड़ता, निकियता, क्लिज्जता, चिकनापन, अवरोध, मधुरता,
देर में कार्य करना ये कफ के कार्य हैं। इनके द्वारा कफ रोग को जानना
चाहिये। इस कफ को शान्त करने के लिये कड़, तिक्त, कषाय, तीक्ष्ण, गरम
और रुक्ष उपक्रमणों से चिकित्सा करनी चाहिये। मात्रा और समय के अनुसार
स्वेद, वमन, शिरोविरेचन, व्यायाम आदि श्लेघ्मनाशक कार्यों का प्रयोग करे।
कफ को शान्त करने के लिये वैद्य वमन को ही सब से उच्चम साधन मानते हैं।
वमन जल्दी से आमाशय में पुंच कर सम्पूर्ण वैकारिक कफ को जड़ समेत
बाहर कर देता है। इस कफ के पूर्ण रूप से शान्त न होने पर भी शरीर के
अन्दर के कफरोग शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार कि धान्य, जौ, सांठी पानी
से भरे होने पर खेत की मैट के टूटने पर पानी से खुशक हो जाते हैं, (सख
जाते हैं), इसी प्रकार कफ के निकलने से रोग भी नष्ट होजाते हैं ॥ १८-१९ ॥
भवन्ति चात्र—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।

ततः कर्म भिषक्पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ २० ॥

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक् ।

अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्दृष्ट्यच्छ्यथा ॥ २१ ॥

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्व-भैषज्य-कोविदः ।

देश-काट-प्रमाण-ज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २२ ॥

सब से प्रथम रोग की परीक्षा करनी चाहिये, उसके पीछे औषध की परीक्षा, इसके अनन्तर वैद्य ज्ञानपूर्वक चिकित्सा का आरम्भ करे । जो वैद्य, रोग की परीक्षा द्वारा निश्चय किये विना चिकित्सा कर्म आरम्भ कर देता है, भले ही वह वैद्य औषधि के विधान को जानता हो, तो भी उसकी सफलता निश्चित नहीं (कभी हो जाती है, और कभी नहीं) । जो वैद्य रोगों को भली प्रकार जानता है, इसी प्रकार औषधियों को भी जानता है, साथ में देश, काल और प्रमाण को भी समझता है, उसकी सफलता निश्चित, अवश्यम्भावी है ॥२०-२२॥
तत्र श्लोकः—संग्रहः प्रकृतिर्देशो विकारमुखमीरणम् ।

असंदेहोऽनुबन्धश्च रोगाणां संप्रकाशितः ॥ २३ ॥

दोषस्थानानि रोगाणां गणा नानात्मजाश्च ये ।

रूपं पृथक्त्वादोषाणां कर्म चापरिणामि यत् ॥ २४ ॥

पृथक्त्वेन च दोषाणां निर्दिष्टाः समुपकमाः ।

सम्यक् महति रोगाणामध्याये तत्त्वदर्शिना ॥ २५ ॥

रोगों की संक्षिप्त संख्या, इनके स्थान और इनके साक्षात् अथवा प्रेरक कारण, असन्देह, और अनुबन्ध, दोषों के स्थान, नानाप्रकार के रोगों की गणना, दोषों के पृथक् पृथक् रूप, और स्वाभाविक कर्म, दोषों के पृथक् पृथक् शान्ति के उपाय, इस महारोग अध्याय में तत्त्वदर्शि पुनर्बन्धु ने कह दिये हैं ॥२३-२४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने रोगचतुष्के

महारोगाध्यायो नाम विशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽष्टौनिन्दितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'अष्टौनिन्दितीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तदथा— अतिदीर्घश्चातिहस्तश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थू- लश्चातिकृशश्चेति ॥ ३ ॥

इस लोक में शरीर के सम्बन्ध में (मन के सम्बन्ध में अधार्मिक आदि इन से भिन्न हैं) आठ पुरुष निन्दित माने जाते हैं । यथा १. अतिदीर्घ २.

अतिहस्त, ३. अतिलोमा (बहुत बालों वाला), ४. अलोमा (एक दम बाल रहत) ५. अतिकृष्ण (बहुत काला) ६. अतिगौर, ७. अतिस्थूल (बहुत मोटा) और ८. अतिकृश (बहुत पतला) ॥ ३ ॥

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवापरे निनिदत्विशेषा भवन्ति; अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्वासो जरोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्धं स्वेदावाधः क्षुद्रतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः । तदतिस्थील्यमतिसंपूरणाद् गुरु-मधुर-शीत-स्तिर्घोपयोगादव्यायामादव्यवायादिवास्वज्ञाद्वर्धनित्यत्वादचिन्तनाद् बीजस्वभावात्तोपजायते । तस्यातिमात्रं मेदस्विनो मेद एवोपचायते न तथेतरे धातवः, तस्मादस्याऽयुषो ह्वासः, शैथिल्यात् सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसा जरोपरोधः, शुक्रबहुत्वाद् मेदसाऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता, दौर्बल्यमसमत्वाद्वातूनां, दौर्गन्धं मेदोदावासनमेदसः स्वभावात्स्वेदलत्वाच्च, मेदसः इलेष्मसंसर्गाद्विषयनिदत्वाद् बहुत्वाद्वयायामासहत्वाच्च स्वेदावाधः, तोक्षणगिन्त्वात्प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुद्रतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति ॥ ४ ॥

इन आठों पुरुषों में भी अतिस्थूल और अतिकृश ये दोनों पुरुष विशेष रूप से निनिदत हैं । इनमें अतिस्थूल पुरुष की आयु छोटी होती है, उसे बुढ़ापे जल्दी आ बेरता है, मैथुन में कठिनता, निर्वलता, शरीर में दुर्गन्ध, पसीना बहुत आता है, भूख और प्यास खूब अधिक लगती है, ये आठ दोष होते हैं । यह अतिस्थूलता अधिक भोजन करने से, गुरु, मधुर, शीत, स्तिर्घ पदार्थों के मेवन से, व्यायाम न करने से, सम्मोग न करने से, दिन में सोने से, नित्य खुश (वेष्पिकर) रहने से, चिन्ता न करने से, माता पिता के स्थूल होने से उत्तम्न होती है । अतिस्थूल पुरुष के शरीर में मेद के बढ़े होने पर आगे मेद ही बढ़ता जाता है और अन्य धातु नहीं बढ़ते । इसलिये (विषम धातु होने से) आयु छोटी होती है, मेद के शिथिन, सुकुमार और भारी हाँने से बुढ़ापे का जल्दी आना, शुक्र के कम होने से, मेद के द्वारा शुक्र वाह्य स्रोतों के रक जाने से मैथुन में कठिनाई; धातुओं के विषम होने से दुर्बलता, मेद के दोष से, मेद के स्वभाव से तथा पसीने के अधिक आने से दुर्गन्ध, मेद के इलेष्म के साथ मिलने से, सङ्के से, बहुत होने से, भारी होने से और परिश्रम को न सह सकने के कारण पसीने का बहुत आना, अग्नि के प्रवल होने से और कोष में वायु को अधिकता से भूख अधिक और बहुत प्यास लगती है ॥ ४ ॥

भवन्ति चात्र—मेदसाऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोषे विशेषतः ।

चरन् संधुक्षयत्यरिनमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥

तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाळक्षति ।
 विकारांश्चाश्नुते घोरान् काञ्चित्कालव्यतिक्रमात् ॥६॥
 एतावुपद्रवकरौ विशेषादिनभारतौ ।
 एतौ हि दहतः स्थूलं बनदावो बनं यथा ॥ ७ ॥
 मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
 विकारान् दारणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥
 मेदोमासातिवृद्धत्वाश्चलस्फिगुदरस्तनः ।
 अयथोपचयोत्साहो नरोऽस्थिस्थल उच्यते ॥ ९ ॥
 इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च ।
 निर्दिष्टं, वक्ष्यते वाच्यमतिकाल्येऽप्यतः परम् ॥ १० ॥

मेद के द्वारा स्रोतों के रुक जाने पर वायु कोष्ठ का आभय लेकर गति करता है, इससे अग्नि को बढ़ाता (तेज करता है) है, और भोजन को शुष्क करता है । इसलिये अग्नि आहार को शीघ्र जीर्ण कर देती है और अन्य आहार को चाहती है । आहार काल के अतिक्रमण होने से भयानक रोगों को उत्पन्न करती है । ये अग्नि और वायु विशेष रूप से उपद्रव करने वाले हैं । जिस प्रकार की जंगल की आग बन को जला देती है, उसी प्रकार ये वायु और अग्नि मोटे व्यक्ति को जला देते हैं । मेद के बहुत बढ़ने पर एक दम से वायु, पिच, कफ, भयानक रोगों को उत्पन्न करके जीवन का नाश शीघ्रता से कर देते हैं । मेद के अति बढ़ने से मनुष्य के नितम्ब, उदर और स्तन घल-गड़ करने लगते हैं । शरीर का आकार और उत्साह शक्ति नष्ट हो जाते हैं । ऐसे पुरुष को अतिस्थूल कहते हैं । ये मेदस्वी पुरुष के दोष, कारण और लक्षण कह दिये इसके आगे अतिकृष्ट व्यक्ति के लक्षण कहते हैं ॥ ५-१० ॥

सेवा-रूक्षाङ्ग-पानानां लङ्घनं प्रमिवाशनम् ।
 क्रियातियोगः शोकश्च वेग-निद्रा-विनिग्रहः ॥११॥
 रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा ।
 विकारानुशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृश्च नरम् ॥१२॥
 व्यायाममतिसौहित्यं शुत्पिण्यासामहौषधम् ।
 कृशो न सहते तद्वदितिशीतोष्णमैथुनम् ॥ १३ ॥
 सीहां कासः क्षयः इवासो गुल्मार्शास्युदराणि च ।
 कृशो प्रायोऽभिष्वावन्ति रोगाभ्यं प्रहर्णीगताः ॥१४॥
 शक्त-स्फुगुद्र-ग्रीवो धमनी-आळ-सन्ततः ।

त्वगस्तिशोषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरो मतः ॥१५॥
 सततव्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ ।
 सततं चोपचर्यौ हि कर्पणैर्बृहणैरपि ॥१६॥
 स्थौल्यकार्ये वरं कार्यं समोपकरणौ हि तौ ।
 यद्युभौ व्याधिरागच्छेस्थूलमेवातिपीडयेत् ॥१७॥

लक्ष खान पान के सेवन से, उपबास से थोका खाने से, स्नेहन, स्वेदन वयन, विरेचन आदि क्रियाओं के अतियोग से, शोक से, मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को अथवा नीद के उपस्थित वेग को रोकने से, टने ह भर्दन किये विना उबटन लगाकर स्नान (नित्य प्रति) करने से, स्वभाव से, बुद्धापे से, रोगों के कारण (रोग की कमज़ोरी में) उत्पन्न कमज़ोरी में, मिथ्याहार-विहार से, क्रोध से पुरुष बहुत कृश हो जाता है । परिश्रम, अतिशय पेट भर के खाना, भूख, प्यास और बलवान् औषध, बहुत सर्दी, बहुत गरमी और मैथुन इनको कृश पुरुष सहन नहीं कर सकता । प्लोहा कास, क्षय, इवास, गुल्म, अर्द्ध, उदर-रोग, और ग्रहणी रोग (आमाशय आंत्र रोग) प्रायः करके कृश (निर्बल) पुरुष को शोषण चिपटते हैं । नितम्ब, उदर और श्रीवा शुष्क हो जाते हैं, शरीर पर धमनियों के जाल दीखने लगते हैं, त्वचा और अस्थियों का ही ढांचा बच जाता है, ग्रन्थियां मोटी-मोटी हो जाती हैं, ऐसे पुरुष को 'अतिकृश' कहते हैं । ये अतिस्थूल और अतिकृश पुरुष सदा रोगी रहते हैं । इसलिए कर्पण से (स्थूल की) और बृहण से (कृश पुरुष की) सदा परिचर्या करनी चाहिये । स्थूलता और कृशता में कृशता श्रेष्ठ है, क्योंकि यदि दोनों को एक ही समान चिकित्सा से साध्य व्याधि हो जाय तो स्थूल पुरुष ही अधिक पीड़ित होगा (क्योंकि स्थूल पुरुष का यदि संतर्पण किया जाय तो स्थूलता बढ़ती है, अपर्पण करे तो वह सहन नहीं कर सकता, क्योंकि जाठराग्नि बढ़ी होती है) ॥११-१७॥

सम-मांस-प्रमाणस्तु समसंहननो नरः ।
 हृषेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनमिभूयते ॥ १८ ॥
 क्षुत्पिपासातपसहः शीत-व्यायाम-संग्रहः ।
 समपक्ता समजरः सम-मांस-चयो मतः ॥ १९ ॥

जिस पुरुष की मांस पेशियां प्रमाण में उच्चत हैं और शरीर का संघटन टीक प्रकार से है, इन्द्रियां बलवती हैं, वह पुरुष रोगों के बल से भी हार नहीं मानता । जो पुरुष भूख, प्यास, धूप का सहन कर सके, शीत, व्यायाम को

भली प्रकार सहन करले, न कम और न अधिक, भोजन को जीर्ण करने वाला हो, जिसको बुद्धापा ठीक समीप पर आये, वह पुरुष समान उपचय अर्थात् उचित शरीर की बनावट का होता है ॥ १८-१९ ॥

गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलाना कर्षणं प्रति ।

कृशाना बृंहणार्थं च लघु संतर्पणं च यत् ॥ २० ॥

चातञ्जनान्यज्ञपानानि इलेष्म-मेदो-हरणि च ।

रुक्षोष्णा वस्तयस्तीक्ष्णा रुक्षाण्युद्वर्तनानि च ॥ २१ ॥

गुहृची-भद्र-मुस्ताना प्रयोगखैफलस्तथा ।

तक्षरिष्टप्रयोगस्तु प्रयोगो माद्विकस्य च ॥ २२ ॥

विड्ज्ञनागरं क्षारः काल-लोह-रज्जो मधु ।

यवामलकचूर्णं च प्रयोगः शेष्ट उच्यते ॥ २३ ॥

बिलबादिपक्वमूलस्य प्रयोगः क्षोद्रसंयुतः ।

शिलाजतुप्रयोगस्तु साग्निमन्थरसः परः ॥ २४ ॥

प्रशातिका प्रियकुञ्ज श्यामाका यवका यवाः ।

जूर्णाह्नः कोद्रवा मुद्राः कुलत्याक्षकमुद्रकाः ॥ २५ ॥

आढकीना च बीजानि पटोलामलकैः सह ।

भोजनार्थं प्रयोज्यानि पानं चानु मधूदकम् ॥ २६ ॥

अरिष्टाइचानुपानार्थं मेदो-मांस-कफापहान् ।

अतिस्थौल्यविनाशाय संबिभव्य प्रयोजयेत् ॥ २७ ॥

प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च ।

स्थौल्यमिच्छन् परित्यक्तं क्रमेणाभिप्रवर्धयेत् ॥ २८ ॥

स्थूल पुरुषों को कृश बनाने के लिये गुरु (मारी) और अपर्तण किया (यथा शहद भारी होने से अग्नि को कम करता है और अपर्तण होने से मेद का कम करता है) उचित है । कृश पुरुषों को मांटा करने के लिये लतु एवं सन्तर्पण किया करनी चाहिये । अतिस्थूल की चिकित्सा—

बातनाशक खान पान, कफ और मेदनाशक आहार, रुखी एवं गरम वस्त्रिया, तीक्ष्ण, रुक्ष उबटन का मलना, गिलोय, नागर मोथा, इनका, या त्रिफला का काथ देना, तक्षरिष्ट का प्रयोग अथवा मधु का उपयोग, वायविडंग, चौठ, शार, कान्त लोह-भस्म को शहद के साथ, जो और आब्ले का चूर्ण, इनका प्रयोग उत्तम है । विल्व, अरणी, सोना पाठ, काशमरी, पाटका इनके काथ में मधु प्रक्षेप करके पीना, अग्निमन्थ (अरणी) के रस के साथ यिलाजीत

का उपयोग, प्रश्नातिक (नीवार वान्य), प्रियंगु, स्थामाक (तांक), लुदजव, जौ, झंगनी, कोदो घान्य, मूंग, कुड़यी, जंगली मूंग, अरहर की दाढ़, परबठ, आंवड़ा इनके साथ खाने के लिये देवे; और पीने के लिये पानी में शहद मिला के देना चाहिये । अनुपान के लिये मेद, मांस और कफ को नष्ट करने वाले अरिष्टों को अतिस्थूलता नाश करने के लिये प्रयोग करना चाहिये । स्थूलता का नाश करने की इच्छा बाले पुरुष को, रात में जागना, मैथुन, परिश्रम करना, चिन्ता करना इनको क्रम से शानैः शानैः बढ़ाना चाहिये ॥ २०-२८ ॥

स्वप्रो हर्षः सुखा शर्या मनसो निर्वृतिः शमः ।
 चिन्ता-न्यवाय-न्यायाम-विरामः प्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥
 नवाज्ञानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः ।
 संस्कृतानि च मांसानि दधि सर्पिं पर्यासि च ॥ ३० ॥
 इम्बः शालयो मांसा गोधूमा गुडवैकृतम् ।
 बस्त्रयः स्तिनग्धमधुरास्तैलाभ्यङ्गरुच सर्वदा ॥ ३१ ॥
 स्तिनग्धमुद्वर्तनं स्तानं गन्धमाल्यनिषेवणम् ।
 शुक्लवासो यथाकाळं दोषाणामवसेचनम् ॥ ३२ ॥
 रसायनानां वृद्ध्याणां योगानामुपसेवनम् ।
 हत्वाऽतिकाश्यमादत्तो नृणामुपचयं परम् ॥ ३३ ॥
 अचिन्तनाश्च कार्योणा भ्रुवं संतर्पणेन च ।
 स्वप्नप्रसङ्गाश्च नरो वराह इव पुष्पति ॥ ३४ ॥

कृष्ण रोग की चिकित्सा—रात में और दिन में सोना, सदा प्रसन्न रहना, आराम, गदेदार पङ्कग पर लोना, बैठना, मनकी बैफ़िकरी, शान्ति, चिन्ता न करना, सम्मोग का न करना, भ्रम न करना और इच्छित वस्तुओं का दर्शन, नये अन्न, नया मद्य, ग्राम्य और जलचर प्राणियों के मांस का रस, संस्कृत (अच्छी प्रकार बनाये) मांस, दही, घो और दूध, गन्ने, चावल (लाक चावल) मांस, गेहूं, गुड़ से बनी वस्तुएं, स्तिनग्ध और मधुर वस्तियां, सर्वदा तैल मर्दन स्तिनग्ध उबटन, स्तान, सुगन्ध और माला का धारण करना, सफेद वस्त्र, समय समय पर वातादि दोषों का बाहर निकालना, रसायन एवं वाजीकरण-योगों का सेवन करने से कृष्णता दूर होकर पुष्टि, बल (मोटापा) आता है । कार्यों की चिन्ता न करने (बैफ़िकरी) से, नित्य प्रति सन्तर्पण किया द्वारा और रात दिन सोने से मनुष्य मुखर की तरह पुष्ट हो जाता है ॥ २९-३४ ॥

यदा तु मनसि क्रान्ते कर्मस्तमानः क्रमानिवताः ।

विषयेऽयो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ ३५ ॥
 निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः काश्यं बलाबलम् ।
 वृषता क्लीबता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ ३६ ॥
 अकाळेऽतिप्रसङ्गात् न च निद्रा निषेविता ।
 सुखायुषा पराकृत्यात्कालं रात्रिरिवापरा ॥ ३७ ॥
 सैव युक्ता पुनर्युक्ते निद्रा देहं सुखायुषा ।
 पुरुषं योगिनं सिद्धया सत्या बुद्धिरिवाऽऽगता ॥ ३८ ॥
 गीताध्ययन-मध्य-झी-कर्म-भाराध्व-कर्षिताः ।
 अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धा बालास्तथाऽब्लाः ॥ ३९ ॥
 तृष्णातीसारशङ्कार्ताः इवासिनो हिक्किनः कृशाः ।
 परिताभिहतोन्मत्ताः क्लान्ता यानप्रजागरैः ॥ ४० ॥
 क्रोध-शोक-भय-क्लान्ता दिवास्वर्वनोचितात्मा ये ।
 सर्व एते दिवास्वप्नं सेवेन् सावर्कालिकम् ॥ ४१ ॥
 धातुसास्यं तथा होषां बलं चाप्युपजायते ।
 श्लेषा पुष्णाति चाङ्गनि स्थैर्यं भवति चाऽऽयुषः ॥ ४२ ॥

जब मन से संयुक्त आत्मा निष्क्रिय हो जाती है, इन्द्रियां क्रियारहित हो जाती हैं (रूप, रसादि विषयों से इट जाती है), तब पुरुष सो जाता है । यदि विषिपूर्वक नींद का सेवन किया जाय तो, सुख, शरीर की पुष्टि, बल, पुरुषत्व ज्ञान और जीवन नींद के अधीन हैं और यदि निद्रा का विषि से सेवन न किया जाय तो दुःख, कृशता, बलनाश, क्लीबता, अज्ञान, और मरण ये नींद के अधीन हैं । इसलिये सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि दूसरी प्रछय रात्रि के समान आकाल (दिन में या सन्ध्याकाल में) सोना, या बहुत सोना छोड़ दे । ये नींद के मिथ्यायोग हैं । यदि निद्रा उचित रूप में सेवन की जाय तो शरीर को सुख और आयु से ऐसे ही युक्त करती है जिस प्रकार योगी पुरुष को सिद्धि से तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

गीत गाने से कृशपुरुष, पढ़ने से कृश, मध्यपान करने वाले झी-सेवा करने वाले, बमन विरेचनादि कर्म में, मार्ग चलने से कृश हुए, अतिसार आदि से कृश, अक्षीर्ण रोगी, उरक्षत रोगी, क्षीण (जिनके रस रक्तादि धातु क्षीण) हों, वृद्ध, शाळक, खियां (कमज़ोर) तृष्णारोगी, शूल से पीकित, श्वास से कृश, ऊफ से गिरे, चोट लगे हुए, उन्मत्त (धूरू आदि खाने से), थके हुए, सवारी करने से, रात में जागने से, क्रोध, शोक, भय से निष्क्रिय पुरुषों को दिन में सोना उचित है । ये उपर दिखे पुरुष उब कालों में दिन में सो सकते हैं ।

दिन में सोने से इनके बिचम घातु सम होते हैं, वह बढ़ता है, कफ अंगों को पुष करता है और आयु स्थिर होती है * ॥ ३५-४३ ॥

ग्रीष्मे चाऽदानरुक्षाणां वर्धमाने च मारुते ।

रात्रीणां चातिसङ्क्षेपादिवास्वप्नः प्रशस्यते ॥ ४३ ॥

ग्रीष्मवज्येषु कालेषु दिवास्वप्नात्प्रकृत्यतः ।

इलेष्मपितो, दिवास्वप्नस्तस्मात्पेषु न शस्यते ॥ ४४ ॥

मेदस्त्विनः स्नेहनित्याः इलेष्मलाः इलेष्मरोगिणः ।

दूषीविषार्ताश्च दिवा न श्वीरन् कदाचन ॥ ४५ ॥

हलीमकः शिरः शूलं स्तैरित्य गुरुगात्रता ।

अङ्गमदौडिगिनाशश्च प्रलेषो इष्टस्य च ॥ ४६ ॥

शोथारोचक-हङ्गास-पीनसार्वावभेदकाः ।

कोठोऽरुः पिण्डकाः कण्ठस्तन्द्रा कासो गङ्गामयाः ॥ ४७ ॥

स्मृति-बुद्धि-प्रमोहश्च संरोधः स्रोतसा ज्वरः ।

इन्द्रियाणामसामर्थ्यं विषवेग-प्रवर्तनम् ॥ ४८ ॥

भवेष्मणां दिवास्वप्नस्याहितस्य निषेवणात् ।

तस्माद्विताहितं स्वप्नं बुद्ध्वा स्वप्न्यात्सुखं बुधः ॥ ४९ ॥

रात्रौ जागरणं रुक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।

अरुक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥ ५० ॥

देहवृत्ती यथाऽहारस्थास्वप्नः सुखो मरतः ।

स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौल्यकाइये विशेषतः ॥ ५१ ॥

ग्रीष्म शूतु आदान काल एवं रुक्ष है, इस समय आयु बढ़ती है, और रातें बहुत छोटी होती हैं, इसलिये दिन में सोना उचाम है। ग्रीष्म शूतु का छोड़कर और शूतुओं में सोने से कफ और पित्त विकृत होते हैं, इसलिये इन समयों में दिन के समय सोना ठीक नहीं है। मेदस्त्वा, नित्य स्नेह का सेवन करने वाले, कफप्रकृति, कफरोगी, और दूषी विष से पीड़ित पुरुष दिन में खास कर कर्मी भी न सोयें। दिन में सोने से हलीमक, शिरोवेदना, अंगों में भारीपन, अंगों

* नींद का स्थान कहाँ है? यह तो कहना कठिन है, परन्तु जब मन या मन से युक्त आत्मा मस्तिष्क की पंचम जवनिका (Fifth Ventrical) में पहुँच जाती है तब पुरुष को नींद आती है। इस जवनिका के साथ किसी भी ज्ञानतन्तु का सम्बन्ध नहीं है। इसी से कहा है—“स्वप्नश्च निरिन्द्रियप्रदेशं मनोऽवस्थानम्” ॥

को गीकेवज्र से ढापने की भाँति प्रतीति, आंगों का दूटना, जाठराणि की शीणता, हुदय का कफ से लिस होना, सूजन, असुचि, बमनेच्छा, पीनस, आशा दीर्घी, कोठ (वरें के काटे के भाँति), फुन्सियां, खाज, तन्द्रा, आलस्य, कास, गले के रोग स्मृति नाश, बुद्धिनाश, मूर्छा, सोतों का अवरोध, ज्वर, इन्द्रियों में असमर्थता, विष के बेग का जोर (फिर से चढ़ना) वे लक्षण अहितकारी निद्रा अर्थात् दिन में सोने से उत्पन्न होते हैं । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अहितकारी नींद का त्याग करे, और हितकारी नींद का सेवन करे इससे सुख होगा । रात्रि में जागने से शरीर में रुक्षता और दिन में सोने से स्तिर्घता बढ़ती है । और बैठे-बैठे सोना न तो रुक्षता उत्पन्न करता है, न अभिष्यन्द अर्थात् स्तिर्घता उत्पन्न करता है । शरीर के धारण के लिये जिस प्रकार भोजन सुखकारक होता है, उसी प्रकार नींद भी आवश्यक है । इसलिये स्थूलता और कृशता मुख्य रूप से आहार और निद्रा पर अवलम्बित है ॥ ४३-४१ ॥

अङ्ग्यङ्गोत्सादनं स्नानं ग्राम्यानूपौदका रसाः ।

शाल्यनं सद्धि क्षीरं स्नेहो मर्द्य मनःसुखम् ॥ ५२ ॥

मनसोऽनुगुणा गन्धाः शब्दाः संवाहनानि च ।

चक्षुषस्तर्पणं लेपः शिरसो वदनस्य च ॥ ५३ ॥

स्वास्तीर्णं शयनं वेशम् सुखं कालस्तथांचितः ।

आनयन्त्यचिरान्निद्रा प्रनष्टा या निमित्ततः ॥ ५४ ॥

तैलमर्दन, उबटन, स्लान, ग्राम्य या जलचर प्राणियों का मांसरस, चावल, दही, दूध, स्नेह (धी-तैल) मध्य, मन की प्रिय वस्तुएं, मनोनुकूल गुणान्वि, शब्द और संवाहन (मसाज, मुट्ठी भरना), आंखों का तर्पण, शिर और मुख, शरीर पर चन्दनादि का लेप, अच्छा बिछा पलंग, सुन्दर धर तथा उचित समय ये वस्तुएं कारण से नष्ट हुई नींद को शीघ्र ही उत्पन्न कर देती है ॥ ५२-५४ ॥

कायस्य शिरसश्चैव विरेकश्छदर्नं भयम् ।

चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो रक्तमोक्षणम् ॥ ५५ ॥

उपवासोऽसुखा शस्या सर्वौदार्यं तमोजयः ।

निद्राप्रसङ्गमहितं बारयन्ति समुत्थितम् ॥ ५६ ॥

* यदि मस्तिष्क में स्थित निद्रा को नियमित करने वाला केन्द्र नष्ट कर दिया जाय या चोट आदि से नष्ट हो जाय अथवा विक्षित हो जाय तो पुरुष को नींद का आना असम्भव हो जाता है । जब तक मस्तिष्क में यह केन्द्र ठीक है तभी तक यह चिकित्सा फलवती ही सकती है ।

शरीर का विरेचन, शिरो-विरेचन, बमन, मय, चिन्ता, कोष, कहानी सुनना, मैथुन रक्ष मोक्षण (शिरावेष), उपवास, दुःखदायक विस्तर, सत्त्व गुण की अधिकता, तमोगुण का जय (योगाभ्यास से होती है), ये कारण नींद को नहीं आने देते । इसलिए अहित, अवाञ्छनीय नींद को रोकने के लिये स्वस्य पुरुष को इन्हें बर्तना चाहिये ॥४५-४६॥

एत एव च विश्वेया निद्रानाशस्य हेतवः ।

कार्यं कालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ ५७ ॥

निद्रानाश के दूसरे कारण—कार्य में फसा रहना, काल (बुद्धापा), विकार, शूल दर्द होना, स्वभाव से ही नींद कम आना, वायुःउन्माद रोग या वातरोग आदि निद्रानाश के कारण हैं ॥ ५७ ॥

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनः-शरोरश्रमसंभवा च ।

आगन्तुकी व्याघ्रनुवर्तिनी च रात्रिस्वभाव-प्रभवा च निद्रा ॥५८॥

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्री प्रवदन्ति निद्राम् ।

तमोभवामाहुरथस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥५९॥

नींद छः प्रकार की हैं यथा—तमोजन्या, निद्रा कफ से उत्पन्न मन और शरीर के यक्कने से ‘आगन्तुकी रोग (सक्रियात ज्वर आदि) उत्पन्न होने वाली रात्रि के स्वभाव के कारण उत्पन्न होने वाली निद्रा । इन छः प्रकार की निद्रा में जो निद्रा रात्रि-स्वभाव के कारण उत्पन्न होती है उसको भूतधात्री अथात् धाय के समान प्राणियों को पोषण करने वाली कहते हैं, और तमोगुण से उत्पन्न धाय के समान प्राणियों को गिनती रोगों में की जाती है । निद्रा पाप अवर्म का मूल है, शेष निद्राओं की गिनती रोगों में की जाती है ।

तत्र श्लोकाः—निन्दिताः पुरुषास्तेषां यौ विशेषेण निन्दितो ।

निन्दिते कारणं दोषास्तयोर्निन्दितभेषजम् ॥ ६० ॥

येष्यो यदा हिता निद्रा येष्यस्त्वाप्यहिता यदा ।

अतिनिद्रानिन्द्रियोश्च भेषजं यद्भवा च सा ॥ ६१ ॥

या या यथाप्रभावा च निद्रा तत्सर्वेभवितः ।

अष्टौनिन्दितसंख्याते व्याजहार पुनर्वसुः ॥६२॥

निन्दित पुरुष, इनमें जो दो (स्थूल और कृश) अधिक निन्दित, निन्दित होने का कारण, दोनों के दोष, औषध, जिनके लिये निद्रा हितकारी है, जिनके लिये अहितकारी, अति नींद और नींद के न आने की औषध और जिस कारण से नींद आती है, जिसकिस प्रकार से उत्पन्न होती है, इन सब बातों को आश्रेय बहुत ने ‘अष्टौ निन्दित’ नामक अध्यायमें कह दिया ॥६०-६२॥

इत्यग्निवेषाङ्गते तत्रे चरक्यतिसंस्कृते सूक्ष्मस्थाये योजनाप्रतुष्के

अष्टौनिन्दितीयो नाम एकंशिखातितमोच्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो लङ्घनबृंहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

इति ह स्माऽह मगवानात्रेयः ॥२॥

अब लंघनबृंहणीय अध्याय का व्याख्यान करेगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

तपःस्वाध्यायनिरतानात्रेयः शिष्यसत्तमान् ।

षड्गिनवेशप्रमुखानुक्तवान् परिचोदयन् ॥ ३ ॥

लङ्घनं बृंहणं काले रूक्षणं स्नेहनं तथा ।

स्वेदनं स्तम्भनं चैव जानीते यः स वै भिषक् ॥ ४ ॥

आत्रेय महर्षि तपश्चर्या और स्वाध्याय में मग्न हुए, अग्निवेश आदि प्रमुख एवं उत्तम छः शिष्यों के ज्ञान के लिये कहने लगे—जो लंघन, बृंहण, रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन एवं स्तम्भन कियाओं के समय तथा विषि को जानता है, वही वेद है ॥ ३-४ ॥

तमुक्तवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच ह ।

भगवंलङ्घनं किंस्विलङ्घनीयाश्च कीदृशाः ॥ ५ ॥

बृंहणं बृंहणीयाश्च रूक्षणीयाश्च रूक्षणम् ।

स्नेहनं स्नेहनीयाश्च स्वेदाः स्वेदाश्च के मताः ॥ ६ ॥

स्तम्भनं स्तम्भनीयाश्च वक्तुमर्हसि तद् गुरो ।

लङ्घनप्रभृतीनां च वर्णामेषां समाप्ततः ॥ ७ ॥

कुताकृतातिरिक्तानां लक्षणं वक्तुमर्हसि ।

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय श्रूति से अग्निवेश ने कहा—कि भगवन् लंघन किस प्रकार का होता है और कौन पुश्प लंघन के योग्य हैं ? बृंहण क्या है और बृंहणीय विकिला के योग्य कौन हैं ? लक्षण क्या है और रूक्षणीय कौन हैं ? स्नेहन क्या है और स्नेहनीय कौन हैं ? स्वेदन क्या है और स्वेदनीय कौन हैं ? स्तम्भन क्या है और स्तम्भनीय पुरुष कौन हैं ? हे गुरो ! यह सब आप कहिये । इन छः लंघन आदि के लक्षण संक्षेप में कहिये । सम्यक् प्रकार से किये, न किये और अति किये हुए के लक्षण भी आप कहें ॥ ५-६ ॥

वचस्तदग्निवेशस्य निशम्य गुहरबीत् ॥ ८ ॥

यत्किञ्चिज्ञाप्तवक्तुं देहे तल्लङ्घनं स्वृतम् ।

बृहस्पतं यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृंहणम् ॥ ९ ॥

रौक्ष्यं स्वरत्वं वैश्यां यत्कुर्यात्तद्वि रूक्षणम् ।

स्नेहने स्नेह-विष्णव-मार्दव-क्षेत्र-कारकम् ॥ १० ॥

स्तम्भ-गौरव-शीतलने स्वेदने स्वेदकारकम् ।

स्तम्भने स्तम्भयति यद्विमन्तं चर्छ द्रवम् ॥ ११ ॥

अग्निवेश के बचन को सुनकर गुरु बोले; शरीर के अन्दर जो वस्तु ल्पता हल्कापन, उत्पन्न करती है, उसको 'लंघन' कहते हैं। जो वस्तु शरीर में स्थूलता उत्पन्न करती है, उसे 'बृंहण' कहते हैं। जो वस्तु शरीर में रखता, कक्षता और विशदता, पृथक्त्व उत्पन्न करती है, वह रूपण है। शरीर में जो वस्तु चिकास, विष्णव, विलयन, कोमलता और क्लिनता उत्पन्न करती है, वह स्नेहन है, जो वस्तु शरीर में जड़ता उत्पन्न करे, भारीपन करे शीत का नाश करे तथा पशोंना लाये वह 'स्वेदन' है। जो वस्तु गतिशील, योगो सी यति को, द्रव को, रोक देती है, वह स्तम्भन है ॥ ८-११ ॥

लघूष्णतीक्ष्णविशदं रूक्षं सूक्ष्मं खरं सरम् ।

कठिनं चैव यद् द्रव्यं प्रायस्तज्ज्ञवधनं स्मृतम् ॥ १२ ॥

गुहशीतमृदुस्तिं वहलं स्थूलापिच्छिलम् ।

प्रायो मन्दं स्थिरं श्लक्षणं द्रव्यं बृंहणमुच्यते ॥ १३ ॥

रूक्षं लघु खरं तीक्ष्णमुष्णं स्थिरमपिच्छिलम् ।

प्रायशः कठिनं चैव यद् द्रव्यं तद्वि रूक्षणम् ॥ १४ ॥

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्तिं विच्छिलं गुरु शीतलम् ।

प्रायो मन्दं मृदु च यद् द्रव्यं तस्तेहनं मतम् ॥ १५ ॥

उष्णं तीक्ष्णं सरं स्तिं विच्छिलं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।

द्रव्यं गुरु च यत् प्रायस्तज्ज्ञ स्वेदनमुच्यते ॥ १६ ॥

शीतं मन्दं मृदु श्लक्षणं रूक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरम् ।

यद् द्रव्यं लघु चोदिष्टं प्रायस्तस्तम्भनं स्मृतम् ॥ १७ ॥

जो वस्तु लघु, गरम, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर (कर्ढण), खर (वहने वाला) और कठिन हा वह वस्तु प्रायः करके 'धंघन' गुण वाली होती है। भारी, शीतवीर्य, मृदु, स्तिं, घन, स्थूल पिच्छिल, विरकारी, (द्वेर में कार्य करने वाला) स्थिर, चिकना जो पदार्थ होता है, वह प्रायः करके 'बृंहण' होता है। रूक्ष, लघु, खर, तीक्ष्ण, उष्ण, स्थिर, चिकास रहित और कठिन द्रव्य है वह प्रायः करके 'श्लक्षण' होता है। ५ जो द्रव्य पतला, सूक्ष्म, बहुवे वाला,

* स्तम्भ में मुख्य रूप से स्नेह का अभाव रहता है और लंघन में यौवन का अभाव रहता है वह दोनों में मुक्तम नहीं है।

चिकना, स्लैइ युक्त, भारी, शीतल, मन्द (चिरकारी) और मृदु होता है, वह प्रायः करके 'स्लेहन' होता है। उष्ण, तीक्ष्ण, बहने वाला, स्लिंग्स, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर, और भारी जो पदार्थ होता है, वह प्रायः करके 'स्वेदन' होता है। शीत, मन्द, मृदु, श्लृष्टि, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव और स्थिर तथा छष्टु होता है। वह द्रव्य प्रायः करके 'स्तम्भन' होता है ॥ १२-१७ ॥

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ ।

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम् ॥ १८ ॥

प्रभूत-इलेष्म-पित्तास्त्र-मलाः संसृष्टमारुताः ।

शृहच्छरीरा बलिनो लङ्घनीया विशुद्धिभिः ॥ १९ ॥

येषां मध्यबला रोगाः कफपित्तसमुत्थिताः ।

वम्यतीसार-हृद्रोग-विसूच्यलसक-ज्वराः ॥ २० ॥

विवन्ध-गौरबोद्वार-हृष्णासारोचकादयः ।

पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञाः प्रायेणाऽऽदातुपाचरेत् ॥ २१ ॥

एत एव यथोद्दिष्टा येषामल्पबला गदाः ।

पिपासानिप्रहैस्तेषामुपवार्षीश्च ताङ्गयेत् ॥ २२ ॥

रोगाङ्गयेन्मध्यबलान् व्यायामातपमारुतः ।

बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवरं बलम् ॥ २३ ॥

त्वच्छेष्णां प्रमूढानां स्तिर्ग्धाभिष्यन्दिवृहिणाम् ।

शिशिरे लङ्घनं शस्तमपि वातविकारिणाम् ॥ २४ ॥

चार प्रकार की शुद्धि अर्थात्—वमन, विरेचन, नस्य और आस्थापन बस्ति; व्यास का रोकना, वायु और धूप का सहना, पाचन, उपवास और व्यायाम ये शरीर में लघुता उत्पन्न करते हैं। जिन पुरुषों में कफ, पित्त, रक्त और मल बहुत बढ़े हों, जिन को वात रोग हो, जिनका शरीर बहुत बड़ा हो, बलवान् हो, उनको वमन विरेचन आदि संशोधन द्वारा लंबन देना चाहिये और जिन मध्यम बल वाले पुरुषों में कफ, पित्त से उत्पन्न रोग हों, जिन को वमन, अती-सार, हृदय रोग, विसूचिका, अलसक, ज्वर, विवन्ध, गौरव, उद्गार, बेचैनी, अकृचि आदि (अजीर्ण) हों, उनको वैद्य प्रथम पाचन औषधियों से लंबन देकर चिकित्सा करे। यही रोग यदि अल्पबलवाले पुरुष को हो तो पिपासा के रोकने से और उपवास द्वारा लंबन कराके शान्त कराना चाहिये। मध्यम बलवाले रोगों को व्यायाम, धूप और वायु के सेवन से लंबन कराना चाहिये। इसी प्रकार बलवान् पुरुषों में जब रोग का बल न्यून हो, तब भी व्यायाम द्वारा लंबन कराना चाहिये। त्वचा के दोष वाले, प्रमेह रोगियों को, स्लिंग्स वा अम्ल-

अथवा पुष्ट शरीर वाले पुरुष को, एवं वात रोगियों को शिशिर काल में लंबन देना उत्तम है । (शिशिर के सामान गुण होने से हैमन्त्र भी उत्तम है) ।

अदिग्नविद्मकिळष्टं वयःस्थं सात्म्यचारिणाम् ।

मृगमस्यविहङ्गानां मांसं बृहणमुच्यते ॥ २५ ॥

क्षीणाः क्षताः कृशा वृद्धा दुर्बला नित्यमध्वगाः ।

खीमद्यनित्या ग्रीष्मे च वृहणीया नराः स्मृताः ॥ २६ ॥

शोषाशेषो-ग्रहणीदोषैर्व्याधिभिः कर्षिताश्च ये ।

तेषां क्रन्यादमासानां वृहणा लघवो रसाः ॥ २७ ॥

स्नानमुत्सादनं स्वप्नो मधुराः स्नेहबस्तयः ।

शर्करा क्षीरसर्पिषि सर्वेषां विद्धि वृहणम् ॥ २८ ॥

विषयुक्त शब्द से न मारे हुए, नीरोगी, जवान, सात्म्यवस्तु को खाने वाले एवं सात्म्य स्थान में चरने वाले, मृग, मछली या पक्षियों का मांस वृहण के लिये उपयुक्त है । क्षीण रोगी, उरःक्षत का रोगी, कृश, वृद्ध, दुर्बल, रोज़ उफर (परिअम) करने वाले, खीसेवी, मद्यसेवी पुरुषों का ग्रीष्म काल में वृहण करना चाहिये । शोष, अर्श, ग्रहणीरोग के कारण जो पुरुष निबल हो गये हैं, उनको मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांस से वृहण करना चाहिये । मांस को संस्कार द्वारा लघु बना लेना चाहिये, अथवा लघु गुण वाले पक्षी वाज़ आदि का मांस प्रयोग करना चाहिये । स्नान, उबटन, निद्रा मधुर एवं स्नेह युक्त बस्ति या, शक्कर, धी, दूध ये वस्तुएँ उब पुरुषों का वृहण करती हैं ॥ २८ ॥

कटु-तिक्त-कथायाणां सेवनं छीड्वसंयमः ।

खलि-पिण्याक-तक्राणां मध्वादीनां च रूक्षणम् ॥ २९ ॥

अभिष्यन्दा महादोषा मर्मस्था न्यायध्यश्च ये ।

ऊरस्तम्भप्रभृतयो रूक्षणीया निर्दिशिताः ॥ ३० ॥

कटुए, तीखे, कथाय रस का सेवन, अति खीरंग, सरसों की खल, तिळ की लाल, तक और मधु (शहद) आदि विरक्षण करने वाले हैं । कफरोगी, वातरोगी और जिन को मर्म स्थान के रोग (ऊरस्तम्भ आद्यवात, प्रमेह आदि) हो उनका विरक्षण उपचार करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

क्षीण भर में पाके या रक्षे पक्षी या मछलियों का मांस लाभकर नहीं है । जो पशु-पक्षी अपने स्वामाविक रूप में रहते हैं और अपना स्वामाविक आहार लेते हैं; उन का मांस ही लाभदायक है ।

स्नेहः स्नेहविवाच्य स्वेदाः स्वेदाश्च ये तदाः ।

स्नेहाभ्यापे मयोकास्ते स्वेदालये च सविस्तरम् ॥ ३१ ॥

स्नेह कितने हैं और कौन स्नेह के योग्य हैं ? स्वेद कितने हैं और कौन स्वेद के योग्य हैं ? ये स्नेह और स्वेद अध्याय में विस्तार से कह दिये हैं ॥ ३१ ॥

द्रवं ततु स्थिरं यावच्छीतीकरणमौषधम् ।

स्वादु तिक्तं कषायं च स्तम्भनं सर्वमेव तत् ॥ ३२ ॥

पित्तक्षाराग्निदश्या ये बम्यतीसारपीडिताः ।

विषस्वेदातियोगार्ताः स्तम्भनीयास्तथाविधाः ॥ ३३ ॥

जो द्रव्य पतला, द्रव, बहने वाला और शीतलता उत्पन्न करने वाला है, तथा मधुर, तिक्त या कषाय रस है, वह सब 'स्तम्भन' है । पित्त रोगी, खार या अग्नि से जले रोगी, बमन या अतिवार से पीड़ित, विषवेग से या आतिस्वेदन किया से पीड़ित पुरुष स्तम्भन किया के योग्य हैं ॥ ३२-३३ ॥

बात-मूत्र-युरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे ।

हृदयोद्दारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥ ३४ ॥

स्वेदे जाते हृचौ चैव कुत्पिपासासहोदये ।

कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्वये चान्तरात्मनि ॥ ३५ ॥

पर्वभेदोऽङ्गमर्दश्च कासः शोषे मखस्य च ।

क्षुत्प्रणाशोऽरुचिस्तृष्णा दौर्बल्यं श्रोत्रनेत्रयोः ॥ ३६ ॥

मनसः संभ्रमोऽभीक्षणमूर्ध्ववातस्तमो हृदि ।

देहाग्निवलनाशश्च लङ्घनेऽतिकृते भवेत् ॥ ३७ ॥

अपान वायु, मल-मूत्र का बाहर आना, शरीर में हल्कापन, आमाशय, ढकार, गङ्गा और मुख के शुद्ध होने पर, आलस्य और निष्क्रियता के नष्ट होने पर, पसीना और भोजन में रुचि उत्पन्न होने पर, भूख और प्यास का एक साथ सहन न होने पर, अर्थात् भूख और प्यास एक साथ लगने पर; मन के प्रसन्न होने पर, सम्यक् प्रकार से लंघन हुआ ऐसा जानना चाहिये । लंघन के अधिक करने से जोड़ों का टूटना, अंगों में पीड़ा, कास, मुख का सूखना, भूख का नष्ट होना, अरुचि, प्यास, कान और आँख में निर्वेदता, मव जै बैचीनी, चक्कर आना, शरीर के ऊपर के भाग में अरम्बाह वायु का छढ़ना, और होना, हृदय में अन्वकार (तमोत्तुण की अस्तिकल), अङ्गराग्नि और शरीर के बल का नाश होना ये लंघन के अतियोग से होते हैं ॥ ३४-३७ ॥

बलं पुष्टशुपलम्भद्य काल्पवेदोपचिवर्जनम् ।

छक्षणं बृहिते, स्थौल्यमति चात्यर्थ्यबृहिते ॥ ३८ ॥

बल, पुष्टि का होना, कृत्यता के दोगों का दूर हो जाना, ये सम्यक् प्रकार के वृंदण होने के लक्षण हैं । वृंदण के अतियोग से स्थौलता आती है ॥ ३८ ॥

कृताकृतस्य लिङ्गं यज्ञाक्षिते तद्विस्तुष्टिते ।

लंघन के सम्यक् योग और अयोग के जो लक्षण हैं वे ही लक्षण स्थः के सम्यक् योग और अयोग के हैं ।

स्तम्भितः स्याद्वृले लब्धे यथोक्तेऽचाऽस्मयैर्जितैः ॥ ३९ ॥

श्यावता स्तवधगात्रत्वसुद्वेगो हनुसंग्रहः ।

हृदूचर्चोनिप्रहश्च श्यादतिस्तम्भितलक्षणम् ॥ ४० ॥

स्तम्भन किया के योग्य रोगों के शान्त होने पर, बल प्राप्त होने से स्तम्भन भली प्रकार से हुआ जानना चाहिये । स्तम्भन के अतियोग से—काळा रंग, शरीर का जड़ होना, बमन की इच्छा, जबाड़ी का चन्द्र होना, हृदय का अवरोध, मल का उक्कना ये अतिस्तम्भन के लक्षण हैं ॥ ३८-४० ॥

छक्षणं चाकृतार्थं स्यात् षण्णामेषां समासतः ।

तदौषधानां व्याधीनामशमो वृद्धिरेव च ॥ ४१ ॥

इति षट् सर्वरोगाणां प्रोक्ताः सम्यगुपकमाः ।

साध्यानां साधने सिद्धा मात्राकाळानुरोधिनः ॥ ४२ ॥ इति ।

भवति चात्र—दोषाणां बहुसंसर्गात् संकीर्यन्ते द्युपकमाः ।

षट्वर्वं तु नातिवर्तन्ते त्रित्वं वातादयो यथा ॥ ४३ ॥

तत्र ऋोकः—इत्यर्मल्लकृष्णनाध्याये व्याख्याताः षुपकमाः ।

यथाप्रश्नं भगवता चिकित्सा यैः प्रवर्तिता ॥ ४४ ॥

लंघन आदि छः कियाओं के अयोग से, इन कियाओं से शान्त होने वाले रोगों की शान्ति नहीं होती या बढ़ जाते हैं । इन छः कियाओं के सम्यक् योग से सब रोग धान्त हो सकते हैं । मात्रा और समय का विचार करके इन कियाओं का उपयोग करने से सब साध्य रोग ठीक होते हैं ।

वातादि दोषों के परस्पर मिलने से बहुत मेद हो जाते हैं, इसलिये चिकित्सा मी बहुत प्रकार की है । जिस प्रकार कि रोग वात आदि तीन को छोड़कर नहीं होते उसी प्रकार चिकित्सा मी इन छः में ही सीमित है । इस लक्षणीय अव्याय में छः कियाये प्रश्न के अनुसार भगवान् आवेद्य में कह दी है ॥ ४१-४४ ॥

इत्यनिवेदहस्ते लक्ष्मे वस्त्रप्रतिसंस्तुते सूत्रस्थाने योजनानुसुन्दरे

कहुन्हाहर्षीयो नाम द्वार्षिण्यप्रियतमोऽव्यायः ॥ ४५ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः सन्तर्पणीयमध्यार्थं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे सन्तर्पणीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

संतर्पयति यः स्तिर्गदैर्मधुरैर्गुहपिच्छिलैः ।

नवान्नैर्नवमधूर्यैश्च मासैश्चानूपवारिजैः ॥ ३ ॥

गोरसैगाँडिकैश्चान्नैः पैष्ठिकैश्चातिमात्रशः ।

चैष्टाद्वेषी दिवास्वप्न-शय्यासन-सुखे रतः ॥ ४ ॥

रोगस्तस्योपजायन्ते संतर्पणनिमित्तजाः ।

जो पुरुष स्तिर्गद, मधुर, गुह और पिञ्चिल पदार्थों से शरीर का सन्तर्पण करते हैं, नये अन्न, नवीन मध्य, जलीय प्रदेश में या जलचर प्राणियों के मांस का सेवन, दूध से बने या गुह से बने पदार्थों का या पौष्टिक भोजनों का अति उपयोग करते हैं, हाथ पांव हड्डियों की क्रिया करना पसन्द नहीं करते, दिन में सोना, आरामतलबी से उठना-बैठना जिन्दगी बसर करना पसन्द करते हैं उनकी सन्तर्पणजन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३-४ ॥

प्रमेह-कण्ठ-पिङ्काः कोठ-पाण्डवामय-ज्वराः ॥ ५ ॥

कुष्ठान्यामप्रदोषाश्च मूत्रकुच्छूभरोचकः ।

तन्द्रा क्लैञ्च्यमतिस्थूल्यमालस्यं गुहगत्रता ॥ ६ ॥

इन्द्रियस्रोतसां लेपो तुद्रेमोहः प्रमीलकः ।

शोफाश्वैवंविधाश्वान्ये शीघ्रमप्रतिकुर्वतः ॥ ७ ॥

सन्तर्पणजन्य रोग—प्रमेह, कण्ठ, पुष्टियां, कोठ (वर्ते के काटे के समान चक्कते), पाण्डु रोग, ज्वर, कुञ्ठ रोग, विषूचिका आदि, मूत्रकुच्छ, अदचि, तन्द्रा, क्लैञ्चता, अतिस्थूलता, आलस्य, शरीर का भारीपन, इन्द्रिय और स्नोतो का अवरोध, तुद्रिङ्गति, निरन्तर एक ही बात की चिन्ता, सूजन एवं इसी प्रकार के अन्य रोग शीघ्र प्रतिकार न करने से उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ५-७ ॥

शस्त्रमुझेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम् ।

व्यायामश्चोपजासश्च धूमश्च स्वेदनानि च ॥ ८ ॥

सङ्खोद्रश्वाभयाप्राशः प्रायो रुक्षाभसेवनम् ।

चूर्णप्रदेहा ये चोकाः कण्ठकोठविनाशनाः ॥ ९ ॥

त्रिफलारगवधं पाठा सप्तपर्णं सत्सक्तम् ।
मुस्तं निम्बं समदनं जलेनोत्कथितं पिवेत् ॥ १० ॥
तेन मेहादयो यान्ति नाशमध्यस्थतो शुद्धम् ।
मात्राकालप्रयुक्तेन संतर्पणस्मुत्तिताः ॥ ११ ॥

ऐसी अवस्था में वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उपवास, धूमपान, स्वेद किया, मधु के साथ हरीतकी खाना (या अगस्त्य हरीतकी का खाना), रुक्ष अब्रों का उपयोग, कण्ठ और कोठ को नष्ट करने वाले जो चूर्ण या प्रदेह आरग्वधीय अध्याय में कहे हैं उनका सेवन, त्रिफला (हरक, बहेडा, आंड़ा), अमलतास, पाढ़ल, सतवन, इन्द्रजौ, नागरमोथा, नीम की छाल, मैनफल इनका जल में काढ़ा बनाकर अभ्यास पूर्वक (नित्यप्रति) पीने से प्रमेह आदि रोग जो कि मात्रा और काल में संतर्पण किया से उत्तम हुए हैं, नष्ट हो जाते हैं ॥८-११॥

मुस्तमारगवधः पाठा त्रिफला देवदारु च ।
श्वदंष्ट्रा खदिरो निम्बो हरिद्रे त्वक्च वत्सकात् ॥ १२ ॥
रसमेषां यथादोषं प्रातः प्रातः पिवेन्नरः ।
संतर्पणकृतैः सर्वैर्ज्योधिभिः संप्रमुच्यते ॥ १३ ॥
एभिश्चोद्वर्तनोद्घर्षस्नानयोगोपयोजितैः ।
त्वग्दोषाः प्रशामं यान्ति तथा स्नेहोपसंहितैः ॥ १४ ॥
कुष्ठं गोमेदको हिङ्कु क्रौञ्चास्थि त्यूषणं वचा ।
वृषकैले श्वदंष्ट्रा च खराल्म चाशमभेदकः ॥ १५ ॥
तक्रेण दधिमण्डेन बद्राम्लरसेन वा ।
मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहं च पीतमेतद् व्यपोहति ॥ १६ ॥
तक्राभयाप्रयोगैश्च त्रिफलायास्तथैव च ।
अरिष्टानां प्रयोगैश्च यान्ति मेहादयः शमम् ॥ १७ ॥
त्यूषणं त्रिफला क्षौद्रं क्रिमिनं साजमोदकम् ।
मन्थोऽयं सक्तवः सर्पिंहिंतो लोहोदकाप्तुतः ॥ १८ ॥
त्योर्वं विडङ्गं शिरूणि त्रिकल्पा कटुरोहिणीम् ।
शुहत्यौ द्वे हरिद्रे द्वे पाठा सातिविषां स्थिराम् ॥ १९ ॥
हिङ्कुकेबूकमूलानि यवानीधान्यचित्रकम् ।
सौबर्चक्षमजाजीं च द्वुषा चेति चूर्णयेत् ॥ २० ॥
चूर्ण-नैङ्ग-शूत-क्षीद्र-भागाः स्फुर्मानतः समाः ।
सकूना शोषणगुणो भागः संतर्पणं पिवेत् ॥ २१ ॥

प्रयोगादस्य शास्त्रन्ति रागाः संतर्पणोत्थिताः ।
 प्रमेहा मूढवासाश्च कुष्ठान्यभासि कामलाः ॥ २२ ॥
 मीहा पाण्डवामयः शोको मूत्रकृम्भरोचकः ।
 हृद्रोगो राजबह्मा च कासः व्यासो गलग्रहः ॥ २३ ॥
 क्षिमयो ग्रहणीदोषाः इवैत्यं स्थौल्यमनीव च ।
 नराणां दीप्त्यते च्वाग्निः स्मृतिर्बुद्धिश्च वर्धते ॥ २४ ॥
 व्यायामनित्यो जीर्णाशी यज्ञ-गोषुभ-भोजनः ।
 संतर्पणकृतैर्दोषैः स्थौल्यं मुक्त्वा विमुच्यते ॥ २५ ॥

नगरमोथा, अमलतास, पाढ़ल, त्रिफला, देवदारु, गोखरू, खैर की छाल, नीम की छाल, हल्दी, दारहल्दी, कूड़े की छाल, इन औषधियों से काथ करके दोषानुसार प्रतिदिन प्रातःकाल पीने से, संतर्पणजन्य सब व्याधियों से मुक्त हो जाता है । स्नेह साधन द्वारा त्वचा के रोग मिट जाते हैं । कूठ, गोमेदक मणि, (या अंकोल) हींग, कौच पक्षी की अस्थि, सोठ, मिरच, पिप्पली, बच, वासा, इलायची, गोखरू, अजवायन, पाशाणमेद इन सब को तक या दविमण्ड के साथ अथवा खट्टे बेरो के रसों के साथ पीने से मूत्रकृच्छ्र और प्रमेह रोग मिटते हैं । छाँ और हरड़ के प्रयोग से या छाँ और त्रिफला के प्रयोग से, या तक्कारिष्ट के प्रयोग से (प्रमेह में कहे अरिष्टों के उपयोग से) प्रमेह आदि रोग शान्त होते हैं । सोठ, मिरच, पिप्पली, त्रिफला मधु, वायविंडग, अजवायन, पानी में धुला (घिरा) अगर, धी और सत्तू इनका मन्थ बनाकर पीने से प्रमेह आदि रोग मिटते हैं । सोठ, मिरच, पीपल, वायविंडग, शोभाज्जन, त्रिफला, कुटकी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, हल्दी, दारहल्दी, पाढ़ल, अतीस, पृष्ठिनपर्णी, हींग, केवूक-मूल, अजवायन, धनिया, चीतामूल, सुवर्चल, जीरा हाउबेर, इनका चूर्ण कर लेना चाहिये । अब नूर्ण के बराबर तेल, धी और शहद प्रत्येक समान भाग मिलाना चाहिये । इसमें जौ के सत्तू का सोलहवां भाग मिला कर खाना चाहिये । इस प्रकार करने से संतर्पणजन्य रोग शान्त हो जाते हैं । प्रमेह, मूढवात, कुड़, अर्च, कामला, मीहा, पाण्डुरोग, शोक, मूत्रकृच्छ्र, अरचि, हृदय रोग, राजवश्यमा, काल, श्वास, गले का अवरोध, कृषि, ग्रहणी रोग, दिवत्र रोग, अतिस्थूलता रोग नष्ट होते हैं, जाठराग्नि दीप्त होती है और स्मृति एवं बुद्धि बढ़ती है । निष्प व्यायाम करने वाला, पहिले भोजन के बीच होने पर खाने वाला, जौ और गेहूँ का भोजन करने वाला मनुष्य संतर्पणजन्य रोगों से मुक्त होता है, तथा स्थूलता का नाश होता है ॥ १२-२५ ॥

उरुं संतर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम् ।
 वक्ष्यन्ते सौषधाश्चोर्ध्वमपतर्पणजा गदाः ॥ २६ ॥
 देहाग्नि-बल-वर्णोऽजः-शुक्र-मांस-बल-क्षयः ।
 ऊर्ध्वः कासानुबन्धश्च पाइर्धशूलमरोचकः ॥ २७ ॥
 ओत्रदौर्बल्यमुन्मादः प्रलापो हृदयव्यथा ।
 विष्मूत्रसंग्रहः शुलं ज्वोरुत्रिकर्णश्रयम् ॥ २८ ॥
 पर्वास्थिसंधिभेदश्च ये चान्ये वातजा गदाः ।
 ऊर्ध्ववातादयः सर्वे जायन्ते तेऽपतर्पणात् ॥ २९ ॥
 तेषां संतर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् ।
 यत्तदात्वे समर्थं स्यादङ्ग्यासे वा तदिष्यते ॥ ३० ॥
 सद्यः क्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।
 नर्ते सन्तर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुण्यति ॥ ३१ ॥
 देहाग्नि-दोष भैषज्य-मात्रा-कालानुवर्तिना ।
 कार्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्बले ॥ ३२ ॥
 हिता मासिरसास्तस्मै पर्याप्ति च धूतानि च ।
 स्नानानि वस्तयोऽभ्यङ्गस्तर्पणास्तर्पणाश्च ये ॥ ३३ ॥
 ऊर्ध्व-कास-प्रसक्तानां कृशानां मूत्रकृच्छ्रानाम् ।
 तृष्ण्यतामर्धवातानां हितं वक्ष्यामि तर्पणम् ॥ ३४ ॥
 शर्करा-पिण्पली-मूल-घृत-क्षीड्रैः समाशकैः ।
 सकूट्टिगुणितो वृष्यस्तेषां मन्थः प्रशस्यते ॥ ३५ ॥
 सकूट्वो मदिरा क्षीद्रं शर्करा चेति तर्पणम् ।
 पिवेन्माहस्तविष्मूत्रकफित्तानुलोमनम् ॥ ३६ ॥
 फाणितं सक्तवः सर्पिर्दधि-मण्डोऽम्ल-काञ्जिकम् ।
 तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नमुदावर्तहरं पिवेत् ।
 मन्थः खर्जूरमृद्दीका-वृक्षाम्लाम्लीक-दाढिमैः ।
 परूषकैः सामलवैर्युक्तो मदाविकारनुत् ॥ ३८ ॥
 स्वादुरग्लो जलकृतः सस्नेहो रुक्षत एव वा ।
 सद्यः संतर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णवलप्रदः ॥ ३९ ॥

सन्तर्पण से उत्पन्न रोगों की औषध कह दी, अब अपतर्पण को कहते हैं, तथा अपतर्पण जन्य रोग और उनकी औषध भी कहते हैं—अपतर्पण से ऊर्ध्व, कास एवं कास उम्बन्धी विकार, बल, कान्ति, ओज, शुक्र और मांस का क्षय, कर्णेन्द्रिय की निर्बंधता, उन्माद, प्रकाप, हृदय-पीड़ा, मल-मूत्र का अवरोध,

जंघा, ऊँठ और त्रिक (कटि के नीचे) प्रदेश में दर्द, पर्व, अस्थि और सन्धियों का दूटना, और अन्य बातजन्य रोग यथा ऊर्ध्ववात (वायु का ऊपर चढ़ना) आदि रोग अपतर्पण के कारण उत्पन्न होते हैं । अपतर्पण से उत्पन्न इन रोगों के लिये सन्तर्पण किया औषध है । सन्तर्पण किया दो प्रकार की है । यथा—सद्यः सन्तर्पण और अभ्यास (क्रमशः शनैः शनैः) सन्तर्पण । जो मनुष्य सहसा एकदम से क्षीण होता है, वह सद्यः सन्तर्पण किया से पुष्ट होता है और देर से क्षीण हुआ पुरुष विना अभ्यास जन्य सन्तर्पण के पुष्ट नहीं होता । जो पुरुष देर से निर्बल हो, उसमें शरीर जाठराग्नि, दोष, औषध बल, मात्रा और समय का विचार करके शान्ति से (जल्दा न करके) चिकित्सा करनी चाहिये । इस प्रकार के रोगी के लिये मांस, रस, दूष, धी, स्नान, वस्तियां, मर्दन, सन्तर्पण करने वाले मन्थ आदि प्रयोग करने चाहिये ।

ज्वर, काप के रोगियों के लिये, निर्बलों के लिये, मूत्रकृच्छ्र रोगियों के लिये, प्यास रोगबालों के लिये, ऊर्ध्ववात रोगियों के लिये, हितकारी तर्पण किया का उपदेश करते हैं—शर्करा, पिप्पलीमूल, धी और शहद ये समान भाग लेकर इन सब से दुगुना सत्तू लेकर मन्थ बनाये । सत्तू, मदिरा, शहद और शर्करा इनसे मन्थ तेयार करके वायु, मल, मूत्र के अनुलोमन (अधोमार्ग से बाहर करने के लिये) और कफ, विचा को अनुकूल करने के लिये प्रयोग करना चाहिये । फारित (राब) सत्तू, धी, दहिमण्ड और धान्याम्ल कांजी, इनसे बना मन्थ मूत्रकृच्छ्र नाशक और उदावर्त्त रोग को नष्ट करने वाला तर्पण है । खजूर, मुनक्का, इमली, कोकम, अनारदाना, फालसा और आंवला उनसे बना हुआ मन्थ मदिरा के विकार को नष्ट करता है । खट्टे और मीठे (अनारदाना) पदार्थों से पानी में बना और धी युक्त या विना धी के बना हुआ मन्थ सद्यः सन्तर्पण है और स्थिरता, वर्ण कानित और बल को देता है ॥ २६-३४ ॥

तत्र इलोकः—संतर्पणोत्था ये रोगा रोगा ये चापतर्पणात् ।

संतर्पणीये तेऽध्यायं सौषधाः परिकीर्तिवाः ॥ ४० ॥

सन्तर्पण और अपतर्पण से उत्पन्न जो जो रोग हैं उनको तथा उनकी औषध को इस सन्तर्पणीय अध्याय में कह दिया ॥ ४० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाबद्युत्कं

सन्तर्पणीयो नाम श्योविंशतित्रिमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो विधिशोणितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब विधिशोणितीय अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम् ।

देश-कालौक-सात्म्यानां विधिर्यः संप्रकाशितः ॥ ३ ॥

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बल-वर्ण-सुखायुषा ।

युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥ ४ ॥

देशसात्म्य, कालसात्म्य और अभ्याससात्म्य को जो विधि कही है उस विधि से मनुष्यों का जो रक्त उत्पन्न होता है, वह यदि विशुद्ध हो तो पुरुष को बल, वर्ण, सुख, आयु से युक्त करता है। क्योंकि प्राणियों के प्राण रक्त का अनुसरण करते रहते हैं ॥ ३-४ ॥

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णर्मद्येरन्यैश्च तद्विधेः ।

तथाऽर्ततिलवणक्षारेरम्लः कटुभिरेव च ॥ ५ ॥

कुलस्थ-माष-निष्पाव-तिल-तेल-निषेवणैः ।

पिण्डालुमूलकादीना हरितानां च सर्वशः ॥ ६ ॥

जलजानूपशैलानां प्रसहानां च सेवनात् ।

दध्यम्ल-मस्तु-शुक्कानां सुरासौबीरकस्य च ॥ ७ ॥

विरुद्धानामुपकिलज्जपूतीनां भक्षणेन च ।

भुक्त्वा दिवा प्रस्वपता द्रवस्तिं गधगुरुणि च ॥ ८ ॥

अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चाऽतपानलौ ।

छर्दि-वेग-प्रतीघातात्काले चानवसेचनात् ॥ ९ ॥

अमाभिघातसंतापैरजीर्णाच्यशनैस्तथा ।

शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति ॥ १० ॥

ततः शोणितज्ञा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः ।

रक्त दूषित होने के कारण—अपनी प्रकृति से विपरीत, बहुत तीक्ष्ण, बहुत गरम मत्ता अथवा इसी प्रकार के पानकादि (या अन्न से), बहुत नमक, शार-या खटाई से, कडुके रस से, कुलयी, उड्ढ, राजशिल्मी, तिळ, तैल के खाने से, पिण्डालु (कद ग्रन्थि, पांडरी रतालू, अरवी, शुईयाँ), मूळी, और हरे शाक

सन्धियों के खाने से, पानी में रहने वाले तथा जलीय प्रदेश में रहने वाले, तथा पर्वत पर रहने वाले और मांस खाने वाले पक्षियों (वाज़, चील) का मांस खाने से, खट्टी दही, मस्तु, शुक (कांजीमेद), सुरा, सौबोरक (कांजी मेद) के खाने से, विरुद्ध, सड़े, गले, दुर्गन्ध युक्त भोजनों के खाने से, भोजन करके दिन में सोने से, तरल, स्तिंघ और भारी पदार्थों के सेवन से, बहुत अधिक खाने से, क्रोध, धूप, और अग्नि के अधिक सेवन से, बमन के बेग को रोकने से, रक्त के दूषित होने के समय (शरतकाल) में रक्त का मोक्षण न करने से, परिश्रम से, चोट से, सन्ताप से, अजीर्ण (विना भोजन के पचे पुनः खाने) से, अध्यशन अर्थात् भोजन के जीर्ण हुए विना फिर भोजन करने से तथा शरत्काल में स्वभाव से ही रक्त दूषित हो जाता है । रक्त के दूषित होने से नाना प्रकार के रक्तजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ५-१० ॥

मुखपाकोऽक्षिरागश्च पूतिद्वाणास्यगन्धता ॥ ११ ॥

गुल्मोपकुश-वीसर्प-रक्तपित्त-प्रमीलकाः ।

विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् ॥ १२ ॥

वैवर्ण्यमनिनाशश्च पिपासा गुरुगात्रता ।

सन्तापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः दिग्सृश्च रुक् ॥ १३ ॥

विदाहश्चान्नपानस्य तिक्षाम्लेदूर्गिरणं क्लमः ।

क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लबणास्यता ॥ १४ ॥

स्वेदः शरीरदौर्गन्धयं मदः कम्पः स्वरक्षयः ।

तन्नानिद्रातियोगदृच तग्मसद्वचातिदर्शनम् ॥ १५ ॥

कण्ठरुक्कोठपिडकाः कुष्ठचर्मदलादयः ।

विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः ॥ १६ ॥

शीतोष्णस्तिंघरुक्षाद्यैरूपक्रान्तारुच ये गदाः ।

सम्यक् साध्या न सिद्ध्यन्ति रक्तज्ञस्तान्विभावयेत् ॥ १७ ॥

यथा मुखपाक, आंख की सूजन (आंख की लालिमा), नाक से बदबू, मुख का दुर्गन्ध, गुल्म, उपकुश, वीसर्प, रक्त पित्त, प्रमीलक, विद्रधि, रक्त प्रमेह, प्रदर, वातरक्त, विवर्णता, जाठराग्नि का नष्ट होना, प्यास, शरीर का भारीपन, सन्ताप, अतिनिर्बलता, अरुचि, घिर की दर्द, खान-पान का विदाह (अपचन), कदुची या खट्टी ढकार आना, निक्षियता, क्रोध की अधिकता, बुद्धिर्वश, मुख का नमकीनपन, पसीना आना, शरीर की दुर्गन्धता, मद, कम्पन, स्वरनाश, तन्नाना, निद्रा का अधिक आना और आंखों के सामने-

अन्धकार का अधिक आगा, लाज, कोठ, कुनियाँ, कुष्ठ, चर्मदल (चर्म कटने का विशेष रोग), ये सब रोग रक्त के आंत्रित होते हैं । जो रोग शीत, उष्ण, स्निग्ध, सूख आदि उपक्रमों (चिकित्सा) द्वारा भली प्रकार साध्य होने पर भी सिद्ध न हों तो इन रोगों का रक्तजन्य समक्षना चाहिये ॥ ११-१७ ॥

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम् ।

विरेकमुपवासं वा स्नावणं शाणितस्य वा ॥ १८ ॥

बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्धया रुधिरस्य वा ।

रुधिरं स्नावयेज्जन्तोराशयं प्रसमाक्ष्य वा ॥ १९ ॥

चिकित्सा—रक्तजन्य रोगों में रक्त-पित्तनाशक क्रिया करनी चाहिये अर्थात् विरेचन, उपवास, अथवा रक्त का मोक्षण करना चाहिये । बड़ की मात्रा और रक्तजन्य व्याधि के स्वरूप की मात्रा, जितने रक्त के निकालने से रक्त शुद्ध हो जाय इतने दूषित रक्त के स्थान को देखकर मनुष्य का रक्त (थोड़ा या बहुत) निकालना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

अरुणाभं भवेद्वाताद्विशदं फेनिलं तनु ।

पित्तात्पीतासितं रक्तं स्त्यायत्पौष्ट्याच्चिरेण च ॥ २० ॥

ईषत्पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद्धनम् ।

द्विदोषलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सात्रिपातिकम् ॥ २१ ॥

बायु से दूषित रक्त लाल रंग का, विशद स्वच्छ, ज्ञागदार पतला होता है । पित्त से दूषित रक्त पीला, काला, घन (सान्द्र), बहुत गरम और जड़ होता है । कफ से दूषित रक्त थोड़ा पीला, पिछिल, तन्तु (तांगे जैसा) और घन टोप होता है । दो दोषों के संसर्ग होने से दो दोषों के लक्षण होते हैं और तीन दोषों के मिलने से तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २०-२१ ॥

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालकक्षसंनिभम् ।

गुज्जाकलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शाणितम् ॥ २२ ॥

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नगनम् ।

तदा शरीरं ह्यवनस्थितासुगग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः ॥ २३ ॥

प्रसन्नवर्णं नद्यमिन्द्रियाथांनिच्छन्तमव्याहतपक्तुवेगम् ।

सुखान्वितं पुष्टिवलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ २४ ॥

तदा तु रक्तवाहीनि रससंक्षावहानि च ।

पृथक् पृथक् समस्ता वा स्नोतासि कुपिता मलाः ॥ २५ ॥

विशुद्ध रक्त का लक्षण—तपे हुए स्वर्ण (कुन्दन) के बमान, बीर-

बहुटी के रंग का, लाल कमल या माहवर (जिसे औरतें पैर के तलुओं पर लगाती हैं) के समान रंग, लाल रक्ती के रंग के समान विशुद्ध रक्त का रंग होता है । रक्त मोक्षण करने के उपरान्त न तो बहुत गरम और न बहुत ठण्डा, लघु एवं दीपक (अग्नि को बढ़ाने वाला), खान-पान सेवन करना चाहिये । रक्त मोक्षण होने से शरीर का रक्त अनवस्थित अस्थिर होता है (रक्त का वेग बहुत चंचल होता है), इसलिये अग्नि की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये, इसको मन्द नहीं होने देना चाहिये ।

विशुद्ध रक्तवाले पुरुष का लक्षण—जिस पुरुषका वर्ण कान्ति और इन्द्रियां निर्मल हों, इन्द्रियां अपने विषयों की हच्छा करें, जाठराग्नि का बल् तथा मल-मूत्र आदि की प्रवृत्ति विना रुक्कावट के हों, मनुष्य का मन आनन्द अनुभव करे, प्रसन्नता और बल दीखता हो, उस पुरुष का रक्त शुद्ध जानना चाहिये ॥२५॥

मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृत्तात्मनः ।

प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ २६ ॥

मद-मूर्च्छाय-संन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः ।

तथोत्तरं बलायिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ २७ ॥

दुर्बलं चेतसः स्थानं यदा वायुः प्रपद्यते ।

मनो विक्षोभयन् जन्तोः संज्ञां संमोहयेत्तदा ॥ २८ ॥

पित्तमेवं कफश्चेवं मनो विक्षोभयन्नाम् ।

संज्ञां नयत्याकुलतां विशेषश्चात्र वद्यते ॥ २९ ॥

सक्तानल्पद्रुताभावं चलस्खलितचेष्टितम् ।

विद्याद्वातमदाविष्टं रूक्षश्यावारुणाकृतिम् ॥ ३० ॥

सक्रोधपरुषाभावं संप्रहारकलिप्रयम् ।

विद्याद् पित्तमदाविष्टं रक्तपीतासिताकृतिम् ॥ ३१ ॥

स्वल्पसंबन्धवचनं तन्द्रालस्यसम्बन्धितम् ।

विद्यात्कफमदाविष्टं पाण्डुं प्रध्यानतत्परम् ॥ ३२ ॥

सर्वाण्येतानि रूपाणि सञ्जिपातकृते मदे ।

जायते शाम्यति त्वाशु मदो मद्यमदाकृतिः ॥ ३३ ॥

यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः ।

सर्वं एते मदा नर्ते वातपित्तकफत्रयात् ॥ ३४ ॥

मलिन आहार खाने वाले एवं रक्त और तम से आबृत मन वाले के कुपित वात, पित्त, कफ दोष पृथक् पृथक् या मिलकर रसवाही, रक्तवाही या संशावाही

खोतों को रोक लेते हैं, तब निम्न किलित रोग उत्पन्न होते हैं। यथा—मद, मूर्छा और संन्यास ये रोग होते हैं। इन तीनों दोषों के हेतु, लिङ्ग (लक्षण) और शान्ति, उपचार में उत्तरोत्तर बल की अधिकता रहती है। अर्थात् मद से अधिक मूर्छा में और मूर्छा से अधिक संन्यास में बल की अधिकता रहती है। जिस समय चेतना का स्थान हृदय निर्बल हो जाता है और यहां पर वायु का प्रकोप हो, तब वह मन को क्षोभित करके मनुष्य की संज्ञा (चेतना) को ढांप लेता है, पित्त और कफ ही मन का विक्षोभ उत्पन्न करके संज्ञा का नाश करते हैं। विशेष रूप से पृथक् पृथक् कहते हैं एक-एक कर (तुतलाकर) बोलना, बहुत बोलना, जल्दी-जल्दी बोलना, चलते हुये लङ्घवङ्गा करके गिरते-पड़ते चलना, चेहरे का रंग रुक्ता, काला, लाल सा होना, वातजन्य मद के लक्षण हैं। कोधयुक्त कठोर (गाली) वाणी बोलना, चांट या आघात करना, शगङ्गा करना, चेहरे का रंग लाल, पीला या काला होना, पित्तजन्य मद के लक्षण हैं। योङ्ग परन्तु समन्वय (पूर्वापर समन्वय) युक्त बोलना, तन्द्रा और आलस्य का होना, चेहरे का रंग धूसरवर्ण, एक ध्यान में मग्न होना ये कफजन्य मद के लक्षण हैं। सचिपातजन्य मद में तब दोषों के लक्षण मिलते हैं। मद्यजन्य मद में आकृति शराबी पुरुष के समान होती है और यह मद जल्दी चढ़ता है और जल्दी उत्तर जाता है। मद्यजन्य, विषजन्य, रक्तजन्य और दोषजन्य ये चारों प्रकार के मद, वात, पित्त, कफ को छोड़कर नहीं होते हैं ॥ २६-३४ ॥

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।

पश्यस्तमः प्रविशति शीश्वं च प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३५ ॥

वैपथुश्चाङ्गमर्देश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।

काश्यं इयावाऽरुणा छाया मूर्छाये वातसंभवे ॥ ३६ ॥

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा ।

पश्यस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुद्ध्यते ॥ ३७ ॥

सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः ।

संभिन्नवर्च्चाः पीताभो मूर्छाये पित्तरभवे ॥ ३८ ॥

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।

पश्यस्तमः प्रविशति चिराश्च प्रतिबुद्ध्यते ॥ ३९ ॥

गुरुभिः प्रावृत्तरङ्गैर्यथैवाऽद्रेण चर्मणा ।

सप्रसेकः सहङ्गासो मूर्छाये कफसंभवे ॥ ४० ॥

सर्वाकृतिः सचिपातादप्स्मार इवाऽगतः ।

स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितः ॥ ४१ ॥
दोषेषु मदमूर्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।
स्वयमेवोपशास्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ ४२ ॥
वारदेहमनमां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः ॥ ४३ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
प्राणैर्वियुड्यते शीघ्रं मुक्त्या सद्यःफलां क्रियाम् ॥ ४४ ॥

मूर्छा के लक्षण—आंखों के सामने आकाश नीला या काला अथवा लाल दीखता है, आंखों के सामने अन्धेरा आ जाता हो और मनुष्य मूर्छा से जल्दी ही सचेत हो जाय, शरीर में कम्पन और अंगों में पीड़ा हो, हृदय में बेदना का अनुभव हो, कृशता और छाया, मुख का वर्ण काला या लाल हो जाय, ये वातजन्य मूर्छा के लक्षण हैं । आकाश लाल पीला या हरा दिखाई दे, अन्धकार आता दिखाई दे और उठते समय शरीर पर पसीना, प्यास वा जड़न हो, आंखें लाल या पीली, व्याकुल दीखती हों, मल पतला (अतीसार), चेहरे का रंग पीला पड़ जाता है, ये पित्तजन्य मूर्छा के लक्षण हैं । आकाश बादलों से घिरा या अन्धकार से आवृत दिखाई दे, अन्धकार सामने आता दिखाई दे, मूर्छा से देर में जागृत हों, भारी तथा गीले कपड़े में शरीर ढपा प्रतीत होता हो, (शरीर जकड़ा एवं भारी), मुख से लार बढ़ना, बेचैनी, ये कफजन्य मूर्छा के लक्षण हैं । सञ्चिपात से सब दोषों के लक्षण होते हैं, अपस्मार के समान इसमें वेग आता है । इस रोग में बीभत्स चेष्टाओं (दांतों से काटना, हाथ पांव आदि फेंकने) के विना मनुष्य गिर पड़ता है । शरीरधारियों में जब मद-मूर्छा को उत्तर करने वाले दोषों का बल कम हो जाता है, तब ये रोग अपने आप शान्त हो जाते हैं, परन्तु 'संन्यास' रोग विना औषध के अच्छा नहीं होता । अर्ति बलवान् मल वातादि दोष, प्राणायतन (हृदय आदि) अवयवों का आश्रय करके, वाणी, शरीर और मन की क्रियाओं को एकदम से बन्द कर देते हैं, तब मनुष्य निर्बल, निष्क्रिय, क्रियारहित, लकड़ी के सामान निर्जीव होकर गिर पड़ता है । इस समय यदि ताल्कालिक फल देने वाली क्रियायें (अंजन, नस्य आदि) जल्दी न की जायें तो मनुष्य मर जाता है ॥ ३५-४४ ॥

दुर्गेऽम्भसि यथा मडजद्वाजनं त्वरया बुधः ।
गृहीयात्तचलमप्राप्तं तथा संन्यासपीडितम् ॥ ४५ ॥
अवज्ञान्यवपीडाश्च धूमः प्रधमनानि च ।

सूचीभिस्तोदनं शस्त्रैर्दीहः पीडा नखान्तरे ॥ ४६ ॥
लुञ्जनं केशलोप्त्रा च दन्तैर्दशनमेव च ।
आत्मगुप्ताववर्षश्च हितास्तस्यावबोधने ॥ ४७ ॥
संमूर्छितानि तीक्षणानि मद्यानि विविधानि च ।
प्रभूतकटुयुक्तानि॑ तस्यास्ये गालयेन्मुहुः ॥ ४८ ॥
मातुलुञ्जरसं तद्वन्महोषधसमायुतम् ।
तदृत्सोवर्चलं॒ दद्यायुक्तं मद्याम्लकाञ्जिके ॥ ४९ ॥
हिङ्गूषणसमायुक्तं यावत्संज्ञाप्रबोधनम् ।
प्रबुद्धसंज्ञमन्नैश्च लघुभिस्तमुपाचरेत् ॥ ५० ॥
विस्मापनैः स्मारणैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ।
वदुभिर्गीतवादित्रशब्देश्चित्रैश्च दर्शनैः ॥ ५१ ॥
संसनोल्लेखनैर्धूमैरञ्जनैः कवलप्रहैः ।
शोणितस्यावसेकैश्च व्यायामोद्घृषणैस्तथा ॥ ५२ ॥
प्रबुद्धसंज्ञं मतिमाननुबन्धमुपकर्मेत् ।
तस्य संरक्षितव्यं हि मनः प्रलयद्वृतुतः ॥ ५३ ॥

गहरे पानी में ढूवते हुए वर्तन को बुद्धिमान् मनुष्य जिस प्रकार तभी में यहुंचने से पूर्व ही पकड़ने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार सन्यास रोगों की गिरने से पूर्व चिकित्सा करनी चाहिये । इसके लिये अंजन (आंखों में), अवपीडन (नासिका में औषधियों का रस डालना), नाक से धूम्रपान, प्रधमन (नाक में फुक्तार से औषध पहुंचाना), सुई चुमोना, शब्द आदि को गरम करके दाह करना, नखों में सुई, पिन आदि चुमोना, गिर या शरीर के बांधों या लोमों को खीचना, दांतों से काटना, कौंच की फली का शरीर पर मलना, ये कर्म रोगी को चेतन करने के लिये हितकारी हैं । नाना प्रकार के तीक्ष्ण, मूर्च्छित एवं कटु द्रव्य युक्त मद्य रोगी के मुंह में ढालने चाहिये । सोठ में मिलकर बिजौरे निष्ठु का रस, या मद्य और खट्टी कांजी में सौंचल मिलाकर वा हींग और सोठ मिरच, पिप्पली इनको मिलाकर देवे, जबतक मनुष्य चेतन हो । चेतन होने पर हल्का भोजन देना चाहिये । चामत्कारिक बातों को सुनाना, पिछली बातों को याद कराना, मन पसन्द कहानो कहना, बढ़िया गाना-बजाना सुनाकर, सुन्दर सुन्दर चित्रों को दिखाकर, विरेचन, वमन, धूम्रपान, अङ्गन, कवल अथात् सुञ्ज में औषध या गोली को रखकर, रक्त मोक्षण, व्यायाम कराके, अंगों के मर्दन से निरन्तर मनुष्य को जागत । चेतन रखने का यत्न करना

१. तिक्तानीति च पाठः ।

२. सांबोरकमिति च पाठः ।

चाहिये । रोगी के मन को मोहित (मूच्छ उत्पन्न) करने वाले कारणों से बचा कर रखना चाहिये ॥ ४५-५३ ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नानां यथादोषं यथाबलम् ।

पञ्च कर्माणि कुर्वीत मूच्छायेषु मदेषु च ॥ ५४ ॥

अष्टाविंशत्यौषधस्य तथा तिक्तस्य सर्पिषः ।

प्रयोगः शस्यते तद्रूपमहतः पट्पलस्य वा ॥ ५५ ॥

त्रिफलायाः प्रयोगो वा सघृतक्षौद्रज्ञर्करः ।

शिलाजतुप्रयोगो वा प्रयोगः पयसोऽपि वा ॥ ५६ ॥

पिप्पलीनां प्रयोगो वा प्रयोगश्चित्रकस्य वा ।

रसायनानां कौम्भस्य सर्पिषो वा प्रशस्यते ॥ ५७ ॥

रक्तावसेकाच्छास्त्राणां सतां सत्त्वबतामपि ।

सेवनान्मदमूच्छायाः प्रशास्यन्त शरीरिणाम् ॥ ५८ ॥ इति ॥

मूर्छा और मद रोगों में बल एवं दोष के अनुसार स्वेदन देकर पांछे से बमन, विरेचन, शिरोविरेचन (नस्य), आस्थापन और अनुवासन रूपी पंचकर्म करने चाहिये । उन्माद चिकित्सा में कहे 'पानीय कल्याण घृत' (अष्टाईस दवाइयां), महातिक्त घृत या मदागत्पल घृत (कुष्ठ रोग में) का पान करना उत्तम है । धी, शहद और शर्करा के साथ त्रिफला का प्रयोग करना, अथवा दूध के साथ शिलाजीत का प्रयोग करना, दूध के साथ पिप्पली चूर्ण या चीतामूल का प्रयोग करना, रसायनों तथा दस वर्ष पुराने मटके में रखके हुए धी का प्रयोग करना उत्तम है । रक्त मोक्षण, वेद आदि सत् शास्त्रों का पढ़ना, सज्जन, सत्त्वगुणी, तपत्वी पुरुषों का सत्तंग मद मूच्छा रोग को शान्त करते हैं ॥ ५४-५८ ॥

तत्र इलोको—विशुद्धं चाविशुद्धं च शोणितं तस्य हेतवः ।

रक्तप्रदोषजा रोगास्तेषु रोगेषु चौषधम् ॥ ५९ ॥

मद-मूच्छाय-संन्यास-हेतु-लक्षण-भेषजम् ।

विधिशोणितकेऽध्याये सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ६० ॥

शुद्ध या अशुद्ध रक्त, इनके कारण, रक्त प्रदोष से उत्पन्न होने वाले रोग, इनकी औषध, मद, मूच्छाय, संन्यास रोगों के कारण लक्षण और औषध, ये सब विषय इस 'विधिशोणित' अध्याय में कह दिये ॥ ५९-६० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्ने चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने योजनाचतुरुषे

विधिशोणितीयो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो यज्ञः पुरुषीयमध्यायं व्याख्यास्त्रामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'यज्ञः पुरुषीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवन् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पुरा प्रत्यक्षधर्माणं भगवन्तं पुनर्वसुम् ।

समेतानां महर्षीणां प्रादुरासीदियं कथा' ॥ ३ ॥

आत्मेन्द्रियमनोर्धानां याऽयं पुरुषसंज्ञकः ।

राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये ॥ ४ ॥

अथ काशिपतिर्वाक्यं वामकोऽर्थवदन्तरा ।

व्याजहारर्बिसमितिमभिस्त्रुत्याभिवाय च ॥ ५ ॥

किं तु स्यात् पुरुषो यज्ञस्तज्जास्तस्याऽमयाः स्मृताः ।

न वेत्युक्ते न रेन्द्रेण प्रोवाचर्षान् पुनर्वसुः ॥ ६ ॥

सर्व एवामित-ज्ञान-विज्ञान-चिछन्न-संशयाः ।

भवन्तश्छेत्तुर्महन्ति काशिराजस्य संशयम् ॥ ७ ॥

धर्म के प्रत्यक्ष किये हुए महर्षि आत्रेय एक बार महर्षियों के साथ मिलकर बातचीत करने लगे कि—'आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय' इन से युक्त जो 'पुरुष' बनता है इसकी तथा रोगों की उत्पत्ति किस प्रकार और कहाँ से होती है? इस प्रसंग में काशि के राजा वामक श्रुष्टिसभा के सन्मुख अभिवादन करके बोलने लगे—हे भगवन्! जिन कारणों से पुरुषों की उत्पत्ति होती है, उन्हीं कारणों से रोग उत्पन्न होते हैं, यह मानना संगत है या नहीं? अर्थात् पुनर्वसु ने कहा कि—हे महर्षियों! तुम सब अपार ज्ञान रखते हो, विज्ञान से तुम्हारे सब सन्देह मिट चुके हैं। आप लोग इन काशिपति के सन्देह को दूर करें ॥ ७ ॥

पारीक्षिस्तप्तरीक्ष्याग्रे मौद्गल्यो वाक्यमब्रवीत् ।

आत्मजः पुरुषो रोगाश्चाऽत्मजाः कारणं हि सः ॥ ८ ॥

स चिनोत्युपभुज्जृके च कर्म कर्मफलानि च ।

नहोते चेतनाधातोः प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ ९ ॥

पारीक्षि मौद्गल्य कहने लगे कि—पुरुष आत्मा से उत्पन्न होता है और रोग भी आत्मा से ही होते हैं। वही आत्मा आहार-विहारादि कर्मों का

१. महर्षय उपासीना प्रादुर्भकुरिमां कथार्मित वा पाठः ।

करता है और इसीसे आरोग्यता या रोग रूपी कर्मफलों का भोग करता है। क्योंकि 'चेताना धातु' आत्मा के बिना सुख दुःख के हेतु रूप आरोग्यता या व्याधि नहीं हो सकती ॥ ८-६ ॥

शरलोमा तु नेत्याह न ह्यात्माऽत्मानमात्मना ।
योजयेद् व्याधिभिर्दुर्खैर्दुर्खद्वेषी कदाचन ॥ १० ॥
रजस्तमोऽर्या तु मनः परीतं सत्त्वसंज्ञकम् ।
शरीरस्य समुत्पत्तौ विकाराणां च कारणम् ॥ ११ ॥

शरलोमा श्रूषि बोले—यह ठीक नहीं। क्योंकि आत्मा स्वभाव से दुःखों से द्वेष रखने वाला 'आनन्दमय' है। इसलिये आस्मा अपने आपको व्याधियों के कष्टों से युक्त नहीं करेगा। बास्तव में, 'सत्त्व' नामक मन के साथ रज और तम गुण मिलकर पुरुष और रोग दोनों को ही उत्पन्न करते हैं ॥ १०-११ ॥

वायोविदस्तु नेत्याह नहोकं कारणं मनः ।
नते शरीरं शारीररोग न मनसः स्थितः ॥ १२ ॥
रसजानि तु भूतानि व्याधयश्च पुथग्विधाः ।
आपो हि रसवत्यस्ताः स्मृता निर्वृत्तिहेतवः ॥ १३ ॥

वायोविद श्रूषि बोले—यह ठीक नहीं है कि अकेला मन ही इनकी उत्पत्ति में कारण है। क्योंकि शरार के बिना न तो शारीरिक रोग हो सकते हैं और न मन ही रह सकता है। इसलिये आणियों की उत्पत्ति में कारण रस है और 'रस' से ही सब नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। रस का उत्पत्ति का जल ही इनकी उत्पत्ति का कारण है ॥ १२-१३ ॥

हिरण्याक्षस्तु नेत्याह न ह्यात्मा रसजः स्मृतः ।
नातीन्द्रियं मनः सन्ति रोगाः शब्दादिजास्तथा ॥ १४ ॥
षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा ।
राशिः षड्धातुजं हेष सांस्यैराद्यैः प्रकीर्तिः ॥ १५ ॥

हिरण्याक्ष श्रूषि बोले—कि नहीं, यह ठीक नहीं, आत्मा रसजन्य नहीं है, आत्मा और मन अतीन्द्रिय हैं। (कुछ रोग) भी शब्दादि (अतिशेष अयोग, मिथ्यायोग) से उत्पन्न होते हैं। जो कि रसजन्य नहीं। बास्तव में पुरुष छः धातुओं (आत्मा और पृथ्वी अप, तेज, वायु एवं आकाश) से उत्पन्न होता है, रोग भी इन्हीं छः धातुओं से पैदा होते हैं। सांख्य दर्शन का सिद्धान्त भी है कि 'छः धातुओं के समूह का नाम पुरुष' है ॥ १४-१५ ॥

तथा ब्रुवाणं कुशिकमाह उभ्रेति शौनकः ।
कस्मान्मातापितृभ्यां हि विना षडधातुजो भवेत् ॥ १६ ॥
पुरुषः पुरुषाद् गौर्गोरश्चादश्चः प्रजायते ।
पैत्र्या मेहादयश्चोक्ता रोगास्तावत्र कारणम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार कहते हुए कुशिक (हिरण्याक्ष) को शौनक ने कहा कि—
माता पिता के विना छः धातु कैसे हो सकते हैं ? पुरुष से, पुरुष गौ से गाय,
और घोड़े से घोड़ा उत्पन्न होता है और माता पिता के प्रमेहादि रोग पुत्र में
आते हैं, इसलिये रोगों और पुरुषों की उत्पत्ति में कारण माता-पिता ही हैं ॥ १७ ॥

भद्रकाप्यस्तु नेत्याह नहान्धोऽन्धात्प्रजायते ।
मातापित्रोरपि च ते प्रागुत्पत्तिर्न युज्यते ॥ १८ ॥
कर्मजस्तु मतो जन्तुः कर्मजास्तस्य चाऽमयाः ।
नहृते कर्मणो जन्म रोगाणां पुरुषस्य च ॥ १९ ॥

भद्रकाप्य श्रूषि बोले—यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्धे माता-पिता से पुत्र
अन्धा उत्पन्न नहीं होता । माता-पिता की उत्पत्ति से पूर्व पुरुष का और रोग
का होना असम्भव होता है । इसलिये कर्म से ही पुरुष उत्पन्न होता है और
कर्म से ही रोग उत्पन्न होते हैं । कर्म के विना न तो पुरुष का और न रोगों का
जन्म हो सकता है ॥ १८-१९ ॥

भरद्वाजस्तु नेत्याह कर्ता पूर्वं हि कर्मणः ।
हृष्टं न चाङ्गतं कर्म यस्य स्यात्पुरुषः फलम् ॥ २० ॥
भावहेतुः स्वभावस्तु व्याधीनां पुरुषस्य च ।
खरद्रवचलोष्णत्वं तेजोन्तानां यथेव हि ॥ २१ ॥

भरद्वाज श्रूषि बोले कि—कर्म से पश्चिले कर्ता है । विना कर्मों के किये
हुए कर्म का फल नहीं देखा जाता । प्रथम कर्म होने से फल होता है, इसलिये
प्रथम कर्म होना चाहिये, जिसके फलस्वरूप पुरुष उत्पन्न होना चाहिये । कर्म
को करने के लिये कर्ता (पुरुष) आवश्यक है । इसलिये मनुष्य और रोग की
उत्पत्ति में कारण ‘स्वभाव’ हो है । जित प्रकार पृथ्वी, अप, बायु और अग्नि
में खरत्व (खरखरापन) द्रवत्व (तरलता), चलत्व (गति) और उष्णत्व
(गरमी), स्वभाव से ही होता है ॥ २०-२१ ॥

काङ्क्षायनस्तु नेत्याह नहारम्भ फलं-भवेत् ।
भवेत्स्वभावाद्वावानामसिद्धिः सिद्धिरेव वा ॥ २२ ॥

स्थात्वमितसंकल्पो ब्रह्मापत्यं प्रजापतिः ।

चेतनाचेतनस्थाप्त्य जगतः सुखदुःखयोः ॥ २३ ॥

कांक्षायन शूषि बोले—यह ठीक नहीं। यदि स्वभाव से ही रोग और पुरुषों की सिद्धि और अविद्धि होती हो, तो आरम्भ अर्थात् लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध यज्ञ, कृषि, पढ़ाना, पढ़ना आदि कार्य निष्प्रयोजन होजायें। इस सुख-दुःख को बनाने वाला एवं चेतन तथा अचेतन जगत् का कर्ता अनन्त संकल्प वाला, ब्रह्मा का पुत्र प्रजापति है ॥ २२-२३ ॥

तन्नेति भिष्णुरात्रेयो नहापत्यं प्रजापतिः ।

प्रजाहितैषी सततं दुःखैर्युज्यादसाधुवत् ॥ २४ ॥

कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चाऽमयाः ।

जगत्कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥ २५ ॥

भिष्णुरात्रेय बोले—यह ठीक नहीं है। यह संसार प्रजापति से (पुत्र रूपेण) उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि प्रजा की मंगलकामना करने वाला प्रजापति, संतान से देव करने वाले की भाँति किस प्रकार से दुःखों को देता, अपनी संतान को दुःखी करता, वास्तव में पुरुष काल से उत्पन्न होता है और रोग भी काल से ही उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण जगत् काल के बश में है और सब जगह काल ही कारण है ॥ २४-२५ ॥

तथर्थीणां विवदतामुवाचेदं पुनर्वसुः ।

मैवं बोचत तत्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्यात् ॥ २६ ॥

वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव ।

पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिळपीडकवद् गतौ ॥ २७ ॥

मुक्त्वैवं वादसंघटमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।

नाविधूततमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥ २८ ॥

येषामेव हि भावानां संपत्संजनयेन्नरम् ।

तेषामेव विपद्व्याधीन् विविधान् समुदीरयेत् ॥ २९ ॥

इस प्रकार शूषिमण्डल में विवाद चलते हुए देख कर पुनर्वसु शूषि बोले कि इस प्रकार एक पक्ष को लेकर वादविवाद करते जाओगे तो किसी निश्चित तत्त्व को नहीं पहुंच सकोगे। जिस प्रकार तैल के कोल्हू (चरखी) पर बैठा हुआ मनुष्य चारों ओर अनन्त काल तक धूमता रहता है, परन्तु किसी निश्चित दिशा या स्थान पर नहीं पहुंचता। इस लिये इस वादविवाद को खोड़ कर मत-लब की बात सोचो। अन्वक्तव्यस्थूल को नष्ट किये बिना शात्रव्य विषय में ज्ञान

नहीं शाप्त होता । जिस प्रकार के गुणों से पुरुष उत्पन्न होता है उसी प्रकार के अप्रशस्त गुणों से रोग उत्पन्न होते हैं । पांच महाभूतों से पुरुष उत्पन्न होता और इन्हीं महाभूतों से वात, पित्त, कफ, (रोगों के कारण) बनते हैं ॥२६-२८॥

अथात्रयस्य भगवतो वचनमनुनिश्चय पुनरेव वामकः काशिपति-रुवाच भगवन्तमात्रेयं—भगवन् ! संपन्निमित्तज्ञस्य पुरुषस्य विपन्निमि-त्तजानां च रोगाणा किमभिवृद्धिकारणमिति ॥ ३० ॥

आत्रेय ऋषि के वचन सुन कर फिर काशिपति वामक कहने लगे । हे भगवन् ! प्रशस्त गुणों से उत्पन्न पुरुष की ओर अप्रशस्त गुणों से उत्पन्न रोगों की वृद्धि करने वाले कौन से कारण हैं ? ॥३०॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—हिताहारोपयोग एक एव पुरुषस्याभिवृ-द्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्यधीनां निमित्तमिति ॥३१॥

वामक ऋषि को भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया । हितकारी वस्तुओं का आहार रूप में उपयोग करना ही पुरुष की वृद्धि में अकेला कारण है । अहित-कारी वस्तुओं का सेवन करना ही रोगों की वृद्धि में एकमात्र कारण है ॥३१॥

एवंचादिनं भगवन्तमात्रेयमनिवेश उवाच—कथमिह भगवन् ! हिताहितानामाहारजातानां लक्षणमनपवादमभिजानीयात्, हितस-माख्यातानां चैव शाहारजातानामहितसमाख्यातानां च मात्राकालक्रि-यामूमिदेहदोषपुरुषावस्थान्तरेषु विपरीतकारित्वमुपलभामहे ॥३२॥ हति

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय ऋषि को अनिवेश ने पूछा—हे भगवन् ! किस प्रकार से हितकारा या अहितकारी आहार रूप पदार्थों को बिना दोष (अपवाद) के जान सकते हैं । क्योंकि हितकारी पदार्थ एवं अहितकारी पदार्थ मात्रा, काल, क्रिया (संस्कार), भूमि, देश, दोष और पुरुष मेद से विपरीत, विशद गुण वाले हितकारी पदार्थ अहितकारी, और अहितकारी पदार्थ हितकारी बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—यदाहारजातमनिवेश ! समाश्वैव शरीर-धातूत् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्वितं विद्धि, विप-रीतमहितमिति; एतद्विताहितलक्षणमनपवादं भवति ॥ ३३ ॥

अनिवेश को भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया—हे अनिवेश जो भोजन (आहार के पदार्थ) शरीर के सम धातुओं को प्रकृति अर्थात् समानावस्था में रखता है और विषम धातुओं को सम करता है वह हितकारी है । इसके विपरीत पदार्थ अहितकारी हैं, हित और अहित पदार्थों का यह लक्षण दोषशूल्य है ॥ ३३ ॥

एवं वादिनं च भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन् ! न त्वे-
तदेव मुपदिष्टं भूयिष्ठ कल्पाः सर्वभिषजो विज्ञास्यन्ति ॥ ३४ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—येषां विदितमाहारतत्त्वमग्निवेश ! गुणतो
द्रव्यतः कर्मतः सर्वावयवतश्च मात्रादयो भावाः, त एतदेव मुपदिष्टं
विज्ञातु मुत्सहन्ते । यथा तु खल्वेतदुपदिष्टं भूयिष्ठ कल्पाः सर्वभिषजो
विज्ञास्यन्ति, तथैतदुपदेक्ष्यामो मात्रादीन् भावानुदाहरन्तः । तेषां
हि धृविधिविकल्पा भवन्ति । आहारविधिविशेषांस्तु खलु लक्ष-
णतञ्चावयवतश्चानुव्याख्यास्यामः ॥ ३५ ॥

तथा—आहारत्वमाहारस्यैकविधमर्थाभेदात् ; स पुनर्द्वयोनिः,
स्थावरजड्डमात्मकत्वात् ; द्विविधप्रभावो हिताहितोदर्कविशेषात् ;
चतुर्विधोपयोगः पानाशन-भक्ष्य-लेशोपयोगात् ; षडास्वादो रसभेदतः
षड्विधत्वात् ; विशतिशुणो गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रुक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-
स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-स्लक्षण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-
द्रवा-नुगमात् ; अपरिसंख्येयविकल्पो द्रव्य-संयोग-करण-बाहुल्यात् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार कहते हुए आत्रेय शूष्मि को अग्निवेश बोले—इतना कह देने
से सब वैद्य सब बातों को नहीं समझ सकेंगे । अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने
कहा—कि जिन वैद्यों को आहारयोग्य पदार्थ गुण, (गुरु लघु आदि) कारण
(यह आप्य है, यह आश्रेय है इत्यादि), कर्म (यह जीवनीय, यह वृंदणीय
इत्यादि) सब अवयव २ (रस, वीर्य, विपाक प्रभाव से), मात्रा एवं पुरुष
की अवस्था का ज्ञान होगा वे ही इतने (ऊपर कहे हुए) उपदेश से समझ
सकते हैं । जिस प्रकार कहने से सब वैद्य सम्पूर्ण रूप में जान सकेंगे, उसी
प्रकार से मात्रा आदि वस्तुओं को उदाहरण के साथ कहेंगे । इनके बहुत
से मैद होते हैं । आहार की जो विशिष्ट विधि है, उसको प्रथम साधारण
रूप में कहकर फिर विभाग पूर्वक कहेंगे । यथा—आहारत्व (खाद्यत्व) गुण
समान होने से सम्पूर्ण आहार एक प्रकार का है, क्योंकि अर्थ में कोई मैद नहीं
है । इस आहार के दो उत्पत्ति स्थान हैं, स्थावर और जंगम । इस आहार के
दो प्रकार के प्रभाव हैं, एक हितफलजनक और दूसरा अहितफलजनक । इस
आहार का चार प्रकार से उपयोग होता है । यथा—पान (पीना), अशन
(दाँतों से काटकर खाना), भस्य (चबाना) और छेष (चाटने) के उपयोग
से । इस आहार के छः स्थावर होने से यह रस मैद से छः प्रकार का है, क्योंकि
रस छः प्रकार के हैं । इस आहार के गुण बीस प्रकार के हैं । यथा—गुरु, लघु,

शीत, उष्ण, स्तिरं, रुक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिण्डितः
श्लण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र, द्रव मेद से । द्रव्य (शूक्रधान्यादि), संयोग
(खाद्य पदार्थों का मिश्रण), करण (संस्कार) मेद से आहार-द्रव्य असंख्य
प्रकार का हो जाता है ॥ ३४-३६ ॥

तस्य खलु ये ये विकारावयवा भूयिष्ठमुपयुज्यन्ते, भूयिष्ठकल्पानां
च मनुष्याणां प्रकृत्यैव हिततमाइचाहिततमाइच, तांस्तान्यथावदनु-
व्याख्यास्यामः ॥ (१)

तद्यथा-लोहितशालयः शूक्रधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमा भवन्ति,
मुद्रगः शमीधान्यानां, आन्तरिक्षमुद्रकानां, सैन्यवं लबणानां, जीवन्ती-
शाकं शकानां, ऐयेयं मृगमांसानां, लावः पक्षिणां, गोधा बिलेशयानां,
रोहितो मत्स्यानां, गर्थं सर्पिणां, गोक्षीरं क्षीराणां, तिलतंलं स्थावरजा-
तानां स्लेहानां, वराहवसा आनूपमृगवसानां, चुलुकोवसा मत्स्यवसानां,
पाकहंसवसा जलचरविङ्गवसानां, कुकुटवसा विष्किरशकुनिवसानां,
अजमोदः शाखादमेदसां, शृङ्गवेरं कन्दानां, मृद्गीका फलानां, शर्करा
इक्षुविकाराणामिति प्रकृत्यैव हिततमानामाहारविकाराणां प्राधान्यतो
द्रव्याणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ (२)

प्रायः करके जो जो आहार पदार्थ हितकारी और अहितकारी कहे जाते हैं
और बहुत अधिक व्यवहार में आते हैं, उन पदार्थों का यहां वर्णन करते हैं ।
जैसे—लाल चावल शूक्रधान्यों में सबसे अधिक हितकारी (श्रेष्ठ) है । मूंग
शमीधान्यों में, बरसात का पानी सब पानियों में, सेंधा नमक सब नमकों में,
जीवन्ती का शाक सब शाकों में, मृग का मांस सब पशुओं के मांसों में, बटेर
सब पक्षियों में, गोधा (गोह) बिल में रहने वाले जन्तुओं में, रोहित मत्स्य सब
मछलियों में, गौ का धी सब धी में, गाय का दूध सब दूधों में, तिल का तेल
स्थावरजन्य सब स्नेहों में, बराह की चर्बी सब जलचर प्राणियों की चर्बियों में,
चुलुकी (शुशु) मछली की चर्बी सब मछलियों की चर्बियों में, सफेद हंस की
वसा सब जलचर पक्षियों की वसा में, मुर्गे की चर्बी बिलेर कर खाने वाले सब
पक्षियों में, बकरी का मेद शाखा या टहनी खाने वाले पशुओं की मेदों में,
अदरख सब कन्दों अर्थात् भूमि में रहने वाले फलों में, किशमिश सब फलों
में, शकर गड्ढे के रस से बनी सब वस्तुओं में श्रेष्ठ है । ये भोज्य पदार्थों में
सभाव से हितकारी द्रव्य कह दिये हैं ॥

अतः ऊर्ध्वमहितानप्युपदेश्यामः—यथकाः शूक्रधान्यानामपद्धयत्के

प्रकृष्टतमा भवन्ति, माषाः समीधान्यानां, वर्षीनरेयमुदकानां, औषरं
लब्धानां, सर्षपशाकं शाकानां, गोमासं भृगमासानां, काष्ठकणोऽः
पक्षिणा, भेको विलेशयानां, बिलिचिमो मत्स्यानां, आविकं सर्पिंः
अविक्षीरं क्षीराणां, कुसुमभरनेहः स्थावरस्तेहानां, महिषबसा आनूपमृग-
बसानां, कुम्भीरवसा मत्स्यबसानां, काकमदूगुवसा जलचरविहङ्गव-
सानां, चटकवसा विक्षिरशकुनिवसानां, हस्तिमेदः शाखादमेदसां,
लिकुचं फलानां, आलुकं कन्दानां, फाणितमिक्षुविकाराणाम्.—इति प्रकृ-
त्यं अहिततमानामाहारविकाराणा प्रकृष्टतमानि द्रव्याणि व्याख्यातानि
भवन्ति—इति हिताहितावयवो व्याख्यात आहारविकाराणाम्॥ ३७ ॥

अब इसके अनन्तर अहित पदार्थों का उपदेश करेंगे—यवक (जई,
जत्री) शूक-धान्यों में सबसे अपथ एवं अति निन्दित है। माष (उड्ड)
शमो-धान्यों में, बरसात में नदियों का पानी सब पानियों में, ऊसर देश में
उत्पन्न नमक सब नमकों में, सरसों का शाक सब शाकों में, गाय का मांस सब
पशुओं के मांसों में, छोटा कवूत्र सब पक्षियों में, मेंढक विल में रहने वालों में,
चिलचिम मत्स्य सब मछलियों में, मेड़ का धी सब धीयों में, भेड़ का दूश सब
दूधों में, कुसुमभ का तेल सब स्थावर तैलों में, मैंस की चर्बी सब जलीय देश
के पशुओं की चर्बियों में, कुम्भीर मछली की वसा सब मछलियों की वसा में,
पानी के कौवे (पनकवा) की चर्बी सब जलचर पक्षियों में, कारण्डव (पनडुब्बी
हंसमेद) की चर्बी सब जलचारी पक्षियों की चर्बियों में, हाथी की चर्बी शाखा
खानेवाले सब पशुओं में, लिकुच, (बड़हल, छो) सब प्रकार के फलों में,
आलू सब कन्दों में, राब गन्ने से बने सब विकारों में, चिहिया की चर्बी बिल्लेर
कर खाने वाले सब पक्षियों की चर्बियों में निन्दित हैं। ये भोज्य पदार्थों में
स्वभाव से ही हितकारी एवं निन्दनीय द्रव्य कहे गये हैं॥ ३७ ॥

अतो भूयः कर्मैषधानां च प्राधान्यतः सानुवन्धानि च द्रव्याण्यनु-
व्याख्यास्यामः। तद्यथा—अज्ञं घृतिकराणां ओष्ठं, उदकमाश्वासकराणां,
मुरा श्रमहराणां, क्षीरं जीवनीयानां, मासं वृहणीयानां, रसस्तर्पणीवानां,
लब्धणमन्त्रद्रव्यरुचिकराणां, अम्लं हृष्यानां, कुकुटो बल्यानां, नक्खेषो
वृद्धयाणां, मधु इलेघपित्तप्रशमनानां, सर्पिवर्तपित्तप्रशमनानां, तैङ्ग-
कातश्लेष्मप्रशमनानां, बमनं श्लेष्महराणां, विरेचनं पित्तहराणां, श्वित-
र्वातहराणां, स्वेदो मार्दवकराणां, व्यायामः स्थैर्यकराणां, श्वासं वृद्धदोष-
शातिनां, विन्दुकृत्तमनलद्रव्यरुचिकराणां, आसं कमित्यमन्त्रयानां, आ-

विकं सर्विहृष्टानां, अजास्तीरं शोषण-सत्य-सात्त्व-नोक्तन-रक्त-सांगा-हिक्त-रक्त-पित्त-प्रशमनानां, अविक्षीरं इलेष्मपित्तोषचयकरणां, महिषी-स्तीरं स्वप्नजननानां, मन्दकं दृष्ट्यभिष्यन्दकरणां, गवेषुकान्नं कर्षणीया-नां, उद्धालकान्नं रुक्षणीयानां, इष्टुर्मूत्रजननानां, यथाः पुरीषजननानां, जाम्बवं वातजननानां, शष्कुल्यः इलेष्मपित्तजननानां, कुलस्था अम्ल-पित्तजननानां, माषाः इलेष्मपित्तजननानां, मदनफलं वमनास्थापनानु-वासनोपयोगिनां, त्रिवृत्सुखविरेचनानां, चतुरकुलं मृदुविरेचनानां, स्नुकृपयस्तीक्ष्णविरेचनानां, प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानां, विडङ्गं क्रिमिडनानां, शिरीषो विषधनानां, स्वतिरः कुष्ठग्रानां, रास्ना वातहराणां, आमल्कं वयःस्थापनानां, हरीतकी पथ्यानां, एरण्डमूलं वृष्यवास-हराणां, पिप्पलीमूलं दीपनीय-पाचनीयानाह-प्रशमनानां, चित्रकमूलं दीपनीय-पाचनीय-गुदशूलशोथार्थो-हराणां, पुष्करमूलं हिका-श्वास-कास-पाईश-शूलहराणां, मुस्तं संग्राहक-दीपनीय-पाचनीयानां, उदीच्यं निर्बाप-णीय-दीपनीय-पाचनीय-च्छर्द्यतीसार-हराणां, कटवङ्गं संग्राहक-दीपनीय-पाचनीयानां, अनन्ता संग्राहक-दीपनीय-रक्त-प्रशमनानां, अमृता संग्रा-हक-वातहरदीपनीय-इलेष्म-शोणित-विवन्ध-प्रशमनानां, खिल्वं संग्राहक-दीपनीयवात-कफ-प्रशमनानां, अतिविषा दीपनीय-पाचनीय-संग्राहक-सर्व-दोष हराणां, उत्पल-कुमुद-पद्म-किञ्चलकं संग्राहक रक्त-पित्त-प्रशमनानां, दुराळमा पित्त-इलेष्म-पित्त-रक्त-संग्राहकोपशोषणानां, काइमर्यफलं रक्तसं-प्राहक-रक्त-पित्त-प्रशमनानां, त्रिश्नपर्णी संग्राहक-वातहर-दीपनीय-वृद्ध्या-णां, विदारिगन्धा वृद्ध्यसर्वदोषहरणां, बल्ला संग्राहक-बल्य-वात-हराणां, गोम्बुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहरणां, हिङ्कुनिर्वासश्वेदनीय-दीपनीय-भेदनी-यानुलोभिक-वात-कफ-प्रशमनानां, अम्लवेतसो भेदनीय-दीपनीयानुलोभि-क-वात-इलेष्म-प्रशमनानां, यावशः क्षसनीय-पाचनीयार्थोऽनानां, तक्रा-भ्यासो ग्रहणी-दोषार्थो-घृत-च्यापत्प्रशमनानां, क्रन्याद-मास-रसायनसो ग्रहणी-दोष-शोषार्थोऽनानां, घृतक्षीराभ्यासो रसायनानां, समघृतशकुप्रा-शश्वयासो वृद्ध्यवेदावर्तहरणां, तैलगण्डूषश्वयासो दन्त-बल-हस्ति-करणां, चन्दनोक्तमर्दं दाहनिर्बापिणालेपनानां, रास्नागुरुणी शीतापक्यन-प्रछेत-नानां, लामज्जकोशीरे दाहत्वगदोषस्वेदापनयप्रलेपनानां, कुष्ठं वातहराण्ड-ज्ञेपनान-जोगिनां, गङ्गुकं चक्षुष्य-वृद्ध्य-केष्य-कण्ठय-कण्ठय-विश्वनीय-

रोपणीयानां, बायुः प्राणसङ्गाप्रधानहेतूनां, अग्निरामस्तम्भ-शीत-शूलो-
द्रौपन-प्रशमनानां, जलं स्तम्भनीयानां, मृद्घृष्टलोष्ट्रनिर्वापितमुदकं तृष्णा-
तियोगप्रशमनानां, अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां, तथाऽग्न्यभ्यवहारोऽ-
ग्निसंधुक्षणानां, यथासालयं चेष्टाभ्यवहारावुपसेव्यानां, कालभोजन-
मारोग्यकराणां, वेगसंधारणमनारोग्यकराणां, त्रिपिराहारगुणानां, मयं
सौमनस्यजननानां, मद्याक्षेपो धी-धृति-स्मृति-हराणां, गुरुभोजनं दुर्विं-
पाकानां, एककालभोजनं सुखपरिणामकराणां, शीघ्रतिप्रसङ्गः शोष-
द्वाराणां, शुक्रवेगनिग्रहः षाण्डिकराणां, पराधातनमज्ञाश्रद्धाजननूनां,
अनशनमायुषो छासकराणां, प्रमिताशनं कर्षणीयानां, अजीर्णाभ्यशनं
ग्रहणीदूषणानां, विषमाशनमग्नवैषम्यकराणां, विरुद्धवीर्याशनं निन्दित-
व्याधिकराणां, प्रशमः पथ्यानां, आयासः सर्वापथ्यानां, मिथ्यायोगो
व्याधिमुखानां, रजस्त्वलभिगमनमलक्ष्मीमुखानां, ब्रह्मचर्यमायुष्याणां,
सकल्पो वृद्ध्याणां, दौर्मनस्यमवृद्ध्याणां, अयथावलमारम्भः प्राणोपरो-
धिनां, विषादो रोगवर्धनानां, स्नानं श्रमहराणां, हर्षः प्रीणनानां, शोकः
शाषणानां, निर्वृतिः पुष्टिकराणां, पुष्टिः स्वप्नकराणां, स्वप्नस्तन्द्राकराणां,
सर्वरसाभ्यासो बलकराणां, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणां, गर्भशल्य-
मनाहर्याणां, अजीर्णमुद्धार्याणां, बालो मृदु भेषजीयानां, वृद्धो याप्यानां,
गर्भणी तीक्ष्णौषध-व्यायाम-वर्जनीयानां, सौमनस्यं गर्भधारकाणां.
संनिपातो दुश्चिकित्स्यानां, आमो विषमचिकित्स्यानां, ज्वरो रोगाणां,
कुष्ठं दीर्घरोगाणां, राजयक्षमा रोगसमूहानां, प्रमेहोऽनुषङ्गिणां, जलो-
कसोऽनुशङ्गाणां, बस्तिस्तन्त्राणां, हिमवानौषधभूमीनां, मरुभूरारोग्य-
देशानां, अनूपोऽहितदेशानां, निर्देशकारित्वमातुरगुणानां, भिषक्-
चिकित्साङ्गानां, नास्तिको वर्ज्यानां, लौल्यं क्लेशकराणां, अनिर्देशका-
रित्वमरिष्टानां, अनिर्वेदो वार्तेलक्षणानां, वैद्यसमहो निःसंशयकराणां,
योगो वैद्यगुणानां, विज्ञानमोषधीनां, शास्त्रसंहितस्तर्कः साधनानां,
संप्रतिपत्तिः कालज्ञान-प्रयोजनानां, अव्यवसायः कालातिपत्तिहेतूनां,
दृष्टकर्मता निःसंशयकराणां, असमर्थता भयकराणां, तद्रिष्ट्यसंभाषा
बुद्धिवर्धनानां, आचार्यः शास्त्राविगमहेतूनां, आयुर्वेदोऽसूतानां,
सद्गच्छनमनुष्ठेयानां, असंबद्धवचनमसंग्रहणसर्वाद्वितानां, सर्वसंन्यासः
सुखानामिति ॥ ३८ ॥

अब तक उब प्रकार के हितकारी वा अहितकारी मुख्य-मुख्य द्रव्य कहे हैं ।

अब इतके आगे बस्ति आदि कर्मों में तथा शोषणियों में मुख्य रूप से—अनुवन्न सहित द्रव्यों की व्याख्या करेंगे—

शरीर की स्थिति करने वाले सब पदार्थों में अब ऐष्ट है। ऐर्य, उत्साह पैदा करने वाले सब पदार्थों में पानी, थकन मिटाने वाले सब पदार्थों में शराब, जीवन देने वाले पदार्थों में दूध, वृंदण करने वालों में मांस, अज्ञद्रव्य भोजन में जूचि उत्पन्न करनेवालों में नमक, हृदय को पर्संद आने वालों में अम्ल रस, बलकारक वस्तुओं में कुकुट, वृद्ध (शुक्रवर्धक) वस्तुओं में नक (मकर) का वीर्य, कफ-पित्तनाशक वस्तुओं में मधु, वातपित्तनाशकों में धी, वात-कफनाशक वस्तुओं में तेल, कफनाशक वस्तुओं में विरेचन, वातनाशक वस्तुओं में वस्तिकर्म, कामलता उत्पन्न करने वालों में स्वेदन, स्थिरता करनेवालों में व्यायाम, पुरुषत्व नाश करने वालों में क्षार, अन्न के अन्दर अरुचि करने वाले पदार्थों में तिन्दुक, आबाज़ या गला बिगाइने वाले पदार्थों में कच्चा कैथ, हृदय के लिये ग्लानिकारक अप्रिय वस्तुओं में भेड़ का धी; शोषनाशक, दूध के लिये हितकारी दोषनाशक, रक्त बन्द करने वालों, रक्त-पित्तनाशक वस्तुओं में बकरी का दूध; अभिधन्द अर्थात् कफवर्द्धक वस्तुओं में मन्दक दही,^१ कृश करने वाली वस्तुओं में गवेधुक (कसई), कफ रित्त को बढ़ाने वालों में भेड़ का दूध, नींद लाने वालों में मैस का दूध, विरुद्धता पैदा करने वालों में जंगली कोटों (बनकोट्रव), मूत्र छाने वालों में गजा, मल लाने वालों में जौ, वात पैदा करने वालों में जामुन, कफ पित्त पैदा करने वालों में तिल में तले हुए बड़े या कच्चौरी, अम्लपित्त पैदा करने वालों में कुलथी, कफ पित्त करने वालों में उड्ढ; बमन, आस्थापन और अनुवासन के लिये उपयोगी वस्तुओं में मैनफल, सुखपूर्वक विरेचन करने वालों में निशोथ; मृदु विरेचकों में अमलतास, तोक्षण विरेचक वस्तुओं में थोर का दूध, शिरोविरेचनों में चिरचिटे के चावल, कुमिनाशकों में वायविडंग, विषनाशकों में विरीष (सिरस), कुष्ठ रोग नाशकों में खैर, वातनाशकों में रासना, आयु स्थिर करने वालों में आंबला, पथ्य हितकारी वस्तुओं में छोटी हरड़; वृद्ध, वातनाशक वस्तुओं में एरण्ड की जड़; दीपन पाचन, अफारे को नाश करने वाली वस्तुओं में विष्णुमूल; दीपन, पाचन, गुदा की शोथ, बवासीर और शूलनाशक वस्तुओं में चित्रकमूल; हिक्का, इवास, कास और पार्श्वशूल नाशक द्रव्यों में पुष्कर मूल; संग्राहक, दीपन, पाचन गुण

१. मन्दक—मन्द हुई दूध में पांच गुना पानी मिलाकर जो दही बनाई जाय।

वास्त्री वस्तुओं में नागरमोषा; निर्बापण (दाह को कम करनेवाली) दीपन, पाचन, वमन, अतिसार को नष्ट करनेवाली वस्तुओं में नेत्रवाक्ष; संग्राहक, पाचन और दीपनीय वस्तुओं में टेंदू (स्वोनाक); संग्राहक, रक्त पित्तनाशक वस्तुओं में सारिवा; संग्राहक, दीपनीय, वात-कफ-रक्त और विवर्णनाशक वस्तुओं में गिलोय, संग्राहक, दीपन, वात कफनाशक वस्तुओं में बेलगिरी; दीपन, पाचन, संग्राहक सर्वदोषनाशकों में अतीव; संग्राहक, रक्त-पित्तनाशक वस्तुओं में नील कमल; कमल इवेत, पश्च का केशर (कमल केशर); पित्त-कफनाशक वस्तुओं में धमासा; रक्त-पित्त के अतियोग को कम करने वाली वस्तुओं में गन्धपियंग (घेउला); कफ-पित्त-रक्त संग्राहक, शुष्क करने वाली वस्तुओं में कुड़े की छाल, रक्तसंग्राहक, रक्त-पित्तनाशक-वस्तुओं में गम्भारी का फल; संग्राहक, वातनाशक, दीपनीय और शुक्रवर्धक वस्तुओं में पुरुषिनर्पणी; वृद्ध और सर्वदोषनाशक वस्तुओं में विदारीकन्द, संग्राहक, बलकारक, वातनाशक वस्तुओं में बला (खर्मटी); मूत्रकुच्छु, वायुनाशक वस्तुओं में गोखरू; छेदनीय, दीपनीय, आनुलोभिक (वायु मल-मूत्र का अनुलोमन करने वाले), वात-कफनाशक वस्तुओं में अम्लवेतस; मलनिःसारक, पाचनीय अर्शनाशक वस्तुओं में यवक्षार; ग्रहणी-दोष, अर्श, वृतजन्य रोगों की शान्ति के लिये तक का अव्याप्त अर्थात् सतत सेवन; ग्रहणी रोग, शोष, अर्श नाशक वस्तुओं में व्याघ्र आदि मांस खाने वाले पशुओं का मांस; खायनों में दूध और धी का सततसेवन; उदावर्षनाशक और वृद्धकारक वस्तुओं में बराबर धो और सत्त को खाना; दांतों को बल और रुचि, चमक, कान्ति पैदा करने की वस्तुओं में तैल के कोशले करना; दाह जलन को शान्त करने लिये चन्दन और गूँठर का लेप; शीत को दूर करने वाले लेपों में चन्दन और अगर का लेप; जलन में त्वग्-रोग, पसीने को दूर करने वाले लेपों में कत्तॄण और खस का लेप, वातनाशक मर्दन और लेप के प्रयोग में कूठ; आंखों के लिये हितकारी, वृद्ध केश्य, कण्ठ के हितकारी वर्ण, बल और विरजनीय (रंग पैदा करने) और रोपण करने वाली वस्तुओं में मुलैहठी; प्राण वा जीवन देने वाली वस्तुओं में वायु; आमविकार, मल मूत्रादि का अवरोध, ठण्ड, शूल, कम्पन को दूर करने के लिए आग का सेक; स्तम्भक पदार्थों में जल; प्यास की अधिकता को कम करने के लिये मिट्टी के ढेले वा पत्थर को खूब गरम करके बुझाया हुआ पानी पिकाना; आम रोग को करने वाले कारणों में बहुत अधिक खाना; अग्निवर्धक वस्तुओं में जाठराजि के बलानुसार खाना; सेव्य, उपयोगी वस्तुओं में अपनी

प्रहृष्टि के अनुसार आहार विहार करना; अनारोग्योत्पादक वस्तुओं में, समय पर भोजन करना; अनारोग्योत्पादक वस्तुओं में, वेगों का रोकना; मन की प्रसन्नता करने वालों में मच; बुद्धि, धैर्य और स्मृतिनाशक वस्तुओं में, मध्य का अधिक उपयोग; पचने में कठिन वस्तुओं में, गुरु, गरिष्ठ भोजन; सुगमता से पचाने वाली वस्तुओं में, एक समय भोजन करना; शोष और क्षय करने वाली वस्तुओं में, छोटी संग की अधिकता; नपुंसक कानेवाले कारणोंमें शुक्र के उपस्थित वेग का रोकना; अज्ज में अश्रद्धा पैदा करने वालों में व्यवस्थान; आँख का हात करने वाले कारणों में न खाना; क्षीण, निर्वल करने वालों में योहा खाना; ग्राहणी राग को करने वाले कारणों में अजीर्णवस्था में अध्यशन अर्थात् खाने के ऊपर खाना; अग्नि को विषम करने वाले कारणों में विषम (ठोक समय पर न खाना) खाना; कुष्ठ आदि निन्दित रोगों को पैदा करने में विशद्ध वीर्य (जैसे दूध और मछली आदि) वस्तुओं का खाना; सब पर्यायों में शान्ति; सब अपर्यायों में परिश्रम थकान (शक्ति से बाहर परिश्रम करना); व्याधियों में मुख्य बमन, विरेचन, आहार-विहार का मिथ्यायोग; दारिद्र्या अमंगलता के कारणों में रजस्वला खी के साथ सभोग; आयुर्वर्धक वस्तुओं में ब्रह्मचर्य; वृष्य-वस्तुओं में संकल्प; अवृष्य वस्तुओं में मन की अप्रसन्नता; प्राणहारक वस्तुओं में बल से बाहर काम करना; रोग के बढ़ाने में शोक; अमनाशक वस्तुओं में स्नान; प्रीणन, पुष्टिकारक वस्तुओं में प्रसन्नता; सुखाने वाली वस्तुओं में शोक; पुष्ट करने वाली वस्तुओं में वेफिकरो (सन्तोष); नींद लाने वाली वस्तुओं में पुष्टि; आलस्य करने वाली वस्तुओं में नींद; बलकारक वस्तुओं में सब रसों का अस्यास, निर्वल करने वालों में एक ही रस का निरन्तर सेवन; आनाहार्य अर्थात् खींच कर निकालने में अयोग्य वस्तुओं में गर्भ रूपी शल्य; बाहर निकालने वाली वस्तुओं में अजीर्ण, कोमल औषधियों के उपचार में बालक; याप्य रोगों में वृद्ध; तीक्ष्ण वेग की औषध और व्यायाम त्याग करनेवालों में गर्भिणी; गर्भ स्थिर कराने वालों में मन की प्रसन्नता; दुष्क्रित्स्य रोगों में सन्निपात जन्य रोग; विषम चिकित्सा (कठिन) व ले रोगों में आमजन्य रोग; सब रोगों में ज्वर; दीर्घ रोगों में कुष्ठ; रोग समूहों में राजयक्षमा; आनुषङ्गिक रोगों में प्रमेह; अनुशब्दों में, जोक, तंत्रों में वस्ति; औषध-भूमियों में हिमालय, आरोग्य देशों में मरुभूमि; अहितकारी देशों में जल-प्राय प्रदेश (जैसे बंगाल), रोगी के चारों गुणों में वैद्य के आदेशानुसार काम करना; चिकित्सा के चारों अंगों में वैद्य; त्याज्य वस्तुओं में नास्तिक; दुःखदायक कारणों में क्लोष; अरिष्ठ अर्थात् मृत्यु-कारणों में कहे के अनुसार न चलना; रोग

के लक्षणों में मन की दुष्क्रियता; शोक, सन्देह मिटानेवालों में बैद्यों का समूह अर्थात् बहुत बैद्यों का होना; बैद्य के गुणों में देश काल के अनुसार चिकित्सा करना; औषधियों में यथार्थ ज्ञान; ज्ञानसाधनों में शास्त्र सहित तर्क; काल शान समयानुसार काम करना; व्यवसाय न करना-समय के नाश करने वाले कारणों में, कर्म का देखना सन्देह को मिटाने वाली वस्तुओं में; भय करनेवाले कार्योंमें असामर्थ्य; बुद्धि बढ़ाने वाले कारणों में उस विद्या को जानने वालों से बात-चीत; शास्त्र के तत्त्व को जानने के लिये आचार्य; अमृतों में आयुर्वेद, कर्तव्य कार्यों में उत्तम सत्य वचन, सब अहितकारी वस्तुओं में 'असत्य' का सेवन; सब प्रकार के सुखों में; संन्यास (सर्वस्व त्याग) श्रेष्ठ अर्थात् श्रेयस्कर है ॥

भवन्ति चात्र—अभ्याणा शतमुद्दिष्टं यद् द्विपञ्चाशदुत्तरम् ।

अल्मेतद्विकाराणां विघातायोपदिश्यते ॥ २६ ॥

इस प्रकार से १५२ (एक सौ बावन) श्रेष्ठ पदार्थ कहे हैं, ये विकार अर्थात् रोगों के नाश करने के लिये पर्याप्त हैं ॥ ३६ ॥

समानकारिणो येऽर्थास्तेषां श्रेष्ठस्य लक्षणम् ।

ज्यायस्त्वं कार्यकारित्वेऽवरत्वं चाप्युदाहृतम् ॥ ४० ॥

बातपित्तकफेभ्यश्च यद्यत्प्रशमने हितम् ।

प्राधान्यतश्च निर्दिष्टं यद् न्यायिहरमुच्चामम् ॥ ४१ ॥

एतत्रिशस्य निपुणं चिकित्सां संप्रयोजयेत् ।

एवं कुर्वन् सदा बैद्यो धर्मकामौ समश्नुते ॥ ४२ ॥

पथ्यं पथोऽपेतं यद्याश्चोक्तं मनसः प्रियम् ।

यज्ञाप्रियमपथ्यं च नियतं तन्न लक्षयेत् ॥ ४३ ॥

मात्रा-काल-क्रिया-भूमि-देह-दोष-गुणान्तरम् ।

प्राप्य तत्तद्वि दृश्यन्ते ते ते भावास्तथा तथा ॥ ४४ ॥

तस्मात्स्वभावो निर्दिष्टस्तथा मात्रादिराश्रयः ।

तदपेक्ष्योभयं कर्म प्रयोज्यं सिद्धिमिच्छता ॥ ४५ ॥

जो पदार्थ शरीर के दोषों को समान करते हैं, या समान अवस्था में रहने देते हैं वे श्रेष्ठ का लक्षण है । इन के कार्य करने की शक्ति से ही श्रेष्ठ और हीन मेद किये हैं । (यथा—लोहितशाळयः शूक्रधान्यानां श्रेष्ठतमाः, उदकमा-द्वासकराणां श्रेष्ठम्) । इसी प्रकार बात, पिचा, कफ के नाश के लिये जो वस्तु-मुख्य रूप में श्रेष्ठ है और जो रोग को नष्ट करने के लिये उत्तम है, इन को जानकर चिकित्सा का आरम्भ करना चाहिये । इस प्रकार करने से बैद्य को

धर्म और काम दोनों मिलते हैं । शरीर और मन के लिये जो प्रिय या हितकर हों, वे पथ हैं और जो शरीर और मन के लिये अप्रिय हों वे अपथ हैं, ऐसा लक्षण नहीं समझना चाहिये । क्योंकि मात्रा (जैते-घृत पथ होते हुए भी अधिक मात्रा में अपथ है), काल (वसन्त में भी अपथ है), क्रिया (घृत विरुद्ध द्रव्य के साथ अपथ है), भूमि (जल बहुत देश में अपथ है) । देह (अतिस्थूल शरीर में भी अपथ है), दोष (कफ दोष में भी अपथ है) से मेद हो जाता है । इसी प्रकार विष भी पथ हो जाता है (यथा—‘उदरे विषं तिलं दद्यात् ।’ उदर रोगों में तिलमात्र विष देना चाहिये) । इस प्रकार पथ वस्तु अपथ हो जाती है और अपथ वस्तु पथ बन जाती है, इसलिये जो वैद्य यश की इच्छा करते हों, उन को वस्तु के स्वभाव, प्राकृतिक गुण और मात्रा, काल आदि का विचार करके प्रयोग करना चाहिये ॥ ४०-४५ ॥

तदात्रेयस्य भगवतो वचनमनुनिशम्य पुनरपि भगवन्तभात्रेयमभिवेश उवाच—यथोदेशमभिनिर्दिष्टः केवलोऽयमर्थो भगवता श्रुतस्व-स्माभिः । आसवद्रव्याणामिदानीं लक्षणमनतिसक्षेपेणोपदिश्यमानं शुश्रूपामह इति ॥ ४६ ॥

आत्रेय ऋषि के वचन को सुनकर फिर भी अभिवेश भगवान् आत्रेय मुनि से पूछने लगे । हे महाराज ! आपने प्रतिज्ञानुसार पथ्यापथ्य का प्रधान विषय सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादन कर दिया है । इस समय आसव द्रव्यों के लक्षणों को विस्तार में आपसे सुनना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—धान्य-फल-मूल-सार-पुष्प-काण्ड-पत्र-त्वचो भवन्त्यासवयोनयोऽग्निवेश ! संप्रहेणाष्टौ शर्करानवमीकाः तास्वेव द्रव्य-संयोगकरणतोऽपरिशङ्खेयासु यथापथ्यतमानामासवानां चतुर्स्रीतिं नित्रोष । तथाथा—सुरा-सौवीर-तुषोदक-मैत्रेय-मेदक-धन्यास्त्वाः पद्म-धान्यासवा भवन्ति, मूद्रीका-खर्जूर-काइर्मर्च-धन्वन-राजादन-तुणमन्य-परूषकाभयामलक-मृगलिण्डिका-जामबव-कपित्थ-कुबल - बदर-कर्कन्तु-पील-पियाल-प्यनस-न्यग्रोषाइवत्य-प्लक्ष-कपीतनोदुम्बराजमोद-शृङ्गाटक-शङ्कुनीभिः फलासवाः पद्मविशतिः । विदारिगन्धाइवगन्धा-कुण्डलगन्धा-सतावरी - इयामा - त्रिवृहन्ती - विस्कोरुद्युक - चित्रकः - मूलैरेकादश-मूलासवाः । शालप्रियकाइवकर्ण-चन्दन-स्वन्दन-खदिर-कदर-सपण-र्णिंजनासनारिमेद-विन्दुक-किणिही-शाली-शुक्लिंशिशवा-शिरीक-वज्जुल-चन्दन-मधूकः सारासवा विशतिः । पश्चोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगंधिक-

पुण्डरीक-शतपत्र-मधूक-प्रियङ्कु-धातकीपुष्पैदेश पुष्पासवा भवन्ति । इक्षु-काण्डेक्षिवद्धुबालिका-पुण्ड्रक-चतुर्था: काण्डासवा भवन्ति । पटोल-ता-डपत्रासवौ द्वौ भवतः । तिल्वक-लोध्रैलवालुक-क्रमुक-चतुर्थास्त्वगासवा भवन्ति, शर्करासव एक एवेति । एवमेषामासवानां चतुरशीतिः परस्परेणासंस्तृष्टानामासवद्रव्याणामुपनिर्दिष्टा भवति । एषामासवानामासु-तत्वादासवसंज्ञा । द्रव्यसंयोग-विभागस्त्वेषां बहुविकल्पः संस्कारञ्च । यथास्वं योनिसंस्कारसंकृताऽसाऽसवाः स्वकर्म कुर्वन्ति । संयोग-संस्कार-देश-काळ-स्थापन-भात्रादयञ्च भावासेषां तेषामासद्वानां ते ते समुपदिश्यन्ते तत्त्वाकार्यमभिसमीक्ष्येति ॥ ४७ ॥

अग्निवेश को मगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! संक्षेप से उन सब के उत्पत्ति स्थान ह (नौ) हैं । यथा—धान्य, फल, मूळ, सार, पुष्प, काण्ड, पत्र, त्वचा, (छाल) और शर्करा । इन्हीं में द्रव्यसंयोग (मिश्रण), करण (संस्कार) द्वारा असंख्ये आसव बन जाते हैं । इनमें अधिक हितकारी (मुख्य) आसव २४ (सौबीस) हैं । उनको कहते हैं—

सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय और मेदक और धान्याम्ल—ये छः धान्याम्लुक (कांजी) आसव होते हैं । द्राक्षा, खजूर, गम्भारी, धान्वन, राजादन (खिरनी), तृणशून्य (केतकी), परूषक (फालसा), अभया (हरढ़), आमलक (आंवला), मृगलिपिंडिका (वहेढ़ा ?), जाग्वव (जामुन), कपित्य (कैथ), कुबल (बड़ा बेर), बदर (छोटा बेर), कर्कन्धु (शाढ़ी का बेर), पीलु, पियालु (प्याल), पनस (कटहल), न्यग्रोघ (बड़), अश्वत्थ (पीपल), मळ्ख (पिलखन), कपीतन, उदुम्बर (गूलर), अजमोद (अजवायन), शृङ्खाटक (सिंधाका), और शंखिनी, ये उच्च्वीष फलासव हैं । विदारीगन्धा (शालपर्णी), अश्वगन्धा (असगन्ध), कृष्णगन्धा (शोभाजन), शतावरी, निषोय, जमालगोटा, द्रवन्ती (मुगलई ऐरेण्ड), बेलगिरी, ऐरेण्डमूळ, चीतामूल, ये न्यारह मूलासव हैं । बड़ासाल, अश्वकर्ण (साल भाग), चन्दन, तीनस, लैर, सफेद लैर, सलवन, अर्जुन, असन, अरिमेद (विट् खदिर), तिन्दुक, किणिही (अपामार्ग), शमी (जंड), शुक्ति (बेर), शीशम, सिरस, अशोक, धान्वन और मुलैइठी ये बीस 'सारासव' हैं । पच (लाल आठ पत्तों वाला), उत्पल (नील कमल), कुम्रुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक, (इवेत कमल), शतपत्र-

१. सौबीरं निष्ठुषयवद्वत्तम्, मैरेयं सुरासवकृता सुरा, मेदकः इवेतसुर जगलास्या, धान्याम्लु (कांजिज) ।

कमल, मधूक (महुवे के फूल), प्रियंगु, धाय के पुष्प, ये दस 'पुष्पासव' हैं । गजा, इन्द्रियालिका (गजे के ऊपर का भाग), गजे की जड़, पौष्टि ये चार 'काण्डासव' हैं । परवल और ताङ के पत्ते ये दो 'पत्रासव' होते हैं । तिल्बक (शावर लोध), लोध (पठानी लोध), एलवालुक, क्रमुक ये चार 'त्वगासव' हैं । शर्करासव एक ही है । इस प्रकार एक एक द्रव्य से बनने वाले ये ८४ (चौरासी) आसव हैं । आसुत अर्थात् सत के खिंच जाने से इन को 'आसव' कहते हैं । द्रव्यों के संयोग और विभाग से ये बहुत प्रकार के और असंख्य बन जाते हैं । आसव अपने संयोग तथा संस्कार के अनुसार अपना कार्य करते हैं । संयोगसंस्कार से अभिप्राय देश (भस्मराशि, धान्यराशि), काल (पन्द्रह दिन, एक मास), स्थापन (सन्धान), मात्रा आदि (द्रव्यस्वभाव) से है । कार्य की अपेक्षा से ही आसवों के संयोग संस्कार रूपी कार्य किये जाते हैं ॥ ४७ ॥

भवति चात्र-मनःशरीराग्नि-बल-प्रदानामस्वप्न-शोकारुचि-नाशनानाम् ।

संहर्षणानां प्रवरासवानामशीतिरुक्ता चतुरुत्तरैषा ॥ ४८ ॥

तत्र श्लोकः—

शरीररोगप्रकृतौ मतानि तत्त्वेन चाऽहारविनिष्ठयो यः ।

उवाच यज्ञःपुरुषादिकेऽस्मिन्मुनिस्तथाऽग्न्याणि वरासवांश्च ॥ ४९ ॥

मन, शरीर, अग्नि को बल देनेवाले, नीद न आना, शोक और अरुचि को मिटाने वाले, मन में प्रसन्नता करने वाले ये उत्तम (श्रेष्ठ) ८४ आसव कह दिये । शरीर एवं रोगों की उत्पत्ति, अश्वियों के मर, आहार की हिताहित-विधि का अन्तिम सार, पश्यापथ्य और श्रेष्ठ आसव इस अध्याय में कह दिये हैं ।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अन्नपानचतुरुष्के
यज्ञःपुरुषीयोऽध्यायः पञ्चविंशतितमः समाप्तः ॥

षड्विंशोऽध्यायः ।

अथात् आत्रेयभद्रकाप्यीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'भद्रकाप्यीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आद्य ने कहा था ॥ १-२ ॥

आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च ।
 पूर्णाक्षश्चेव मौदगल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः ॥ ३ ॥
 यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः ।
 श्रीमान् वार्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः ॥ ४ ॥
 निमिश्च राजा वैदेहो वडिशश्च महामतिः ।
 काङ्क्षायनश्च बाह्यिको बाह्यिकभिषजां वरः ॥ ५ ॥
 एते श्रतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः ।
 वने चैत्ररथे रस्ये समीयुविंजिहीषवः ॥ ६ ॥
 तेषां तत्रोपविष्टानामियमर्थवती कथा ।
 बभूवार्थविदां सम्यग्रसाहारविनिश्चये ॥ ७ ॥

आत्रेय, भद्रकाप्यीय, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष, मौदगल्य, हिरण्याक्ष, कौशिक, भरद्वाज कुमारशिर, विद्वच्छ्रेष्ठ वार्योविद, वैदेहमहाराज निभि, महाराज बिंधि, बाह्यिक देशी भिषजों में श्रेष्ठ बाह्यिक (बलख देशीय), आंक्षायन ये शानवृद्ध वयोवृद्ध और जितेन्द्रिय महर्षि चैत्ररथ नामक सुन्दर वन में विहार करते थे। वहां इन के एक साथ बैठने पर रस द्वारा आहार के निर्णय करने के लिये आपस में गोष्ठी आरम्भ हुई ॥३-७॥

एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यो यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्य-
 तमं जिह्वावैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः; स पुनरुद्कानन्य इति । द्वौ
 रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणश्छेदनीयश्चोपशमनीयश्चेति । त्रयो रसा
 इति पूर्णाक्षो मौदगल्यश्छेदनीयोपशमनीयो साधारणश्चेति । चत्वारो
 रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः स्वादुहिंतश्च स्वादुरहितश्चास्वादुहिं-
 तश्चेति । पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजा भौमोदकाग्नेयवायवी-
 यान्तरिक्षाः । षट्ठो रसा इति निमिवैदेहो मधुराम्ल-लवण-कटुक-तिक्त-क-
 पाय-क्षारात्यक्ताः । अपरिसंख्येया रसा इति काङ्क्षायानो बाह्यिक-भिष-
 क्-आश्रय-गुण-कर्म-सास्वाद-विशेषाणामपरिमेयत्वात् ॥ ८ ॥

भद्रकाप्य शृष्टि बोले कि—‘रस’ एक ही है जिसको कि पांचों इन्द्रियों
 के विशयों में से एक जिहा का ही विषय कहते हैं, वह ‘रस’ पानी से अभिन्न है
 और एक ही है। शाकुन्तेय ब्राह्मण ने कहा कि—‘रस’ दो हैं, एक छेदनीय और
 दूसरा उपशमनीय (अर्थात् अपरदर्पण-कारक और बृंहणकारक)। पूर्णाक्ष मौदगल्य
 शृष्टि बोले कि—तीन रस हैं। यथा—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण अर्थात्
 आज्ञेय और सौम्य गुणों की समानता से लंघन, बृंहण दोनों कार्य करने वाला। हिर-

ज्याक्ष कौशिक ने कहा कि—‘रस’ चार हैं । स्वादु (प्रिय) हितकारी, स्वादु अहित, अस्वादु हित और अस्वादु अहित । कुमारशिरा भरद्वाज ने कहा कि—रस पांच हैं । भौम (पृथ्वी का), उटक (पानी का), आम्रेय (तेज का), वायवीय (वायु का) और आन्तरिक्ष (आकाश का) ये पांच रस हैं । राजिर्ण वायोविद बोले—‘रस’ छः हैं । गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष । बदेह निमि ने कहा—रस सात हैं । मधुर, अम्ल, लवण, तिक्क, कटु, कषाय और क्षार । धामार्ग बडिश बोले—रस आठ हैं । यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्क, कषाय, क्षार और अव्यक्त । बाह्लीकभिषक् कांकायन ने कहा कि—‘गुण (गुरु लघु आदि), कर्म (धातु वर्धन क्षयण आदि), संस्वाद (रसों के नाना अवान्तर भेद) मेंदों से रस अगणित बन जाते हैं ॥ ८ ॥

षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुर्मधुराम्ल-लवण-कटु-तिक्क-कषायाः । तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छंदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयो-र्मिश्रीभावात्साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितो द्वौ प्रभावौ । पञ्चमहाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृति-विकृति-विचार-देश-कालवशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंब्लकेषु गुणा गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रुक्षाद्याः । क्षरणात्क्षारो नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरससमुत्पन्नमनेकरसं कटुक-ल-वण-भूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थसमन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम् । अव्यक्तीभावस्तु खलु रसाना प्रकृतो भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये । अपरिसंख्ये-यत्वं पुनर्स्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तं, एकैकोऽपि हि पुनरेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषाप-रिसंख्येयत्वात् । न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते । परस्परसंसृष्ट-भूयिष्ठ-त्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिहस्येयत्वं भवति, तस्मान्न संसृष्टानां रसानां कर्मोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः । तच्च व कारणमपेक्षमाणाः षण्णां रसानां परस्परेणां सृष्टानां लक्षणपृथक्त्वमुपदेश्यामः ॥ ९ ॥

पुनर्वसु भगवान् आत्रेय ने कहा कि—रस छः ही हैं । यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्क और कषाय । इन छः रसों की उत्तरिक्ष का स्थान पानी ही है । छेदन और उपशमन ये दोनों कर्म हैं, इन दोनों कर्मों के मिल जाने से साधारण ही जाता है । स्वादु और अस्वादु यह रुचि हैं, हित और अहित भीमाव हैं । पंच महाभूत विकार हैं । वे रस के आश्रय स्थान हैं, वे रस नहीं हैं । गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष ये द्रव्यों में आभित गुण हैं, जो कि प्रकृति (यथा—मूँग, कषाय और मधुर स्वभाव से ही हैं इचकिये छु हैं),

विकृति (चावलों से बने ताज़ा खील लघु और सच् बड़े भारी होते हैं), विचार (द्रव्यान्तर संयोग यथा—मधु और धी का मेल विष बनता है), देश (दो प्रकार का है यथा—भूमि और रोगी । भूमि जैसे—इवेतकपोती वल्मीकाघिरुद्धा विषहरी होती है, हिमालय की आषधियां अधिक गुण युक्त होती हैं, शरीर देश जैसे टांग के मांस से कन्धे आदि का मांस गुरु होता है) और काल इन के मेद से बनते हैं । क्षार रस नहीं है । क्योंकि क्षण किया जाने से, अनेक पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण अनेक रस होने से, कटुक, लवण आदि रसों का अनुभव होने से, क्षार में स्पर्श और गन्ध होने से यह द्रव्य है, रस नहीं, और हेत्वान्तर अर्थात् अन्य कारण—प्रस्त्र स्वाव आदि से बनने के कारण, रस नहीं है । 'अव्यक्त' भी रस नहीं । क्योंकि अव्यक्तता तो कारण में ही है । (रसों के कारण जल में ही अव्यक्तता है) । इस के अतिरिक्त अनुरस में अव्यक्तीभाव होता है । रस के पीछे जो रस होता है, वह अनुरस है । यथा—रुक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तशः । यथा—विष के विषय में ('उष्णमनिर्देश्यरसम्') । अथवा अनुरसयुक्त द्रव्य में अव्यक्तता होती है । और जो यह कहा है कि रसों के आश्रय आदि भावों के असंख्य होने से रस भी असंख्य हैं, यह ठीक नहीं । क्योंकि एक-एक रस इन आश्रय रूपी भावों में से किसी एक भाव का आश्रय करके विशेष रूप से रहता है (यथा—चावल, मूंग, घृत, दूध आदि वस्तुओं में मधुर रस के आश्रय की भिन्नता रहने पर भी मधुरत्व रस समान है, जिस प्रकार की बगुला, दूध, और कपास में आश्रय मेद होने पर भी सफेद रंग समान है) । आश्रय आदि असंख्य हैं । इसलिये छः से भिन्न अन्य रस का होना सम्भव नहीं । और यदि कहो कि रसों के परस्पर मिलने से रस असंख्य हो जायेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि परस्पर मिलने पर भी इनके गुरु, लघु आदि गुण या मधुर आदि स्वभाव अथवा आयुष्यवरद्धक आदि असंख्य मेद हो जाते हैं । यहां पर भी मधुर आदि के प्रत्येक के गुण और प्रकृतियां जो कहीं हैं वे ही परस्पर मिलती हैं । इसलिये एक रस के दूसरे रस के साथ मिलने से और दोषों के दूसरे दोषों से मिलने पर भी रस असंख्य, अगणित नहीं होते । इसीलिये मिले हुए रसों के कर्मों का बुद्धिमान् उपदेश नहीं करते । और इसी कारण से परस्पर न मिले हुए छः रसों के लक्षणों को पृथक्-पृथक् कहेंगे ॥ ९ ॥

अग्रे तु चावद् द्रव्यमेदमभिप्रेत्य किञ्चिद्भिवास्यामः । सर्वे द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नेवार्थे । तत्तेतनावदचेतनं च, तस्य गुणः शब्दादयो

गुर्वादयश्च द्रष्टव्याः, कर्म पञ्चविधमुक्तं घमनादि । तत्र द्रव्याणि गुरु-खर-कठिन-मन्द-स्थिर-विशद-सान्द्र-स्थूल-गन्धगुण-बहुलानिपार्थिवानि, तान्युपचय-संघात-गौरव-स्थैर्य-कराणि; द्रव्य-स्तिग्ध-शीतमन्द-मृदु-पि-चिछल-खर-गुण-बहुलान्याप्यानि, तान्युत्क्लेद-स्नेह-बन्ध-विष्यन्द-मार्दव-प्रहाद-कराणि; उष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-लघु-रूक्ष-विशद-रूपगुण-बहुलान्याग्ने-यानि, तानि दाह-पाक-प्रभा-प्रकाश-वर्ण-कराणि । लघु-शीत-रूक्ष-खर-विशद-सूक्ष्म-स्पर्श-गुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्य-ग्लानि-विचार-वैशद-लाघव-कराणि; मृदु-लघु-सूक्ष्म-इलक्षण-शब्द-गुण-बहुलान्याकाशा-त्वकानि, तानि मार्दव-सौषिर्य-लाघव-कराणि ॥ १० ॥

इस के आगे आयुर्वेद के उपयोगी द्रव्यों के भेद को लेकर कुछ कहेंगे—यहाँ पर जो भी द्रव्य कहेंगे वे सब पांचमौतिक अर्थात् पांच महाभूतों से बने हैं । ये दो प्रकार के हैं, चेतना से युक्त और अचेतन । इस द्रव्य के जहाँ शब्दादि गुण हैं, वहाँ गुरु आदि (बोस) गुण हैं । द्रव्य का कर्म पांच प्रकार का है । यथा घमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन, अनुवासन । इन द्रव्यों में जो द्रव्य पार्थिव (पृथक्तीजन्य) है वे गुरु, कर्कश, कठोर, धीमे, स्थिर, विशद, (पृथक् पृथक्), सान्द्र, स्थूल और गन्ध युक्त इन गुणों वाले प्रायः करके होते हैं । ये पार्थिव पदार्थ उपचय संघात, गौरव (भारीगत) और स्थिरता करते हैं । जलीय पदार्थ तरल, स्तिग्ध शीत, मन्द, विच्छिल और जलीयगुण युक्त प्रायः करके होते हैं । ये द्रव्य उड़ाने नमी, स्नेह, बन्धन परस्पर मिलाने वाले, कोमलता, प्रहाद शरीर इन्द्रियों का तर्पण करनेवाले हैं । अग्निगुणयुक्त अर्थात् आगेय द्रव्य गरम, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रूक्ष, विशद एवं रूप गुण में (अग्निवत्) होते हैं । ये द्रव्य जलन, पकाना, कान्ति, प्रकाश और वर्ण (रंग) को उत्पन्न करते हैं । वायवीय पदार्थ लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म, स्पर्श गुण (वायवीय गुण) वाले होते हैं । ये शरीर में रूक्षता, ग्लानि, विचारों की निर्मलता और लघुता उत्पन्न करते हैं । आकाश गुण वाले द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्वातां में पहुंचाने वाला, चिकना एवं शब्द गुण आकाश गुण युक्त होते हैं । ये द्रव्य शरीर में मृदुता, सौषिर्य (छिद्राधिक्य) और लघुता उत्पन्न करते हैं ॥१०॥

अनेनोपदेशेन नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यमुपलङ्घयते तां तां पुक्षिमर्थं च तं तमभिप्रेत्य । न तु केवलं गुणप्रभावादैव कार्त्तिकाणि भवन्ति । द्रव्याणि हि द्रव्यप्रभावाद् गुणप्रभावाद् द्रव्यगुणप्रभावाद् तस्मि-स्तस्मिन् कालेत तदधिष्ठानमासाच तां तं तमभिप्रेत्य यस्क-

वैन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्य, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यदा
कुर्वन्ति स कालः, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यत्साधयन्ति तत्कलम् ।११।

इस उपरोक्त उपदेश द्वारा जगत् में जो भी द्रव्य मिलते हैं, वे सब उपाय,
प्रयोजन के उद्देश्य से औषध समझने चाहिये अर्थात् वे सब द्रव्य दोष-
नाशक हैं, निरुपयोगी नहीं हैं । पार्थिवादि द्रव्य केवल गुरु खर आदि गुणों
से औषध या दोष नष्ट करने वाले नहीं बन जाते, परन्तु द्रव्य द्रव्य के
प्रभाव से, गुण के प्रभाव से, द्रव्य एवं गुण दोनों के प्रभाव से, उस उस
समय में, उस अधिष्ठान का व्याध्य लेकर, और उस योजना तथा प्रयोजन को
लक्ष्य में करके जो करते हैं, उसका नाम 'कर्म' है, यथा—द्रव्य के प्रभाव से
दन्ती (जमाल गोटा) विरेचक है, मणि आदि का धारण विष को दूर करता
है । गुण के प्रभाव से—ज्वर में तिक्क रस, शीत में अग्नि । द्रव्य एवं गुण के
प्रभाव से जैसे—कृष्णाजिन (काली मृगछाला) । यहां पर मृगछाला द्रव्य
और कृष्ण गुण है । उसपर वे जो कार्य करते हैं । यथा—शिरोविरेचन द्रव्य
शिर का विरेचन करते हैं, यह कर्म है । जिस के द्वारा (उष्ण गुण के द्वारा
शिरो विरेचन) करते हैं वह 'वीर्य' अर्थात् 'शक्ति' है । जहां कर्म करते हैं, वह
'अधिकरण' है जैसे शिर । जिस समय करते हैं वह 'काल' है । जिस प्रकार
करते हैं वह उपाय है । इस प्रकार से जो सिद्ध करते हैं वह फल है ॥११॥

भेदश्वैर्षां त्रिष्टुतिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति, तमु-
पदेक्ष्यामः ॥ १२ ॥

रसों के भेद इन छः रसों के द्रव्य प्रभाव से, देश प्रभाव से (यथा—
हिमालय की द्राक्षा और दादिम मीठे होते हैं दूसरे स्थानों के खट्टे), काल
प्रभाव से (यथा—कच्चा आम और कसौला, कुछ बड़ा होने पर भी कच्चा आम
खट्टा और पकने पर मीठा, इसी प्रकार इमन्त में ओषधियां मीठी और वर्षा में
खट्टी), (६१) भेद बन जाते हैं ॥१२॥ यथा—

स्वादुरम्लादिभिर्योगे शेषैरम्लादयः पृथक् ।

यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु ॥ १३ ॥

दो रस वाले पन्द्रह भेद हैं यथा—स्वादु (मधुर) और अम्ल के योग से
पांच, अम्ल और लघुण के योग से चार, लघुण और कटु के योग से तीन, कटु
तिक्क और कधाय के योग से दो, तथा तिक्क और कधाय के योग से एक । जैसे—
(१) मधुराम्ल (२) मधुरलघुण (३) मधुरकटु (४) मधुरतिक्क (५) मधुरकधाय
(६) अम्ललघुण (७) अम्लकटु (८) अम्लतिक्क (९) अम्लकधाय (१०)

लवणकटु (११) लवणतिक (१२) लवणकषाय (१३) कटुतिक (१४)
कटुकषाय (१५) तिककषाय ॥ १३ ॥

पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत् ।

मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा ॥ १४ ॥

त्रिरसानि यथासंख्यं द्रज्याण्युक्तानि विशतिः ।

तीन तीन रसों के २० मेद हैं, जैसे—(१) मधुर, अम्ल के साथ लवण आदि चारों का पृथक् २ योग होने से चार मेद । (२) मधुर, लवण के साथ कटु आदि तीन का पृथक् २ योग होने से तीन मेद । (३) मधुर कटु का कटु, कषाय से पृथक् २ योग होने से दो मेद । (४) मधुर तिक का कषाय से योग होने से एक मेद । (५) अम्ल लवण का कटु आदि तीन के साथ योग होने से तीन मेद । (६) अम्ल कटु का तिक कषाय दो के साथ पृथक् पृथक् योग होने से दो मेद । (७) अम्ल तिक का कषायसे योग होने से एक मेद । (८) लवण कटु का तिक और कषाय दो से योग होने से दो मेद । (९) लवण तिक का कषाय से योग होने से एक मेद । (१०) कटु तिक का कषाय से योग होने से १ मेद । जैसे—(१) मधुर अम्ल लवण, (२) मधुर अम्ल कटु, (३) मधुर अम्ल तिक (४) मधुर अम्ल कषाय । (५) मधुर लवण कटु, (६) मधुर लवण तिक, (७) मधुर लवण कषाय । (८) मधुर कटु तिक, (९) मधुर कटु कषाय । (१०) मधुर तिक कषाय । (११) अम्ल कटु तिक, (१२) अम्ल कटु कषाय । (१३) अम्ल तिक कषाय । (१४) लवण कटु तिक, (१५) लवण कटु कषाय । (१६) अम्ल लवण कटु (१७) अम्ल लवण तिक (१८) अम्ल लवण कषाय । (१९) कटु तिकत कषाय, (२०) लवण तिकत कषाय ॥ १४ ॥

चक्ष्यन्ते तु चतुर्जेण द्रव्याणि दश पञ्च च ॥ १५ ॥

स्वाद्वाम्लौ सहितौ योगं लवणादैः पृथग्गतौ ।

योगं शेषैः पृथग्यातश्च तुष्करससंख्यया ॥ १६ ॥

चार रसों के मेद पन्द्रह हैं । यथा—चार रसों (स्वादु, अम्ल, लवण और कटु), में एक एक रस का (कटु, तिक, कषाय) संयोग होने से छः रस बनते । इन में स्वादु और अम्ल रस स्थिर रहते हैं ॥ १५-१६ ॥

सहितौ स्वादुलवणौ तद्रूपकट्बादिभिः पृथक् ।

मुक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादुवणौ तथा ॥ १७ ॥

कटुवायैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक् ।

यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटु तथा ॥ १८ ॥

युज्येते तु कषायेण सविक्तौ लवणोषणौ ।

स्वादु और लवण के साथ कटु, तिक्त, कषाय के योग से तीन, और लवण को छोड़कर स्वादु, कटु, तिक्त, कषाय के योग से एक, इस प्रकार से दस मेद हुए । अब स्वादु (मधुर) रस के छोड़ने से (अम्ल, लवण इन का कटु, तिक्त, कषाय के साथ योग होने से) तीन, लवण के छोड़ने से अम्ल, कटु, तिक्त और कषाय के योग से एक और मधुर, अम्ल रस को छोड़ने से लवण, कटु, तिक्त, कषाय, यह एक मेद, इस प्रकार से पन्द्रह मेद बन जाते हैं । जैसे—(१) मधुराम्ललवणकटु, (२) मधुराम्ललवणतिक्त, (३) मधुराम्ल-लवणकषाय, (४) मधुराम्लकटुतिक्त, (५) मधुराम्लकटुकषाय, (६) मधुराम्ल-तिक्तकषाय, (७) मधुरलवणकटुतिक्त, (८) मधुरलवण तिक्तकषाय, (९) मधुरलवणकषायकटु, (१०) मधुरकटुतिक्तकषाय, (११) अम्ललवणकटुतिक्त, (१२) अम्ललवणतिक्तकषाय, (१३) अम्ललवण कषायकटु, (१४) अम्ल-कटुतिक्तकषाय, (१५) लवणकटुतिक्तकषाय ॥ १७-१८ ॥

षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकेकस्यापवर्जनात् ॥ १९ ॥

षट् चैवैकरसानि स्युरेकं षड्समेव तु ।

इति त्रिषष्ठिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंस्थया ॥ २० ॥

त्रिषष्ठिः स्यात्त्वसंख्येया रसानुरसकलपनात् ।

रसास्तरतमाद्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि ॥ २१ ॥

संयोगाः समपञ्चाशत्कल्पना तु त्रिषष्ठिधा ।

रसानां तत्र योग्यत्वात्कल्पिता रसचिन्तकैः ॥ २२ ॥

एक एक रस के छोड़ने से छः रस बनते हैं, (यथा—मधुर को छोड़ने से अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय; अम्ल को छोड़ने से स्वादु, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, इसी प्रकार लवण, कटु, तिक्त, कषाय के छोड़ने से छः रस) । (१) अम्ललवणकटुतिक्तकषाय (२) मधुरलवणकटुतिक्तकषाय (३) मधुराम्लकटु-तिक्तकषाय (४) मधुराम्ललवणतिक्तकषाय (५) मधुराम्ललवणकटुकषाय (६) मधुराम्ललवणकटुतिक्त ।

एक एक रस के छः मेद (यथा—मधुर, अम्ल, आदि) और सब मिलित होने से एक मेद, इस प्रकार से कुल मिलाकर तिरसठ (६३) रस जाते हैं । ये जो तिरसठ (६३) प्रकार के रसों के मेद कहे हैं, इन में एवं अनुरस की कल्पना नहीं की गई है । और यदि रस और अनुरस मिला दें,

तो असंख्य हो जाते हैं। इसी प्रकार रसों के तरत्तम (यथा—मधुरतर, मधुरतम आदि) मेद से भी रस असंख्य-अग्रणित बन जाते हैं। इस प्रकार रसों के असंख्य होने पर भी आचार्यों ने चिकित्सा व्यवहार के लिये रसों के सत्तावन (५७) संयोग और मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कशाय इन को मिलाकर तिरसठ (६३) मेदों की कल्पना कर रखी है ॥ १६-२२ ॥

कचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः कचित् ।
 दोषौषधादीन् भृचिन्त्य भिषजा सिद्धिमिळ्ठता ॥ २३ ॥
 द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधः ।
 रसानेकैकशो वाऽपि कल्पयन्ति गदान् प्रति ॥ २४ ॥
 यः स्याद्वसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित् ।
 न स मुहोद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ २५ ॥

कहीं पर एक रस की, कहीं पर मिलित रसों की, दोष ओषधि आदि (देश, काल) का विचार करके सफलता चाहने वाले वैद्य को कल्पना करनी चाहिये। जैसे—दो रस वाले द्रव्य (मूँग कशाय और मधुर होते हैं), तीन रस वाले (मधुराम्लकशायं च विषभिं गुरु शीतलम्, पित्त-इलेम्हाहरं मध्यम्), चार रस वाले (जैसे—तिल, स्निग्धोषणामधुरस्तिकशायः कदुकस्तिलः ।) पांच रस (जैसे—हरीतकी, शिवा पंचरसा), छः रस (अव्यक्त हों यथा—विष। ‘विषन्त्वव्यक्तं पड़रससंयुक्तम्’ या हरिण का मांस)। एवं दो रस वाले रसों की या मिलित द्रव्य या रसों की कल्पना, अथवा एक एक रस की कल्पना रोगों के अनुसार करते हैं। जो मनुष्य रस के मेदों को भली प्रकार जानता है (वह रोगों के कारण द्रव्य ज्ञान को भी अनिवार्य रूप से जान ही जायेगा), एवं दोषों (वातादि) के लक्षणों को भी भली प्रकार से पहिचानता है, अथवा जो मनुष्य भेषज द्रव्यों को स्वरूप से एवं हन के प्रयोग विषय को जानता है, वह रोगों के कारण कल्पण, और शान्ति (चिकित्सा) में नहीं घशराता और भ्रम में नहीं फँसता ॥ २३-२५ ॥

व्यक्तः शुष्कस्य चाऽऽदौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते ।
 विपर्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः ॥ २६ ॥

अनुरस—शुष्क या गीले द्रव्य में जो रस जिहा के स्पर्श से स्पष्ट होता है, वह व्यक्त रस है। परन्तु जो रस प्रकार से शात नहीं होता अर्थात् पीछे द्वारा जामा जाता है, वह ‘अनुरस’ है। अथवा जो रस गीले द्रव्य में वह व्यक्त (अनुरस) और जो रस शुष्क होने पर स्पष्ट होता है वह

'रस' है । यथा—पिप्पली आद्रावस्था में मधुर, और शुष्क अवस्था में 'कटु' रस है । इसलिये कटु व्यक्त रस, और मधुर व्यक्त अनुरस है । अथवा पीछे से जो रस अनुभव होता है, वह 'अनुरस' है । यथा—कांजी, तक आदि पदार्थों के पीने पर प्रथम जिस रस का अनुभव हो वह रस और जो पीछे स्पष्ट हो वह 'अनुरस' है । सानवां रस कोई पृथक् नहीं हैं ॥ २६ ॥

परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च ।

विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमधापि च ॥ २७ ॥

संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा छ्वेयाः परादयः ।

सिद्धूषुपायाश्चिकित्साया लक्षणैस्तान् प्रचक्षमद्दे ॥२८॥

दस गुण—पर, अपर, युक्ति, संख्या, संयोग, विभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास ये दस गुण हैं । चिकित्सा में सफलता इन दस गुणों में आभित है । इनके लक्षण कहते हैं ॥ २७-२८ ॥

देश-काळ-वयो-मान-पाक-बीर्य-रसादिषु ।

परापरत्वे, युक्तिस्तु योजना या च युज्यते ॥ २९ ॥

संख्या स्याद् गणितं, योगः सहस्रयोग उच्यते ।

द्रव्याणां द्रन्दसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च ॥ ३० ॥

विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः ।

पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता ॥ ३१ ॥

परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम् ।

भावाभ्यसनमभ्यासः शीतलं स्ततकिया ॥ ३२ ॥

इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः ।

चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रबर्तते ॥ ३३ ॥

गुणा गुणाश्रया नोकास्तस्माद्रसगुणान् भिषक् ।

विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायाः पृथग्विधाः ॥ ३४ ॥

अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च ।

तत्र कर्तुरभिप्रायाणुपायाश्चार्थमादिशेत् ॥ ३५ ॥

देश—मङ्गदेश पर और आनन्द अपर । काळ—विसर्ग पर, आदान अपर । वय—तद्वय पर, वाढ़, वृद्ध अपर । मान—शरीर का कहा हुआ पर, इस के अन्य अपर । पाक, बीर्य और रस ये जिस योग के प्रति हो उसके लिये पर दूसरों के प्रा अपर पर-अपर यह देश, काळ, वय, मान, बीर्य, रस आदि के अपेक्षा से हैं । जैसे मङ्गदेश—बंगाल की अपेक्षा पर है, और बंगाल-मङ्गदेशों वालों की अपेक्षा मे पर

है; इसी प्रकार वयमें बाल्यावस्था से योवनावस्था पर है और बाल्यावस्था अपर है पर-अपर अपेक्षा से है। अथवा सञ्चिकृष्ट, और विप्रकृष्ट मेद से पर-अपर भाव होता है। युक्ति योजना दोषादि के अपेक्षा से औषध की भली प्रकार कल्पना करना। संख्या-गिनती, एक, दो, तीन आदि। संयोग—द्रव्यों का परस्पर संयुक्त होना संयोग है। यह संयोग तीन प्रकार का होता है। १. द्वन्द्व (दो का जैसे-लड़ते हुए दो मेहंदों का), २. सउका (जैसे-एक पात्र में रखकर उड़दों का), और ३. एककर्मजन्य, (जैसे-कृष्ण पर बैठे कौवे का) यह संयोगजन्य कर्म आनित्य है। विभाग-विभजन, बांटना, भाग करना। संयोग का वियोग या विभाग रूप में ग्रहण होना विभाग है। पृथक्त्व—जिसके द्वारा यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह वस्तु घंडे से भिन्न है वह पृथक्त्व है। यह तीन प्रकार का है। १. सर्वथा अभिन्न वस्तुओं का जैसे-मेहंद और हिमालय का। २. विजातियों में जैसे- मैस और सुअर का। ३. विलक्षणताजन्य—विशिष्ट लक्षण युक्त विजातियों से मेद, अनेकता—एक जातीय द्रव्यों के संयोग में रहने वाली भिन्नता का नाम 'अनेकता' है, यथा—उड़दों में अनेकता मिलती है, सब उड़द एक समान नहीं होते। परिमाण—मान, तोल, वजन। संस्कार—किसी द्रव्य में जिस क्रिया से गुणान्तर उत्पन्न किया जाता है, उस क्रिया का नाम संस्कार है (संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते)। अभ्यास—किसी द्रव्य या क्रिया का निरन्तर उपयोग करना, व्यवहार करना, अभ्यास कहाता है। इस 'अभ्यास' को शील या निरन्तर करना या आदत भी कहते हैं। इस प्रकार से पर आदि दस गुणों के लक्षण कह दिये हैं। यदि वैद्य को इनका पूरा ज्ञान न होगा तो चिकित्सा पूर्ण रूप में सफल नहीं हो सकेगी। अब तक रसों के परस्पर संयोगी गुण कहे हैं। अब ज्ञानस्त्वादि गुण कहते हैं। जो गुण कहे हैं, वे गुण रूप, रस आदि में आश्रित नहीं, अपितु रस के आधारभूत द्रव्य में आश्रित हैं। इसलिये रस के गुणों को भी द्रव्य का गुण समझना चाहिये, रस का नहीं। यथा—मधुर रस, ज्वर, शीत, गुरु है, इस का अर्थ यह है कि मधुर रस वाला द्रव्य ज्वर, शीत गुरु इन गुणों से युक्त है। गुण गुण का आश्रय करके नहीं रह सकते। इस प्रकार कहना ग्रन्थकार की शैली है। प्रत्येक ग्रन्थ को समझने के लिए ग्रन्थकार के अभिप्राय को (उस के अभिप्राय के पृथक् होने से), प्रकरण, देश, और काल को भी जानना चाहिये। प्रकरण जैसे—“क्षारः छोरं फलं पुष्पम्” यहां पर वनस्पति प्रकरण होने से थोर का दूध लेना चाहिये, गाय, मैस का नहीं। देश—शिर शोधन कहने में, ‘क्रिमिव्याधि’ अर्थात् चिरोजन्य कूमि रोग में ऐसा समझना

चाहिये । काल—वमन काल में कहने पर 'प्रतिग्रहं चोपहारयेत्' अर्थात् वमन का पात्र लाओ । इसी प्रकार भोजन के समय 'सैन्धवमानय' कहने से नमक का छाना उचित है, न कि घोड़े का । इसलिये ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय से रसों में गुणों का कथन समझना चाहिये । जहां पर प्रकरणगत देश काल आदि द्वारा ग्रन्थकर्ता का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता, वहां उपायों द्वारा तन्त्र-युक्ति रूपी उपायों से अर्थ को समझना चाहिये । २९—३५ ॥

परं चातः प्रब्रह्मन्ते रसानां षड् विभक्तयः ।

षट्पञ्च भूतप्रभवाः संख्यातात्त्वं यथारसाः ॥ ३६ ॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लक्ष्यश्चाव्यक्त-
रसात्त्वं; तास्त्वन्तरिक्षादृ भ्रश्यमाना भ्रष्टाक्षपञ्चमहाभूत-विकार-गुण-सम-
न्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षड्-
भिमूर्च्छन्ति रसाः ॥ ३७ ॥

पञ्च महाभूतों से उत्पन्न छः रसों को विभाग करके कहते हैं कि स प्रकार से छः रस उत्पन्न होते हैं । सब रसों का उत्पन्निस्थान पानी है । यह पानी सौम्य (सोमगुणी), अन्तरिक्ष से उत्पन्न होने वाला, स्वभाव से शीतल, लघु एवं 'अव्यक्त रस' है । यह पानी अन्तरिक्ष से नीचे गिरता हुआ अन्तरिक्ष में स्थित पृथ्वी आदि के परमाणुओं से दूषित होकर, पञ्च महाभूतों से बने स्थावर (जङ्ग) और जंगम (चल) पदार्थों को तर्पण करता है, इन पदार्थों के स्वरूप को बनाता है, उत्पन्न करता है । इन पदार्थों से ही छः रस अभिव्यक्त होते हैं ॥ ३७ ॥

तेषां वर्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः पृथिव्यमित्र-
भूयिष्ठत्वादम्ळः, सलिलाभिभूयिष्ठत्वात्प्रवणः, वाय्वमित्रभूयिष्ठत्वा-
त्कदुकः, वाय्वाकाशातिरेकात्तिकः, पवनपृथिव्यतिरेकात्कषाय इति ।
एवमेषां रसानां षट्पञ्चमुत्पन्नं, ऊनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूताना-
मिव जङ्गमस्थावराणां नानावर्णाकृतिविशेषाः, षड् तुक्त्वात् काल-
स्योपपन्नो महाभूतानामूनातिरेकविशेषः ॥ ३८ ॥

यहां पर अन्तरिक्ष स्थित पानी को रवोत्पत्ति में मुख्य कारण माना है । इस से पृथ्वी पर स्थित पानी भी स्थावर और जंगम पदार्थों में रस उत्पन्न करने में कारण है । इन छः रसों में सोम गुण के अधिक होने से (अर्थात् अन्य भूत भी योक्ती २ मात्रा में हैं) मधुर रस, पृथ्वी और अग्नि गुण की अधिकता से अम्ळ, पानी और अग्नि गुण की अधिकता से लवण, बायु और अग्नि की अधिकता से कटु, बायु और आकाश गुण की अधिकता से तिक्त ।

बायु और पृथिवी गुण की अधिकता से कथाय रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार से पञ्च महाभूतों के कम अधिक होने से छः रस उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर और जंगम पदार्थों में महाभूतों के कम अधिक होने से नाना प्रकार के वर्ण, रंग, आकृति, रूप आदि बन जाते हैं, उसी प्रकार छः रस भी बन जाते हैं। इसी प्रकार महाभूतों के कम अधिक होने से ही काल, संक्षिप्तर छः शृदुओं में विभक्त हो जाता है। यथा—हेमन्त काल में सोम गुण की अधिकता होती है, शिशिर शृदु में बायु और आकाश गुण की अधिकता होती है। 'तावेतावर्कवायू' (च० स० अ० ६) में स्पष्ट कर चुके हैं। बीजाळ-कुरवत् कार्य कारण की भाँति संसार के अनादि होने से, पञ्च महाभूत और शृदुओं का कार्यकारण सम्बन्ध समझना चाहिये ॥३८॥

तत्राग्निमारुद्धात्मका रसाः प्रायेणोर्ध्वभाजः, लाघवात्मवनत्वाच्च
वायोरुर्ध्वज्वलनत्वाच्च वह्नः, सलिलपृथिव्यात्मकस्तु प्रायेणाधोभाजः,
पृथिव्या गुरुत्वान्निमनगत्वाच्चोदकस्य, व्यामिश्रात्मकाः पुनरुभयतो-
भाजः ॥ ३९ ॥

इन में अग्नि और बायु गुण की अधिकता वाले रसयुक्त द्रव्य प्रायः ऊर्ध्वगामी (वमनकारक) होते हैं। क्योंकि बायु हल्की और उड़ने वाली है। अग्नि का स्वभाव ऊपर को जलने का है, वह ऊपर को गति करता है, इसलिए इन गुणों वाले द्रव्य ऊर्ध्वगामी हैं। जल और पृथिवी गुण युक्त रस वाले द्रव्य प्रायः करके अधोगामी (विरेचनकारक) होते हैं। क्योंकि पृथिवी गुरु है और पानी का स्वभाव नीचाई की ओर बहना है। जिन पदार्थों में चारों तत्त्व मिले रहते हैं वे ऊर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों तरह के होते हैं ॥ ३९ ॥

तेषां वर्णां रसानामेकैकस्य यथाद्रव्यं गुणकर्मण्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र
मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रस-रुधिर-मास-मेदोऽस्थि-मज्जौजः-शुक्राभिव-
र्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्त-विष-मारुत-प्रस्तृष्णा-
प्रशमनस्त्वच्यः केशः कण्ठः प्रीणनो जीवनस्त्वपेणो बृंहणः स्थैर्यकरः
क्षीणक्षत्रसंधानकरो ग्राण-मुख-कण्ठौष्ठ-जिह्वा-भ्रह्मादनो दाहमूर्छाप्रशमनः
षट्पदपिपीळिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च । स एवंगुणोऽप्येक
प्रथात्थं मुषुपगुच्यमानः स्थैर्यं मार्देवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनमा-
लाषमग्निदौर्बल्यमास्यकण्ठमासाभिवृद्धिं श्वास-कास-प्रतिश्वायालस-
शीत-ज्वरानानाहास्य-माधुर्य-वमशु-संज्ञास्वरप्रणाश-गङ्गाणहगण्डमा-

**ठा-श्रीपद-गङ्गशोक - वस्ति-धमनीगण्डोपलेषाह्यामयानभिष्ठन्दभित्येष्ट
प्रभृतीन् कफजात् विकारानुपजनयति ॥ (१) ॥**

इन छः रसों में से एक-एक रस के आधार द्रव्य के अनुसार गुण, कर्म की व्याख्या करेंगे । इन में मधुर रस—जन्म से ही शरीर के अनुकूल (सात्य) है । (जन्म से ही मधुर रसवुक दूष को पीकर बचा बढ़ता है) । रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, अंज और शुक्र को बढ़ाता है, आयुवर्द्धक, शोत्र, स्वक्, नासिका, चक्षु, रक्षना ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन इन को प्रसन्न, निर्मल करता है । बलकारक, कान्तिकारक पित्त-नाशक, विषनाशक, वायुनाशक, तृष्णानाशक, स्वचा, केश, और स्वेर के लिये हितकारी, आह्वादजनक, अभिषात आदि से बेहोश पुरुष को जीवन देने वाला, तृक्षि करने वाला, वृद्धि करने वाला, स्थिरकारक, क्षीण और क्षत व्यक्ति को पाषण करने एवं रन्धान अथात् दूटे का जोड़ने वाला नासिका, मुख, कण्ठ, आष्ट्र और जाम का आह्वाद करने वाला, जलन और मूर्ढनाशक, भ्रमर और चिंतियों का प्रिय, स्निग्ध, शीत और गुह है । यद्यपि इस मधुर रस में इतने गुण हैं, तो भी इस अकेले रस को ही निरन्तर अधिक मात्रा में खाने से स्थूलता को मलता, आळस्य, नींद की अविकता, भारीपन, अज में अहचि, अग्नि की निर्बलता, मुख (गाल), गले में मांस की वृद्धि, इवास, कास, प्रतिश्वाय, अलसक, शीत ज्वर, आनाह (अफ्फारा), मुख की मधुरता, वमन, संज्ञानाश, स्वर नाश, गङ्गागण्ड, गण्डमाला, श्लापद, गले को सूजन, बस्ति, धमनी गुदा (गले में) में मांस, चर्चा या कफ कोई पदार्थ बढ़ जाता है, नेत्र रोग, अभिष्ठन्द, कफ रोग (कफसाव) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥

अम्लो रसो भक्त' रोचयति, अर्गिन दीपयति, देहं वृहयति ऊर्जयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्थमासावयति, भुक्तमयकर्षयति, क्लेदयति, जरयति, प्रीणयति, उत्पुरुणः स्तिरगधश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुक्तमानो दन्तान् हृषयति, तर्पयति, होवीजयति लोमानि, कफं विळापयति, पित्तमभिष्ठर्वयति, रक्तं दूषयति, मांसं विद्वहति, कार्यं शिथिलीकरोति, क्षीण-क्षत-कृश-दुर्बलानि इवयमुपापादयति, अपिद्वच्छताभिहत-दृष्ट-दग्ध-भवन-शून-च्युतावभूत्रित-परिसर्पित-मर्दित-चिलङ्ग-मिन्न-विशिष्ट-विद्वोत्पिष्टादीन् पाचयस्याग्नेयस्वभावात् परिवर्ही कण्ठ-मुरो हृदयं च ॥ (२) ॥

अम्ल रस अज में उचित पैदा करता है, अर्गि को बढ़ाता है, शरीर-

बढ़ाता है, तेज देता है, मन को उचेजित (जाप्त) करता है। इन्द्रियों को बढ़वान् करता है, बढ़ को बढ़ाता है वायु का अनुलोमन करता है, हृदय के लिये हितकारी है। मुख में लार चुआता है, खाये हुए भोजन को बाहर निकालता है, क्लिन (शरीर को गीला) बनाता है। खाये भोजन को पचाता है, प्रसन्नता करता है छषु, उष्ण, स्तिर्घ गुण वाला है ॥

यही पक रस यदि अषिक मात्रा में सेवन किया जाय, तो दाँतों को कोट करता है, (खटा करता है), तृती अर्थात् भोजन में अनिष्टा उत्पन्न करता है, आँखों को मीचाता है, शरीर के बालों को कंपा देता है, (रोमांचित करता है), कफ को पिलाता है, पित्त को बढ़ाता है, रक्त को दूषित करता है, मांस में जलन पैदा करता है, शरीर को ढीला (सुस्त करता है), शीण, उरः-क्षत रोगी, निर्बल, कमजोर पुरुषों में सूजन उत्पन्न करता है और भी जख्म, चोट, दांत लगे, जले, अस्थि आदिका दूटना, सूजन, सन्धिप्रशंसा, प्राणियों के मूत्रजन्य विष, स्पर्शजन्य विष (मकड़ी के), रगड़ लगे हुए, दां ढुकड़े हुए, ऊमे हुए पिसे हुए आदि ब्रणों को पका देता है। अविनगुण होने से कण्ठ, आती और हृदय में जलन उत्पन्न करता है ॥ (२) ॥

लबण रसः पाचनः क्लेदनो दीपनस्त्वयावनश्लेदनो भेदनस्तीक्ष्णः
सरो विकास्यधः स्नान्स्यवकाशकरो वातहरः स्तम्भ-बन्ध रूधात्-विधमनः
सर्वरसप्रत्यनीकभूतः, आस्यमास्नावयति, कफं विष्यन्दियति, मार्गान्
विशेषयति, सर्वशरीरावयवान्मृदूकरोति, रोचयत्याहारमाहारयोगी,
नात्यर्थं गुरुः स्तिर्घ उष्णश्च; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः
पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयात्, मूर्छयति, तापयति, दारयति,
कुण्डाति मासानि, प्रगालयति कुष्णानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति,
दन्ताश्चावयति, पुस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाणयुपरुणद्वि, बली-पलित-
खालित्यमापादयति, अपि च "लोहित-पित्ताम्ल-पित्त-बीसर्प-वात-रक्त-
विचर्चिकेन्द्रलुम्प-प्रभृतीन्विकारानुपजनयति ॥ (३) ॥

लबण रस—पाचक, नरम बनाने वाला, अविनदोपक, नीचे गिराने वाला, छेदन मेदन करने वाला, तीक्ष्ण, सर (मल लाने वाला), विकाली (क्लोद का छेदन करने वाला) अथस्तंसी, विष्यन्दशील (रेचक) विरलता करने वाला वातनाशक, मल-मूत्रादि के अवरोध को नाश करने वाला और जहां पर जरा सा अधकि हो जाता है, वहां पर और कोई दूसरा रस सह नहीं में थूक उत्पन्न करता है, कफ को पिलाता है, मार्गों का शोधन

करता है, शरीर के सब अवयवों को कोमळ करता है, आहार में इच्छि उत्पन्न करता है, आहार में सदा बरता जाता है, बहुत भारी नहीं होता, स्लिंग्व और उच्च गुणवाला है।

यही एक रस यदि अधिक सेवन किया जाय तो पिण्ठ को कुपित करता है, रक्त को बढ़ाता है, प्यास उत्पन्न करता है, संशा नाश करता है, शरीर को गरम करता है, फाड़ता है, मांस को गलाता है, कुट्टों को द्रवित करता है, विष को बढ़ाता है, सूजन को फाढ़ता है, दांतों को गिरा देता है, पुरुषत्व का नाश करता है, इन्द्रियों को जड़ बनाता है। कुर्दियां पैदा करता, बालों को इवेत करता, गंज अथात् बालों को गिराता है। इसके अतिरिक्त रक्तपित्त, ऑम्लपित्त, वीरप, बातरकत, विचर्चिका, इन्द्रलुस आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥(३)॥

कटुको रसो रक्तं शोधयति, अग्निं दीपयति, मुक्तं शोषयति, ग्राण-मासावयति, चक्षुविरेचयति, स्फुटीकरोनीन्द्रियाणि, अल्सक-न्ययथूप-चयोदर्दभिष्यन्द-नेह-स्वेद-ह्लेद-मलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं कण्ठवृत्तिन शयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंधातं भिनत्ति, बन्धा-श्लिनत्ति, मार्गान्विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रुक्षश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावान् पुंस्त्वमुपहन्ति, रसबीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्षयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, अमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णा चोपजनयति । अपिच वाय्वग्निबाहुल्याद् भ्रम-म-द-द्रवश्च^१ कृप-तोद भेदश्चरण-भुज-पार्श्वपृष्ठ-प्रभृतिषु मारुतजान्विकारानुपचनयति ॥ (४) ॥

कटु रस मुख का शोषन करता है, अग्नि को बढ़ाता है, खाये हुए भोजन को सुखाता है, नाक से कफ बहाता है, आंखों में आंख लाता है, इन्द्रियों को उत्तेजित करता है, अल्सक, सूजन, वृद्धि, उदर्द, अभिष्यन्द, स्नेह, पसीना, ह्लेद, मल का नाश करता है। क्रिमियों को मारता है, मांस का लेखन करता है (श्वृता को कम करता है) । खाये हुए भोजन का रेचन करता है, खाज को मिटाता है, ब्रणों को बैठाता है, भरता है। जमे हुए रक्त को तोड़ता है, सन्धि-बन्धनों को छेदन करता है, मांगों को उफ़ बनाता है, कफ को शान्त करता है। कषु, उच्च और रुक्ष होता है।

यही एक रस यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाय तो कटु ।

१. 'भ्रममदवमशु' इति च पाठः ।

प्रभाव से (कटु रस का कटु विपाक) पुरुषत्व का नाश करता है । रस और वीर्य के प्रभाव से संशानाश करता है । ग्लानि उत्पन्न करता है, अवरुद्ध करता है, कर्षण (निर्बल) करता है, मूर्च्छित करता है, शरीर को छुकाता है, अन्वकार लाता है, चक्कर खला है, गले में जलन तथा शरीर में तापञ्चर उत्पन्न करता है । बल को कम करता है, प्यास को पैदा करता है । बायु, अग्नि गुण की अधिकता होने से चक्कर; मुख ओठ में जलन, कंपकपी, तुमने की सी दर्द, मेदन जैसी पीड़ा, पांव, हाथ, पाश्व पसलियों और पीठ में वात विकार उत्पन्न करता है ॥ (४) ॥

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्ठारोचकघ्नो विषष्टः कृमिघ्नो मूर्च्छा-दाह-कण्ठ-कुष्ठ-तृष्णा-प्रशमनः त्वचामासयोः स्थिरीकरणो उवरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोवनो लेखनः क्लेद-मेदो-वसा-मज्ज-लसीका-पूय-स्वेद-मूत्र-पुरीष-पित्त-श्लेषमोपशोषणो रुक्षः शीतो लघुश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यान् खरविशदस्वभावाच रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्ज-शुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपशोषयति, बलमादत्तो, कर्षयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वहनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति, ॥ (५) ॥

तिक्त रस अपने आप अविकारक होने पर भी दूसरे भोजनों में इनि उत्पन्न करता है, इसलिये अरोचकनाशक है । विषनाशक, कृमिनाशक, मूर्च्छा, जलन, खाज़, कोद और प्यास को शान्त करने वाला, त्वचा मांस को स्थिर करने वाला, ज्वरनाशक, अग्निदीपक, पाचक, दूध का शोधन करने वाला, लेखन करने वाला, क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय, स्वेद, मूत्र पुराण (मल) पित्त, कफ को मुखाता है, रुक्ष, शीत और लघु है ।

यही रस अधिक मात्रा में सेवन करने से रुक्ष, कर्कश और विशद स्वभाव होने से रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र का शोषण करता है, स्रोतसों में खरता उत्पन्न करता है, बल देता है, शरीर की स्थूलता का कर्षण करता है, हर्ष का खय करता है, संशानाश करता है, चक्कर उत्पन्न करता है, मुख में शुष्कता उत्पन्न करता है और अन्य वात रोगों को भी उत्पन्न करता है ॥ (५) ॥

रसः संशमनः १ संप्राही संधारणः पीडनो रोपणः शोषणः

स्तम्भनः श्लेष्म-पित्त-रक्त-प्रश्नमनः शरीरकलेदृस्योपयोक्ता, रुक्षः शीतो गुहश्च । स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपगुच्छमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाभापयति, वाचं निगृह्णति, स्रोतास्ववज्ज्ञाति, इयावत्स्वभापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्ट्रिय जरां गच्छति, वातमूत्रं पुरीषाण्यवगृह्णति, कर्षयति, म्लापयति, तर्षयति, स्तम्भयति, स्वर-विशद्-रुक्षत्वात्पक्ष-वध-ग्रहापतानकार्दित-प्रभृतीश्च वातविकारानुपत्त-नयतीति ॥ (६) ॥

क्षाय रस संशमन करने वाला, संग्राहक, सन्धारक, व्रण का पीडन करने वाला, रोपण, व्रण को शुच्क करने वाला, स्तम्भन, कफ, रक्त, पित्तनाशक, शरीर में क्लेद को चूसने वाला, रुक्ष, शीत और गुरु है । यही रस अधिक मात्रा में उपयोग करने से मुख को मुखा देता है, हृदय को पीड़ित करता है, उदर में वायु से फुलाव उत्पन्न करता है, वाणी को जड़ कर देता है, स्रोतों को बन्द कर देता है, कृष्णता उत्पन्न करता है, पुरुषत्व को नष्ट करता है, अज्ञ को अवरोध करके पचन करता है, वात, मूत्र, मल, रेतस् (शुक्र) को बन्द कर देता है, रोक देता है, शरीर को कर्षण करता है, म्लान कर (मुख) देता है, प्यास लगाता है, जकड़ देता है । खर, विशद और रुक्ष होने से पक्षवध, हनुग्रह, मन्याग्रह, पृष्ठग्रह, अपतानक, अर्दित आदि वात रोगों को उत्पन्न करता है ॥ (६) ॥

एषमेते वृद्ध-रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपगुच्छमाना उपकारकरा भवन्त्यव्यात्मलोकस्य, अपकारकराः पुनरतोऽन्यथोपगुच्छ-मानाः । तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से ये छः रस पृथक् पृथक् या दो या तीन अथवा सब परस्पर, मिलकर मात्रा में योग्य प्रमाण से सेवन करने से सर्व प्राणिमात्र को आरोग्य पुष्टि देकर उपकार करते हैं और असम्यक् रूप में उपयोग करने से सब प्राणियों का अपकार करते हैं । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि इन को मात्रा में सम्यक् प्रकार से बरतें ॥ ४१ ॥

भवन्ति चात्र—शीतं वीर्येण यदृ द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः ।

तयोररुद्धं यदुष्णं च यज्ञोष्णं कटुर्कं तयोः ॥ ४२ ॥

तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः ।

वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतञ्चोपदेश्यते ॥ ४३ ॥

यथा पथो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।

एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद्रसतो भिषक् ॥ ४४ ॥

इसमें इलोक हैं—रसानुसारी द्रव्यों का वीर्य—जो द्रव्य रस और विपाक में मधुर हो, उस को शीतवीर्य समझना चाहिये, और जो द्रव्य रस और पाक में अम्ल हो, उस को उष्णवीर्य, जो द्रव्य रस और पाक में कट्ठ हो, उस को भी उष्णवीर्य समझना चाहिये । जो द्रव्य वीर्य और विपाक में विरोधि न हो—एक समान हो, उनके गुणों का शान रस से ही करना चाहिये । परन्तु इस का अपवाद भी है । जहाँ पर रस समान हैं, वहाँ पर विपाक द्वारा गुणों का शान होता है । जिस प्रकार कि दूध और धी मधुर रस और मधुर विपाक हैं, इन का वीर्य भी शीत है, इसी प्रकार चव्य और चित्रक इन का रस और विपाक कट्ठ हैं, इसलिये वीर्य भी इन का 'उष्ण' है । इस प्रकार से अन्य द्रव्यों को भी रसनिदेश से वैद्य सुगमता से समझ सकता है । क्योंकि रस के अनुसार गुण हैं ॥ ४२-४४ ॥

मधुरं किञ्चिदुष्णं स्यात्कषायं तिक्तमेव च ।

यथा महापञ्चमूलं यथा चानूपमाभिषम् ॥ ४५ ॥

लबणं सैन्धवं नोष्णमम्लमामलकं तथा ।

अर्कागुरुगुद्धचीना तिक्तानामुष्णमुच्यते ॥ ४६ ॥

किञ्चिदम्लं हि संग्राहि किञ्चिदम्लं भिनन्ति च ।

यथा कपित्वं संग्राहि, भेदि चामलकं तथा ॥ ४७ ॥

पिप्पली नागरं वृष्यं कटु चावृष्यमुच्यते ।

कषायः स्तम्भनः शीतः सोऽभ्यायायामतोऽन्यथा ॥ ४८ ॥

तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ।

दृष्टं तुल्यरसेऽप्येवं द्रव्ये द्रव्ये गुणान्तरम् ॥ ४९ ॥

कभी कभी मधुर, कषाय और तिक्त रस भी उष्णवीर्य हो जाते हैं । यथा—विश्वादि महापञ्चमूल तिक्त और कषाय होने पर भी उष्ण वीर्य हैं, और जल-चर या जलदेशीय मांस मधुर होने पर भी उष्ण है । सैन्धव नमक उष्णवीर्य नहीं और आंवला खट्ट होने पर भी उष्णवीर्य नहीं है । आकड़ा, अगरु और खिलोय के तिक्त रस होने पर भी 'उष्ण' वीर्य हैं । अम्ल-रस में कोई द्रव्य

मूल और कोई रेचक हैं । जिस प्रकार की कैथ अम्ल होने पर संग्राही और

अम्ल होने पर भी रेचक है । पिप्पली और सोठ कट्ठ रस होने पर भी

(कृष्णरक) हैं, क्योंकि उनका मधुर विपाक है और वैसे कट्ठ-रस

अहृष्य होता है । कषाय रस स्तम्भनकारक और शीतवीर्य होता है, परन्तु इस का कषाय रस रेचक और उष्ण-चीर्य है । इस लिये रस को ही देखकर सब द्रव्य के गुण नहीं समझने चाहिये । रस की समानता होने पर भी द्रव्य-द्रव्य में गुणमेद देखा जाता है ॥ ४५-४६ ॥

रौक्ष्यात्कषायो रूक्षाणामुक्तमो मध्यमः कटुः ।
 तिक्तोऽवरस्तथोष्णानामुष्णत्वाङ्गवणः परः ॥ ५० ॥
 मध्योऽम्लः कटुकश्चान्त्यः स्तिर्घानां मधुरः परः ।
 मध्योऽम्लो लवणश्चान्त्यो रसः स्नेहान्निरुच्यते ॥ ५१ ॥
 मध्योत्कृष्टवराः शैत्यात्कषाय-स्वादु-तिक्तकाः ।
 [तिक्तात्कषायो मधुरः शीताच्छीतवरः परः ।]
 स्वादुर्गुरुस्त्वादधिकः कषायाङ्गवणोऽवरः ॥ ५२ ॥
 अम्लात्कटुस्ततस्तिक्तो लघुत्वादुक्तमो मतः ।
 केचिङ्ग्रन्थामवरमिच्छन्ति लवणं रसम् ॥ ५३ ॥
 गौरवे लाघवे चैव सोऽवरस्तूभयोरपि ।

इन छः रसों में कषाय, कटु, तिक्त तीनों रस रूप हैं । इनमें भी कषाय रस रूपतम (उच्चम), कटु रसरूपतर (मध्यम) और तिक्त रस रूप (अवर) है । इसी प्रकार लवण रस उष्णतम (उच्चम), अम्ल उष्णतर (मध्यम), कटु रस उष्ण (अवर) है । मधुर रस स्तिर्घतम (उच्चम), अम्ल रस स्तिर्घतर (मध्यम), लवण रस स्तिर्घ (अवर) है । शैत्य धर्म सम्बन्ध की दृष्टि में कषाय रस मध्यम; स्वादु रस उत्कृष्ट और तिक्त रस अवर है । गुरुता की दृष्टि से मधुर रस सबसे गुरु, कषाय रस मध्यम और लवण रस सब से अवर है । लघु गुण की दृष्टि से अम्ल रस उच्चम, कटु मध्यम और तिक्त रस अवर है । कुछ आचार्य लवण रस को सब से लघु (अवर) मानते हैं । क्योंकि अम्ल में पृथ्वी कारण है, लवण में जल कारण है । इसलिये पृथिवीजन्य रस की अपेक्षा जलजन्य वस्तु हल्की होनी चाहिये, इसलिये भूती के आधार से गौरव या लाघव का ज्ञान नहीं करना चाहिये । क्योंकि पानी की अधिकता से उत्पन्न रस, पृथ्वी की अधिकता से उत्पन्न कषाय रस से 'गुरु' होता है । यहां पर गुरुत्व की से लघु माना है । वास्तव में इस मतभेद का कोई विशेष अर्थ नहीं, क्योंकि ही पक्ष (लवण रस) को अवर मानते हैं । अम्ल, कटु, तिक्त रस को लवण रस को गुरु समझते हैं; वे गुरुता की दृष्टि से देखते हैं ।

मानते हैं वे लघुत्व होने से लघु समझते हैं। दोनों ही पक्ष किञ्चित् मुख्य स्वीकार करते हैं ॥

परं चातो विपाकानां लक्षणं संग्रवद्यते ॥ ५४ ॥
 कटु तिक्तकवायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।
 अम्लोऽम्लं पचयते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥ ५५ ॥
 मधुरो लवणाम्लौ च स्तिर्ग्वभावात्त्रयो रसाः ।
 वात-मूत्र-पुरीषाणां प्रायो मोक्षे सुखा मताः ॥ ५६ ॥
 कटुतिक्तकवायास्तु रुक्षभावात्त्रयो रसाः ।
 दुःखाय मोक्षे दृश्यन्ते वातविष्णमूत्ररेतसाम् ॥ ५७ ॥
 शुक्रहा बद्धविष्णमूत्रो विपाको वातलः कटुः ।
 मधुरः सृष्टविष्णमूत्रो विपाकः कफशुकलः ॥ ५८ ॥
 पित्तकृत्स्तृष्टविष्णमूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः ।
 तेषां गुणः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा ॥ ५९ ॥
 विपाकलक्षणस्यालपमध्यभूयिष्ठतां प्रति ।
 ग्रन्थाणां गुणवैशेष्यात्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ॥ ६० ॥

विपाक—इसके आगे विपाको^१ का लक्षण कहते हैं। कटु, तिक्त, कषाय रस के आधार मूत्र द्रव्यों का विपाक प्रायः कटु होता है। (पिण्डों कटु रस होने पर भी विपाक में प्रायः कटु होता है। पिण्डों कटु रस होने पर भी विपाक में मधुर है, इसलिये प्राय शब्द है)। अम्ल रस का अम्ल और मधुर तथा लवण रस का मधुर विपाक होता है। मधुर, अम्ल और लवण ये तीनों रस स्तिर्ग्व होने के कारण वायु, मूत्र, मल को सुख पूर्वक बाहर निकालने में सहाय क होते हैं। कटु, तिक्त और कषाय रस रुक्षगुण होने से वात, मल, मूत्र और शुक्र के बाहर निकालने में कष्ट रूप होते हैं, अवरोध करते हैं। जिस द्रव्य का विपाक कटु होता है, वह वीर्यनाशक, मल मूत्र का अवरोध करने वाला और वायुकारक होता है। जिस द्रव्य का विपाक मधुर होता है, वह मल मूत्र का प्रवर्तक (रेचक) और कफ एवं शुक्र को बढ़ाता है। जिस द्रव्य का विपाक अम्ल होता है, वह पित्तकारक, मल-मूत्र का रेचक और वीर्यनाशक होता है।

१. विपाक—खाये हुए अन्न का जाठराग्नि में पाचन किया के पश्चात् इस उत्पन्न होता है उत्पक नाम विपाक है।

“जाठरेणाविनयोगात् यदुदयति रसान्तरम् ।

रसाना परिकामान्ते द विपाक इति स्मृतः ॥”

इन विपाकों में मधुर विपाक गुरु और कटु तथा अम्ल विपाक लघु होते हैं । विपाक के अल्पत्व और बहुत्व उस उस द्रव्य के रस रूपी गुण की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर करते हैं । उदाहरण के लिये गजे में मधुर रस अधिक प्रमाण में है, इसलिये इसका विपाक भी मधुर (उच्चम) होगा । इसी प्रकार जिसमें मध्यम प्रमाण में होगा उस का विपाक भी मध्यम, जिसमें न्यून प्रमाण में होगा, उसका विपाक भी अवर होगा । प्रत्येक पदार्थ का विपाक उसके रस के परिमाण में होता है ॥ ५४-६० ॥

तीक्ष्णं रुक्षं मृदु स्तिंशं लघूष्णं गुरु शीतलम्^१ ।
 वीर्यमष्टविधं केचित्केचिद् द्विविधमास्थिताः ॥ ६१ ॥
 शीतोष्णमिति, वीर्यं तु क्रियते येन या क्रिया ।
 नावीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥ ६२ ॥
 रसो निपाते द्रव्याणां, विपाकः कर्मनिष्ठया ।
 वीर्यं यावद्धीवासान्निपाताऽपलभ्यते ॥ ६३ ॥

कोई आचार्य वीर्य को आठ प्रकार मानते हैं । यथा—मृदु, तीक्ष्ण रुक्ष, लघु, स्तिंश, उष्ण और शीतल । और कोई आचार्य वीर्य को दो प्रकार का मानते हैं । यथा—शीत और उष्ण । रस, विपाक और प्रभाव इनसे व्यतिरिक्त जो द्रव्य के अन्दर छिपी शक्ति विशेष कार्य करती है, उसका नाम 'वीर्य' है । कार्यरहित वस्तु कुछ क्रिया नहीं कर सकती, सम्पूर्ण क्रियायें वीर्य अर्थात् शक्ति से होती हैं ।

रस, वीर्य और विपाक के पृथक्-पृथक् लक्षण कहकर अब एक द्रव्य में स्पष्ट करते हैं । जिहा के साथ किसी पदार्थ का सम्बन्ध होने पर जो रस (खट्टा, कटुवा) अनुभव होता है, वह रस, वस्तु के पाचन होने के पीछे शरीर में कफ-वृद्धि, पित्तवृद्धि, वीर्यवृद्धि, वातवृद्धि आदि कार्य के इन से जो अनुभव होता है, उसका नाम विपाक है । वस्तु का (पचन से पूर्व और रसना के सम्बन्ध होने के पीछे) शरीर के साथ संयोग होने से वीर्य का शान होता है । तथा—जलचर प्राणियों के मांस का जिहा के साथ सम्बन्ध मात्र से उष्णत्व स्पष्ट हो जाता है, मरिच का तीक्ष्णवीर्य जिहा स्पर्श से मालूम हो जाता है । मरिच की अग्निवर्धक दीपन क्रिया शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर शात होती है । रसका शान द्रव्य का जिहा के साथ सम्बन्ध होने पर तुरन्त होता है; विपाक का शान कर्म से; वीर्य का शान-शरीर में जब तक रहने से तथा जिहा के साथ सु-

१. 'मृदुतीक्ष्णगुरुस्तिंशलघुरुष्णशीतलम् ।' इति च पाठः ।

होने से होता है। रस प्रत्यक्ष है, विपाक सदा परोक्ष और वीर्य अनुमान द्वारा ज्ञात होता है। यथा—सैन्धव नमक शीत वीर्य और जलचर मांस उष्ण है। कहीं २ वीर्य का प्रत्यक्ष द्वारा भी ज्ञान हो जाता है। यथा—राई को चखकर तीक्ष्ण वीर्य का पता लग जाता है। यह वीर्य सहज और कृत्रिम है, उड़द का भारीपन और मूंग का हल्कापन यह स्वभाव से ही है। और लाजा का हल्का-पन यह कृत्रिम है॥ ६१-६३॥

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते ।

विशेषः कर्मणां चेव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥ ६४ ॥

कटुकः कटुकः पाके वीर्योल्पश्चित्रको मतः ।

तद्वृहन्ती प्रभावात्तु विरेचयनि मानवम् ॥ ६५ ॥

विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् ।

ऊर्ध्वानुलोमिकं यज्ञ तत्प्रभावप्रभावितम् ॥ ६६ ॥

मणीनां धारणीयानां कर्म यद्विविधात्मकम् ।

तत्प्रभाव कृतं तेषां, प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥ ६७ ॥

किञ्चिद्विसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम् ।

द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥ ६८ ॥

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति ।

बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ ६९ ॥

सम्यग्विपाकवीर्याणि प्रभावश्चाप्युदाहृतः ।

प्रभाव—जिस स्थान पर रस, वीर्य और विपाक की समानता होने पर भी कार्य में विशेषता उत्पन्न होती हो, उसे 'प्रभाव' कहते हैं। जिस प्रकार चित्रक (चीतामूल) का रस कटु, विपाक कटु और वीर्य उष्ण है, उसी प्रकार दन्ती (जमालगोटा) भी कटु रस, कटु विपाक और उष्णवीर्य है। परन्तु जमालगोटा विरेचन करता है, चीता नहीं करता। जो विष विष को (स्थावर विष जंगम विष को—'तस्माद् दंष्ट्राविषं मौलम्') नष्ट करता है, उसका भी कारण प्रभाव है। जो द्रव्य ऊर्ध्वगामी और अधोगामी दोनों मार्गों का संशोधन करता है, वह भी प्रभाव है। मणियों के धारण करने से विषनाश, शूलहरण आदि जो नाना प्रकार के कार्य होते हैं, वे सब प्रभाव के कारण ही होते हैं। इन द्रव्य की वह अचिन्त्य शक्ति है जिसके विषय में कुछ कह नहीं सकते कि उसका भेत्ता है। कोई द्रव्य अपने रस से, कोई वीर्य से, कोई गुण से, कोई विपाक से विषय प्रभाव से कार्य करता है। किसी पदार्थ में रस आदि का बल

समान हो, तो वहां पर रस को विपाक, रत्न और विपाक को बीर्य, रत्न, विपाक, बीर्य को प्रभाव अपने स्वाभाविक बढ़ से जीत लेता है। जिस प्रकार कि मैंस की चर्वी रत्न और विपाक में मधुर है, परन्तु बीर्य-उष्ण है, इसलिये वह मधुर रस के कार्य पित्त-श्वामन को न करके, उष्ण बीर्य के कार्य पित्तप्रकोप को करता है। मद्य, इसका रत्न और विपाक अम्ल है, बीर्य उष्ण है, परन्तु यही मद्य अपने प्रभाव से इन तीनों को रद्द करके छियों में दुग्ध उत्पन्न करता है। अब तक विपाक, बीर्य और प्रभाव का वर्णन भली प्रकार कर दिया है ॥ ६४-६६ ॥

पण्णा रसानां विज्ञानमुपदेश्याम्यतः परम् ॥ ७० ॥

स्नेहन-प्रीणनाहाद-मार्दवं रूपलभ्यते ।

मुखस्थो मधुरश्वाऽस्यं व्याप्रुवं द्विम्पतीव च ॥ ७१ ॥

दन्तहर्षान्मुखस्थावात्स्वेदनान्मुखवोधनात् ।

विदाहाद्वाऽस्यकण्ठस्य प्राशयैवाम्लं रसं बदेत् ॥ ७२ ॥

प्रलीयन्क्लेदविष्णवन्दमार्दवं कुरुते मुखे ।

यः शीघ्रं लब्धेण ज्ञेयः स विदाहान्मुखस्य च ॥ ७३ ॥

संवेजयेद्यो रसनां निपाते तुदतीव च ।

विदहन्मुखनासाक्षि संस्नावी स कटुः स्मृतः ॥ ७४ ॥

प्रतिहन्ति निपाते यो रसनं स्वदते न च ।

स तिक्तो मुख-वैश्या-शोष-प्रह्लाद-कारकः ॥ ७५ ॥

वैश्या-स्त्रभ-जाह्नवीर्यो रसनं योजयेद्रसः ।

बभ्रातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि ॥ ७६ ॥ इति ॥

इसके आगे छः रसों के लक्षण कहते हैं। जो रस स्निग्धता, प्रसन्नता, आहाद अथवा मृदुता उत्पन्न करता है, मुख में रखने से समूर्ण मुख को चिकास से भर देता है, लिसिलिसा बना देता है, वह मधुर रस है। जो रस दांतों को खट्टा कर देता है, मुख से थूक (लाला) चुआता है, पसीना लाता है, मुख में जागृति उत्पन्न कर देता है, मुख और गड़े में जलन करता है, वह 'अम्ल' रस है। जो रस मुख में रखने से घुलने लगे, क्लिन नमीदार, लाला बहावे, मुख में हल्कापन लाये, मुख में विदाह करता हो, उसे 'लब्ध' रस कहते हैं। जो रस जीम को छूते ही चुरचुराहट उत्पन्न करे और सुई जैला चुभने लगे, मुख को जलाता हुआ नाक और आँखों से पानी बहाने लगे तो 'कहु' रस है। जो रस जीम के साथ स्पर्श होने पर जीम को जड़ कर ले और कुछ अच्छा नहीं लगता और मुख को चाप करता है, सुन्दरी की

आल्हादित करता है वह 'तिक्त' रस है । जिस रस के खाने से जीम स्वच्छ, ज़ह और स्तम्भित हो जाती है और गले को रोक देता है और हृदय को पीड़ित करता है, वह 'कषाय' रस है ॥ ७०-७६ ॥

एवंबादिनं भगवन्तमात्रेयं पुनरग्निवेश उवाच—भगवन् ! श्रुत-
मेतदवितथमर्थसंपद्युक्तं भगवतो यथावद् द्रव्यगुणकर्मधिकारे उच्चः,
परं त्वाहारविकाराणां वैरोधिकाणां लक्षणमनतिसंक्षेपेणोपदिश्यमानं
शुश्रृष्टामह इति ॥ ७७ ॥

नमुदाच भगवान्त्रेयः—देहवातुपत्यनीकभूतानि द्रव्याणि देह-
धातुभिर्विरोधमापद्यन्ते, परस्परगुणविरुद्धानि कानिचिन् कानिचित्सं-
योगात्संस्कारादपराणि देश-काल-मात्रादिभिर्आपराणि तथा स्वभावा-
दपराणि ॥ ७८ ॥

तत्र यान्याहारमधिकृत्य भूयिष्ठमुपगुज्यन्ते तेषामेकदेशं वैरोधिक-
मधिकृत्योपदेश्यामः—न मत्स्यान् पयसा सहाध्यवद्दीर्त्, उभयं
ह्येतन्भवुरं मधुरविपाकं महाभिष्यन्दि शीतोष्णत्वाद्विरुद्धवीर्यं विरुद्ध-
वीर्यत्वाच्छाणितप्रदूषणाय महाभिष्यन्दित्वान्मार्गोपरोधाय चेति ॥ ७९ ॥

इस प्रकार से कहते हुए महर्षि आत्रेय को अग्निवेश ने कहा कि हे भगवन् ! आपने द्रव्यगुण कर्म के विषय में जो कुछ अर्थयुक्त वाणी कही है, वह यथार्थ रूप में सुन ली । परन्तु विरुद्ध आहार के लक्षणों को विस्तार से सुनने की इच्छा से, इच्छिये आप उसको प्रतिगादन करें । इस पर आत्रेय श्रूपि ने कहा—शरीर के रसादि सात धातु या वातादि दोष, इनको प्रकृति के विरुद्ध करने (दूषित करने) वाले द्रव्यों से शरीर के धातु विगड़ जाते हैं । इन द्रव्यों में कुछ द्रव्य परस्पर गुणों से कुछ संयोग से और कुछ संस्कार से, कुछ देश, काल, मात्रा से और कुछ स्वभाव से ही दूषित करने वाले (विरोधी गुण के) होते हैं । परस्पर विरुद्ध जैसे मछलियों को दूध के साथ खाना । संयोग विरुद्ध—जैसे पके हुए बड़हल को उड़दों में मिलाकर खाना । संस्कार विरुद्ध—जैसे कबूतर को सरसों के तेल में भून कर खाना । देश दो प्रकार का है, भूमि और शरीर । भूमि विरुद्ध—राख और धूल में मिला भोजन या परोक्ष में बना भोजन खाना । शरीरविरुद्ध—उष्णावस्था में मधु खाना । समयविरुद्ध—वासी रक्खा मकोय का खाना । मात्रा विरुद्ध—एक बजून में मधु और धी खाना । स्वभाव विरुद्ध—
विष झोज के विरुद्ध दसगुण रखता है । इनमें से जो विरोधी द्रव्य
में व्यवहार किये जाते हैं, उनके कुछ उदाहरण देते हैं । यथा-

मछलियों को दूध के साथ नहीं खाना चाहिये । क्योंकि दोनों ही वस्तुएं मधुर रस और मधुर विपाक वाली हैं । इसलिये दोनों को एक साथ सेवन करने से कफ की बहुत वृद्धि होती है, दूध शीतवीर्य और मछलियां उष्णवीर्य हैं । इसलिये रक्त को दूपित करती हैं और महा अभिष्यन्दि होने से स्रोतों को रोक देगी ॥

तदनन्तरमात्रेयवचनमनुनिश्चयं भद्रकाप्योऽग्निवेशमुवाच—
सर्वानेव मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेदन्यत्रैकस्माच्छिलिच्चिमात्, स पुनः
शकली सर्वतो लोहितराजी रोहितप्रकारः प्रायो भूमौ चरति, तं चेत्प-
यसा सहाभ्यवहरेत्रिः संशयं शोणितजानां विबन्धजानां च व्याधीनाम-
न्यतममथवा मरणं प्राप्नुयादिति ॥ ८० ॥

आत्रेय महर्षि के वचन को श्रवण कर भद्रकाप्य मुनि अग्निवेश को बोले कि एक चिलचिम मछली को छोड़कर और सब मछलियों को दूध के साथ खा सकते हैं । इस चिलचिम मछली पर चारों ओर लाल लाल रेखायें, धारियां होती हैं, इसका रंग लाल होता है और प्रायः मूर्मि (रेगिस्तान, जैसलमेर में जिसे रेगमाही मच्छी कहते हैं) में फिरती हैं । इस मछली को दूध के साथ खाने से निश्चय रूप में रक्तजन्य या अवरोध (मलमूत्र) जन्य रोगों या मृत्यु को भी प्राप्त हो सकता है ॥ ८० ॥

नेति भगवानात्रेयः । सर्वानेव मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेद्विशेषतस्तु
चिलिचिमं, स हि महाभिष्यन्दित्वात्स्थूलक्षणतरानेतान् व्याधीनुपज-
न्यत्यामविषमुदीरयति च ॥ ८१ ॥

प्राप्यनानुपौदकपिशितानि च मधुतिल-गुण-पयो-माष-मूलक-विसे-
विरुद्धधान्यैश्च नैकधाऽद्यात्, तन्मूलं च बाधिर्यान्त्य-वेपशु-जाड्य-विक-
ल-मूक्तामैन्मिष्यमथवा मरणमानोति न पौष्टकं, रोहिणीकं शाकं,
कपोतान् वा सार्षप-तेल-मृष्टान्मधुपयोद्यां सहाभ्यवहरेत्, तन्मूलं हि
शोणिताभिष्यन्द-धमनी-प्रविचयापस्मार-शङ्ख-गङ्गण्ड-रोहिणीकाना-
मन्यतमं प्राप्नोत्यथवा मरणमिति । न मूलक-लशुन कृष्णगन्धार्जक-
सुमुख-सुरसादीनि भक्षयित्वा पयः सेव्यं, कुष्ठावाधभयात् । न जातुक-
शाकं न लिकुचं पक्कं मधुपयोद्यां सहोपयोज्यं, एतद्वि मरणायाथवा
बल-वर्णन्तेजो-बीर्योपरोधायालघुव्याधये षाणद्वाय चेति । तदेव लिकुचं
पक्कं न माष-सूप-गुण-सर्पिंगिः सहोपयोज्यं वैरोधिकत्वात् । तथा अम्लाद-
तक-मातुलुङ्क-लिकुच-कर्मद-मोत्त-दन्त-शठ-बदर-कोशाम्र-भवय-ज-
कपित्थ-तिन्विढीक-पारावताक्षोट-पनस-नालिकेर-दाढ़िमामछलि की

प्रकाराणि चान्यानि सर्वं चामलं द्रवमद्रवं च पयसा सह विरुद्धम् । तथा ककुवनक-भकुष्ठक-कुलत्थ-पाप-निषावाः पयसा सह विरुद्धाः पद्मोत्त-रिकाशाकं शार्करो मेरेयो मधु च सहापयुक्तं विरुद्धं वातं चातिकापयति । हारिद्रकः सर्षप-तेल-भृष्टो विरुद्धः पित्तं चातिकापयति । पायसा मन्था-नुपानो विरुद्धः श्लेष्माणं चातिकापर्यात । उपोदिका तिलकलकसिद्धा हेतुरतीसारस्य । बलाका वारण्या सह कुल्मापरं पित्तं विरुद्धा । सैव मूकरबसापरिभृष्टा सद्यो व्यापादयति मायूर-मांसमेरण्ड-सीसकावस-क्तमेरण्डगिन-प्लृष्टमेरण्डतेल-युक्तं सद्यो व्यापादयति तदेव भस्मपांसु-परिध्वस्तं सक्षाद्रं मरणाय । हारीतकमांसं हारिग्रदसीसकावसक्तं हारिद्रा-गिनप्लृष्टं सद्यो व्यापादयात । तदेव भस्मपांशुपारध्वस्तं सक्षाद्रं मरणाय मत्स्यानेस्तालनसिद्धाः पिप्पल्यस्तथा काकमाची मधु च मरणाय; मधु चोष्णमुष्णार्तस्य च मधु मरणाय । मधुसर्पिणी समधृतं; मधु वारि-चान्तरिक्षं समधृतं, मधुपुष्करबांजं, मधु पांत्वाष्णोदकं, भज्ञातकाष्णो-दकं; तक्कसिद्धः कम्पिल्लकः, पर्युषिता काकमाची, अङ्गारशूल्या भास-श्रीत विरुद्धानि—इत्येतद्यथाप्रश्नमभिनिर्दिष्टं भवतांत ॥ ८२ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा—यह टीक नहीं । सभी मछलियाँ को दूध के साथ नहीं खाना चाहिये, परन्तु खासकर चिलचिम मछली को तो कभी भी नहीं खाना चाहिये । क्योंकि यह मछली (चिलचिम) बहुत अभिष्यन्द करने वाली है, इसलिये भयंकर बड़े २ रोगों को और आमविष को उत्पन्न करती है । ग्राम्य, आनुप और जलचर प्राणियों का मांस, मधु, तिल, गुड, दूध, उड्ढ, मूली, भिस, नाल, अंकुरित धान्यों के साथ एक साथ नहीं खाना चाहिये । इन के साथ में खाने से बहरापन, अन्वत्व, कम्पन, जड़ता, अव्यक्त उच्चार (मिन्मिन) गूँगापन, नाक से बोलना, अथवा मरण तक हो सकता है । पुष्करपत्र के शाक कटु रोहिणी के शाक का, या कबूतर के मांस के सरसों के तेल में भूनकर दूध और शहद के साथ नहीं खाना चाहिये; इन के खाने से रक्ताभिष्यन्द, तिराजन्य ग्रन्थिनोग, अपस्मार, शंखकशूल, गलगण्ड, रोहिणी (कण्ठरोहिणी) रोगों में से काँई एक रोग अथवा मृत्यु प्राप्त होती है । मूली, लहसुन, शोभाज्ञन की भाजी, अर्जक (कुटरेक), सुमुख (राई) और दुलसी आदि को खाकर दूध नहीं पीना चाहिये, क्योंकि कुष्ठरोग होने की शंका है । वंशपत्रिका का कुश या पके हुए क्यों (बड़हल) को शहद और दूध के साथ नहीं खाना

टिक' इति च पाठः ।

चाहिये, क्योंकि इन के खाने से या तो मृत्यु हो जाती है, अथवा बल, वर्ण, तेज, वीर्य का नाश होता है और बड़े २ रोग तथा नपुंसकता उत्पन्न होती है। इसी पके हुए घ्यो फल को उड्ड की दाल, गुड़ और धी के साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिये क्योंकि संयोग विशुद्ध है। इसी प्रकार कच्चे आम, विजौरा, घ्यो, कर्दौदा, केला, निम्बू, बेर, जंगली आम, कमरख, जामुन, कैथ, इमली, फालसा, अखरोट, पनस (कठहल), नारियल, अनार, आंवला या इस प्रकार के अन्य सब तरल अथवा ठोस सब प्रकार के खट्टे पदार्थ दूध के साथ विरोधी गुण रखते हैं। इसी प्रकार कंगु (नीबार धान्य), जंगली मूंग, मोठ, कुलत्थी, उड्ड, या पिंडी से बने पदार्थ दूध के साथ विरोधी हैं। पद्मोद्धरिका के शाक, को शक्कर, मैरेय, मधु के साथ खाना विशुद्ध है और वायुकारक है। कबूतर को सरसो के तेल में भूनकर खाना विशुद्ध है, वह पिन्न को बहुत कुपित करता है। सत्तू को दूध में या खीर में भूनकर खाना विशुद्ध है और लेघ्या को बढ़ाता है। तिल कल्क के साथ तेयार की हुई चोलाई की भाजी अनुसार रोग को उत्पन्न करती है। बलाका (पक्षी), वारुणी-शराव तथा कुलमाप (धान्य) के साथ विशुद्ध है। इसी बलाका पक्षी को सुअर की चर्वी में भूनकर खाने से शीघ्र मरण होता है। मोर का मांस, एरण्ड की कड़छी (खौंचा, भूनने की लकड़ी) से, एरण्ड की लकड़ियों की आग से, एरण्ड तैल में पकाकर खाने से तुरन्त मार देता है। हल्दा कबूतर का मांस, हल्द की लकड़ी की बना कड़छी से, हल्द की लकड़ियों के आंच में पकाकर खाने से शीघ्र मार देता है। इसी कबूतर के मांस को राख, धूल में मिले हुए शहद में मिलाकर खाने से मृत्यु होती है। मछलियों की चर्वी में अथवा जिस वर्षन में मछलियां पकाई जाती हैं, उसी पात्र में पिप्पली, मकोय या शहद पकाकर खाने से मृत्यु होती है। उष्ण किया करने पर या उष्ण शरीरावस्था में गरम शहद खाना मृत्यु का कारण होता है। एक मात्रा में मधु और धी, मधु और वृष्टि जल, शहद और कमलगद्वा, मधु पीकर गरमपानी, भिलावा और गरमपानी, छाँड में सिद्ध पकाया कमीला, रात की बासों रखवी मकोय, अंगारों पर शूलाकृत भास (कुक्कुट) पक्षी का मांस ये विशुद्ध होते हैं। ये प्रश्न के अनुसार विरोधी अन्न कह दिये गये ॥ ८१-८२ ॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न निर्हरति कायतः ।

आहारजातं तत्सर्वमहितायोपपत्ते ॥ ८३ ॥

यज्ञापि देश-कालाग्नि-मात्रा^१-सात्म्यानिलादिभिः ।
 संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाकमैरपि ॥ ८४ ॥
 परिहारोपचाराभ्यां पाकात्संयोगतोऽपि च ।
 विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत् ॥ ८५ ॥
 विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्षणादि धन्वनि ।
 आनूपे स्तिनग्धशीतादि भेषजं यज्ञिषेव्यते ॥ ८६ ॥
 कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीत-रूक्षादि-सेवनम् ।
 शीते काणे तथोष्णे च कटुकोष्णादि-सेवनम् ॥ ८७ ॥
 विरुद्धमनले तद्वन्नानुरूपं चतुर्विधे ।
 मधुसर्पिः समधृतं मात्रया तद्विरुद्ध्यते ॥ ८८ ॥
 कटुकोष्णादि-सात्म्यस्य स्वादुशीतादि-सेवनम् ।
 यत्तसात्म्यविरुद्धं तु, विरुद्धं त्वानलादिभिः ॥ ८९ ॥
 या समानगुणाभ्यां सविरुद्धान्तोषधक्रिया ।
 संस्कारतो विरुद्धं तद्यद्वोजयं विपवद् भवेत् ॥ ९० ॥
 ऐरण्डसीसकासकं शिखिमार्सं तथैव हि ।
 विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यतः शांतलात्मकम् ॥ ९१ ॥
 तत्संयोजयोष्णवोर्येण द्रव्येण सह सेव्यते ।
 क्रूकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम् ॥ ९२ ॥
 मृदुकोष्ठस्य गुरु च भेदनीयं तथा वहु ।
 एतत्कोष्ठविरुद्धं तु, विरुद्धं स्यादवस्थया ॥ ९३ ॥
 अम-व्यवाय-न्यायाम-सक्तस्यानिलकोपनम् ।
 निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम् ॥ ९४ ॥
 यज्ञानुत्सूज्य विष्मूर्चं भुज्जते यज्ञावुभुक्षितः ।
 तच्च क्रमविरुद्धं स्याद्यज्ञातिक्षुद्रशानुगः ॥ ९५ ॥
 परि हारविरुद्धं तु वराहादीज्ञिषेव्य यत् ।
 सेवेतोष्णं, घृतादीश्च पीत्वा शीतं निषेवते ॥ ९६ ॥
 विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दृरुसाधिनम् ।
 अपकृतपूलात्यर्थ-पक्ष-दग्धं च यद्वेत् ।
 संयोगतो विरुद्धं यथाऽम्लं पयसा सह ।
 अमनोहचितं यज्ञ हृद्विरुद्धं तदुच्यते ॥ ९७ ॥

[स्यासात्म्यानिलादिभिरिति च पाठः ।

संपद्विरुद्धं तद्विद्यादसंजातरसं तु यत् ।
 अतिक्रान्तरसं वाऽपि विपन्नरसमेव वा ॥ ६६ ॥
 ज्ञेयं विधिविरुद्धं तु भुज्यते निभृतेन यत् ।
 तदेवंविधमन्नं स्थाद्विरुद्धमुपयोजितम् ॥ १०० ॥
 सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्तामेस्तरुणस्य च ।
 स्नेह-न्यायाम-बलिनो विरुद्धं वितरथं भवेत् ॥ १०१ ॥
 षष्ठ्यान्ध्य-वीसर्प-दकोदराणां विस्फोटकोन्माद-भगन्दराणाम् ।
 मूर्छा-मदाध्मान-गलामयानां पाण्डवामयस्याऽम-विषस्य चैव ॥ १०२ ॥
 किलास-कृष्ण-ग्रहणी-गदानां शोषास्थ-पित्त-ज्वर-पीनसानाम् ।
 संतानदोषस्य तथैव मृत्योविरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥ १०३ ॥

जो भोजन दोषों को विशेष रूप में कुपित करके शरीर से बाहर नहीं करता, अर्थात् कुपित अवस्था में शरीर में ही रहने देता है वह सब अन्न अहितकारी होता है । इसी प्रकार देश, काल, अग्नि, सात्म्य, वायु आदि दोष, संस्कार वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, उपचार, पाक, संयोग, हृत-संपत् और विधि में जो द्रव्य विरोधी हो, वे अहितकारी हैं । मारवाह आदि निर्जल देशों में रुद्ध, तीक्ष्ण पदार्थ; जलबहुल (बंगाल आदि) प्रदेश में स्तिर्घ और शीत पदार्थों का सेवन करना देशविरुद्ध है । इसी प्रकार शीत श्रुतु में शीत और रुक्ष पदार्थों का सेवन या उष्णकाल में कटु और उष्ण पदार्थों का सेवन कालविरुद्ध है । अग्नि के विषम, मन्द या तीक्ष्ण या सम इन चार प्रकार की जाठराग्नि में विरोधी अन्न-यान (यथा-तीक्ष्णाग्नि में मन्द आहार और मन्दाग्नि में गुरु आहार करना) विरोधी है । मधु और धी एकसमान मात्रामें परस्पर विरोधी हैं । जिस पुरुषको कटु, उष्ण आदि वस्तुओं का सात्म्य हो, वह यदि मधुर और शीत पदार्थ सेवन करे तो यह सात्म्य-विरोधी है । समान गुणों के अस्यात् के विरुद्ध जो आहार है वह वायु आदि दोषों का भी विरोधी है । एरण्ड की कड़छी से पकाया हुआ मोर का मांस विष के समान होने से संस्कार-विरुद्ध है । जो वस्तु शीतवीर्य हो उस को यदि उष्णवीर्य की वस्तु के साथ मिलाकर खाया जाये तो यह शीर्य-विरोधी है । क्रूरकोष्ठ वाले पुरुष को थोड़ा, मृदुवीर्य अथवा अरेचक पदार्थ देना और मृदुकोष्ठ वाले पुरुष को गुरु, बहुत अथवा रेचक पदार्थ देना, कोष्ठविरोधी है । परिम, मेशुन, ऊसंग और व्यायाम में लगे हुए पुरुष को वायुकोपक आहार देना या निद्राशील, आलसी पुरुष को कफकोपक भोजन देना अवस्थाविशद्ध जो मल मूत्र का त्याग किये विना, विना भूख के खाना, अथवा बड़ी

लाचार होकर खाना ये क्रमावैरुद्ध है। सुअर आदि का मास खाकर या गरम अथवा घी आदि खाकर ऊपर शीतल पदार्थों का सेवन करना परिहार विरोधी है। दुष्ट या बुरी (बांस आदि, या मिट्टी के तेल से) लकड़ियों से पकाये, कच्चे-पके, बहुत पके, या जले हुए चावल आदि आहार का खाना पाकविरोधी कहते हैं। खटाई का दूध के साथ संयोग करना यह संयोगविरोधी है। जो आहार मन को नहीं रुचता वह हृदयविरोधी है। जिस आहार में रस उत्पन्न नहीं हुआ वह सम्पदविरुद्ध है। इसी प्रकार जिस आहार का रस नष्ट हो गया या विगड़ गया है, वह भी सम्पदविरुद्ध है। जो भोजन एकान्त में नहीं खाया जाता है वह आहारविधि अर्थात् शाख के विरुद्ध है। इस प्रकार का विरोधी अब भी स्वस्थ पुरुष को, जिसकी अग्नि दीप हो, युवा पुरुष को, साल्प्य बन गया हो, या अल्पमात्रा में हो अथवा स्नेह एवं व्यायाम से बलवान् बने पुरुष को विरुद्ध भोजन विशेष हानि नहीं करते।

विरोधी अब के सेवन से निम्न रोग उत्पन्न होते हैं। यथा—नपुंसकता, अन्त्वापन, वीसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगन्दर, मूर्छा, मद, अकारा, गलरोग, पाण्डुरोग, आमविष, किळास, कुष्ठ, संग्रहणी, शोष, रक्तपित्त, ज्वर, पीनस। इसी प्रकार संतति में पहुंचने वाले दोषों एवं मृत्यु का भी कारण विरुद्ध आहार को ही कहते हैं ॥ ८८—१०३ ॥

एषां च खलु परेषां च वेरोधिकनिमित्तानां व्यधीनामिमे भावाः प्रतिकारा भवन्ति । यथा—वमनं विरेचनं च, तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः, तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ १०४ ॥

इस प्रकार के विरुद्ध अब पान के सेवन से अथवा अन्य विरोधस्पी कारणों से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा के ये उपाय हैं। यथा—वमन, विरेचन, उक्त रोगों के विरोधी द्रव्यों का शान्ति के लिये उपयोग करना, विरुद्ध आहार-जन्य रोगों के विरुद्धद्रव्यों का निरन्तर उपयोग करके शरीर को संस्कृत करना, अथवा रसायन औषधियों से शरीर को शुद्ध करना ॥ १०४ ॥

भवति चात्र—विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।

वमनं शमनं चैव पूर्वं वा हितसेवनम् ॥ १०५ ॥

~~विरुद्ध आहार से उत्पन्न रोगों को विरेचन, वमन, संशमन किया अथवा~~

~~धूषि के निवारणार्थ पहले ही पथ्य तद्दृश्यायनादि का सेवन नष्ट~~

~~करना ॥ १०५ ॥~~

तत्र श्लोकः—मतिरासीन्महाषीणा या या रसविनिश्चये ।
 द्रव्याणि गुणकर्मभ्यां द्रव्यसंख्या रसाश्रयाः ॥ १०६ ॥
 कारणं रससंख्या या रसानुरसलक्षणम् ।
 परादीनां गुणानां च लक्षणानि पृथक् पृथक् ॥ १०७ ॥
 पञ्चात्मकानां षट्क्वचं च रसानां येन हेतुना ।
 ऊर्ध्वानुलोमभाजश्च यद्गुणातिशयाद्रसाः ॥ १०८ ॥
 षण्णां रसानां षट्क्वचं च सविभक्ता विभक्तयः ।
 उद्देशश्चापवादश्च द्रव्याणां गुणकर्मणी ॥ १०९ ॥
 प्रवरावरमध्यत्वं रसानां गौरवादिषु ।
 पाकप्रभावयोर्लिङ्गं वीर्यसंख्याविनिश्चयः ॥ ११० ॥
 षण्णामास्वाद्यमानानां रसानां यत्स्वलग्नम् ।
 यद्यद्विरुद्ध्यते तस्माद्येन यत्कारि चैव यत् ।
 वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामौषधं च यत् ।
 आत्रेयभद्रकाप्यीये तत्सर्वमवदन्मुनिः ॥ ११२ ॥

रस-निश्चय सम्बन्ध में महर्षियों की भिन्न २ मति, द्रव्यों के गुण कर्म, रस की संख्या, इन के मेद होने के कारण, रस या अनुरस का लक्षण, पर आदि गुण एवं उन के लक्षण, पंच महाभूतों से उत्पन्न रसों की संख्या, कौन कौन द्रव्य ऊर्ध्वगामी, अधोगामी क्रिया करते हैं, छः रसों के विभाग, रसके आघार-भूत द्रव्यों के सामान्य गुण, कर्म और इनके अपवाद, गौरव, लघुता, रसों में उत्कृष्ट, मध्यम, अवर मेद, विपाक, प्रभाव का लक्षण, वीर्य कितने प्रकार का, छः रसों के लक्षण, परस्पर विरुद्ध द्रव्य, इन के उत्पन्न विकार एवं इन रोगों की औषध ये सब विषय इस 'आत्रेय-भद्रकाप्यीय' अध्याय में आत्रेय शृष्टि ने कह दिये ॥ १०६-११२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थानेऽजपानचतुष्के
 आत्रेयभद्रकाप्यीयोऽध्यायः षड्विंशतितमः समाप्तः ॥ २६ ॥

सप्तविंश्तोऽध्यायः ।

अथातोऽजपानदिविमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
 इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के आगे अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२॥

इष्ट-बर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शं विविविहितमन्नपानं प्राणिना प्राणिसंह्व-
कानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्, तदिन्धना हृन्तराग्नेः
स्थितिः; तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीर-वातुन्यूह-बल-बर्णनिद्रियप्रसाद-
करं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय संपद्यते ॥ ३ ॥

प्रिय या हितकर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शयुक्त विधिपूर्वक^१ सेवन किया अन्न
पान, प्राणिमात्र का प्राण है; ('अन्नं वै प्राणाः') ऐसा विद्वान् मनुष्य कहते
हैं। सब प्राणियों के प्राण स्थिर रखने के लिये आहार मुख्य कारण है। यह बात
प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। ठीक प्रशार सेवन करने पर अन्न शरीर में स्थित
जाठराग्नि का आधार है और इस अग्नि का अन्न इन्धन सूप होता है। अन्न के
सेवन करने से मन की शक्ति बढ़ती है, शरीर के धातुसमूह, बल वर्ण बढ़ता है,
तथा इन्द्रियां निर्मल होती हैं। विवि से विपरीत^२ सेवन करने पर अन्न, विप-
रीत परिणाम उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

तस्माद्द्विताहितावोधनार्थमन्नविधिमत्तिलेनोपदेश्यामोऽग्नि-
वेश ! तत्स्वभावादुदकं लोदयति, लवणं विष्यन्दयति, क्षारः पाचयति,
मधु संदधाति, सर्पिः स्नेहयति, क्षीरं जीवयति, मांसं वृंहयति, रसः
प्रीणयति, सुरा जर्जरांकरोति, शीधुरवधमयति, द्राक्षासवो दीपयति,
फाणितमाचिनोति, दधि शोफं जनयति, पिण्याकशाकं ग्लपयति, प्रभू-
तान्तर्मलो माषसूपः, दृष्टिशुक्रवनः क्षारः, प्रायः पित्तालमम्लमन्यत्र दाढ़ि-
मामल्कात्, प्रायो मधुरं श्लेष्मलमन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालियवगो-
धूमात्, प्रायः सर्वं तिक्तं वातलमवृष्यं चान्यत्र वेत्राग्रपटोलात्, प्रायः
कटुकं वातलमवृष्यं चान्यत्र पिपलीविश्वभेषजात् ॥ ४ ॥

इसलिये है अग्निवेश ! हितकारी और अहितकारी विषयका ज्ञान करने के लिये अन्न-
पान विधि को विस्तार से कहते हैं। स्वाभाविक रीति से जल (क्लिन्टा) उत्पन्न करता
है। लवण विष्यन्द (नरम बनाना, जलस्ताव उत्पन्न) करता है। क्षार पाचन करता है,
शहद जोड़ता है, धी निकना बनाता है। दूध जीवन देता है, मांस वृंहण
पोषण देता है। रस क्षीणता को पुष्ट करता है। मध्य शरीर को जीर्ण करता है।
शेष [सिरका] शरीर का लेखन करता है, द्राक्षासव अग्नि को बढ़ाता है।

^१ सूत्रस्थान इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय (८। सू. १६) में ('नारक-
दृष्टिशुक्रवन्') इन्द्रियादि भोजन करने के सम्बन्ध में उचित विधान किया है।

फाणित [राब] वात, पित्त, कफ इन को बढ़ाता है, दही सूजन को उत्पन्न करता है। पिण्याक (तिलकल्क) और हरे शाक प्रसन्नता का नाश करते हैं। उड्ड की दाल मल को विशेष रूप से उत्पन्न करती है। शार नेत्र और शुक्र को नाश करते हैं। अनार और आंवले को छोड़ कर प्रायः सब अम्ल पित्तकारक हैं। मधु और पुराने चावल, जौ और गेहूं को छोड़कर प्रायः करके मधुर रस कफकारक होता है, वेंत के अग्रिम भाग और परवल को छोड़ प्रायः करके सब तिक्त रस वायुकारक और शुक्रनाशक होते हैं। पिप्पली और सोठ को छोड़ कर प्रायः करके सब कटु रस वायुकारक तथा शुक्रनाशक हैं ॥ ४ ॥

परमतो वर्गसंग्रहेणाहारद्रव्याण्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

शूकधान्य-शमीधान्य-मांस-शाक-फलाश्रयान् ।

वर्गान् हरित-मद्याम्बुन्गोरसेषु-विकारिकान् ॥ ६ ॥

दश द्वौ च परौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम् ।

सप्तवर्षीयविपाकैऽप्रभावैश्च प्रचक्षमहे ॥ ७ ॥

इस के आगे वर्गक्रम से आहार पदार्थों की व्याख्या करेंगे। यथा—शूक्रवर्ग, शमीधान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, हरितवर्ग, मद्यवर्ग, अम्बुवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुविकारवर्ग, कृतान्नवर्ग और आहारयोगवर्ग। इन बारह वर्गों में सब द्रव्यों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव का वर्णन करेंगे ॥ ५-७ ॥

अथ शूकधान्यवर्गः—

रक्तशालिर्महाशालिः कलमः शकुनाहृतः ।

तूर्णको दीघेशूक्रश्च गौरः पाण्डूकलाङ्गलौ ॥ ८ ॥

सुगन्धिका लोहवालाः शारिवाख्याः प्रमादनाः ।

पतञ्जलिस्तपनीयाश्च ये चान्ये शालयः शुभाः ॥ ९ ॥

शीत रसे विपाके च मधुराः स्वल्पमारुताः ।

बद्धाल्पवर्चसः स्निग्धा बृंहणाः शुक्रमूत्रलाः ॥ १० ॥

रक्तशालिर्वरस्तेषां तृष्णाम्रश्चिमलापहः ।

महास्तस्यानु कलमस्तस्याप्यनु ततः परे ॥ ११ ॥

यवका हायनाः पांशुवाप्या नैषधकादयः ।

शालीना शालयः कुर्वन्त्यनुकारं गुणागुणैः ॥ १२ ॥

शीतः स्निघोऽगुरुः स्वादुखिदोषघ्नः स्थिरात्मकः ।

षष्ठिकः प्रवरो गौरः कृष्णगौरस्ततोऽनु च ॥ १३ ॥

बरकोहालकौ चीन-शारदोज्जवल-दुरुराः ।

गन्धलः कुरुविन्दाश्च षष्ठिकाल्पान्तरा गुणः ॥ १४ ॥
 मधुरश्चाम्लपाकश्च ब्रीहिः पित्तकरो गुरुः ।
 बहुमूत्रपूरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥ १५ ॥
 सकोरदूषः इयामाकः कषायमधुरो लघुः ।
 वातलः कफपित्तच्छः शीतः संग्राहिशोषणः ॥ १६ ॥
 हस्ति-इयामाक-नीवार-तोय-पणी-गवेधुकाः
 प्रशातिकाम्भः इयामाक-लोहिताणु-प्रियङ्कवः ॥ १७ ॥
 मुकुन्दो शिणिटगर्मुटो चारुका वरकास्तथा ।
 शिविरोत्कटजूर्णाह्नाः इयामाकसदृशा गुणः ॥ १८ ॥
 रुक्षः शीतोऽगुरुः स्वादुर्बहुवातशकृद्यवः ।
 स्थैर्यकृत्सकषायस्तु वल्यः श्रेष्ठमविकारनुत् ॥ १९ ॥
 रुक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा ।
 मेदः क्रिमिविषयनश्च वल्यो वेणुयवो मतः ॥ २० ॥
 सन्धानकृद्वातहरो गोधूमः स्वादुशीतलः ।
 जीवनो वृद्धणो वृद्ध्यः स्तिंग्धः स्थैर्यकरो गुरुः ॥ २१ ॥
 नन्दीमुखी मधूर्ठो च मधुरस्तिंग्धशीतले ।
 इत्ययं शूकधान्यानां पूर्वो वर्गः समाप्यते ॥ २२ ॥

रक्तशालि, महाशालि, कलम, शकुनाहृत, तर्णक, दोर्घटक, गौर, पाण्डुक, लंगुल, सुगन्धिकर (हंसराज), लोहवाल, शारिवा, प्रमोदक, पतंग और तपनीय तथा अन्य उच्चम शालि (चावल) ठण्डे, रस और विपाक में मधुर, किंचित् वातकारक, स्तिंग्ध, पुष्टिकारक, शुक और मूत्रवद्धक हैं । मल को थोड़ा उत्पन्न करनेवाले एवं रोकने वाले हैं (मधुर विपाक होने से कब्ज़ करना प्रभाव से है) । इन सब चावलों में लाल चावल श्रेष्ठ हैं, ये लाल चावल तृष्णानाशक और त्रिदोषनाशक हैं । इन से उत्तर कर महान् शालि, फिर कलम और फिर उच्चरोत्तर गुण न्यून होते गये हैं । यवक, ^१ हायन, पांसु, वाप्य, नैषध आदि चावल (मोटे धान्य) लाल चावल आदि के विपरीत गुण करते हैं । अर्थात् लाल चावल, तृष्णानाशक और त्रिदोषहारक हैं और ये इन के विपरीत गुण वाले हैं । (३) षष्ठिक (साठी ग्रीष्म ऋतु में पकने वाले) धान्य शीत, लघु,

१. यहाँ पर दिये हुए नाम नाना देशों में प्रसिद्ध हैं । इसलिये सब का किलना असम्भव है । 'शालि' है मन्त्रं धान्यम्, षष्ठिकादयश्च, ग्रीष्मकाः, लालादः—इन में यही मेद है ।

मधुर, त्रिदोष नाशक, शरीर को हड़ करने वाले हैं। इन में इवेत साठी श्वेष हैं, और काली जाति के धान्य इन से हीन गुण वाले हैं, (४) वरक, उद्धालक, चीन; शारद, उज्ज्वल, दर्दुर, गन्धक और कुरुविन्द ये धृष्टिक धान्यों की जातियाँ हैं। ये गुणों में हीनगुण वाले होते हैं। (५) द्रीहि (शरद शूद्र में पकने वाले) चावल, मधुर रस, अग्लपाकी, पित्तकारक गुरु हैं। इनमें पाठल जाति का धान्य मल-मूत्रवर्द्धक और त्रिदोषकारक है।

(६) कोदूष (कोद्रव कुधान्य कोदों). श्यामाक (सांवक) ये धान्य कषाय और मधुर रस, लघु, वायुकारक, कफ-पित्तनाशक, शीतवीर्य, संग्राही और शोषक हैं। (६) हस्ति, सांवक, नीवार (देवभात), तोयपर्णी, गवेधुक, प्रशातिका; अम्भःश्यामाक, लोहिताणु, प्रिथंगु (कांग), मुकुन्द, श्विटी, गर्मुटी, चारुक, वरक, शिविर, उत्कट, जूर्णाह (जोनार) ये सब धान्य गुणों में सांवक के समान हैं। (७) जौ रस्त, शीत, गुरु, मधुर रस, वायु और मल-कारक, शरीर को स्थिर करने वाले, कषाय रस, बल कारक और कफजन्य विकारों को नाश करने वाले हैं। वेणुयव रस्त, मधुर, कषाय अनुरस, कफ-पित्तनाशक, मेद, कुमि और विष के नाशक एवं बलकारक हैं। (८) गेहूँ-दूटे हुए को मिलाने वाला, वातनाशक, स्वादु रस, शीत वीर्य जीवनीय, बृंहण-कारक, वृष्य, शुक्रवर्द्धक, स्त्रिय, स्थिरताकारक गुरु है। नान्दीमुखी और मधूली ये दोनों मधुर, स्त्रिय, शीतल हैं। यह शूक्र-धान्यों का पहिला वर्ग समाप्त हुआ ॥ ८-२२ ॥

इति शूक्रधान्यवर्गः ।

अथ शमीधान्यवर्गः ।

कषायमधुरो रुक्षः शीतः पाके कटुर्लघुः ।

विशदः स्त्रेष्मपित्तज्ञो शुद्धगः सूख्योत्तमो मतः ॥ २३ ॥

वृष्यः परं वातहरः स्त्रियोष्णमधुरो गुरुः ।

बल्यो बहुमलः पुस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च ॥ २४ ॥

राजमाषः सरो रुच्यः कफ-शुक्राम्ल-पिचकृत् ।

तत्स्वादुर्वातलो रुक्षः कषायो विशदो गुरुः ॥ २५ ॥

उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः ।

कुर्लत्या प्राहिणः कास-हिक्का-श्वासार्शसी हिताः ॥ २६ ॥

मधुरा मधुराः पाकैर्ग्रीहिणो रुक्षशीतलाः ।

मकुष्टकाः प्रशस्यन्ते रक्त-पित्त-ज्वरादिषु ॥ २७ ॥

चणकाश्च मसूराश्च खण्डिकाः सहरेणवः ।
 लघवः शीतमधुराः सकपाया विरुक्षणाः ॥ २८ ॥
 पित्तश्लेष्मग्नि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु च ।
 तेषां मसूरः संप्राही कलायो वातलः परः ॥ २९ ॥
 द्विग्धोषणमधुरस्तिकः कषायः कटुकस्तिलः ।
 त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातनः कफपित्तकृत् ॥ ३० ॥
 गुञ्जोऽय मधुराऽशीता बलञ्यो रुक्षणात्मिकाः ।
 सस्नेहा बलिभ्यंज्या विविधाः शिम्बिजातयः ॥ ३१ ॥
 शिम्बी रुक्षा कषाया च कोष्ठवातप्रकोपिनी ।
 न च वृद्ध्या न चक्षुष्या विष्ट्रभ्य च विपच्यते ॥ ३२ ॥
 आढकी कफपित्तधनी वातला कफवातनुत् ।
 अबलगुजः सैडगजो, निष्पावा वातपित्तलाः ॥ ३३ ॥
 काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्कलमादिशेन् ।
 द्वितीयोऽयं शमांधान्यवर्गः ग्रांका महर्विणा ॥ ३४ ॥

शमीधान्य वर्ग—१. मूंग कपाय, मधुर रस, रुक्ष, शीत, विपाक में कटु, लघु, स्वच्छ, श्लेष्म पित्तनाशक और दालों में सब से उत्तम और शमीधान्यों में भी उत्तम है । २. उड्ढ-अत्यन्त वृद्ध्य, वातनाशक, स्निग्ध; उष्ण, मधुर और गुरु हैं; ये बलकारक, अधिकमात्रा में मल उत्पन्न करने वाले, और पुरुषत्व को शीत्र उत्पन्न करने वाले हैं^१ । राजमास मल्ल-मेदक, रुचिकर, कफ, वीर्य और अम्लपित्त को करने वाले, उड्ढ के समान मधुर, वायुकारक, रुक्ष, कषाय, स्वच्छ और गुरु हैं । कुलथी कषाय रस, विपाक में अम्ल, कफ शुक्र और वायुनाशक, ग्राही (संप्राही) तथा कास, श्वास, हिचकी, अर्श रोग में हितकारी है । मठ मधुर रस, मधुर विपाक, संग्राहि, रुक्ष, शीतल, रक्तपित्त तथा ज्वर में प्रशस्त हैं । चने, मसूर, खण्डिक त्रिपुट (फाफरा) और मटर लघु, शीतवीर्य, मधुर, कषाय रस, रुक्ष, कफ-पित्त में हितकारी हैं । इन का उपयोग दाल में तथा लेप में होता है । इन में मसूर सब से अधिक संग्राही और मटर

१. वृद्ध्य वस्तु तीनों प्रकार की होती है । यथा—

शुक्लसुतिकरं किञ्चित् किञ्चिच्छुकविर्वर्धनम् ।

सुतिवृद्धिकरं किञ्चित् त्रिविधं वृद्ध्यमुच्यते ॥

कोई वस्तु शुक्र का क्षण करती, कोई शुक्र को बढ़ाती है और कोई दोनों को दर्शाते हैं । उड्ढ में तीनों प्रकार के गुण हैं ।

सब से अधिक वायुकारक है। तिल (काले तिल^१) स्निग्ध, उष्ण, मधुर रस, तीक्ष्ण, कशाय, तिक्त, त्वचा और बालों के लिये हितकारी, शक्तिदायक, वातनाशक तथा कफ-पित्तवर्द्धक हैं। यहां पर कहे हुए शमीधान्यों के विवाय जो दूसरे गोल जाति के धान्य हैं, वे सब गुरु, मधुर, उष्ण, बलनाशक, रुक्ष, स्निग्ध, शक्तिशाली पुरुषों के स्वाने लायक हैं। सामान्यतः शमीधान्य रुक्ष, कशाय, कोष्ठ में वायु का प्रकोप करने वाले, अवृद्ध, नेत्रों के लिये अहितकारी और पचने तक मल मूत्र का अवरोध करने वाले हैं। अरहर (दुअर) कफ-पित्तनाशक, वायुकारक है। बाबची, चक्रमर्द के बीज, कफ वायुनाशक हैं। निष्पाव (सफेद बाल लोभिया) पित्तकारक, वायुकारक हैं। काकाण्ड (शूकरशिमी, कौच), उमा (अलसी), और कौच इन का गुण उड्ढ के अनुसार है। इस प्रकार आत्रेय ऋषि ने शमीधान्य का दूसरा वर्ग कह दिया ॥ २३-३४ ॥

इति शमीधान्यवर्गः ।

अथ मांसवर्गः ।

गोखराश्वतरोश्वाश्च-द्वीपि-सिंहक्ष्म-वानराः ।

वृको व्याघ्रस्तरक्षुश्च बभ्रु-मार्जार-मूषिकाः ॥ ३५ ॥

लोपाको जम्बुकः इयेनो वान्तादश्चाष-वायसौ ।

शशन्नी मधुहा भासो गृग्रोलूक-कुलिङ्ककाः ॥ ३६ ॥

धूमीका कुररश्चेति प्रसहा मृगपक्षिणः ।

गाय, गधा, घोड़ा, ऊँठ, खचर, चीता, सिंह, भालु रीछ, बानर, मेंढिया, व्याघ्र, तरक्षु (व्याघ्रमेद), बभ्रु (जिस के ऊपर बहुत सा बाल होते हैं), बिल्ली, चूहा, लोमड़ी, गीदङ्ग, बाज, कुत्ता, चाष (नीलकण्ठ), कौवा, शशन्नी (बाज् चील), कुरर (भास), मधुहा, गीघ, उल्लु, कुलिंग (बगुला की जाति), धूमिका, कुरर ये 'प्रसह' श्रेणी के पश्च पक्षी हैं ॥ ३५-३६ ॥

श्वेतः इयामश्चित्रपृष्ठः कालकः काकुलीमूगः ॥ ३७ ॥

कूर्चीका चिल्लटो भेको गोधा शाल्लकगाण्डकौ ।

कदली नकुलः श्वाचिदिति भूमिशयाः स्मृताः ॥ ३८ ॥

१. तिलों में काले तिल अच्छे हैं—

"तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो, हीनतरास्ततोऽन्ये ।"

काकुलीमृग (मालया सर्प) की चार श्रेणियाँ हैं यथा—इवेत, काली, चित-कबरी और कालक, कूर्चाका चिल्लट (चियार), मैंदक, शल्लक, गोह, गाण्डक (गोह का भेद, सर्पणी), कदली, नेवला, श्वावित् ये भूमिशय या विलेशय अर्थात् जल में रहनेवाले हैं ॥ ३७-३८ ॥

सूत्रश्वमरः स्वङ्गो महिषो गवयो गजः ।

न्यङ्कुर्बराहश्चानूपा मृगाः सर्वे स्फुस्तथा ॥ ३९ ॥

सुमरः (सूबर) चमर (चमरिया गाय), गेंडा, मैसा, नील गाय, हाथी न्यंकु (हरिण), सुअर (छोटा) और रुह (बारह सांगा) ये सब 'आनूप' अर्थात् जल बहुल प्रदेश के पड़ा हैं ॥ ३९ ॥

कूर्मः कर्कटको मत्स्यः शिशुमारस्तिमिङ्गिलः ।

शुक्ति-शङ्गाद्र-कुम्भीर-चुलुकी-मकरादयः ॥ ४० ॥

इति वारिशयाः प्रोक्ताः, वक्ष्यन्ते वारिचारिणः ।

कछुआ, केंकडा, मछली, तिमिगिल (मछली भेद), सीप शंखमें होने वाले जन्तु शिशुमार, उद्र (जल विडाल, ऊदविलाव) कुम्भीर (नाका), चुलुकी, और मकर ये 'वारिशय' अर्थात् जल में रहने वाले जन्तु हैं। पानी पर रहने वाले प्राणियों के नाम कहते हैं ॥ ४० ॥

हंसः कौञ्चो बलाका च बकः कारण्डवः सवः ॥ ४१ ॥

शरारिः पुष्कराहश्च केशरी मानतुण्डकः ।

मृणालकण्ठो मद्गुश्च कादम्बः काकतुण्डकः ॥ ४२ ॥

उत्कोशः पुण्डरीकाक्षो मेघरावोऽम्बुकुकृटी ।

आरा नन्दीमुखी वाटी सुमुखाः सहचारिणः ॥ ४३ ॥

रोहिणी कामकाली च सारसो रक्षीर्षकः ।

चक्रवाकास्तथाऽन्ये च खगाः सन्त्यम्बुचारिणः ॥ ४४ ॥

हंस, कौञ्च, बलाका, बगुला, कारण्डव (हंसभेद बत्ताल), लव, शरारि, पुष्कराह, केशरी, मानतुण्डक, मद्गु (जलकौवा), कादम्ब, काकतुण्ड, उत्कोश (कुरल), पुण्डरीकाक्ष, मेघराव (मेघनाद भोर), अम्बुकुकृटी (पानी की मुर्गी), आरा, नन्दीमुखी, वाटी, सुमुख, सहचारी, रोहिणी, कामकाली, सारस, लाल शिर वाला सारस, चक्रवाक (चक्रवा) और अन्य जलचर पक्षी सभीमें विचरने वाले हैं ॥ ४१-४४ ॥

पृष्ठतः शरभो रामः इवदंष्ट्रा मृगमातृका ।

लोरणौ कुरङ्गश्च गोकर्णः कोट्कारकः ॥ ४५ ॥

चारुष्को हरिणौ च शम्बरः कालपुच्छकः ।

ऋष्यश्च वरपोतश्च विजेया जाङ्गला मृगाः ॥ ४६ ॥

चित विरंगे हरिण, शरभ (आठ पांव का ऊंठ के आकार का मोटे सींगों का एक हरिण, इस के पीठ में चार पांव होते हैं, काश्मीर देश में प्रसिद्ध है), राम (हिमालय का महामृग) इवदंशा (चार दांत का एक जाति का पशु), मृगमानुका (छोटा-मोटे उदर वाला पशु), शश हरिण, कुरञ्ज (हरिणमेड) गोकर्ण (गाय के से मुख का हरिण), कोटकारक, चारुष्क, हरिण, एण, शम्बर (सांभर), कालपुच्छ, श्रूष्य और वरपोत ये जंगली मृग हैं । यहां पर शश-शब्द मृगवाची है । जैसे चन्द्रमा को शशांक और मुगाङ्क कहते हैं इसमें वस्तु तो एक होनी चाहिये या तो शशका चिन्ह हो या मृग का ॥ ४५-४६ ॥

लावो वर्ती बकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः ।

चकोरश्चोपचक्रश्च कुकुभो रक्तवर्णकः ॥ ४७ ॥

लावाद्या विष्किरास्त्वेते वक्ष्यन्ते वर्तकादयः ।

वर्तको वर्तिका चैव वर्ही तित्तिरिकुकुटो ॥ ४८ ॥

कङ्क-सारपदेन्द्राभ-गोनर्द-गिरिवर्तकाः

कक्रोऽवकरश्चैव वारटाश्चेति विष्किराः ॥ ४९ ॥

बटेर, वर्ती (तीतर), बक (बगुला), वार्तीक (बतख), कपिञ्जल (इवेत तीतर), चकोर, उपचक (चकोर मेड), कुकुभ, रक्तवर्णक, विष्किर पक्षी हैं । वर्तक (बटेर), वर्तिका, वर्ही (मोर), तीतर, कुकुट, कङ्क, सारपद, इन्द्राभ, गोनर्द, गिरिवर्तक, कक्र, अवकर और वारटा से सब मुर्गा जाति के 'विष्किर' पक्षी हैं ॥ ४७-४९ ॥

शतपत्रो भृङ्गराजः कोयष्टी जीवजीवकः ।

कैरातः कोकिलोऽन्यूहो गोपापुत्रः प्रियात्मजः ॥ ५० ॥

लट्बा लट्बको बश्रुवटहा डिण्डमानकः ।

जटी दुन्दुभिवा (पा) कार-लोह-पृष्ठ-कुलिङ्गकाः ॥ ५१ ॥

कपोत-शुक-सारङ्गश्चिरिटी-ककुयष्टिकाः ।

शारिका कलविङ्गश्च चटकोऽङ्गारचूडकः ॥ ५२ ॥

पारावतः पानविक इत्युक्ताः प्रतुदा द्विजाः ।

शतपत्र (कटफोडा) मृंगराज (भाँवरा), कोयष्टि (कोडा) जीवजीवक (कैरात, कोकिल, अल्यूहा, गोपापुत्र, प्रियात्मज, लट्बा, लट्बक, वंशी, पीछे बाँबोलाला पक्षी), बटहा डिण्डमानक (उत्कटशर्मा)

दुन्दुभि, बाक्षार, लोहपृष्ठ, कुल्मि, कबूतर, तेता, चारक, चिरिटा, ककुयष्टिक,
सारिका, कलविक, चटक, अंगारचूड़क (बुलबुल), पारावत, पानविक ये सब
'प्रतुद' पक्षी हैं ॥ ५०-५२ ॥

प्रसदा भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन रस्त्रिताः ॥ ५३ ॥

भूशया बिलवासित्वादानूपाऽनूपसंश्रयात् ।

जले निवासाज्जलजा जलेचर्याऽज्जलेचराः ॥ ५४ ॥

स्थलजा जाङ्गलाः प्रोक्षा मृगा जाङ्गलचारिणः ।

विकीर्य विष्किराश्वैव प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः ॥ ५५ ॥

योनिरष्टविधा त्वेषां मांसानां परिकीर्तिता ।

गाय, शोङ्गा, वाघ आदि प्राणी भक्षण दृष्टि से एकदम जोर से खाने पर गिरते हैं, इसलिये इनको 'प्रसद' कहते हैं । सांप, मेंढक आदि विल में रहते हैं, इसलिये इनको 'बिलेश्य' कहते हैं । हाथां मैंसा आदि प्राणी पानी के आश्रय से रहते हैं, इसलिये इनको 'आनूप' कहते हैं । पानी में रहने से 'जलज', जल में चरने-विचरने से 'जलचर', स्थलभूमि पर चलने वाले जंगल में फिरने वाले पशुओं को 'जांगल' कहते हैं । तीतर आदि पक्षी अपने खाद्य पदार्थ को बिखरे कर खाते हैं, इसलिये 'विष्किर' और तोता आदि पक्षी अपने खाद्य पदार्थ को चोंच से तोड़कर खाते हैं इस लिये 'प्रतुद' कहलाते हैं । इस प्रकार से मांस के आठ उत्तरित्स्थान हैं ॥ ५३-५५ ॥

प्रसदा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ॥ ५६ ॥

गुरुण्ड-स्निग्ध-मधुरा बलोपचयवर्धनाः ।

वृष्याः परं वातहराः कफपित्ताभिवर्धिनः ॥ ५७ ॥

हिता व्यायामनित्येभ्यो नरा दीपामयश्च ये ।

प्रसहानां विशेषेण मांसं मांसाशिना भिषक् ॥ ५८ ॥

जीर्णशो-ग्रहणी-दोष-शोषातीना प्रयोजयेत् ।

लावाद्यो वैष्किरो वर्गः प्रतुदा जाङ्गला मृगाः ॥ ५९ ॥

लघवः शीतमधुराः सकषाया हिता नृणाम् ।

पित्तोत्तरे वातमध्ये सत्रिपाते कफानुगो ॥ ६० ॥

विष्किरा वर्तकाद्यास्तु प्रसहालपान्तरा गुणैः ।

नातिशीत गुरु-स्निग्धं मांसमाजमदोषलम् ॥ ६१ ॥

शरीर-धातु-सामान्यादनभिष्यन्दि वृंहणम् ।

जीर्णं मधुरशीतत्वाद् गुरु वृंहणमाविकम् ॥ ६२ ॥

जलजाविके मिश्रगोचरत्वादनिश्चिते ।

सामान्येनोपदिष्टानां मासानां स्वगुणैः पृथक् ॥ ६३ ॥
 केषांचिद् गुणवैशेष्याद्विशेष उपदेश्यते ।
 दर्शन-श्रोत्र-मेधाग्नि-बयो-बर्ण-स्वरायुषाम् ॥ ६४ ॥
 बहीं हिततमो बल्यो वातग्रो मांसशक्लः ।
 गुरुष्ण-स्तिर्ग्नि-मधुराः स्वर-बर्ण-बल-प्रदाः ॥ ६५ ॥
 बृंहणाः शुक्लाश्चोक्ता हंसा मारुतनाशनाः ।
 म्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्णा श्व बृंहणाः स्वरबोधनाः ॥ ६६ ॥
 बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्वरणायुधाः ।
 गुरुष्णमधुरो नातिधन्वान्तूपनिषेवणात् ॥ ६७ ॥
 तित्तिरिः संजयेच्छीघ्रं त्रीन् दोषाननिलोल्बणान् ।
 पित्तश्लेष्मविकारेषु सरक्तेषु कपिञ्जलाः ॥ ६८ ॥
 मन्दवातेषु शस्यन्ते शैत्य-माधुर्य-लाघवात् ।
 लावाः कषायमधुरा लघवोऽग्निविवर्धनाः ॥ ६९ ॥
 सञ्जिपातप्रशमनाः कटुकाश्च विपाकतः ।
 कषायमधुराः शीता रक्तपित्तनिबृंहणाः ॥ ७० ॥
 विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः ।
 तेभ्यो लघुतराः किंचित्कपोता वनवासिनः ॥ ७१ ॥
 शीताः संग्राहिणश्चैव स्वल्पमूत्रकराश्च ते ।
 शुक्रमासं कषायाम्लं विपाके रूक्षशीतलम् ॥ ७२ ॥
 शौष-कास-क्षय-हितं संग्राहि लघु दीपनम् ।
 कषायो विशदो रूक्षः शीतः पाके कटुलघुः ॥ ७३ ॥
 शशः स्वादुः प्रशस्तश्च संनिपातेऽनिलावरे ।
 चटका मधुराः स्तिर्ग्नि बलशुक्रविवर्धनाः ॥ ७४ ॥
 सञ्जिपातप्रशमनाः शमना मारुतस्य च ।
 मधुरामधुराः पाके त्रिदोषशमनाः शिवाः ॥ ७५ ॥
 लघवो बद्धविष्मूत्राः शीताशैणाः प्रकीर्तिताः ।
 गोधा विपाके मधुरा कषायकटुका रसे ॥ ७६ ॥
 वात-पित्त-प्रशमनी बृंहणी वलवर्धनी ।
 शाल्मले मधुराम्लश्च विपाके कटुकः स्मृतः ॥ ७७ ॥
 वात-पित्त-कफज्वरा कास-श्वास-हरस्तथा ।
 गुरुष्णमधुरा बल्या बृंहणा पवनापहाः ॥ ७८ ॥

मत्स्याः स्तिर्गधाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्तिताः ।
 शैवलाहारभोजित्वात्स्वप्रस्य च विवर्जनात् ॥ ७१ ॥
 रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महावळः ।
 स्नेहनं बृहणं वृष्यं श्रमचन्मनिलापहम् ॥ ८० ॥
 वराहपिशिं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु ।
 बल्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥ ८१ ॥
 मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषधनः कूर्म उच्यते ।
 गव्यं केवलबातेषु पीनसे विषमज्वरे ॥ ८२ ॥
 शुष्क-कास-श्रमात्यग्नि-मांस-क्षय-हितं च तत् ।
 स्तिर्ग्वोष्णमधुरं वृष्यं माहिषं गुरु तर्पणम् । ॥ ८३ ॥
 दार्ढ्यं बृहत्त्वमुत्साहं स्वप्रं च जनयत्यपि ।
 धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ॥ ८४ ॥
 चटकानां च यानि स्तुरण्डानि च हितानि च ।
 रेतःक्षीणेषु कासेषु हद्रोगेषु अत्रेषु च ॥ ८५ ॥
 मधुराण्यविदाहीनः सद्यो बलकराणि च ।
 शरीरबृहणे नान्यदाद्यं^३ मांसाद्विशिष्यते ।
 इति वगंस्तृतीयोऽयं मांसानां परिकीर्तिः ॥ ८६ ॥

इनमें प्रसद, भूशय, आनूप, जलज और जलचर प्राणियों का मांस गुरु, स्तिर्गध, मधुर, शक्ति बढ़ाने वाला, वीर्यवर्द्धक, वातनाशक, कफपित्त को बढ़ाने वाला है, इनका मांस नित्य प्रति व्यायाम करने वाले, जिनकी जाठराग्नि प्रदीप हो, उनके लिये हितकारी है। 'प्रसद' जानकर दो प्रकार के हैं। एक मांस खाने वाले ऐह आदि, दूसरे मांस न खाने वाले गाय आदि। इनमें मांस खाने वाले 'प्रसद' पक्षी या पशुओं का मांस पुराने अर्श-रोग, ग्रहणी-रोग, क्षय, या निर्बल पुरुष के लिये उपकारी है।

लवा (बटेर) आदि विभिन्नर्वग के पक्षी, प्रतुदपक्षी, जांगलदेश के पशु इनका मांस लहु, शीतल, मधुर कषाय रस, और पित्तप्रचान, मध्यम वात, कनिष्ठ कफ वाले सज्जिपात में हितकारी है। बटेर आदि समस्त विभिन्न पक्षियों का मांस 'प्रसद' शेणों के मांसों से गुणों में मिलता है, थोड़ा ही अन्तर है।

तकरी का मांस बहुत ठण्डा नहीं, बहुत भारी नहीं, बहुत लिघ्व नहीं, कुछ ठण्डा, कुछ गुरु और कुछ स्तिर्गध है। इसलिये वह दोषों को कुपित हो पाठः । २. मधुराण्यविदाहीनि इति पाठः । ३. खार्द्य हिति पाठः ।

नहीं करता, कफ को उत्पन्न नहीं करता । उच्च गुणों के कारण मनुष्यों के मांस के समान धातुओं वाला है, जो गुण मनुष्य के धातुओं के हैं, वे ही गुण बकरी के मांस के हैं इसलिये पुष्टिकारक है । मेड़ का मांस मधुर, ठण्डा और भारी है । मधुर और शीतल होने से पित्तनाशक^१ है । बकरी और मेड़ के मिश्रित^२ स्थान में चरने से मांस का गुण अनिश्चित है, फिर भी सामान्य रूप से कह दिया । और जो मांस अपने गुणों में विशेषता रखते हैं उन को कहते हैं ।

मोर का मांस—आंख, कान, मेघा, अग्नि, ताशय, वर्ण, स्वर और आयु के लिये हितकारी; बलकारक, वायुनाशक और मांस एवं शुक्रवर्धक है । हंस का मांस गुरु, उष्ण, लिंग्घ, मधुर, स्वर, वर्ण, बल को बढ़ाने वाला, वृद्धं पुष्टिकारक, शुक्रवर्धक और वातनाशक है । कुकुट का मांस—स्त्रिंघ, उष्ण, वृद्ध्य, पुष्टिकारक, स्वर को अच्छा करने वाला, बलकारक और विशेषतः वातनाशक तथा पसीना लाता है । तितिर पक्षी का (मरुभूमि और आनूप देश दोनों स्थानों में रहने से) मांस मध्यम गुरु, मध्यम उष्ण और मध्यम मधुर है, वातप्रधान सञ्जिपात को शीघ्र शान्त करता है । कपिजल पक्षी का मांस—ठण्डा, मधुर और लघु होने से वात का जोर कम होने पर रक्तयुक्त पित्त या रक्तयुक्त कफ विकार में प्रशस्त है । लावा (बटेर), कषाय, मधुर, लघु, अग्निवर्धक, सञ्जिपात को शमन करने वाले और विपाक में कट्टु हैं ।

धर में पाले हुए कबूतरों का मांस—कषाय, विशद, शीत, रक्तपित्तनाशक, मधुर विपाक वाला होता है । और जो कबूतर जंगल में रहते हैं, उन का मांस इन से कुछ इस्का और शीतल, संग्राही और मूत्र को कम करने वाला होता है । तोते का मांस—कषाय, विपाक में अम्ल, रुक्ष, ठण्डा, शोष, क्षय, दमा, में हितकारी, स्त्रम्भक, हल्का, दीपक होता है । खरगोश का मांस—कषाय, स्वच्छ, रुक्ष, शीतल, विपाक में कट्टु, हल्का, मधुर और हीनवायु सञ्जिपात में प्रशस्त है । खिडिया का मांस—मधुर, स्त्रिंघ, शक्ति व वीर्य को बढ़ाने वाला, सञ्जि-

१. मुक्षुर में भी कहा है—

“वृद्धं मांसमौरभ्यं पित्तश्लेष्मापहं गुरु” ॥

२. मिश्र-गोचरत्वात्—बकरी या मेड़ आनूप और मरु दोनों प्रदेशों में रहती है । इसलिये इन की योनि निश्चित नहीं है । तितिर पक्षी धन्वं और आनूप किसी एक स्थान पर रहता है, ऐसा निश्चित करके कहा जा सकता है, इसलिये वह इस श्रेणी में नहीं है ।

पात को शान्त करने वाला और विशेषतः वायुनाशक है । धिवा (गीदड) का मांस—मधुर रस, मधुर विपाक, त्रिदोषनाशक है । काले हरिण का मांस—हल्का, मल मूत्र को रोकने वाला और शीतल होता है । गोह का मांस—विपाक में मधुर, कषाय, कटु रस, वात-पित्तनाशक, पुष्टिकारक, बलवर्धक है । शत्लकी का मांस—मधुर अम्लरस, विपाक में कटु, त्रिदोषनाशक, द्वास-कास नाशक है ।

मछलियों का मांस—गुरु, उच्छ, मधुर, बलकारक, पुष्टिकारक, वायुनाशक, स्तिर्ग्र, वृष्य, वीर्यवर्धक और बहुत से दोषों को उत्पन्न करने वाला है । रोह मछली का मांस—शैवाल (सरवाल) का भोजन करने से, कभी न सोने से, दीपनीय, अग्निवर्धक, पचने में लघु और बहुत बल देने वाला है ।

सूअर का मांस—स्नेहन, बृंहण, वीर्यवर्धक, थकान और वायुनाशक बलकारक, ऊच्चकर और बहुत पसीना लाने वाला है । कछुए का मांस—बलकारक, वातनाशक, वीर्यवर्धक, आंखों के लिये हितकारी, बलवर्धक, मेघा, बुद्धि और स्मरण शक्ति को बढ़ाने वाला, आयु के लिये हितकारी, शोषनाशक है । गाय का मांस—केवल वात रोगों में, पीनस में, विषम ज्वर में, सूखी खांसीमें, थकान में, अग्नि या मांस के बहुत अधिक क्षय हो जाने में हितकारी है । भैंस का मांस—स्तिर्ग्र, उच्छ, मधुर, वीर्यवर्धक, भारी, पुष्टिदायक, शरीर में दृढ़ता, पुष्टि, उत्साहवर्धक और नींद लाने वाला है । हंस (जिन के पांव और चोच काले होते हैं) चकोर, बत्तख, मोर और चिड़ियां इनके अण्डे वीर्य को क्षीणता में, कास रोग में, दृदय रोग में, क्षत (उरःक्षत) में हितकारी हैं । ये अण्डे मधुर अविपाकी और तत्काल बलदायक हैं । खाद्य पदार्थ में शरीर को पुष्ट करने के लिये मांस से बढ़कर और कोई दूसरी वस्तु नहीं है । यह तीसरा मांसवर्ग कह दिया ॥ ५६-५६ ॥

इति मांसवर्गः ।

अथ शाकवर्गः ।

पाठा शुषा शटीशाकं वास्तुकं सुनिष्ठण्णकम् ।

विद्याद् ग्राहि त्रिदोषव्यन्तं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम् ॥ ८७ ॥

त्रिदोषशमनी वृद्ध्या काकमाची रसायनी ।

नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्णनाशनी ॥ ८८ ॥

राजक्षवकशकं तु त्रिदोषशमनं लघु ॥

‘वृद्ध्य के लिये—“तृष्ण चटकमांसानां गत्वा योऽनु पिबेत्सयः ॥”

ग्राहि शस्तं विशेषेण प्रहण्यशोविकारिणाम् ॥ ८६ ॥
 कालशाकं तु कटुकं दीपनं गरजोफजित् ।
 लघूष्णा वातलं रूक्षं कालीयं शाकमुच्यते ॥ ८० ॥
 दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारते ।
 प्रशस्यतेऽमलचाङ्गेरी प्रहण्यशोंहिता च सा ॥ ८१ ॥
 मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्धिनी ।
 वृद्धा स्निग्धा च शीता च मदब्नी चाप्युपोदिका ॥ ८२ ॥
 रूक्षो महाविषद्वनश्च प्रशस्तो रक्तपित्तिनाम् ।
 मधुरोऽमधुरः पाके शीतलस्तण्डुलीयकः ॥ ८३ ॥
 मण्डूकपर्णी वेत्राप्रं कुचेला वनतिक्तकम् ।
 कर्कोटकावलगुजकौ पटोलं शकुलादनी ॥ ८४ ॥
 वृषपुष्पाणि शाङ्गेष्टा केवूकं सकठिल्लकम् ।
 नाढ़ी कलायं गोजिह्वा वार्ताकं तिलपर्णिका ॥ ८५ ॥
 कुलकं कार्कशं निर्मवं शाकं पार्पटिकं च यत् ।
 कफपित्तिहरं तिकं शीतं कटु विपच्यते ॥ ८६ ॥
 सर्वाणि सूप्यशाकानि फज्ञा चिल्ली कुतुम्बकः ।
 आलुकानि च सर्वाणि सपत्राणि कुटिजरम् ॥ ८७ ॥
 शणशालमलिपुष्पाणि कर्वुदारः सुवर्चला ।
 निष्पावः कोविदारश्च पत्तुरश्चुचुपर्णिका ॥ ८८ ॥
 कुमारजीवो लोटाकः पालक्ष्मया मारिषस्तथा ।
 कलम्बनालिकासूये: कुसुमभृकधूमकौ ॥ ८९ ॥
 लक्ष्मणा प्रपुनाडो च नलिनीका कुठेरकः ।
 लोणिका यवशाकं च कुष्माण्डकमबलगुजम् ॥ १०० ॥
 यातुकः शालकल्याणी त्रिपर्णी पीलुपर्णिका ।
 शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायो विष्ट्रभ्य जीर्यते ॥ १०१ ॥
 मधुरं शोतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम् ।
 स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाद्यं तत्प्रशस्यते ॥ १०२ ॥
 शणस्य कोविदारस्य कर्वुदारस्य शाल्मलेः ।
 पुर्वं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः ॥ १०३ ॥
 न्यमोघोदुम्बराश्वत्य-प्लक्ष-पद्मादि-पल्लवाः ।
 कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्ताविसारिणाम् ॥

वार्यु वत्सादनी हन्यातकं गण्डीरचित्रकौ ।
 श्रेयसी बिल्बपर्णीं च बिल्बपत्रं च वातनुत् ॥ १०५ ॥
 भण्डी शतावरीशाकं बडा जीवन्तिकं च यत् ।
 पवर्णयः पवर्णपुष्पाश्च वातपित्तहरं स्मृतम् ॥ १०६ ॥
 लघुभिन्नशङ्खतिकं लाङ्गलक्युरुबूकयोः ।
 तिलवेतसशाकं च शाकं पञ्चाङ्गुलस्य च ॥ १०७ ॥
 वातलं कटुतिक्काम्लमधोमार्गप्रवर्तकम् ।
 रुक्षाम्लमुष्णं कौसुम्भं कफधनं पित्तवर्धनम् ॥ १०८ ॥
 त्रपुसर्वाहुकेस्वादु-गुरु-विष्ट्रिभि-शीतले ।
 मुखप्रियं च रुक्षं च मूत्रलं त्रपुसं त्वति ॥ १०९ ॥
 एर्वाहुकं च संपकं दाह-तृष्णा-कमार्ति-नुत् ।
 वचोभेदीन्यलादूनि रुक्षशीतगुरुणि च ॥ ११० ॥
 चिर्भृंगुर्वाहुके तद्वद्वर्चोभेदहिते तु ते ।
 कूष्माण्डमुक्तं सक्षारं मधुराम्लं तथा लघु ॥ १११ ॥
 सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनियहर्णम् ।
 केलुटं च कदम्बं च नदीमाषकमैन्दुकम् ॥ ११२ ॥
 विशदं गुरु शीतं च समभिष्यन्दि चोच्यते ।
 उत्पलानि कषायाणि रक्तपित्तहराणि च ॥ ११३ ॥
 तथा तालप्रलम्बं च उरःक्षतरुजापहम् ।
 खर्जूरं तालशस्यं च रक्तपित्तक्षयापहम् ॥ ११४ ॥
 तरुट-विस-शाल्क-क्रीडादन-कशोरकम् ।
 शृङ्गाटमझलोड्यं च गुरु विष्ट्रिभि शीतलम् ॥ ११५ ॥
 कुमुदोत्पलनालास्तु सपुष्णाः सफलाः स्मृताः ।
 शीताः स्वादुकषायास्तु कफमारुतकोपनाः ॥ ११६ ॥
 कषायमीषद्विष्ट्रिभि रक्तपित्तहरं स्मृतम् ।
 पौष्टकरं तु भवेद् बीजं मधुरं रसपाकयोः ॥ ११७ ॥
 बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो वृहणात्मकः ।
 वातपित्तहरः स्वादुवृष्ट्यो युज्ञारकः स्मृतः ॥ ११८ ॥
 जीवनो वृहणो वृष्ट्यः कण्ठ्यः शस्तो रसायने ।
 विदारिकन्दो बल्यश्च मूत्रलः स्वादुशीतलः ॥ ११९ ॥
 अमिलकायाः स्मृतः कन्दो ग्रहणशोहितो लघुः ।
 द्विष्ट्रिभ्यः कफवातच्छनो प्राही शास्त्रे मदात्मये ॥ १२० ॥

त्रिदोषं बद्धविषमूत्रं सार्वपं शाकमुच्यते ।
 बद्धत्रिष्णडालुकं विद्यात्कन्दत्वाच मुखप्रियम् ॥ १२१ ॥
 सर्पच्छन्नाकवर्यास्तु बहुथोऽन्याश्छन्नजातयः ।
 शीताः पीनसकर्याच्च मधुरा गुर्व्य एव च ॥ १२२ ॥
 चतुर्थः शाकवर्गोऽयं पत्रकन्दफलाश्रयः ।

शाकवर्ग—पाठा, शुषा (सुशब्दी), कचूर, वास्तुक (बथुआ), सुनिष्णक (मेथी) ये सब शाक (भाजी) ग्राहक, त्रिदोषनाशक हैं, परन्तु बथुआ की भाजी ज़रा रेचक है । काकमाची (मकोय) की भाजी तीनों दोषों को नाश करने वाली, पुष्टिदायक, और रसायन है, यह न तो बहुत भरम और न बहुत ठण्डी है, मध्यमवर्य, रेचक और कुप्ठनाशक है । राजक्षवक की भाजी त्रिदोषनाशक, लघु, स्प्राही है, प्रहणी और अर्श रोग में विशेषतः हितकारी है । काल नामक शाक—कटु, अग्निदीपक, संयोगजन्य विश्वनाशक और शोथनाशक, लघु, उष्ण, वायुकारक और रुक्ष है । खट्टी चांगेरी (चौपतिया) की भाजी—अग्निदीपक, उष्णवर्य, संग्राही, कफ-वायु रोग में उत्तम तथा प्रहणी और अर्श रोग में हितकारी है । उपोदिका (चौलाई) मधुर रस मधुर विपाक, रेचक, श्लेष्मवर्धक, वृष्य; स्निग्ध, शीतल और उन्मादनाशक (धूतेरे आदि के मद को नष्ट करनेवाली) है । तण्डुलीयक (चौलाई का मेद) रुक्ष, मद और विश्वनाशक, रक्तपित्त रोग में श्वेष्ठ, मधुर रस, मधुर विपाक और शीतल है । मण्डूकपर्णी का शाक, बेत का अग्र भाग, कुचेला, बनतिक्ता, कंकोडा, अबल्नुजा (बाबची), परबल, शकुनादनी, अहूसे के फूल, शाङ्गेषा के खुक, कठिल्लक (पुनर्नवा), नाड़ी (नाड़ीच), कलाय (मटर), गोजिहा (गाज़बी), वार्ताक (बैंगन), तिळपर्णी (हुलहुल), कुलक (करेला या परबल का मेद), कर्कश (अरुण-दत्त के अनुसार कुचला, चक्रदत्त के अनुसार कर्कोटक), नीम का शाक, पित्तपापडा इन की भाजी कफ-पित्त नाशक, तिक्त, शीत और कटु विपाक है । 'सूख्य शाक' (माषपर्णी, दहडपर्णी आदि) पंजी (ब्राह्मण, यष्टिका, भांगी), चिल्ही^१ कुतुभक (द्रोणपुर्णी, गोमा), आलुक (आलु, रतालु, पिण्डालु कन्द मूल), इन के पत्ते और कुटिंजर (जंगली बथुआ), सन, सिमल के फूल, कर्बुदार (कचनार), सुखर्चदा (हुलहुल), निष्पाव (पालक), कोविदार

१. सुक्ष्म में काकमाची को—“तिक्ता काकमाची वातं शमयत्पुण्डीवीर्यत्वात् ॥” उष्णवर्य कहा है ।

२. ‘चिल्ही’—‘माषपर्णी’ शुनः पुच्छे चिल्ही स्थाच्छाकलोभयोऽनिं ।

(लाल कचनार), पत्तुर (शालिच), चुचुपर्णिका (नाडीच का मेद) उंडुरकानी (आखुपर्णी), कुमारजीव (जीवशाक), लोहाक (लोहा मारिष), पालंक्य (पालक), मारिष कलम्ब, नालिका, आमुरी (राई), कुमुम्ब (चनिया), बृकधूमक, लक्षणा, प्रपुषाङ्ग (चक्रमर्द), नलिनी (कमल की नाल, धिल), कुठेरक (तुलसी मेद), लोणिका (लूणी), यवशाक (खेत पापडा), कूभाण्डक (पेठा), अवलगुजा (बाबची), यातुक (सफेद शाल-पर्णी), शालकल्याणी, त्रिपत्री (हंसपादिका), पीलुपर्णी (मोरटक, मोरबेल), इन की भाजी गुरु, रुक्ष और प्रायः करके जब तक पचती नहीं, तब तक पेट में अफ़रा करती है, मधुर, शीतवीर्य और मल के रेचक है। इनको पानी में भापकर (बिना बाहर का पानी गिलाये) रस निकाल कर इस में जी या तैल मिलाकर खाना उत्तम है।

सुन, कचनार, लाल कचनार और सिम्बल इनके फूल संग्राही है, इसलिये रक्षपित्त में विशेषतः प्रशस्त हैं। न्यग्रोष (बड़), गूलर, पील, पिलखन, कमल आदि के पत्ते कथाय रस, स्तम्भक, शीत तथा पित्तातिसार में हित-कारी हैं।

शतादनी (गिलोय) की भाजी बायु नाशक, गण्डोर (शमठ, कडुवा जिमीकन्द) और चीता की भाजी कफनाशक, श्रेयसी (गज पिप्पली), बिल्वपर्णी और बेल के पत्तों की भाजी बायुनाशक है। भण्डी (भिण्डो), शतावर, बला, खरेटी, जीवन्ती, पर्वणी (इन्द्रवारुणी), पर्वपुष्पी इन की भाजी बातपिच्चनाशक है। लांगड़ी (कलिहारी) की, लाल एरण्ड की भाजी तिक्त, रेचक और लघु है। तिक्त अम्ल वेतस (या बैंत का शाक), या एरण्ड की भाजी बायुकारक, कटु, तिक्त, अम्ल तथा रेचक है। कुमुम्ब की भाजी रुक्ष, अम्ल, उच्छ, कफनाशक, पित्तावर्धक है। त्रपुस (खीरा), उर्वारुक (ककड़ी), स्वादु गुरु, अवष्टम्भ करने वाली धौर शीतल है। इनमें खीरा मुख्यिय (खाने में स्वादु), रुक्ष और बहुत मूत्र लाने वाले हैं। पका हुआ उर्वारुक (ककड़ी), प्यास, जलन थकान की पीड़ा को नष्ट करती है। अलाबू (दूधी, धीया, आड़) मल का रेचक, रुक्ष, शीतल और गुरु है। चिर्मटी (ककड़ी), एवां-रुक भी रेचक हैं। पेठा कदू-कारयुक्त, मधुर, अम्ल, लघु, मल मूत्र का रेचक, त्रिदोषनाशक है।

१. कच्चे और पक्के कूभाण्ड के गुणों में अन्तर है। यथा—

“पित्तम् तेषु कूभाण्डं बालं मध्यं कफाचहम्।

पक्कं लघूणं स क्षारं दीपनं वस्तिशोधनम्॥

उर्बदोषहरं दृष्टम्—॥”

केलुट (केलुक कन्द शाक) और कदम्ब नन्दी माषक (उन्दी मान-वक), ऐन्द्रक इन की भाजी स्वच्छ, गुरु, शीतल, कफकारक है। नीला कमल कथाय रस और रक्त पित्तनाशक है। ताल प्रकम्ब (ताङ का अंकुर), खर्जूर, तालशस्य (ताल के सिर की मज्जा) रक्तपित्त और क्षयरोगनाशक है। तश्ट (तिरट कन्द), विष वा भिष, कमल की दण्डी, लाल कमल का कन्द, कौचादान (डूकर कन्द, कमल), कशेरू, शृंगाटक (सिंघाड़ा) अंकालोड्य (हृस्व उत्पलकन्द), गुरु, विष्ट्रिमि और शीतल हैं। कुमुद (इवेत कमल), उत्पल (नीला कमल) फूल और फल समेत शीतल, मधुर, कथाय रस, कफ वायु के प्रकोपक हैं। पुष्कर का बीज कथाय रस, शोका विष्ट्रिमि करने वाला, रक्तपित्तनाशक, मधुर रस और मधुर विपाक है। मुखातक (औक्षरपथिक कन्द) बलकारक, शीतल, गुरु, स्तिंगध, तृतिकारक, बृंहण पुष्टिकारक, वात-पित्तनाशक, मधुर तृष्ण्य है। विदारीकन्द, जीवनीय, बृंहण, तृष्ण्य, स्वर के लिये हितकारी, रसायन में प्रशस्त, बलकारक, मूत्रेरेचक, मधुर और शीतल है। आम्ली कन्द (आसाम में होता है आंवर जाति का कन्द) ग्रहणी, अर्ध में हितकारी, लघु, बहुत गरम, कफ-वातनाशक, संग्राहि और मदात्यय रोग में प्रशस्त है। सरसों का शाक—त्रिदोषकारक मल-मूत्र का अवरोधक है। पिण्डालु (रतालु) भी इसी प्रकार का है, परन्तु कन्द जाति का होने से खाने में अच्छा लगता है। सर्पछत्रक (खुम्बी) को छोड़कर अन्य सब इस प्रकार की भाजियां शीतल, पीनस रोग को उत्पन्न करने वाली, मधुर गुरु होती हैं। इस प्रकार से पत्ते, कन्द और फलवाला शाकवर्ग समाप्त हुआ ॥ ८७-१२२ ॥

इति शाकवर्गः ।

अथ फलवर्गः

तृष्णा-दाह-ज्वर-इवास-रक्तपित्त-क्षत-क्षयान् ।
 वातपित्तमुदावन्तं स्वरभेदं मदात्ययम् ॥ १२३ ॥
 विष्ठास्थतामास्थशोषं कासं चाऽऽशु व्यपोहति ।
 मृद्दुका बृंहणं वृष्ण्य मधुरा स्तिंगधशीतला ॥ १२४ ॥
 मधुरं बृंहणं वृष्ण्य खर्जूरं गुरु शीतलम् ।
 क्षयेऽमिदाते दाहे च वातपित्ते च तद्वितम् ॥ १२५ ॥
 तर्पणं बृंहणं फलगु गुरु विष्ट्रिमि शीतलम् ।
 परुषकं मधूकं च वातपित्ते च क्षस्वते ॥ १२६ ॥

मधुरं वृहणं कल्यमाश्रातं तर्षणं गुरु ।
 सस्नेहं श्लेष्मलं शीतं वृद्धं विष्टुद्य जीर्यति ॥ १२७ ॥
 तालशस्थानि सिद्धानि नारिकेलफलानि च ।
 वृहणस्तिग्नवशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥ १२८ ॥
 मधुराम्लकषार्यं च विष्टुभिं गुरु शीतलम् ।
 पित्ताश्लेष्म-प्रकोपीणि कर्कन्धुलकुचान्यपि ॥ १२९ ॥
 अम्लं परुषकं द्राक्षा बदराण्यारुकाणि च ।
 पित्ताश्लेष्म-प्रकोपीणि कर्कन्धुलकुचान्यपि ॥ १३० ॥
 नात्युष्णं गुरु संपकं स्वादुप्रायं सुखप्रियम् ।
 वृहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषलमारुकम् ॥ १३१ ॥
 द्विविधं शीतमुष्णं च मधुरं चाम्लमेव च ।
 गुरु पारावतं ह्येयमरुच्यत्यग्निनाशनम् ॥ १३२ ॥
 भव्यादल्पान्तरगुणं काइमर्यफलमुक्यते ।
 तथैवाल्पान्तरगुणं तूदमस्तुपरुषकात् ॥ १३३ ॥
 कषायमधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।
 कपित्तयं विषकण्ठघनमामं संग्राहि वातलम् ॥ १३४ ॥
 मधुराम्लकषायत्वात्सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम् ।
 तदेव पकं दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुरुष्पि ॥ १३५ ॥
 विलं तु दुर्जरं सिद्धं दोषलं पूतिमारुतम् ।
 स्तिग्नधोष्णतीक्ष्णं तद्वालं दीपनं कफवातजित् ॥ १२६ ॥
 वातपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् ।
 पकमात्रं जयेद्वायुं मासशुक्रबलप्रदम् ॥ १३७ ॥
 कषायमधुरायं गुरु विष्टुभिं शीतलम् ।
 जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ॥ १३८ ॥
 मधुरं बदरं स्तिग्नं भेदनं वातपित्तजित् ।
 तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्ते न च विरुद्धते ॥ १३९ ॥
 कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिकाफलम् ।
 गाङ्गेरुकं करीरं च विम्बीतोदनधन्वनम् ॥ १४० ॥
 मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् ।
 संपकं पनसं मोर्चं राजादनफलानि च ॥ १४१ ॥
 स्थानुनि सकषायाणि स्तिग्नधश्मीत्कुरुणि च ।

कषायविशदत्वाच सौगन्ध्याच रुचिप्रदम् ॥ १४२ ॥
 अबदंशक्षमं रुक्षं बातलं लवलीफलम् ।
 नीयं सभार्गकं पीलु तुणशून्यं^१ विकङ्कतम् ॥ १४३ ॥
 प्राचीनामलकं चैव दोषघ्नं गरहारि च ।
 ऐङ्गुदं तिक्तमधुरं स्निग्धोष्णं कफबातजित् ॥ १४४ ॥
 तिन्दुकं कफपित्ताघ्नं कषायमधुरं लघु ।
 विद्यादामलके सर्वान् रसाँश्ववणवर्जितान् ॥ १४५ ॥
 स्वेद-मेदः-कफोत्कलेद-पित्तरोग-विनाशनम् ।
 रुक्षं स्वादु कषायमलं कफपित्ताहरं परम् ॥ १४६ ॥
 रसासूङ्ख-मास-मेदो-जान्दोषान् हन्ति विभीतकम् ।
 स्वरभेद-कफोत्कलेद-पित्तरोग-विनाशनम् ।
 अमलं कषायमधुरं बातघ्नं ग्राहि दीपनम् ॥ १४७ ॥
 स्निग्धोष्णं दाढिमं हृदयं कफपित्ताविरोधि च ।
 रुक्षामलं दाढिमं यतु तत्पित्तानिलकोपनम् ॥ १४८ ॥
 मधुरं पित्तनुत्तोर्णा तद्विद्वां दाढिममुत्तमम् ।
 वृक्षामलं ग्राहि रुक्षोष्णं बातश्लेष्मणि शस्यते ॥ १४९ ॥
 अमिलकायाः फलं पक्कं तस्मादल्पान्तरं गुणैः ।
 गुणस्तरैव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम् ॥ १५० ॥
 शुलेऽरुचो विबन्धे च मन्देऽमौ मधुविकल्पे ।
 हिक्काकासे च श्वासे च वम्यां वर्चोगदेषु च ॥ १५१ ॥
 बातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेतेषु दिश्यते ।
 केशरं मातुलुङ्गस्य लघु शीतमतोऽन्यथा ॥ १५२ ॥
 गुर्बीं त्वगस्य कटुका मारुतस्य च नाशिनी ।
 रोचनो दीपनो हृदयः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः ॥ १५३ ॥
 कर्चूरः कफबातघ्नः श्वासहिकार्शसां हितः ।
 मधुरं किञ्चिदमलं च हृदयं भक्तप्रोचनम् ॥ १५४ ॥
 दुर्जरं बातशमनं नागरञ्जफलं गुरु ।
 बातामाभिषुकाक्षोट-मकूलक-निकोकचाः ॥ १५५ ॥
 गुरुष्णास्त्रिमधुराः सोहमणा बलप्रदाः ।
 बातघ्ना हृहणा हृष्णाः कफपित्ताभिवर्धनाः ॥ १५६ ॥

१. शताहकं, शताहकमिति च पाठौ ।

पियालमेषीं सहशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणे ।
 श्लेष्मलं मधुरं शीतं श्लेष्मातकफलं गुह ॥ १५७ ॥
 श्लेष्मलं गुह विष्टमिम चाङ्कोटफलमग्निजित् ।
 गुरुष्णं मधुरं रूप्सं केशज्ञं च शमोफलम् ॥ १५८ ॥
 विष्टमभयति कारञ्जः पित्तश्लेष्माविरोधि च ।
 आम्रातकं दन्तशठमस्लं सकरमदकम् ॥ १५९ ॥
 रक्तपित्तकरं विद्यादैरावतकमेव च ।
 वातज्ञं दीपनं चैव वार्ताकं कदुतिक्तकम् ॥ १६० ॥
 वातलं कफपित्तज्ञं विद्यात्पर्पटकीफलम् ।
 पित्तश्लेष्मज्ञमस्लं च वातलं चाक्षिकीफलम् ॥ १६१ ॥
 मधुराण्यनुपाकीनि वातपित्तहराणि च ।
 अश्वत्थेदुम्बर-प्लक्ष-न्यग्रोधानां फलानि च ॥ १६२ ॥
 कथायमधुराम्लानि वातलानि गुरुणि च ।
 भल्लातकास्थ्यगिनिसमं त्वड्मांसं स्वादु शोतलम् ।
 पञ्चमः फलवर्गोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः ॥ १६३ ॥

फलवर्ग—यकी हुई किशमिश प्यास, जलन, ज्वर, इवास, रक्त-पित्त, उरः-
 शत, श्वय, वातपित्त, उदावर्ता, स्वरमेद, मदात्यय, मुख की कदुता मुखशोष और
 और कास को शीघ्र नष्ट करती है । यह वृंहणी पुष्टिकारक, वृद्धि, मधुर, स्निग्ध
 शीतल है । खजूर-मधुर, पुष्टिकारक, शुकवर्षक, गुरु शोतल, श्वय, चोट लगाने,
 जलन और वात-पित्त रोग में हित हारा है । फलगु (अंजीर), तुतिकारक,
 वृंहण, गुरु, विष्टमी और शोतल है । फालसा और मदुवा वात-पित्त रोग में
 उत्तम है । आम्रात (आमदा) मधुर, पुष्टिकारक, बलकारक, तुतिकारक,
 गुरु, स्निग्ध, कफकारक, शीतल, वृद्धि और पेट में अफार करता है । ताळके
 फल (ताळफल) और पका हुआ नारियल वृंहण, स्निग्ध, शीतल, बलकारक
 और मधुर होते हैं ।

मध्य (कमरत्व) मधुर, अम्लकथाय, विष्टमिम, गुरु, शीतल, पित्तश्लेष्म-
 कारक, स्तम्भक और मुख को शोषन करता है । खड़ा फालसा, द्राक्षा, जाड़ी के
 बेर, आचक (आदु या आलुबुलारा), ये पित्तकफ को कुपित करने वाले हैं ।
 इसी प्रकार बेर और लकुच (ढो), भी पित्त-कफक्षीरक है । आचक (आलु-
 बुलारा) बहुत गरम नहीं, स्वादुमधुर और खाने में स्वादिष्ठ, वृंहण पुष्टिकारक,

जल्दी पच जाता है, मधुर अधिक दोषों को नहीं बढ़ाता। पारावत (कामरूप में प्रसिद्ध है) दो प्रकार का है। मधुर और अम्ल। इनमें मधुर शीतल और अम्ल, उष्ण गुरु, अश्विं और अग्नि की तीक्ष्णता को नाश करता है।

काश्मरी (गम्भारी) का फल लगभग कमरख के फल के तमान है, इसी प्रकार खट्टे फालसे के समान तूद (औचरपथिक शहत) भी है। टंक का फल कषाय मधुर, बातल, गुरु और शीतल है। कच्चा कैथ कण्ठ (स्वर) को नाश करने वाला (स्वर बिठानेवाला), विषनाशक, आम का संग्राहक, वायुकारक है। पका हुआ कैथ मधुर-अम्लकषाय रस एवं सुगन्धित होने से खाने में दविकर और अच्छी तरह पक जाने पर दोषनाशक, विषनाशक, संग्राही और गुरु है। पका हुआ बेल-पचने में दुर्जर, दोषकारक, बहुत दुर्गन्धयुक्त वायुपैदा करने वाला है। कच्चा बेल स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कफ-वायुनाशक है। कच्चा आम (गुठली बैठने से पहिले) रक्तपित्तकारक, पित्तकारक है। पकने पर आम वायुनाशक, मांस शुक्र और बलवर्दक है। पका हुआ जामुन कषाय मधुर रस, गुरु विषम्भी, शीतल, कफ-पित्तनाशक संग्राही और वायुकारक है। बेर-मधुर, स्निग्ध, रेचक, वात-पित्तनाशक है, सूखा बेर कफ-वातनाशक और पित्त के लिये अविरोधी है, पित्त का प्रकोप नहीं करता। सिङ्घितिका (सेब, सफरजंद) कषाय, मधुररस, शीतल, संग्राही है। गंगेरन (नागबला) और करीर (करौदा), कन्दूरी, तोदन और धाय के फल मधुर-कषाय, शीतल, पित्त-कफनाशक हैं। पका हुआ कटहल, केला और राजादन (सिरनी) स्वादु, कषाय, स्निग्ध, शीतल, गुरु हैं।

छबकी का फल (हरफारेवडी) कषाय और विशद एवं सुगन्धित होने से दविकर हृदय, वायुकारक तथा अवदंशक्षम (इस फलको खाकर दूसरे वस्तुओंमें दवि होती) है, नीप (कदम्ब), शताहुक (शरका), पील, तृष्णशून्य (केतकी फल), विकङ्कुत, प्राचीन आमलक, दोषनाशक और विषनाशक हैं। हिंगुद (हिंगोट) का फल तिक मधुर स्निग्ध, उष्ण और कफवातनाशक है। तिन्दुक-फल (वेन्दु), कफ-पित्तनाशक कषाय, मधुर और छघु है। आंवडे में लवण रस को छोड़कर और सब रस हैं और स्वेद मेद, कफ, उत्कृद (वमन की रुचि) और पित्त के रोगों को नष्ट करता है, रुक्ष, स्वादु, कषाय, अम्ल, कफ-पित्तनाशक है। बिमीतक (बहेका), रस, रक्त, मांस, मेदजन्य रोगों को नष्ट करती है स्वर मेद, कफ के उत्कृद, तथा पित्त रोग नाशक है। खट्टा अनार कषाय, मधुर, वातनाशक, संग्राही, अग्निदीपक, स्निग्ध और उष्ण है, कृष्ण हृदय के

लिये इच्छिकर कफपित का अविरोधी (प्रकोपक नहीं) रुक्ष है । औंडा अनार पित्तनाशक है इन सब में खट्टा अनार श्रेष्ठ है ।

तृष्णाम्ल (कोकम) संग्राही, रुक्ष, उष्ण, वात-कफ में प्रशस्त है । अभिका (इमली) का फल पक्ने पर लगभग कोकम के समान गुणवाला होता है । अम्लवेतस का गुण भी इसी प्रकार है, परन्तु रेचक है । मातुरुंगा (बिजौरे निम्बू) का केशर शूल, अरुचि, विवर्ध, मन्दारिन, मदात्थय, हिक्का, कास, इवास, बमन, मल सम्बन्धी रोगों में और तथा वातकफ-जन्य रोगों में प्रशस्त और लघु है । इसकी छाल, गिरी आदि गुरु और वात-प्रकोपक है ।

विना छाल का कच्चर, रोचक, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकारी, सुगन्धित, कफ-वातनाशक, इवास, हिचकी और अर्द्ध रोग में हितकारी है । नारंगी का फल—मधुर, कुछ खट्टा, हृष्ट, खाने में इच्छिकर, पक्ने में दुर्जर, वातनाशक और गुरु है । बादाम, अभिषुक् (पिस्ता), अखरोट, मकूलक, निकोन, गुरु, उष्ण स्तिर्घ, मधुर, शक्तिवर्धक, वायुनाशक, पुष्टिदायक और कफ-पित्त को बढ़ाने वाला है । इनमें पियाल के गुण भी इसी के समान हैं, परन्तु वह उष्ण नहीं है । लेघ्यातक (लस्डे) का फल कफकारक, मधुर, शीतल, गुरु है । अंकोटक का फल कफकारक, गुरु, विष भी और अग्निनाशक है । शमी (जंडी) का फल गुरु, उष्ण, मधुर, शीतल और बालों का नाशकारक है । करंज का फल विषमी और वात-कफ के लिये अविरोधी है ।

आम्रातक, दन्तशठ (निम्बू, खट्टा), करौंदा और ऐरावत ये रक्त-पित्तनाशक हैं । वार्ताक, वातनाशक, अग्निदीपक, कटुतिक रुक्ष है । पित्तपापडे का फल वायुकारक और कफ-पित्तनाशक है । आलिकी-फल पित्त-कफनाशक, खट्टा और वायुकारक है । पीपल, गूलर, पिलखन, बढ़ इनके फल पक्ने पर मधुर और वात-पित्तनाशक हैं । कच्चे फल क्षाय मधुर, अम्ल, वायुकारक और गुरु हैं । भिलाके का फल अग्नि के समान (छाले डालने वाला) है, भिलाके की छाल, मज्जा स्वादु, शीतल है । इस प्रकार से उपयोगी पांचवा-फलवर्ग भी कह दिया है ॥ १२३-१६३ ॥

इति फलवर्गः ।

अथ हृतिवर्गः ।
दोषनं शीकर्ण वृद्धमार्द्रकं विश्वभेषजम् ।
वातश्लेष्मविकर्षेषु रसस्तस्योपदिश्वते ॥ १६४ ॥

रोचनो दीपनस्तीक्ष्णः सुगन्धिर्सुखशोधनः ।
 अम्बीरः कफवातद्वः कृमिनो भुक्तपाचनः ॥ १६५ ॥
 बालं दोषहर्म, एङ्गं त्रिदोषं, मारुतापहम् ।
 स्तिंगधसिद्धं, विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥ १६६ ॥
 हिष्ठा-कास-विष-इवास-पाश्व-शूल-विनाशनः ।
 पित्तकृत्कफवातद्वः सुरसः पूतिगन्धहा ॥ १६७ ॥
 यवानी चार्जकश्चैव शिशुशालेयसृष्टकम् ।
 हृष्टान्यास्वादनीयानि पित्तमुत्क्लेशयन्ति च ॥ १६८ ॥
 गण्डीरो जलपिप्पल्यस्तुम्बुरुः शृङ्गवेरिका ।
 तीक्ष्णोष्ण-कटु-रुक्षाणि कफवातहराणि च ॥ १६९ ॥
 पुस्तवद्वः कटुरुक्षोष्णो भूत्तुणो वक्त्रशोधनः ।
 खराइवा कफवातद्वी वस्तिरोगरुजापदा ॥ १७० ॥
 धान्यकं चाजगन्धा च सुमुखाश्रेति रोचनाः ।
 सुगन्धना नातिकटुका दोषानुत्क्लेशयन्ति च ॥ १७१ ॥
 ग्राही गृज्ञनकर्सीक्षणो वातश्लेष्मार्गसां हितः ।
 स्वेदनेऽध्यवहार्ये च योजयेत्तमपित्तिनाम् ॥ १७२ ॥
 इलेष्मलो मारुतद्वंश्च पलाण्डुर्न च पित्तनुत् ।
 आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृद्ध्योऽथ रोचनः ॥ १७३ ॥
 कृमि-कुष्ठ-किळासन्धो वातद्वो गुलमनाशनः ।
 स्तिंगधश्चोष्णश्च वृद्ध्यश्च लशुनः कटुको गुहः ॥ १७४ ॥
 शुष्काणि कफवातद्वन्येतन्येषां फलानि च ।
 हरितानामयं चैवां षष्ठो वर्गः समाप्यते ॥ १७५ ॥

हरितवर्ग—आर्द्रक (अदरक) रोचक, अशिदीपक, वीर्यवर्धक है। इस का रस वात-कफजन्य अवरोधों में गुणकारी है। नोब्बू, रुचिकारक, दीपक, तीक्ष्ण, सुगन्धित, मुख को साफ करने वाला, कफ-वातनाशक, कृमिनाशक और अन्ज का पाचक है। कञ्जी मूली दोषनाशक है और बढ़ने पर (पकाने पर) त्रिदोषकारक है, स्तिंगध और सिद्ध (पकाई दुर्ब) मूली वायुनाशक, सखी मूली कफ-वातनाशक है । तुलसी-हिचकी, काट, विष, इवाल, पाश्वशूल का नाश करती तथा पित्तकारक, कफ- वायुनाशक एवं शरीर तथा

(१. मूली—यावद्दि चावद्यक्तरसानिवितानि, नवप्रकृदानि च मूलकानि ।)
 तावश्क्तु दीपनानि पित्तानिष्ठलेष्महराणि चैव ॥

अथ के तुर्णन्व को नष्ट करती है। अजवायन, अर्जक (अजवा), शोभा-
खन, शालेयमृष्टक और राहि ये हृदय को प्रिय और स्वादिष्ट तथा पित्तवर्धक हैं।
गण्डीर (लाल और इवेत मेद से दो प्रकार का है, यहां पर लाल का ग्रहण है
और इवेत को शाकवर्ग में कह दिया है), जल पिष्ठली, तुम्बक, गोबिञ्चा
(गाज़बां) ये तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, रुक्ष, कफ-वायुनाशक हैं। भूत्तृण (गन्ध-
तुण), पुरुषत्वनाशक, कटु, रुक्ष, उष्ण और मुख का शोषक है। खराश्वा
(कालाजीरा) कफ-वातनाशक, वस्तिरोग और वस्तिशूलनाशक है।

घनिया, अजवायन, सुमुखा (तुलसी मेद), रोचक, सुगन्धि बहुत कटु
नहीं और दोषों को उत्तेजित करते हैं। गाजर (घृजन) या बलजम संगाही,
तीक्ष्ण, वात-कफ अर्द्ध रोग में हितकारी, स्वेदन कार्य में हितकारी है, इसका
उपयोग पित्त जहां न बढ़ा हो वहां पर करना चाहिये। पलाण्ड (प्याज़)
कफकारक, वायुनाशक है, परन्तु पित्त नाशक नहीं है, भोजन में उपयोगी,
बलकारक, गुरु, हृद्य और दविकर है। छहसुन कुमि, कुष्ठ, किलाउ रोग-
नाशक, वायुनाशक, गुलमनाशक, स्निग्ध और उष्ण, वीर्यवर्धक, कटु, और
गुरु है। ये सब सूखे होने पर तथा इनके फल कफ-वायु नाशक हैं। यह छद्य
हरितवर्ग समाप्त हुआ। हरितवर्ग की बस्तुवें प्रायः हरी कच्ची ही बरती जाती
हैं; इस लिये इसे हरितवर्ग कहते हैं—जैसे आजकल सलाद, प्याज टमाटर
कच्चे खाने का रिवाज़ है ॥ १६५-१७५ ॥

इति हरितवर्गः ।

अथ मद्यवर्गः ।

प्रकृत्या मद्यमम्लोष्णमम्लं चोक्तं विपाकतः ।
सर्वं सामान्यतस्तस्य विशेष उपदेश्यते ॥ १७६ ॥
कृशानां सक्तमूत्राणां प्रहण्यशर्तेविकारिणाम् ।
सुरा प्रशस्ता वातन्नी स्तन्यरक्तश्येषु च ॥ १७७ ॥
हिक्का-पास-प्रतिश्याय-कास-बर्चो-प्रहारचौ ।
वम्यानाहविवन्वेषु वातन्नी मदिरा हिता ॥ १७८ ॥
शूल-प्रवाहिकाटोप-कफ-वातार्शसां हितः ।
अग्नो प्राहिरुक्षोषणः शोकन्नो भुक्षपाचनः ॥ १७९ ॥
शोफार्शो-प्रहणीदोष-पाण्डुरोगादविज्वरान् ।
हन्त्यरिष्टः कफकृताद् दोगान् दोषनवीपनः ॥ १८० ॥

मुखप्रियः सुखमदः सुगन्धिर्बस्तिरोगनुत् ।
 जरणीयः परिणतो हृषो वर्णवज्ज्ञ ज्ञाकरः ॥ १८१ ॥
 रोचनो दीपनो हृषः शोषशोकार्थसां हितः ।
 स्नेह-झेल्म-विकारज्ञो वर्ण्यः पकरसो भतः ॥ १८२ ॥
 जरणीयो विषन्धनः स्वरवर्णविशोधनः ।
 कर्षणः शीतरसिको हितः शोफोदरार्शसाम् ॥ १८३ ॥
 सूष्टुभिजशक्तुतो गौडस्तर्पणदीपनः ।
 पाण्डुरोगब्रणहिता दीपनी चाक्षिकी भता ॥ १८४ ॥
 सुरासवस्तीत्रमदो वातज्ञो वदनप्रियः ।
 छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मैरेयो मधुरो गुहः ॥ १८५ ॥
 धातक्याभिषुतो हृषो रुक्षो रोचनदीपनः ।
 माष्वीकवज्ञ चात्युष्णो मृद्धीकेष्वरसासवः ॥ १८६ ॥
 रोचनं दीपनं हृषं बल्यं पित्ताविरोधि च ।
 विषन्धनं कफ्यं च मधु लघ्वल्पमारुतम् ॥ १८७ ॥
 सुरा समण्डा रुक्षोष्णा यवानां वातपित्तला ।
 गुर्वां जीर्यति विष्ट्रय इलेष्मला तु मधूलिका ॥ १८८ ॥
 दीपनं जरणीयं च त्याण्डुकुमिरोगनुत् ।
 प्राहण्यशोहित भेदि सौबीरकतुषोदकम् ॥ १८९ ॥
 दाहज्वरापहं स्पर्शात्यानाद्वातकफापहम् ।
 विषन्धन्नमविस्मिति दीपनं चाम्लकाखिकम् ॥ १९० ॥
 प्रायशोडमिनवं मध्यं गुरु दोषसमीरणम् ।
 रुक्षोत्सां शोधनं जीर्ण दीपनं लघु रोचनम् ॥ १९१ ॥
 हर्षणं प्रीणनं बल्यं भय-शोक श्रमापहम् ।
 प्रागलक्ष्य-बीर्य-प्रतिभा-तुष्टि-पुष्टि-बल-प्रदम् ॥ १९२ ॥
 सास्त्रिकैर्विष्ट्रयद्युक्त्या पीतं स्यादमृतं यथा ।
 बगोऽयं सप्तमो मध्यमधिकृत्य प्रकीर्तिः ॥ १९३ ॥
 मध्यवर्ग—स्वभाव से मध्य लहू, उष्ण है, वह रस में अम्ल नहीं, विपाक में अम्ल है। पीने पर दात खटे होजाते हैं, मुख से साव होता है इसलिये अम्ल है। यह बात सब मध्यों में समान है, विषोष रूप से आये कहते हैं—
 • दुष (अनुदृष्टतमण्ड) कृष्ण पुरुषों के लिये, मूत्र रक जाने पर, प्रहणी, अर्घ-

१. मध्य-सर्वेषां मध्यमम्ळनामुपर्युपरि वर्तते ॥सु०॥

रोग में हितकारी, बायुनाशक तथा स्तन्य (दूध) और रक्तदूष में उपचारी है। मदिह (सुरामण्ड) हिचकी, इवास, प्रतिवायथ, कास, मलावरोध, अहनि, बमन, अफारा, विवन्ध में हितकारी एवं बायुनाशक है। जगड़ (आज्ञ से बनी सुरा) शूल, प्रवाहिका, अफारा, कफ-बायु और अर्शरोग में हितकारी संभाली, रुक्ष, उष्ण, शोफनाशक और आज्ञ को पचाने वाली है। अरिष्ट (ओषध काथ से सम्पादित) शोष, अर्श, ग्रहणी, पाण्डु, अहनि, ज्वर एवं कफजन्य रोगों को नष्ट करता है, रोचक और अग्निवर्धक है। शार्कर (शर्करा का प्राकृतिक आसव) स्खाने में प्रिय, सुखपूर्वक नशा करने वाला, सुगन्धित, बस्तिरेगनाशक जीर्ण होकर पचने वाला। हृदय को प्रिय, वर्ण, कान्तिकारक है। पक रस (गन्जे के रस को पका कर बनाने पर) रोचक, अग्निदीपक, हृदय, शोष, शोफ, अर्श रोग में हितकारी, स्नेह-श्लेष्मा के रोगों का नाशक और कान्तिकारक है। शीत रस (गन्जे के अपक रस से बनाया) लाघवकारक, विवन्धनाशक, स्वर वर्ण को साफ करने वाला, लेखन, शोफ, उदर, अर्श रोग में हितकारी है। गौड़ (गुड़ से बना) मद्य रेचक, बायु का अनुलोमक, तृतिकारक और अग्निवर्धक है। बहेड़े का मद्य पाण्डुरोग, ब्रण में हितकारी और दीपक है। सुरासव (सुरा को ही पानी के स्थान पर जहाँ व्यवहार करें) तीव्र मदकारी, बायुनाशक, मुख और शरीर के लिये प्रिय है। मदुवे के फूलों से बना आसव छेदक और तीक्ष्ण है, मैरेय^१ मधुर और गुरु है। धाय के फूलों से बना आसव हृदय, रुक्ष, रोचक और दीपक है। मृद्दोंका रस और गन्जे के रस को मिलाकर तैयार किया दुधा आसव माध्यीक से बने आसव के समान गरम नहीं, रोचक, दीपक, हृदय, बलकर और पिश के लिये अविरोधी है। मधु प्रधान आसव विवन्धनाशक, कफनाशक, लघु और थोड़ी बायुकारक है। मण्ड के साथ सुरा (यव-तण्डुलों से बनी) रुक्ष, उष्ण, बात-पित्तकारक है। मधूलक (गेहूं से बनी मद्य) गुड़, पेट में अफारा करके जीर्ण होती है, कफकारक है। धान्य-तुष से बनी कांजी दीपक, लघु, हृदय पांडु, कूमि, रोगनाशक, ग्रहणी, अर्शरोग में हितकारी और रेचक है। लट्टी कांजी के पीने से दाह, ज्वर नष्ट होता है, बात-करनाशक, विवन्धनाशक, अविकृसंसी, दीपक है। नवीन मद्य प्रायः गुड़ और दोष प्रकोपक होता है। पुराना^२ मद्य स्रोतों का शोधक, दीपक, लघु, रुचिकर, हर्षो-

१. मैरेय—‘आसवस्य सुरावात्त्वं हृदयोरेकत्र भाजने।

सन्धानं तद् विजानीयात् मैरेयसुमवाभयम् ॥

२. एक वर्ष के पीछे शराब पुरानी मानी जाती है।

स्यादक, पुष्टिदायक, बलकारक, भय, शोक, अम को मिटाने वाला है। सात्त्विक विषिपूर्वक सेवन किया हुआ मध्य अमृत के समान होता है, यह मध्य अस्थन्त शीर्यप्रद, प्रतिमा, प्रसन्नता, पुष्टिवल को देता है। यह सातवां मध्यवर्ग समाप्त हुआ ॥ १७६-१८३ ॥

इति मध्यवर्गः ।

अथ जलवर्गः ।

जलमेकविधिं सर्वं पतत्येन्द्रं नभस्तलात् ।

तत्पतत्पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥ १६४ ॥

खात्पतत्सोमवाय्वकेः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः ।

शीतं शुचि शिवं मृष्टं विमलं लघु षड्गुणम् ।

प्रकृत्या दिव्यमुदकं, भ्रष्टं पात्रमपेक्षते । १६५ ॥

इवेते कषायं भवति पाण्डुरे चैव तिक्तकम् ।

कपिले क्षारसंसृष्टमूषरे लवणान्वितम् ।

कटु पर्वतविस्तारे मधुरं कृष्णमृत्तिके ॥ १६७ ॥

एतत्पाद्गुण्यमाख्यातं महीस्थस्य जलस्य हि ।

तथाऽन्यक्तरसं विद्यादैन्द्रं कारं हिमं च यत् ॥ १६८ ॥

यदन्तरीक्षात्पततोन्द्रसृष्टं चोक्तेश्च पात्रैः परिगृहतेऽम्भः

तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिलं प्रधानम् ॥ १६९ ॥

श्वतावृताविह ख्याताः सर्वं एवाभ्यसो गुणाः ।

ईषत्कषायमधुरं सुसूक्ष्मं विशदं लघु ॥ २०० ॥

अख्यामनभिष्यन्दि सर्वं पानीयमुत्तमम् ।

शुर्वभिष्यन्दि पानीयं वार्षिकं मधुरं नवम् ॥ २०१ ॥

तनु लघ्वनभिष्यन्दि प्रायः शरदि वर्षति ।

तत्तु ये सुकुमाराः स्युः स्तिंगधभूयिष्ठभोजनाः ॥ २०२ ॥

तेषां भोव्ये च भक्ष्ये च लेष्ये पेये च शस्यते ।

हेमन्ते सलिलं स्तिंधं वृष्यं बलहितं गुरु ॥ २०३ ॥

किञ्चित्तो लघुतरं शिशिरे कफवातजित् ।

कषायमधुरं रुक्षं विद्याद्वासन्तिकं जलम् ॥ २०४ ॥

ग्रेष्मकं त्वनभिष्यन्दि रूपमित्येव निश्चयः ।

विभ्रान्तेषु तु काळेषु यत्ययच्छन्ति सोयदाः ॥ २०५ ॥

सुलिलं तत्तु वोषाय गुच्छते नात्र संशयः ।
 राजभी राजमात्रेश्च सुकुमारेश्च मानवेः ॥ २०६ ॥
 संप्रहीताः शरद्यापः प्रयोक्तव्या विशेषतः ।
 नद्यः पाषाण-विच्छिन्न-विक्षुधाभिहतोदकाः ॥ २०७ ॥
 हिमवत्प्रभवाः पथ्याः पुण्या देवर्षिसेविताः ।
 नद्यः पाषाण-सिक्तावाहिन्यो विमलोदकाः ॥ २०८ ॥
 मल्यप्रभवा याश्च जलं तास्वसृतोपमम् ।
 पञ्चमाभिमुखा याश्च पथ्यास्ता निर्मलोदकाः ॥ २०९ ॥
 प्रायो मृदुवहा गुर्वर्णो याश्च पूर्वसमुद्रगाः ।
 पारियात्रभवा याश्च विन्यसद्वाभवाश्च याः ॥ २१० ॥
 शिरोहृद्रोगकुष्ठानां ता हेतुः श्लीपदस्य च ।
 वसुधा-कीट-सर्पाखु-मल-संदूषितोदकाः ॥ २११ ॥
 वर्षाजलवहा नद्यः सर्वदोषसमीरणाः ।
 वापी-कूप-नद्वागोत्स-सरः-प्रस्त्रवणादिषु ॥ २१२ ॥
 आनूपशैलधन्वानां गुणदोषैर्विभावयेत् ।
 पिच्छिलं कंगिलं किञ्चं पर्णशैवालकर्दमैः ॥ २१३ ॥
 विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धिं न हितं जलम् ।
 विष्णं त्रिदोषं लवणमनु यद्वरुणालयम् ॥ २१४ ॥
 इत्यम्बुर्वर्गः प्रोक्तोऽयमष्टमः सुविनिश्चितः ।
 जलवर्गः समुद्दिष्टो मानवानां सुखप्रदः ॥ २१५ ॥

सम्पूर्ण पानी एक प्रकार का है । यह पानी बरसात के रूप में आकाश से गिरता है । यह गिरता हुआ, और गिरकर, [गुण-दोष के लिये] देश, समय की अपेक्षा करता है । आकाश से गिरता हुआ पानी शूद्र के अनुसार दूर्य, चन्द्रमा और बायु (आकाश में स्थित धूलि, तथा ज्युद्र जन्तु आदि परमाणुओं से मिलकर) तथा भूमि के ऊपर गिर कर उस शूद्र के अनुसार भूमि की शीतलता, उष्णिया, स्निग्धता, झक्कता आदि के सम्बन्ध होने पर उसी गुण वाला हो जाता है । आकाश से गिरता हुआ पानी स्वभाव से शीतल, पवित्र, कल्पयनकारी, स्वादिष्ट, स्वच्छ, हळ्का—इन छः गुणों वाला है । नीचे भूमि पर गिरकर पात्र की अपेक्षा से गुण वाला बन जाता है । इसेत मूर्मि पर गिरने से पानी कृष्णा, पाण्डुर जमीन में तिक्क; कपिल मूर्मि अर्थात् बारमिश्रित (ऊसर में) नमकीन; पहाड़ की मूर्मि पर कढ़ और काढ़ी मूर्मि में मधुर हो

जाता है। भूमि का जळ इन छः गुणों वाला होता है। बरसात का पानी, बफ़ का पानी और कार अर्थात् बोले के पानी में कोई रस व्याह़ नहीं होता। आकाश से गिरते हुए पानी को नदी आदि स्पानों के अतिरिक्त, किंवि शुद्ध पात्र में एकत्र कर किया जाय तो इसे बरसात का पानी कहते हैं। यह पानी राजाओं के पीने योग्य है। श्रृङ्खला के अनुसार बरसात के पानी में गुण होते हैं। जो पानी योड़ा कथाय, मधुर, पतला (सूक्ष्म), स्वच्छ, लघु, अस्त्र अनभिष्यन्दि, कफ़ न करे, वह पानी उत्तम समझना चाहिये। बरसात का नया पानी गुरु, अभिष्यन्दि और मधुर रस होता है। शरद् श्रृङ्खला में बरसात का पानी बहुत स्वच्छ, लघु, अनभिष्यन्दि कफ़ नहीं करने वाला होता है। यह पानी सुकमार, एवं विशेषतः स्तिंष्ठ एवं बहुत भोजन खाने वाले पुरुषों के भोजन में, भक्षण (दांत से काट कर खाने की वस्तुओं) में, पीने और चाटने में भी प्रशंस्त है। हेमन्त श्रृङ्खला में बरसात का पानी स्तिंष्ठ, वीर्यवर्धक, बल-कारक, गुरु है। शिशिर श्रृङ्खला में बरसात का और हेमन्त श्रृङ्खला के पानी से कुछ हल्का एवं कफ़-बातनाशक होता है। वसन्त श्रृङ्खला में बरसात का पानी कथाय, मधुर रस और रुक्ष होता है। ग्रीष्म श्रृङ्खला में बरसात का पानी कफ़नाशक और रुक्ष होता है, विश्रान्त अर्थात् बरसात के दिनों में बादलों से जो पानी गिरता है वह निश्चित रूप में दोषकारक होता है। राजाओं, श्रीमन्तों, रईसों तथा सुकुमार पुरुषों को चाहिये कि वे शरद् श्रृङ्खला में बरसात के पानी को इकट्ठा करलें और सारे साल इसीका उपयोग करें।

हिमालय से उत्पन्न नदियों का पानी पत्थरों की टक्कर के कारण मये जाने से निरोष, पव्यकारी, पुण्य है। इनको देवता व श्रूषि सेवन करते थे, ये अति पुण्यकारी है। मलयाचल पर्वत से उत्पन्न नदियों का पानी पत्थर, रेतीली भूमि में बहने से स्वच्छ हो जाता है। इन का जळ भी अमृत के समान है। पश्चिम समुद्र में गिरने वाली नदियां पव्यकारी एवं स्वच्छ पानी वाली हैं। पूर्वीय समुद्र में गिरने वाली नदियां धीरे धीरे चलती हैं और गुरु पानी वाली हैं। पारियात्र पर्वत से उत्पन्न होनेवाली, बिन्ध्याचल एवं सहादि के पहाड़ों से उत्पन्न नदियां शिरोरोग, दूदयरोग, कुष्ठ और इलीपद रोग को उत्पन्न करती हैं।

बरसात का पानी, मिही, कूमि, कीट, उर्प, चूहा आदि के मधों से दूषित हो कर नदियों में जाकर मिलता है, इसलिये सब नदियों का पानी दूषित होता है इसलिये इस श्रृङ्खला में नदियों का पानी दोष बढ़ाने वाला होता है। बालों

कूवा, तड़ाग, चम्पा, सरोवर, छरना आदि का पानी आनुप, पर्वत, और बन्धन अर्थात् जांबल देश के गुण-दोषों के अनुवार समझना चाहिये । जो पानी पिण्डिल (विकास), किमियुक किन्न, पले, सरबाल अथवा कीचड़ से मिला, जिस पानी का रंग बदल गया हो, रस बिगड़ गया हो, सान्द्र (तरक न हो, गाढ़ा हो), दुर्गन्ध युक्त हो, वह जड़ हितकारी नहीं है । समुद्र का पानी विल (आमगन्धी) तानों दोषों को करने वाला; नमकान हाता है । इसलिये नहीं पीना चाहिये । यह आठवां जलवर्ग समाप्त हुआ ॥ १६४-२१५ ॥

इति जलवर्गः ।

अथ दुर्घटवर्गः ।

स्वादु शीतं सृदु स्तिरधं बहलं स्त्रश्णपिण्डिलम् ।
शुक्ल मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः ॥ २१६ ॥
तदेवंगुणमेवोजः सामान्यादभिवर्धयेन् ।
प्रवर्द्ध जीवनोयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥ २१७ ॥
महिषीणां गुरुतरं गव्याच्छीततरं पयः ।
स्नेहाऽन्यूनमनिद्राय हृतमत्यग्रये च तत् ॥ २१८ ॥
रुक्षाणां क्षीरमुष्ट्रीणामीषत्सलक्षणं लघु ।
शस्त्रं वान-कफानाह-कृमिन्शाफोदरार्शसाम् ॥ २१९ ॥
बल्यं स्थैर्यकरं सर्वमुष्णं चैकक्षफं पयः ।
सास्त्वं सलवणं रुक्षं शाखावातहरं लघु ॥ २२० ॥
छागं काषयमधुरं शीतं प्राहि पयो लघु ।
रक्षपित्तातिसारज्ञं क्षय-कास-ज्वरापहम् ॥ २२१ ॥
हिक्षाश्वासकरं तृष्णं पित्तश्लेष्मलमाविकम् ।
हस्तिनीनां पयो बल्यं गुरु स्थैर्यकरं परम् ॥ २२२ ॥
जीवनं वृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः ।
नावनं रक्षपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलिनाम् ॥ २२३ ॥

१. मुक्तुत में भी कहा है—अनूपदेशे यद् वारि गुरु तत् रक्षेष्मवर्धकम् ।
विपरीतमतो मुख्यं लघु जाह्नव्युच्यते ॥

मुक्तुत में कूप, तड़ाग, वापी छरने आदि के पानी के गुण पृथक्-पृथक् दिये हैं ।

रोचनं दीपनं वृद्धं स्नेहनं बलवर्धनम् ।
 पाकेऽमलमुण्डं बातच्छं मङ्गलं वृंहणं दधि ॥ २२४ ॥
 पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे ।
 अहचौ मूत्रकुच्छुं च काश्ये च दधि शत्वते ॥ २२५ ॥
 शरद-ग्रीष्म-वसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।
 रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेष्वहितं च तत् ॥ २२६ ॥
 त्रिदोषं मन्दकं, जातं बातच्छं दधि, शङ्खः ।
 सरः, श्लेष्मानिलघ्नस्तु मण्डः स्रोतोविशोधनः ॥ २२७
 शोफाशों-ग्रहणी-दोष-मूत्र-कुच्छुदरा-^२हचौ ।
 स्नेहव्यापदि पाण्डुत्वे तकं दद्याद् गरेषु च ॥ २२८ ॥
 संग्राहि दीपनं हृदयं नवनीतं नवोद्घृतम् ।
 ग्रहणयशों-विकार-ज्ञनमदित्तारुचिनाशनम् ॥ २२९ ॥
 स्मृति-बुद्धिमि-शुक्रोजः-कफ-भेदो-विवर्धनम् ।
 बात-पित्त-विषोन्माद-शोषालक्ष्मी-विषापहम्^३ ॥ २३० ॥
 सर्वस्नेहोत्तरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ।
 सहस्रवीर्यं विधिभिर्दृतं कर्मसहस्रकृत् ॥ २३१ ॥
 मदापस्मार-मूर्च्छाय-शोषोन्माद-गर-ज्वरान् ।
 योनिकर्णशिरःशूलं घृतं जीर्णमपोहति ॥ २३२ ॥
 स्वर्णपीड्यजावि-महिषी-क्षीरवत्स्वानि निर्दिशेत् ।
 पीयूषो मोरटं चैव किलाटा विवधाश्च ये ॥ २३३ ॥
 दीप्तामीनामनिद्राणा सर्वं एते सुखप्रदाः ।
 गुरवस्तर्पणा वृद्ध्या वृंहणाः पवनापहाः ॥ २३४ ॥
 विशदा गुरवो रुक्षा ग्राहिणस्तकपिण्डकाः ।
 गोरसानामयं चर्गो नवमः परिकीर्तिः ॥ २३५ ॥

क्षीरवर्ग—दूध—मधुर, शीतल, मृदु, स्निग्ध, बहल, इलक्षण, पिण्डिल, गुर, मन्द, प्रसन्न इन दस गुणोंबाला गाय का दूध है। ओज के भी ये ही दस गुण हैं। इस लिये सामान्य होने से दूध ओज को बढ़ाता है। इचलिये जीवनीय वस्तुओं में दूध सब से अधिक श्रेष्ठ गिना जाता है। वह रसायन है।

मैंस का दूध—गाय के दूध से भारी, गाय के दूध से ठण्डा और उसमें स्नेह अर्थात् वी भी अधिक होता है, निद्रा न आने वाले के लिये तथा अग्नि के बहुत बढ़ने में हितकारी है, अग्नि को कम करता है।

१. शुक्लं इति पाठः । २. मूत्रग्रहोदरा इति पाठः । ३. ज्वरापहम् इति पाठः ।

ऊंठनी का दूध कल, उज्ज्वल, योका नमकीन, लघु, बात, कफ, आनाह कूमि, शोफ, उदर एवं अर्श रोग में हितकारी है। एक खुर वाले थोड़ी या गधी, खच्चर आदि जानवरों का दूध बलकारक, शरीर को स्थिर बनाने वाला, उज्ज्वल, अम्ल-लवण रस, रूक्ष, हाथ पांव के बातबिकारों को नाश करने वाला और लघु है। बकरी का दूध-कथाय, मधुर, शीतल, संप्राहि, लघु, रक्तपित्त-अतिसार नाशक, क्षय, कास, ऊंठर में हितकारी है। भेड़ों का दूध-हिका, इसके रोग करने वाला, गरम, पित्त कफ को उत्पन्न करता है। हथिनी का दूध बल-कारक, गुरु, और शरीर को ढढ़ करने वाला है। जियों का दूध-जीवनीय, बृहणीय, शरीर के सात्त्व, स्नेहक, नस्य के लिये और रक्तपित्त में हितकारी, आंख के दुःखने में तर्पण करने के लिये उत्तम है।

दही के गुण—दही रुचिकारक, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, स्नेहन के योग्य, बलवर्धक, विपाक में अम्ल, उष्णवीर्य, बातनाशक, मंगलकारी, बृहण, पौष्टिक है। पीनस, अतिसार, शीतजन्य विषमञ्चवर में, अद्वचि, मूत्रकुच्छ, और स्वाभाविक कृशता में दही उत्तम है। शरद-ग्रीष्म और बरन्त शूद्र में दही का खाना निन्दित है। मन्दक (जब, दही पूरी तरह न जमे उसे मन्दक कहते हैं) दही त्रिदोषकारक है, और ठीक तरह जमा दही बातनाशक होता है। सरः (दही के ऊपर की मलाई) शुक्रवर्धक (शुक्र की वृद्धि करने वाली) है। दही का मण्ड स्वच्छ द्रवमाग (मस्तु), कफ-बात नाशक और स्रोतों को साफ़ करने वाला है।

छाँच के गुण—शोफ, अर्श, ग्रहणी, मूत्राशात (मूत्रावरोध), उदर रोग अद्वचि, स्नेहकर्म जन्य रोगों में, पाण्डुरोग में तथा संयोग जन्य विष में छाँच प्रशस्त है। मक्खन-संप्राहि, अग्निदीपक, हृष्ण, ग्रहणी, अर्शरोग-नाशक, अर्दित तथा अस्त्रचि को भिटाता है। ताजा मक्खन ही अधिक प्रशस्त गुणकारी है, पुराना नहीं।

गाय के घी के गुण—स्मरण शक्ति, बुद्धि, अग्नि, शुक्र, ओज, कफ-मेद, को बढ़ानेवाला, बात, पिण्ड, विष, उन्माद, शोष, दौर्माण्य, अशुभ-एवं ऊंठर का नाशक है। सब स्नेहों में घी उत्तम है, शीतल, मधुर (रस एवं पाक में मधुर) है। नाना प्रकार के कर्म करने वाले द्रव्यों से घी का संस्कार करने पर घी सहस्रों प्रकार के, कर्म कर सकता है। मद, अपस्मार, मूर्छा, शोष, उन्माद, विष, ऊंठर, योनिरोग, कर्ण रोग, जिर के शल में पुराना घी (दस लाल का पुराना—‘जीर्ण’ तु दशवर्षातीतम्) प्रशस्त है। अन्य बकरी-आदि के घी का गुण उनके दूध के समान समझना चाहिये।

पीयूष (ताजी व्याई हुई मादा पशु का दूध, लीस), मोरट (यही पीयूष जब अगले दिन तक स्वच्छ नहीं होता, इसको मोरट कहते हैं), किलाट (जिसमें दूध से स्लेह माग निकाल लिया जाय) तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ जिनकी अग्र बढ़ी हुई हों, या जिनको अनिद्र रोग हो, उनके लिये सुखदायक हैं, गुरु, तुसिकारक, पौष्टिक, वीर्यवर्द्धक, बातनाशक हैं। छाड़ का छाना या पनीर (छाड़ या दही को कपड़े में लटका कर उसका द्रव माग निकाल देने पर बचा भाग) स्वच्छ, गुरु, रुक्ष और संग्राही है। यह नवां गोरख का वर्ग समाप्त हुआ ॥ २१६-२३५ ॥

इति गोरसवर्गः ।

अथेषुवर्गः ।

बृज्यः शीतः स्थिरः स्निग्धो वृंहणो मधुरो रसः ।
 श्लेष्मलो भक्षितस्येक्षोर्यान्त्रकस्तु विद्यते ॥ २३६ ॥
 शैत्यात्प्रसादान्मायुर्यात्पौण्ड्रकाद्वैशको वरः ॥
 प्रभूत-कृमि-मञ्जा-सूह-मेदो-मौस-करो गुडः ॥ २३७ ॥
 शुद्रो गुदश्वतुर्भागत्रिभागार्धावशेषितः ।
 इसो गुरुर्यथापूर्व धौतः स्वल्पमलो गुडः ॥ २३८ ॥
 यतो मत्स्यणिङ्काक्षण्डशक्रा विमलाः परम् ।
 यथा यथैषा वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा ॥ २३९ ॥
 बृज्याः क्षीणक्षत्रहिताः सरनेहा गुदशक्राः ।
 कषायमधुराः शीताः सतिक्ता याः सशर्कराः ॥ २४० ॥
 रुक्षा बम्यतिसारध्नी छेदनी मधुशक्रा ।
 रुष्णाद्युक्षिप्तचदाहेषु प्रशस्ताः सवेशकराः ॥ २४१ ॥
 माक्षिकं भ्रामरं क्षाद्रं पौत्तकं मधुजातयः ।
 माक्षिकं प्रवरं तेषां विशेषाद् भ्रामरं गुरु ॥ २४२ ॥
 माक्षिकं तैलवर्णं स्यात् इवेतं भ्रामरमुच्यते ।
 क्षौद्रं तु कपिलं विद्याद् घृतवर्णं तु पौत्रिकम् ॥ २४३ ॥
 बातछं गुरु शीतं च रक्तपित्तकफापहम् ।
 संचाट छेदनं रुक्षं कषायमधुरं मधु ॥ २४४ ॥
 हन्यान्मधुष्णामुष्णार्तमयथा सविषान्वयात् ।
 गुरु-रुक्ष-कषायत्वाच्छेत्याकार्यं हितं मधु ॥ २४५ ॥

नातः कष्टमं किञ्चिन्मध्यामारुद्धि मानवम् ।
 उपक्रमविरोधित्वात्सद्यो हन्यायथा विषम् ॥ २४६ ॥
 आमे सोष्णा क्रिया कार्या सा मध्यामे विलम्बते ।
 मध्यामं दारुणं यस्मात्सद्यो हन्यायथा विषम् ॥ २४७ ॥
 नानाद्रज्यास्मक्त्वाच्च योगवाहि परं मधु ।
 इतीशुविकृतिप्रायो वर्गोऽयं दशमो मतः ॥ २४८ ॥

इच्छिकारवर्ग—गजे का दांतों से चूसकर खाया हुआ रस बीर्य-बर्दूक, शीतल, रेचक, स्लिंग, पौष्टिक, मधुर एवं कफकारक होता है । यान्त्रिक (छोलहु) में पेल कर निकाला हुआ रस विदाहयुक्त हो जाता है । छिलके और गांठ के योग से उसमें विदाह उत्पन्न होता है और बाहर धूप में बायु के योग से भी विदाह उत्पन्न होता है । पौण्डा (नरम छिलके का) गन्ना अधिक शीतल, अधिक निर्मल (प्रसन्नता देने वाला) और अधिक मीठा होता है, बात गन्ना इससे उत्तर कर होता है ।

गुड—अतिशय कृमि, मज्जा, रक्त, मेद, और मांस को बढ़ाता है । छुट्टु गुड (काले रंग का गुड), चार भाग तीन भाग और आधा भाग बचाकर गन्ने के रस से बनाये गुड की अपेक्षा पूर्णांपर कम से गुरु हैं । अर्थात् छुट्टु गुड चार भाग से बने गुड से और चार भाग का गुड तीन भाग के गुड से अधिक गुरु हैं । साफ़ करके बनाया हुआ अर्थात् योके मळ वाला गुड कम तुकड़ान करता । इसके पीछे मत्स्यण्डिका (राव) खांड, शकर, उत्तरो-सार निर्मल-स्वच्छ होते जाते हैं और जिस प्रकार इनमें स्वच्छता बढ़ती है उसी प्रकार शीतलता भी बढ़ती जाती है । अर्थात् राव से खाण्ड और खाण्ड से शकर शीतल है ।

गुड से बनी शकर बीर्यबर्दूक, खोण, उराक्षत के रोगी के लिये हितकारी स्नेहयुक्त होती है । धमासे के काथ से बनाई शर्करा कण्ठ, मधुर रस, शीतल और कुछ तिक्त होती है । मधु की शर्करा, रुक्ष, बमन, अतिसार नाशक, छेदक (कफ आदि को तोड़ने वाली) होती है । तुष्णा रक्तपित्त और दाह रोग में सब शर्करायें प्रशस्त हैं ।

मधु के गुण—मधु की चार जातियाँ हैं । यथा १. माधिक (बड़ी मक्कियों या पिंगल रंग की मक्कियों से बना), २. भ्रामर (भ्रमरोद्धारा बनाया) ३. शौद्र (छोटी मक्कियों द्वारा बना) ४. पौत्रिक (पीली मक्कियों से बना श्वेत रंग का) । इन चारों प्रकार के शहद ने 'माधिक' शहद भेष्ठ है । भ्रमरों से बनाया मधु पिंपेतः गुड होता है । माधिक शहद का रंग तेक के समान (पीला) और

पौत्रिक शहद का रंग धो के समान (उफेद) पीछा होता है । खोद्र शहद इवेत होता है ।

मधु—वायुकारक, गुरु, शीतल, रक्त-पिण्ड, कफना शक, ब्रणों को जोड़ने वाला, कफ मेद आदि को उखाड़ने वाला, रुक्ष, कषाय और मधुर होता है । मधु नाना प्रकार के फूलों से विषैली मस्तिष्कयों द्वारा उत्पन्न किया जाता है, इसलिये इसे गरम करके देने से अथवा गरम अवस्था में मनुष्य को देने से मारक होता है । * मधु गुरु, रुक्ष और कषाय रस, तथा शीतल होने से योद्धा सेवन करना उत्तम है । मधु के अधिक खाने से उत्पन्न आम रोग जैसा कष्टसाध्य दूसरा रोग नहीं है । क्योंकि इसकी चिकित्सा में विरोध है । इसलिये विष की भाँति मनुष्य को शीघ्र मार देता है । क्योंकि आम-विकार में उत्तर किया करनी चाहिये, वह मधु में विशद है; और मधु के हितकारी जो शीतल किया है, वह आमरोग के विरुद्ध है । इसलिये मधुजन्य आमरोग दानण रोग है, इसलिये वह विष की भाँति मनुष्य को शीघ्र मार देता है । नाना प्रकार की रस-बीर्य वाली औषधियों के पुष्टों से उत्पन्न होने के कारण मधु में नाना प्रकार की शक्तियां छिपी रहती हैं । इसलिये तथा प्रभाव के कारण मधु योगवाही अर्थात् वर्मनकारक, आस्थापन या वृष्य कर्म करने वाले जिस द्रव्य के साथ दिया जाता है वैसा ही कार्य करता है । इस प्रकार से यह दसवां इच्छुविकार-वर्ग समाप्त हुआ ॥ २३६-२४८ ॥

इतीच्छुवर्गः ।

अथ कृताभ्वर्गः ।

कुत्स्त्रिणा-ग्लानि-दौर्बल्य-कुश्किरोग-विनाशिनी ३ ।

स्वेदाग्निजननी पेया वातबचोनुलोमनी ॥ २४९ ॥

तर्पणी ग्राहिणी लघ्वी हृशा चापि विलेपिका ।

१. मुधुर में आठ मेद किये हैं—

‘पौत्रिकं भ्रामरं खोद्रं माधिकं शात्रमेव च ।

आर्चमौद्दालिकं दात्रमित्यष्टौ मधुजातयः ॥’

* शिकाजतु, तैल आदि भी योगवाही हैं । योगवाही होने पर भी स्नेह कार्य में शहद प्रयुक्त नहीं होता । वायु में रुक्षादि गुण हैं । मधु में रुक्ष, कषाय गुण विशेषतः स्पष्ट हैं ।

२. रोगञ्चरापद्धा इदि घाठः ।

मण्डः संदीपवस्त्रमिं वातं चाष्टुलोमयेत् ॥ २५० ॥
 मृदूकरोति शोतासि स्वेदं संजनयत्यपि ।
 लहिताना विरिक्ताना जीर्णे स्नेहे च दृष्टवाम् ॥ २५१ ॥
 दोपनत्वाल्लघुत्वाऽ मण्डः स्यामगण्ठस्य देहिनः ॥ २५२ ॥
 लाजपेया अमग्नी तु क्षामकण्ठस्य ।
 तुष्णातीसारशमनो धातुसाम्यकरः शिवः ।
 लाजमण्डोऽभिजननो दाहमूर्छानिवारणः ॥ २५३ ॥
 मन्दाभिविषमाग्नीना वाळ-स्थविर-योषिताम् ।
 देयश्च सुकुमाराणा लाजमण्डः सुसंस्कृतः ॥ २५४ ॥
 ज्ञुतिपासापहः पथ्यः शद्वाना तु मलापहः ।
 शृतः पिपलिशुण्ठीङ्गयुक्तो लाजाम्लदाढिमैः ॥ २५५ ॥

पेया (ग्यारह गुने पानी में योड़ी स्तिवज्ज होने पर वनी हुई कांजी) भूत,
 प्यास, ग्वानि, दुर्बलता, उदर रोग को नष्ट करती है, स्वेदकारक, अग्नि को
 बढ़ाती और वायु, मल का अनुबोधन करती है । विलेपी (चार गुने पानी में
 बनाई) तुसिकारक, संग्राही लघु, दृद्य के अनुकूल होती है । मण्ड (चौदह
 गुने पानी में तैयार किया) अग्नि का दीपन और वायु का अनुबोधन करता है,
 शोतों को कोमल करता तथा पसीना लाता है । उपवास किये, विरेचन किये,
 स्नेहपान के जीर्ण होने पर, प्यास लगने पर; अग्निदीपक और लघु होने से मण्ड
 का सेवन करना उत्तम है (मण्ड, लघु और दीपक गुण वाला है) । लाजपेया
 (लाज अर्थात् खीलों से बनाई पेया) अमनाशक, गले के खुश्क होजाने पर
 हितकारी है । लाजमण्ड, अग्निवर्धक, दाह-मूर्छानाशक है । मन्दाभिं और
 विषमाभिं बाले पुरुषों के लिये, बालक, वृद्ध, जियों को तथा कोमङ्गलाखुक
 प्रकृति वालों को लाजमण्ड पका करके देना चाहिये ॥ जो भूत और प्यास
 को सहन न कर सकते हों, पथ्य सेवन करते हों, वमन विरेचन से जो
 शुद्ध देह बाले हों, परन्तु याहा मल वमन विरेचन के पीछे रक गया हो
 इस अवस्था में पिपली, सोठ, अनारदाना (खड्डे अनार के रख) से बनाया
 लाजमण्ड अग्नि को बढ़ाता और वायु का अनुबोधन करता है ॥ २५५-२५५ ॥

सुधोतः प्रस्तुतः स्विभः संतप्तश्चैदनो लघुः ।
 अधौतोऽप्रस्तुतोऽस्विभः शोतश्चाप्योदनो गुरुः ॥ २५६ ॥
 भृष्टतण्णुलमिच्छन्ति गरसेष्मामयेष्वपि ।
 मास-क्षाक-वसा-तैलं-चूट-भज्ज-फलैदनाः ॥ २५७ ॥

* घनिया, पिपली, सोठ, मरिच के साथ पकाना चाहिये ।

वन्ध्याः संतर्पणा हुशा गुरबो वृंहयन्ति च ।
 सद्ग्राम्याषतिलं क्षीर-गुदूग-संयोग-साधिता ॥ २५८ ॥
 कुरुमाषा गुरबो रूक्षा वातला भिजवर्चसः ।
 त्विज्ञभद्रयस्तु ये केचित्सौष्य-नोधूम-यावकाः ॥ २५९ ॥
 भिषक् तेषां यथाद्रव्यमादिशेद् गुरुलाघवम् ।
 अकृतं कृतयूर्पं च तनुं सांस्कारिकं रसम् ॥ २६० ॥
 सूपमम्लमनम्लं च गुहं विद्याद्यथोत्तरम् ।

भली प्रकार से बनाये, मांड निकाले, गलाये हुये, गरम-चावल (भात) होते हैं। गलाये और ठंडे चावल गुह हो जाते हैं। कृत्रिम विष और कफजन्य रोगों में भूने हुए चावलों का भात अच्छा है। पूरे न बनाये, बिना मांड उतारे, मांस, शाक, बसा, तैल, धूत, मसा और फल इनको मिलाकर तैयार किये चावल बलकारक, सन्तर्पक हृदय प्रिय, गुरु और पीठिक होते हैं। इसी प्रकार उड्ड, तिल, दूध, मूंग, के योग से बनाये भात भी इसी प्रकार गुणकारक होते हैं। कुरुमाष (जौ को योड़ा सा पकाकर) गुरु रूक्ष, वायुकारक और रेचक होते हैं। त्विज्ञभद्रया (भाप देकर तैयार की वस्तु) जौ उड्ड, मूंग, गेहूं, जौ आदि से पिछी करके बनाये जाय, वे जिस वस्तु से बनाये जाते हैं उसी वस्तु के अनुसार गुरु या लघु गुण बाले होते हैं।

अकृतयूष (धनिया आदि मसाले से संस्कार न किया हुआ यूष), कृतयूष (मसाले से संस्कार किया), पतला एवं सांस्कारिक [बहुत-मात्र-न्सेहादि से संकृत] मांस रस; अम्लसूप (खट्टी दाल) और अनम्ल सूप, ये उत्तरोत्तर भारी हैं × अथात् अकृत यूष से कृतयूष भारी है, तनुमांस रस से सांस्कारिक मांस रस भारी है। अम्ल सूप से अनम्ल सूप भारी है ॥ २५६-२६० ॥

सक्खबो वातला रूक्षा बहुबर्चोऽनुलोभिनः ॥ २६१ ॥
 तर्पयन्ति नरं सद्यः पीताः सद्योबलाश्च ते ।
 मधुरा लघवः शीताः सक्खवः शार्लिसंभवाः ॥ २६२ ॥
 प्राहिणो रक्षपितृष्णात्सृष्टा-न्द्विद्वरापहाः ।

सूचा वायुकारक, रक्ष, पुष्कल मल उत्पन्न करने वाले, वायु के अनुको-मक, पीने पर जल्दी ही तृप्ति करने वाले, एवं शीघ्र बलकारक है कि वाकि

× अन्सेहलवर्णं सर्वमङ्गतं कटुकेविना ।

विशेषं लघवन्सेहकटुकैः संस्कृतं कृतम् ॥

कि सुशुर ने—“पदनापहा” वायुनाशक चिका है ।

(हेमन्त धान्य) धान्य से बनाये उत्ता॒, मधुर॑, कम्बु॑, शीतल॑ होते हैं । वे संभाही॑, रक्षित॑, तुल्या॑, बमन॑, और ब्वर के नामहृत हैं ॥ २६१—२६२ ॥

इन्यात् व्यवर्धीन् यथापूपो यावको बाट्य एव च ॥ २६३ ॥

उदावर्त-प्रतिश्याय-कास-मेह-गलग्रहान् ।

धानासंज्ञास्तु ये भक्ष्याः प्रायस्ते लेखनात्मकाः ॥ २६४ ॥

शुष्कत्वात्तार्षणात्त्वेव विष्ट्रिभित्वात् दुर्जराः ।

विरुद्धधानाः शक्तुल्यो मधुकीडाः सपिण्डकाः ॥ २६५ ॥

पूपाः पूपलिकाद्यात् गुरुवः पैष्ठिकाः परम् ।

जौ के पूड़े, जौ की बढ़ियाँ, बाढ़, [मूने जौ के चावल], वे उदावर्त, प्रतिश्याय, कास, प्रमेह और गले के रोगों को मिटाती हैं । धाना (मूने जौ), प्रायः करके ले जन, कफ आदि के उखाइने वाले हैं । एवं शुष्क हांने से प्यास लगाने वाले हैं । विष्ट्रिमी हांने से देर में पचते हैं । विरुद्ध धाना (अंकुरित धान्य), शक्तुली (चावलों को पीसकर तिल मिलाकर तेल में पकाने से), मधुकोडा (पकाकर, घन बनाकर बीच में शहद रखने से), सपिण्डका (मधु कोडा, पूरन पोली), पूप (पूड़े), पूपलिका (मालपूआ; चापडा), वे अत्यन्त गुरु और पौष्टिक होते हैं ॥ २६२—२६५ ॥

फल-मास-बसा-शाक-पलल क्षौद्र-संस्कृताः ॥ २६६ ॥

भक्ष्या वृष्ट्यात् बल्यात् गुरुवो बृंहणात्मकाः ।

बेशबारा गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः ॥ २६७ ॥

गुरवस्तर्पणा वृष्ट्याः श्वीरेज्जुरसपूपकाः ।

सगुडाः सतिलात्त्वेव सक्षीरक्षौद्रशर्कराः ॥ २६८ ॥

वृष्ट्या बल्यात् भक्ष्यास्तु ते परं गुरुवः स्मृताः ।

फल, मांस, बसा, शाक, पलल (तिल का चूर्ण), मधु इनके साथ बनाये खाय पदार्थ कीर्यवर्धक, बलकारक, गुरु और पौष्टिक हैं । बेशबार (मांस में से इही निकाल कर पत्थर पर पिसकर पिप्पली, मरिच, गुरु और धी के साथ पका लेने पर बेशबार बनता है) गुरु, स्निग्ध, बलशक्तिवर्धक है । दूध और गन्ने के रस से तैयार किये खाय पदार्थ गुरु, तुसिकारक और वीर्यवर्धक है । गुरु, तिल, दूध और शर्करा से बनाये पदार्थ वीर्यवर्धक, बलकारक, और बहुत गुरु हैं ॥ २६६—२६८ ॥

स्वस्नेहाः स्वेहसिद्धात् भक्ष्या विविच्छलक्षणाः ॥ २६९ ॥

गुरवस्तर्पणा वृष्ट्या हृष्टा गौधूमिका भराः ।

संस्कारालक्षणः सम्भृत अहवा योधूमपैष्ठिकाः ॥ २७० ॥

बानापर्षट-पूपाणास्तान्वुद्धवा निर्दिशेत्यथा ।

गेहूँ के आटे को भी आदि स्नेह में मथकर या भी आदि स्नेह में पका कर नाना प्रकार के जो खाद्य पदार्थ बनाये जाते हैं वे सब गुरु, तृतिकारक, पौष्टिक (वीर्यवर्धक) और हृदय को प्रिय होते हैं । इसी प्रकार गेहूँ आदि के जो पदार्थ अधिक अग्रिसंयोग से तैयार किये जाते हैं, जो कि स्वभाव से गुरु हैं, वे भी संस्कार द्वारा लघु बन जाते हैं । इसी प्रकार गेहूँ की पीठी, धान्य पर्षट, पूप आदि वस्तुएं भारी होने पर संस्कार के कारण लघु बन जाती हैं । इसलिये वैद्य को संस्कार का विचार करके गुणों का निश्चय करना चाहिये ॥ २६६-२७० ॥

पृथुका गुरवो भृष्टान्भक्षये इल्पशस्तु तान् ॥ २७१ ॥

यावा विष्ट्रिष्य जीर्यन्ति सरसा भिन्नवर्चसः ।

सूप्यान्नविकृता भक्षया वातला रूक्षशीतलाः ॥ २७२ ॥

सकदुस्नेहलवणानल्पशो भक्षयेत्तु तान् ।

मूदुपाकाश ये भक्षयाः स्थूलाश्च कठिनाश्च ये ॥ २७३ ॥

गुरवस्ते व्यतिक्रान्तपाकाः पुष्टिवलप्रदाः ।

पृथुक (चिवडा) भारी होता है । भूने हुए चिवडे को थोड़ा खाना चाहिये । याव (जौ का बना चिवडा) पेट में अवरोध करके जीर्ण होते हैं । सरल (न मैते हुए जौ) रेचक हैं । सूप्य अज (मूंग, उड्ड आदि से बनी वस्तुएं) वायुकारक, रुक्ष, शोतल होते हैं । इनको कटु रख, स्नेह (भी या तैल), नमक के साथ योद्धी मात्रा में खाना चाहिये । जो खाद्य पदार्थ मीठी आँच पर बनते हैं और जो स्थूल और कठोर होते हैं, वे गुरु, एवं देर में पचते हैं तथा पुष्टि और बल देते हैं ॥ २७१-२७३ ॥

द्रव्यसंयोगसंस्कारं द्रव्यमानं पृथक्तथा ॥ २७४ ॥

भक्षयाणामादिशेद् बुद्धवा यथास्वं गुरुहाघवश् ।

नानाद्रव्यैः समायुक्तः पक्षामक्लिन्भर्जितैः क्षः ॥ २७५ ॥

विमर्दको गुरुहृष्यो वृद्ध्यो बलवता हितः ।

रसाला वृहणी वृद्ध्या स्तिरधा बल्या हचिप्रदा ॥ २७६ ॥

स्नेहनं तर्पणं हृदयं वातज्ञं सगुरुं दधि ।

किसी पदार्थ के गुरु या लघु होने का निश्चय उस पदार्थ के मूल स्वभाव, संयोग, संस्कार (पकाने की विधि), मिलने के परिणाम (राशि), आदि सब बातों का विचार करके करना चाहिये । जिसमें ये बातें गुरु पक्ष में आती

* पक्षस्य बन्धिषु भर्जितैः ॥ इति वा पाठः ॥

हो वे बल्लु गुरु समझना, जिसमें कुछ पद्धति में हो वह बल्लु इसकी उमड़नी चाहिये । विमर्दक (मातृ को नाना प्रकार से बनाने की विधि से), नाना प्रकार के पदार्थों से यिका हुआ, पकाया, आम, फ़िल्म और मूत्रे हुए मेद से गुरु, हृदय के लिये, प्रिय, वीर्यवर्धक और बलवान् पुरुषों के लिये हितकारी है । मलाई बाली दही को खूब मथकर इसमें दालचीनी, हजायची, तेजपात, नागकेशर, अजवायन, गुड़, अदक, सोठ के साथ मिलाकर तैयार की रसाला पुष्टिकारक, पृथ्य, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, बलकारक, रुचिकारक है । गुरुके साथ दही स्नेहक तृप्तिकारक, हृदय के लिये प्रिय और बातनाशक है । २७४-२७६ ॥

द्राष्टा-खर्जूर-कोलाना गुरु विष्टुभिम पानकम् ॥ २७७ ॥

परूषकाणा क्षौद्रस्य यच्चेष्वुविकृति प्रति ।

तेषां कटवृश्लसंयोगाः पानकाना पृथक् पृथक् ॥ २७८ ॥

द्रव्यमानं च विज्ञाय गुणकर्मणि निर्दिशेत् ।

कटवृश्ल-स्वादु-लवणा लघवो रागषाढवाः ॥ २७९ ॥

मुखप्रियाश्च हृष्टाश्च दीपना भक्तरोचनाः ।

आम्रामलकलेहाश्च बृंहणा बलवर्धनाः ॥ २८० ॥

रोचनास्तर्पणाश्चोक्ताः स्नेहमाधुर्यगौरवात् ।

बुद्ध्वा संयोगसंस्कारं द्रव्यमानं च तच्छ्रूतम् ॥ २८१ ॥

गुणकर्मणि लेहानां तेषां तेषां तथा वदेत् ।

द्राष्टा, खर्जूर, बेर, फालसा, शहद, गन्ने का रस इनके रस में गुरु वा शर्कर डालकर बनाया हुआ शरबत, गुरु, मल-मूत्र का रोधक होता है । इन शरबतों में कटु या अम्ल वस्तुओं का योग तथा द्रव्य परिमाण जानकर रोग एवं रुचि के अनुसार पृथक् पृथक् रूप में देना चाहिये, इनके गुण कर्म पृथक् २ होताते हैं । गुड़ के साथ आम रस को पका तेल, सोठ आदि मिलाकर बनाया रस, वा अनार, दाल, फालसा, जामुन रसादि से बना मधुर पाक 'रागषाढव' कहाता है । वह कटु, अम्ल, स्वादु नमकीन, लघु, स्वादिष्ठ, हृदय को प्रिय, अग्रिदीपक और खाने में रुचिकर होता है । आम या आंवले के रस से बनाये चाटन, पुष्टिकारक, बलवर्दक, रुचिकारक, तृप्तिकारक, होते हैं, क्योंकि इनमें स्नेह मधुरता और भारीपन होता है । द्रव्यों के संयोग संस्कार (पाक-विचि) और द्रव्यों की मात्रा को चाटने योग्य (लेहों) में देलकर विचार कर गुण कर्म का निश्चय करना चाहिये ॥ २७७-२८१ ॥

रक्षित कफोत्कलेदि हुक्क वातानुलोमनम् ॥ २८२ ॥

कन्दमूळफलाद्यं च तद्विद्यात्तवासुनम् ।

शिण्डाकीक चाऽसुतं चान्यत् कालाम्लं रोचनं छधु ।

विद्याद्वार्गं कृतान्ननामेकाः शतमं भिषक् ॥ २८३ ॥

शुक्र (शुक्र)—शुद पात्र में गुड, शहद, कांडी सहित मस्तु ढाककर धान के ढेर में तीन रात रखने से शुक्र या शुक्र तैयार होता है । वह रक्त-पित्तनाशक, कफ को पतला करने वाला, वायु का अनुलोमक होता है । शुक्र में कन्द, मूळ फल आदि ढाले गये हों तो इसको 'आसुत' कहते हैं । शिण्डाकी (सिरके में काला जीरा आदि ढालने से), आसुत, कालाम्ल (देर तक रखने से जो अम्ल बन गया हो, अम्ल ढालने से नहीं) वह रोचक और लघु होता है । इव ग्यारहवें कृतान्नवर्ग का वैद्य अवश्य जान करे ॥ २८२-२८३ ॥

इति कृतान्नवर्गः ।

अथाऽहारयोगिवर्गः ।

कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुल्लं व्यवायि च ।

पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम् ॥ २८४ ॥

वातघ्नेषुत्तमं बल्द्य त्वच्यं भेघाग्निवर्धनम् ।

तैलं संयोगसंस्कारात्सर्वरोगापहूं मतम् ॥ २८५ ॥

तैलप्रयोगादजरा निर्विकारा जितश्रमाः ।

आसन्नतिबलाः संख्ये देत्याधिपतयः पुरा ॥ २८६ ॥

ऐरण्डतेलं मधुरं गुरु इलेष्माभिवर्धनम् ।

वातासृग्मुलम्-हृद्रोग-जीर्ण-ज्वर-हरं परम् ।

कटुष्ठं साषणं तेलं रक्तपित्तप्रदूषणम् ।

कफशुक्रानिलदरं कण्ठूकोठविनाशनम् ॥ २८८ ॥

पिथालतैङ्गं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम् ।

हितमिञ्छन्ति न त्यौष्यात्यसंयोगे वातपित्तयोः ॥ २८९ ॥

आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथ ॥

उष्णवीर्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम् ॥ २९० ॥

कुसुभवेलमुल्लं च विपाके कटुकं गुरु ।

विद्वाहि च विशेषेण सर्वरोगप्रकोपणम् ॥ २९१ ॥

* शाष्टाकी इति च पाठः ।

फलाना चानि चान्यानि तेकान्याहारसंविदो ।

गुण्यन्ते गुणकर्मभ्यो वानि त्र्यायथाफलम् ॥ २६६ ॥

मधुरो हृहणो वृद्धो बल्यो मज्जा तथा वसा ।

यथासत्त्वं तु शैत्योष्णे वसामध्योविनिर्दिशत् ॥ २६७ ॥

तिळ का तेल कशाय अनुरस, स्वादु, सूक्ष्म (स्रोतों में पुसनेवाला) उच्च, अवशारी, छिद्रों में पहुंचने वाला (शरीर में फैलनेवाला), पित्तकारक, मल मूत्र को रोकने वाला है, परन्तु कफ को बढ़ानेवाला नहीं है । वातनाशक औषधियों में थेष्ट, बलकारक, त्वचा के लिये हितकारी, बुद्धि, और अग्नि को बढ़ावे वाला है, संयोग एवं संस्कार करने से सब रोगों को नाश करने वाला है । प्राचीन काल में इस तेल के प्रयोग से दैत्याधिपति, बुद्धापे से रहित, विकार-शून्य, परिभ्रम सहन करनेवाले, न यकने वाले, लकड़ी में बहुत बलवान् दुप वे ।

(१) ऐरेण्ड का तेल-मधुर, गुरु, कफ को बढ़ानेवाला, वातरक, गुर्म, हृदय रोग, अजीर्ण और ऊपरका नाशक है । सरसों का तेल कटु, उच्च, रक्त-पित्त को दूषित करने वाला, कफ, शुक्र और वायु को नष्ट करने वाला, कण्ठ और कोठ का नाशक है । (सरसों के तेल को खाने से रक्त पित्त दूषित होते हैं, मलने से नहीं) (३) पियाल फल (चिरींजी) का तेल मधुर, गुरु, कफ को बढ़ाने वाला और बहुत गरम न होने से वात-पित्त के सम्मालन विकारों में उत्तम है (४) अलसी का तेल-मधुर, अम्ल, विपाक में कटु, उच्चवीर्य वात-रोग में हितकारी, रक्त और पित्त को कुपित करने वाला है । (५) घनिये का तेल-गरम, विपाक में कटु, गुरु, विदाही और सब रोगों को (दांधों को) कुपित करने वाला है । जिन फलों से अन्य तेल तैयार किये जाते हैं, उन तेलों के गुण उन्हीं फलों के अनुसार समझने चाहिये ।

चियता तिक्क, अतिमुक्क, विभीतक (बहेडा) ना रियल, बेर, अख-रोट, जीवन्ती, पियाल (चिरींजी) कुर्बादार, सर्ववस्त्री, श्रुत्स, ऐरावाल, ककड़ी कूप्याण आदि के तेल मधुर, मधुवार्ष्य, मधुर विपाक वाले, वात पित्त को शान्त करने वाले, शीतवर्य, मार्गशीषक, म-मूत्रकारक, अग्निवर्धक होते हैं (मुश्रुत) मज्जा और बसा, मधुर रस, पुष्टकारक, शुक्रवर्धक, बलकारक होता है । इनकी शीतता और उच्चता प्राजियों के अनुसार समझनी चाहिये । जिस प्राजी का मांस उच्च है उसकी मज्जा भी उच्च, जिसका मांस शीत उस प्राजी की मज्जा भी शीत समझनी चाहिये ॥ २६८-२६९ ॥

स्वस्त्रेहं दीपनं वृद्धमुष्णं वातकापहम् ॥ २६४ ॥

विपाकमधुरं हृद्यं दोषनं विश्वमेषजम् ॥

इष्टेष्मला मधुरा चाऽऽर्डी गुर्वी लिंगवा च पिप्पणी ।
 सा शृङ्खा कफवातनी कदूष्णा वृद्ध्यसंमता ॥ २९५ ॥
 नात्यर्थमुण्डं मरिचमवृद्ध्यं लघुरोचनम् ।
 छेदित्वा छोषणत्वाच दीपनं कफवातजित् ॥ २९६ ॥
 वातम्लेष्मविवन्धनं कदूष्णं दीपनं लघु ।
 हिकु शूलप्रशमनं विद्यात्पाचनरोचनम् ॥ २९७ ॥
 रोचनं दीपनं वृद्ध्यं चञ्जुष्मविदाहि च ।
 त्रिदोषधनं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम् ॥ २९८ ॥
 सौकृत्यादौष्याल्लग्नुत्तमाच सौगन्ध्याच रुचिप्रदम् ।
 सौबर्चलं विवन्धनं हृद्यमुद्गारशोधि च ॥ २९९ ॥
 तैक्षण्यादौष्यादू व्यवायित्वाहीपनं शूलनाशनम् ।
 ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोभ्यकरं विडम् ॥ ३०० ॥
 सतिकं कटु सक्षारं तोक्षणमुत्क्लेदि चौद्विदम् ।
 न काललवणे गन्धः सौबर्चलगुणाश्च ते ॥ ३०१ ॥
 सामुद्रकं समधुरं, सतिकं कटु पाशुजम् ।
 रोचनं लवणं सर्वं पाकि संस्यनिलापहम् ॥ ३०२ ॥
 हृत्याण्डु-महणी-दोष-सीहानाह-गलप्रहात् ।
 कासं कफजमश्चासि यावश्को व्यपोहति ॥ ३०३ ॥
 तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पक्ता विदारणः ।
 द्वाहनो दीपनश्छेत्ता सर्वः क्षारोऽग्निसंनिभः ॥ ३०४ ॥
 कारव्यः कुञ्जिकाऽजाजी यवानी धान्यतुम्बुरु ।
 रोचनं दीपनं वात-कफ-दौर्गन्ध्य-नाशनम् ॥ ३०५ ॥
 आहारयोगिनां भक्तिनिश्चयो न तु विद्यते ।
 समाप्तो द्वादशशास्त्राच वर्गं आहारयोगिनाम् ॥ ३०६ ॥

सोठ—योड़ी स्तिंग्ध, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, गरम, वातकफनाशक, विपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकारी, रुचिप्रिय होती है। इसी पिप्पणी-कफ-कारक, मधुर, गुरु और स्तिंग्ध होती है। सूखी पिप्पणी कफ वातनाशक कटु, उष्मा, वीर्यवर्धक है। काली मरिच सूखी—बहुत गरम नहीं, वीर्य को न बढ़ाने वाली, लघु, रुचिकारक, छेदन करने वाली, कफ आदि को उत्थानने वाली और शोषक होने से अग्निदीपक एवं कफ-वातनाशक है। और इसी अवस्था में स्वादु गुरु, कफवर्धक होती है। हींग वायु-कफ विवन्धनाशक, कटु, उष्मा, अग्निदीपक, लघु, शूलनाशक, पाचक और रुचिकर है। सेन्या कम्फ—इन्चि-

आरक्ष, अग्निवर्षक, हृष्ण, आँखों के लिये हितकारी, असिंहाशी, जिह्वेनाशक, कुछ मधुर और सब नमकों में श्रेष्ठ है ।

सौचचंड नमक (संचल नमक)—सूखम्, उष्ण, छषु होने से तथा तुगन्धि होने से इचिदायक, विवन्धनाशक, हृष्ण, उद्गार (डकार) को शोषण करने वाला है । बिड (काला नमक)—तीक्ष्ण, उष्ण और व्यवायी (शरीर में फैलने वाला होने से) अग्निदीपक, शूलनाशक, एवं बायु को ऊपर या नीचे, अशोमार्ग दोनों से अनुलोमन करने वाला है । ऊद्भिद् नमक—तिक्क, कट्ट, खारुक, तीक्ष्ण उड़ोदि अर्थात् वर्मन की रुचि करने वाला है । काले लवण के गुण संचल नमक के समान हैं, परन्तु इस में संचल के समान गन्ध नहीं होती । समुद्र के पानी से तैयार किया नमक मधुर है । पांशुज (सज्जी) जिससे घोबी कपड़ा घोते हैं, ऐसी मिट्टी से तैयार किया नमक कट्ट और तिक्क होता है । सब प्रकार के नमक इचिकारक, अज्ज या ब्रण को पकाने वाले; संसी और वात-नाशक हैं ।

जौ-खार—हृदय, पाण्डु, प्रहणी रोग, झीझा, आनाह, गलरोग, कफजन्य कास और अर्द्धरोग को नष्ट करते हैं । सब प्रकार के खार (टंकण, सज्जी, पापड़ खार आदि) तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, रुक्ष, झोदि, अज्ज और ब्रण को पकाने वाले, पके हुए ब्रण को फाड़ने वाले, जलाने वाले, अग्निवर्षक, कफ आदि का छेदन करने वाले अग्नि के समान गुण वाले (उष्ण) होते हैं । कारबी (काला जीरा,) कुंचीका (मोटा जीरा) ये इचिकारक अग्निदीपक, वात, कफ, तुर्गन्ध को नाश करने वाले हैं । खान पान में किन किन द्रव्यों का व्यवहार होता है या होना चाहिये इसका नियम करना कठिन है, कोई एक नियम नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि मिल मिल है । यह बारहवां आहारयोगी द्रव्यों का वर्ग भी समाप्त हुआ ॥ २६४-३०६ ॥

इत्याहारयोगिवर्गः ।

शूक्रधात्वं श्वसीधात्वं समातीतं प्रशस्यते ।

पुराणं प्रायशो रुक्षं प्रायेणाभिनवं गुड ॥ ३०७ ॥

यशदागच्छति क्षिप्रं वच्छाखुतरं स्मृतम् ।

निस्तुष्टं तुकिशृष्टं तु सूख्यं छषु विषयते ॥ ३०८ ॥

शूक्रधात्वं (चावल, गेहूं आदि), श्वसीधात्वं (मूंग, मदूर, उड़द आदि) ये यह ताक पुराने प्रशस्त हैं । याक; करके पुराने चान्दे कला होते हैं ।

जो वास्त्र बोले पर जाही उग आता है (जैसे श्रीम चाहू के लाली चाहू)
वह हल्का होता है और मृग आदि दाढ़ की वस्तुओं को तुरन्त बदले
हिलका उतारकर योका भून किया जावे तो वे लम्बे हो जावे हैं ॥ ३०४-३०८ ॥

सूर्तं कृशातिमेष्यं च वृद्धं बालं विवर्हतम् ।

अगोचरभृतं व्याडसूदितं मासमुत्सृजेत् ॥ ३०९ ॥

अतोऽन्यथा हितं मासं छूट्णं बलवर्धनम् ।

प्रीणनः सर्वधातूना दृश्यो मासरसः परम् ॥ ३१० ॥

शुच्यता व्याधिमुकाना कृशाना क्षीणरेतसाम् ।

बलवर्णार्थिना चंच रसं विद्यायथाऽमृतम् ॥ ३११ ॥

सुदरोगप्रशमनं यथास्वं विहितं रसम् ।

विद्यास्त्वयं बलकरं बयोबुद्धिन्द्रियायुचाम् ॥ ३१२ ॥

व्यायामनित्याः स्त्रीनित्या मध्यनित्याश्च ये नराः ।

नित्यं मासरसाहारा नाऽत्तुराः स्युन दुर्बलाः ॥ ३१३ ॥

त्वाऽप्य मांस— मरा हुआ, कृश दुर्बल प्राणी का, बहुत चर्ची वाला, बुझे
पशु का, बालक का, विष द्वारा मारा, अगोचरमृत अथात् अपने स्वाभाविक
स्थान को छोड़कर दूसरे प्रदेश में पले (जलोय देश के प्राणी को महस्तल में
पोषण करने पर), व्याड अर्थात् व्याघ्र या सांव आदि हिंसक पशुओं से मारे
हुए पशु का मांस त्वाऽप्य है । इससे विपरीत प्रकार का मांस हितकारी, शरीर
का पोषक, बलकारक है । मांस रस, पुष्टिदायक, सब प्राणियों के लिये हितकारी,
दृश्य को प्रिय होता है । सख्ते हुए, कृश हांते हुए, रोग से उठे हुए, निर्बल,
शुक्र जिनका शीज हो गया है, बल या कान्ति को चाहने वाले पुरुषों के लिये
मांस रस अमृत के समान है । मांस रस सब रोगों को शान्त करने वाला है,
स्वर के लिये उत्तम, आयुर्वर्धन, बुद्धि और इन्द्रियों के लिये हितकारी एवं
बलकारक है । जो पुरुष नित्य प्रात् व्यायाम करते, जी संग करते, शराब
पीते हैं और नित्य प्रति मांस रस का सेवन करते हैं, वे न रोगी होते और न
निर्बल होते हैं ॥ ३०९-३१३ ॥

कृमिवासातपहर्त शश्कं जीर्णमनार्तवम् ।

शाकं निःस्नेहसिद्धं च वर्द्धं यस्तापरिमृतम् ॥ ३१४ ॥

पुराणमामं संकिञ्चुं कृमिव्याङ्गहिमातपैः ।

अदेशकाङ्गं किञ्चं यत्स्यात्कलमसाधु तत् ॥ ३१५ ॥

* उम्माद रोग में मांस का निवेद्य है—यथा ‘उम्मादे निष्ठुत्यामिकाम्यो दा’

हरिताना वदाशतःकं निर्देशः सादवनाहृते ॥

वदास्त्वुमोर सादीना स्वे स्वे वर्गे विनिश्चयः ॥ ३१६ ॥

साद्य शाक—हृषि, बात, घूप से मगा (लख), कुच्छ, पुणामा, खांड में उत्तमन नहीं हुआ, और जो शाक बिना स्नेह (ची या तेल) के तैयार किया गया हो और जितका कि भाष कर पानी न निकाल दिया गया हो, वह शाक स्थान्य है। जो फल पुराना, (बहुत पका), कच्छ, लक्ष, हृषि उर्प या हिंदू पट्ठ से लाया हुआ हो, वर्फ या घूप से लाराव हो, भले देश में उत्तमन न हुआ, किन्तु (लक्ष) हो वह फल उत्तम नहीं। पकाने की विधि को छोड़कर हरित-वर्ग को शाकों की भाति समझना चाहिये। अर्थात् इनमें पानी का निचोड़ना, ची आदि में संस्करित करना नहीं है। मद्य, जल, दूध आदि के अच्छे-बुरे का निश्चय इनके अपने अपने वर्ग में कर दिया है ॥ ३१४-३१६ ॥

यदाहारगुणः पानं विपरीतं तदिष्यते ।

अन्नानुपानं चातुर्ना॒ हृष्टं यन्न विरोधि च ॥ ३१७ ॥

आसवाना॒ समुद्दिष्टा॒ अशीतिश्चतुरत्तरा॑ ।

जलं पेयमपेयं च परीक्षयानुपिवेद्वितम् ॥ ३१८ ॥

स्त्रिगधोषाणं मारुते॒ शस्तं॒ पित्ते॒ मधुरशीतलम् ।

कफेनुपानं॒ रूक्षोषाणं॒ क्षये॒ मांसरसः॒ परम् ॥ ३१९ ॥

उपवासाभ्य-भाइय-स्त्री॒ मारुतातप-कर्मभिः॑ ।

क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पर्व्यं यथाऽस्त्रुतम् ॥ ३२० ॥

सुरा॒ कृशाना॒ पुष्ट्यर्थमनुपानं॒ प्रशस्यते॑ ।

काश्यार्थं॒ स्थूलदेहानामनुशास्तं॒ मधूदकम् ॥ ३२१ ॥

अल्पाद्विनामनिद्राणां॒ तन्द्रा-शोक-भय-क्लयः॑ ।

मद्यमासाचितानां॒ च॒ मद्यमेवानुशस्यते॑ ॥ ३२२ ॥

अथानुपानकमैं प्रवद्यामि—अनुपानं तर्पयति, प्रीणयति, ऊर्जयति, पर्यामिमभिनवर्तयति, भक्तमवसादयति, अन्नसंचात भिनति, मार्दव-मापादयति, क्लेदयति, जरयति, सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चाऽस्त्र-द्वारस्योपज्ञनयतीति ॥३२३॥

अनुपान—जो पेय पदार्थ आहार गुण के विपरीत (यथा-उच्छ्र आहार के पीछे शीत अनुपान) तथा जो चातुर्नों का विरोधी न हो अपितु साम्य करने

* अनु-पदात्-मीवनात् इत्यर्थः पानं अलादिपानम् ॥ दाह के पीछे मधुर, दूष वा कीरके वीक्षणी (लक्ष) अनुपान न दें, इत्यिहे कि चातुर्नों का विरोधी न ही ।

बाला हो, वह अनुपान प्रशस्त है। 'कदःयुवरीष' अच्छाय में शौरतारी प्रकार के आदर कहे हैं। जब दीना हितकारी है, वा नहीं इहका विचार सरके हितकारी जल दीना चाहिये। बायुदेष में स्तिष्ठ और उष्ण; पिताविकार में मधुर और शीतल; कफ में रुक्ष एवं उष्ण तथा स्थूल में रस का अनुपान भेष्ट है। उपवास से, मार्ग चलने से लंबे या बहुत बोलने से शीतंग, बायु, धूप या पंच कल्पों के कारण जो यके हुए हो, उनको अनुपान देने के लिये दूष अमृत के समान पद्ध्य, हितकारी है। मोटे शरीर बालों को पतला बनाने के लिये पानी में शहद मिळाकर देना उत्तम है। जिनको मन्दगिन हो, नीद न आती हो, तन्द्रा, शोक, भय, झूम से थके, मद्य मास सेवन करने वालों के लिये मद्य अनुपान ही भेष्ट है।

अनुपान के कर्म (गुण) कहते हैं—अनुपान शरीर का तर्पण करता है, शरीर को और जीवन को पुष्ट करता है, तेज बढ़ाता है, स्वाये हुए भोजन से मिळकर शरीर में मिल जाता है, खाये हुए को पचाता है, मिले हुए अज्ञ को तोकता, पृथक् पृथक् करता है। शरीर में कोमलता है, आहार को किलज करता, पचाता और सुख पूर्वक पचाकर शीघ्र शरीर में व्यास कर देता है ॥ ३२३ ॥

भवति चात्र—अनुपानं हितं युक्तं तर्पयत्याशु मानवम् ।

सुखं पचति चाऽहारमायुषे च बलाय च ॥ ३२४ ॥

योग्य हितकारी अनुपान मनुष्य को शीघ्र तर्पण कर देता है। भोजन को सुखपूर्वक पचाता है और आयु एवं बल को बढ़ाता है ॥ ३२४ ॥

नोर्धर्वाङ्गमाहताविष्टा न हिक्षाऽश्वस्य-कासिनः ।

न गीत-भाष्याभ्यवन्प्रसक्ता नोरसि श्वताः ॥ ३२५ ॥

पितेयुक्तकं भुक्त्या, सद्दि कण्ठोरसि स्थितम् ।

स्नेहमाहारजं हत्या भूयो दोषाय कल्पते ॥ ३२६ ॥

अनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रादोपयोगिकः ।

इत्यं हु न हि निर्देष्टु शक्यं कातस्येन नामभिः ॥ ३२७ ॥

यथा नानौषधं किंचिदेशजानी वचो यथा ।

इत्यं तस्याद्या वाच्यमनुरक्षित् यद्वेत् ॥ ३२८ ॥

किनको अनुपान नहीं करना चाहिये—कण्ठ, छाती; शिर, (ऊर्ध्वांग) में अब आयु का ओर हो, किनको हिचकी, असाध, क्षात रोग हो, गीह, घायण, अच्छाय में जो कठे स्फुरते हों, जिनकी छाती में बोढ़ कर्मी हो इनको मोर्जन

जरके शमी अनुशाश रूप में नहीं भीना चाहिये । इस अवस्था में जिस पापी कष्ट, आती (आपाक्षय) में स्थित आहारक्षय स्नेह को शून्यत जरके नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करता है ।

प्रायः उपयोग में आने वाले आहार, खान-पान का कुछ माम यहाँ पर कह दिया है । खानपान के सब द्रव्यों का नाम से कथन करना उम्मीद नहीं है, जिस प्रकार की कोई भी औषध रहित बनस्पति नहीं, जिस प्रकार देश वाले उसे जैसा गुणकारी या हानि कारक कहते हों, उसके अनुलार यहाँ पर न कहे हुए द्रव्य को समझना चाहिये । गुणकान के विषय में और भी कहते हैं ॥ ३२८ ॥

चरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रिया ।

लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्राचात्र परीक्ष्यते ॥ ३२९ ॥

चरोऽनूप-जलाकाश-घन्वादो भक्ष्यसंविधिः ।

जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराक्ष ये ॥ ३३० ॥

गुणभक्ष्याद्य ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः ।

लघुभक्ष्याद्य स्तु लघवो घन्वजाघन्वचारिणः ॥ ३३१ ॥

शरीरावयवाः सक्षिं-शिर-स्कन्धाद्यस्तथा ।

सक्षिमांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः ॥ ३३२ ॥

बृषणौ चर्मभेदौ च श्रोणी बृकौ यक्षद् गुदम् ।

मांसाद् गुदतरं विद्याद्यासारं मध्यमस्त्रिय च ॥ ३३३ ॥

स्वभावाङ्गाधवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः ।

स्वभावाद् गुरवो माषा वराहमहिषास्तथा ॥ ३३४ ॥

धातूनां शोणिताद्यानां गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ।

अलसेभ्यो विशिष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः ॥ ३३५ ॥

गौरवं लिङ्गसामान्ये पुंसां ऋणां च लाघवम् ।

महाप्रभाणा गुरवः स्वजातौ लघवोऽन्यथा ॥ ३३६ ॥

चर (जिस स्थान पर विचरता है), शरीरावयव (शरीर का अंग), स्वभाव (प्रकृति), धातु (रस, रक्तादि धातु), क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार, मात्रा ये बातें गुण लघु विचार करने में देखनी चाहिये । चर, गति रूपचर और मध्य रूप चर मेद से दो प्रकार के हैं । इनमें गति रूप चर आनूप व्याधींत लकड़बुङ्क प्रदेश में विचरने वाले, आकाश में, घन्व देश में तथा जल आनूप दोनों देशों में विचरने वाले हैं । भव्य रूप चर गुरु, शीतल पदार्थ

जाते हैं ऐसे दोनों प्रकार के प्राणी गुरु होते हैं । स्वन्ध प्रदेश में उत्पाद या स्वन्ध (प्रेतीके) देश में विचरने वाले तथा लघु भोजन करने वाले प्राणी लघु होते हैं ।

जाघ, घिर, स्फन्ध आदि शरीर के अवयव हैं । इनमें जंघा से स्फन्ध, स्फन्ध से क्रोड और क्रोड से घिर, का मांस गुरु होता है । घिर से वृषण और वृषण से इनका चर्म, फिर शिष्ठ, फिर भोणी भाग, फिर दृक् (गुरुं) और फिर यकृत, उसके पीछे गुर्दा और पीछे मध्यास्थि (मज्जा या अस्थि के ऊपर का मांस) गुरु होता है ।

स्वभाव या प्रकृति से मूँग, बटेर कपिंजल लघु होते हैं और उड़ान-सुअर, मैंस ये गुरु होते हैं । धातुओं में रक्त मांस, और मेद ये कमश्यः उच्चरोत्तर गुरु होते जाते हैं । जो प्राणी बहुत चेष्टाशील होते हैं, वे आलसी स्वभाव वाले प्राणियों से भिन्न अर्थात् लघु होते हैं (आलसी प्राणी गुरु होते हैं) लिंग की हड्डि से नर गुरु और मादा पशु लघु होते हैं, (पशुओं में यह नियम है, परन्तु पश्चियों में नर लघु होता है ।) अपनी जाति में वके शरीर वाले गुरु और छोटे शरीर के प्राणी लघु होते हैं ॥ ३२६-३३६ ॥

गुरुणा लाघवं विद्यात्संस्कारात्सविपर्ययम् ।

त्रीहैर्लोजा यथा च स्युः सचूर्ना सिद्धपिण्डकाः ॥ ३३७ ॥

अल्पादाने गुरुणा च लघूर्ना चातिसेवने ।

मात्राकारणमुहिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे ॥ ३३८ ॥

गुरुणामल्यमादेयं लघूर्ना दृप्तिरिष्यते ।

मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाप्तिमपेक्षते ॥ ३३९ ॥

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः ।

अग्नपानेन्धनेऽग्निर्दीप्यते शास्यतेऽन्यथा^१ ॥ ३४० ॥

गुरुलाघवचिन्तेयं प्रायेणाल्पबलान् प्रति ।

मन्दक्रियाननारोग्यान् सुकुमारान् सुखोचितान् ॥ ३४१ ॥

दीपाग्नयः खराहाराः कर्मनित्या महादराः ।

ये नराः प्रति तांश्चिन्त्यं नावश्यं गुरुलाघवम् ॥ ३४२ ॥

संस्कार द्वारा गुरु पदार्थ लघु और लघु पदार्थ गुरु बन जाते हैं । जैसे त्रैहि (चान्य) स्वभाव से गुरु हैं, परन्तु जाजा के रूप में लघु बन जाते हैं और सच् स्वभाव से लघु होने पर भी उनकी आग से पकाई पिण्डियाँ

1. ज्वरकथि ज्वेति चामथा इति वा वाढः ।

गुरु होजाती हैं। गुरु पदार्थों को योका और लघु पदार्थों को अधिक लेवन करने से वे गुरु हो जाते हैं। इसलिये गुरु क्षुत्रा के निवाय करने में भी मात्रा कारण है। गुरु पदार्थों को योका लेना और लघु पदार्थों को सुतिपूर्णक खाना चाहिये जिससे पेट फूल न जाय, श्वास छढ़ने न लगे। इत्य, मात्रा अर्थात् परिमाण की अपेक्षा करते हैं और मात्रा अभि की अपेक्षा करती है। वह, आरोग्यता, आयु और प्राप्त अभि पर आधित हैं—अग्नि के अधीन हैं। अब पान (खान, पान) रूपी इन्धन से अभि प्रदीप होती है, और खान पान के न मिलने से वह बुझ जाती है, शान्त होजाती है। जो पुरुष अस्प वड बाले हों, मन्द किया, मन्द-चेष्टावाले, अनारोग्य, रोगी, मुकुमार अर्थात् नाशुक प्रकृति, के आराम का जीवन व्यतीत करने वाले हैं उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करना चाहिये। जिनकी अग्नि प्रवल हो, जो कठिन आहार को भी पचा सकते हों, नित्य मेहनत करने वाले, वडे पेट वाले, जिनकी अग्नि बढ़ी हुई हो उनके विषय में गुरु-लघु का विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ३४७-३४८ ॥

हिताभिर्जुहुयाजित्यमन्तराग्निं समाहितः ।

अज्ञपानसमिद्धिर्ना मात्राकालौ विचारयन् ॥ ३४२ ॥

आहिनाग्निः सदा पथ्यान्यन्तराम्नो जुहोति यः ।

दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च ॥ ३४४ ॥

नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यङ्गं पानभोजने ।

अजन्ते नाऽमयाः केचिद्गविनोऽप्यन्तराहते ॥ ३४५ ॥

षट् त्रिंशतं सहस्राणि रात्रीणां हितभोजनः ।

जीवत्यनातुरो जन्तुजितात्मा संमतः सताम् ॥ ३४६ ॥

मनुष्य को चाहिये कि मात्रा और काल का विचार करके, हितकारी खान-पान रूपी समिधाओं से अन्तराग्नि में नित्यप्रति संयमित चित्त से इवन करे। जो आहिताग्निं इवन करने वाला नित्य प्रति दोनों उमय अन्तराग्निं में हितकारी अज की आडुति देकर ब्रह्म (ओंकार) का जप करता है और यथार्थि दान करता है, जिसको खान-पान सम्बन्धी साम्य का ढान होता है, ऐसे पुण्यवान् युस्म जो कारण के बिना कभी भी रोग नहीं होते। इसी प्रकार संवित चर्म के प्रश्नक से अम्बान्तर में भी रोग नहीं होते। हितकर आहार करने वाल व्यक्ति है ॥३४७॥ एवं (१०० वर्ष) पर्यन्त नीरेशी, जितेन्द्रिय, और उल्लो से उपर्युक्त होकर निशाच करता है ॥ ३४३-३४६ ॥

स्वाहात्र—प्राणः प्राणसुतामन्त्य लोकोऽभिवासति ।

वर्णः प्रसादः सौम्यर्थं जीविर्त्वं प्रणिधा सुखम् ॥ ३४७ ॥

तुष्टिः पुष्टिर्वर्षं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।

छौकिकं कर्म यदवृत्तौ स्वर्गतौ यज्ञ वैदिकम् ॥ ३४८ ॥

कर्मापवर्गे यशोक्त तचाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ।

अज, उब प्राणियों का प्राण है, सारा संसार इती अज की याचना करता है (पेट के लिये आदमी उब कुछ करता है) । अज में ही वर्ण, शरीर की प्रशस्ता, सुस्वरता, जीवन, प्रतिभा, मुख, तुष्टि, हर्ष, पोषण, बल, मेथा, ऐ सब वाते स्थिर हैं । सांसारिक कर्म, तथा स्वर्ग प्राप्ति में वशादि जो वेदिक मोक्षदायक यह, तप आदि कर्म हैं, वे उब अज में प्रतिष्ठित हैं ॥ ३४७-३४८ ॥
तत्र स्मोऽः—अजपानगुणाः साम्या वर्गा द्वादश निश्चिताः ॥ ३४९ ॥

सगृणान्यतुपानानि ग्रुहभाष्वसंग्रहः ।

अन्नपानविधावुक्तं तत्परीक्यं विशेषतः ॥ ३५० ॥

इस अनुपान नामक अध्याय में, अन्न-पान के गुण, बारह वर्गों में कहा दिये हैं। अनुपान के गुण, गुरु एवं लघु विषय का निष्पत्ति किया है, इस विषय को विचार कर प्रयोग करना चाहिये ॥ ३४६-३५० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूक्ष्मरथाने अष्टपादविधिर्नाम
सूक्ष्मविधितितमोऽस्थायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽद्यायः

अथातो विविधाश्चितपीतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब से 'विविधाग्नित-पीतीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् अप्तेषु ने कहा था ॥ १-२ ॥

विविधमश्चित्-पीत-लीढ़-स्खादितं जन्सोहिंतमन्तरम्भिसन्मुद्दितपठेन
यथा स्वेनोद्यमणा स्वप्नविषयमानं कालवदनवस्थितसर्वधारुपागमम्
पद्मावत्पर्वतामालाउष्ठोतः केवलं शरीरमुपचय-कल्प-र्ण-मुखामुला
योजयति, शरीरधारामूर्जयति, । वातके हि वाताहाराः प्रदृशितम्-
वर्तन्ते ॥ ३ ॥

मनुष का साक्ष, वीणा, चला या बाहर छातों से साक्ष भेदबद्ध, नाक प्रकार का हितकारी दर्शाय, जाठरामि के प्रदोष वक्त के कारण, संग्रह पूर्णी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महामूर्तों की अपनी अवस्था गहरी है (पृथ्वी आदि के गुण वाले) आहार द्रव्यों का पाचन होता है । इह बाहार के पचा हुआ अन्न काल की भाँति नित्य निरन्तर गति करता हुआ, उच्च घाटुओं के निरन्तर पाक होने से जिस शरीर में क्षीणता उत्पन्न होरही है उठ शरीर की तथा जिस शरीर में सब घाटुओं की गरमी बढ़ी हुई है, और वायुवह स्वोत जिस शरीर में उपस्थित हैं, ऐसे सम्पूर्ण शरीर को इदि करने के कारण साथ बल, वर्ण, सुख और आयु देता है, तथा शरीर के घाटुओं को तेज प्रदान करता है । घातु ही जिनका भोजन है ऐसे रशादि घातु नित्य प्रति खोन होते हुए लाये हुए भोजन रसों घातु को खाकर स्वस्थ अवस्था में रहते हैं ॥ ३ ॥

तत्राऽहरप्रसादाख्यो रसः किंहृं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते; किंहृत्
स्वेद-मूत्र-पुरीष-वात-पित्त-स्लेष्माणः कर्णाक्षिनि-नासिकास्य-लोम-कूप-प्रज्ञ-
नन-मलाः केश-इमश्रु-लोम-नखादयश्चाक्षयवाः पुष्यन्ति । पुष्यन्ति त्वाहार-
रसात् रस-रुधिर-मास-मेदोऽस्थिम-ज्ञानकौजासि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धा-
तुप्रसादसंज्ञकानि शरीर-सन्निव-बन्ध-पिच्छादयश्चाक्षयवाः ते सर्वे एव धा-
तवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाख्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तते
यथाक्षयः शरीरम् । एवं रसमलो स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य सम-
धातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः; निमित्तरस्तु क्षीणघृदानां प्रसादाख्यानां
धातूना दृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाख्यां रसः सात्यमुत्पादयत्यारोग्याय,
किंहृं च मलानामेवमेव । स्वमानातिरिक्तः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्य-
यगुणेष्वोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपङ्ग्यन्ते । तेषां
तु मलप्रसादाख्यानां धातूना ज्ञोतास्ययनमुखानि; तानि यथाविभागेन
यथास्वं धातूनापूरयन्ति । एवमिदं शरीरमशित-पोत-लीढ़-सादित-
प्रभवम्, अशित-पीत-लीढ़-सादित-प्रभवश्चास्मिन् शरीरे व्याधयो
भवन्ति; हिंडाहिंडोपयोगविरोधस्तत्र शुभाशुभविशेषकरा भव-
न्तीति ॥ ४ ॥

इह आहार से तीन वस्तुएं बनती हैं एक बाहर रसी रस, २. किंहृ, बाहर-
मल और ३. मल । इनमें किंहृ भास के बादों, मूत्र, मल, वायु, निर्द्ध-
क्ष और आक, अंस, नाक, हुक्क, लोम, कूप और लिंग के मल उपमा-
नते हैं । तथा केळ, साजी, मूँख येम (यादेह के लाक) और यक लादेह आ-

बहु पुष्ट होते हैं। आहार के प्रशाद रूपी रसमार्ग से, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्ति, मखा, शुक्र, ओज तथा पृथ्वी, अ., तेज, वायु, आकाश (ये पंच महामूल तो इन्द्रियों को बनाने वाले हैं) अत्यन्त शुद्ध रूप में स्थित घातु शरीर को बांधने वाली स्नायु, शिरा आदि, सन्धियाँ, आर्चर्ड और दूध बनाते हैं। ये सब मछली नामक घातु या प्रशाद रूप घातु रस और मछली द्वारा पुष्ट होते हुए आयु के अनुसार अपने परिणाम में बनते हैं (अथवा कृष्ण, स्थूल, छोटे, वडे में अपने परिणाम से बनते हैं) । *

* आहार के रसादि घातु में बदलने के विषय में एक पक्ष यह है कि रस, रक्त घातु में बदलता है और रक्त, मांस में, इस प्रकार आगे परिवर्तन होता जाता है। जिस प्रकार दही जमते हुए सम्पूर्ण दूध दही रूप में बदलता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रस रक्त रूप में बदल जाता है और रक्त मांस में इसी प्रकार आगे। दूसरे आचार्य इस परिवर्तन को 'केदार-कुल्यान्धाय' से मानते हैं। अर्थात् खेत में बहती पानी की घार में से प्रत्येक क्यारी अपना २ पानी के लेती है इसी प्रकार यहाँ पर भी अज से उत्पन्न रस, रस घातु में जाकर कुछ भाग से रस बन जाता है और शेष रस भाग रक्त में जाकर रक्त के गन्ध, वर्ष से मिल कर रक्त बन जाता है और शेष रस भाग आगे मांस घातु में पहुँचता है, वहाँ मांस के गन्ध-वर्ण में मिलकर मांस बन जाता है, और इससे अवशिष्ट रस भाग मेद में चला जाता है, वहाँ भी पूर्व की भाँति किया होती है। इसी प्रकार आगे २ चलता जाता है। तीसरे पक्ष वाले कहते हैं कि—अज रस पृथक् २ घातुमार्ग में जाकर रसादि घातुओं का पोषण करता है, यह नहीं कि इस घातु को पोषण करने वाला ही रक्त घातु में जाता है। रस आदि को पोषण करने वाले श्वोत उत्तरोत्तर सूक्ष्म मुख वाले और लम्बे हैं। इस प्रकार से रस को पोषण करने वाला भाग रसमार्ग में गमन करके रस का पोषण करता है, एवं रस का पोषण करने के पीछे रक्त पोषक मार्ग में जाने से रक्त का पोषण करता है, इस प्रकार रक्त का पोषण करने के पीछे मांस को पोषण करने वाला रस भाग दूर एवं सूक्ष्म मार्ग में गमन करने से मांस का पोषण करता है। इसी प्रकार आगे मेद आदि का पोषण हो जाता है। इस पक्ष में दूध आदि दृश्य वस्तुओं से उत्पन्न रस प्रभाव से शीत्र ही शुक्र से मिलकर शुक्र का पोषण कर देता है, इसी प्रकार दुष्टावस्था में भी एक दोष के दुष्ट होने से अन्य घातु दुष्ट नहीं होते, परन्तु परिमाण पक्ष में रस-घातु के दुष्ट होने से रक्त आदि घातु भी दूषित हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त परिणाम पक्ष में तीन चार उपवास से शरीर की शूल होनी चाहिये और एक भाव के शूलसेवन से यो समूर्ख-

इस प्रकार से शरीर के अपने त्वरण में (ज व्यधिक और न मह वरिमाल में) स्थित होने पर शातु-साम्यावस्था में रहते हैं । प्रशाद रूप शातुओं का कथ या वृद्धि जो निमित्त को लेकर होती है, वह आहार के कारण ही होती है, इच्छिये आहार द्वारा वृद्धि और कथ का साम्य उत्पन्न होकर आरोग्यसा उत्पन्न होती है इसी प्रकार किछु और मल भी शरीर के आरोग्य सम्पादन में सहायक होते हैं । अपने परिमाण से अधिक बढ़े हुए किछु और मल को बाहर निकाल कर तथा शीत से उत्पन्न मल में उष्ण, उष्ण से उत्पन्न मल में शीत परिवर्त्या से मल शरीर के शातुओं को समानावस्था में रखते हैं । इन मल अर्थात् प्रशाद नामक शातुओं के स्रोत गमन करने के मार्ग हैं और ये स्रोत जो जिन जिनके हैं उन उन शातुओं को पूर्ण करते हैं । इस प्रकार से यह सम्पूर्ण शरीर खाये, रिये, चाटे, चाले आहार रूपी रूप से पूर्ण होता है । और रोग भी इस शरीर में खाये, रिये, चाटे आदि भोजन से उत्पन्न होते हैं । इसमें हित बस्तुओं का उपयोग शुभकारी और अहित बस्तुओं का उत्त्योग अशुभकारी होता है ॥ ४ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच— हृश्यन्ते हि भगवन् ! हितसमाख्यातमप्याहारमुपयुक्ताना व्याधिमन्तश्चागदाच्च, तथेवाहित-समाख्यातम्, एवं हृष्टे कथं हिताहितोपयोगविशेषात्मकं शुभाशु-भविशेषमुपलभामह इति ॥ ५ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—न हिताहारोपयोगिनामग्निवेश ! तन्निमित्त-व्याधयो जायन्ते, न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वं व्याधिभयमति-कान्तं भवति, सन्ति हि ऋतेऽप्यहिताहारोपयोगादन्या रोगप्रकृतयः, तथाच—काळविपर्ययः, प्रज्ञापराधः, परिणामच्च, शब्द-स्पर्श-रूप-रस- गन्धाच्चासात्मया इति, ताच्च रोगप्रकृतयो रसान सम्बु-पयुक्तजानमपि पुरुषमशुभेनोपपादयन्ति, तस्माद्दिताहारोपयोगिनोऽपि हृश्यन्ते व्याधिमन्तः । अहिताहारोपयोगिनां पुनः कारणातो न सद्यो दोषवालं भवत्यपचारः, न हि सर्वाण्यपथ्यानि तुल्यदोषाणि, न च सर्वे दोषास्तुल्यवलाः, न सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमित्वे समर्थानि भवन्ति, तदेव हृष्ट्यं देश-काळ-संयोग-वीर्य-प्रमाणातियोगाद् भूय-

शरीर शुक्रमय ही होना चाहिये और 'केदारकृत्या न्याय, वाका पश्च तीसरे प्रश्न के उमान ही है । इसमें भी हृष्ट्य बस्तुएं प्रभाव से शीघ्र शुक्र को उत्पन्न कर देती है ।

स्वरमध्ये संपर्कते, स एव दोषः संखुद्धेन्वितद्वयामन्त्रोऽप्यामन्त्रोऽन्वेषण्युप-
त्तिक्षिरस्थितः प्राणात्मतनसमुद्धो मर्मोऽप्याती का भूवान् कष्टतमः क्षिप्र-
कारितमध्ये संपर्कते, शरीराणि चाविस्थूलान्यतिकृशाम्बन्धिक्षिमाससो-
णितास्थीनि दुर्बलान्यसाम्याहारोपचितान्यत्पहाराण्यलपसर्वानि का
भवन्त्यव्याधिसहानि, विषरीतानि पुनर्बाधिसहानि, एव्यज्ञेयापथ्या-
हार-दोष-शरीर-विशेषेषो ठाधयो मृद्गो दाहणः क्षिप्रसमुद्धाक्षिर-
कारिणश्च भवन्ति । अत एव च वात-पित्त-ङ्गेमाणः स्थानविशेषे प्रकृ-
पिता व्याधिविशेषानभिनिवंतयन्त्वग्निवेश ! ॥ ६ ॥

इति प्रकार से कहते हुए आत्रेय शूष्यि को अविवेश बोले—“हे मयवान् ।
संसार में देखने में आता है, कि जो मनुष्य हितकारी आहार का उपयोग करते
हैं, वे रोगी दिलाई देते हैं और अहितकारी भोजन करने वाले भी नोरोग
दीखते हैं ।

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—“हे अग्निवेश ! जो मनुष्य हितकारी
अन्न खाते हैं उनको इनके कारण से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होते और न
केवल हित आहार का उपसेवन ही सब रोगों से बचा सकता । अहित आहार
को छोड़कर कुछ दूसरी भी रोग को प्रकृति है । यथा काळ विषवर्यय (ग्रन्तुओं
का परिवर्तन), प्रज्ञापाराव और परिणाम, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का
असाम्य (अतियोग, मिथ्यायोग, या अयोग) होना । ये रोग के कारण आहार
रसों का सम्यक् प्रकार से उपयोग करने पर भी पुरुष में अशुभ लक्षण उत्पन्न कर
देते हैं । इसलिये हितकारी आहार को सेवन करने वाले भी रोगी दिलाई देते
हैं । इसी प्रकार जो व्यक्ति अहित आहार का उपसेवन करते हैं, उनमें रोगों
के ये कारण जहां दोषयुक्त नहीं होते । क्योंकि सम्पूर्ण अपथ्य समान दोषकारक
नहीं हैं और सब दोष समान बड़ वाले भी नहीं हैं और सारे शरीर रसों को
सहन करने में समर्थ नहीं होते । इसलिये अपथ्य देश चावल पिकाकारक हैं,
यही आनन्द देश के योग से अधिक अपथ्य कारक हो जाता है, काळ (शरस्कार
में अपथ्य बढ़वान् और हेमन्त में निर्बल), संबोग दही राश के साथ चबान्,
और चहर केसाय निर्बल), वोर्य (संस्कार का उष्ण करने से अपथ्यहमारे
शीत से अपथ्य), प्रमाण अर्थात् माझ के अतियोग से अपथ्यतम और हीन बड़
से निर्बल बन जाते हैं । इसी प्रकार बहुत से कारणों के मिलने से, विषव-
चिकित्सा होने से गम्भीरे आशयों में, शरीर के बहुत अन्तर प्रवेश कर जाने से

१. त्वर्ग्मांसाभ्यमुखानं गम्भीरं स्वन्तराभयम् ।

तथा शरीर में विरकार के अवश्यक आवी पर, योग आदि इत्यग्रन्थालयों में स्थित होने से, मर्मस्थानों को पीकित करने से बहुत दुःख देने के कारण अपश्य दोने से, शीघ्र विकार उत्पन्न करने से अपश्य बलवान् बन जाता है। इसी प्रकार बहुत मोटा, बहुत कुश, जिनके मास, रक्त, अस्ति, दाढ़े, निर्वाङ हो गये हों जो विषम शरीर वाले हैं, जो असाम्य आहार को सेवन करने वाले, योग खाने वाले, अप्य सत्त्व वाले शरीर रोगों को सहन नहीं कर सकते। इनके लिए रीत गुणों वाले शरीर व्याधि को सहन कर सकते हैं। इसलिये अपश्य आहार, दोष शरीर को विशेषता से रोग मृदु, दारण, शीघ्र होने वाले, अपश्य देर में होने वाले होते हैं। इसलिये हे अपिवेष ! बात, पिच्च, कफ विशेष स्थानों में कुपित होकर भिज भिज प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५-६ ॥

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् यस्मिन् स्थाने
ये ये व्याधयः संभवन्ति तोस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥

अश्रद्धा चारुचिक्षास्य वैरस्यमरसज्जता ।
हङ्गासो गौरवं सन्द्रा साङ्गमदो व्वरस्तमः ॥ ८ ॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्षेन्यं सादः कृशाङ्गता ।
नाशोऽप्रेरयथाकालं वलयः पलितानि च ॥ ९ ॥
रसग्रदोषजा रोगा, वद्यन्ते रक्तदोषजाः ।
कुष्ठ-वीसर्प-पिण्डका रक्तपिचमसृग्दरः ॥ १० ॥
गुदमेद्रास्यपाकश्च सीहा गुल्मोऽय विद्रवी ।
नीलिका कामला व्यङ्गं विसर्वितलकालकाः ॥ ११ ॥
ददुश्चर्मदलं दिवत्रं पामा कोठास्यमण्डलम् ।
रक्तप्रदोषाज्ञायन्ते, शृणु मासप्रदोषजान् ॥ १२ ॥
अधिमासार्बुदं कील-गाल-शालूक-शुणिङ्गकाः ।
पूतिमासालज्जी-गण्ड-गण्डमालोपजिह्विकाः ॥ १३ ॥
विद्यान्मासाश्रयान्, मेदःसंश्रयास्तु प्रचक्षमहे ।
निन्दितानि प्रमेहाणा पूर्वरूपाणि यानि च ॥ १४ ॥
अपश्यस्थि-दन्त-दन्तास्थि-मेदश्चर्लं विवर्णता ।
केश-लोम-नस-इमश्च-दोषाज्ञास्थि-प्रकोपजाः ॥ १५ ॥
दक्ष पर्वणा भ्रमो मूळर्णी दक्षिनं तमसो भ्रमाः ।
अदृशी स्वृक्षूलामी पर्वजानो च वर्दनम् ॥ १६ ॥
भज्जप्रदोषाच्छुक्षमत्वं दोषामलैव्यवहृष्टयम् ।

रोगिणं वा क्रीवमल्पायुचिरूपं वा मजायते ॥ १७ ॥

न वा संजायते गर्भः परति प्रश्नवत्यपि ।

शकं हि दुष्टं सापत्यं सदारं वाधते नरम् ॥ १८ ॥

इनमें रत आदि स्थानों में कृपित वात आदि दोष, जिन जिल स्थान पर जो जो रोग उत्पन्न करते हैं उन उन रोगों को कहते हैं—अभद्रा, मोजन में अद्वा न होना, अचूचि (मोजन में अचूचि, अनिच्छा), भारीपन, तन्द्रा, शरीर में पीड़ा, ज्वर, तम, अन्वकार, पाण्डु वर्ण स्रोतों का अवरोध, नपुंसकता, साद (शिथिलता) शरीर की निर्बलता, अग्नि (आठरागि) का नाश, विना समय के कुर्सियों और बालों का इजेत होना ये रक्तजन्य रोग हैं ।

रक्तजन्य रोग कहते हैं—कुष्ठ, बीसर्प, पिढ़कायें, रक्तपित्त, रक्तपदर, गुद-पाक, शिवन का पक्ना, झींहा, गुल्म, विद्रुषि नीलिङ्ग, घ्यंग (शाई), कामला, विष्वल, तिळ के आकार के मरते, दाद, चर्मदल विवश, पामा, कोठ, रक्तमण्डल (छाल छाल चक्के) ये रक्तजन्य रोग हैं ।

मौसुमन्य रोग कहते हैं—अधिमात्र, अर्बुद, कील, गलशालूक, (गठे में शोथ होने से बढ़ा हुआ मात्र) गलशुणिङ्का, पूतिमात्र, अक्षी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिह्का, ये मौसुमन्य रोग हैं ।

मेदजन्य रोग—कहते हैं प्रमेह के निनित पूर्वरूप (बालों की अटिलता, आदि अथवा अति स्थूल पुरुष के आयु हाव आदि आठ रूप) ये रोग हैं अथवा अतिस्थूलता से उत्पन्न आयु का हाव आदि रोग मेद जन्य है ।

अस्थि के नीचे दूसरी अस्थि आना, अधिदन्त, दन्तमैद, दाँत मुखना, अस्थियों में शूल, केश, रोम, नख और दाढ़ी मूँछ के रंग का परिवर्तन होना ये अस्थिजन्य रोग हैं । जोड़ों में दर्द, चक्कर, आना, मूर्छा, आँखों के सामने अंखेरा आना, ब्रण, शिर में छोटी-छोटी फुनियां छोटे-छोटे जोड़ों में गाठे पक जाना ये मसाजन्य रोग हैं ।

शुक्र के दोष से नपुंसकता, अहर्षण (ध्वज के खड़े होने पर भी मैथुन में अशक्ति), संतान रोगी, नपुंसक या योकी आयु बाली, विस्प, उत्पन्न हो, अथवा गर्भ नहीं रहता, रहने पर गिर जाता है या तीन मास से पूर्व ही वह जाता है । दूषित शुक्र, बच्चे और छींदों को तक्षीक देता है ॥ १७-१८ ॥

इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकृत्यन्ति यदा भलः ।

उपचातोपकापाद्या योजयन्तीन्द्रियाणि ते ॥ १९ ॥

स्नात्यौ शिराकण्डरयोर्दुष्टाः किञ्चन्ति मानवम् ।

स्तम्भ-सङ्गोष-साक्षीभिर्विश्व-स्फुरण-सुप्रियि ॥ २४ ॥
 मङ्गानाभित्य कुपिता सेद-शोष-प्रदूषणम् ।
 दोषा मदाना कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीक च ॥ २१ ॥
 विविधादशितात्पीतादहिताङ्गीदखलादितात् ।
 भवन्त्येते मनुष्याणां विकारा य उदाहृताः ॥ २२ ॥
 तेषामिष्ठंश्वन्तुपर्ति सेवेत मतिमान् सदा ।
 हितान्येवाशितादीनि न स्युस्तज्जास्तथाऽमयाः ॥ २३ ॥

जित समय आहार के कारण मल कुपित होकर इन्द्रियों में स्थित होते हैं, उस समय ये मल इन्द्रियों का नाश या इन्द्रियों को पीकित करने कागडे हैं । ये मल बायु, धिरा, कण्डराओं में कुपित होकर मनुष्य को बहुत कड़ पहुँचाते हैं । इससे स्तम्भ, जड़ता, संकोच सिकुड़ना, खङ्गी हाथ पांव का मुळ जाना, ग्रन्थि (स्नायु आदि में गांठ), स्फुरण, घमन, और संशानाय उत्पन्न होता है । जित समय बात आदि दोष मलों का आश्रय लेकर कुपित होते हैं, उस समय मल का मेद (अर्तिसार) तथा मलों को सुखाना अथवा मलों के रंग को बिकृत करना या मलों का अवरोध अथवा अतिप्रबृत्ति उत्पन्न कर देते हैं । जो रोग यहाँ पर लिखे हैं, वे नाना प्रकार के खान, पान, चाटन, खाद्य रूप आहार द्वारा मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं । ये रोग उत्पन्न न हो, इस इच्छा से मनुष्य सदा हितकारक आहार का सेवन करे, जिससे कि आहारजन्य रोग न होवे ॥ १६-२३ ॥

इसज्ञानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम् ।
 विधिशोणितकेऽन्याये रक्तज्ञाना भिषणितम् ॥ २४ ॥
 मासज्ञाना तु संशुद्धिः शशक्षारारिग्नकर्म च ।
 अष्टूनिन्दितकेऽन्याये मेदाज्ञानां चिकित्सितम् ॥ २५ ॥
 अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम् ।
 वस्त्रयः क्षीरसर्पीषि तिक्तकोपहितानि च ॥ २६ ॥
 मञ्ज-मुक्त-समुत्थानामौषधं स्वादुविरक्तम् ।
 अञ्जं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रया ॥ २७ ॥
 शान्तिरिन्द्रियज्ञाना तु त्रिमर्मीये प्रवहयते ।
 स्नायाद्वादिज्ञाना प्रश्नमो बह्यते बातरोगिके ॥ २८ ॥
 न वेगास्पदएऽन्याये चिकित्सातंभ्रहः कृतः ।
 मङ्गज्ञानां विकाराणां सिद्धिशोका कथित्वचित् ॥ २९ ॥

रुद्रजन्य द्वय विकारों की चिकित्सा अवधारणा है । रुद्रजन्य रोगों की चिकित्सा शर्करा, खार और अमि कर्म से होती है । भेदजन्य रोगों की चिकित्सा 'आष्टोनिन्दित' अध्याय में कह दी है । अस्थियों में आन्तिर रोगों की चिकित्सा पंचकर्म, एवं तिक बस्तुओं से तथा दूष एवं धूत से उद्धर बस्तियां (विशेष) चिकित्सा हैं । मजा और शुक्र से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा स्वादु, तिक अम्ब, अव्यवाय, (छी-संग) अव्यायाम और समय पर भाग्रानुषार बग्न आदि से शुद्धि है । इन्द्रियजन्य रोगों की चिकित्सा 'त्रिमर्मीय' अध्याय में कहेंगे । स्नायु आदि से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा वातरोगाधिकार में कहेंगे । मलजन्य रोगों की चिकित्सा 'न वेगान्धारणीय' अध्याय में कह दी और कही २ (अतिसार, ग्रहणी आदि में) आगे भी कहेंगे ॥ २४-२६ ॥

ब्यायामादूषणस्तेष्याद्वितस्यानवचारणात् ।

कोष्ठाच्छाला मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ३० ॥

तत्रस्थाश्च बिलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः ।

नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥ ३१ ॥

निम्ब कारणों से दोष शाखाओं में पहुंच जाते हैं, यथा ब्यायाम से उत्पन्न श्वेष से कोष्ठ को छोड़कर मल शाखा में आजाते हैं । अभिन के तीक्ष्ण होने से पिछके हुए दोष शाखा में आ जाते हैं । हितकारी बस्तु के अति सेक्षण से बहुत बड़े हुए दोष पानी के पूर की भाँति अपने स्थान पर भरकर दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं । वायु के गतिशील होने से वायु द्वारा दूसरे स्थान पर पहुंच जाते हैं । वहां शाखा आदि में पहुंचकर रोग उत्पन्न करने में विळम्ब करते हैं । क्योंकि निर्बल दोष किसी प्रबल दोष की प्रेरणा के बिना कुपित नहीं हो सकते । इसलिये उचितस्थान पर और उचित काल में ही कुपित होते हैं । वे निर्बल दोष और कारण की प्रतीक्षा करते रहते हैं । बलवान् दोष दूसरे प्रेरक कारण की बाट नहीं देखते । शाखाओं से दोष कोष्ठ में किस प्रकार जाते हैं यह कहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

वृद्ध्याभिष्यन्दनात् पाकात्स्रोतोगुरुविशोधनात् ।

शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोग्नि निप्रहात् ॥ ३२ ॥

दोषों के बढ़ने से, (अभिष्यन्द से बढ़ने से सरक, होने से) दोष के पक्कने से, खोटों के मुख खुल जाने से अवरोध इडने से; वक्ष फँकने वाली वायु के रुक जाने से वे शिख दोष कोष्ठ में आजाते हैं ॥ ३२ ॥

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विलिङ्गतये ।
रोगाणा जो विधिर्दृष्टः सुखार्थीं तं समाप्तरेत् ॥ ३३ ॥
सुखार्थाः सर्वभूक्तानां महाः सर्वाः प्रवृत्तयः ।
ज्ञानाकानविशेषात्तु मागोमार्गप्रवृत्तयः ॥ ३४ ॥
हितमेवातुरुद्धन्ते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ।
रजोमोहाधृतात्मानः प्रियमेव तु लौकिकाः ॥ ३५ ॥
श्रुतं बुद्धिः स्मृतिर्दीर्घं धृतिर्हितनिषेवम् ।
वाग्निशुद्धिः शमो धैर्यमाश्रयन्ति परीक्षकम् ॥ ३६ ॥
लौकिकं नाश्रयन्त्येते गुणा मोहरजश्चित्तम् ।
तन्मूला बहुलाक्ष्रेव रोगाः शारीरमानसाः ॥ ३७ ॥

संखेप से सुख की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिये कि रोगों को उत्सर्जन होने देने की जो विधि कही है, तथा उत्सर्जन हुए रोगों को हटाने की जो विधि कही है, उसका आचरण, सेवन करें। क्योंकि सब प्राणियों की सब प्रवृत्तियाँ सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही होती हैं। ज्ञान और अज्ञान के मेद से ही मनुष्य मार्ग या अमार्ग का अनुसरण करने लगता है। परीक्षक विद्वान् परीक्षा करके हितकारी वस्तुओं का सेवन करते हैं, रजो गुण और मोह में फंसे साधारण-जन प्रिय पदार्थ ही चाहते हैं। भ्रुत, बुद्धि, स्मृति इद्वात् हितकारी वस्तुओं का सेवन, वाणी की झुद्धि, शम, और धैर्य, ये गुण विवेकी पुरुष में होते हैं। परन्तु मोह और रज से युक्त होने के कारण लौकिक, अविवेकी पुरुष में ये गुण नहीं होते। इसलिये इनको शारीरिक और मानसिक बहुत प्रकार के रोग होते हैं ॥ ३३-३७ ॥

प्रक्षापराधायहितानर्थात् पञ्च निषेचते ।
संधारयति वेगाश्च सेवते साहसानि च ॥ ३८ ॥
वदात्प्रसुखसंक्षेपु भावेष्वज्ञातोऽनुरुद्धयते ।
रज्यते न तु विज्ञाता विज्ञाने शामलीकृते ॥ ३९ ॥
न रागाभ्यविज्ञानादाहारसुप्तयोजयेत् ।
परीक्ष्य हितम् भीयादेहो शाहारसंभवः ॥ ४० ॥
आहारस्य विचारणौ विशेषा हेतुसंक्षकाः ।
कुरुत्युभ्यमुत्पत्तो वाम् परीक्षयोपयोजयेत् ॥ ४१ ॥
विविहर्षण्यपथ्यात्मि लाहृ पश्चिमल्लरः ।
भवालशृणुष्ठां ग्राहः साधूनामित् परिहरतः ॥ ४२ ॥

यतु रोगसमुत्थानमशम्यमिह केवलित् ।
परिहतुं च सत्प्राप्य शोचितव्यं मनीषिणा ॥ ४३ ॥

अशानी मनुष्य बुद्धि के दोष से पञ्चेनिवारों के अहित शब्द, स्पर्शादि विषयों का सेवन करता है, मल मूत्रादि के बेगों को रोकता है, साहन के कामों को करता है, प्रारम्भ में सुखदायक और परिणाम में दुःखदायक कर्मों को करता है, इसलिये दुःख उठाता है । परन्तु शानी पुरुष शान द्वारा बुद्धि के स्वच्छ होने से इन कामों में नहीं फंसता, अतः सुखी रहता है । राग अर्थात् आसक्ति से (जानते हुए भी भोजन अहितकर है, फिर भी लालच से) या अशान से भोजन को नहीं खाना चाहिये, परीक्षा करके ज्ञानपूर्वक हितकारी अज्ञ को ही खाना चाहिये । क्योंकि शरार आहार से उत्पन्न होता है । भोजन की शुभ-अशुभ परीक्षा के लिये आठ प्रकार की परीक्षा है । ये आठ परीक्षायें विशान स्थान अध्याय १ में प्रकृति-करण, संयोग आदि से कही हैं । भोजन की इन आठ विशेषताओं से परीक्षा करके भोजन करना चाहिये । जिन अपथ्यों से मनुष्य वच सकता हो उनसे वचने का सदा यत्न करना चाहिये, इस प्रकार करने से पुरुष अपराधरहित होता है और साधु पुरुषों में बुद्धिमान् गिना जाता है । क्योंकि प्रारब्ध से उत्पन्न व्याघ्रि को साधु पुरुष बुरा नहीं मानते । जो रोग प्रारब्ध के बलवान् होने से उत्पन्न होता है वह यदि चिकित्सा कार्य के लिये असाध्य भी हो तो भी बुद्धिमान् मनुष्य को शोक, चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ३८-४३ ॥

सत्र शोकः—आहारसंभवं वस्तु रोगश्चाऽहारसंभवाः ।

हिताहितविशेषाश्च वरेषः सुखदुःख्याः ॥ ४४ ॥

सहत्वे चासहत्वे च दुःखानां देहसत्त्वयोः ।

विशेषो रोगसङ्घाश्च धातुजा ये पृथक् पृथक् ॥ ४५ ॥

तेषां चैव प्रशमनं कोष्ठाच्छाला उपेत्य च ।

दोषा यथा प्रकृत्यन्ति शास्त्राश्रयः कोष्ठमेव च ॥ ४६ ॥

प्राक्षाङ्गयोर्विशेषश्च स्वस्थातुरहितं च यत् ।

विविधाश्चितपीतीये तत्सर्वं संप्रकाशितम् ॥ ४७ ॥

यह शारीर आहार से उत्पन्न होता है, रोग भी आहार से उत्पन्न होते हैं । हित और अहित की विशेषता ही सुख दुःख में कारण है । दुःखों के उत्तर करने या न उत्तर कर सकने में देह, सत्त्व आदि विशेषतायें चातुर्व्युत्पृथक् २ रोग, इनकी चिकित्सा, दोष विष प्रकार से कोड दे शाका तौं आहार कुरित

होते हैं और बाकाओं से जित प्रकार क्षेष्ठ में आते हैं, निराश और अविद्या जी विषय, स्वस्य और रोगी के लिये जो कुछ हितकारी है, वह तब 'विविक्षा-विविक्षीय' अध्याय में कह दिया ॥ ४४-४७ ॥

इत्यग्नेयशक्ते तन्मे चरकप्रतिरूपकृते सूतस्थानेऽमरानचक्षुष्मे

विविक्षावितपीतीयो नाम अष्टाविंशेऽध्यायः समाप्तः ॥ २८ ॥

समाप्तविदं सप्तममन्तरानचक्षुष्मम् ।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो दशप्राणायतनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह मगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब आगे 'प्राणायतनीय' अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।

शङ्कौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रोजसी गुदम् ॥ ३ ॥

तानीन्द्रियाणि विज्ञानं चेतनाहेतुमामयम् ।

जानीते यः स वै विद्वान् प्राणाभिसर उच्यते ॥ ४ ॥ इति ॥

प्राण जिन स्थानों पर आवित हैं वे दस स्थान हैं । यथा (१-२) शांख-प्रदेश (कनपटी) दो, (३-५) तीन मर्म-हृदय, बृह्ति और पित्र, (६) कण्ठ, (७) रक्त, (८) शुक्र, (९) ओज और (१०) गुदा वे दस प्राणों के स्थान हैं ।

इन दस स्थानों को, इन्द्रियों (आध्यात्मिक), चेतनाहेतु (आत्मा) और रोगों के कारण, लक्षण और शोषविचिकित्सा को जो विद्वान् जानता है, वही 'प्राणाभिसर' कहलाता है ॥ ३-४ ॥

द्विविचास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश ! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणा, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति ॥ ५ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—भगवन् ! ते कथम् स्वामिवैदितव्या भवेयुरिति ॥ ६ ॥

भगवानुवाच—य इमे कुठीमाः पथैवदात्मताः परिदृष्टकर्माणो पदाः सुखयो जितहस्ता जितात्मानः सर्वोपकरणवन्तः सर्वेन्द्रियो-पदानाः प्रकृतिहाः प्रतिष्ठितास्ते प्राणानामभिसराः हन्तारो रोगा-

आम्, तथाविषया हि केवले शरीरकाने शरीराभिनिर्वृत्तिः-कान्-
प्रकृतिः-विकारः-काने च निःसंशयाः सुख-साध्य-कुच्छ-साध्य-न्याप्य-प्रस्ता-
व्येयानां च रोगाणां समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-वेवनोपशय-विशेष-विकाने
व्यपगवसन्देहाः; त्रिविधस्याऽस्युवेदसूत्रस्य संसंग्रह-न्याकरणस्य सत्रिवि-
धौषधप्रामस्य प्रवकारः; पञ्चत्रिशतश्च मूलफलानां चतुर्णां च स्नेहानां
पञ्चानां च लवणानामष्टानां च मूत्राणामष्टानां च क्षीराणां क्षीरत्वगृ-
क्षाणां च षण्णां शिरोविरोचनादेशं पञ्चकर्माश्रयस्यौषधगणस्याष्टाविंश-
तेभ्य यवागूलां द्राविंशत्प्रदेहानां षण्णां च विरेचनशतानां पञ्चानां
च कषायशतानां, स्वस्थवृत्तावपि च भोजन-पान-नियम-स्थान-चक्रमण-
शस्यासन-मात्रा-द्रव्याङ्गन-धूम-नावनाभ्यङ्गन-परिमार्जन-वेगाविधारण-
व्याधाम-सात्म्येन्द्रिय-परीक्षोपक्रम-सद्वृत्तकुशलाः; चतुष्पादोपगृहीते च
भेषजे षोडशकले सविनिश्चये सत्रिपर्येषणे सवातकलाकलाने व्यप-
गतसन्देहाः; चतुर्विधस्य च स्नेहस्य चतुर्विशत्युपनयस्योपकल्पनी-
यस्य चतुर्षष्ठिपर्यन्तस्य व्यवस्थापयितारो बहुविधानामुक्तानां च स्नेह-
स्वेच्छ-वस्त्र्य-विरेचन्यौषधोपचाराणां च कुशलाः; शिरोरोगादेशं दोषाशवि-
कल्पजस्य व्याधिसंग्रहस्य सक्षयिष्ठकाविद्रवेष्याणां च शोफानां बहु-
विधशोफानुबन्धानामष्टाचत्वारिंशतश्च रोगाधिकरणानां चत्वारिंशदुत्त-
रस्य च नानात्मजस्य व्याधिशतस्य तथा विगहिंतातिस्थूलातिकृशानां च
सहेतुलक्षणोपक्रमाणां स्वप्नस्य च हिताहितस्यास्वप्नातिस्वप्नस्य च
सहेतुप्रक्रमस्य षण्णां च लड्घनादीनामुपक्रमाणां सन्तर्पणापतर्पणजानां
च रोगाणां सरूपप्रशमनानां च शोणितजानां व्याधीनां मदमूर्च्छायसं-
न्यासानां च सकारणरूपौषधोपचाराणां कुशलाः; कुशलाश्चाऽस्याहरविधि-
विनिश्चयस्य प्रकृत्या च हिताहितानामाहारविकाराणामध्यसंग्रहस्याऽस्य-
स्वावानां च चतुरशीतेः द्रव्यगुणविनिश्चयस्य रसानुरससंश्रयस्य सवि-
कल्पकवैरोधिकस्य द्वादशवर्गाश्रयस्य चान्नपानस्य सगुणप्रभावस्य सानु-
पानगुणस्य नवविधस्यार्थसंग्रहस्याऽस्याहरगतेष्व हिताहितोपयोगविशेषा-
त्प्रक्रमस्य च शुभाशुभविशेषस्य धात्वाश्रयाणां च रोगाणामौषधसंप्रहाणां
च दशानां च प्राणायतनानां यं च वस्त्र्यामोऽर्थेदशमहामूलीये त्रिशत्तमा-
व्याये तत्र च कुत्सलस्य तत्रोदेशलक्षणस्य तन्त्रस्य च प्रहण-वारण-विकान-
प्रयोग-कर्म-कार्य-काळ-कर्तु-करण-कुशलाकुशलाश्च स्वृति-मति-शास्त्र-संगु-
र्लिमुच्चिकावस्याऽस्यनः क्षीरगुणेरविसंबादनेन च संपादनेन सर्वप्रा-

पिण्ड वेत्तुदो मेत्रस्य मातृन्पिण्ड-भास्तुवदेवं युक्ता १ अवस्थाप्तिकेत्स !
प्राणानामभिसरा हन्तारो रोगाणामिति ॥ ७ ॥

वैद्यों के लक्षण—हे अग्निवेद ! वैद्य दो प्रकार के होते हैं । एक, ‘प्राणा-
भिसर’ प्राणों को छाने वाले और रोगों का नाश करने वाले । दूसरे ‘रोगाभिस-
र’ रोगों को छाने वाले और प्राणों का नाश करने वाले ।

इस प्रकार से कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेद बोले—इम हन
दोनों प्रकार के वैद्यों को किस प्रकार से किन किन लक्षणों से जान सकते हैं ।

भगवान् आत्रेय ने कहा कि जो कुलीन उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हों,
जिनकी बुद्धि व शास्त्रज्ञान निर्मल हो, जिन्होंने किया-कर्म देखा हो, जो अनु-
भवी, चतुर, सदाचारी, अस्पृश्य हाथ वाले (शब्द चलाने में जिनको संशय
न हो, कुशल हाथवाले) जितेन्द्रिय, सर्व सामग्री से सम्पन्न, आँख, कान आदि
सब इन्द्रियों से युक्त, जो कि शरीर की नीरोगस्थिति को भली प्रकार जानते हैं,
उत्तम सूक्ष्म व परिणाम को भली प्रकार जानने वाले हों वे वैद्य प्राणरक्ष-
क एवं रोगनाशक होते हैं । इस प्रकार से वैद्य सम्पूर्ण शरीर के शान से,
वीर्य और शोणित के संयोग से शरीर किस प्रकार बनता है इसको जान,
शारीरस्थान में कहे सार्क्षयशास्त्र के अनुसार प्रकृति विकृति के शान को
विना सुन्देह के समझते हों, सुखसाध्य, कष्टसाध्य, याप्य वा असाध्य इन चार
प्रकार के रोगों के कारण, पूर्वलप, लक्षण, वेदना, अनुकूल, आहार-
विहार भली प्रकार जानते हों, सम्पूर्ण आयुर्वेद के सूत्र रूप जो
त्रिविष शूत्र हेतु, लिंग, लक्षण और औषध का शान है इसको; सामान्य और
विशेष रूप से इनके संलेप और विस्तार को तथा तीन प्रकार की औषध दैवव्य-
पाश्य और युक्तिव्यपाश्य, सत्त्वावजय समूह को जाननेवाले, १६ प्रकार की
मूळिनी औषधियोंको, १६ प्रकार की फलवर्ग की औषधियोंको, चार प्रकार के
स्नेहों, पांच प्रकार के नमक, आठ प्रकार के मूत्र, आठ प्रकार के दूध, छः
प्रकार के श्वरी-शृक्षोंको, शिरोविरेचनादि पांचकर्मों के औषध समूहोंको, अष्टा-
इत प्रकार की यवागुओंको, ३२ प्रकार के चूर्ण या प्रदेहोंको, छः सौ विरेचन,
पांच सौ कशाय, मनुष्योंकी प्रकृति स्वस्थ रहे इसके लिये भोजन, पान, के
नियम, स्थान, चलना, फिरना, सोना, बैठना, मात्रा, द्रव्य, अंजन, घूमपान, नस्य,
अर्धनाशन, स्नान, बेगों को न रोकना, आयाम, साल्प्य, इन्द्रियपरीक्षा-उपकरण,
कृषुप्त में कुशल, इनके नियमों को जानने वाले, चिकित्सा के चारों पाद और

१. ‘बन्धुवदेवयुक्ता’ इति पाठः ॥

सोलह अंगों में सन्देहरहित, तीन प्रकार की बालना, बायु के गुणन्दोष में सन्देहरहित; चार प्रकार के स्नेह, स्नेह की २४ प्रकार की विचारणा में बहुत; रस मेद के ६४ प्रकार की योग्य योजना करने में, बहुत प्रकार के स्नेहन, स्वेदन, बमन, विरेचन आपचियों को यथायोग्य प्रयोग करने में कुशल, शिरोरोगादि रोग, बातादि दोषों की अधिकता या कमी से उत्पन्न होने वाले रोगों को, क्षय, पिण्डका, तीन प्रकार की विद्रधि, शोथजन्य नाना प्रकार के रोगों को, रोगों के ४८ प्रकरण, १४० प्रकार के बात, पिच, कफ रोगों को निन्दित अतिकृश्य पुरुषों की हेतु, लक्षण, चिकित्सा को; हितकर अहितकर निद्रा को; अनिद्रा व अतिनिद्रा के कारण और चिकित्सा को; लंघनादि छः प्रकार की चिकित्सा को, सन्तर्पण अपतर्पण से होने वाले रोगों को, उनकी चिकित्सा को जानें, रक्तजन्य रोग, मद, मूर्छा और संन्यास के कारण, लक्षण और चिकित्सा में कुशल, आहारावैषि में कुशल, स्वभावतः पथ्यापथ्य आहार व संस्कार से होने वाले परिवर्तन, चौरासी (८४) प्रकार के आसव, रस व अनुरसात्मक द्रव्य गुण निश्चय, विकल्प में कुशल; अन्नपान के बारह वर्ग, गुण, प्रभाव, अनुपान गुण, अन्नपानादि से, रसादि धातुओं की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, पथ्यापथ्य, आहार के हितकारी फल, बातादि दोष के प्रकृपित होने से उत्पन्न होने वाले रोग और उनकी चिकित्सा, प्राणायतनों के दस स्थान, इन सब विषयों में तथा अगले 'अर्थे दशमहामूलीय' अध्याय में जो कुछ कहेंगे, उन सब में निपुण, आयुर्वेद के उद्देश, लक्षण को जानने वाले हों, एवं आयुर्वेद शास्त्र के ग्रहण करने, ग्रहण किये हुए को धारण करने और अर्थ से जानने, प्रयोग, चिकित्सा-प्रयोग, अनेक प्रकार से चिकित्सा करने, कार्य-धातुओं के समान करने, काल, क्रिया, काल, कर्त्ता, भिषक्, करण औषध में कुशल, तथा स्मरण शक्ति, बुद्धि, शास्त्रयोजना और तर्कज्ञान में समर्थ, अपने शास्त्र, स्वभाव रूपी गुणों से सब प्रणि मात्रा में मन, आत्मा द्वारा, माता, पिता, भाई, बन्धु, आदि के समान मैत्री भाव रखने में कुशल होते हैं, स्नेह का व्यवहार करते हैं, हे अग्निवेश ! इस प्रकार के जो वैद्य होते हैं, वे 'प्राण-भिसर' अथोत् प्राणरक्षक तथा रोगनाशक होते हैं ॥ ५-७ ॥

अतो विपर्ययेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिष-
द्युषप्रतिच्छन्नाः कण्टकभूता छोकस्य प्रतिरूपक्त्यक्त्यर्थमाणो राहा-
प्रमादाऽचरन्ति राष्ट्राणि । तेषामिदं विशेषविज्ञानम् । अस्यवृच्चैवेष्य
इलाघमाना विशिखान्तरमनुचरन्ति कर्मलोभात्, श्रुत्वा च कस्यचिदा-

तुर्यमभितः परिवतन्ति, संशब्धेण चास्याऽऽत्मनो वैद्यगुणाणुच्चैर्वदन्ति,
यश्चात्य वैष्णः प्रतिकर्म करोति तस्य च वौषान् सुहुमुदुलदाहरन्ति,
आतुरमित्राणि च प्रहर्षणोपजापोपसेवादिभिरिच्छन्त्यात्मीकर्तुं, स्वप्ने-
च्छतीं चाऽऽत्मनः ख्यापयन्ति, कर्म चाऽऽसाच्य सुहुमुदुरवलोकयन्ति
दाक्ष्येणाङ्गानमात्मनः प्रच्छादयितुकामाः, व्याख्यं चापवर्तयितुमशक्तुं-
वन्तो व्याधितमेवानुपकरणमपचारिकमनात्मवन्तमुदिशन्ति, अमर्तं
गतं चैनमभिसमीक्ष्यान्यमाश्रयन्ति देशमपदेशमात्मनः कृत्वा, प्राकृत-
जनसन्निपाते चाऽऽत्मनः कौशलमकुशलवदूर्णयन्ति, अधीरत्वच
धैर्यमपवदन्ति धीराणां, विद्वज्जनसन्निपातं चाभिसमीक्ष्य प्रतिमयमिव
कान्तारमध्यगाः परिहरन्ति दूरात्, यश्चैषां कश्चित्सूत्रावयवो भवत्यु-
पयुक्तस्तमप्रकृते प्रकृतान्तरे वा सततमुदाहरन्ति, न चानुयोगमिच्छ-
न्त्यनुयोक्तुं वा, मृत्योरिव चानुयोगादुद्विजन्ते, न चैषामाचार्यः शिष्यो
वा सब्रह्मचारी वैवादिको वा कश्चित्प्रक्षायत इति ॥ ८ ॥

इनसे विपरीत गुण वाले वैद्य 'रोगाभिर' अर्थात् रोगों को लानेवाले और
प्राणों का नाश करने वाले होते हैं। ये वैद्य वैद्य के वेष में लोक में काटे के
समान दुःखदायी, विगाह करने वाले, द्रोह करने वाले, धर्म का त्याग करके,
राजाओं के आलास्य से हो राष्ट्र में विचरते हैं। इन वैद्यों के विशेष लक्षण ये
हैं—ये वैद्य के समान वस्त्र धारण करके अपनी प्रथंसा करते हुए रोगी के घर
में गली में चिकित्सा कर्म के लोभ से जाते हैं, किसी को रोगी सुनकर उसको
चारों ओर से धेर बैठते हैं, और अपने गुणानुवादों को ऊंचे २ सुनाने लगते
हैं। जो पहले वैद्य चिकित्सा कर रहा है, उसके दोषों को बार २ कहते
हैं। रोगी के मित्रों को खुश करके, चापलूसी, चुगली से, सेवा आदि द्वारा
अपना बनाना चाहते हैं। और अपनी इच्छा को योड़ा बतलाते हैं। चिकित्सा
कार्य मिळने पर बार २ इधर उधर देखते हैं। चालाकी से अपने अश्वान को
छिपाने की चेष्टा करते हुए, रोग को अच्छा करने में अशक्त होने पर रोगी को
ही उड़ाहना देने लगते हैं, तुम्हारे पास शाश्वत नहीं, सेवक नहीं, पर्य नहीं
रखते। मरता हुआ देखकर बशाना करके दूसरे देश में चले जाते हैं। भोले
भाले आदमी को देखकर अपनी कुशलता को मूर्ख पुरुष की भाँति बिश्व
वचनों द्वारा प्रकट करते हैं। धीर पुरुषों के सामने अधीर की भाँति जोर २
से अपना वैर्य कहने लगते हैं। विद्वान् मनुष्यों को देखकर दुम दबाकर ऐसे
मार जाते हैं, जित प्रकार कि भर्यकर भय की आशंका से जंगल के रास्ते को

दूर से ही छोड़ देते हैं। इन लोगों को जो ज़राता भी आयुर्वेद चिकित्सा का सूत्र मिल जाता है, तो उसीको बेसमय या विना मरवन्द के (प्रष्टंग के विना ही) बार २ बोलने लगते हैं। ये न तो स्वयं किसी से कुछ पूछते हैं और न यह चाहते हैं कि कोई हमसे पूछे। वे प्रश्न के पूछने से मृत्यु से जैसे डर कर भागते हैं। न तो कोई इनका आचार्य, न कोई शिष्य और न कोई सहाय्यायी होता है ॥ ८ ॥

भिषक्लृद्ध प्रविश्यैव व्याधितांस्तर्कयन्ति ते ।

बीतंसमिव संश्रित्य वने शाकुन्तिको द्विजान् ॥ ९ ॥

श्रुत-हृषि-क्रिया-काल-मात्रा-शान-वहिष्कृताः ।

वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥ १० ॥

वृत्तिहेतोर्भिषड्मानपूर्णांन् मुख्यविशारदान् ।

वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः ॥ ११ ॥

ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।

जितहस्ता जितात्मानस्तेऽयो नित्यं कृतं नमः ॥ १२ ॥

रोगी को देखकर वैद्य का वेष पहिन कर रोगी के घर में छुस जाते हैं। ये जंगल में पहुंचे चिह्नीगार की तरह पक्षियों को जाठ में फंसाने वाले होते हैं। इनको शास्त्रभ्रवण, कर्मदर्शन, चिकित्सा और काल, मात्रा शास्त्र का ज्ञान नहीं होता। ये मृत्यु के नौकर होकर पृथ्वी पर विचरते हैं, इसलिये इनको छोड़ देना चाहिये। जीविका प्राप्त करने के लिये वैद्य वने हुए, पूरे मूर्खों को, बुद्धिमान् रोगी छोड़ देवे, क्योंकि वे वायु पिये हुए सांप के समान हैं। जो वैद्य शास्त्रज्ञानी, कर्म में दक्ष, पवित्र, कर्मकुशल, जितहस्त, संयमी, ऐसे प्राणाभिसर वैद्यों को नित्य प्रति नमस्कार है ॥ ६-१२ ॥

तत्र इडोकः—दश प्राणायतनिके इडोकस्थानार्थं संग्रहः ।

द्विविधा भिषजश्चोकाः प्राणस्याऽयतनानि च ॥ १३ ॥

इस दश प्राणायतनीय अध्याय में सम्पूर्ण सूत्रस्थान की संखित सूची, दो प्रकार के वैद्य, शरीर के दस प्राणायतन ये विषय प्रतिपादन कर दिये हैं ॥ १३ ॥

इत्यनिवेद्यकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने दशप्राणायतनीयो

नामैकोनत्रिशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २६ ॥

त्रिशुत्तमोऽध्यायः

अथातोऽर्थे दशमहामूलीयभव्यायं व्याख्यात्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मात्तद्वय भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'अर्थे दशमहामूलीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

अर्थे दश महामूलाः समासका महाफलाः ।

महार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यते बुधैः ॥ ३ ॥

हृदय जिनका मूलस्थान है ऐसी महान् कार्य करने वाली दस धमनियाँ हृदय में आभित हैं । 'महत्' और 'अर्थ' ये हृदय के ही नामान्तर हैं ॥ ३ ॥

षड्ङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् ।

आत्मा च सगुणश्चेत्तत्त्विन्त्यं च हृदि संश्रितम् ॥ ४ ॥

प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिद्यते ।

गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः ॥ ५ ॥

तस्योपघातान्मूर्छार्थं भेदान्मरणमृच्छति ।

यद्द्व तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्त्र संश्रितम् ॥ ६ ॥

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।

हृदयं महार्थश्चत स्मादुकं चिकित्सकैः ॥ ७ ॥

छः अंगोवाला शरीर (दो हाथ, दो पांव, शिर और प्रीका एवं कटि का मध्य भाग), विज्ञान (निश्चयात्मक बुद्धि), पांच शानेन्द्रियां तथा इन इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषय, आत्मा, गुणयुक्त मन, चिन्त्य (मन के विषय) ये सब हृदय में आभित हैं । यहां पर यह संशय हो सकता है कि हृदय तो दो अंगुल मात्र है, इसमें छ अंगों वाला शरीर किस प्रकार समा सकता है । इन्द्रियां अपने आभितों में स्थित हैं, विषय वाला द्रव्यों में आभित हैं । आत्मा व्यापक होने से अनाभित है, गुणयुक्त मन भी अनाभित है, व्येय आदि हृदय में नहीं रहते । इस सन्देह का उत्तर देते हैं कि हृदय में ये माव (पदार्थ) कार्यकारण सम्बन्ध से अविरोध रूप में रहते हैं । इनमें आधार-आधेय-सम्बन्ध नहीं, परन्तु आभय-आधयि, अथवा अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है । आगारकर्णिका अर्थात् धर को ढापने के बीचमें एक वही बझी होती है और उसके दोनों ओर दूसरी शहतीरीया पक्षी रहती हैं, उसी प्रकार हृदय के चारों ओर ये वस्तुयें पक्षी हैं । इस हृदय को उपचात (चोट) लगाने से मूर्छा हो

जाती है और हृदय के विदीर्ण होने वे मनुष्य भर जाता है । हृदय के नाश होने से हृदय में आभित संसारी आत्मा भी नष्ट हो जाता है । स्वर्ण को जो जानता है या जिसके कारण स्पर्श ज्ञान होता है वही 'धारी' शरीर इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा के संयोग (शारीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्) थे सब हृदय में आभित हैं । यह हृदय परम (शेष) ओज का स्थान है, चैतन्य विषयों में फैले हुए मन का इसी हृदय में संग्रह होता है । विषयों में गये हुए इसी मनको हृदय में रोकने से योगी बनते हैं और योग मोक्ष का साधन (योगो मोक्षप्रवर्तकः) है । इसलिये हृदय को महत् और इन शब्दों से चिकित्सक कहते हैं ॥ ४-७ ॥

तेन मूलेन महता महामूला मता दश ।
 ओजोवहा: शारीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥
 येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः ।
 यहते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥ ९ ॥
 यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्भरसाद्रसः ।
 सर्वतमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥ १० ॥
 यस्य नाशात् नाशोऽस्ति धारि यद्यृद्याश्रितम् ।
 यः शारीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ ११ ॥
 तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीव महाफलाः ।
 धमानाद्मन्यः स्ववणात् स्नोतासि सरणात्सिराः ॥ १२ ॥

इस हृदय से महामूल वाली (जिनका प्रमावस्थान बड़ा है, ऐसी) दस ओजबाहिनी धमनियाँ निकल कर इस सम्पूर्ण शरीर में फैलती हैं । जिस ओज के पृष्ठ होने पर सब प्राणी जीते हैं, जिस ओज के बिना प्राणियों का जीवन नहीं रह सकता, जो ओज शुक्र रक्त संयोग से बने गर्भ में सारमृत है, और जो शुक्र रक्त के संयोग से बने कल्ल रूप में रसरूप सार है, जो ओज हृदय के बनने पर स्पष्ट होकर हृदय में रहता है, जिस ओज के नष्ट होने पर (धातुओं का स्थय न होने पर भी) मृत्यु निश्चित है, जो कि प्राणों को धारण करने में मुख्य है, जिस ओज में प्राण आश्रित हैं उस ओज को लेजाने वाली, ओजोवहा, महाफला दस धमनियाँ हृदय का आश्रय लेकर अनेक प्रकार से फलती हैं । जे हृदय में दस होती हुई भी शरीर में प्रतान भेदों से असंख्य बनजाती हैं ।

पूर्ण अर्थात् बाध्य रस द्वारा भरने से (स्पन्दन होने से), धमनियाँ, स्ववण अर्थात् रस, पौष्य वस्तु का संबंध होने से स्नोतस् और दूररे देश या स्थान में जाने से 'सिरा' कहलाती है ॥ ८-१२ ॥

तन्महसा महामूलास्तवोजः परिरक्षता ।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखद्वेतवः ॥ १३ ॥
हृषी यत्प्रशान्तदौजस्य स्रोतसां यत्प्रसाइनम् ।
तस्तसेव्यं प्रश्लेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥ १४ ॥

हृदय स्थित मन की रक्षा में कारण छः अंगों वाले शरीर, बुद्धि आदि का हृदय स्थान है । ओजोवहा घमनियां भी इसी हृदय से निकलती हैं, यही हृदय इनका मूल है । इसलिये ओज की रक्षा करने के लिये मानसिक दुःखों के कारणों से विशेष रूप में बचना चाहिये । जो वस्तु हृदय और ओज के लिये हितकारी हो, एवं मनोवहा आदि स्रोतों को निर्मल करनेवाली हो और शान्ति तथा तत्प्रशान्त को देने वाली हो, उसे प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिये । १३-१४ ।

अथ खल्वेकं प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमेकं बलवर्धनानामेकं बृंहणा-नामेकं नन्दनानामेकं हर्षणानामेकमयनानामिति । तत्राहिंसा प्राणिना प्राणवर्धनानामुत्कृष्टतमं, वीर्यं बलवर्धनानां विद्या बृंहणानां, इन्द्रिय-जयो नन्दनानां, तत्प्रशान्तदौजो हर्षणानां, ब्रह्मचर्यमयनानामित्यायुर्वेद-विदो मन्यन्ते ॥ १५ ॥

सेवन करने योग्य वस्तुएं कहते हैं—प्राणों को बढ़ाने के लिये सबसे उत्कृष्ट वस्तु एक ही है (दूसरा नहीं), बल को बढ़ाने में एक; वृष्य वस्तुओं में उत्कृष्टतम एक, श्रेय समृद्धिकारक हर्षोत्पादक में एक; मोक्षदायक में सबसे श्रेष्ठ वस्तु एक ही है । जैसे प्राणियों के प्राणों को बढ़ाने के लिये अहिंसा सबसे उत्कृष्ट है, बल वर्धकों में वीर्य, बृंहण वस्तुओं में विद्या, श्रेयस्कर वस्तुओं में इन्द्रियों का संयम, हर्षोत्पादक वस्तुओं में तत्प्रशान्त और मोक्ष-दायक वस्तुओं में ब्रह्मचर्य ही सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा आयुर्वेद विद्वान् मानते हैं ॥ १५ ॥

तत्राऽयुर्वेदविदस्तन्त्रस्थानाध्यायप्रश्नानां पृथक्त्वेन वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशः प्रवक्तारो मन्तव्यः ॥ १६ ॥

अत्राऽह-कथं तन्त्रादीनि वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशश्चेत्युक्तानि भवन्तीति । अत्रोच्यते—तन्त्रमार्थं कात्स्येन यथाज्ञायमुच्य-मानं वाक्यशो भवत्युक्तम् । बुद्धया सम्यग्नुप्रविश्यार्थतत्त्वं बाग्मि-ज्वास-समास-प्रतिक्षा हेतूप्राहरणोपनय-निगमन-युक्ताभिज्ञिविष-शिष्य-बुद्धिगम्याभिवृद्धमानं वाक्यार्थशो भवत्युक्तम् । तन्त्रनियतानामर्थ-दुर्गाणा पुनर्विभावनैरुक्तमर्थावयवशो भवत्युक्तम् ॥ १७ ॥

जो पुरुष आयुर्वेद के प्रन्थ, उनके स्थान, प्रसंग, अथवाय, प्रकल्प उनके अवान्तर विषय, वाक्यार्थों और अर्थावयवों का निरूपण कर सकते हैं, उनको आयुर्वेद का ज्ञाता मानना चाहिये । आयुर्वेद के प्रन्थ में वाक्य, अर्थ और अर्थावयव किस प्रकार से कहे जाते हैं ? यह कहते हैं, शूषिकृत तन्त्र को 'अथ' से 'इति' पर्यन्त समस्त ग्रन्थ को पाठकम से पढ़ना वाक्यार्थ होता है । अर्थतः को बुद्धि से भली प्रकार समझ कर वाणी द्वारा व्याप अर्थात् विभाग, समाप्ति, प्रतिशा, हेतु, उदाहरण (इष्टान्त), उपनय^१निगमन^२-तीनों प्रकार (उच्चम मध्यम और अधमकोटि) के शिष्य जिस युक्ति से समझ सकें इस प्रकार से कहना वाक्यार्थशः निरूपण कहाता है । तन्त्र में आये हुए कठिन अर्थों को पुनः पुनः व्याख्यानों द्वारा स्पष्ट करना यह 'अर्थावयवशः निरूपण' होता है ॥ १६-१७ ॥

तत्र चेत्प्रष्टारः स्युः—चतुर्णामृक्षसामयजुरथर्ववेदानां कं वेदमुप-
दिशन्त्यायुर्वेदविदः, किमायुः, कस्मादायुर्वेदः, किं चायमायुर्वेदः,
शाश्वतोऽशाश्वतश्च । कति कानि चास्याङ्गानि, कैश्चायमध्येतन्यः,
किमर्थं चेति ॥ १८ ॥

तत्र भिषजा पृष्ठेनैवं चतुर्णामृक्षसामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथ-
र्ववेदे भक्तिरादेश्या । वेदो ह्यार्थवैणः स्वस्त्ययन-बलि-मङ्गल-होम-नियम-
प्रायश्चित्तोपवास-मन्त्रादि-परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह, चिकित्सा वाऽयुषो
हितायोपदिश्यते ॥ १९ ॥

वेदं चोपदिश्याऽऽयुर्वाच्यं; तत्राऽयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुवन्धो
धारि चेत्येकोऽर्थः ॥ २० ॥

तत्राऽयुर्वेदयतोत्यायुर्वेदः । कथमिति चेदुच्यते—स्वलक्षणवः
सुखासुखतो हिताहितः प्रमाणाप्रमाणतश्च । यतश्चाऽयुष्याण्यना-
युष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयत्यतोऽयुर्वेदः ॥ २१ ॥

तत्राऽयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि केवलेनोपदेश्यन्ते
तन्त्रेण ॥ २२ ॥

यदि कोई पूछे कि शूषिकृत, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थवेद इन चारों
वेदों में से किस वेद को आयुर्वेद कहते हैं । आयुर्वेद का कौन से वेद के साथ
सम्बन्ध है ? आयुर्वेद किस लिये है ? यह आयुर्वेद शाश्वत

१. लिद्धान्तापादितस्य साधनशर्मस्य साध्ये पुनः कथनमुपनयः ।

२. हेतुयाचितसाध्यशर्मकथनं निगमनम् ॥

(निष्ठ) है या अशाश्वत (अनित्य) ? इस आयुर्वेद के कितने और कौन २ से अंग हैं ? आयुर्वेद किन को पढ़ना चाहिये ? और इस आयुर्वेद का प्रयोग क्या है ? वैद्य से इस प्रकार प्रश्न पूछे जाने पर वैद्य को श्रूग्, शुणः, साम और अथर्व इन चारों वेदों में से अथर्व वेद में ही अपनी भक्ति (भद्रा) बतलानी चाहिये । क्योंकि अथर्ववेद ने स्वस्ति-अयन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, वा उपवासदि द्वारा रोग को चिकित्सा कही है । चिकित्सा आयु की मंगल कामना से कही जाती है, आयुर्वेद यह अथर्ववेद का एक भाग है । वेद सम्बन्धी विवेचन करने के पीछे ही आयुसम्बन्धी विवेचन किया जाता है । चैतन्यपरम्परा, जीवित, अनुबन्धन, घारि ये आयु-शब्द के समानार्थवाची हैं । आयुर्वेद किस लिये कहते हैं इसका उत्तर अपने लक्षण से, सुख-दुःख हित-कारी अहितकारी, प्रमाण अप्रमाण एवं आयुर्वेद क और आयुष्यकारक द्रव्योंके गुण कर्म सम्पूर्ण रूपमें कहे जाते हैं, इसलिये, इस शब्द को आयुर्वेद कहते हैं ॥ १८-२२ ॥

तत्राऽयुरुक्तं स्वलक्षणतो यथावद्वैव । तत्र शारीरमानसाभ्यां
रोगाभ्यामनभिदृतस्यानभिमूतस्य च विशेषेण यौवनवतः समर्थन्तु-
गत-बल-बीर्य-यशः-पौरुष-पराक्रमस्य ज्ञान-विज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थ-बल-
समुदाये वर्तमानस्य परमधिं-हचिर-विविधोपभोगस्य समृद्धसर्वारम्भस्य
यथेष्टुविचारिणः सुखमायुरुच्यते, असुखमतो विपर्ययेण । हितैषिणः
पुनर्भूतनां परस्वादुपरस्य सत्यवादिनः शमपरस्य परीक्ष्यकारिणोऽ-
प्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परणानुपहतसुपसेवमानस्य पूजाहसंपूजकस्य
ज्ञान-विज्ञानोपशम-शीलस्य वृद्धोपसेविनः सुनियत-राग राषेष्य-मद-
मान-वेगस्य सततं विविधप्रदानपरस्य तपो-ज्ञान-प्रशम-नित्यस्याभ्यात्म-
विद्वस्त्वरस्य लोकभिमं चामुं चापेक्षमाणस्य स्मृतिमतो हितमायुरु-
च्यते । अहितमतो विपर्ययेण ॥ २३ ॥

आयु का लक्षण (चेतनानुवृत्ति चेतनपरम्परा०) इस स्थान पर कह दिया है । जिस मनुष्य को शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का रोग नहीं, शरीर में तादृश्य भरा है, शरीर में शक्ति, बल, बीर्य और पौरुष, पराक्रम है, ज्ञान, बुद्धि, इन्द्रिय और विषय बलवान् हैं, सम्पत्ति, प्रिय और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ अनुकूल हों, सब कार्यों में जिसको सफलता मिलती हो, स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करने योग्य जो मनुष्य हो, उसकी आयु सुखमय समझनी चाहिये । इसके बिवद दुःखमय समझना । जो मनुष्य सब प्राणियों का कल्याण चाहता

ही, जो दूसरे के बन की इच्छा नहीं करता, सत्थवादी, शान्तमन (चंतोषी), विचार कर कार्य करने वाला, उद्यमी, दूसरे को कहन पहुंचाते, इह प्रकार से जो धर्म, अर्थ, काम का सेवन करता है, पूजा के योग्य पुरुषों का जो पूजन करता है, ज्ञान, विज्ञान, उपशम शील-स्वभाव का, वृद्ध पुरुषों का सत्संग (सेवा) करने वाला, राग, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मान के बेगों को दमन करने वाला, निरन्तर नाना प्रकार के दान देने वाला, तप, ज्ञान में रत एवं सदा शान्त चित्त रहने वाला, आत्मा के चिन्तन में दत्तचित्त, इह लोक परलोक दोनों का ध्यान रखने वाला, उत्तम स्मरण शक्ति वाला जो पुरुष होता है, उसकी आयु हितकारी होती है, इससे विपरीत अहित है ॥ २३ ॥

प्रमाणमायुषस्त्वर्थे निद्र्य-मनो-बुद्धि-चेष्टादीना विकृतिलक्षणैरुपलक्ष्य-
तेऽनिमित्तौः, इदमस्मात्क्षणान्मुहूर्ताद्विवसात्, त्रिपञ्चसमदशद्वादशाहात्प-
क्षान्मासात्पृष्ठमासात्संबत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति । तत्र स्वभावः,
प्रवृत्तेऽपरमो, मरणमनित्यता, निरोध इत्येकोऽर्थः—इत्यायुषः प्रमाण-
मतो विपरीतमप्रमाणम् । अरिष्टाधिकारे देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य
चोपद्विषमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे ॥ २४ ॥

प्रयोजनं चास्य—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्र-
शमनं च ॥ २५ ॥

आयु का प्रमाण, इन्द्रियों के विभग (शब्द स्पर्शादि) मन, बुद्धि, चेष्टा आदि के विकृत लक्षणों से जाना जाता है । लक्षण को देखकर यह कहा जा सकता है कि असुक मनुष्य एक मुहूर्त में, एक क्षण में, एक दिन में, तीन दिन में, पांच दिन में, सात दिन में, बारह, पन्द्रह दिनों में महीने, औः मास में, या साढ़ भर में स्वभाव अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा । स्वभाव, प्रवृत्ति, उपरम, मरण, अनित्यता, निरोध ये शब्द एकार्थवाची पर्याय हैं । यह आयु का प्रमाण है, इसके विपरीत अप्रमाण । अरिष्टाधिकार (इन्द्रियस्थान) में देह, प्रकृति, लक्षणों के अधिकार से आयु का प्रमाण कहेंगे ॥ २४-२५ ॥

सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वास्त्वभावसंसिद्ध-
लक्षणत्वाद्वावस्वाभावनित्यत्वाच्च । न हि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो
बुद्धिसन्तानो वा शाश्वतश्चाऽयुषो वेदिता, अनादि च मुखदुखं
सद्वृथ-हेतु-लक्षणमपरापरयोगात्; एष चार्थसंग्रहो विभावते आयु
र्वेदलक्षणमिति । गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-लक्षणादीना च इन्द्राना
सामान्यविशेषाभ्यां बृद्धिहासौ; यथोक्तम् । गुरुभिरङ्ग्यस्वमानेगुरुलक्षण-
मुपचयो भवत्यपचयो लघूनामेवेतरेषामित्येष भावस्वभावो नित्यः,

स्वलङ्घणं च द्रव्याणा पृथिव्याहीना । सन्ति तु सर्वदा गुणात् नित्या-
नित्याः । न आयुर्वेदस्यामृत्वत्स्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यद्वावदोषोपदे-
शाल्याम् । एतद्वै द्रव्यमधिकृत्योत्पत्तिमुपविशन्त्येके । स्वाभाविकं चात्म-
लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिह चाऽऽश्वेत्याये—यथाऽन्नेरौध्यमपां द्रवत्वम् ।
भावस्वभावनित्यत्वमपि चात्म यथोक्तं गुहमिरभ्यस्यमानैर्गुरुकृष्णा-
मुपचयो भवत्यपचयो छूनामित्येवमादि ॥ २६ ॥

यह आयुर्वेद नित्य है, ऐसा माना जाता है । उसके तीन हैं, १.
अनादि होने से, २. स्वभाव सिद्ध होने से, ३. पदार्थों के गुण, धर्म नित्य होने
से । इसका विस्तार से वर्णन करते हैं । आयुर्वेद में आयुध का प्रतिपादन
किया है और सर्वदा ही आयु की परम्परा सन्तान-न्याय से चली आ रही है
(बिना आयु के कोई नहीं हुआ) । इसी प्रकार बुद्धि की परम्परा भी अनादि
काळ से चली आ रही है । (एक मरता है, दूसरा जीवित रहता है इस प्रकार
से आयु की परम्परा चली आरही है) इसलिये आयुष्यादि प्रतिपाद्य विषय अनादि
है । इसको प्रतिपादन करने वाला आयुर्वेद भी अनादि है । आयुर्वेद उपकरण
और आयुष्य उपकार्य है । बिना उपकरण के कार्य नहीं रह सकता । इसी
प्रकार बुद्धि के भी अनादि होने से आयुर्वेद का ज्ञान भी अनादि है और
इस ज्ञान को जानने वाले भी अनादि हैं । दूसरा आरोग्यता या रोग को उत्पन्न
करने वाले, अथवा रोग के लक्षण, कारण, चिकित्सा आयुर्वेद में प्रतिपादन
किये हैं और वे अनादि है । क्योंकि सुख-दुःख अनादि काल से चला आ रहा
है, इसलिये इनको प्राप्त तथा नाश करने के भी उपाय अनादि होने चाहिये ।
तीसरी गुरु, हल्का, ठण्ठा, गरम, स्तिर्ध, रुक्ष पदार्थों के ये गुण धर्म भी
नित्य हैं, इसलिये इन गुण धर्मों को बताने वाला आयुर्वेद भी नित्य है । पृथि-
व्यादि पञ्च महाभूतों के गुण धर्म नित्य हैं, परन्तु इनसे बने पदार्थ अनित्य हैं ।
इसी प्रकार मिट्टी नित्य और मिट्टी से बना घड़ा अनित्य है । इस प्रकार से
मनुष्य-शरीर को बनाने वाले परिणाम नित्य हैं । और इस परिणाम रूप निर्माण
किया को बताने वाला आयुर्वेद भी नित्य है । आयुर्वेद का एक समय
अस्तित्व नहीं था, उत्पन्न हुआ है ऐसा कहीं पर सुनने में नहीं आता । जहाँ
पर भी आयुर्वेद का प्रादुर्भाव किला है, वहाँ पर इसका अवेष वा उपरेष्ठ
रूप से प्रतिपादन किया है कि इन्द्र के उपरेष्ठ से भरद्वाज मूलि मृत्यु लेके में
आयुर्वेद को बाये, यह उपरेष्ठ और ब्रह्मा के अन्दर जो ज्ञान का उदय हुआ
वही इसको उपरेष्ठ है । आयुर्वेद स्वाभाविक एवं अकृतक है । जैसा कि

पहले अथाय में कहा है (हिताहितं सुखदुर्लं०) । अग्नि में उष्णिमा और पानी में तरलता स्वाभाविक है, बनाई हुई नहीं है इसी प्रकार आयुर्वेद भी स्वाभाविक है । भाव, अर्थात् स्वभाव के अकृत अर्थात् स्वाभाविक होने से भी आयुर्वेद नित्य है । यथा—गुरु पदार्थों के उपसेवन से गुष्टता बढ़ती है । और लघु पदार्थों के उपसेवन से शरीर में लघुता बढ़ती है । इसलिये आयुर्वेद भी नित्य है ॥ २६ ॥

तस्याऽयुर्वदस्याङ्गान्यष्टौ । तद्यथा—कायचिकित्सा, शाळाक्यं शल्यापहर्तृकं, विष-गर-वैरोधिक-प्रशमनं, भूतविद्या, कौमारभृत्यकं, रसायनानि, वाजीकरणमिति ॥ २७ ॥

इस आयुर्वेद के आठ अंग हैं । (१) काय चिकित्सा, (२) शाळाक्य, (३) शल्यापहर्तृक, (४) विष-गर-वैरोधिक-प्रशमन, (५) भूतविद्या, (६) कौमार-भृत्यक, (७) रसायन और (८) वीजीकरण ये आठ अंग हैं ॥ २७ ॥

स चाध्येतत्यो ब्राह्मण-राजन्य-वैश्यैः । तत्रानुग्रहार्थं प्राणिनां ब्राह्मणेरात्मरक्षार्थं राजन्यैर्वृत्यर्थं वैश्यैः, सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिप्रहार्थं सर्वैः । तत्र च यद्ध्यात्मविदां धर्मपथस्थापकानां धर्मप्रकाशकानां वा मातृ-पितृ-बन्धु-गुरु-जनस्य वा विकारप्रशमने प्रयत्नवान् भवति यच्चाऽयुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुध्यायति वेदव्यत्यनुविधीयते वा सोऽस्यस्य परो धर्मः । या पुनरीश्वराणां बसुमर्ता वा सकाशात्सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्थावाप्तिरारक्षणं च या च स्वपरिगृहीतानां प्राणिनामातुर्यादारक्षासोऽस्यार्थः । यत्पुनरस्य विद्वद्भ्रह्मण्यशः-शरण्यत्वं च, या च संमानशुश्रूषा, यच्चेष्टानां विषयाणामारोग्यमाधन्ते, सोऽस्य काम इति यथाप्रश्नमुक्तमशेषेण ॥ २८ ॥

यह आयुर्वेद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों को पढ़ना चाहिये । ब्राह्मणों को प्राणियों का भला करने के लिये, क्षत्रियों को अपनी रक्षा के लिये, वैश्यों को वृत्ति अर्थात्, जीविकोपार्जन के लिये पढ़ना चाहिये । अथवा धर्म, अर्थ, काम रूपी पुरुषार्थों के उद्देश्य से ही सब को पढ़ना चाहिये । इनमें जो तत्त्वज्ञान को जानने वाले, धर्मसंस्थापक, धर्मोपदेशक, माता, मिता, भाई बन्धु, पुरजनों के रोगों को दूर करने में प्रयत्नशोल होता है और जो पढ़े हुये आयुर्वेद को दूसरों को पढ़ाता है, बतलाता है, वैसा करता है, वह इस का सर्वोत्तम धर्म है । राजाओं या रईसों, सेठों से आरोग्यता प्रदान करने पर जो धन की प्राप्ति होती है, आत्मरक्षा होती है, इसी प्रकार अपने आभ्यजीवी नौकर चाकर आदि को रोग मुक्त करता है वह इसका सर्वोत्तम अर्थ है । विद्वान् कोगों द्वारा

प्राप्त यथा, कीर्ति, सब लोगों का शरण में आना, आभयप्रदाता होना, आदर सत्कार लोगों से प्राप्त होना, प्रिय विषयों में आरोग्यता का प्राप्त होना वह इसका सर्वोच्चम् काम है। इस प्रकार सब प्रश्नों का पूरा २ उत्तर देविया ॥२८॥

अथ भिषगादित एव भिषजा प्रष्टव्योऽष्टविधं भवति । तथा—तन्त्रं तन्त्रार्थं स्थानानि स्थानार्थानस्यायानस्यायार्थान् प्रश्नार्थां अतेरि । पृष्ठेन चैतद्रुक्तव्यमशेषेण वाक्यशो वाक्यार्थशोऽर्थावयवशक्तेति ॥ २९ ॥

वैद्य परीक्षा के लिये वैद्य से आठ प्रश्न पूछे । यथा तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान स्थानों के अर्थ, अध्याय और अध्याय के अर्थ, प्रश्न और प्रश्नार्थ । पूछे जाने पर वैद्य को सम्पूर्ण रूप से वाक्य, वाक्यार्थ, अर्थावयव रूप से पूर्णतया कहना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्राऽयुर्वेदः शास्त्रा विद्या सूत्रं ज्ञानं शाखं लक्षणं तन्त्रमित्य-
नर्थान्तरम् ॥ ३० ॥

तन्त्रार्थः पुनः स्वलक्षणैरुपदिष्टः, स चार्थः प्रकरणैर्विभाव्यमानो
भूय एव शरीर-वृत्ति-हेतु-व्याधि-कर्म-कार्य-काल-कर्तुं-करण-विधि-विनि-
श्चाहशप्रकरणः, तानि च प्रकरणानि केवलेनोपदेश्यन्ते तन्त्रे ॥३१॥

इसमें आयुर्वेद, शास्त्रा, सूत्र, ज्ञान, शाखा, लक्षण व तन्त्र ये सब एकार्थ-
वाची शब्द हैं । तन्त्र का अर्थ “आयुर्वेद्यतीत्यायुर्वेदः” आयु-जिससे जानी जाती
है वह आयुर्वेद-इस प्रकार अपने लक्षणों से कह दिया । हित आहित आयुरूप
लक्षण है और यह अर्थ प्रकरण मेद से बहुत प्रकार का है । यथा शरीर (पञ्च
महाभूतों का समुदायरूप होने से अवयवादि मेद से बहुत प्रकार का है),
हेतु (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रशापराध, परिणाम), व्याधि (बातुवैषम्य),
कर्म (चिकित्सा), कार्य (आरोग्यता), काल (श्रृङ्ग आदि), कर्त्ता (भिषक्),
करण (मेषज), विधि (उपकल्पना विधान जिसे काल, द्रव्य और व्याधि
की अपेक्षा से समझना चाहिये) । इन प्रकरणों से ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से भली
प्रकार सुगठित होता है । ये प्रकरण तन्त्र में सम्पूर्ण रूप से कहे जावेंगे ३०-३१

तन्त्रस्यास्यार्थौ स्थानानि । तथा—इलोक-निदान-विभान-शारीरे-
निद्र्य-चिकित्सित-कल्पसिद्धि-स्थानानि । तत्र त्रिंशदध्यायकं इलोकस्थानं
आष्टाध्यायकानि निदान-विभान-शारीरस्थानानि, द्वादशकमिन्द्रियाणां,
त्रिंशकं चिकित्सितानां द्वादशके कल्पसिद्धिस्थाने इति ॥ ३२ ॥

इस तन्त्र के आठ स्थान हैं यथा—१. सूत्र (लोक) स्थान, २. निदान-
स्थान, ३. विभानस्थान, ४. शारीरस्थान, ५. इन्द्रियस्थान, ६. चिकित्सास्थान,

७. स्लोकस्थान और ८. सिद्धिस्थान। इनमें स्लोकस्थान ३० अध्यायों का, निदान, विमान और शारीरस्थान, आठ २ अध्यायों के हन्दियस्थान वारह का चिकित्सास्थान तीव्र का, कल्प और सिद्धिस्थान वारह २ अध्यायों के हैं ॥१२॥

भवन्ति चाच्र—

द्वे त्रिंशके द्वादशकत्रयं च त्रीण्यष्टुकान्येषु समाप्तिरुक्ता ।
 इलोकौषधारिष्ट-विकल्प-सिद्धि-निदान-मानाश्रय-संज्ञकेषु ॥३३॥

स्वे स्वे स्थाने यथास्वे च स्थानार्थं उपदेश्यते ।
 सर्विंश्मध्यायशतं शृणु नामकमागतम् ॥ ३४ ॥

दीर्घखीवोऽप्यपामागतण्डुलारवधादिकौ ।
 षड्विरेकाश्रयश्चेति चतुष्को भेषजाश्रयः ॥ ३५ ॥

आत्रातस्याशितीयौ च न वेगान्वारणं तथा ।
 इन्द्रियोपक्रमश्चेति चत्वारः स्वास्थ्यवृत्तिकाः ॥ ३६ ॥

खुड़ाकश्च चतुष्पादा महास्तिस्तेषणस्तथा ।
 सह वातकलाख्येन विद्यान्दिनें शिकान् बुधः ॥ ३७ ॥

स्नेहनस्वेदमाध्यायाबुभौ यशोपकल्पनः ।
 छिकित्साप्राभृतश्चैव सर्वा एवापकल्पनाः ॥ ३८ ॥

क्षियन्तः शिरसीयश्च त्रिशोफाष्टोद्रादिकौ ।
 रोगाध्याया महाश्वेत रोगाध्यायचतुष्टयम् ॥ ३९ ॥

अष्टौनिन्दितसंख्यातस्तथा लंबनतपेणौ ।
 विधिशोणितकश्चेति व्याख्यातास्तत्र योजनाः ॥ ४० ॥

यज्जः पुरुषसंख्यातो भद्रकाप्याभपानिकौ ।
 विविधाशितपीतीयश्वत्वारोऽन्नविनश्चयै ॥ ४१ ॥

दशप्राणायतनिकस्तथाऽयैदशमूलिकः ।
 द्वौ वेतौ प्राणदेहायौ प्रांकौ वैद्यगुणाश्रयौ ॥ ४२ ॥

औषधस्वस्थनिन्देशकल्पनारोगयोजनाः
 चतुष्काः षट्क्रमेणाकाः सप्तमाभ्यापानिकः ॥ ४३ ॥

द्वौ चान्यौ संप्रहाध्यायाविति त्रिंशत्कर्मर्थवत् ।
 स्लोकस्थानं समुद्दिष्टं तन्त्रस्थास्य शिरः शुभम् ॥ ४४ ॥

चतुष्काणां महार्थांनां स्थानेऽस्मिन् संप्रहः कृतः ।
 श्लोकार्थः संप्रहार्थश्च स्लोकस्थास्यमतः स्मृतम् ॥ ४५ ॥

इस प्रन्थ में तीव्र तीव्र अध्याय के द्वय और चिकित्सास्थान हैं । वरह २

अध्याय के तीन अरिष्ट (इन्द्रिय), कल्प और लिङ्गि स्थान, आठ २ अध्याय के निदान, विमान और शारीर ये तीन स्थान हैं। श्लोक, औषध, अरिष्ट, विकल्प, लिङ्गि, निदान, विमान और आश्रव नामक १२० अध्यायों में ग्रन्थ समाप्त हुआ है। अपने २ स्थान में यथायोग्य स्थानों का उपदेश तत्त्वार्थ सहित कहेंगे। इन १२० अध्यायों के क्रम से नाम सुनो—

दीर्घजीवितीय, अपार्मार्गतण्डलीय, आरबधीय, षड्विरेचनघाताभितीय, इन चार अध्यायों में 'ओषध-चतुष्क' का निरूपण किया है। मात्राशितीय, तस्याशितीय, नवेगान्धारणीय और इन्द्रियोंपक्षमणीय ये चार स्वास्थ्य-चतुष्क हैं। खुद्गाकचतुष्पाद, महाचतुष्पाद, तिक्षेणीय और वातकाळाकाळीय ये चार निर्देश चतुष्क (कर्तव्य अकर्तव्य विषयक) हैं। स्नेहन, स्वेदन, उपकल्पनीय और विकित्सा प्रामृतीय ये चार कल्पनाचतुष्क हैं। कियन्तःविरतीय, त्रिशोषीय, अष्टोदरीय, महारोगाध्याय—ये चार रोगचतुष्क हैं। अष्टोनिनिदतीय लंघन-बृहस्पीय सन्तप्तीय और विविधशोणितीय ये चार योजनाचतुष्क हैं। यज्ञःपुष्पीय, आत्रेयमद्रकाप्तीय, अन्नपानीय, विविधाशितपीतीय ये चार अन्नपान-चतुष्क हैं। दश प्राणायतनीय और अर्थ-दशमहामूलीय इन पिछले दोनों अध्यायों में प्राण, आज, धमनी और वैद्यों के गुणों का निरूपण किया है। इस प्रकार से इस सूत्रस्थान में ओषध-चतुष्क, स्वास्थ्य-चतुष्क; निर्देश-चतुष्क, कल्पना-चतुष्क; रोग-चतुष्क; योजना-चतुष्क, अन्नपान-चतुष्क तथा पहले दो अध्यायों में इन अडाईस अध्यायों की सूची है। इस प्रकार से सूत्रस्थान के तीस अध्यायों में इन विषयों का वर्णन किया है। जिस प्रकार मनुष्य के सब अंगों में श्रेष्ठ मस्तिष्क है उसी प्रकार से सब ग्रन्थों में यह श्रेष्ठ है। इस सूत्र स्थान में उपयोगी चतुष्कों का संग्रह किया है। श्लोक रूप में संग्रह होने के कारण इसको 'श्लोकस्थान' कहते हैं ॥ ३३-४५ ॥

ज्वरनिदानं रक्पित्तस्य गुल्मानां मेहकुष्ठयोः ।

शोषोन्मादनिदाने च स्यादपस्मारिणां च यत् ॥ ४६ ॥

इत्यध्यायाण्टकमिदं निदानस्थानमुच्यते ।

ज्वर निदान, रक्पित्त निदान, गुल्म निदान, प्रमेह निदान, कुष्ठ निदान, शोष निदान, उन्माद निदान और अपस्मार निदान—ये आठ अध्याय निदान-स्थान में हैं ॥ ४६ ॥

रसेषु त्रिविषे कुष्ठौ वर्षसे जनपदस्य च ॥ ४७ ॥

त्रिविषे रोगविज्ञाने लोतःस्वपि च वर्तने ।

रोगानीके व्याधिरूपे रोगाणा च भिषग्जाये ॥ ४८ ॥
अष्टौ विमानान्युक्तानि मानार्थानि महर्षिणा ।

विमान स्थान में रस विमान, विविधकुम्भीय, जनयदेवध्वंसनीय, विविधरोग-विशेषविज्ञानीय, स्रोतविमान, रोगानीक, व्याधिरूपीय और रोगभिष-जितीय—ये आठ अध्याय हैं ॥ ४९-५८ ॥

कतिधापुरुषीयं च गोत्रेणातुल्यमेव च ॥ ४९ ॥
खुड़ीका महत्ते चैव गर्भाबक्तान्तिरुच्यते ।
पुरुषस्य शरीरस्य विच्छयौ द्वौ विनिश्चितौ ॥ ५० ॥
शरीरसंख्या सूत्रं च जातेरष्टमुच्यते ।
इत्युहिष्टानि मुनिना शारीराण्यत्रिसूनुना ॥ ५१ ॥

शरीर स्थान में कतिधापुरुषीय, अतुरुणगोत्रीय, खुड़ीकागर्भाबक्तान्ति, पुरुष-विच्छय, शारीरविच्छय, शारीरसंख्या और जातिसूत्रीय ये आठ अध्याय हैं ॥ ५१-५१।
वर्णस्वरीयः पुष्पाख्यस्तृतीयः परिमर्षणः ।
तथैव चेन्द्रियानीकः पूर्वरूपोऽप्यवाक्शिराः ।
कतमानिशरीरीयः पञ्चरूपोऽप्यवाक्शिराः ।
यस्य इयावनिमित्तश्च सद्योभरण एव च ॥ ५३ ॥
अणुज्योतिरिति ख्यातस्तथा गोमयचूर्णवान् ।
द्वादशाध्यायकं स्थानमिन्द्रियाणां प्रकीर्तिम् ॥ ५४ ॥

वर्णस्वरीय, पुष्पितक, परिमर्षणीय, इन्द्रियानीक, पूर्वरूपीय, कतमानि शरीराणि, पञ्चरूपीय, अवाक्शिरसीय, यस्यश्यावनिमित्तीय, सद्योभरणीय, अणु-ज्योतीय और गोमयचूर्णीय ये बारह अध्याय इन्हींस्थान में हैं ॥ ५२-५४ ॥

अभयामलकीयं च प्राणकामीयमेव च ।
करप्रचितिकं वेदसमुत्थानं रसायनम् ॥ ५५ ॥
संयोगशरमूलीयमासक्कक्षीरिकं तथा ।
माषपर्णभृतीयं च पुमाङ्गातबलाद्विकम् ॥ ५६ ॥
चतुष्कद्रूयमप्येतद्ध्यायद्रूयमुच्यते ॥
रसायनमिति ज्ञेयं बाजीकरणमेव च ॥ ५७ ॥
ज्वराणा रक्तपित्तस्य गुल्माना मेहकुष्ठयोः ।
शोषोन्मादेऽप्यप्स्मात्क्षत-शोफोदरार्शसाम् ॥ ५८ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगाणां इवासकासातिसारिणाम् ।
छविद्वीर्पतुष्णानां विषमध्यविकारिणाम् ॥ ५९ ॥

द्वितीयं त्रिमर्मायमूहस्तमिकमेव च ।

वातरोगे वातरके योनिव्यापदि चैव चत् ॥ ६० ॥

त्रिशशिकित्सितान्युक्त्वाऽन्यतः कल्पान् परं शृणु ।

अभयामलकीय, प्राणकामीय, करप्रचितीय, आयुर्वेदसमुत्थानीय, संयोग-
शरमूलीय, आसिक्तक्षीरीय, माषपर्ण, पुमाञ्जातबलादिक इन मिन्न २ आठ
प्रकरणों के दो अध्याय हैं। इनमें पहिले चार प्रकरणों में रसायनाभ्याय और
दूसरे चार में वाजीकरणाभ्याय कहा है। इसके पीछे व्याचिकित्सा, रक्पित्त-
चिकित्सा, गुल्म-चिकित्सा, प्रमेह-चिकित्सा कुष्ठ, शोष, उन्माद, अपस्मार,
उरःश्वत, शोफ, उदर, अर्श, ग्रहणी, पाण्डुरोग, श्वास, कास, अतीसार, छर्दि,
बीसर्प, तृष्णा, विषरोग, मध्यरोग, द्विव्राणीय, लिमर्मीय, ऊहस्तम्भ, वातव्याधि, वात-
रक इस प्रकार से कुल मिलाकर चिकित्सा स्थान में तीस अध्याय हैं ॥ ५५-६० ॥

फलजीमूतकेद्वाकु-कल्पो धामार्गवस्थ च ॥ ६१ ॥

पञ्चमो वत्सकस्योक्तः पष्ठश्च कृतवेधने ।

इयामात्रिवृतयोः कल्पस्तथैव चतुरहुळे ॥ ६२ ॥

तिल्वकस्य सुधायाश्च सप्तलाशङ्किनीषु च ।

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पश्च द्वादशोऽयं समाप्यते ॥ ६३ ॥

मदनफलकल्प जीमूतकल्प, ईश्वाकुकल्प, धामार्गवकल्प, वत्सक-
कल्प, कृतवेधनकल्प, इयामात्रिवृत्कल्प, महावृक्षकल्प, सप्तलाशंखिनीकल्प, और
दन्तीद्रवन्तीकल्प ये बारह अध्याय कल्पस्थान में हैं ॥ ६१-६३ ॥

कल्पना पञ्चकर्माख्या वस्तिमूत्रा तथैव च ।

स्नेहव्यापदिकी सिद्धिनेत्रव्यापदिकी तथा ॥ ६४ ॥

सिद्धिः शोधनयोश्चैव वस्तिसिद्धिस्तथैव च ।

प्रासृती रम्ससंख्याता सिद्धिर्बस्त्याश्रया च या ॥ ६५ ॥

फलमात्रा तथा सिद्धिः सिद्धिओत्तरसंज्ञिता ।

सिद्धयो द्वादशैवैतास्तन्त्रं चासु समाप्यते ॥ ६६ ॥

सिद्धिस्थान, कल्पसिद्धि, पंचकर्माय सिद्धि, वस्तिसूत्रीय सिद्धि, स्नेहव्याप-
दिक सिद्धि, नेत्रव्यापदिक सिद्धि, वमनविरेचन-व्यापदिकसिद्धि, वस्तिव्यापदिक
सिद्धि, प्रसूतयोगिकसिद्धि, त्रिमर्माय सिद्धि, वस्ति सिद्धि, फलमात्र सिद्धि, और
उत्तर सिद्धि—ये बारह अध्याय सिद्धि स्थान में हैं। इस प्रकार से यह ग्रन्थ
उमास होता है ॥ ६५-६६ ॥

स्वे स्वे स्थाने तथाऽन्याये चाभ्यायार्थः प्रवक्ष्यते ।

तं ब्रूयात्सर्वतः सर्वं यथास्वं शर्थसंप्रहात् ॥ ६७ ॥

प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषयों का निरूपण संग्रह रूप से प्रत्येक अध्याय के अन्त में दे दिया है और जो मुख्य विषय आया है, उसको स्थान ३ पर संक्षिप्त रूप से फिर कह दिया है। इसलिये एक अध्याय का वर्णन जो यत्र आया है, वह सब वर्णन उसी एक अध्याय का समाप्तना चाहिये ॥ ६७ ॥

पृच्छा तन्त्राध्यायाम्भायं विधिना प्रश्न उच्यते ।

प्रश्नार्थं युक्तिमास्तत्र तन्त्रेणैवार्थनिश्चयः ॥ ६८ ॥

निहक्तं तन्त्रान्तात्तन्त्रं स्थानमर्थप्रतिष्ठया ।

अधिकृत्यार्थमध्यायायनामसंज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६९ ॥

इति सर्वं यथाप्रभमष्टकं संप्रकाशितम् ।

कात्स्न्येन चोक्तस्तन्त्रस्य संग्रहः सुविनिश्चितः ॥ ७० ॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ करने में सामान्य विशेष रूप से अथवा पूर्वापरविरोध से रहित जो विचार करना है उसका नाम 'प्रश्न' और विचार पूर्वक किये हुए प्रश्न का शास्त्र के आधार से युक्तपूर्वक जो निर्णय है उसका नाम 'प्रश्नार्थ' है। जिसमें अनेक विषय एक साथ में एकत्र किये गये हों उसका नाम 'तन्त्र' है। तन्त्र अर्थात् शास्त्र में मुख्य मुख्य विषयों में से एक एक भाग को जो पृथक् दृथक् लेकर प्रतिपादन किया है उसका नाम 'अध्याय' है (जैसे—दीर्घ-जीवितीय, अपार्मार्गतण्डुलीय-इत्यादि प्रत्येक विषय के अनुक्रम में निर्दिष्ट भाग का नाम अध्याय है)। इस प्रकार तन्त्र, तन्त्रार्थ, स्थान स्थानार्थ आदि जो आठ प्रश्न, किये उनका उत्तर दे दिया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ का संक्षेप है ॥ ६८-७० ॥

सन्विपाळविकोत्पाताः संक्षेपं जनयन्ति ये ।

वर्तकानामिवोत्पाताः सद्वैवाविभाविताः ॥ ७१ ॥

तस्मात्तान् पूर्वसंज्ञये सर्वत्राष्टकमादिशेत् ।

परावरपरीक्षार्थं तत्र शास्त्रविदां बलम् ॥ ७२ ॥

शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः ।

भ्रमन्त्यलपब्लास्तन्त्रे ज्याशज्जेनैव वर्तकाः ॥ ७३ ॥

पशुः पश्नां दीर्घल्यात्कञ्चित्प्रमध्ये वृक्यायते ।

सस्त्वं वृक्मासाद्य प्रकृतिं भजते पशुः ॥ ७४ ॥

तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्यः कञ्चिन्मौखर्यसाधनः ।

स्थापयत्याप्नामात्मानमासैं त्वासाद्य भिष्यते ॥ ७५ ॥

बभ्रुमूढ इवोर्णभिरद्विद्विरक्षुश्रुतः ।

किं व ब्रह्मति संज्ञये कुण्डमेदी जडो यथा ॥ ७६ ॥

कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जो शास्त्र के थोड़े से भाग को पढ़कर विषयोंमें उत्तम करते हैं। सहसा उक्तकर जिस प्रकार बटेर पक्षी उत्तमत करने लगते हैं, उसी प्रकार ये अर्धपठित वैद्य भी उत्तमत किया करते हैं। इसलिये प्रथम जल्य (बाद-विवाद में) तन्न, तन्नार्थ आदि आठ प्रश्नों को पूछना चाहिये। अपने से थोड़ा या हीन की परीक्षा करने के लिये यही आठ प्रश्न अलगी शास्त्र को जानने वालों के बहु हैं। थोड़े बल वाले, जिन्होंने शास्त्र का कुछ योड़ा सा भाग ही देखा होता है वे इन प्रश्नों से इस प्रकार से भाग लड़े होते हैं जिस प्रकार घनुष की डोरी की टंकार से बटेरे भाग जाते हैं। जैसे कोई पशु निर्बल पशुओं में अपने को भेदिया मानकर बोलने लगता है, परन्तु जब कोई बलवान् पशु सामने आ जाता है, तब वह पुनः अपने असली रूप में आजाता है, वह जो होता है वही बन जाता है। इसी प्रकार अपने मुख से प्रशंसा करने वाला मूर्ख मूर्खों में बैठकर अपना पाण्डित्य दिखाने लगता है, परन्तु जब कोई पण्डित विद्वान् सामने आखड़ा होता है, तब यह अबुद्धि मूढ़, अबहुश्रुत, कुण्डमेदी (दुष्प्रश्न्योनि), जह मूर्ख, बाद प्रतिवाद में क्या कहेगा? कुछ भी नहीं। जिस प्रकार मकड़ी के जाल में फंसा कीड़ा कुछ नहीं कर सकता उसी प्रकार यह मूढ़ भी विद्वान् के सामने कुछ नहीं कर सकता ॥ ७१-७७ ॥

सदवृत्तन विगृहीयाद्विषगल्पश्रुतैरपि ।

हन्यात्प्रश्नाष्टकेनादावितरांस्वात्ममानिनः ॥ ७९ ॥

दम्भिनो मुखरा शङ्काः प्रभूतावद्भाषिणः ।

प्रायः प्रायेण सुखाः सन्तो युक्ताल्पभाषिणः ॥ ८० ॥

तत्त्वज्ञानप्रकाशार्थमहङ्कारमनाश्रिताः ।

परन्तु जो निरभिमानी सबे वैद्य हो वे यदि योड़े भी पढ़े लिखे हों तो भी उनके साथ शिष्टाचार, समानपूर्वक बरतना चाहिये और जो आत्माभिमानी हो उनको इन आठ प्रश्नों से परास्त करना चाहिये। ऐसे पुरुष प्रायः दम्भी, अपनी मुख से अपनी श्लाघा करने वाले, मूर्ख, बहुत एवं असम्बद्ध, प्रतिगरहित बोलने वाले होते हैं और जो अच्छे विद्वान् होते हैं वे योड़ा और उचित प्रसंग में ही बोलते हैं, वे तत्त्वज्ञान का प्रकाश करने के लिये बोलते हैं और अहंकार का आभय नहीं ले रहे हैं ॥ ७७-७८ ॥

त्वत्पादाराङ्गमुखरान्मर्वयेऽविवादिनः ॥ ७९ ॥

परौ भूतेष्वनुकोशस्तत्त्वज्ञाने परा दया ।

येषां तेषामसद्वादिनभ्रहे निरता मरिः ॥ ८० ॥

परन्तु जो अपने तत्त्वज्ञान को दिखाने के लिये अक्षयकार के छात्र आये हों, जो योके पढ़े हों, उन मूर्ख आत्मप्रशंसकों की कमो उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । जिनकी ग्राणीमात्र पर कृपा और तत्त्वज्ञान में देश है उनकी असत्-वाद के रोकने में सदा मति रहती है । क्योंकि इस प्रकार न करने से असद् वैद्यों को उच्चेजन मिळकर संसार का अपकार होता है । इसलिये इनको निग्रह करने में सदा तप्तर रहना चाहिये ॥ ७६-८० ॥

असत्पक्षाक्षणित्वातिदम्भपारुष्यसाधनाः ।

भवन्त्यनामाः स्वे तन्त्रे प्रायः परविकत्यकाः ॥ ८१ ॥

तान् कालपाशसद्शान्वर्जयेच्छाक्षदूषकान् ।

प्रशम-ज्ञान-विज्ञान-पूर्णाः सेव्या भिषक्तमाः ॥ ८२ ॥

खोटे (असत्) पक्ष को लेकर विवाद करना, मुक्तको समय नहीं है, फिर पूछना ऐसा बहाना करने वाले, पूछने पर शिर ढुकता है, दाम्भिक, पूछने पर गुस्से या जोर से उत्तर दे और दूसरों को व्यर्थ निन्दा करने वाले अपने तन्त्र में अनभिज्ञ होते हैं । इस प्रकार के शास्त्र को बदनाम करने वालों को मृत्यु के फासों के समान दूर से ही छोड़ देना चाहिये । जो शान्त, ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण हो ऐसे उत्तम वैद्यों की सेवा करनी चाहिये ॥ ८१-८२ ॥

समग्रं दुःखमायत्तमविज्ञाने द्रव्याश्रयम् ।

सुखं समग्रं विज्ञाने विमले च प्रतिष्ठितम् ॥ ८३ ॥

इदमेवमुदारार्थमज्ञानार्थप्रकाशकम् ।

शास्त्रं दृष्टिप्रनष्टानी यथैवाऽदित्यमण्डलम् ॥ ८४ ॥ इति ।

सब प्रकार के दुःखों का कारण शारीरिक और मानसिक ज्ञान का अभाव है । शरीर और मन समन्वयी ज्ञान न होने से सब रोग होते हैं । इन दोनों के विषुद्ध ज्ञान से सम्पूर्ण सुख-आरोग्य मिलता है । यह शास्त्र अति गम्भीर, दोनों लोकों में हितकारी अर्थ को बताता है, तथा अशात वस्तु को प्रकाशित करता है, परन्तु जिस प्रकार नेत्रहीन पुरुष चमकते हुए सर्व का कुछ भी उपयोग नहीं कर सकता, इसी प्रकार शास्त्रहीन व्यक्तियों के लिये यह कुछ काम नहीं हो सकता ॥ ८३-८४ ॥

तत्र श्लोकाः—अर्थं दृश्य महामूलाः संक्षेपं वैचाच यथा कृता ।

अयनान्ताः ग्रहमयाक्षरूपं वेदविदां च यत् ॥ ८५ ॥

सप्तकञ्चाष्टकञ्चैव परिप्रश्नः सनिर्णयः ।

यथा वाच्यं वद्यथं च यद्विवाच्यैकदेशिङ्गाः ॥ ८६ ॥

अये दशमहामूले सर्वमेतत्प्रकाशितम् ।
 संग्रहायामध्यायस्तत्त्वास्यैव केषवः ॥ ८७ ॥
 यथा सुमनसा सूत्रं संप्रहार्थं विधीयते ।
 संग्रहार्थं तथाऽर्थानामूचिणा संग्रहः कृतः ॥ ८८ ॥

इदय से समन्वित दस घमनियों, 'महामूला' इस संज्ञा होने के कारण, आयुवर्द्धक, छः उत्तम उपाय, आयुर्वेद का स्वरूप, सात व आठ प्रश्न विशेष, वाक्यांश, अर्थांश, निर्णय और अधूरे वैद्य, इतने विषयों का निरूपण इस 'अये दशमहामूलीय' अध्याय में किया है । इस ग्रन्थ में वर्णित सब विषयों का संक्षिप्त निरूपण भी इस अध्याय में किया है । जिस प्रकार कि फूलों की माला को गूंथने के लिये सूत्र की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सब विषयों का संग्रह करने के लिये श्रूति ने यह सूत्र (सूत्रस्थान) बनाया है ॥ ८५-८८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते सूत्रस्थाने अये दशमहामूलीयो
 नाम त्रिदशमोऽध्यायः ॥ ३० ॥
 अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इयताऽवधिना सर्वे सूत्रस्थानं समाप्तते ॥

इति सूत्रस्थानं समाप्तम् ।



निदानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्ते भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे ज्वरनिदान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

इह खलु हेतुनिमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदान-
मित्यनर्थान्तरम् । तत्त्विविधं-असात्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः
परिणामश्चेति ॥ ३ ॥

निदान के पर्याय—इस निदान स्थान में हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता
कारण, प्रत्यय, समुत्थान ये निदान शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं । निदान
अर्थात् रोगों को उत्पत्ति का कारण तीन प्रकार का है, १. असात्येन्द्रियार्थ-
संयोग, २. प्रज्ञापराध (बुद्धि का दोष) और ३. परिणाम (काल) ॥ ३ ॥

अतुख्तिविधिकल्पा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्यग्रेय-सौम्य-वायव्याः ।
द्विविषाक्षापरे राजसास्तामसाक्ष । तत्र व्याधिरामयो गद आतहो
यहमा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

इसलिये रोग भी तीन प्रकार के ही होते हैं । १. आग्नेय (पित्तजन्य)
२. सौम्य (कफजन्य), और ३. वायव्य (वायुजन्य) । ये शारीरिक रोग के

१. जिससे रोग जाना जाय उसका नाम 'निदान' है ।

'निदित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्' ॥ जैबट ॥

२. संक्षेप में लिंग को निर्देश करने वाला सूत्रस्थान कहने के पश्चात् हेतु
और लिंग को बताने वाला 'निदानस्थान' कहते हैं । क्योंकि हेतु और लिंग
को जानकर की हुई चिकित्सा फलवती होती है । हेतु सभिकृष्ट, विप्रकृष्ट,
व्यमिचार और प्रधान मेद से चार प्रकार का है । विस्तार के लिये
मधुकोष देखिये ।

मेद हैं। मानसिक रोग भी दो प्रकार के हैं। १. राजउ (रजोगुण से उत्पन्न हुए), और २. तामस, (तमोगुण से उत्पन्न हुए)।

रोग के पर्याय—व्याधि, आमय, गद, आतंक, यक्षा, ज्वर, विकार और रोग ये सब शब्द एक ही अर्थ (रोग) को कहते हैं ॥ ४ ॥

तस्योपलिङ्गर्निदान-पूर्वरूप-लिङ्गोपशय-संप्राप्तिः ॥५॥

निदान पंचक अर्थात् रोगशान के पांच उपाय—१. निदान २. पूर्वरूप, ३. लिंग (रूप), ४. उपशय और ५. सम्प्राप्ति, इन पांच उपायों से रोग पहिचाना जाता है ॥ ५ ॥

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे पूर्वरूपं प्रागुत्पतिलक्षणं व्याख्यः ।

रोगों के कारण को निदान कहते हैं, यह पहिले कह तुके हैं। रोग के उत्पन्न होने से पूर्व जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनको 'पूर्वरूप' कहते हैं। (जैसे जंभाई का आना, अंगों का टूटना, घिर का दुखना आदि ये ज्वर के पूर्वरूप हैं।) रोग के आगे चलनेवाले लक्षण पूर्वरूप हैं। जैसे राजा के आने की खबर राजा के आगे चलने वाले लोगों से मिल जाती है।

प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गं, तत्र लिङ्गमाकृतिर्लक्षणं चिह्नं संस्थानं व्यञ्जनं रूपमित्यर्थान्तरमस्मिन्नर्थे ।

रोग के उत्पन्न होने पर जो लक्षण स्पष्ट होते हैं, जिन लक्षणों से रोग का मान होने लगता है, उनको लिंग कहते हैं। इसके लिंग, आकृति, लक्षण, चिह्न, संस्थान, व्यञ्जन और रूप ये सब पर्यायवाची हैं।

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधा-हारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः ।

उपशय—हेतुविपरीत, व्याधि-विपरीत और विपरीतार्थकारी, औषध, आहार और विहार का सुखोत्पत्ति के लिये सेवन करना 'उपशय' है।

१. उपशय द्वारा गूढ़ लिंगों, चिंहों वाली व्याधि की परीक्षा की जाती है। जैसे 'मछेरिया' और 'काळाजार' रोग में। इनमें मछेरिया कुनीन से चला जाता है, परन्तु काळाजार नहीं जाता। इसका विवरण नीचे लिखे प्रकार से जानें।

औषध—जैसे शीत कफ़ ज्वर में सोठ
 हेतुविपरीत } अज—जैसे श्रम-आतंकन्य ज्वर में मांस रस और चावल ।
 } विहार—जैसे दिन में सोने से उत्पन्न कफ़ ज्वर में रात को जागना ।

संप्राप्तिर्वाचिरागतिरित्वनवान्तरं व्याप्तेः । सा संस्कारावान्य-विकि-
विकल्प-बळ-काल-विशेषैर्मित्यते । संख्या तावद्यथा—अहो ज्ञातः, पञ्च
गुरुमाः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः । प्राप्तान्यं पुनर्दोषाणां सरतमात्राय योगेनोप-
लभ्यते । तत्र द्वयोस्तराङ्गिषु तम इति । विधिर्नाम द्विविधा व्याधयो
निजागन्तुभेदेन, त्रिविधाङ्गिषोषभेदेन, चतुर्विधाः साध्यासाध्य-मृदुदा-
रण-भेदेन । समवेतानां पुनर्दोषाणां मंशा-श-बळ-विकल्पोऽस्मिभ्यर्थे । बळ-
कालविशेषः पुनर्व्याधीनामृतवहोरात्राऽहार-काल-विधि-विनियतो
भवति । तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहवसत्त्वबुद्धिहेत्वादिभिर्भावैर्यथा-
वदनुबुध्येत ॥ ६ ॥

इत्यर्थसंप्रहो निदानस्थानस्योदिष्टो भवति, तं विस्तरेण भूयस्तरम-
तोऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ७ ॥

व्याधि की सम्प्राप्ति, जाति और आगति ये तीनों शब्द एक ही वर्थ के

व्याधिविपरीत	<table border="0"> <tr> <td style="vertical-align: top; padding-right: 10px;"> औषध—जैसे अतिसार में पाठा स्तम्भन । अन्न—जैसे अतिसार में मसूर । विहार—जैसे उदावर्त में प्रवाहण । </td></tr> </table>	औषध—जैसे अतिसार में पाठा स्तम्भन । अन्न—जैसे अतिसार में मसूर । विहार—जैसे उदावर्त में प्रवाहण ।
औषध—जैसे अतिसार में पाठा स्तम्भन । अन्न—जैसे अतिसार में मसूर । विहार—जैसे उदावर्त में प्रवाहण ।		
हेतु- व्याधिविपरीत	<table border="0"> <tr> <td style="vertical-align: top; padding-right: 10px;"> औषध—जैसे वातजन्य शोथ में दशमूल । अन्न—जैसे श्वी ज्वर में ज्वरनाशक यवागू । विहार—जैसे दिन में सोने से उत्तम्न तन्द्रा में रात्रिजागरण । </td></tr> </table>	औषध—जैसे वातजन्य शोथ में दशमूल । अन्न—जैसे श्वी ज्वर में ज्वरनाशक यवागू । विहार—जैसे दिन में सोने से उत्तम्न तन्द्रा में रात्रिजागरण ।
औषध—जैसे वातजन्य शोथ में दशमूल । अन्न—जैसे श्वी ज्वर में ज्वरनाशक यवागू । विहार—जैसे दिन में सोने से उत्तम्न तन्द्रा में रात्रिजागरण ।		
हेतु- विपरीतार्थकारी	<table border="0"> <tr> <td style="vertical-align: top; padding-right: 10px;"> औषध—जैसे पित्तजन्य शोथ में गरम उपनाह (पुलटिर) अन्न—जैसे पित्तजन्य शोथ में विदाही अन्न । विहार—जैसे वातोन्माद में मय बतलाना । </td></tr> </table>	औषध—जैसे पित्तजन्य शोथ में गरम उपनाह (पुलटिर) अन्न—जैसे पित्तजन्य शोथ में विदाही अन्न । विहार—जैसे वातोन्माद में मय बतलाना ।
औषध—जैसे पित्तजन्य शोथ में गरम उपनाह (पुलटिर) अन्न—जैसे पित्तजन्य शोथ में विदाही अन्न । विहार—जैसे वातोन्माद में मय बतलाना ।		
व्याधि- विपरीतार्थकारी	<table border="0"> <tr> <td style="vertical-align: top; padding-right: 10px;"> औषध—जैसे छार्दि में मैनफल से वमन करना । अन्न—जैसे अतिसार में दूध से विरेचन । विहार—जैसे छार्दि में प्रवाहण । </td></tr> </table>	औषध—जैसे छार्दि में मैनफल से वमन करना । अन्न—जैसे अतिसार में दूध से विरेचन । विहार—जैसे छार्दि में प्रवाहण ।
औषध—जैसे छार्दि में मैनफल से वमन करना । अन्न—जैसे अतिसार में दूध से विरेचन । विहार—जैसे छार्दि में प्रवाहण ।		
हेतु-व्याधि- विपरीतार्थकारी	<table border="0"> <tr> <td style="vertical-align: top; padding-right: 10px;"> औषध—जैसे आमि से जळने पर अगच्छा लेप । अन्न—जैसे मदात्यय रोग में भयपान । विहार—जैसे अमज्जनित मूढवात में पानी में सेरना । </td></tr> </table>	औषध—जैसे आमि से जळने पर अगच्छा लेप । अन्न—जैसे मदात्यय रोग में भयपान । विहार—जैसे अमज्जनित मूढवात में पानी में सेरना ।
औषध—जैसे आमि से जळने पर अगच्छा लेप । अन्न—जैसे मदात्यय रोग में भयपान । विहार—जैसे अमज्जनित मूढवात में पानी में सेरना ।		

बालक हैं । १. यह संख्याति २. उल्ला, २. प्रावान्य, ३. विधि, ४. विकल्प और ५. बलकाल मेद से पांच प्रकार की है ।

(१) संख्यासम्प्राप्ति—प्रत्येक रोग के भेदों की गणना का माम संख्यासम्प्राप्ति है । जैसे आठ प्रकार के ऊर, पांच प्रकार के गुल्म, चार प्रकार के कुष इत्यादि ।

(२) प्रावान्य-सम्प्राप्ति दोषों के अधिकतर व अधिकतम (तारतम्य) से रोगों की प्रधानता व अप्रधानता होती है । (बृद्ध पिता, बृद्धतर बायु और बृद्धतम कफ, यह एक प्रकार का संज्ञिपात है ।) दो दोषों में एक दोष बढ़ा हो तो अधिकतर, तीन दोषों में एक दोष बढ़ा हो तो 'अधिकतम' समझना चाहिये ।^१

(३) विधि-सम्प्राप्ति-व्याधि भेद से विधिरूप सम्प्राप्ति होती है । निज अर्थात् शारीरिक और आगन्तुज भेद से व्याधि दो प्रकार का है । चात आदि दोष भेद से तीन प्रकार का, और साध्य, असाध्य, मृदु और दाढ़िय भेद से चार प्रकार का है ।

(४) विकल्प-संप्राप्ति—जिन सभी चात आदि दोष दो या तीन मिलते हैं, उस सभी अंशांग बल को कल्पना (विवेचना) को विकल्प-सम्प्राप्ति कहते हैं । यथा—बायु के प्रकुपित होने पर भी कभी तो चात का शीत अंश बलवान् होता है, कभी लघु अंश और कभी रुक्ष अंश एवं कभी लघु और रुक्ष दोनों अंश बलवान् होते हैं ।

(५) बलकालसम्प्राप्ति—श्रद्धा, दिन, रात, आहार और काल भेद से रोग के बलकाल में अन्तर पड़ जाता है । जैसे श्रद्धा और कर्कज्वर का बहन्त, अहोरात्र कफज्वर का पूर्वाङ्ग और प्रदोष, आहार-कफज्वर का भुक्तमात्रकाल ।

स्वस्थचित्त एवं बुद्धिमान् वैद्य (धैर्य एवं शान्ति तथा बुद्धि से) हेतु पूर्वरूप आदि से रोगों की यथार्थ परीक्षा करे । यह निदानस्थान का संक्षेप में वर्णन कर दिया, अब इसी का विस्तार से वर्णन करते हैं ॥६-७॥

तत्र प्रथमत एव तावदायाँझोभाभिद्रोह-कोप-प्रभवानष्टौ व्याधी-
निदानपूर्वेण क्रमेणानुव्याख्यास्यामः, तथा सूत्रसंग्रहमात्रं चिकि-

१. कुछ लोग रोगोत्पत्ति के अन्तिम कारण से उत्पन्न कर्म को सम्प्राप्ति कहते हैं । यथा—‘स यदा प्रकुपितः प्रविश्याऽऽमाशयम्’ यहाँ से केवल ‘तदा अव-
मभिनिर्वर्तयति’ तक ऊर की सम्प्राप्ति कही है ।

२. माधव-निदान में स्वतन्त्रता और परतन्त्रता को लक्ष्य में रखकर दोनों की प्रधानता या अप्रधानता की परीक्षा की है ।

त्सायाः । चिकित्सिरेषु चोत्तरकाळं तथोद्दिष्टं यथोपचितविकाराननुव्या-
स्यात्यामः ॥८॥

इनमें प्रथम निदान क्रम से छोम, अभिद्रोह, कोप आदि से उत्पन्न आठ
रोगों का वर्णन निदान स्थान में करेंगे, इसके पीछे तंत्रोप से चिकित्साद्वय
कहेंगे । इसके अनन्तर उब रोगों का सविस्तर वर्णन चिकित्सास्थान में किया
जायगा ॥ ८ ॥

इह तु ज्वर एवाऽऽदौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारी-
राणाम् । अथ खल्वष्टाभ्यो ज्वरः संजायते मनुष्याणाम् । तद्यथा बातात्
पित्तात् कफात् बातपित्ताभ्यां, बातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्मभ्यां, बात-
पित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात्कारणात् । तस्य निदान-पूर्वरूप-लिङ्गो-
पश्य-संप्राप्ति-विशेषानुपदेश्यामः ॥ ९ ॥

ज्वर निदान—उब रोगों में प्रथम ज्वर का ही वर्णन करते हैं । क्योंकि
शारीरिक रोगों में सब से मुख्य ज्वर है ।

मनुष्यों को ज्वर आठ कारणों से होता है । १. बात से, २. पित्त से, ३.
कफ से, ४. बात-पित्त से, ५. पित्त-कफ से, ६. बात-कफ से, ७. बात-कफ और
पित्त (सम्निपात) से और ८. आगन्तुज कारण से ।

अब ज्वर के निदान, पूर्वरूप, लिंग, उपशय और सम्प्राप्ति का विस्तार से
वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

तद्यथा-रूक्ष-लघु-शीत-न्यायाम-बमन-विरेचनाऽस्थापन-शिरोविरे-
चनातियोग-वेगसंधारणानशनाभिघात-न्यवायोद्वेग-शोक-शोणिताभिषेक-
जागरण-विषम-शरीर-न्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते ।

बात प्रकोप के कारण—रूक्ष, लघु, शीत, न्यायाम, बमन, विरेचन,
आस्थापन इनके अतियोग से, मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेग को रोकने से,
उपवास से, चोट लगने से, खोसंग, उद्वेग, शोक, और रक्त के अधिक निकलने
से, रात्रि-जागरण से, विषम रीति से शरीर के अवयवों को रखने से, इन कारणों
के अतिसेवन से वायु प्रकृपित होती है ।

स यदा प्रकृपितः प्रविश्याऽस्थापनमध्यमणः स्थानमूष्मणा सह मिश्री-
भूत आद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि च
स्त्रोतासि च पित्तायामिन्मुपहत्य पक्षिस्थानादूष्माणं वहिर्निरस्य केवलं
शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति । तस्येमानि लिङ्गानि
भवन्ति ॥

सम्प्राप्ति—उपरोक्त कारणों से कुपित दुशा वायु उष्णिमा के स्थान आमा-शय में पहुंच जाता है। वहाँ उष्णिमा के साथ मिलता है। फिर अब के पाचन से उत्पन्न 'रस' नाम के घातु का आश्रय लेता है। इस घातु का आश्रय छेकर वायु रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द कर देता है, जठराग्नि को मन्द कर देता है और आमाशय से पाचकाग्नि को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर में फैला देता है, इस लिये ज्वर उत्पन्न होता है। इस बातज्वर के निम्न लिखित लक्षण होते हैं ॥

तद्यथा—विषमारम्भविसर्गित्वम्, ऊर्मणो वैषम्यं, तीव्रतनुभावान-वस्थानानि ज्वरस्य, जरणान्ते द्विवसान्ते निशान्ते धर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ज्वरस्य। विशेषेण परुषारुणवर्णत्वं नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरोष-त्वचामत्यर्थं कृतीभावश्च, अनेकविधोपमाश्चलाचलाश्च वेदना-स्तर्षा तेषामङ्गावयवानां, तद्यथा—पादयोः सुप्रता, पिण्डकयोरुद्देष्टनं, जानुनोः केवलानां च सन्धीनां विश्लेषणमूर्वोः सादः, कटि-पार्श्व-पृष्ठ-स्कन्ध-बाह्यं सोरसां च भग्न-रुण-भृदित-मथित-चटितावपीडितावनुभत्वमिव, हन्वोश्चाप्रसिद्धिः, स्वनश्च कर्णयोः, शङ्खयोर्निस्तोदः, कषायास्यवाऽऽस्य-वैरस्यं वा, मुख-तालु-कण्ठ-शोषः, पिपासा, हृदयग्रहः, मुष्कच्छर्दिः, शुष्ककासः, क्षवथृद्गारविनिप्रहोऽन्नरसखेदः, प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषाद-विजृम्भा-निवाम-वेपथु-श्रम-ध्रम-प्रलाप-जागरण-रोमहृषे-दन्तह-र्षास्तथोष्णाभिप्रायता, निदानोक्तानामनुपशयो विपरीतोपशयश्चेति वात-ज्वरस्य लिङ्गानि स्युः ॥ १० ॥

बातज्वर के लक्षण—जैसे ज्वर के चढ़ने या उतरने के समय का नियम न होना, शरीर में उष्णिमा का नियम न होना, ज्वर की तीव्रता या कम होने की प्रतीति में अस्थिरता, अब के पचन होने के समय, सायंकाल में, अथवा वर्षा शूद्रु के प्रारम्भ में ज्वर का आना, अथवा ज्वर में वृद्धि होना; विशेषतः नख, आंख, मूत्र, मळ, और त्वचा का बहुत कठिन और काढ़ा-बाल रंग पड़ना, मलमूत्र का अवरोध, (नख-त्वचा आदि का फटना), भिज-भिज अंगों में नाना प्रकार की चढ़ और अचल (गतिशील या रिथर) पीड़ाओं का होना । जैसे—दोनों पांतों में सो जाने की सी प्रतीति, पिण्डलियों में ऐंठन, घुटने एवं सम्पूर्ण सनिवयों में टूटने और गीले कपड़े से ढांपे होने की भाँति की दर्द जंबाओं में शिथिलता; कमर, पार्श्व-पीठ-स्कन्ध-बाहु और छाती में दूने के समान, फटने के समान, मर्दन करने के समान, चटकने के समान,

अष्टपीठन अर्थात् दशाने के समान और सूहयों तुमने के समान वेदनायें होती हैं। इनप्रह (जबाहे का न खुलना), कानों में आवाज़ (कर्णनाद) कान एवं शंख प्रदेश (कनपटी) में वेदना, मुख का क्षय स्वाद, मुख में विरसता, मुख, तालु, कण्ठ का पुनः २ सूखना; प्यास का अधिक लगना, दिल या छाती का जकड़ना, रक जाना, सूखी उबकाई, बमन होने पर बमन में किसी पदार्थ का बाहर न निकलना, सूखी खांसी, छोंक और डकार का बन्द हो जाना; सब अजरसों में अनिच्छा (अथवा अज्ञ रस का बमन); मुख से पानी का बहना; अश्वि, भोजन की अनिच्छा, अविपाक (भोजन का न पचना), विषाद, जग्माईयां आना, अंगों का मुड़ना-नुड़ना, अंगाईं आना, कम्पन, प्रलाप, जागरण (नींद का न आना), रोमों का भर-भरा आना (दान्तों का स्तब्ध हो जाना) गरम वस्तुओं को चाह; एवं वातज्वर के निदानमूर्त वस्तुओं का सेवन अनुकूल न आना तथा निदान (रुक्ष लघु, शीतादि गुणों) के विपरीत गुणों वाले पदार्थों को अनुकूल आना ये सब वातज्वर के लक्षण हैं ॥ १० ॥

उष्णाम्ल-लघुण-क्षार-कटुकाजीर्ण-भोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यस्तथाऽतितीक्ष्णातपाभ्नि-सन्ताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापद्यते ।

पित्त प्रकोप के कारण—उष्ण, लहौ, नमकीन, क्षार, कटु और अजीर्ण-कारक पदार्थों के अतिसेवन से; तथा अतितीक्ष्ण, बहुत धूप, अग्निसन्ताप, श्रम, क्रोध, विषम भोजन के सेवन से पित्त प्रकुपित होता है ।

तदादा प्रकुपितमामाशयादूष्माणमुपस्तुज्याऽद्यमाहारपरिणामधारुं रसनामानमन्वयेत्य रसस्वेदवहानि ऋतोर्तासि पिधाय द्रवत्वादग्निमुप-हत्य पक्षिस्थानादूष्माणं चहिनिरस्य प्रषीड्यत्केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति; तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति ।

पित्तज्वर की सम्प्राप्ति—यह प्रकुपित हुवा पित्त आमाशय में स्थित उष्णिमा से मिलकर, अज्ञ के पाचन से उत्पन्न प्रसाद नामक रस से मिलकर रसवह और स्वेदवह खोतों को बन्द कर देता है और पित्त द्रव होने से अग्निको मन्द करता है, इसलिये पक्षाशय से उष्णिमा को बाहर निकाल देता है, तब पित्त सम्पूर्ण शरीर में व्यास होकर शरीर को पीकित करता है। इस प्रकार से ज्वर को उत्पन्न करता है। पित्त ज्वर के लक्षण ये होते हैं ॥

तदाथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याद्यागमनमभिवृद्धिर्षा भुक्तस्य विवाहकाले भव्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषण, कटुकाश्यता

ब्राह्म-मुख-कण्ठोष्ट-ताढु-याकः, झूमा, लृणा, भ्रमः, मदः, मूर्छा, पित्तच्छ-
दंनमदीसारोऽभ्रूवेषः, सदनं, संस्वेदः, प्रलापः, रक्तोठामिनिर्वृत्तिः
शरीरे, हरितहारिद्रित्वं नख-नयन-बदन-मूत्र-पुरीष-त्वचामत्यर्थमध्यगत्ती-
ब्रथाकोऽतिमात्रं चाहः, शीतामिप्रायता, निदानोक्तानामनुपश्यो, विप-
रीतोपशयश्चेति पित्तज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ ११ ॥

पित्त-ज्वर के लक्षण—यथा—सम्पूर्ण शरीर में एक साथ (सहसा) ज्वर का चढ़ना, अथवा ज्वर का बढ़ना; भोजन के पचने के समय, मध्याह्न में, आधी रात में, शरद श्रूतु में, विशेष करके ज्वर बढ़ता है; मुख में कड़वापन; नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ, तालु का पक्कना; गरमी, प्यास का लगाना, भ्रम, मद, मूर्छा, पित्त का वमन, अतिसार, अज में अनिच्छा, पसीना आना, प्रलाप, शरीर पर लाल लाल घब्बे वा चक्के, फुनियां निकलना, नख-आंख-मुख-मूत्र-मल-त्वचा इन का रंग हरा या हल्दी के समान हो जाना; गरमी बहुत बढ़ जाना, बहुत अधिक जलन होना, शीत वस्तुओं की चाह रहना और पित्त ज्वर के कारण रूप पदार्थों का अनुकूल न आना एवं विपरीत गुण वाले पदार्थों का अनुकूल आना ये पित्तज्वर के लक्षण हैं ॥ ११ ॥

स्तिंगघ-गुरु-मधुर-पिच्छिल-शीताम्ल-लवण-दिवास्वप्न-हर्षाऽव्यायामे-
भ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ।

कफ प्रकोप के कारण—चिकास, भीठे, भारी, शोतल, पिच्छिल, खट्टे नमकीन पदार्थों के अतिसेवन से, दिन में सोने से, हर्ष वा आनन्द के अति सेवन तथा व्यायाम के न करने से कफ प्रकुपित होता है ।

स यदा प्रकुपितः प्रविश्याऽमाशयमूष्मणा सह भिश्रीभूयाऽस्माहा-
रपरिणामधारुं रसनामानमन्वेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतासि पिधाया-
ग्निमुपहत्य पक्षिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीड्यन् केवलं शरीरमनु-
प्रपश्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति; तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति ।

कफज्वर की सम्माति—कुपित कफ आमाशय में जाकर उष्णिमा के साथ मिलकर, अज के परिणाम भूत रस नामक धातु से मिल कर, रसवह और स्वेदवह स्रोतों को बन्द करके अग्नि को मन्द कर देता है । पक्षाशय से अग्नि को बाहर निकाल कर सम्पूर्ण शरीर को पीकित करता है । इस प्रकार से कफ ज्वर को उत्पन्न करता है । कफ ज्वर के लक्षण ये होते हैं ।

तथा—युगपदेव केवले शरीरे ज्वरस्याऽव्यागमनमभिषृद्धिर्वा ।
सुखमात्रे पूर्वाह्ने पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण गुणात्रस्तमनसा-

बिलाशः, श्लेष्मप्रसेको, मुखस्वच्छमायुर्यं, इलासो, हृदयोपलेपस्ति-
मितत्वं, छर्दिसूदूरिनिरा, निद्राचिकर्यं, स्वत्मस्तन्द्रा, इवासाः, कासाः,
प्रतिश्यायाः, सैत्यं, श्वेत्यं च नख-नयन-बदन-मूत्र-पुरीष-त्वचामत्यर्थं, शीत-
पिंडकाशं भृशमझेऽय उत्तिष्ठन्ति, उज्ज्वामिप्रायता, निदानोकानाम-
नुपश्यो विपरीतोपशयश्चेति श्लेष्मज्वरलिङ्गानि भवन्ति ॥ १२ ॥

कफज्वर के लक्षण—यथा—सम्पूर्ण शरीर में ज्वर एक साथ आता है, या बढ़ता है। भोजन करने के समय (या खा चुकने पर ही) पूर्वाह्न में, रात्रि के प्रथम भाग में, या वसन्त शूत्र में ज्वर का वेग बढ़ा होता है । शरीर में भारीपन, भोजन में अदर्शि, मुख से लार बहना, मुख में मिठास, वमन की रुचि, बैचैनी, हृदय का रुकना, हृदय (आमाशय) प्रदेश पर कफ का लगा रहना, आळस्य (तन्द्रा), वमन, अग्नि का मन्द होना, नींद का अधिक आना, जड़ता सुस्ती, खांसी, द्वास, जुकाम, शीत लगना, नख, आंख, मुख, मूत्र, मल और त्वचा में सफेदी; शरीर पर बहुतसी पिंडिकाओं, फुन्सियों का निकल आना, इन पिंडिकाओं का स्पर्श शीतल होता है । उष्ण पदार्थों की चाह रहती है, कफज्वर के कारण वाले पदार्थों का अनुकूल न आना और विपरीत गुण वाले पदार्थों का अनुकूल आना होता है । ये कफज्वर के लक्षण हैं ॥ १२ ॥

विषमाशनादनशनादनन्परिवर्त्ताद्वृत्यापत्तेरसात्मगन्धोपग्राणाद्
विषोपहृतस्योदकस्य चोपयोगाद् गरेभ्यो गिरीणां चोपश्लेषात् स्नेह-स्वेद-
वमन-विरेचनाऽस्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानामयथावत्प्रयोगात् भि-
थ्यासंसर्जनाद्वा खीणां च विषमप्रजननात् प्रजातानां च मिथ्योपचाराद्य-
थोक्तानां च हेतूनां मिश्रीभावाद्यथानिदानं द्रव्यानामन्यतमः सर्वे वा
त्रयो दोषा युगपत्रकोपमापचन्ते, ते प्रकुपितास्तयैवाऽनुपूर्व्या ज्वरम-
भिन्निर्वर्त्तयन्ति ।

तीन दोषों के प्रकोप के कारण ज्वर-विषम भोजन से, भोजन के न करने से, शूत्र के बढ़लने से, शूत्र के विकृत (अतियोग, मिथ्यायोग) होने से; प्रति-
कूळ-गंधयुक्त पदार्थों के संधने से; विषयुक्त पानी के उपयोग से; संयोगजन्य
विष के दोष से; पर्वतों के पास में रहने से; स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन,
आळापन, अनुवासन, और शिरोविरेचन के अयोग्य प्रयोग से खिलों के विषम
प्रसव करने से; बालक की उत्पत्ति के पीछे मिथ्या परिचर्या से; और पूर्व कहे
द्युए वात, पित्त, कफ इन दोषों के परस्पर मिश्रण से दो दोष या तीनों दोष एक
साथ प्रकुपित हो जाते हैं । औषधिकी गन्ध से ज्वर होता है—यथा “हाई फीकर” ।

तत्र यथोक्ताना उदरजिङ्गाना भिषीभयदिवेष्टसंवल्ल इन्द्र-
मन्यतम् उदरं सामिपातिकं वा विद्यात् ॥ १३ ॥

सुसर्वज्व व सामिपातिकं उदर—इस प्रकार से दो दोष या तीन दोष साथ
मिलकर अनुक्रम से कफ-चातज, कफ-पित्तज और कफ-बात-पित्तज उदर को
उत्पन्न करते हैं। इन्द्रज उदर में दो दोष कुपित होकर दोनों दोषों के
लक्षण उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार तीनों दोषों से उत्पन्न उदर में तीनों दोषों
के लक्षण होते हैं। इन लक्षणों को देखकर दो या तीन दोषों से उत्पन्न उदरों
को जानना चाहिये ॥ १३ ॥

अभिधाताभिषङ्गाभिचाराभिशापेऽय आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो उद-
रोऽष्टमो भवति ।

आगन्तुज उदर—अभिधात (चोट आदि के लगना), अभिषंग (काम
आदि वेग), अभिचार (अर्थव्यवहार आदि से उदर पैदा करना), अभिशाप
(गुरु, सिद्ध आदि पुरुषों का शाप), इन मुख्य चार कारणों से व्यथापूर्वक
आगन्तुज उदर उत्पन्न होता है। यह उदर आठवां प्रकार का है ।

स किञ्चित्कालभागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद् दोषैरुच्यते ।
तत्राभिधातजो वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन, अभिषङ्गजः पुनर्वातपि-
त्ताभ्याः, अभिचाराभिशापज्ञौ तु सन्निपातेनानुच्यते । स सप्तविधाउदर-
राद्विशिष्टलिङ्गोपक्रमसमुद्यानत्वाद्विशिष्टो वेदितव्यः, कर्मणा साधारणेन
चोपक्रम्यत इत्यष्टविधा उदरप्रकृतिरुक्ता ॥ १४ ॥

आगन्तुज उदर की सम्प्राप्ति—आगन्तुज उदर उत्पन्न होकर कुछ काल
(सात दिन वा तीन दिन) तक रहता है, फिर वात आदि दोष के साथ मिल
जाता है। अभिधातज उदर में प्रथम चोट आदि से उदर उत्पन्न होता है,
पीछे से दोष उत्पन्न होता है। इस उदर में वायु दूषित रक्त के साथ मिलकर
इसका आभय करके रहता है। अभिषंगज उदर ब्रात-पित्त का आभय करता
है। अभिचार और अभिशाप से उत्पन्न उदर तीनों दोषों का आभय करके
रहते हैं। आगन्तुज उदर के लक्षण, चिकित्सा और इसका निदान, दूसरे
वात आदि दोषों से उत्पन्न सात प्रकार के उदर से सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं,
अर्थात् देवव्यपाश्रय बलि मंगल आदि तथा युक्त व्यपाश्रय चिकित्सा करनी
चाहिये। इसका साधारण कर्म, सब प्रकार के उदरों में सामान्यतः एक ही

१. 'व्यथापूर्वः' आगन्तुज उदर में व्यथा ही पूर्वस्त्रप है। इन में प्रथम
उदर होकर फिर दोषों का सम्बन्ध होता है।

प्रकार की विकिल की जाती है, क्योंकि ज्वर एक ही प्रकार का है। इस प्रकार से ज्वर के आठ प्रकार कह दिये हैं ॥१४॥

ज्वरस्त्वेक इव संतापलक्षणः । तमेवाभिग्रावविशेषाद् द्विविधमा-
चक्षते । निजागन्तुविशेषाच । तत्र निजं द्विविधं त्रिविधं चतुर्विधं
सप्तविधं च ॥५॥ अभिवजो वातादिकल्पात् ॥ १५ ॥

ज्वर तो एक ही प्रकार का है। क्योंकि सब प्रकार के ज्वरों में 'सन्ताप' (गरमी) पाई जाती है। परन्तु अभिग्राव विशेष को लेकर इसके निज (शारीरिक) और आगन्तुज ये दो मेद लिये जाते हैं। इसमें निजज्वर को वातादि दोषों की विकल्पना से (संसृष्ट और असंसृष्ट शीत या उष्णमेद से) दो प्रकार का, (वात आदि दोष मेद से) तीन प्रकार का, (वात, पित्त, कफ और सनिपातज मेद से) चार प्रकार का, (दोष जन्य, मिथ्यन सन्निपात मेद से) सात प्रकार का कहा जाता है ॥१५॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि । तथ्या—मुखवैरस्यं गुह्यान्त्रत्वमनन्ना-
भिलाषश्चुषोराकुलत्वमस्नागमनं निद्राया आधिकयमर्तर्तज्ज्ञाना विनामो
वेपथुः ग्रम-भ्रम-ग्रलाप-जागरण लोमहर्ष-दन्तहर्षाः शब्द-शीत-वातात्पा-
सहत्वासहत्वमरोचकाधिपाकौ दौर्बल्यमङ्गमर्दः सदनमल्पप्राणता-दीर्घ-
सूत्रताऽस्त्वस्यमुचितस्य कर्मणो हानिः प्रतीपता स्वकार्येषु गुरुणां वाक्ये-
ज्वरस्यसूया, बालेषु प्रद्रेषः, स्वधमेष्वचिन्ता माल्यानुलेपन-भोजन-परिक्लैशनं
मधुरेषु भक्षयेषु प्रद्रेषोऽस्त्वललवणकटुकप्रियता चेति ज्वरपूर्व-
रूपाणि भवन्ति प्राक्सन्तापात्, अपि चैन सन्तापार्त्तमनुबन्धन्ति ॥ १६ ॥

इत्येतान्येकैकज्ञो ज्वरलिङ्गानि व्याख्यातानि भवन्ति विस्तरस-
मासाख्याम् ।

ज्वर के पूर्वरूप— इस ज्वर के पूर्वरूप ये हैं। जैसे-मुख में विरसता, शरीर में मारीपन, भोजन में अनिच्छा, आंखों में बेचैनी, आंखों से आंसू, बहना; नींद का अधिक आना,^१ बेचैनी, जंभाई आना, शरीर का मुडना^२ क्षयन, अम, भ्रम, प्रकाप, नींद का न आना, लोमहर्ष, शब्द, शीत,^३ वायु, धूप की कभी सहन करने की बच्ची और कभी सहने में अरुचि का होना; भोजन में

१. 'अस्यागमनम्' इति वा पाठः । अर्थात् आस्ये लाल हो जाती हैं ।

२. 'विराम' इति पाठान्तरम्, अर्थात् मन की उदारीनता ।

३. शीत के स्थान पर 'गीत' पाठान्तर है, वहां गीत अर्थात् संगीत में अनिच्छा ।

अस्ति, व्यविषाक, शुचक्षता, अंबों का दृटन्त, जाकि अ चत्व हो आना; अस्य-प्राणता, दीर्घक्षता (काम में अलक्ष्य), आरम्भ किये हुए कार्य में इच्छा अ न होना, अपने किये हुए काम में प्रतिकूक्षता, शुचक्षनों के लाभों में अभद्र, बालकों से देष, अपने कर्त्तव्य में (धर्मकार्य में) वेपर्वाही; फूलों की मात्रा, चन्दन का लेपन, और भोजन में दुःख मानना; मधुर वस्तुओं से द्रेष, खट्टे-नमकीन कड़ुवे पदार्थों की चाह होना,—ये उत्तर के पूर्व रूप हैं संताप से भी पूर्व, सन्तापयुक्त रोगी में प्रतीत होने लगते हैं । इस प्रकार से उत्तर के लक्षण अङ्ग अलग विस्तार एवं संक्षेप में कह दिये हैं ॥ १६ ॥

ज्वरस्तु खलु महेश्वर-कोप-प्रभवः सर्वप्राणिनां प्राणहरो देहेन्द्रियमनस्तापकरः प्रश्ना-बल-वर्ण-हर्षोत्साह-स्नादनः^१, श्रम-कूम-मोहाहारोप-रोध-संजननो, उत्तरयति शरीराणि इति उत्तरः, नान्ये व्याधयस्तथा दाढ़णा बहुपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथा उयमिति, स सर्वरोगाविषयति-नीनातिर्यग्योनिषु बहुविधैः शब्दरभिधीयते, सर्वप्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव प्रियन्ते, स महामोहः, तेनाभिमूता देहिनः प्रागदैहिकं कर्म किञ्चिद्दिपि न स्मरन्ति, सर्वप्राणभृतां च उत्तर एवान्ते प्राणानादत्ते ॥ १७ ॥

उत्तर का परिणाम—उत्तर महेश्वर के क्रोध से उत्पन्न हुआ है । यह उत्तर सब प्राणियों का प्राण लेने वाला, इन्द्रिय और मन को ताप (दुःख) देने वाला; बुद्धि, बल, कान्ति, हर्ष, उत्साह का नाश करने वाला, व्याधि, भ्रम, क्रान्ति, मोह और द्वृष्टानाश को उत्पन्न करने वाला है ।

ज्वर शब्द की निश्चिकि—ज्वर शरीरों को पीड़ित करता है, इसलिये इसको 'ज्वर' कहते हैं । इसके समान कठिन, बहुत उपद्रवयुक्त, चिकित्सा करने में दुःख और दूसरा रोग नहीं है । ज्वर ही सब रोग का अधिपति है । नाना-प्रकार के पश्च पक्षियों में अनेक प्रकार के शब्दों से कहा जाता है । ^२ सब प्राणी ज्वर के साथ उत्पन्न होते हैं और ज्वर के साथ ही मरते हैं । ज्वर महामोह स्वरूप है, इसलिये इस ज्वर से आक्रान्त होने से पूर्वजन्म (पूर्व शरीर) के किसी भी कर्म का स्मरण नहीं करता । यह ज्वर ही सब प्राणियों के प्राणों का हरण करता है ॥ १७ ॥

१. 'स्त्रहासुकरः' इति पाठः । २. यथा—हाथियों में होने वाले ज्वर को 'पाकल', गायों में होने वाले ज्वर को 'खेरिक', मछलियों के ज्वर को 'इन्द्र-शब्द', पक्षियों के ज्वर को 'भ्रामरक' कहते हैं ।

तत्र पूर्वलुपदर्शने ज्वरादौ वा हिर्वं लज्जशनमतर्पणं वा ज्वर-स्थाऽमाशयसमुत्थत्वात् ततः कषायपानाभ्यङ्ग-स्वेद-प्रदेह-परिषेकानुले-पन-वमन-विरेचनाऽस्थापनानुवासनोपशमन-नस्तःकर्म-धूप-धूमपाना-स्फुन-क्षीरभोजन-विधानं च यथास्वं युक्त्या प्रयोग्यम् ।

ज्वर के चिकित्सा सूत्र—ज्वर के पूर्व रूप होने पर अथवा ज्वर के प्रारम्भ में ही इलाज अन्न सेवन करना अथवा लंघन करना चाहिये । क्योंकि ज्वर आमाद्य से उत्पन्न होता है । इसके अनन्तर कषाय (काथ) अभ्यंग, स्वेद प्रदेह (छेप), परिषेक, अनुबोधन (बात को अनुकूल करने की क्रिया), वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासनवस्ति, कर्म उपशमन, नस्यकर्म, धूपन, धूमपान, अंजन और दूध भोजन की कल्पना, यथायोग्य उपयोग करना चाहिये ॥

जीर्णज्वरेषु तु सर्वेऽवेव सर्पिषः पानं प्रशस्यते, यथास्वौषधसिद्धस्य सर्पिहिं स्नेहाद्वातं शमयति, संस्कारात्कर्फं, शैत्यात्पित्तमृग्माणं च । तस्माज्जीर्णज्वरेषु तु सर्वेऽवेव सर्पिहितमुदकभिवाग्निसुषेषु द्रव्येभिवति १-

जीर्णज्वर में धूत्यान—सब प्रकार के जीर्ण ज्वरों में धी का पान करना प्रशस्त है । इसके लिये योग्य रीति से ओषधियों द्वारा सिद्ध किया धी काम में लाना चाहिये । चिकना होने से धो वायु का शमन करता है, भिन्न २ ओषधियों के संस्कार से कफ को शीतलता से पित्त और उष्मा को शान्त करता है । इसलिये सब प्रकार के जीर्णज्वरों में धी ऐसा ही हितकारक होता है जिस प्रकार कि आग से जलते हुए पदार्थों के लिये पानी हितकारक है ॥१॥

भवन्ति चात्र—यथा प्रज्वलितं वेशम परिषिखन्ति वारिणा ।

नराः शान्तिमभिग्रेत्य तथा जीर्णज्वरे धृतम् ॥ १६ ॥

स्नेहाद्वातं शमयति, शैत्यात्पित्तं नियच्छति ।

धृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु ज्येत्कफम् ॥ २० ॥

नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित्संस्कारमनुवर्तते ।

यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोन्तमं मतम् ॥ २१ ॥

संस्कारसिद्ध धृत—जिस प्रकार आग से जलते हुए घर को बुझाने के लिये मनुष्य पानी डाला करते हैं, उसी प्रकार जीर्णज्वर में धृत का उपयोग उत्तम है धी स्नेह गुण से वायु को, शीतगुण से पित्त को तथा जिस ओषधि से सिद्ध किया जाता है उस ओषधि का गुण छेकर कफ को शान्त करता है ।

धृत की भेषता—जिस प्रकार धी दूसरी दवाईयों के गुण अपने में प्राप्त

करके संस्कारयुक्त हो जाता है उस प्रकार और कोई अन्य स्नेह पदार्थों के गुण ग्रहण नहीं करता। इसलिये सब स्नेहों में भी ही अेष्ट है ॥१६-२१॥

गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते ।

तदृव्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरक्तं वन्न गर्हते ॥ २२ ॥

जो अर्थ गद्यरूप में कहा गया है, उसी को श्लोक रूप में कहते हैं। इसमें पुनरुक्त दोष नहीं है। क्योंकि गद्य में कहे हुए विषय को ही पुनः और अधिक स्पष्ट और दढ़ करने के लिये पद्य में कहा जाता है ॥२२॥
तत्र श्लोकाः—त्रिविधं नामपर्यायेहेतुं पञ्चविधं गदम् ।

गदलक्षणपर्यायान् व्याख्यः पञ्चविधं ग्रहम् ॥ २३ ॥

उवरमष्टविधं तस्य प्रकृष्टासन्नकारणम् ।

पूर्वरूपं च रूपं च भेषजं संप्रहेण च ॥ २४ ॥

व्याख्यातवान् उवरस्यामे निदाने विगतज्वरः ।

भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसुः ॥ २५ ॥

रोगों के तीन प्रकार के हेतु, पर्यायवाचक शब्द, पांच प्रकार के रोग, इनके लक्षण, पर्यायवाचक शब्द, रोगों के पांच प्रकारों का संग्रह, ज्वर के आठ मेद, इसके समीप एवं दूरवर्ती कारण, ज्वर के पूर्वरूप, रूप और औषध का संखेप में वर्णन, ये सब विषय 'उवर-निदान' नामक अध्याय में विनीत अग्निवेश को भगवान् पुनर्वसु ने उपदेश किये।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने ज्वरनिदानं
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातो रक्तपित्तनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब रक्तपित्त निदान का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पित्तं यथा भूतं लोहिवपित्तमिति संज्ञा लभते तथा ऽनुव्याख्या-
स्यामः। यदा जन्मतुर्यकोहाल्क-कोरदूषक-प्रायाण्यज्ञानि मुक्तके सूक्ष्मोषण-

१०. 'व्याख्यान' इति पाठः ।

तीक्ष्णमणि चालाकां निष्ठाक-माय-कुलस्व-कार-सूपोमहिते देवि-
मण्डोदशित्कट्टवराम्ल-काखिकोपसेकं बाराह-मादिवादिक-मास्व-गव्य-
पिशित-पिण्याक-पिण्डालु-शुद्धक-शाकोपहितं मूळक-सर्वय-लशुन-करब्ज-
शिग्र-मधुशिग्र-खड्यूष-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेर-गण्डीर-कालमानक-
पर्णास-क्षवक-फणिज्जकोपदशं सुरासौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मधूल-
क-शुक्त-कुवल-बद्राम्ल-प्रायानुपानं पिष्टान्नोचरभूयिष्ठमुष्णाभितमो
बाऽविमात्रमतिवेलं पयः पिबति पयसा वा समभाति रौहिणीकं काण-
कपोतं वा सर्वपतैलक्षारसिद्धं कुलत्थ-पिण्याक-जाम्बव-खकुच-पक्षै
शौक्तिकैर्वा सह क्षीरमाममतिमात्रमथवा पिबत्युष्णाभितमस्तस्यैवमा-
चरतः पित्तं प्रकोपमापद्धते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते, तस्मिन्
प्रमाणातिप्रवृत्ते पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्यदैव यकृत्सीहप्रभवाणां
छोहितवहानां स्नोतसा छोहिताभिष्ठन्दगुरुणि मुखान्यासाद्य प्रति-
रुन्ध्यात् तदैव लोहितं दूषयति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार से पित्त को 'रक्तपित्त' कहते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं।
जब मनुष्य यवक (ब्रीहि-विशेष), उद्धालक (वनकोइव) कोरदूष, इनमें
मिले खान-पान के अति सेवन से, अथवा दूसरे कोई अति उष्ण या तीक्ष्ण
गुण वाले अज्ञ के सेवन करने से, अथवा पूए, उड्ढ, कुलथी, दालें, आखुरु
पदार्थों के सेवन से, दही, दधिमण्ड (मस्तु), उद्धित (आधा जल मिश्रित
तक), कट्टव, (बिना पानी का तक या लट्टी छाछ), अम्लकांजी (लट्टी
कांजी), सूअर, मैंस, भेड़, मछली और गाय के मांस के सेवन से, पिण्याक
(फेणी) पिण्डालु, कचालु शुष्क शाक (सखे शाक) से युक्त अज्ञ पान के
सेवन से, मूळी, सरसों, लशुन, करज़, सहजन, मधुशिग्र (मीठा सहजन),
खड्यूष (कट्टी आदि), भूस्तृण (रोहित तुण), सुमुख, सुरस, कुठेर,
गण्डीर, कालमानक, पर्णास, क्षवक और फणिज्जक (सब तुलसी के भेद)
इनके सेवन से, दुरा, सौबीर (कांजी), तुषोदक, मैरेय, मेदक, मधूलक
(मधुवे की शराब), शुक (सिरका आदि), कुवल (बड़ा बेर), बेर अथवा
दूसरे खट्टे पदार्थ मिश्रित वस्तुओं के अस्थन्त उपयोग करने से, अधिक उष्णिमा
में रहने के पीछे अथवा पिठी युक्त अन्न के खाने के उपरान्त बार बार पानी
के पीने से, अथवा दूध के साथ रोहितक शाक या कशूतर का माल, उरसों के
तेल अथवा आर में तिक्के दूए पदार्थों के खाने से, अथवा कुलथी, उड्ढ,
पिण्याक, जामून, छट्टा आदि पके दूए फलों के दाढ़ कांजी का कम्बवा दूध

अविमाना में अथवा शरीर की गरम विषय में खाने से, मुख का निष्ठ प्रकृति हो जाता है और रक्त अपनी मात्रा से अधिक बढ़ जाता है।

पित्त प्रकोप से रक्त का दोष—इस प्रकार प्रमाण में अधिक बढ़ा हुआ रक्त तथा प्रकृति हुआ पित्त सम्पूर्ण शरीर में कैल जाता है और यहूत् एवं मीहा से उत्पन्न होने वाले रक्तवह स्रोतों के बढ़े हुए रक्त के कारण भरे हुए मुखों को पहुँचकर बन्द कर देता है। इस प्रकार प्रसर्ग द्वारा पित्त-रक्त को दूषित कर देता है॥ ३ ॥

तज्जोहितसंसर्गाज्ञोहितप्रदूषणाज्ञोहितगन्धवर्णानुविधानाच पित्तं
लोहितपित्तमित्याचक्षते ॥ ४ ॥

पित्त का रक्त के साथ संसर्ग होने से एवं शरीरस्थरक्त के पित्त के द्वारा दूषित होने से तथा पित्त का रक्त के समान गन्ध एवं रंग होने से पित्त को 'रक्तपित्त' कहते हैं॥ ४ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तथाथा—अनन्नाभिलाषो भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारश्छर्देरभीक्षणागमनं छर्दितस्य वीभत्सता स्वरभेदो गत्राणां सदनं परिदाहो मुखाद्धूमागम इव लोहडोहितमस्त्यामगन्धित्वमपि चाऽस्यस्य रक्त-हरित-हारिद्रवत्वमङ्गावयवशक्तन्मूत्र-स्वेद-लाला-सिङ्घाणकास्य-कर्णमल-पिण्डकोलिका-पिण्डकानामङ्गवेदन-लोहित-नील-पीत-श्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्षणमिति लोहित-पित्त-पूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ५ ॥

रक्तपित्त के पूर्व रूप ये हैं—भोजन में अनिच्छा, खाये हुए अन्न का न पचना, खट्टे या शुक्त गन्ध अथवा रस की डकार आना, बार २ बमन की अभिवचि, बमन में आये रक्त आदि पदार्थ की भयंकरता, स्वरभेद, अंगों का दृटना, शरीर में दाह, मुख से धुंए के समान श्वास आना, मुख से लोहा, रक्त, या मछली या कच्चे मांस की गन्ध आना, शरीर के अवयव, मल, मूत्र, पसीना, लार, नासिका का मल, मुख का मल, कान का मल, और नेत्र का मल तथा पिण्डकालों का, लाल, हरा अथवा हल्दी के समान होना, और भौंग में

* रक्त के बढ़ने से रक्तवह स्रोतों के मुख खुल जाते हैं। परन्तु पित्त के कारण रक्त के दूषित होने से रक्त में घनता बढ़ जाती है। इससे ऊँझा मुख बन्द हो जाता है। पित्त रक्त को दूषित करता है। रक्तमहोड़ों का प्रमाण स्थान यहूत् और मीहा है।

वेदना, स्वम में छाल, नीले, पीले, काले वा चालते हुए पक्षायों का बार बार दर्शन होना, रक्षित के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाक-श्वास-कास-ज्वरातीसार-
शोफ-शोष-पाण्डुरोगाः स्वरभेदञ्च ॥ ६ ॥

रक्षित के उपद्रव—हुर्बलता, अरुचि, अविपाक, श्वास, कास, ज्वर, अतिसार, सूजन, शोष, पाण्डुरोग, और स्वरभेद ये रक्षित के उपद्रव हैं ॥ ६ ॥

मार्गों पुनरस्य द्वावृथ्वं चाधश्च । तद्वहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसं-
सर्गादूर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते । वहुवते तु
शरीरे वातसंसर्गादधः प्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते । वहु-
वातश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गों प्रपद्यते, तौ
मार्गों प्रपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते
शरीरस्य ॥ ७ ॥

रक्षित के दो मार्ग—रक्षित के बाहर आने के दो मार्ग हैं । एक ऊर्ध्वमार्ग और दूसरा अधोमार्ग । जिस समय शरीर में कफ की प्रधानता होती है उस समय शरीर का पित्त कफ से मिलकर ऊर्ध्वगामी बन कर कान, नाक, नेत्र और मुखद्वार से बाहर निकलता है । वातप्रधान शरीर में पित्त वायु से मिलकर अधोमार्गी होता है । इस अवस्था में वह मल मूत्र के रास्ते से बाहर निकलता है और जब शरीर में वात और कफ दोनों प्रबल होते हैं तब शरीर में वात और कफ से मिलकर ऊर्ध्वमार्ग एवं अधोमार्ग दोनों से बाहर आता है । इन दोनों मार्गों से बाहर निकलता हुआ रक्षित शरीर के सम्पूर्ण छिद्रों से निकलने लगता है ॥ ७ ॥

तत्र यदूर्ध्वभागं तत्साध्यं, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् वहौषधत्वाच ।
यद्बोभागं तद्याप्यं, वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच । यदुभयभागं
तद्साध्यं, वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाचेति ॥ ८ ॥

साध्य-असाध्य का विचार—इसमें जो रक्षित ऊर्ध्वगामी है, वह साध्य है, क्योंकि इसकी चिकित्सा विरेचन द्वारा होती है और विरेचन की औषधियां बहुत हैं । जो रक्षित अधोगामी है वह याप्य अर्थात् कषसाध्य है, क्योंकि इस की चिकित्सा वमन द्वारा होती है और वमन की औषधियां कम हैं । जो रक्षित उभय-मार्गगामी अर्थात् उर्ध्व-अधोमार्गगामी है वह असाध्य है, क्योंकि इसमें वमन और विरेचन दोनों का उपयोग होता है और ऐसी औषधियां नहीं हैं ॥ ८ ॥

रक्षपित्तप्रकोपसु खलु पुरा दक्षयश्चोदूष्वसे रुद्रकोपप्रवाग्निना १
प्राणिना परिगतशरीरप्राणानामनु ज्वरमभवत् २ ॥ ६ ॥

तस्याऽशुकारिणो दावानेरिवाऽपतितस्यात्यथिकस्याऽशु प्रशान्तौ
यतितव्यं मात्रा देशं कालं चाभिसमीक्ष्य संतर्पणेन वा सुदुःमधुर-
शिशिर-तिक्क-कषायैरभ्यवहायैः प्रदेह-परिषेकावगाह-संस्पर्शनैर्वमना-
चैर्वा तत्रावहितेनेति ॥ १० ॥

रक्षपित्त का इतिहास— प्राचीन काल में जिस समय रुद्र के गणों ने दक्ष के यज्ञ^३ का विध्वंस किया था । उस समय रुद्र के कोप से, सम्पूर्ण देहशरीर प्राणियों को कष्ट देने वाले ऊर के पीछे, अग्नि के समान उष्णशक्ति (रक्षपित्त) उत्पन्न हुआ । यह रक्षपित्त शीघ्र कार्य करने वाला, प्राणहारक एवं अग्नि के समान नाश करने वाला है । इसको शान्त करने का शीघ्र उपाय करना चाहिये । मात्रा, देश, काल आदि का विचार करके संतर्पण या अपतर्पण किया द्वारा अथवा मधु, मधुर, शीत, कटु, कषाय, रसयुक्त-भोजनों से, छेप, परिषेक, अवगाहन, संस्पर्शन, वमन आदि द्वारा सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १० ॥

भवन्ति चात्र—साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूष्वं प्रतिपद्यते ।

विरेचनस्य योगित्वाद् बहुत्वाद्वेषजस्य च ॥ ११ ॥

विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थं परमौषधम् ।

यस्य तत्रान्वयः इलेघ्मा तस्य चानधमं सृतम् ॥ १२ ॥

भवेद्योगावहं तत्र मधुरं चैव भेषजम् ।

तस्मात्साध्यं मतं रक्तं यदूष्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वगामी रक्षपित्त साध्य—जो रक्षपित्त ऊर्ध्वमार्गगामी हो, वह साध्य है, क्योंकि इसमें विरेचन द्वारा चिकित्सा की जाती है और विरेचन की ओषधियां बहुत हैं । ऊर्ध्वगामी रक्षपित्त में पित्तदोष प्रधान होता है, और कफ दोष गौण होता है । पित्तदोष को शान्त करने के लिये विरेचन परम भेष किया है । और जो कफ इसमें अनुबन्ध रूप में रहता है, इसके लिये विरेचन मध्यम उपाय है । कषाय और तिक्क रसों के सिवाय मधुर रस मी अन्य

१. 'दक्षयश्च्वसे रुद्रकोपामर्पयना' इति पाठः ।

२. 'मभवज्ज्वरमनु' इति वा पाठः ।

३. यह इतिहास आलंकारिक है । दक्ष का यज्ञ इस में ही है । उद्धव जाठराग्नि है । उसके विकृत होने से ही रोग उत्पन्न होते हैं ।

औषधियों के साथ मिलकर योगवाही हो जाता है। इसलिये उत्तरमणि रक्तपित्त साध्य हैं ॥११-१३॥

रक्तं तु यदधोभागं तद्वाप्यमिति निश्चयः ।

वमनस्याल्पयोगित्वादल्पत्वाद्वेषजस्य च ॥ १४ ॥

वमनं हि न पित्तस्य हरणे श्रेष्ठमुच्यते ।

यद्य तत्रानुगो वायुस्तच्छान्तौ चावरं मतम् ॥१५॥

तद्वायोगवाहं तत्र कथार्य विक्षकानि च ।

तस्माद्याप्यं समाख्यातं यदुक्तमनुलोमगम् ॥ १६ ॥

अधोगामी रक्तपित्त याप्य—जो रक्तपित्त अधोगामी हो वह यार्थ है। क्योंकि पित्त को जीतने के लिये 'वमन' पूर्णरूप से पर्याप्त किया नहीं है और वमन की औषधियां भी कम हैं। कफ दोष के साथ मिश्रित पित्त को निकालने में वमन पर्याप्त है। परन्तु रक्तपित्त के मूलरूप पित्त को निकालने में वमन श्रेष्ठ नहीं है। इसमें अनुबन्ध रूप से रहने वाले वायु को शमन करने के लिये वमन किया निश्चययोगी है। इसी प्रकार कथार्य और कटु रस जो रक्तपित्त के नाशक हैं, वे रस वायु को बढ़ाने वाले हैं। इसलिये योगों में इनका उपयोग नहीं किया जा सकता। इसलिये अधोगामी रक्तपित्त याप्य हो जाता है ॥ १४-१६ ॥

रक्तपित्तं तु यन्मार्गां द्वाबपि प्रतिपद्यते ।

असाध्यमिति तज्ज्ञेयं पूर्वोक्तादपि कारणात् ॥१७॥

न हि संशोधनं किञ्चिदस्त्यस्य प्रतिमार्गांगम् ।

प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ॥ १८ ॥

एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।

उभयमार्गामी असाध्य रक्तपित्त—दोनों मार्गों से जाने वाला रक्तपित्त, उपरोक्त कारणों से असाध्य हो जाता है। क्योंकि (१) इसके प्रति-कूळ मार्ग के लिये संशोधन-चिकित्सा किसी प्रकार की भी नहीं है। और (२) रक्तपित्त में विरुद्ध मार्ग से संशोधन कार्य गुणकारी होता है। इसलिये सब प्रकार की शान्ति करने वाले कोई भी औषध नहीं है ॥ १७-१८ ॥

संसृष्टेषु च दोषेषु सर्वजिज्ञामनं मतम् ॥ १९ ॥

इत्युक्तं त्रिविधोदकं रक्तं मार्गविशेषतः ।

हिं-दोषों से व त्रिविध रक्तपित्त की विकित्सा—संसृष्ट दो दोषों यह दीनों दोषों से मिश्रित रक्तपित्त में उब दोषों को शमन करने वाली औषधि देनी

चाहिये । इति प्रकार से रक्तपित्त के तीन प्रकार बाहर आगे के मार्गों के लेदानुषार कह दिये ॥ १९ ॥

एम्ब्यस्तु खलु हेतुम्यः किञ्चित्साध्यं न सिद्धति ॥ २० ॥

प्रेष्योपकरणाभावाहौराम्याद्वैद्यदोषतः ।

अकर्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्विद्रोगोऽतिवर्तते ॥ २१ ॥

तत्रासाध्यत्वमेकं स्यात्साध्ययाप्यपरिकमात् ।

रक्तपित्तस्य विद्वानमिदं तस्योपदेश्यते ॥ २२ ॥

साध्य रोग असाध्य हो जाने के कारण—इन निम्नलिखित कारणों से कोई साध्य रोग असाध्य बन जाता है । जैसे भूत्य आदि के अभाव से, क्षय आवृत्यक सामग्री के अभाव से, आत्मवंशम के अभाव से रोगी के दुष्ट आहार-विद्वान के कारण; वैद्य के दोष से, तथा चिकित्सा न करने से साध्य रोग भी असाध्य हो जाता है ।

उभय मार्ग से जाने वाला रक्तपित्त असाध्य है । इसी प्रकार साध्य रक्तपित्त का याप्य हो जाना, या याप्य रक्तपित्त का असाध्य हो जाना दोनों ही असाध्य हैं । इसके आगे रक्तपित्त विषयक विज्ञान और अधिक कहते हैं ॥ २०-२२ ॥

यत्कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्वधनुष्प्रभम् ।

रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रव्वजनं च यत् ॥ २३ ॥

भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववज्जयत् ।

बलमांसझवे यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥ २४ ॥

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।

पश्येदृ दृश्यं वियच्छैव तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ २५ ॥

तत्रासाध्यं परित्यज्य यात्वं यत्नेन यापयेत् ।

साध्यं चावहितः सिद्धैर्भेषजैः साधयेद्विषक् ॥ २६ ॥

असाध्य रक्तपित्त के लक्षण—जो रक्तपित्त का लक्षण, नीड़ा, अथवा इन्द्र-घनुष के उमान नाना प्रकार के रंगों वाला हो, और जिसमें वज्र पर लगा रक्त का दाग खोने से न मिटे और अतिशय दुर्गन्ध वाला हो, जिसमें सब उप-व्रष्टि हो, जिस के कारण रोगी का बल और मांस क्षीण होगया हो, के असाध्य रक्तपित्त के लक्षण हैं । रक्तपित्त का रोगी जब सब पदार्थों को अचल लाल ही देखने लगे तब रक्तपित्त निःसंशय असाध्य उमर्जना चाहिये । असाध्य अवस्था की चिकित्सा आसन्न ही नहीं करनी चाहिये, कुशलाध्य वह असाध्य रोग

की प्रथलपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये । साथ्य रोग की सावधान होकर गुण-
कारी धोषविद्यों से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २३-२६ ॥

तत्र इलोकौ—कारणं नामनिर्वृत्तिं पूर्वरूपाण्युपद्रवान् ।
मार्गैः दोषानुबन्धं च साध्यत्वं न च हेतुमत् ॥ २७ ॥

निदाने रक्पित्तस्य व्याजहार पुनर्वसुः ।

बीत-मोह-रजोदोष-लोभ-मान-मद-स्पृहः ॥ २८ ॥ इति ॥

मोह, रजोगुण, दोष, लोभ, अभिमान, मद, और स्पृह से रहित पुनर्वसु ने
इस अध्याय में, रक्पित्त की उत्पत्ति का कारण, पूर्वरूप, उपद्रव, इसके दोनों
मार्ग, बात आदि दोषों का अनुबन्ध, साध्यासाध्यत्व, हेतु इत्यादि सब-विषय
वर्णन कर दिये हैं ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने रक्पित्तनिदानं
नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'गुल्मनिदान' का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान्
आत्रेय ने कहा था^१ ॥ १-२ ॥

इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति । तथाथा—वातगुल्मः, पित्तगुल्मः,
श्लेष्मगुल्मो, निचयगुल्मः, शोणितगुल्मश्चेति ॥ ३ ॥

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—कथमिह भगवन् !
पठ्वानां गुल्मानां विशेषमभिजानीयाम् नष्टविशेषविद्रोगाणामौष-
धविदपि भिषक् प्रशमनसमर्थो भवतीति ॥ ४ ॥

तसुवाच भगवानात्रेयः—समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-चेदनोपशम्य-विशे-
षेभ्यो विशेषविद्वानं गुल्मानां भवत्यन्येषां च रोगाणामनिवेश ! तच्च
खलु गुल्मेषूच्यमानं निबोध ॥ ५ ॥

१. शरीर के भीतर दोष संचित होकर पिण्डाकार होते हैं । इससे वे
'गुल्म' कहते हैं ।

कुपितानिलमूलस्त्वाद् गूढमूलोदयादपि ।

गुल्मवद्वा विशाक्षस्त्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥ सुधुत ॥

गुल्म के मेद—गुल्म पांच प्रकार के होते हैं। जैसे (१) वातगुल्म, (२) पित्तगुल्म, (३) कफगुल्म, (४) निचयगुल्म और (५) रक्तगुल्म^१।

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा कि इन पांच प्रकार के गुल्मों के विषय में विशेष (मेद ज्ञान) ज्ञान किस प्रकार कर्त्ता क्योंकि इनके मेदों को सम्पूर्णरूप से जाने विना, सम्पूर्ण औषध-ज्ञान होने पर भी वैद्य रोगों के शमन करने में समर्थ नहीं होता।

भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया—हे अग्निवेश ! उत्पत्ति, पूर्वरूप, लक्षण, वेदना और उपशय इनके मेद से भिन्न-भिन्न गुल्मों का विशेष ज्ञान होता है और इन्हीं साधनों से दूसरे अन्य रोगों का भी पता चलता है। इसलिये गुल्म के लक्षण आदि का वर्णन करते हैं, इसको ध्यान से सुनो और समझो ॥३-५॥

यदा पुरुषो वातलो विशेषेण ज्वर-वमन-विरेचनातीसाराणामन्य-
तमेन कर्शनेन कर्शितो वातलमाहारमाहरति शीतं वा विशेषेणातिमात्र-
मस्तेहपूर्वे वा वमनविरेचने पिवत्यनुदीर्णां वा छर्दिमुदीरवत्युदीर्णान्
वात-मूत्र-पुरीष-वेगान्निरुणद्वयत्यशितो वा पिवति नवोदकमतिमात्र-
मतिमात्रासंक्षेपिणा वा यानेन यात्यतिव्यवाय-व्यायाम-मध्यान्तिर्बाँड़-
मिघातमृच्छति वा विषमाशन-शयनासन-स्थान-चक्कमण-सेवी भवत्य-
न्यद्वा किंचिदेवंविधं विषममतिमात्रं व्यायामजातमारभते, तस्याप-
चाराद्वातः प्रकोपमापद्यते ॥ ६ ॥

वातगुल्म—जब वातप्रकृति का मनुष्य विशेष कर ज्वर, वमन, विरेचन और अतिसार इनमें से किसी एक के कारण कृश हो जाता है, इस स्थिति में जब वह वायुकारक आहार या अति शीतल पदार्थों का सेवन करता है, वा स्नेहन कर्म किये विना विरेचन का उपयोग करता है, वमन की इच्छा न रहने पर भी बलात्कार से वमन करता है, अवोशायु, मल, मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकता है, अधिक खोजन करके नवीन पानी (वरसात में कुएं आदि का पानी) अधिक पीता है, बहुत अधिक स्कोले वाली गाढ़ी वा सवारी से यात्रा करता है, ऊ-सम्मोग और मद्य के अति उपयोग से, रुचि के अभिषात होने से, विषम स्थिति में बैठने, सोने, चलने या रहने से, इसी प्रकार के अन्य

१. इन पांच गुल्मों के लिवाय तीन और भी गुल्म हैं जैसा कि आगे चिह्निता में कहेंगे—“व्यामिश्रितिंगानपरांतु गुल्माङ्गीनादिशेदौषवकल्पनार्थम्”। अर्थात् वातपिच्छ, पिच्छकज और वातकर्ज । इस प्रकार से आठ प्रकार के गुल्म हैं । २. ‘विषमतिमात्रं’ इति च पाठः ।

आयाम आदि अमजनक कायों को अधिक मात्रा में करने से, वायु शकुपित हो जाता है ॥ ६ ॥

स प्रकृष्टितो महास्रोतोऽनुप्रविश्य रौक्ष्यात्कठिनीभूतमाप्लत्य पिण्डितोऽवस्थानं करोति हृदि वस्तौ पाइर्वयोर्नाभ्यां वा । स शूलमुफ-जनयति प्रन्थीश्चानेकविधान्, पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् गुरुम् इत्युच्यते ॥ ७ ॥

बातगुरुम् की सम्मानिः—इस प्रकार से कुपित हुआ वायु महास्रोतों से शुष्टि कर अपने रक्षण गुण के कारण कठिन होकर कोष्ठ में फैलकर गोल-पिण्डाकार बन जाता है और हृदय, बस्तिमाग, दोनों पाइर्वयोंमाग अथवा नाभि आग में शूल अथवा अनेक प्रकार की गांठें उत्पन्न कर देता है । वायु गोलाकार बनकर पिण्डाकार होने से 'गुरुम्' कहा जाता है । (इसी को 'वायुगोलम्' कहते हैं, जोकि बातगुरुम् का अपभ्रंश है ।) ॥ ७ ॥

स मुहुराधर्मति, मुहुरणुत्वमापयते, अनियतविपुलाणुवेदनश्च भवति चलत्वाद्वायोः, पिपीलकासंप्रचार इवाङ्गेषु, तोद-स्फुरणायाम-संकोच-सुसिंहर्ष-प्रलयोदय-चहुल्लरतदातुरञ्च सूच्येव शङ्खुनेव चाति-विद्मगात्मानं मन्यते, अपि च दिवसान्ते ज्वर्यते शुष्यति चाऽस्यम्, उच्छ्वासश्चोपरुद्धयते । हृष्यन्ति चास्य रोमाणि वेदनायाः प्रादुर्भावे ।

बातगुरुम् के लक्षण—यह बातगुरुम् क्षण भर में फैलकर बढ़ा हो जाता है और क्षण भर में सिकुड़कर छोटा हो जाता है, इसकी पीड़ा अनियन्त्र, कभी अधिक और कभी कम हो जाती है । इसका कारण वायु का चंचल स्वभाव है, शरीर के अवयवों में कीड़ियों के चलने की सी प्रतीति होती है, इसमें तोद (चुम्ने की सी बेदना), स्फुरण (घड़कन), आयाम (विस्तार), रंकोच (सिकुड़ना), सुसिंह (स्पर्शज्ञान का अभाव), हर्ष (स्पर्शज्ञानका बदना), प्रलय (नाश), उदय (जन्म) प्रायः होते हैं अर्थात् कभी तो उत्पन्न होते हैं, और कभी शान्त हो जाते हैं । इस अवस्था में रोगी सूई चुम्ने या कील आदि से बिंधने का सा अनुभव करता है । सन्ध्याकालमें पीड़ा होती है, रोगी का युख घूल जाता है, श्वास झुटने या बन्द होने लगता है, बेदना के समव शरीर रोमांकित हो जाता है ॥

सीहाऽटोपान्त्र-कूजनाचिपाकोदावर्तीङ्गमर्दै-मन्या-शिरःशङ्ख-शूल-
प्रब्लनरोगाश्चैन्सुपद्रवन्ति, कृष्णारुण-परुषत्वक्न्त्व-नयन-बदन-मूत्र-युरी-
शश्च भवति ।

झींह, आठोप (खनु का आधार), खांडो में गुड़-गुड़ ब्यानि, धैन्वन, उदावर्च, अंगो का दृढ़ना, मन्याशूक, शिरःशूक, शंखशूक, नथन-रेत आदि नाना उपद्रव होने लगते हैं। रोगी की त्वचा, नख, मुख और मल का रंग काला या लाल हो जाता है, तथा वे कर्कष हो जाते हैं।

निदानोक्तानि चास्य नोपशोरते, विपरीतानि चोपशोरते—इति वातगुल्मः ॥ ८ ॥

वातगुल्म के कारणानुकूल आहार-विहार करने से रोग शान्त नहीं होता, परन्तु रोग के कारण के विपरीत गुणवाले आहार-विहार से रोग शान्त हो जाता है। वातगुल्म के वे लक्षण हैं ॥ ८ ॥

तैरेव तु कर्शनैः कश्चित्स्य इत्य-ल्ल-ल्लवण-कदुक-क्षारोष्ण-तीक्ष्ण-शुक्त-व्यापन्न-मध्य-हरित-कफलाम्लानां विदाहिनां च शाक-धान्व-मांसादीना-मुपयोगादजीर्णाञ्चशनान्त्रौक्ष्यानुगते चाऽऽमाशये बमनविरेचनमतिवेळं संधारणं वातातपौ चातिसेवमानस्य पित्तं सह माहतेन प्रकोपमा-पयते ॥ ९ ॥

वात के साथ पित्त प्रकोप के कारण—वातगुल्म में कहे हुए कारणों से कर्शित हुआ पुरुष जब खट्टे, नमकीन, कड़वे, क्षार, उण, तीक्ष्ण, शुक्त, सड़े, खराब हुए, मद्य, या हरी सब्जियाँ और फल खाता या दाहकारक शाक या मांस का सेवन करता है, अजीर्ण या अध्यशन (भोजन के ऊपर फिर भोजन करने) से आमाशय में रुक्षता के उत्पन्न होने से बमन, विरेचन के बेंगों का बहुत देर तक रोकने से, वायु या धूप के अतिसेवन करने से वायु के साथ पित्त भी कुपित हो जाता है ॥ ९ ॥

तत्प्रकृपितं माहत आमाशयैकदेशे संमूच्छ्वय तानेव वेदनाप्रका-रानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे, पित्तं त्वेन विदहिति कुक्षौ द्व्युरसि कण्ठे च, स विद्यमानः सधूममिवोदूगारमुद्गिरत्यम्लान्वितं, गुल्मा-वकाशास्य दहरे दूबते धूप्यते उष्णायते स्थिद्यति क्लियते शिथिल इव च स्पर्शासहोऽल्परोमाङ्गो भवति । उवर-भ्रम-दवथु पिपासा-गल-बदन-तालु-शोष-प्रमोह-विद्भेदाश्चेनमुपद्रवन्ति, हरित-हरिद्रत्वक्-नस-रीति । निदानोक्तानि चास्य नोपशोरते, विप-रीतानि चोपशोरते—इति पित्तगुल्मः ॥ १० ॥

पित्तगुल्म की सम्प्राप्ति—इस प्रकार से कुपित हुआ पित्त और वायु आमाशय के एक प्रदेश में मिलकर वातगुल्म में कही हुई वेदनाओं को

उत्सव करते हैं । १० पित्रगुल्म में विशेषता यह है कि प्रकृपित पित्र कुञ्जि, हरव, वस्त्रःस्थल और कण्ठ इन स्थानों में दाह उत्पन्न करता है । इस दाह के कारण धुएं के समान और खड़ा डकार रोगी को आता है और गुल्म के स्थान में दाह होता है, धूंआ निकलता है, गरमी रहती है, परीना आता है, क्रिङ्गता होती है, शरीर ढीला पक्ष प्रतीत होता है, स्पर्श की असहता रहती है और किञ्चित् रोमान्च रहता है । ज्वर. भ्रम, दवथु (घृ. घृ. स्पन्दन), पिण्डा, गले मुख और तालु में शुष्कता, मूर्छा, मल का पतला थाना, ये उपद्रव होते हैं । त्वचा, नख, आँख, मूत्र और मल इनका रंग हरा या हल्दी के समान होता है । इसके निदान के समान गुण वाली वस्तुओं के उपयोग से रोग बढ़ता है और विपरीत गुणवाली वस्तुओं से कम होता है । यह पित्रगुल्म का वर्णन दुधा ॥ १० ॥

तैरव तु कश्चनैः कर्षितस्यात्यशनादतिस्तिंग्ध-गुरु-मधु-शीताशना-
स्तिष्टेषु-क्षीर-माष-तिल-गुड-विकृति-सेवनानमन्दक-मद्यातिपानादूरितका-
तिप्रणयनादानूपौदक-ग्राम्य-मीसाति-भक्षणात्संधारणादतिसुहितस्य चाति-
प्रगाढ़मुद्पानात्संझोभणाद्वा शरीरस्य श्लेष्मा सह माहतेन प्रकोप
मापद्यते ॥ ११ ॥

वात के साथ कफ-प्रकोप के कारण—वातगुल्म में कहे दुए कारणों से कृश दुए व्यक्ति के अत्यन्त भोजन करने से, अतिस्तिंग्ध, गुरु, मधुर, धीत पदार्थों के खाने से, पीठी (उड़द आदि को पीछकर), ईल, दूब, उड़द, तिल, गुड इनसे बने पदार्थों के अति सेवन से, मन्दक-दही और मद्य के अति-सेवन से, हरे शाक, आनूप या जलचर प्राणियों के अथवा ग्राम्य मास के अति सेवन से, शरीर को बहुत विशेषित करने से, वायु कफ के साथ मिलकर कुपित होता है ॥ ११ ॥

तं प्रकृपितं मारुत आमाशयैकदेशे संमूर्च्छय तानेव गाढवेद-
नाप्रकारानुपजनयति य उक्ता वातगुल्मे । श्लेष्मा त्वस्य शीतज्वरारो-
चकाविपाकाङ्गमर्द-हृष्ट-हृद्रोग-च्छर्दि-निद्राऽस्य स्तैमित्य-गौरव-शिरोभि-
तापानुपजनयति, अपिच गुल्मस्य स्थैर्य-गौरव-काठिन्यावगाढ-सुप्रताः;

१. आमाशय के एकदेश में मूर्च्छत होने से पित्रगुल्म और कफगुल्म बस्ति में नहीं होते । क्योंकि नाभि और स्थानों के बीच के स्थान की आमाशय कहते हैं । वातगुल्म बस्ति में भी होता है । इसलिये वातगुल्म में ‘महासोत्सू शब्द पढ़ा है । महासोत्सू शब्द से बस्ति का भी प्रहण होता है ।

तथा कास-इवास-प्रतिश्यायात् राज्यक्षमाणं चाविप्रशुद्धः, इवेत्यं च त्वर्क-
नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीषे शूपजनयति । निदानोक्तानि चास्य नोपयोरते,
तद्विपरीतानि चोपयोरते—इति श्लेषगुलमः ॥ १२ ॥

कफगुलम की सम्प्राप्ति—इस प्रकार से कुपित कफ और वायु आमाशय
के एक प्रदेश में मिलकर बातगुलम में कही हुई अनेक प्रकार को तीव्र वेदनाये
उत्पन्न करते हैं । प्रकुपित कफ शीतज्वर, अद्वचि अविगाक अंगों में
वेदना, रोमहर्ष, हृदयरोग, वमन, निद्रा, आलस्य, स्तिमितता (भारीपन),
धूर और अंगों में उज्जिमा, (ताप) उत्पन्न करता है । इस गुलम में स्थिरता
(हिलने का अभाव), भारीपन, कठिनता, स्पर्शज्ञान का एकदम अभाव,
(बिहिरता) रहती है । बहुत बढ़ने पर कास, इवास, प्रतिश्याय और क्षय रोग
उत्पन्न करता है । त्वचा, नख, आंख, मुख, मळ, मूत्र, उनका रंग इवेत
हो जाता है । इसके निदान के समान गुण वाले आहार-विहार से रोग बढ़ता है
और विपरीत गुणवाली वस्तुओं से कम होता है । यह कफगुलम का निदान
कह दिया है ॥ १२ ॥

त्रिदोष-हेतु-लिङ्ग-सन्निपातात् सान्निपातिकं गुलमसुपदिशन्ति कु-
शलाः । स विप्रतिषिद्धोपक्रमत्वादसाध्यो निचयगुलमः ॥ १३ ॥

सान्निपातिक गुलम—जिस गुलम में तीनों दोषों के हेतु और तीनों दोषों के
लक्षण मिले होते हैं ; उसको बुद्धिमान् वैद्य ‘सान्निपातिक गुलम’ कहते हैं ।
यह सान्निपातिक गुलम चिकित्सा में विशेष होने से चिकित्सा कर्म में
असाध्य है ॥ १३ ॥

शोणितगुलमस्तु खलु खिया एव भवति; न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्तं-
वागमनवैशेष्यात् ।

पारतन्त्र्यादवैशारथ्यात्सततमुपचारानुरोधाद्वेगानुदीर्णानुपरुन्धन्त्या
आमगर्भे वाऽप्यचिरात्पतितेऽथवाऽप्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा बात-
प्रकोपणान्यासेवमानायाः क्षिं प्र बातः प्रकोपमापयते ॥ १४ ॥

रक्तगुलम—रक्तगुलम के लियों को ही होता है, पुरुषों में नहीं होता,
क्योंकि लियों में ही गर्भाशय तथा रजोदर्शन होता है । लियां परवश होने से
बेंगों को रोकती हैं, अधिक्षित होने से, पति आदि की सेवा में तत्पर रहने से
और मक्क मूत्रादि के उपस्थित बेंगों को रोकने से, इन कारणों से वा अपक

१०. आमन्यतः रक्त का धूषित होना और धूसरे गुलमों में भी मिलता है ।

प्रकार आगे कहेंगे ।

गर्भ के गिर जाने से, या व्याघ्र क प्रसव करने के पीछे अथवा अनुकाळ में वात-प्रकोपक बल्जों के सेबन करने से वायु शीत ही प्रकुपित हो जाता है ॥१४ ॥

स प्रकुपितो योनिमुखमनुशविश्याऽर्तवमुपदण्डि, मासि मासि
उद्धार्तवमुपरुद्ध्यमानं कुक्षिभिर्वर्धयति । तस्याः शङ्ख-कासातीसारच्छ-
र्चरोचकाविपाकाङ्गमर्द-निद्रालस्य-स्तैभित्य-कफ-प्रसेकाः समुपजायन्ते ।
स्तनयोऽस्तन्यमोष्टयोः स्तनमण्डलयोश्च काण्ड्यं, ग्लानिश्चल्लुषोर्मूर्च्छा,
हङ्गासो, दोहदः, इवयथुः पादयोरीषष्ठोदगमो रोमराज्याः, योन्याश्चाटा-
लत्वं, अपि च योन्या दौर्यन्ध्यमात्रावश्चोपजायते, केवलश्चास्या गुल्मः
पिण्डित पव स्पन्दते, तामगर्भां गर्भिणीमित्याहुमूर्दाः ॥ १५ ॥

रक्तगुल्म की सम्प्राप्ति—यह कुपित वायु योनिमुख में प्रविष्ट होकर आर्तव को रोक देता है । प्रत्येक मास में रक रक कर यह आर्तव कोष्ठ को बढ़ा कर देता है । इससे स्त्री को शूल, कास, अतीसार, वमन, असचि, अविपाक, आंगों का दूटना, निद्रा, आलस्य, कफ का (लार का) मुख से आना, स्तनों में दूध का आना * आंठ एवं स्तनों के चूचुकों का काला हो जाना, आंखों में झानि, मूर्च्छा, वमन की अभिरचि, गर्भ के समान अनेक लक्षण, पांव में सूजन, रोमराजि में विस्फुरण, योनि का फैल जाना, योनि में दुर्गन्ध आना तथा योनि में से साव होना इत्यादि विकार उत्पन्न होजाते हैं । इस प्रकार गुल्म पेट में हिलता है, अजानी लोग गर्भरहित स्त्री को भी गर्भिणी कहने लगते हैं ॥ १५ ॥

एषां तु खलु पञ्चानां गुल्मानां प्रागभिनिर्वृत्तेरिमानि पूर्वरूपाणि
भवन्ति । तद्यथा—अनन्ताभिलषणमरोचकाविपाकावभिवैषम्यं विदाहो
भुक्तस्य विपाककाले चायुक्त्या छर्द्युदगारौ, वातमूत्रपुरीषवेगानाम-
प्रादुर्भावः, प्रादुर्भूतानां चाप्रवृत्तिरीषदागमनं वा, वातशूलाटोपान्त्र-
कूजनापरिहर्षणातिवृत्तपुरीषताऽबुभुक्षा, दौर्बल्य, सौहित्यस्य चासह-
त्वमिति गुन्मपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ १६ ॥

* आर्तव रोग का यह प्रभाव है कि स्तनों में दूध आजाता है । गमोचस्था में भी आर्तव के रुकने से स्तनों में दूध आता है । गर्भवती स्त्री में जो रुक बनता है, उसके कीन कार्य होते हैं । (१) माता के शरीर का पोषण, (२) स्तनों में दूध, (३) बचे का पोषण, इसलिये यह आर्तव भी स्तनों में दूध उत्पन्न कर देता है ।

१. को छियां बच्चों के छिये बहुत कालायित रहती हैं उनमें भी छातु गर्भ के रुक जाने पर ये छक्षण दीखने लगते हैं । इस अवस्था में यदि सुंचाकर परीक्षा करें तो सिवाय वायु के और कुछ उपकरण नहीं होता

गुल्म का पूर्वरूप—इन पांचों प्रकार के गुल्मों की उत्पत्ति से पूर्व निम्न-
लिखित लक्षण होते हैं : यथा—अज में अनिच्छा, अहनि, अविग्रह, अभिजी की
विषमता (कभी तेज़ और कभी मन्द), बिदाह (जलन), भोजन के पचने
के समय जलन, विना कारण के बमन और डकार आना, अब्देवायु, मूत्र व
मलों की अप्रवृत्ति अथवा प्रवाहण की प्रवृत्ति होने पर भी मलादि का बाहर
न निकलना, अथवा योद्धा आना, चातशूल, पेट में गुड़-गुड़ाहट, आंतों में
अफ्फारा, शरीर में रोमांच, गांठदार मल का आना, भूख का न लगना, कृशता,
पेट भर अज्ज स्वाने पर उसका सहन न होना, इत्यादि लक्षण सब प्रकार के
गुल्मों के पूर्वरूप हैं ॥ १६ ॥

सर्वेऽवपि च खल्वेतेषु न कश्चिद्वाताहृते संभवति गुल्मः ॥ १७ ॥

इन सब प्रकार के गुल्मों का मूलभूत कारण वायु ही है, वायु के विना
कोई भी गुल्म नहीं होता ॥ १७ ॥

तेषां सञ्चिपातजमसाध्यं ज्ञात्वा नोपक्रमेत् । एकदोषजे तु यथा-
स्वमारम्भं प्रणयेत् । संसृष्टांस्तु साधारणेन कर्मणोपचरेत् । यज्ञान्य-
दृष्यविरुद्धं मन्येत तदवचारये द्विभज्य गुरुलाघवमुपद्रवाणां समीक्ष्य,
गुरुनुपद्रवांस्त्वरमाणश्चिकित्सेज्जघन्यमितरान्, त्वरमाणस्तु विशेषमनु-
पलभ्य गुल्मेष्वान्ययिके कर्मणि वातचिकित्सितं प्रणयेत्, स्नेहस्वेदौ
वातहरौ, स्नेहोपसंहितं च मृदुविरेचनं, वस्तीश्चाम्ललवणमधुरांश्च
रसान् युक्तितोऽवचारयेत् । मारुते शुपशान्ते स्वल्पेनापि प्रयत्नेन
शक्योऽन्योपि दोषो नियन्तुं गुल्मेष्विति ॥ १८ ॥

इनमें सञ्चिपातजन्य गुल्म को असाध्य समझ कर चिकित्सा में हाथ नहीं
डालना चाहिये । एक दोष से उत्पन्न गुल्म की यथायोग्य रीति से चिकित्सा
करनी चाहिये । दो दोषवाले गुल्मों की चिकित्सा साधारण प्रकार से करना
चाहिये । अथवा वैद्य रोगी के उपद्रवों की गुद्धा लघुता को देखकर, दूसरे किसी
से चिकित्सा विरुद्ध न पड़े, इस प्रकार से चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये । जो
उपद्रव गुरु हो, उनकी तत्काल चिकित्सा करनी चाहिये और जो उपद्रव कम
हों, उन की पीछे से चिकित्सा करनी चाहिये । जिस गुल्म में कुछ पता न
चलता हो या काम ज़रूरी या जल्दी करना हो तो प्रथम वायु की चिकित्सा
करनी चाहिये । क्योंकि वायु को शान्त करने के लिये स्नेहन, मुदु विरेचन,
वृत्तिकर्म, स्थान, नमकीन और मधुर रस युक्तिपूर्वक देने चाहिये । वायु के
स्नेहाने पर योक्ते से परिश्रम से दूसरे दोष भी सुगमता से बढ़ में कियं
करते हैं ॥ १९ ॥

भवति चात्र—

गुल्मनाम निलशान्तिरूपायैः सर्वशो विविवदाचरितव्या ।

मारुते द्वाषजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥ १६ ॥

गुल्मरोग में वायु को शान्त करने के लिये सम्पूर्ण विविकाम में लानी चाहिये । क्योंकि वायु को शान्त न करने पर दूलरा थोड़ा सा बढ़ा हुआ दोष भी सम्पूर्ण किये कराये पर पानी फेर देता है ॥ १६ ॥

तत्र इलोकाः—संख्या निमित्तं रूपाणि पूर्वरूपमथापि च ।

हृष्टं निदाने गुल्मानामेकदेशश्च कर्मणाम् ॥ २० ॥

इस गुल्म निदान में गुल्मों की संख्या, कारण, पूर्वरूप और चिकित्सा कह दी हैं ॥ २० ॥

इत्यग्निवेदकृते तन्त्रे चरकपतिसंस्कृते निदानस्थाने गुल्मनिदानं
नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे प्रमेह-निदान का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

त्रिदोषकोपनिमित्ता विश्वितः प्रमेहा भवन्ति, विकाराश्वापरेऽ-
परिसंख्येयाः । तत्र यथा त्रिदोषप्रकोपः प्रमेहानभिनिर्वर्तयति तथाऽ-
नुव्याख्यास्यास्यामः ॥ ३ ॥

प्रमेहों की संख्या—वात आदि तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले प्रमेह बींस प्रकार के हैं, इनके सिवाय दूसरे रोग असंख्य हैं । त्रिदोष के कोप से प्रमेह किस प्रकार उत्पन्न होते हैं इसका आगे वर्णन करते हैं ॥३॥

इह खलु निदान-दोष-दूष्य-विशेषेऽयो विकार-विधात-भावाभाव-
प्रतिविशेषा भवन्ति ॥ ४ ॥

निदान, दोष और दूष्य इनके विशेष-मेदों को छेकर रोगों के विचात अर्थात् रोग का देर में होना, थोका या अधिक विकार होना आदि भाव-विशेष उत्पन्न होते हैं । इस सत्रात्मक विद्वान्त को विस्तार करते हैं ॥४॥

वदा होते श्रयो निदानादिविशेषः परस्परं नानुबन्धन्ति, अथवा वा कालभक्षीदवलीयासो वाऽनुबन्धन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, चिराद्वाऽप्यभिनिर्वतन्ते, तनवो वा भवन्त्यथवाऽप्ययोजसर्वलिङ्गाः । विपर्यये विपरीताः; इति सर्वविकार-विघात-भावाभाव-प्रतिविशेषाभिनिर्वृत्तिहेतुर्भवत्युक्तः ॥ ५ ॥

रोगों के उत्पन्न होने और न होने का कारण—निदान दोष और दूष भावों की भिन्नता से रोग उत्पन्न होते हैं और नहीं भी उत्पन्न होते हैं। जब निदानादि ये तीनों परस्पर नहीं मिलते, अथवा लम्बे समय पीछे मिलते हैं, या निर्वल अवस्था में मिलते हैं, तब रोग उत्पन्न नहीं होता, यदि उत्पन्न भी होता है तो देर में उत्पन्न होता है या निर्वल रूप में या अशम्पूर्ण लक्षणों के साथ उत्पन्न होता है। परन्तु जब निदान, दोष और दूष परस्पर समानरूप में मिलते हैं, तब शीघ्र, बलवान् एवं सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त रोग उत्पन्न होता है। सब रोगों की उत्पत्ति में निदान दोष और द्रव्य का होना या न होना कारण होता है ॥ ५ ॥

तत्रेमे श्रयो निदानादिविशेषाः श्लेष्मनिमित्तानां प्रमेहाणामाद्य-भिनिर्वृत्तिकरा भवन्ति । तथ्यथा-हायनक-यवक-चीनकोहालक-नैषधें-त्कट-मुकुन्दक-महाब्रीहि-प्रमोदक-सुगन्धकानां नवानामतिवेलमतिप्रमाणेनोपयोगः, तथा सर्पिष्मतां नवहरेणुमाषसूच्यानां ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां शाक-तिल-पल्ल-पिष्ठान्न-पायस-कृशर-विलेपीज्ञुविकाराणां क्षीर-मन्दक-दधि-द्रव-मधुर-तरुणप्रायणामुपयोगो, मृजा-व्यायाम-वर्जनं, स्वप्रश्ययनासनप्रसङ्गो यथा कश्चिद्विधिरन्योऽपि श्लेष्म-मेदो-मूत्र-संजननः स सर्वो निदानविशेषः ॥ ६ ॥

कफजन्य प्रमेह में निदानादि की भिन्नता—निम्न कारणों से कफजन्य प्रमेह मुख्यतः उत्पन्न होता है। यथा हायनक (धान्य विशेष), यवक (जौ), चीनक, उहालक, नैषध, इत्कट, मुकुन्दक, महाब्रीहि, प्रमोदक, सुगन्धिक इत्यादि जाति के चावलों को अतिमात्रा में वा नूतन चावलों का उपयोग करने से, इसी प्रकार जौ के साथ हरेणु (मटर), उड्ड की दाल, ग्राम्य या आनूप अथवा जलचर प्राणियों का मांस अधिक खाने से, भाजी, तिळ, माल, पिछो से बने पदार्थ खीर, खिचड़ी, विलेपी गाढ़ी कांझी), जै के रस से बनी वस्तुओं के अति उपयोग करने से, दूध, द्रव, दही, द्रव, मधुर पदार्थ या नवीन चान्यों के अति उपयोग करने से, और जा धोषन न करने से, अंगों को परिचालन न करने से, दोने, ढेने या

बेठे रहने से, अथवा कफ, मेद व मूत्र को बढ़ाने वाला जो भी चारण होता है वे सब प्रमेहों के विशेष कारण हैं ॥६॥

बहुद्वयः श्लेष्मा दोषविशेषः ॥ ७ ॥

बहुद्वयं मेदोमासि॑ं शरीरजलोदः शुक्रं शोणितं च वसा मज्जा लसीका रसश्वौजःसंख्यात् इति दूष्यविशेषाः ॥ ८ ॥

कफप्रमेह के दूष्य — बहुत तरल (द्रव) कफ इसमें दोष होता है, बहुत अवद (असंहत अर्थात् ढीला-शिथिल) मेद मांस, शरीरजन्य क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, रस और ओज ये दूष्य विशेष हैं अर्थात् इनमें ही दोष अपना बुरा प्रभाव उत्पन्न करता है १ ॥८॥

त्रयाणामेषां निदानादिविशेषाणां सन्निपाते क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते प्रागतिभूयस्त्वात्, स प्रकुपितः क्षिप्रमेव शरीरे विसृष्टिं लभते, शरीरशेषियल्यात्स विसर्पबछरीरे मेदसैवादितो मिश्रीभावं गच्छति, मेदसश्वैव बहुद्वयत्वान्मेदसश्व गुणानां गुणैः समानगुणभूयिष्टत्वात् मेदसा मिश्रीभावं गच्छन् दूष्यत्येनद्विकृतत्वात्, स विकृतो दुष्टेन मेदसोपहितः शरीरक्लेदमासाध्यां संसर्गं गच्छति, क्लेदमासयोरतिप्रमाणाभिवृद्धत्वात् स मासे मासप्रदोषात्पूर्तिमासपिङ्काः शराविकाकच्छपिकाद्याः संजनयति, अप्रकृतिभूतत्वात्, शरीरक्लेदं पुनर्दूषयन्मूत्रत्वेन परिणमयति । मूत्रवहानां च स्रोतसां वक्ष्यणवस्तिप्रभवाणां मेदःक्लेदोपहितानि गुरुणिमुखान्यासाद्य प्रतिरूप्यते; ततस्तेषां स्थैर्यमसाध्यतां वा जनयति, प्रकृतिविकृतिभूतत्वात् ॥ ९ ॥

कफप्रमेह की सम्प्राप्ति—निदान, दोष और दूष्य इन तीनों के मिलने से कफ शीघ्र कुपित हो जाता है । क्योंकि रोग उत्पत्तिकाल में कफ अधिक बढ़ा होता है । इस प्रकार से कुपित कफ जल्दी ही शरीर में फैल जाता है । शरीर के शिथिल होने से फैलता हुआ यह कफ सबसे प्रथम शरीर में मेद के साथ

१. प्रमेह में सब से प्रथम कफ का ही बिगड़ होता है । इसकिये यह तो दोष है, और सप्तधातु, रस, रक्त, मांस आदि ये इससे दूषित होते हैं, इसलिये ये दूष्य हैं । इस अवस्था में जिस अपर ओज का परिमाण आधा अखालि कहा है, वह ओज भाग विकृत होता है । क्लेद रक्त का तरक भाग है जिसके दूषित होने से ममुमेह रोगी के व्रण शीघ्र अट्ठे नहीं होते । शरीर में त्वचा के नीचे रहने वाला पतला इवेत, चिकना पदार्थ है जो की रक्त करता है । वे सब दूष्य हैं ।

मिलता है। क्योंकि मेद बहुत अच्छा अचार्य गिरिध कप में होता है। वसा मेद के गुणों के समान गुण ही कफ के हैं और शरीर में मेद का परिमाण भी बहुत है। मेद के साथ मिलकर कफ अपने आप दूषित होने से इन को भी दूषित बना देता है। यह विकृत कफ दुष्ट मेद के साथ मिलकर शरीर के क्लैद भाग और मांस के साथ मिल जाते हैं। शरीर में क्लैद और मांस बहुत मात्रा में बढ़े होते हैं। यह मांस को दूषित करके मांस में उत्पन्न होने वाली पिण्डकार्य, शराविका, कच्छपिका आदि को उत्पन्न करता है। क्योंकि कफ अपनी प्रकृति में नहीं रहता, इसलिये अपनी शक्ति से इनको उत्पन्न करता है। शरीर के क्लैद को दूषित करके मूत्र रूप में बदल देता है। वैश्वन उनिषदथा वस्ति से उत्पन्न होने वाले मूत्र वह स्रोतों के मुख मेद और क्लैद के मारी होने से बन्द हो जाते हैं। इसलिये इनमें प्रमेह ठिक जाता है। या बहुत बढ़कर असाध्य बन जाता है। क्योंकि कफ, मेद और वसा में समान है, परन्तु रक्तादि में असमान होता है; इसलिये प्रकृति विकृति होने से प्रमेह विघ्न बन जाते हैं या असाध्य हो जाते हैं ॥९॥

शरीरके दस्तु श्लेष्म-मेदो-भिशः प्रविशन्मूत्राशयं मूत्रत्वमापयमानः श्लैष्मकरेभिदर्शीभर्गुणौरुपस्तृज्यते वैषम्ययुक्तः । तदथा—इवेत-शीत-मूर्त-पिच्छिलाच्छ-स्तिनध-गुरु-प्रसाद-मधुर-सान्द्र-मन्दैः; अत्र येन गुणनेकनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति ॥१०॥

शरीर की आर्द्रता कफ और मेद से मिलकर मूत्राशय में प्रवेश करती है। वहाँ पर मूत्ररूप होकर विषमतावाले कफ के दस गुणों के साथ मिल जाती है। कफ के दस गुण—इवेत, शीतल, मूर्त, पिच्छिल, स्तिनध, गुरु, प्रसाद, मधुर, सान्द्र और मन्द, इनमें से एक गुण की या अनेक गुणों की प्रधानता होने से उसी के अनुसार सामान्य या विशेष नाम मिलता है ॥१०॥

ते तु खल्लिवमे दश प्रमेहाना नामविशेषेण भवन्ति । तदथा—उदक-भेदश्वक्षुब्धालिकारसमेहश्व, सान्द्रमेहश्व, सान्द्रप्रसादमेहश्व, शुक्लमेहश्व, शुक्लमेहश्व, शीतमेहश्व, सिकतमेहश्व, शनैर्मेहश्वाऽलालमेहश्वेवि ॥११॥

ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुणमेदः स्थानत्वात्कफस्य प्राप्तान्या-कियत्वाच्च ॥ १२ ॥

कफकल्प दस प्रमेह—इन ब्रह्मर के कफकल्प प्रमेह दस प्रकार के हैं।

नाम (१) उदकमेह, (२) इन्द्रुवालिकारसमेह, (३) लान्द्रमेह, (४) लान्द्र-

प्रशादमेह, (५) शुक्रमेह, (६), शुक्रमेह, (७) शीतमेह (८) सिक्तामेह (९) शनैमेह और (१०) आलालमेह ।

ये कफजन्य दस प्रमेह साध्य हैं । क्योंकि कफ और मेद के गुण एवं स्थान समान हैं, तथा कफ की प्रधानता होने से और कफ और मेद की चिकित्सा के समान होने से कफप्रमेह साध्य है ॥१२॥

तत्र इलोकाः इलेघ्मप्रमेहविज्ञानार्था भवन्ति ।

कफप्रमेहों को बताने के लिये इलोक कहते हैं—

अच्छं बहुसिंतं शान्तं निर्गन्धमुदकोपमम् ।

इलेघ्मकोपाङ्गरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ॥ १३ ॥

अत्यर्थमधुरं शीतमीषत्पिच्छिलमाविलम् ।

काण्डेष्वरसर्वकाशं इलेघ्मकोपात्प्रमेहति ॥ १४ ॥

यस्य पर्युचितं मूत्रं सान्दीभवति भाजने ।

पुरुषं कफकोपेन तमाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥ १५ ॥

यस्य संहन्यते मूत्रं किंचित् किंचित्प्रसीदति ।

सान्द्रप्रसादमेहीति तमाहुः इलेघ्मकोपतः ॥ १६ ॥

शुक्रं पिष्टनिभं मूत्रमभीक्षणं यः प्रमेहति ।

पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्रमेहिनम् ॥ १७ ॥

शुक्राभं शक्तिश्रं वा सुहुमेहति यो नरः ।

शुक्रमेहिनमाहुस्तं पुरुषं इलेघ्मकोपतः ॥ १८ ॥

अत्यर्थशीतमधुरं मूत्रं मेहति यो भृशम् ।

शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं इलेघ्मकोपतः ॥ १९ ॥

मूर्तान्मूत्रगतान्दोषानण्नमेहति यो नरः ।

सिक्तामेहिनं विद्याभरं तं इलेघ्मकोपतः ॥ २० ॥

मन्दं मन्दमवर्गं तु कृच्छ्रं यो मूत्रयेच्छन्ते ।

शनैर्मेहिनमाहुस्तं पुरुषं इलेघ्मकोपतः ॥ २१ ॥

तन्तुबद्धिमिवाऽलालं पिच्छिलं यः प्रमेहति ।

आलालमेहिनं विद्यात्तं नरं इलेघ्मकोपतः ॥ २२ ॥

(१) उदकमेह—उदकमेह का रोगी कफ के प्रकोप के कारण बहुत स्वच्छ, बहुत सफेद, शीतल, बिना गन्ध का, पानी के समान मूत्र करता है यह उदकमेह के लक्षण हैं ।

* मूत्रमार्ग से शुक्र का मूत्र से पृथक् रूप में जाना यह शुक्रदोष इष्टका प्रमेह में अन्वर्माव नहीं होता ।

(२) इच्छाकिकारसमेह—कफ के प्रकोप से अतिशय मधुर, शीतल, योदा चिकास वाला, मेला, अस्वच्छ, गजे के रस के समान मूत्र करता है। वह 'इच्छामेह' का रोगी है।

(३) सान्द्रमेह—पहिले दिन का बरतन में रखा हुआ जिसका मूत्र, कफके कारण दूसरे दिन गाढ़ा हो जाता है, उसको 'सान्द्रमेह' का रोगी समझना चाहिये।

(४) सान्द्र-प्रसादमेह—कफप्रकोप के कारण मूत्र ऊपर जम जाये और नोचे योदा-योदा पतड़ा रहे तो 'सान्द्रप्रसाद मेह' का रोगी समझना चाहिये।

(५) शुक्रमेह—कफप्रकोप के कारण जो मनुष्य शुक्र के समान, या शुक्र से मिला, मूत्र बार-बार करता है उसको 'शुक्रमेह' का रोगी समझना चाहिये।

(६) शीतमेह—जो मनुष्य कफप्रकोप से अत्यन्त शीतल, भीठा-मूत्र अधिकतर करता है, उसको 'शीतमेह' का रोगी जानना चाहिये।

(८) सिक्तामेह—कफप्रकोप से जब मनुष्य के मूत्र में सूख्म, बालू के समान छोटे छोटे कठिन कण जाने लगते हैं, तब उसे 'सिक्तामेह' का रोगी समझना चाहिये।

(९) शनैर्मेह—जब मनुष्य कफ के प्रकोप से धीरे-धीरे, विना बेग के, कठिनाई से, मूत्र करता हो तब इसको 'शनैर्मेह' का रोगी समझना चाहिये।

(१०) आलालमेह—जो मनुष्य कफ के प्रकोप से तारवाला या लार के समान चिकना मूत्र करता है तो इसको 'आलालमेह' का रोगी समझना चाहिये ॥ १३-२२ ॥

इत्येते दृश्य प्रमेहाः स्लेषमप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥

इस प्रकार से कफ के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले दस प्रकार के प्रमेहों का वर्णन कर दिया है।

उष्णाम्ल-लघुण-क्षार-कटुकाजीर्ण-भोजनोपसेविनस्तथाऽतितीक्षणा-लपाचिन-संताप-श्रम-क्रोध-विषमाहारोपसेविनश्च तथाऽत्मकशरीरस्यैव क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २३ ॥

तद्वक्षुपितं तथैवाऽनुपूर्वा प्रमेहानिमान् षट् क्षिप्रमभिनिर्वर्त-यति ॥ २४ ॥

तेषामपि च पित्तगुणविशेषेण नामविशेषा पूर्ववद् युक्ता भवन्ति ।
उष्णा—क्षारमेहश्च, कालमेहश्च, नीलमेहश्च, छोहितमेहश्च, मस्तिष्ठा-मेहश्च, दारिद्र्मेहश्चेति । ते षट्भिरेतैः क्षाराम्ल-लघुण-कटुक-विक्षोऽस्ते-

पित्तगुणः पूर्ववस्त्रमन्विता भवन्ति । सर्वं एव च दे वानाः, संसृष्ट-
दोष-मेदःस्थानत्वाद्विरुद्धोपक्रमस्याच्छ्वेति ॥ २५ ॥

पित्तप्रमेह के कारण और सम्प्राप्ति—उण्णा, अम्ल, लबण, क्षार, वा कटु
पदार्थों के अति सेवन करने से, अजीर्णवस्था में भोजन करने से, तीव्र
धूप, अग्नि, सन्ताप, अम, क्रोध वा विषम भोजन के सेवन से, पित्त प्रकृतिवाले
पुरुष में पित्त शीघ्रता से प्रकृपित हो जाता है ।

यह प्रकृपित पित्त, पूर्व वर्णित प्रकार से ही छः प्रकार के प्रमेह उत्पन्न
करता है ।

पित्तजन्य प्रमेह—छः प्रकार के प्रमेह भी, कफप्रमेह के समान ही पित्त के
गुण के अनुसार भिन्न २ नाम वाले होते हैं । जैसे—(१) श्वारमेह, (२)
काळमेह, (३) नीलमेह, (४) लोहितमेह, (५) मंजिष्ठामेह और (६)
हारिद्रमेह । ये छः प्रकार के प्रमेह पूर्ववत् क्षार, लबण, कटु, अम्ल, विस्त
(दुर्गन्ध) और उण्ण इन पित्त के गुणों से युक्त होते हैं । ये पित्तजन्य प्रमेह
सब के सब ग्राप्य हैं । क्योंकि पित्त और मेद इनका स्थान समीप, एवं धर्म
परस्पर विरुद्ध हैं, एवं चिकित्सा भी परस्पर विरोधी है ॥ २३-२५ ॥

तत्र इलोकाः पित्तप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—

पित्त प्रमेह को बताने के लिये ये निम्न लिखित इलोक कहे हैं—
गन्धवर्णरसस्पर्शर्यथा श्वारस्तथात्मकम् ।

पित्तकोपाच्चरो मूत्रं श्वारमेही प्रमेहति ॥ २६ ॥

मसीवर्णमजसं यो मूत्रमुर्ध्ण प्रमेहति ।

पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यात्कालमेहिनम् ॥ २७ ॥

चाषपक्षनिभं मूत्रं मन्दं मेहति यो नरः ।

पित्तस्य परिकोपेण तं विद्यात्त्रीलमेहिनम् ॥ २८ ॥

विस्त्रं लबणमुर्ध्णं च रक्तं मेहति यो नरः ।

पित्तस्य परिकोपेण तं विद्याद्रुक्तमेहिनम् ॥ २९ ॥

मञ्जिष्ठारूपि योऽजसं भृशं विस्त्रं प्रमेहति ।

पित्तस्य परिकोपात्तं विद्यान्माञ्जिष्ठमेहिनम् ॥ ३० ॥

* पित्त का स्थान आमाशय, और मेद का वसावहुक स्थान आमाशय
का एक प्रदेश है । इसलिये दोष एवं दूष्य के नित्यप्रति पात्र में रहने से ग्राप्य
है । पित्त को शान्त करने वाले जो मधुर, शीत आदि पदार्थ हैं, वे मेद,
लिये अप्रथ हैं और जो मेद के लिये कटु रस आदि वस्तु पथ्य हैं, वे पित्त
लिये अप्रथ हैं । इसलिये चिकित्सा परस्पर विरोधी पक्ष जाती है ।

हरिद्रेशकसंकाशं कटुकं यः प्रमेहति ।

पित्तस्य परिकोपात् विद्याद्वारिद्रमेहिनम् ॥ ३१ ॥

इत्येते षट्प्रमेहाः पित्तप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥ ३२ ॥

(१) खारमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण खार के समान रग्ब, वर्द्ध रु और स्पर्शवाला मूत्र करता है वह खारमेह का रोगी होता है ।

(२) काळमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण स्याही के समान काला एवं गरम मूत्र बार-बार करता हो उसको काळमेह का रोगी जानना चाहिये ।

(३) नीलमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण चाष (नीलकण्ठ) पद्धी के पंख के समान नीले रंग का एवं अम्ल मूत्र त्याग करता है, उसे 'नीलमेह' का रोगी समझना चाहिये ।

(४) रक्तमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण दुर्गन्धयुक्त, नमकोन, गरम एवं लाल रंग का मूत्र त्याग करता है, उसको रक्तमेह का रोगी समझना चाहिये ।

(५) मंजिष्ठामेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण मंजीठ के समान या ताम्बे के रंगवाला, दुर्गन्धयुक्त, मात्रा में बहुत, बार-बार मूत्र त्याग करता है, उसको मंजिष्ठामेह का रोगी समझना चाहिये ।

(६) हारिद्रमेह—जो मनुष्य पित्तप्रकोप के कारण हल्दी के पानी के समान पीला, एवं कडुवा मूत्र त्याग करता है, उसको हारिद्रमेह का रोगी समझना चाहिये । इस प्रकार से पित्तप्रकोप के कारण होनेवाले छः प्रमेहों का वर्णन कर दिया ॥ २६-३२ ॥

रुक्ष-कटु-कषाय-तिक्तक-छु-शीत-व्यवाय-च्यायाम-वमन-विरेचना-स्थापनशिरोविरेचनातियोग-संधारणानशनाभिघातावपोद्वेग-शोक-शोणितातिसेक-ज्ञागरण-विषम-शरीरन्यासानुपसेवमानस्य तथात्मकशरीरस्यवक्षिप्रं वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितस्तथात्मके झरीरे विसर्पन् यदा चसामादाय मूत्रवहानि खोतांसि प्रतिपद्यते, तदा चसामेहमभिनिर्वतयति यदा पुनर्मज्जानं मूत्रवस्त्वावाकर्षति, तदा मज्जमेहमभिनिर्वतयति; यदा छसीका मूत्राशयेऽभिवहन्मूत्रमनुवन्धं चयोतयति छसीकातिबहुत्वाद्विक्षेपणात्त्वं वायोः खल्वस्यातिमूत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा स मत्त इव गजः श्वरत्यजस्तं मूत्रमवेगं, तं हस्तिमेहिनमाचक्षते; ओजः पुनर्मधुर-स्वभावं, तदा रौक्ष्याद्वायोः कषायत्वेनाभिसंसूज्य मूत्राशयेऽभिवहति । मधुमेहं करोति ॥ ३३ ॥

' तानिमाश्चतुरः व्रमेहाश्च बातजानसाव्यानाचक्षते भिक्षाः, महात्य-व्याद्विरुद्धोपकमत्वाच्च । तेषामस्मि च पूर्ववद् मुण्डिरोपेण नामधि-

शोषा भवन्ति । तदथा—वसामेहङ्ग, मज्जमेहङ्ग, हस्तिमेहङ्ग, मधुमेहङ्गेति ॥ ३४ ॥

वातजमेह के कारण—रुक्ष, कडु, कषाय, तिक, लघु, शीत पदार्थों के उपयोग से छींग, व्यायाम, वमन, विरेचन, बहिंकर्म और शिरोविरेचन इनके अतियोग से, वेगों को रोकना, अनशन (उपवास), चोट लगाने से, धूप, शोक, उड़ेग, रक्त के अधिक निकलनेसे, जागने में, शरीर को विषम अवस्था में रखने से, वातप्रकृतिवाले पुरुष में वायु तत्काल प्रकृपित हो जाता है ।

(१) वसाप्रमेह की सम्प्राप्ति—इन कारणों से कृपित वायु, वात प्रकृति वाले मधुमध्य के शरीर में फैलता हुआ जब वसा के साथ मिलकर मूत्रवह स्रोतों में पहुंच जाता है, तब वसामेह को उत्पन्न करता है ।

(२) मज्जमेह—और जब वायु मज्जा को मूत्रवस्ति में खींचकर ले जाता है उस समय 'मज्जमेह' उत्पन्न होता है ।

(३) हस्तिमेह—जिस समय वायु लटीका^१ से मिल कर मूत्राशय में जाकर मूत्र रूप से बाहर निकलता है, उस समय लटीका की अधिकता एवं वायु की विशेषण शक्ति के कारण मूत्र बहुत अधिक मात्रा में आता है । तब पुरुष मस्त हाथी के समान निरन्तर वेग से रहित मूत्र बहाया करता है, इसको 'हस्तिमेह' कहते हैं ।

(४) मधुमेह—शरीर में स्थित ओज का स्वभाव मधुर है । इस के साथ वायु का रुक्ष एवं कषाय गुण (वायु अपनी शक्ति से ओज को कषाय में बदल देता है) मिलकर जब मूत्राशय में जाता है, तब 'मधुमेह' रोग उत्पन्न होता है ।

सब वातजमेह असाध्य—वैद्य लोग इन चार वातजन्य प्रमेहों को असाध्य मानते हैं । क्योंकि मज्जा आदि सार रूप धातुओं का क्षय हो जाता है और चिकित्सा विपरीत पक्ती है, क्योंकि वायु के लिये क्षिरघ आदि पदार्थ पद्ध्य हैं, यही मेद के लिये अपद्ध्य और जो रुक्ष आदि मेद के लिये पद्ध्य हैं वह वायु के लिये अपद्ध्य हैं । इनके भी नाम पूर्व की भाँति गुणविशेष को लेकर हैं । यथा—१. वसामेह, २. मज्जमेह, ३. हस्तिमेह और ४. मधुमेह ॥ ३३-३४ ॥

तत्र इलोका वातप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति—

वातप्रमेहों को विशेष रूप से कहने के लिये ये निम्नलिखित इलोक हैं—

१ कसीका का अर्थ मांस की स्वचा के अन्दर रहने वाले अल्पीय भाग जैवा कहेंगे—‘यस्मात्स्वगत्तरे उदाहृतं तत्त्वसीकाशब्दं डभते ।’

वसामिश्रं वसाभं च मुहुर्मेहति यो नरः ।
 वसामेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३५ ॥
 मज्जानं सह मूत्रेण मुहुर्मेहति यो नरः
 मज्जमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३६ ॥
 हस्ती मत्त इवाजस्तं मूत्रं क्षरति यो भृशम् ।
 हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः ॥ ३७ ॥
 कषायमधुरं पाण्डुं रूक्षं मेहति यो नरः ।
 वातकोपादसाध्यं तं ग्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥ ३८ ॥

इत्येते चत्वारः प्रमेहा वातप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥ ३९ ॥

(१) वसामेह—जो मनुष्य वात के प्रकोप के कारण वसामिश्रित या वसा के समान रंगवाला मूत्र बार-बार करता है, उसको वसामेह का रोगी जानना चाहिये, यह रोग असाध्य है ।

(२) मज्जमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से मज्जा से युक्त मूत्र बारबार त्याग करता हो, उसको मज्जमेह का रोगी जानना चाहिये । यह भी रोग असाध्य है ।

(३) हस्तिमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से मस्त हाथी की भाँति एक समान मूत्र, निरन्तर और बहुत अधिक करता है, उसको हस्तिमेह का रोगी कहते हैं, यह भी असाध्य है ।

(४) मधुमेह—जो मनुष्य वायु के प्रकोप से कषाय, मधुर, पाण्डुवर्ण और रूक्ष मूत्र त्याग करता है उसको मधुमेह का रोगी जानना चाहिये । यह भी असाध्य है । ये चार प्रमेह वायु के प्रकोप के कारण होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

त एवं त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिः प्रेहा व्याख्याता भवन्ति ४०

इस प्रकार से तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण बीस प्रकार के प्रमेहों का वर्णन कर दिया है ॥ ४० ॥

त्रयस्तु दोषाः प्रकुपिताः प्रमेहानभिनिर्वर्तयिष्यन्त इमानि पूर्व-रूपाणि दर्शयन्ति । तद्यथा—जटिलीभावं केशेषु, माझुर्यमास्ये, करपा-दयोः सुसवादाहौ, सुखतालुकण्ठशोषं, पिपासा, आलस्यं, मलं च काये, कायच्छिद्रे पूपदेहं, परिदाहं, सुसवां चाङ्गेषु, षट्पद-पिपीलिकाभिष्ठ शरीरमूत्राभिसरणं, मूत्रं च मूत्रदोषात्, विन्नं शरीरगन्धं, तन्द्रां च शृणुमिति ॥ ४१ ॥

। का पूर्वस्प—तीनों दोष कुपित होकर प्रमेह रोग को उत्पन्न करते समय ये पूर्वस्प दिखाई देते हैं । यथा—शालों का उत्तर जाना,

मुख में मिठास, हाथ-पांव में शून्यता और जलन, मुख, गांठ और कण्ठ में शुष्कता, प्यास का लगना, आँखस्य, कार्य करने में अनियम, शरीर में मल का जमना, शरीर के रोम-छिद्रों का बन्द हो जाना, अंगों में जलन एवं शून्यता, शरीर या मूत्र पर भौंरों या चिउंटी का चलना, मूत्र में मूत्र के दोष शरीर से दुर्गन्ध आना, तथा हर समय आंखों में नीद या तन्द्रा (भारीपन) रहता है ॥ ४१ ॥

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां—तृष्णारीसार-ज्वर-दाह-दौर्बल्यारोच-काविपाकाः पूति-मास-पिङ्कालजी-विद्रव्याद्यश्च तत्प्रसंगाद्वन्ति ॥४२॥

तत्र साध्यान् प्रमेहान् संशोधनोपशमनैर्यथाहसुपपाकर्यश्चिकित्सेदिति ॥ ४३ ॥

प्रमेह के उपद्रव—प्रमेह के रोगियों में ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं । यथा-तृष्णा, प्यास, अतिसार, ज्वर, दाह, दुर्बलता, अवच्चि, अविपाक, अपचन, मांस में दुर्गन्धमुक्त पिङ्कायें, अलजी, विद्रवि आदि ये सब उपद्रव प्रमेह के कारण होते हैं ।

चिकित्था—इन सब प्रमेहों में जो प्रमेह साध्य हो, उनका यथायोग्य रीति से संशोधन या सशमनविधि से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ४२-४३ ॥

भवन्ति चात्र—गृध्रमध्यवहयेषु स्नानचक्कमण्डिष्म् ।

प्रमेहः क्षिप्रमध्येति नीड्द्रुममिवाण्डजः ॥ ४४ ॥

मन्दोत्साहमतिस्थूलमर्तिस्नग्धं महाशनम् ।

मृत्युः प्रमेहरूपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ॥ ४५ ॥

यस्त्वाहारं शरीरस्य धातुसाम्यकरं नरः ।

सेवते विविधाद्यान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ॥ ४६ ॥

प्रमेह किसको होता है—घोसले की ओर जिस प्रकार पक्षी जल्दी पहुंच जाता है, उसी प्रकार खाने-नीने के लालची, स्नान एवं चलने-फिरने से द्वेष करने वाले पुरुष को प्रमेह बहुत शीघ्र लग जाता है । मन्द उत्साहवाले निष्टसाही, अतिस्थूल, अत्यन्त स्तिनग्ध शरीर वाले एवं बहुत खाने वाले पुरुष को मृत्यु प्रमेह रूप लेकर चली आती है । जो मनुष्य शरीर के आत्मों को समान करने वाले आहार तथा अन्य प्रकार की चेष्टाओं (विहार) का सेवन करता है, वह मुख भोगता है ॥ ४४-४६ ॥

तत्र लोकाः—हेतुन्याशिविशेषाणां प्रमेहाणां च कारणम् ।

दोषधातुसमायोगो रूपं विविधमेव च ॥ ४७ ॥

वद्धकेषमङ्गाव चस्मात्प्रेहाः पदं च पितजाः ।
यथा करोति वायुश्च प्रमेहाश्चतुरो बली ॥ ४८ ॥
साध्यासाध्यविदेवाऽप्य पूर्वरूपाण्युपद्रवाः ।
प्रमेहाणां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रं च भाषितम् ॥ ४९ ॥

इस प्रमेह-अध्याय में हेतु, व्याचि, प्रमेहों के कारण, दोष एवं दूष्य का वर्णन, इनके नाना रूप, दस प्रकार कफजन्य, छः प्रकार के पितजन्य और चार प्रकार के वातजन्य प्रमेह, उनके साध्य-असाध्य मेद, प्रमेहों के पूर्वरूप, उपद्रव और क्रियासूत्र ये सब विषय कह दिये हैं ॥ ४७-४९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने प्रमेह-
निदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानत्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे कुष्ठनिदान का व्याख्यान करते हैं । जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२ ।

सप्त द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृति-विकृतिमापनानि भवन्ति । तद्यथा—
त्रयो दोषा बातपित्तश्लेषमाणः प्रकोपणविकृताः । दूष्याश्च शरीरधात-
वस्त्वक्-मास-शोणित-ल्सांकाश्चतुर्धा दोषोपधातविकृताः; इत्येतत्सप्तमानां
सप्तधातुकमेवंगतमाजननं कुष्ठानाम्, अतः प्रभवाण्यभिनिर्वर्तमानानि
केवलं शरीरमुपतपन्ति ॥ २ ॥

शरीर के अन्दर सात द्रव्य विकृत होकर कुष्ठ रोग के कारण बनते हैं ।
यथा—प्रकोपकारक पदार्थों के संयोग से बात, पित्त और कफ ये तीन दोष
विकृत होकर, त्वचा, मांस, रक्त और लसीका इन चार दूष्य (धातु तथा उप-
धातुओं) को अपने संरर्ग से विकृत करते हैं । इस प्रकार से ये सात द्रव्य
विकृत होकर कुष्ठ रोग को उत्पन्न करते हैं । १ इन सातों धातुओं से उत्पन्न

१. वीर्यपूर्वक और कुष्ठ रोग में दोष और दूष्य एक समान ही हैं । इस समानता पर भी वीर्यपूर्वक लाने वाला तथा रक्त का प्रधान दोष इसमें रहता है ।

अकेली और सब चिकित्साओं के समान है । रक्तजन्य कण्ठ, पूय, त्वक्-शून्यता, पसीने का न आना होता है जो वीर्यपूर्व में
[मेद है ।

कुष्ठ सात बाटुओं में अपना प्रभाव प्रकट करता हुआ सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करता है ॥३॥

न च किंचिदस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तं, अस्ति तु खलु समान-
प्रकृतीनामपि सप्तार्णा कुष्ठार्णा दोषाशाश-विकल्प-स्थान-विभागेन वेदना-
वर्ण-संस्थान-प्रभाव-नाम-चिकित्सित-विशेषः ॥ ४ ॥

कोई भी कुष्ठ एक दोष के प्रकोप से उत्पन्न नहीं होता । सातों प्रकार के कुष्ठों में प्रकृति के समान होने पर दोष, अंग, बल, विकल्प तथा स्थान मेद से, वेदना,^१ रंग, स्थिति, प्रभाव एवं नाम से चिकित्सा में मेद आजाता है ॥ ४ ॥

स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवति । दोषा हि विकल्पनैर्विकल्प्यमाना विकल्पयन्ति विकारान्, अन्यत्रासाध्यभावात्; तेषां विकल्प-विकार-संख्यानेऽतिप्रसंगमभिसमीक्ष्य सप्तविधमेद्य कुष्ठविशेषमुपदेश्यामः ॥ ५ ॥

इस प्रकार से कुष्ठ सात प्रकार का, अठारह प्रकार का अथवा असंख्य प्रकार का हो जाता है ।

कुष्ठ के सात मेद—दोष अतेक प्रकार की विकल्पनाओं के कारण भिन्न होते हुए नाना प्रकार से नाना रोग उत्पन्न कर देते हैं । अर्थात् व्याघ्रि, करण और दोष इनके मेद से कार्यरूप व्याघ्रि के भी बहुत से मेद होते हैं । इसलिये दोषमेद से उत्पन्न मेदों को असाध्य मेद में नहीं गिना जाता । अतः इन कुष्ठों के मेदों की गणना को बहुत विस्तृत जान कर यहाँ पर केवल सात प्रकार के कुष्ठों का उपदेश करेंगे ॥५॥

इह वातादिषु त्रिषु प्रकुपितेषु त्वगादीश्चतुरः प्रदूषयत्सु वातेऽ-
धिकतरे कापालकुष्ठमभिनिर्वर्तते, पित्ते त्वौदुम्बरं, श्लेष्मणि मण्डल-
कुष्ठं, वातपित्तयोर्कृष्टप्यजिह्वा, पित्तश्लेष्मणोः पुण्डरीकं, श्लेष्ममाहतयोः
सिद्धम्, सर्वदोषाभिवृद्धो काकणकमभिनिर्वर्तते; इत्येवमेष सप्तविधः
कुष्ठविशेषो भवति ॥ ६ ॥

स चैव भूयस्तरमतः प्रकृतौ विकल्प्यमानार्था भूयसी विकारवि-
कल्पसंख्यामापद्यते ॥ ७ ॥

१. वेदनाविशेष—कापालं तोदवडुलम् । वर्णविशेष—काकणन्ति कावर्णं
संस्थान—शूष्यजिह्वासंस्थानम् । प्रभाव—साध्यताऽसाध्यतादि । नामविशेष
कापाळः,—ये उदाहरण हैं ।

वातादि दोष के अनुशार कुष्ठ—वात आदि तीनों दोष प्रकृपित होकर जब सचा, मांस, रक्त और लसीका इन चारों को दूषित करते हैं, तब कुष्ठ-रोग उत्पन्न होता है। इनमें वात की अधिकता से कापालकुष्ठ, पित्त की अधिकता से औदुम्भर-कुष्ठ, कफ की अधिकता से मण्डङ-कुष्ठ, वात-पित्त की अधिकता से शूष्यजिह्वा-कुष्ठ, पित्त-कफ की अधिकता से पुण्डरीक-कुष्ठ, कफ-वायु की अधिकता से सिघ्न-कुष्ठ होता है और सब दोषों की वृद्धि होने से काषण-कुष्ठ उत्पन्न होता है। इस प्रकार से सात कुष्ठ उत्पन्न होते हैं।

यही सात प्रकार के कुष्ठ प्रकृति के तर-तम अर्थात् न्यूनाधिक मेद के कारण नाना प्रकार के कुष्ठों के असंख्य मेद उत्पन्न कर देते हैं ॥७॥

तत्रेदं सर्वकुष्ठनिवानं समासेनोपदेश्यामः । शीतोष्णव्यत्यासमननु-
पूर्वोपसेवमानस्य तथा संतर्पणापतर्पणाऽऽयवहार्यव्यत्यासं च, मधु-फा-
णित-मस्त्य-मूल-काकमाचीश्च सततमतिमात्रमध्यजीर्णेऽन्ने समभ्रतश्चि-
लिचिमं च पयसा, हायनक-यवक-चीनकोहालक-कोरदूषप्रायाणि चाआनि
क्षीर-दधि-तक-कोल-कुलस्य-माषातसी-कुसुमभ-पूष-स्नेहवन्ति, एतैरेवा-
तिमात्रं सुहितभक्षितस्य च व्यवाय-न्यायाम-संतापानत्युपसेवमानस्य,
अतिभयश्रमसंतापोपहतस्य च सहसा शीतोदकमवतरतो, विद्गंधं
चाऽहारजातमनुलिख्य विदाहीन्यऽयवहरतः, छर्दि च प्रतिष्ठनतः,
स्नेहाश्रातिचरतो युगपत् त्रयो दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, त्वगाद्यश्चत्वारः
शथिल्यमापद्यन्ते, तेषु शिथिलेषु त्रयो दोषाः प्रकृपिताः स्थानमभिगम्य
संतिष्ठमानास्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिर्वर्तयन्ति ॥ ८ ॥

कुष्ठ रोग के कारण—अब संक्षेप से सब कुष्ठों का निदान कहते हैं। शीत और उष्ण के परिवर्तन से, शीत और उष्ण के परिव्याग से (अर्थात् उष्ण सेवन करके सहसा शीत सेवन या इसके विपरीत तथा अनुचित काल में शीतोष्ण सेवन से), संतर्पण एवं अपतर्पण दोनों के उलट फेर से, मधु, फाणित (राद), मछली, मूली, काकमाची (मकोय), इनके निरन्तर या अधिक मात्रा में खाने से, अजीर्ण में भोजन करने से, दूष के साथ चिलचिम-मछली के उपयोग से, हायनक, यवक, चीनक, उदालक, कोद्रव आदि कुष्ठान्यों के बहुत खाने से, दूष, दही, छाँड, बेर, कुलधी, उडद, अलसी, धनिया, इनके तेल में तैयार किये पदार्थों के अतिसेवन से, मैथुन, व्यायाम और सन्ताप के इनने से, मध, अम और सन्ताप से युक्त होने पर एकदम ठण्डे पानी से (ठण्डी वायु के सर्व से भी), विदाहकारक पदार्थों का उमन

न करके पुनः विदाहश्चरक पदार्थों के साने से; बमन के बेग को रोकने से, स्त्रियों पदार्थों के अति भोजन से, तीनों दोष एक साथ में कुप्रिय होजाते हैं, तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका जारों धातु विशिष्ट होजाते हैं। इन विशिष्ट हुए धातुओं में कुप्रिय हुए दोष किसी एक भाग में स्थान पाकर बदल ले रहे हैं। वहाँ पर रहकर त्वचा आदि को दूषित कराकर कुष्ठरोग उत्पन्न करते हैं ॥५॥

तेषामिमानि खलु पूर्वरूपाणि । तदथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिभृष्टणवा वैवर्ण्यं कण्ठनिस्तोदः सुप्रता परिदाहः परिहर्षो लोमहर्षः खरत्वमुष्णायनं गौरवं इवयथुर्विसर्पांगमनमभीष्टणं कायच्छ्ल-द्रेषूपदेहः पक्व-दग्ध-दृष्टोपस्खलितेष्वतिमात्रं वेदना स्वरूपानामपि च ब्रणानां दुष्टिरसंरोहणं चेति कुष्ठपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ६ ॥

कुष्ठरोग के पूर्वरूप ये हैं—जैसे पसीने का सर्वथा न आना या बहुत पसीना आना, त्वचा में कर्कशता या कठोरता, अथवा बहुत चिकनापन, रंग परिवर्तन, खाज, सूई तुमने की सी बेदना, स्पर्शशान की शून्यता, जलन, रोमांच, हर्ष, रुक्षता, उष्णता, भारीपन, सूजन, बीसर्प रोग का होना, शरीर के छिद्रों में बार बार लेप सा होना, अवरोध, पक्कने या जलने या कटने या चोट लगने या गिरने पर बहुत दर्द होना, योड़े से ब्रण का भी संक्रान्त होना या शीत न भरना, ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं ॥६॥

तेष्योऽनन्तरं कुष्टानि जायन्ते । तेषामिदं वेदना-वर्ण-संस्थान-प्रभाव-नाम-विशेष-विज्ञानं भवति । तदथा—रुक्षारुणपरुषाणि विष-मविसूतानि खरपर्यन्तानि तनून्युद्वृत्तबहिस्तनूनि सुप्रसुप्रानि हृषितलो-माचितानि निस्तोदबहुलानयल्पकण्ठ-द्वाह-पूय-लसीकान्याशुगतिसमु-त्थानान्याशुभेदीनि जन्तुमन्ति कृष्णारुणकपालवर्णानि च कापालकुष्टा-नीति विद्यात् ॥ १० ॥

उनके पीछे कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। इसके आगे इनके बेदना, वर्ण, संस्थान, प्रभाव, नाम विशेष वर्णन करते हैं।

कापाल-कुष्ठ—रुक्ष, अदृश वर्ण, कर्कश, विषम, फैला, तथा किनारों पर स्तरखर, बाढ़ा पार्श्व से पतला तथा थोड़ा उभरा हुआ, पतला, फैला, सोये हुये के समान सोया, बहरा (स्पर्शशान शून्य), रोमांच सहित, अतिशय तुमने की बेदनाकाले, योदी, खाज, दाह, पूय, लसीका युक्त; शोषणा उत्पन्न होनेवाले, शीघ्र फटनेवाले, कीकेवाले, काले लाल, कापाल वर्ण के, को ‘कापाल कुष्ठ’ कहते हैं। कपाल-गिरी का ठोकरा, उत्तरके लक्षण ॥ १ ॥

व्यज्ञनाति ताम्र-चर-रोम-राजीभिरवनद्वानि बहुत्तदा विष्वद्वान्मुखानमेन-
रक्त-पूष-लसीक्षणे कण्ठ-क्लेव-कोय-दाह-पाकवन्ध्यान्मतिसंख्यानमेन-
दीनि संसंवादकुमीणि पक्षेद्वापक्षवर्णान्म्युद्वरण्डुष्टानीति वि-
चात् ॥ १ ॥

उदुम्बर-कुष्ठ—जो कुष्ठ ताम्बे के समान या ताम्बे के समान रंगवाले
तथा कर्कष रोमवाले; बहुत रक्त-पूष और लसी का से युक्त, जिन
में खाज, क्लेव (साव), कोय (गलना), दाह एवं पाक हो, शीघ्रता
से उत्पन्न होनेवाले एवं पक्षेवाले, जिनमें ताप एवं कृमि हों, जिनका रंग
पके हुए गूलर के समान हो उनको 'उदुम्बर कुष्ठ' जानना चाहिये ॥ १ ॥

स्तिंधानि गुरुण्युत्सेधवन्ति इश्वरस्थिरपीनपर्यन्तानि शुक्लरक्त-
वभासानि शुक्लरेभराजीसन्तानानि बहुल-बहुल-शुक्र-पिच्छुल-स्नावाणि
बहु-क्लेव-कण्ठ-कुमीणि सक्तगतिसमुत्थानमेदीनि परिमण्डलानि मण्डल-
कुष्टानीति विचात् ॥ २ ॥

मण्डल कुष्ठ—जो कुष्ठ स्तिंध, भारी, ऊँचाईवाले, चिकने, स्थिर,
किनारों से मोटे, सफेद या लाल रंग के, सफेद बालों (रोम) से व्याप्त,
जिनमें बहुत, गाढ़ा एवं सफेद तथा चिकना साव होता हो, जो बहुत साव,
खाज तथा कृमि से युक्त हों, जिनकी गति और उत्पत्ति धीरे २ होती हो, जिनका
आकार चक्र के समान गोलाकार हो, उनको 'मण्डलकुष्ठ' कहते हैं ॥ २ ॥

प्रृष्ठाण्यरुणवर्णानि बहिरन्तःश्यावानि नीढ़-पीत-ताम्रावभासान्या-
शुगतिसमुत्थानान्यल्प-कण्ठ-क्लेव-कुमीणि दाह-भेद-निस्तोद-पाक-बहुला-
नि शूक्रोपहतोपमानवेदनान्युत्सन्नमध्यानि तनुपर्यन्तानि कर्कशपिण्डका-
चितानि दीर्घपरिमण्डलानि शृङ्ख्यजिह्वाकृतीनि शृङ्ख्यजिह्वानीति
विचात् ॥ ३ ॥

शृङ्ख्यजिह्वा कुष्ठ—जो कुष्ठ बाहर के पार्श्व में खर्खर तथा लाल रंग के, अन्दर
से काले रंग के, जिनमें नीड़े, पीले, ताम्बे के रंग की छाँई दीखती हो, जो कि
शीघ्रता से बढ़ते या उत्पत्ति वाले हों, जिनमें कण्ठ, कृमि और क्लेव कम हों,
जिनमें दाह, फटना, वेदना तथा पाक बहुत हो, जिनमें शूक (जल शूक, कृमि)
के लगाने के समान पीड़ायें हों, बीच से उठे हुए न हों, किनारों से पतले,

स्वर्णवाली फुनियों द्वारा चारों ओर से घिरे हों, वहे २ चक्रवाले
जीव के समान आकृतिवाले कुष्ठों को शृङ्ख्यजिह्वाकुष्ठ जानना

शुक्ररक्तावभासानि रक्तपर्यन्तानि रक्तराजीसंतवान्युत्सेषवन्ति
बहु-बहु-रक्त-पूय-लसीकानि कण्ठ-कुमि-दाह-पाकवन्त्याशुगतिसमुत्था-
नभेदीनि पुण्डरीकपलाशसंकाशानि पुण्डरीकाणीति विद्यात् ॥ १४ ॥

पुण्डरीककुष्ठ—सफेद या लाल रंग की चमक वाले, किनारों पर लाल,
लाल रोम (बालों) से व्यास, त्वचा से ऊपर उठे हुए न हों, गाढ़ी पूय (पीप),
रक्त एवं लसीका बहुत हो, खाज, कुमि, दाह और पाकयुक्त, जल्दी बढ़ने एवं
उत्पन्न होने वाले, शीघ्रभेदी, कमल के पत्तों के समान आकारवाले कुष्ठों को
'पुण्डरीक-कुष्ठ' कहते हैं ॥ १४ ॥

परुषारुणविशीर्णवहिस्तन्त्रन्यन्तःस्तिमध्यानि बहून्यल्पवेदनान्यल्प-क-
ण्ठ-दाह-पूय-लसीकानि लघुसमुत्थानान्यल्पभेदकुमीण्यादु-पुष्पसंका-
शानि सिध्मकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १५ ॥

सिध्मकुष्ठ—जो कुष्ठ बाहर से कठिन, लाल वर्ण, किनारों से कटे-फटे,
अन्दर से स्तिमध्य, जिनमें सफेद या लाल रंग की चमक हो, जो कि बहुत
अधिक हो जिनमें पीड़ा कण्ठ, दाह, पूय, लसीका कम हो, जिनकी उत्पत्ति धीरे-
धीरे हो, जो अल्पभेदी हों, जिनमें कुमि थोड़े हो और जिनका रंग दूषिया, धीया
कदूद के पूल के समान हो उनको 'सिध्म कुष्ठ' कहते हैं ॥ १५ ॥

काकणनितकावर्णन्यादौ पश्चात्सर्व-कुष्ठ-लिङ्ग-समन्वितानि पापीयसा-
सर्वकुष्ठलिङ्गसंभवेनानेकवर्णानि काकणकानीति विद्यात्, तान्यसा-
ध्यानि साध्यानि पुनरितराणि ॥ १६ ॥

काकणक-कुष्ठ—जिन कुष्ठों का रंग प्रथम लाल रती के समान हो और
पीछे से उनमें सम्पूर्ण कुष्ठों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, उनको 'काकणक
कुष्ठ' कहते हैं । (इनमें अनेक रंग उत्पन्न हो जाते हैं,) ये कुष्ठ पापी
मनुष्यों को होते हैं । इनमें सब कुष्ठों के लक्षण होने से अनेक प्रकार के रोग
उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १६ ॥

तत्र यदृसाध्यं, तदसाध्यतां नातिवर्तते, साध्यं पुनः किञ्चित्साध्य-
तामतिवर्तते कदाचिदपचारात् । साध्यानीह षट् काकणकवर्ज्यान्य-
चिकित्स्यमानान्यपचारतो वा दाष्ठरभित्यन्दमानान्यसाध्यतामुपयान्ति १७

साध्य-असाध्य भेद—इन कुष्ठों में से कुछ कुष्ठ साध्य हैं, और कुछ कुष्ठ
असाध्य हैं, वे कभी अच्छे नहीं होते । परन्तु जो साध्य हैं, वे अपचार और
मिथ्या आहार-विहार के कारण असाध्य हो जाते हैं । काकणक-कुष्ठ को छोड़कर
शेष छः कुष्ठ भी चिकित्सा के न करने से अथवा दोषों के बढ़
असाध्य हो जाते हैं ॥ १७ ॥

साध्यानामपि श्वपेष्ट्यमाणानमेषां त्वर्ष-मास-शारित-क्षुद्रीका-को-
थ-क्षेद-स्वेदजाः कृमयोऽभिमूच्छन्ति । ते भक्ष्यन्तस्त्वगादीन् दोषाश्च
पुनर्दूषयन्त इमातुपद्रवान् पृथक्पृथगुत्पादयन्ति ।

साध्य कुछों में भी उपेक्षा करने से त्वचा, मांस, रक्त, छसीका में सड़ना,
साव और पसीने से कीड़े उत्पन्न होते हैं । ये कृमि त्वचा आदि को लाते
हैं, और बात आदि दोष और अधिक दूषित होकर नीचे लिखे उपद्रवों को
पृथक् पृथक् रूप में उत्पन्न करते हैं ।

तत्र वातः इयावारुणवर्णपक्षतामपि च रौष्ट्य-शूल-शोष-तोद-वेपथु-
न्यथा-हर्ष-संकोचाऽयास-स्तम्भ-सुस्पि-भेद-भङ्गान्, पित्तं पुनर्दौह-स्वेद-
क्षेद-कोथ-कण्ठ-स्नाव-पाक-रागान्, श्लेष्मा त्वस्य इवैत्य-शैत्य-स्थैर्य-
कण्ठ-गौरवोत्सेधोपस्नेहोपलेपान्, कृमयस्त्वगादीश्चतुरः शिराः स्नायूनि
मासान्यस्थीन्यपि च तरुणानि स्वादन्ति ॥ १८ ॥

अस्त्यामवस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं सृशन्ति । तथा—प्रस्तवण-
मङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तुष्णा-ज्वरातोसार-दाह-निर्बल्यारोचका-
विपाकाश्च, तद्रिघमसाध्यं विद्यादिति ॥ १९ ॥

उपद्रव—वायु के कोप के कारण रंग लाल, काला, कर्कशता, रुक्षता, शूल
चुभने की सी बेदना, बींधने का सा अनुभव, रोमाच, हर्ष, कम्प, संकोच,
अम, स्तम्भ, अंग का सो जाना, भेदन या भंग अर्थात् अंगों का ढूटना—ये
उपद्रव होते हैं । पित्तप्रकोप के कारण दाह, पर्सीना, झिन्नता, सड़ना, खाज,
साव, पक्ना इत्यादि उपद्रव होते हैं । कफ के प्रकोप के कारण, अवेत वर्ण,
शीतलता, खाज, स्थिरता, मारीपन, उभार, चिकास, उपलेप होना ये—
उपद्रव होते हैं ।

इस प्रकार से उत्पन्न कीड़े त्वचा आदि चार धातुओं को तथा गिरा,
स्नायु, मांस एवं कोमल अस्थियों (जैसे नाक की कोमल अस्थि) को
खाने लगते हैं । इस अवस्था में कुष्ठरोगी को निम्न लिखित उपद्रव घेर लेते
हैं । यथा—साव का बहना, अंगों का फटना या ढूटना, अंगों का गिरना, तुष्णा,
ज्वर, अतिरार, दाह, निर्बलता, अहस्ति, अविपाक ये उपद्रव होते हैं । इस
अवस्था में रोग असाध्य हो जाता है ॥ १८-१९ ॥

चान्न—साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेक्षते ।

स किञ्चित्कालमासाद्य मृत एवावबुद्ध्यते ॥ २० ॥

यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु च ।

भेषजं कुरुते सम्बद्धं स चिरं सुखमश्नुते ॥ २१ ॥

यथा स्वल्पेन यत्रेन छिद्यते तदपस्तुः ।

स एवातिप्रवृद्धस्तु छिद्यतेऽतिप्रयत्नतः ॥ २२ ॥

एवमेव विकारोऽपि तद्गणः साध्यते सुखम् ।

विवृद्धः साध्यते कृच्छ्रादसाध्यो वाऽपि जायते ॥ २३ ॥

जो मनुष्य रोग के आरम्भ में 'साध्य' है ऐसा समझ कर उपेक्षा कर देता है, वह थोड़े समय पीछे ही मुर्दा होकर (असाध्यावस्था में आकर) ही चेतता है, और रोग के असाध्य होने पर ही उसकी नींद टूटती है । जो मनुष्य-रोग के आक्रमण से पूर्व ही या रोग की नवीन अवस्था में ही आशंका उपचार कर लेता है, वह देर तक सुख (जीवन) का उपमोग करता है । जिस प्रकार थोड़े से परिश्रम से ही छोटा वृक्ष काटा जा सकता है, वही वृक्ष बढ़ा होने पर बहुत परिश्रम से कटता है, इसी प्रकार नवीन अवस्था में रोग भी मुगमता से अच्छा हो जाता है और यही रोग बढ़ने पर कठिनाई से अच्छा होता है, अथवा असाध्य रूप में बदल जाता है ॥ २०-२३ ॥

तत्र श्लोकाः—संख्या द्रव्याणि दोषाश्च हेतवः पूर्वलक्षणम् ।

रूपाण्युपद्रवाश्चोक्ताः कुष्ठानां कौषिके पृथक् ॥ २४ ॥

इस कुष्ठनामक अध्याय में कुष्ठों की संख्या, द्रव्य, हेतु, दोष, पूर्वरूप, और उपद्रव ये सब विषय पृथक् पृथक् कह दिये हैं ॥ २४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने कुष्ठनिदानं
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।



अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब शोष के निदान की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

इह खलु चत्वारि शोषस्याऽयतनानि । तत्त्वा—साहसं, संवर्गं
क्षयो, विषमाकृतमिति ॥ ३ ॥

शोष रोग के चार कारण होते हैं जैसे—(१) शाहउ, (२) संवर्ग,

(मल मूत्रादि के उपरित वेगों को रोकना), (३) वाय, (४) विषमाशन (विषम गुणों वाले अलों का भोजन करना), ॥ ३ ॥

तत्र यदुकुं साहसं शोषस्याऽऽयतनमिति तदनुव्याख्यास्यामः—एदा पुरुषो दुर्बेळो हि सन् बलवता सह विशृङ्खाति, अविमहता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति वाऽन्यतिमात्रं, अविमात्रं वा भारमुद्वृति, अप्सु वा झटते चातिदूरं, उत्सादनपदाधातने वाऽतिप्रगाढमासेवते, अतिप्रकृष्टं वाऽध्वानं द्रुतमभिपतति, अभिहन्यते वाऽन्यद्वा किञ्चिदेवंविवर्णं विषममतिमात्रं वा, व्यायामजातमारभते; तस्यातिमात्रेण कर्मका उरः क्षण्यते ॥

साहस शोषरोग का कारण है, यह जो कहा है, इसकी व्याख्या करेंगे— जब कोई दुर्बल पुरुष आपने से बलवान् व्यक्ति के साथ कुश्ती आदि करता है, बहुत बड़े धनुष को तानता है, अथवा बहुत अधिक बोलता है, बहुत अधिक बोक्ष को डालता है, पानी में बहुत तैरता है, बहुत ऊंचा लम्बा कूदता है, जोर से भूमि पर पांव पटकता है, या बहुत लम्बे या कठिन रास्ते को बहुत तेज़ी से पार करता है, अथवा ऊंचे-नीचे या किसी मारी दुःख कार्य द्वारा चोट खाता है या और कोई ऐसा ही विषम या बहुत अधिक व्यायाम करता है अथवा आरम्भ किये कार्य को बहुत अधिक करता है; इससे उप की छाती फट पड़ती है ॥

तस्योरःक्षतमुपस्थिते वायुः, स तत्रावस्थितः इलेघ्माणमुरःस्थमुपसं-
सूच्य शोषयत् विहरत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च । योऽशस्तस्य शरीरसंघीना-
विश्वाति तेनास्य जूङ्माऽङ्गमदो ज्वरशोषजायते, यस्त्वामाशयमम्बुपैति
तेनास्य वर्षों मिथ्याते, यस्तु हृदयमाविश्वाति तेन रोगा भवन्त्युरस्याः,
यो रसना तेनास्यारोचकश्च, यः कण्ठं प्रपद्यते, कण्ठस्तेनोद्धृष्टस्यते
स्वरक्षावसीदति, यः प्राणदहानि स्नोतास्यन्वेति तेन इवासः प्रतिश्या-
यश्चोषजायते, यः शिरस्यविष्ट्रते शिरस्तेनोपहन्यते ॥३॥

इन वारों में वायु प्रवेश कर जाता है । वायु प्रवेश करके छाती में स्थित कफ के साथ मिलकर इसको सुखाकर ऊपर, नीचे या तिर्यक् दशा में स्वर्ण गमन करने लगता है । इस वायु का जो अंश शरीर की सन्दियों में जाता है,

अभ्यारै, अंगों का दूटना और ज्वर उत्पन्न हो जाता है और जो अंश

में पहुँचता है उससे मक पतला जाता है, जो मात्र हृदय में पहुँचता

हृदय (जाती) में अन्य रोग होते हैं । जो जीम में पहुँचता है उससे

अरुचि, जो भाग कण्ठ में पहुँचता है, उससे कण्ठ नष्ट होता तथा स्वरभंग हो जाता है, जो भाग प्राणवह स्रोतों में पहुँचता है उससे श्वास और प्रतिश्याय उत्पन्न होते हैं और जो भाग शिर में पहुँचता है उससे शिरोरोग होता है ॥३॥

ततः क्षणनाच्चैवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कण्ठस्य चोद्धृवं-
सनात्कासः सततमस्य संजायते, स कासप्रसंगादुरसि क्षते शोणितं
ष्टीबति, शोणितागमाच्चास्य दौर्गन्ध्यमुपजायते, एवमेते साहसप्रभवाः
साहसिकमुपद्रवाः स्पृशन्ति । ततः सोऽप्युपशेषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः
शनैः शनैरुपशुद्ध्यति । तस्मात्पुरुषो मतिमान् बलमात्मनः समीक्ष्य
तदनुरूपाणि कर्माण्यारभेत कर्तुं, बलसमाधानं हि शरीरं, शरीरमूलश्च
पुरुष इति ॥ ४ ॥

इसके अनन्तर छाती में ब्रण होने और वायु की विषम गति होने से तथा कण्ठ के खर्खर बनने से निरन्तर कास (खांसी), उत्पन्न हो जाता है । कास के होने से छाती में ब्रण बनने से थूक में रक्त आ जाता है, रक्त के आने से दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार से साहस करने वाले पुरुष को साहस से उत्पन्न होने वाले सपद्रव घेर लेते हैं । इन शुष्क करने वाले उपद्रवों से आक्रान्त होकर पुरुष भी धीरे-धीरे सूख जाता है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने बल को देखकर तदनुसार कार्य का आरम्भ करे । बल के कारण ही शरीर अच्छे प्रकार से धारण किया जाता है और शरीर ही पुरुष अर्थात् आत्मा का मुख्य आश्रय है ॥ ४ ॥

भवति चात्र—साहसं वर्जयेत्कर्म रक्षव्यजीवितमात्मनः ।

जीवन् हि पुरुषस्त्विष्टुं कर्मणः फलमश्रुते ॥ ५ ॥

अपना जीवन चाहने वाले पुरुष को साहस के कार्य छोड़ देने चाहिये, क्योंकि जीता हुआ पुरुष ही अपने कर्म का इष्टफल भोग सकता है ॥५॥

अथ संधारणं शोषस्थाऽप्यतनमिति यदुकं तदनुव्याख्यास्यामः—
यदा पुरुषो राजसमीपे भर्तुसमीपे वा गुरोर्वा पादमूले द्यूतसम्बन्धं
सर्वा समाजं ऋग्मध्यं वाऽनुप्रविश्य यानेवाऽप्युच्चाबचैरभियन् भयात्
प्रसंगात् द्वीमत्वाद् वृणित्वाद्वा निहणद्यथागतानि वातमूत्रपुरीषाणि,
तदा तस्य संधारणाद्वायुः प्रकोपमादते । स प्रकृपितः पित्तस्लेष्माणौ
समुद्रीर्थोर्ध्वमध्यस्तिर्थकं च विहरति । ततश्चाशविशेषेण पूर्वं
बयविशेषं प्रविश्य शूलं जनयति, मिनति पुरीषमुच्छोषः
पाइवे चातिरजति, अंसौ चावमृदनाति, कण्ठमुरञ्चावघमति,

ओपहन्ति, कासं इवासं ज्वरं स्वरभेदं प्रतिशयार्थं शोपजनयति । तदः सोऽप्युपशोषणैरेतेहपद्रवैरुपद्रवैः शनैः शनैरुपशुभ्यति । तस्मात्पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरेष्वेव योगक्षेमकरेणु प्रयत्नेत । शरीरं शस्य मूलं, शरीरमूलश्च पुरुषो भवतीति ॥ ६ ॥

भवति चात्र—सर्वमन्यत्परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।

तद्भावे हि भावानां सर्वभावाः शरीरिणाम् ॥ ७ ॥ इति ॥

(२) वेग सन्धारण मल मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना शोष का कारण है, यह जो कहा है उसकी व्याख्या करते हैं—

जिस समय पुरुष राजा के समीप, स्वामी के समीप, गुरु की चरणसेवा में, जुआखाने में, अथवा इसी प्रकार दूसरे सज्जन मनुष्यों की सभा में, या लियों के बीच में शुषकर, या ऊंची-नीची सबारी पर यात्रा करते समय, भय से, प्रसंग से, लज्जा से वा धृणा से वायु मूत्र या मल के उपस्थित वेगों को रोक लेता है, तब उनके रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है । यह प्रकुपित हुआ वायु, पित और कफ को कुपित करके ऊपर-नीचे या तिरछे रूप में बहता है और तब किसी मांग से शरीर के अवयव विशेष में प्रवेश करके पूर्व की भाँति शूल उत्पन्न करता है, मल का भेदन अथवा शोषण करता है । रोगी के पाइवों में पीड़ा उत्पन्न करता है, कन्धों को तोड़ सा डालता है, (कन्धों का आकार बोतल की गर्दन के समान हो जाता है, समकोण नहीं रहता), कण्ठ और छाती पीड़ित होते हैं, शिर में भेदना होती है । कास, इवास, ज्वर, स्वरभेद, प्रतिशयाय रोग उत्पन्न हो जाते हैं । रोगी भी इन शोषण करनेवाले उपद्रवों से धीरे-धीरे सूखने लगता है । इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपना शरीर जिस प्रकार से सुखी, स्वस्थ रहे, उस प्रकार का विशेष रूप से प्रयत्न करे, क्योंकि जो भी कोई अमूल्य अलभ्य वस्तु है वह शरीर से ही होती है और पुरुष का शरीर ही आधार है ।

इसलिये और सब कुछ छोड़कर शरीर को रक्षा करनी चाहिये । शरीर के न रहने पर सब वस्तुओं का होना या न होना एक समान है । शरीर के होने पर ही और सब पदार्थ उपयोगी होते हैं ॥ ६-७ ॥

शयः शोषस्याऽस्यतनभिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः—यदा पुरुषोऽचिन्ता-परीत-हृदयो भवति, ईर्ज्योत्कण्ठा-भय-क्लोषात्, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बल-हारोऽल्पाहारो वा ऽस्ते, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः शयमु-

पैति, स तस्योपद्धयात्संशोर्च प्राप्नोति, अश्रुतीकारावानुवन्धते यक्षमणा
रथोपदेश्वमाणस्पेण ॥ ८ ॥

(३) 'क्षय' शोषणरोग का कारण है, यह जो पहिले कहा है, उसकी व्याख्या करेंगे—जिस मनुष्य के हृदय में शोक वा चिन्ता, बहुत काम, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, भय, क्रोध (लोभ, मोह) आदि भाव मन में बहुत प्रवेश कर जायें वा जो कृष्ण होता हुआ फिर रूखे खान-पान का सेवन करे, शरीर से दुर्बल प्रकृति हो कर उपवास या आवश्यकता से न्यून भोजन ले, तब उस के हृदय में रहनेवाला रस (ओज) क्षय होने लगता है और इस रस (ओज) के क्षय होने से मनुष्य दूखने लगता है और इसका प्रतिकार न करने से पुरुष राजयक्षमा रोग से पीड़ित होता है। जैसा कि आगे उपदेश करेंगे ॥ ८ ॥

यदा वा पुरुषोऽतिप्रहर्षात्प्रसक्तभावः क्षीञ्चित्प्रिप्रसङ्गमारभते, तस्या-
तिमात्रप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमुपैति । क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः
खीञ्च्यो नैवास्य निर्वर्तते एव । तस्य चातिप्रणीतसंकल्पस्य मैथुनमा-
पद्यमानस्य शुक्रं च न प्रवर्तते, अतिमात्रोपक्षीणत्वात् ; अथास्य वायु-
र्याच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः
शोणितं प्रच्यावयति, तच्छक्षयाच्छुक्रमार्गं शोणितं प्रवर्तते वातानु-
सृतलिङ्गम् । अथास्य शुक्रक्षयाच्छुक्रोणितप्रवर्तनाच संघयः शिथिलीम-
वन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्य माविशति, वायुः प्रकोप-
मापद्यते । स प्रकुपितोऽवशिकं शरीरमनुसर्पन् परिशोषयति मांस-
शोणिते, प्रच्यावयति इलेघ्मपित्ते, संरुजति पाइँवे, चावगृहात्यसौ,
कण्ठमुद्दृश्वसयति, शिरः इलेघ्माणमुपक्लेश्य प्रतिपूरयति इलेघ्मणा
संधोश्च प्रपीड्यन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पिच्छलेघ्मोत्क्लेश-
शात्प्रतिलोमगत्वाच वायुज्वरं कासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजन-
यतिः, ततः सोऽप्युपशाषणैरुपद्रवैरुपहुतः शनैःशनैरुपशुष्यति । तस्मा-
त्युरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षत् शुक्रमनुरक्षेत् । परा खेषा फल-
निर्वृत्तिराहारत्येति ॥ ९ ॥

भवति चात्र—आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः ।

श्वयो द्वास्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति ॥ १० ॥

शुक्रक्षय—जिस समय युवत अति कामवेग के फल
में आकृत होकर अति सुभयोग आरम्भ कर देता है, उस का को

करने से वीर्य का बहुत हो जाता है। वीर्य के क्षय होने पर भी जब मन शीर्षण से नहीं हटता और संग करता ही जाता है तब अति प्रचण्ड कामवासना के कारण मैथुन करने पर भी वीर्य उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि वीर्य बहुत अधिक शीर्ण हो जुका होता है। इस उम्र सम्मोग रूप परिश्रम करते हुए वायु रक्तवाहिनी धमनियों में प्रवेश करके इनसे रक्त बहाने लगता है। तब शुक (वीर्य) के क्षय से शुक्रमार्ग द्वारा वायु के साथ मिला रक्त बाहर आने लगता है। इस अवस्था में वीर्य के क्षय से तथा रक्त के निकलने से शरीर की सन्धियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर में रुक्षता आ जाती है, शरीर और अधिक कमज़ोर हो जाता है और वायु का प्रकोप हो जाता है। इस प्रकार से प्रकुपित वायु शून्य (अशक्त) शरीर में संचार करता हुआ मांस और रक्त को शुष्क कर देता है, कफ और पित्त को बाहर निकालता है, पाश्वर्ण में पीड़ा उत्पन्न करता है, कन्धों को दबा देता है, गड़े को बिगाढ़ देता है, कफ को कुपित करके शिर को कफ से भर देता है, सन्धियों को पीड़ित करके अंगों में बेदना उत्पन्न करता है, पित्त और कफ को कुपित करके अद्वित एवं अपचन उत्पन्न करता है। वायु की प्रतिलोम गति होने से ज्वर, कास, इवार, स्वरभेद और प्रतिश्याय रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में पुरुष शोषण करने वाले इन उपद्रवों से पीड़ित होकर धीरे धीरे शुष्क हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने शरीर की रक्षा करता हुआ शुक्र अर्थात् वीर्य की रक्षा करे। यही शुक (वीर्य) आहार का सर्वोत्तम फल होता है।

आहार का सर्वोत्कृष्ट सार वीर्य है, इसका रक्षण करना परम आवश्यक है। इसका क्षय बहुत से रोगों वा मृत्यु का भी कारण होता है ॥६-१०॥

विषमाशनं शोषस्याऽयतनमिति यदुक्तं, तदनुव्याख्यास्यामः-यदा
पुरुषः पानाशनभक्ष्यलेषोपयोगान् प्रकृति-करण-संयोग-राशि-
दैस-कालोपयोग-संस्थोपशय-विषमानासेवते, तदा तस्य वातपित्त-
श्लेष्माणो वैषम्यमापयन्ते, ते विषमाः शरीरमनुसृत्य यदा ऊक्षसाम-
यनमुखानि प्रतिवार्यादतिष्ठन्ते तदा जन्तुर्यथाहारजातमाहरति तत्त-
दस्य मूत्रपुरीषमेवोपजायते भूयिष्ठं नान्यस्तथा शरीरधातुः, स पुरी-
षोपष्टमाद्वर्त्तयति, तस्माच्छुद्यतो विशेषण पुरीषमनुरक्ष्य, तथा
त्यर्थकुशदुर्बलाना, तस्यानाप्यात्यमानस्य विषमाशनोपचिता
पृथगुपद्रव्यर्द्धन्तो भूमः शरीरमुपशोषयन्ति । तत्र आतः-
कृष्णठोदृष्टवसने पार्श्वसंरुजनमसाक्षर्दनं स्वरभेदं प्रतिश्याय-

चोपजनयति, पिण्डा पुनर्ज्वरमतीसारमन्तर्दाहृत् च, इषेष्मा तु प्रति-
श्यायं शिरसो गुहत्वं कासमरोचकं च । स कासप्रसंगादुरसि क्षते
शोणितं छीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते । एवमेते
विषमाशनोपचिता दोषा राजयह्माणमभिनिर्वर्तयन्ति । तैरुपशो-
षणेरुपद्रवैरुपद्रवतः शनैः शनैरुपशोष्यति । तस्मात्पुरुषो मतिमान् प्र-
कृति-करण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोग-संस्थोपशयादविषममाहारमा-
हरेदिति ॥ ११ ॥

भवति चात्र—हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्कालभोजी जितेन्द्रियः ।

पश्यन् रोगान् बहून्कष्टान्बुद्धिमान्विषमाशनात् ॥ १२ ॥ इति ।

(४) विषमाशन—विषमाशन शोष रोग का कारण है, यह जो कहा है
अब उस की व्याख्या करेंगे—

जब मनुष्य प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था
तथा उपशय के विरुद्ध, पान-अशन, भक्ष्य और लेश रूप में अन्न-पान
का उपयोग करता है, तब उस के बात, पित्त और कफ विषम हो जाते हैं।
ये विकृत दोष जिस समय शरीर में फैलकर स्रोतों वा नाड़ियों के मुखों को
धेर लेते हैं तब मनुष्य जो भी भोजन खाता है उस का अधिक भाग मूत्र और
मल में बदलकर इन को ही अधिक बढ़ाता है, इस प्रकार शरीर के अन्य चारु
नहीं बढ़ते । पुरुष मल के रुकने से ही जीवन धारण किया करता है । इसलिये
झूम्क होते हुए पुरुष के मल की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये । इस
प्रकार कृश होते हुए मनुष्य के विषम भोजन से बड़े हुए दोष नाना उपद्रवों
से युक्त होकर और भी शरीर को सुखा देते हैं; तब कुपित हुआ वातशूल, अंगों
का दूटना, कण्ठमेद, पाइँवों में पीड़ा, कन्धों का दूटना, स्वरमेद और प्रतिवशाय
उत्पन्न करता है । पित्तज्वर, अतिसार और अन्तर्दाहृत को उत्पन्न करता है ।
श्लेष्मा—प्रतिवशाय, शिर का भारीयन, कास और अदृचि उत्पन्न करता है ।
कास के कारण आती में ब्रण होने से थूक में रक्त आता है । रक्त के निकलने
से कमज़ोरी आ जाती है । इस प्रकार से विषम भोजन द्वारा एकत्रित हुए दोष
राजयह्मा रोग को उत्पन्न करते हैं । शोषण करने वाले इन उपद्रवों से पीड़ित
होने पर धीरे धीरे मनुष्य सूखने लगता है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये
कि प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोग, संस्था और उपशय के
अनुकूल खान पान करे ।

३. इस का विस्तार 'रस-विमान' नामक अध्याय में कहेंगे ।

बुद्धिमान् मनुष्य विषमाशन के कारण नाना प्रकार के कष्टदायक रोगों की उत्पत्ति को देखकर, हितकारक, परिमित और समय पर भोजन करने वाला और जितेन्द्रिय बने ॥ ११-१२ ॥

एवमेतैश्चतुर्भिः शोषस्याऽऽयतनैरङ्गुपसेवितैर्वात्-पित्त-श्लेष्माणः प्रकोपमापद्यन्ते, ते प्रकुपिता नानाविधैरुपद्रवैः शरीरमुपशोषयन्ति । तं सर्वरोगाणां कष्टतमत्वाद्वाजयक्षमाणमाचक्षते भिषजः । यस्माद्वा पूर्व-मासीद्वगवतः सोमस्योद्गुराजस्य तस्माद्वाजयक्षमेति ॥ १३ ॥

राजयक्षमा शब्द की निश्चिकी—शोष रोग के कहे हुए इन चार कारणों के सेवन करने से, बात, पित्त, कफ ये तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं । ये दोष कुपित होकर नाना प्रकार के उपद्रवों से शरीर का शोषण करते हैं । यह रोग सब रोगों में अधिक कष्टप्रदात्य है, इसलिये वैद्य लोग इस को 'राजयक्षमा' कहते हैं । अथवा यह व्यय पहले नक्षत्रराज चन्द्रमा को रहा, इसलिये इस का नाम 'राजयक्षमा' है ॥ १३ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तथाय—प्रतिश्यायः क्षवशुरभीक्षणं श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्यमनज्ञाभिलाषोऽनकाले चाऽऽयासो दोषदर्शनं-मदोषेष्वल्पदोषेषु वा पात्रोदकान्न-सूपोपदंश-परिवेशकेषु भुक्तवतो इत्या-सस्तथोऽल्पेखनमाहारस्यान्तरान्तरा मुखस्य पादयोश्च शोषः पाण्योश्चा-वेक्षणमत्यर्थमक्षणोः श्वेतावभासता चातिमात्रं बाह्योश्च प्रमाणजिज्ञासा खीकामताऽविघृणित्वं बीभत्सदर्शनता चास्य काये स्वप्ने चाभीक्षणं दर्शनमनुदकानामुदकस्थानानां शून्यानां च आम-नगर-निगमन-जनपदानां शुष्कदृग्धावभग्नानां च वनानां कुकलास-मयूर-वानर-शुक्र-सर्प-काको-द्वाकादिभिः संस्पर्शनमधिरोहणं वा यानं च श्वोऽप्त-खर-वराहैः केशास्ति-भस्म-तुषाङ्गार-रात्रीनां चाधिरोहणमिति शोषपूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ १४ ॥

शोष के पूर्वरूप-शोष रोग के ये पूर्व रूप हैं । यथा—प्रातेश्याय (जुकाम), छोंक आना, बार बार कफ का गिरना, मुख मे मिठास, भाजन को अनिच्छा, भोजन करते समय यकान की प्रतीति, पात्र, पानी, अच, दाल, चटना, शाक आदि निर्दोष या अल्प दोषवाली वस्तुओं में भी दोष देखना, भोजन करते समय जी मच्छना, मुंह में पानी बहुत आना, खाये हुए अच का बमन होना, मुख और पात्र का सूखना, दायों को बहुत आना, खाये हुए अच का बमन होना,

आना (रक्त की न्यूनता), मुजाओं में मोटाई, जांचने की प्रवृत्ति, अपने शरीर से धूणा या अपने शरीर में भयंकर रूप देखना

और स्वप्न में पानी से राहित स्थानों में पानी को देखना, शूल्य स्थानों में ग्राम, नगर, जनपदों की प्रतीति होना, झंगड़ों का जलना, शुष्क होना या टूटना देखना, गिरगट, मोर, बन्दर, तोता, सांप, कौवा, उल्लू आदि के साथ सर्प की प्रतीति, कुत्ता, ऊंठ, गधा, सुअर आदि पर चढ़कर सवारी करना, केश, अस्त्रि, भस्म, भूसा, झंगारे के ढेरों पर चढ़ना आदि देखना, ये शोष रोग के पूर्वकूप हैं ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वमेकादश रूपाणि तस्य भवन्ति, तथाथा—शिरसः प्रतिपूरणं कासः इवासः स्वरभेदः ऋग्मणिष्ठर्दनं शोणित-ष्ठीबनं पार्श्वसं-
रुजनमंसावमदर्त्त्वरोत्तीसारस्तथा ऽरोचक इति ॥ १५ ॥

ग्यारह रूप—इस के बाद राजयक्षमा के ग्यारह लक्षण हो जाते हैं । यथा—
(१) शिर का कफ से भरना, (२) कास, (३) इवास, (४) स्वरभेद,
(५) कफ का गिरना, (६) शूक में रक्त आना, (७) पाइँवों में दर्द, (८)
कन्धों का नीचे दबना, (९) ज्वर, (१०) अतिसार और (११) अरोचक
(अद्विति) ॥ १५ ॥

तत्रापरिक्षीण-मांस-शोणितो बलवानजातारिष्टः सर्वैरपि शोषलिङ्गै-
रुपद्रवतः साध्यो ह्येयः, बलवर्णोपचयोपचितो हि सहिष्णुत्वाद् व्या-
ध्यौषधबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्गं एव मन्तव्यः । दुर्बलं त्व-
तिक्षीण-मांस-शोणितमल्पलिङ्गमप्यजातारिष्टमपि बहुलिङ्गमेव जाता-
रिष्टमेव विद्यात्, तदसहित्वाद् व्याध्यौषधबलस्य, तं परिवर्जयेत्,
क्षणेन हि प्रादुर्भेवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥ १६ ॥

साध्य और असाध्य रूप—जिस रोगी के मांस और रक्त कम नहीं हुए,
और शक्ति बनी हुई है और अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे रोगी को यदि
सब उपद्रव भी घेर लें तो भी रोगी साध्य है, क्योंकि जिस रोगी के बल और
दर्द सुरक्षित हैं, यह व्याधि और दौषध के बल को सुगमता से रह सकता है ।
इसलिये इस प्रकार का रोगी बहुत लक्षणों से युक्त होने पर भी योके लक्षणों
वाला ही गिनना चाहिये । जो रोगी मांस और रक्त के क्षीण होने से बहुत
दुर्बल हो गया हो, इस में लक्षण चाहे योके ही हो और कोई अरिष्ट-लक्षण न
मात्र उत्पन्न नहीं हो तो भी ऐसे रोगी को बहुत लक्षणों वाला और अरिष्ट-लक्षणों
से युक्त ही गिनना चाहिये, क्योंकि यह रोगी औषधि और रोग के
सहज नहीं कर सकता, इसलिये छोड़ देना चाहिये । इस रोगी में—

अन्वर लारिंड डरल्ड है दक्षते हैं और विद्या कारण ही लारिंड छक्क दीक्षते
लगते हैं ॥ १६ ॥

तत्र शोकः—समुत्थानं च लिङ्गं च यः शोभस्त्राव्युत्थते ।

पूर्वरूपं च तत्त्वेन स राज्ञः कर्तुमहति ॥ १७ ॥

जो वैष्ण शोष की उत्पत्ति, छक्षण और पूर्वरूप भली प्रकार से आनन्द है
वह राजयक्षमा की चिकित्सा करने के योग्य है ॥ १७ ॥

इत्यग्निवेष्टकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
शोषनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथात उन्मादनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब उन्माद निदान का वर्णन करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश
किया है ॥ २ ॥

इह खलु पञ्चोन्मादा भवन्ति । तद्यथा—वात-पित्त-कफ-सन्ताना-
ताऽगान्तु-निमित्ताः ।

उन्माद पांच प्रकार के हैं । जैसे—(१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य,
(३) कफजन्य, (४) सन्तानातजन्य और (५) आगान्तुज । इन में से
पहिले चार उन्माद दोषजन्य हैं ।

तत्र दोषनिमित्ताश्चत्वारः पुरुषाणामेवंविधानां क्षिप्रमयिनिर्वर्तन्ते
तद्यथा,—भीरुणामुपक्रिष्टसत्त्वान्नामुत्सन्नदोषाणां च समलिङ्गितोप-
हितान्यनुचितान्याहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुज्जानानां
तन्त्रप्रयोगं वा विषमसाचरतामन्यां वा चेष्टा विषमां समाचरतामत्यु-
पक्षीणदेहानां च व्याधि-वेग-समुद्रभ्रमितानामुपहतमनसां वा काम-
कोष-छोभ-हर्ष-भय-मोहायास-शोक-चिन्तोद्वेगादिभिः पुनरभिधा-
ताऽन्याहतानां वा मनस्युपहते बुद्धौ च प्रचलितायामस्युदीर्णो दोषाः

पृष्ठा हृष्यमुपसृत्य मनोबहानि स्तोत्रस्याख्यत्य जनयन्त्युन्मादम् ॥ ३ ॥

(दोषजन्य उन्माद निम्न छक्षणोब्दके व्यक्तियों में शीघ्र उत्पन्न
जो मनुष्य दर्शक हो, जिन के शरीर में उत्पन्न गुण न हो,

(अपिनु रज और तम हो), जिन में वात आदि दोष बढ़े हुए हों, जो अपवित्र विगड़े हुए एवं विरोधी गुणवाले पदार्थों से मिले, अथवा कुष्ठ आदि के रोगी मनुष्यों द्वारा लाये हुए अन्न पान स्ताते हों, विषम रीति से भोजन करने वाले व्यक्तियों में, धार्मोक विषि के विशद आचरण करने वाले पुरुषों में, अथवा कोई अन्य प्रकार की विषम चेष्टा करने वाले व्यक्तियों में, जिन का शरीर अत्यन्त श्वीण हो गया हो, जिनका विच्छ रोग के वेग के कारण उद्भान्त हो चुका हो, जिन का मन, काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, भय, मोह, आयास, (थकान), शोक, चिन्ता और उद्भेद आदि द्वारा दुखित होता है, घाव या चोट के लगने से जिनका मन ठिकाने पर नहीं रहता तथा बुद्धि नृलायमान हो गई हो, ऐसे मनुष्यों के बात आदि दोष प्रकृष्टि होकर, हृदय को दूषित करके (हृदय में पहुँचकर) मनोवह स्रोतों की गति को बन्द करके उन्माद रोग उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

उन्मादं पुनर्मनो-बुद्धिसंज्ञा-शान्स्मृति-भक्तिशील-चेष्टाचार-
विभ्रमं विद्यात् ॥ ४ ॥

उन्माद का लक्षण—मन, बुद्धि, संज्ञा, शान, स्मृति, भक्ति, शील, आहार, चेष्टा इनका विभ्रम अर्थात् विक्षिप्त होना ‘उन्माद’ कहाता है, इन के विकार से उन्माद-रोग होता है ॥ ४ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि । तद्यथा—शिरसः शून्यभावश्चक्षुषोराकुलता, स्वनः कण्योरुच्छ्रवासस्याऽस्थिक्यमास्यसंस्करणमनन्नाभिलाषोरोचकाविपाको हृदयग्रहो ध्यानायाससंमाहोद्वेगाश्चास्थाने सततं लोमद्वर्षो च्वरश्चाभीक्षणमुन्मत्तचित्तवमुद्दित्वमदित्ताकृतिकरणं च व्यावेः स्वप्ने च वर्णनमभीक्षणं भ्रान्तचिलतावनवस्थितानां च रूपाणामप्रशस्तानां

१. मन चिन्तन का काम करता है, उस के विभ्रम से चिन्तन करने योग्य बातों को नहीं सोचता और चिन्तन न करने योग्य बातों की चिन्ता करता है । बुद्धि के विभ्रम से नित्य को अनित्य और प्रिय को अप्रिय देखने लगता है । संज्ञा, शान इस के विभ्रम से अग्नि से जलने की प्रतीति नहीं होती । स्मृति के विभ्रम से कुछ स्मरण नहीं होता या उल्टा स्मरण होता है । भक्ति अर्थात् इच्छा, इस के विभ्रम से पहिले जहां इच्छा थी वहां अनिच्छा हो जाती है । शील के विभ्रम से अति क्रोधी वा क्रोध के स्थान में भी आता है । आचरण के विभ्रम से अपवित्र आचरण करता है ।

स्तिष्ठीहक-चक्राधिरोहणं वातकुण्डलिकाभिज्ञेन्मयनं निमज्जनं कङ्ग-
वाणाममसामावतेषु चक्रुषोश्चापसर्पणमिति दोषनिभित्तानामुन्मादानां
पूर्वरूपाणि भवन्ति ॥ ५ ॥

उन्माद के पूर्वस्य—उन्माद के पूर्वस्य निम्नलिखित हैं । यथा—गिर (मस्तिष्ठक) का खालीपन, आंखों में चंचलता, कानों में ध्वनि का होना, श्वास का ज़ोर से चलना, मुख से लार गिरना, भोजन में अनिच्छा, अहसि अविपाक, हृदयग्रह, बेमौके ध्यान, आयात (यक्षण), संमोह और उद्देग होना, अर्थात् जहां पर न करने हो वहाँ इन का करना, निरन्तर रोमांच रहना, बार बार उच्चर का आना, चित्र का उन्मत्त रहना, उदर्द, कोठ निकलना (अंगों का सूजन या शरीर के उर्ध्व भाग में पीड़ा होना), अर्दित (मुख की आकृति का आधा टेढ़ा बनना), दुदि आदि का भ्रम होना, स्वप्न में भ्रान्ति, चलित, चंचल या भयंकर स्वरूपों का बार-बार दीखना, अपशस्त कोल्हू (जिस यन्त्र से तेल निकाला जाता है) आदि उन पर बैठना, वातकुण्डलिकान्योग (मूत्रोरोध विकार) का होना, गन्दे, खराब पानी के भवरों में खेलना, दुबकी मारना आदि, आंखों की अस्थिरता और चंचलता, दोषजन्य उन्मादों के ये पूर्वस्य हैं ॥ ५ ॥

वतोऽनन्तरमुन्मादभिनिर्वृत्तिः, तत्रेदमुन्मादविशेषविज्ञानं भवति । तथापि परिसंपेणमक्षिभ्रुवामोष्टास-हनु-हस्त-पाद-विक्षेपणमक्षमात्, अनियतानां च सरतं गिरामुत्सर्गः, फेनागमनमास्यात्, रिमत-हसित-नृत्य-गीत-वादित्रादिप्रयोगाक्षस्थाने, वीणा-वंश-शङ्क-शम्या-ताळ-शब्दा-नुकरणमसाम्ना, यानमयानंरङ्गरणमनलङ्घारिकंद्रव्येल्लोभाऽऽध्यवहा-योऽवलब्धेषु, लङ्घेषु चावमानस्तात्रं मात्सयं, काश्य, पारुष्यमु-त्पिण्डताऽरुणाक्षता, वातोपश्यविपर्यासादनुपश्यता चेति वातान्माद-लिङ्गानि भवन्ति ॥ ६ ॥

इन पूर्वस्यों के प्रकट होने के पीछे उन्माद रोग उत्थन होता है । उस समय उन्माद-रोग के विशेष लक्षण ये होते हैं:—

(१) वातान्माद के लक्षण—आंख और भौंहों का चलाते रहना (अस्थि-
जवाका (हु), फूचा, हाथ और पांव का फैकना, विना स्थान
के) हंसना-मुखकुराना, नाचना, गाना, बजाना, बिना
स्थोकते जाना, मुख से ज्वाग लिंगलना, लीका, बांधुरी, शंख,

मुरडी, सनई, ताळ^१ आदि वायों का बेसुरा अनुकरण करना, ऊंची और न चढ़ने योग्य सवारी पर चढ़ना, जिन वस्तुओं से शरीर का अलंकार नहीं करना चाहिये उन से अलंकार करना, न मिलने वाले खाद्य पदार्थों में इच्छा, लोभ, तथा प्राप्त वस्तुओं में तिरस्कार, बहुत अधिक द्रेष, मत्सरता (ईर्ष्या), कृष्टा, कठोरता, आंखों में लाली तथा आंखों का बाहर निकलना, बातबर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये वातजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥ ६ ॥

अमर्थ-क्रोध-न्तरभाश्चास्थाने, शश-लोट्यू-काष्ठ-मुष्टिभिरभिहनं स्वेषां परेषां वा, अभिद्रवणं, प्रच्छायशीतोदकाशाभिलाषः, संतापोऽ-तिवेलं, ताग्र-हरित-हारिद्र-संरब्धाकृता, पित्तोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति पित्तोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ७ ॥

(२) पित्तजन्य उन्माद के लक्षण—अनुचित स्थान और अवसर में अस-हिष्पुता दिखाना, क्रोध करना या स्तम्भित रह जाना, शब्द, मिट्टी का ढेला, लकड़ी या मुड़ी से अपने को या दूसरों को मारना, इधर-उधर दौड़ना, छाया, शीतलखान पान (अज्ज या पानी) की इच्छा करना, बहुत समय तक ताप का होना, आंखों का ताम्बे के समान लाल, हरा-पीला एवं खुले रहना और पित्तबर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये पित्तजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

स्थानमेकदेशे, तृष्णीभावो, अल्पशश्चक्कमणं, लालासिङ्घाण-कप्रश्ववणं, अनश्चभिलाषो, रहस्कामता, वीभत्सत्वं, शौचद्रेषः, स्वप्न-निद्रता, श्वयथुरानने, शङ्कल-स्तिमित मलोपदिग्धाकृता, इलेष्मोपशयविपर्यासादनुपशयता चेति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ८ ॥

(३) कफजन्य उन्माद के लक्षण—एकान्त स्थान में चुपचाप बैठना, योड़ा चलना फिरना, मुख से लार, नाक से मल का गिरना, भोजन में अनिच्छा, एकान्त स्थान में रहने की इच्छा, भयानक विकृत रूप, स्वच्छता से द्रेष, नीद कम होना, मुख पर सूजन, आंख में सफेदी भारीपन और मल का होना, कफ बर्धक पदार्थों से रोग का बढ़ना ये कफजन्य उन्माद के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

त्रिदोषलिङ्गसञ्चिपाते तु सार्निपातिकं विद्यात्, तमसाध्यमित्याच-क्षते कुशलाः ॥ ९ ॥

(४) साञ्चिपातिक उन्माद-तीनों दोषों के एक साथ मिलने से सञ्चिपात-जन्य उन्माद रोग हो जाता है । इस को कुशल वैद्य असाध्य कहते हैं ॥ ९ ॥

साञ्चिपाता तु प्रयाणं साधनानि भवन्ति । तथाथ-

१. शम्या दाहिण हाथ से और ताळ बाम हाथ से बचाया।

वमन-विरेचनास्थापनानुवासनोपशमन-नस्तःकर्म-धूप-धूमपानाख्यनाव-
पीड-प्रधमनाड्यङ्ग-प्रदेह-परिषेकानुलेपन-वध-बन्धनावरोधन-वित्रासन-
विस्मापन-विस्मारणापतर्पण-सिरा-व्यधनानि भोजनविधानं च यथास्वं
युक्त्या, यज्ञान्यदपि किंचित्तिदानविपरीतमौषधं कार्यं तस्या-
दिति ॥ १० ॥

उन्माद की चिकित्सा—इन तीन सिद्ध होने वाले उन्मादों की चिकित्सा
निम्न प्रकार से करनी चाहिये । यथा—स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन,
आस्थापन, अनुवासन, उपशमन, नस्यर्कर्म, धूप, धूमपान, अखन, अव-
पीड़न, प्रधमन, अस्यंग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेपन, वध (मारने का भय
दिलाना), बन्धन, अवरोधन (कमरे में बन्द करना), वित्रासन (डराना),
विस्मारण (नाना प्रकार की बातों में भुलाना), विस्मापन (आश्वर्य से चकित
करना), अपतर्पण (उपवास), सिराव्यधन (शिरा वेध आदि से रक्त बाहर
करना) से चिकित्सा करनी चाहिये और युक्तिपूर्वक दोषों को देखकर अन्न-
पान का स्वयं निश्चय करना चाहिये । इस के सिवाय और भी जो कोई
औषध रोगजनक कारण के विपरीत, उसको शान्त करने वाली हो, वह भी
अवश्य देनी चाहिये ॥ १० ॥

भवति चात्र—उन्मादान्दोषजान् साध्यान् साध्येद्विषगुत्तमः ।

अनेन विधियुक्तेन कर्मणा यत्प्रकीर्तिम् ॥ ११ ॥ इति ॥

अधेष्ठ वैद्य इस कही हुई विधि से दोषों से उत्पन्न साध्य उन्माद रोग
को दूर करे ॥ ११ ॥

यस्तु दोषनिभित्तेऽथ उन्मादेऽथः समुत्थान-पूर्वरूप-लिङ्ग-वेदनोप-
शय-विशेष-समन्वितो भवत्युन्मादस्तमागन्तुमाचक्षते । केचित्पुनः
पूर्वकृतं कर्मप्रशस्तमिच्छन्ति तस्य निभित्तं । प्रज्ञापराघ एवेति
भगवान्पुनर्वसुरात्रेय उवाच । प्रज्ञापराधाद्वयं देवर्षि-पितॄ-गन्धर्व-
यक्ष-राक्षस-पिशाच-गुह-बृद्ध-सिद्धाचार्य- पूज्यानवगत्याहितान्याचरति,
अन्यद्वा किंचित्कर्माप्रशस्तमारभते, तमात्मना हतमुपग्रन्तो देवाद्यः
कुर्वन्त्युन्मत्तम् ॥ १२ ॥

गन्तुज उन्माद—जो उन्माद दोषों से उत्पन्न होने वाले उन्माद से

जा, वेदना और उपशय में भिन्न होता है, उस को
कहते हैं । कुछ आचार्य पूर्वजन्म के अशुभ पाप कर्मों
की उत्पत्ति मानते हैं । उस का कारण प्रज्ञापराघ ही

है—ऐसा भगवान् पुनर्वद्यु आश्रेय ने कहा है। प्रकारत्य अर्थात् दुदि के दोष से ही मनुष्य देवता शूष्णि, पितर, गन्धर्व, यज्ञ, राष्ट्रस, पिशाच, गुरु, शृङ्ख, सिद्ध, आचार्य एवं पूज्य पुरुषों का अपमान करता है। अथवा अन्य किसी प्रकार का निन्दनीय कर्म करता है। अपनी आत्मा द्वारा किये गए अकृप्त कर्म के द्वारा उसी पुरुष को मारने के लिये देव आदि उस को उन्मत्त कर देते हैं ॥ १२ ॥

तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तेनाऽगन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तथाथा—देव-गौ-ब्राह्मण-तपस्विना हिंसारूचित्वं कोपनत्वं नृशंसाभिप्रायता अरतिरोजोवर्ण-च्छाया-बल-वपुषामुपतर्सिः, स्वप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्तनं चेत्यागन्तुनिमित्तस्योन्मादस्य पूर्वरूपाणि भवन्ति । ततोऽग्नन्तरमुन्मादाभिनिर्वृत्तिः ॥ १३ ॥

आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप—देवता आदि के प्रकारों के कारण आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप निम्न प्रकार के होते हैं। जैसे—देव, गौ, ब्राह्मण, तपस्वी पुरुषों की हिंसा करने में इच्छा, क्रोधीपन, दूसरे का अपकार करने की इच्छा, उदासीनता, ओज, बल, वर्ण, छाया और शरीर में ताप होना, विगड़ना, स्वप्न में देवता आदि का तिरस्कार करना, अथवा इन पर क्रोध करना आदि आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप हैं। इस के पीछे उन्माद उत्पन्न हो जाता है ॥ १३ ॥

तत्रायमुन्मादकराणा भूतानामुन्मादयिष्यतामारम्भविशेषः । तथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्त्युन्मादं, गुरु-शृङ्ख-सिद्धर्षयोऽभिशपन्तः, पितरो धर्षयन्तः, सूर्यशन्तो गन्धर्वाः, समाविशन्तो यशाः, राक्षसास्त्वामगन्धमाद्रापयन्तः, पिशाचः पुनरधिरूप वाहयन्तः ॥ १४ ॥

उन्माद का प्रारम्भ—उन्माद को उत्पन्न करने वाले भूतों की उन्माद को प्रारम्भ करने में निम्नलिखित प्रकार से भिन्नता होती है। यथा—देव औंसों से देख कर ही उन्माद उत्पन्न करते हैं, गुरु, शृङ्ख, सिद्ध और शूष्णियन याप देकर, पितर-ओग धर्मकार, गन्धर्वगण स्पर्श करके, यज्ञ शरीर में छुपकर, राष्ट्रस आम (सहे मात्र आदि की) गन्ध को सुंचाकर और पिशाच चढ़कर उन्माद रोग को उत्पन्न करते हैं ॥ १४ ॥

तस्येमानि रूपाणि भवन्ति । तथाथा—अवर्ण-बल-शीर्षं परम्भ-ग्रह-घरण-स्मरण-क्षान-वचन-विक्षानानि, अनिष्ट-पूर्ण-कालः ॥ १५ ॥

(५) आमनुज के लक्षण—आमनुज उन्माद के ये लक्षण होते हैं। जैसे—उन्मत्त रोती में अमानुष बल, बीर्य, पुष्पार्थ, पराक्रम, ग्रहण, शारण, स्मरण, ज्ञान, वाणी और विज्ञान प्राप्त हो जाता है। उन्माद रोग का काल भी अनिवित रहता है ॥ १५ ॥

उन्मादयित्यतामपि खलु देवविं-पितृ-गन्धर्व-यश-राश्रस-पिशाचानां
गुरुषुद्धानां वा एष्वन्तरेष्वभिगमनीयाः पुरुषा भवन्ति । तथाथा—
पापस्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य वा कर्मणः परिणामकाले, एकस्य
वा शून्यगृहवासे, चतुर्ष्वयथाधिष्ठाने वा, सन्ध्यावेलायां अप्रयतभावे वा,
पर्वसंविषु वा मिशुनभावे, रजस्वलाभिगमने वा, विगुणे वाऽऽय्यन-
बल्लि-मङ्गल-होम-प्रथोगे, नियम-ब्रत-ब्रह्म कर्य-भज्जे वा, देश-कुल-पुर-विनाशे
वा, महाप्रहोपगमने वा, खिया वा प्रजननकाले, विविधभूताशुभाशुचि-
स्पर्शने वा, वमन-विरेचन-रुधिर-स्रावाशुचे, अप्रयतस्य वा चैत्यदेवा-
यतनाभिगमने वा, मांस-मधु-तिल-गुड-मध्योच्छिष्टे वा, दिग्बाससि वा,
निशि नगर-निगम-चतुर्ष्वयोपवन-इमशानाधातनाभिगमने वा, द्विज-गुरु-
सुरपूज्यभिर्धर्षणे वा धर्माख्यानत्रयतिक्रमे वा, अन्यस्य कर्मणाऽप्रशस्त-
स्याऽऽरम्भे चेत्याधातकाला व्याख्याता भवन्ति ॥ १६ ॥

आधात काल—देव, शूषि, पितर, गन्धर्व, यश, राश्रस, पिशाच आदि
निम्नलिखित स्थान या समयों पर मनुष्यों में उन्माद उत्पन्न करते हैं। यथा—
पाप कर्म के प्रारम्भ करने के समय; पूर्वजन्मकृत पापकर्म के परिणाम समय पर;
निर्जन, एकान्त घर में अकेला होने पर; चौराहे पर लड़े रहने या दैठने पर;
सन्ध्या-समय में असावधान या अपवित्र रहने से; पूर्णिमा, अमावस्या में खोसंग
करने से; रजस्वला छो के साथ संग करने से; अव्यवहित कार्य करने से;
अध्ययन, बलि, मंगल, होम इनको नियम से न करने पर; नियम, ब्रत या ब्रह्मचर्य
के भंग करने पर; बड़े युद्ध के समय, देश, कुल या नगर के विनाश के समय;
बड़े भारी ग्रह के आ जाने पर; प्रसव के समय छो पर; नाना प्रकार के अशुभ
पदार्थों के स्पर्श से; वमन, विरेचन, रक्तस्राव आदि अपवित्र काम करके अशुद्ध
ज्ञानीर से चैत्य (गांव का तरू-खेड़ा), या देवमन्दिर आदि पवित्र स्थान में
जाने से; मांस, मधु, तिल, गुड, मध या जूठन (उच्छिष्ट), खाकर; या नग्ना-
में, अथवा रात के समय ग्राम, नगर वा चौराहे या उपवन, इमशान
ज्ञाने के समीप जाने से; बायाज, गुरु, उन्धासी, पूज्यपुरुषों को घमकाने
उल्लंघन करने से, इत्य एकाकर के अन्व अपवित्र, पाप कर्म के

आरम्भ करने से उन्माद रोग का आक्रमण होता है । इस प्रकार से आषात् काळ का वर्णन कर दिया है ॥ १६ ॥

प्रिविधं तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति । तथाथा—हिंसा, रति, अध्यर्चनं चेति । तेषां तत्प्रयोजनमुन्मत्ताचार-रविशेषलक्षणं विद्यात् । तत्र हिंसार्थमुन्मादमानोऽपि प्रविशत्यप्सु वा निमज्जति, स्थलाच्छ्वभ्रे वा निपतति, शस्त्र-कशा-काष्ठ-लोष्ट-मुष्टिभिर्ह-न्त्यात्मानमन्यञ्च प्राणवधार्थमारभते किंचित्, तमसाध्यं विद्यात्, साध्यौ पुनर्द्विवितरौ ॥ १७ ॥

उन्माद उत्पन्न करने का प्रयोजन—उन्माद रोग को उत्पन्न करने वाले भूतों के मनुष्यों को उन्मत्त बनाने में तीन प्रकार के प्रयोजन हैं । यथा—हिंसा, रति और पूजा । इन कार्यों (प्रयोजनों) को उन्मत्त पुरुष के लक्षणों से पहिचानना चाहिये । हिंसा के लिये उन्माद होने पर मनुष्य आग में द्विस्ता है, पानी में झुकता है, ऊंचे स्थान से गड्ढे में गिरता है, इथियार, काष्ठ, कशा, (चाबुक), ढेला (पत्थर), मुक्कों आदि से अपने को मारता है, अथवा अन्य इसी प्रकार के प्राणनाश करने वाले कार्यों को करता है । इसको असाध्य जानना चाहिये । 'बाकी के दोनों प्रकार के उन्माद साध्य हैं ॥ १७ ॥

तयोः साधनानि-मन्त्रोषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-त्रत-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययन-प्रणिपात-गमनादीनीति । एवमेते पञ्चो-न्मादा व्याख्याता भवन्ति ॥ १८ ॥

ये उन्माद मन्त्र, औषधि, मार्ग, मंगल-पाठ, बलिदान, उपहार, हवन, नियम, त्रत, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात आदि मंगल कृत्यों से शान्त होते हैं । इस प्रकार से पांचों उन्मादों की व्याख्या करदी ॥ १८ ॥

ते तु खलु निजागन्तुविशेषेण साध्यासाध्यविशेषेण च प्रविभज्य-मानाः पञ्च सन्तो द्वावेष भवतः । तौ परस्परमनुबन्नीतः । कदाचिद्य-थोकहेतुरसंसर्गाद्बयोः संसृष्टमेव पूर्वरूपं भवति, संसृष्टञ्चैव लिङ्गमभि-ज्ञेयम् । तत्रासाध्यसंयोगं साध्यासाध्यसंयोगं बाऽसाध्यं विद्यात् ।

१. रति प्रयोजन से आकान्त होने पर मनुष्य खेलता है, पूजा के लिये पूजा करता है । देव आदि मनुष्य को आकान्त नहीं करते । जैरा कि सुभुत्वमें कहा है—

"न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् कञ्चिदाविशन्ति ।

ये त्वाविशन्ति वदन्ति मोहातो मूरविशाविशयादपोद्धाः ॥"

साध्यं तु साध्यसंयोगं, तत्वं साधनं साधनसंयोगमेव विशादिति ॥१६॥

उन्माद के मेद—जरर कहे हुए पांच उन्माद निज और आगन्तुज मेदसे या साध्य और असाध्य मेद से, पांच प्रकार के होने पर भी दो प्रकार के होते हैं। कई बार निज दोषजन्य उन्माद के साथ आगन्तुज उन्माद भी परस्पर अनुशब्द रूप से मिला होता है और कभी साध्य और असाध्य दोनों प्रकारके उन्मादों के कारणों का संयोग होता है, इस अवधार में पूर्वलां और लक्षण दोनों मिश्रित होते हैं। दोनों प्रकार के लक्षणों के मिलने से रोग असाध्य हो जाता है। इस में भी असाध्य संयोग अथवा साध्य और असाध्य दोनों का संयोग हो तो इसको असाध्य जाने। साध्य लक्षणों का संयोग हो तो साध्य जाने। (अर्थात् मिश्रित लक्षणों वाले उन्माद में संयुक्त औषधियोंद्वारा चिकित्सा करनी चाहिये) ॥१६॥

भवन्ति चात्र—नैव देवा न गन्वत्वा न पिशाचा न राशसाः ।

न चान्ये स्वयमक्षिष्ठमुपक्षिष्ठन्ति मानवम् ॥ २० ॥

ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा ।

न तन्निमित्तः क्लेशाऽसौ न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥ २१ ॥

प्रज्ञापराधात्संप्राप्ते व्याधौ कर्मज आत्मनः ।

नाभिशंसेद् बुधो देवान् पित्राणि राक्षसान् ॥ २२ ॥

आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः ।

तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्यते नो त्रसेत् ॥ २३ ॥

देवादीनामपचितिर्हिवानां चोपसेवनम् ।

ते च तेऽयो विरोधश्च सर्वमायत्तमात्मनि ॥ २४ ॥

जो मनुष्य स्वयं अपने दोनों से पीड़ित नहीं होता उसको न तो देवता, न गन्धर्व, न पिशाच, न राशस और न अन्य योनियाँ छोड़ित करती हैं। अपने कर्मों के कारण देवता आदि द्वारा जो पीड़ा मिलता है; उसका कारण देवता नहीं होते। क्योंकि अशुभ कर्मों के फल स्वरूप उन्माद होता है। इन कर्मों के कर्त्ता देवता आदि नहीं हैं। बुद्धि के अग्राव से अपने कर्मों के दोष से रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि देवता, पितर या राशस आदि को दोष न दे, उनको उपालभ्म न दे। अपने को ही मुख और दुख का कारण माने। इसलिये मनुष्य देव आदि से भय न कर के ऐपस्कर मर्हसी अनुसरण करे। देव आदि की पूजा, हितकारक पदार्थों का सेवन एवं नामानं से विरोध करना, ये सब बातें अपने हाथ में हैं ॥२०-२४॥

—संस्कारः—संस्कारा निमित्तं द्विविधं लक्षणं साध्यतां न च ।

उन्मादानं निदानेऽस्मिन् क्रियासूक्ष्मं च अविवृतम् ॥ २५ ॥ इति ।

'उन्मादनिदान' नामक अध्याय में उन्माद रोग की उल्लेख, निमित्त, दो प्रकार के दृष्टिकोण, साध्य और असाध्य भेद और चिकित्सासूत्र ये सब बातें कह दी हैं ॥ २५ ॥

इत्यविवेशकुते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने
उन्मादनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्वा भगवान्नात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'अपस्मार-निदान' की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति वात-पित्त-कफ-सन्त्रिपात-निमित्ताः ॥ ३ ॥

अपस्मार रोग चार प्रकार का होता है । यथा—(१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य और (४) सन्त्रिपातजन्य ॥ ३ ॥

त एवंविधाना प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते, तथाथा—रजस्तमो-व्यासुपहृतचेतसासुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितान्यशु-चीन्यस्यवहारजातानि वैष्ठयुक्तेनोपयोगविधिनोपयुखानानां तन्त्र-प्रयोगमविष्य च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरता-मत्युपश्छीणदेहानां वा दोषाः प्रकृष्टिवा रजस्तमोऽव्यासुपहृतचेतसामन्त-रास्तमनः श्रेष्ठतमसायतनं हृदयमप्सृत्य पर्यवतिष्ठन्ते, तथेन्द्रियायतनानि । तत्र चावरित्थाः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः काम-क्रोध-भय-लोभ-मोह-हृष्ट-शोक-चिन्तोद्वेगादिभिर्भूयः सहस्राभिपूरयन्ति; तदा जन्मुत्तरपस्मरति ॥ ४ ॥

निदान और सम्प्राप्ति—अपस्मार रोग निम्न प्रकार के पुरुषों में बहुत जहरी होता है । यथा—जिन का मन रज और तम से युक्त होता है, जिन में दोष उद्भ्रान्त, विषम या बहुत बढ़े होते हैं, जिन का मन विक्षिप्त रह अपविज्ञ, मलिन, विरोधी वस्तुओं से मिश्रित, अवंगड़ विष्वि से बाले, अनुचित विष्वि के उपरोग करने वाले, सात्र के विष्वि ।

आँखे, शरीर की अन्य चेष्टाओं को विषम रूप से करने वाले, असत्त शीज शरीर वाले तथा रज और तमोगुण से ज्ञात विकासे—ऐसे पुरुषों में अन्तरात्मा के प्रधान स्थान हृदय को बढ़े हुए दोष घेर लेते हैं। इसी प्रकार पित्र-भित्र हन्दियों के स्थानों में भी जब ये कुपित दोष फैल जाते हैं और काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, इर्ष, शोक, चिन्ता, उद्गेग आदि द्वारा हृदय तथा हन्दिय स्थानों को भर देते हैं, उस समय मनुष्य की स्मृति (मान) नह दो जाती है और वह बेहोश हो जाता है ॥ ४ ॥

अपस्मारं पुनः स्मृति-बुद्धि-सत्त्व-संसाराद्वीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमः-
प्रवेशमाचक्षते ॥ ५ ॥

अपस्मार का लक्षण—स्मृति, बुद्धि और चित्त इन के विकृत होने से मुख में लाग, बमन, अंग-भंग आदि बीमत्स शरीर चेष्टाओं के होने से एक-दम तमोगुण के कारण बेनुब्र स्थिति में आ जाने को 'अपस्मार' कहते हैं ॥ ५ ॥

तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति । तथाथा—भ्रूव्युदासः सततमङ्गो-
वैकृतमशब्दश्रवणं लालासिह्याणकप्रस्वरणमनश्चाभिलषणमरोचका-
विपाको हृदयग्रहः कुक्षेष्टाटोपो दीर्घलयमङ्गमर्दो मोहस्तमसो दर्शनं
मूर्च्छा भ्रमश्चाभीक्षणं च स्वन्ने भद्रन्तरन-पीडन-वेपथु-न्यथन-न्यधन-
पतनादीन्यपस्मारपूर्वरूपाणि भवन्ति । ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिर्वृ-
त्तिरेव ॥ ६ ॥

अपस्मार के पूर्वरूप—अपस्मार के निम्नलिखित पूर्वरूप होते हैं। यथा—
भुखों का संकुचित (वक) होना, आँखों का निरन्तर विकृत रहना, कान की
भवण शक्ति का नष्ट होना (जो बोला जाय उसे स्पष्ट न सुनना), मुख से लार
और नासिका से मल का बहना, भोजन में अनिष्टा, अरुचि, अविपाक, हृदय-
ग्रह, पेट में अफारा, कृष्णा, अंगों में पीड़ा, मोह, अन्धकार का आँखों के
सामने आना, मूर्च्छा, भ्रम (चकर आना), स्वभ में मस्त हो कर नाचना,
कांपना, पीड़न, बीधना, गिरना आदि पूर्व-लक्षण होते हैं। इन लक्षणों के पीछे
अपस्मार रोग उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

तत्रेदमपस्मारविशेषविज्ञानं भवति । तथाथा—अभीक्षणमपस्मरन्तं
क्षणे संज्ञा प्रतिष्ठभमानमुत्पिण्डिताक्षमसाम्ना विलपन्तमुद्गमन्तं फेनमती-
वाऽऽप्यात्मीयमाविद्यशिरसं विषमविनताकुलिकमनवस्थितसक्षिय-
प्राप्ताद्यमहण-पहच-इथाव-नस्त-नयन-वदन-त्वचमनवस्थित-न्वपल-पहच-
वाद्यानुपश्यं विषपीतोपश्यं वस्तेमपस्मरन्तं

वातजन्य अपस्मार के लक्षण—अपस्मार रोग के विशेष लक्षण ये हैं।
यथा—रोगी बेसुध होकर शीघ्र ही योड़े योड़े समय में सचेत हो जाता है, आँखों का बहुत फैलना, व्यर्थ का बकवाद करना, मुख से श्वाग गिरना, ग्रीवा का भरा एवं जकड़ा रहना, घिर का टेढ़ा रहना (घिर में बौंचने के समान पीड़ा होना), अंगुलियों का विषम होना या मुड़ जाना, टांग, पांव और हाथ का चलाना (इन में अस्थिरता), नख, आँख, मुख और त्वचा का लाल, कठोर, खर्सर होना, चबूत्र, अस्थिर, कठोर, रुक्ष आदि रूप गिरते समय रोगी को दीखते हैं । वित्तकारक पदार्थों से रोग में वृद्धि और विशद्ध पदार्थों से इस की शान्ति होती है, ये वातजन्य अपस्मार के लक्षण हैं ॥ ७ ॥

**अभीक्षणमपस्मरन्तं श्वणे क्षणे संज्ञां प्रतिलभमानमवकूजन्तमास्का-
 लयन्तं च भूमि हरित-हारिद्र-ताम्र-नख-नयन-वदन-त्वचं रुधिरोक्षितोप्र-
 भैरव-प्रदीप-रूषित-रूपदर्शिनं पित्तलानुपशयं विपरीतोपशयं पित्तेना-
 पस्मरन्तं विद्यात् ॥ ८ ॥**

पित्तजन्य अपस्मार—जो रोगी बार-बार बेसुध होता हो और योड़ी देर में किर सचेत हो जाता हो (वातजन्य अपस्मार की अपेक्षा से कुछ देरी में), गले से कूजने का सा शब्द होता हो, भूमि पर हाथ पांव पटकता हो, नख, नयन, मुख और त्वचा हरे, हर्दी के समान वा ताम्बे के समान लाल; रक्त से भरे तीव्र, भयंकर, प्रदीप, क्लोवी रूप को देखता हो, पित्तकारक पदार्थों से रोग बढ़े और विपरीत क्रियाओं से शान्त हो, ये पित्त से उत्पन्न अपस्मार के लक्षण हैं ॥ ८ ॥

**चिरादपस्मरन्तं चिराच्च संज्ञां प्रतिलभमानं पतन्तमनतिविकृतचेष्टं
 लालामुद्रमन्तं शुक्ल-नख-नयन-वदन-त्वचं शुक्ल-गुरु-स्तिरध-रूप-दर्शिनं
 स्लेष्मलानुपशयं विपरीतोपशयं स्लेष्मणाऽपस्मरन्तं विद्यात् ॥ ९ ॥**

कफजन्य अपस्मार—जो रोगी देर में बेहोश होता हो और देर में ही जाग्रत होता हो, गिरते समय जिस की चेष्टायें बहुत विकृत नहीं होती, मुख से छार गिरती हो, नख, आँख और त्वचा सफेद हो गई हो, जिसको सफेद, गुरु, स्तिरध रूप दिखाई देता हो तथा कफवर्षक वस्तुओं से जिसका रोग बढ़े और विपरीत वस्तुओं से कम हो; उस को कफजन्य अपस्मार का रोगी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

**समवेतसर्वतिक्षमपस्मारं साम्राज्यातिकं विद्यात्, तमसाभ्यः
 इति चत्वारोऽपस्मारा व्याख्याताः ॥ १० ॥**

सांखिपातिक अपस्मार—जिस अपस्मार में तोनों दोषों के लक्षण मिठे रहते हैं; उस को सान्निपातिक अपस्मार समझना चाहिये । यह अवाश्य है, इस प्रकार से चार प्रकार के अपस्मार कह दिये ॥ १० ॥

तेवामागान्तुरनुबन्धो भवत्येव कदाचित्, स उत्तरकाळमुपदे-
क्ष्यते । तस्य विशेषविज्ञानं यथोक्तेलिङ्गेलिङ्गाविक्ष्यमशोषलिङ्गानु-
रूपं किञ्चित् ॥ ११ ॥

इन चार प्रकार के अपस्मार रोगों में भाव्य से कभी आगन्तुज अपस्मार का सम्बन्ध होता है । इस का विस्तार आगे चिकित्सा-स्थान में करेंगे । जिस अपस्मार में उपरोक्त लक्षणों से भिन्न लक्षण अथवा लक्षणों की अविकृता या दोषों के लक्षणों से भिन्न लक्षण दिखाई दें; उसे आगन्तुज अपस्मार समझना चाहिये ॥ ११ ॥

सर्वमेवं हितम् । हितान्यपस्मारिभ्यस्तीक्ष्णानि चैव संशोधनान्यु-
पशमनानि च यथास्वं, मन्त्रादीनि चाऽगान्तुसयोगे ॥ १२ ॥

चिकित्सा सूत्र—अपस्मार रोगी के लिये तीव्र संशोधन या तीव्र संशमन सब औषधियाँ हितकारी हैं । आगन्तुज अपस्मार में मंत्र आदि का प्रयोग करना होता है ॥ १२ ॥

तस्मिन् हि दक्षाध्वरोदूध्वसे देहिनां नाना दिज्जु विद्रवतामतिसरण-
सवन-धावन-लङ्घनाद्यदेहविक्षोभणैः पुरा गुल्मोत्पत्तिरभूत्, इविध्या-
शान्मेहकुष्टानां, भयोत्त्रासशोकैरुन्मादानां, विविधभूताशुचिसंस्पर्शाद-
पस्माराणां, ऊरस्तु खलु महेश्वरलळाटप्रभवः, तत्संवापाद्रकपिर्णां,
अतिव्यवायात्पुरनक्षत्रराजस्य राजयक्षमेति ॥ १३ ॥

भिन्न भिन्न रोगों की उत्पत्ति—प्राचीन काल में दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विच्छंस होने के समय सब प्राणी इघर-उघर दिशाओं में भागे । इन के भागने, कूदने-नांदने आदि शरीर को विक्षोभित करने वाली चेष्टाओं से ‘गुल्म’ रोग की उत्पत्ति हुई । इविध्य के अधिक खाने से ‘प्रमेह’ और ‘कुष्ट’ रोग की; भय डर और शोक से ‘उन्माद’ रोग की; नाना प्रकार के अपवित्र पदार्थों के स्पर्श से ‘अपस्मार’ रोग की उत्पत्ति हुई । ऊर महादेव के माये से उत्पन्न हुआ है, ऊर के सन्ताप से ‘रक्तपित्त’ रोग और नक्षत्रराज चन्द्रमा के अस्ति ज्ञासंग से ‘राजयक्षमा’ रोग उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

अपस्मरति वातेन पित्तेन च कफेन च ।

भिन्निपातेन प्रस्थारुपेयस्तथाविदः ॥ १४ ॥

साध्यास्तु भिषजः प्राङ्गः साधयन्ति समाहिताः ।

तीक्ष्णैः संशोधनैश्चैव यथास्वं शमनैरपि ॥ १५ ॥

यदा दोषनिमित्तास्य भवत्यागन्तुरन्वयः ।

तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्वराः ॥ १६ ॥

साध्य और असाध्य—अपस्मार चार प्रकार का है । बातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य और सन्निगतजन्य । इन में सन्निगतजन्य असाध्य है । साध्य अपस्मारों को बुद्धिमान् वैद्य तीक्ष्ण संशोधन एवं संशमन किया से अच्छा करते हैं और जिस समय दोषज और आगन्तुज दोनों अपस्मार मिले रहते हैं उस समय उच्चम वैद्य दोनों प्रकार की मिश्रित चिकित्सा करते हैं ॥ १५-१६ ॥

सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वोषधविशेषवित् ।

भिषक् सर्वामयान् हन्ति न च मोहं निगच्छति ॥ १७ ॥

इत्येतद्विलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तरामम् ।

रोगज्ञान का फल—सब रोगों को और उन ओषधियों को भली प्रकार से जानने वाला वैद्य सब प्रकार के रोगों को शान्त कर सकता है और कभी भी घबराता नहीं । इव प्रकार से उच्चम निदानस्थान को सम्पूर्ण रूप में कह दिया है ॥ १७ ॥

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते ॥ १८ ॥

तद्यथा उवरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीयते ।

रक्तपित्ताऽवरस्ताप्त्या शोषश्चाप्युपजायते ॥ १९ ॥

सीहाभिषृद्धया जठरं जठराच्छोथ एव च ।

अशोद्धयो जठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ २० ॥

प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।

क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ २१ ॥

एक रोग के कारण दूसरा रोग—एक रोग दूसरे रोग का निदान अर्थात् उत्पादक कारण भी होता है । जैसे—उवर-सन्ताप से रक्तपित्त रोग उत्पन्न होता है । रक्तपित्त और उवर से शोष रोग उत्पन्न होता है । प्लीहा के बढ़ने से उदर रोग, उदर रोग से शोष रोग उत्पन्न होता है । अर्थ रोग से गुल्मदायी उदर रोग तथा गुल्म रोग भी उत्पन्न हो जाता है । प्रतिश्याय से कास और कास रोग से क्षय तथा क्षय रोग से दूसरे अन्य रोग या शोष ही उत्पन्न हो जाता है ॥ १८-२१ ॥

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्देवर्थकारिणः ।

उभयार्थकरा इष्टास्तथैवेकार्थकारिणः ॥ २२ ॥

कश्चिद्दि रोगो रोगस्य हेतुभूत्वा प्रशास्यति ।
न प्रशास्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुते ॥ २३ ॥

ये रोग प्रथम स्वयं रोग रूप होते हैं, परन्तु यीचे से दूसरे रोगों के कारण बन जाते हैं। परन्तु कई रोग दोनों कार्य करते हैं अर्थात् अपने आप रोग रूप से रहते हुए भी कारण रूप बनकर दूसरे रोगों को उत्पन्न करते हैं। कोई रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है। परन्तु कई रोग स्वयं शान्त न होकर दूसरे रोगों के कारण बनते हैं ॥ २२-२३ ॥

प्रयोगः शमयेद्वाधार्थं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेयो न कोपयेत् ॥ २४ ॥
एवं कृच्छ्रत्वमा नाना दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ।
प्रयोगापरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसंभवात् ॥ २५ ॥

शुद्ध प्रयोग का लक्षण—इस प्रकार से मनुष्यों में होने वाले अनेक प्रकार के कष्टसाध्य रोग दिखाई पड़ते हैं। एक औषध का प्रयोग अविशुद्ध होने से तथा एक से दूसरा रोग उत्पन्न होने से व्याधियों का संकर अर्थात् मिथ्या दिखाई देता है। जो प्रयोग एक रोग को शान्त करे परन्तु साथ में दूसरे रोग को उत्पन्न कर दे वह प्रयोग विशुद्ध नहीं। शुद्ध प्रयोग तो वही है जो उपस्थित रोग को शान्त करदे तथा नया रोग उत्पन्न न करे ॥२४-२५॥

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि ॥ २४-२५ ॥
व्याधेरेकस्य चानेको बहुना बहुतोऽपि च ॥ २६ ॥
ज्वरञ्चमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रूक्षहेतुजाः ।
रूक्षेणेकेन चाप्येको ज्वर रक्तारजायते ॥ २७ ॥
हेतुभिर्बहुभिर्श्चैको ज्वरो रूक्षादिभिर्भवेत् ।
रूक्षादिभज्वराद्याश्च व्याधयः संभवन्ति हि ॥ २८ ॥

कारण भेद—अनेक रोगों का एक कारण, एक रोग का एक ही कारण, एक रोग के अनेक कारण, बहुत से रोगों के बहुत से कारण भी होते हैं। जैसे— एक रूक्ष कारण से ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि बहुत रोग होते हैं। एक रूक्ष कारण से ज्वर रूप एक ही रोग उत्पन्न होता है। रूक्ष आदि बहुत से कारणों

बिस प्रकार अतिरिक्त रोग में आफीम आदि देकर स्तम्भन करने से ज्वर या शूल हो जाता है। एक उमान रूप होने से प्रतिक्षय से कारण जाता है।

को लेकर ज्वर एक ही रोग उत्पन्न होता है और रुक्ष आदि बहुत से कारणों से ज्वर आदि अनेक रोग भी उत्पन्न होते हैं ॥ २६-२८ ॥

लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते ।

बहून्येकस्य च व्याधेर्बहुनां स्युर्बहूनि च ॥ २९ ॥

विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः ।

ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः संतापी लिङ्गमुच्यते ॥ ३० ॥

विषमारम्भमूलश्च ज्वर एको निरुच्यते ।

लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिकाद्याः सन्ति चाऽमयाः ॥ ३१ ॥

रुक्षण मेद—अनेक रोगों का एक लक्षण, एक रोग का एक ही लक्षण, एक रोग के बहुत से लक्षण और अनेक रोगों के बहुत से लक्षण होते हैं । जैसे—उम्मा की विषमता से उत्पन्न होने वाले रोगों का ज्वर रूप एक लक्षण होता है । ज्वर रोग का एक ही लक्षण सन्ताप है । विषमारम्भ मूलक अनेक लक्षणों से युक्त अकेला ज्वर होता है । इसी प्रकार विषमारम्भ मूलक लक्षणों से ज्वर, श्वास, हिचकी आदि अनेक रोग होते हैं ॥ २६-३१ ॥

एका शान्तिरनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते ।

व्याधेरेकस्य चानेका बहुनां बहूभ्य एव च ॥ ३२ ॥

शान्तिरामाशयोत्थानां व्याधीनां लङ्घनकिया ।

ज्वरस्यैकस्य चाप्येका शान्तिरङ्ग्नमुच्यते ॥ ३३ ॥

तथा लघ्वशनाद्याश्च ज्वरस्यैकस्य शान्तयः ।

एताश्चैव ज्वरश्वासहिकादीनां प्रशान्तयः ॥ ३४ ॥

चिकित्सा विधान—अनेक रोग एक ही चिकित्सा से शान्त होजाते हैं, एक रोग की शान्ति एक ही प्रकार से, एक रोग की शान्ति अनेक प्रकार से और अनेक रोगों की शान्ति अनेक प्रकार से भी होती है । जैसे आमाशय से उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों की शान्ति उपवास किया से, ज्वर अकेले की शान्ति उपवास से हो जाती है । इसी प्रकार अकेले ज्वर को शान्त करने के लिये लघु भोजन आदि अनेक उपाय हैं । लघु भोजन आदि अनेक उपाय ज्वर, श्वास, हिचकी आदि अनेक रोगों को शान्त करते हैं ॥ ३२-३४ ॥

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते ।

साध्यते कृष्णसाध्यस्तु यन्नेन महता चिरात् ॥ ३५ ॥

सुखसाध्य और कृष्णसाध्य—सुखसाध्य रोग, सुखपूर्वक चिकित्सा, पर योके उमय में अच्छा हो जाता है । कृष्णसाध्य रोग बहुत प्रयुक्त । देर में अच्छा होता है ॥ ३५ ॥

याति नाशेषता व्याधिरसाध्यो याप्यसंक्षिप्तः ।
 परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥ ३६ ॥
 नासाध्यः साध्यता याति, साध्यो याति त्वसाध्यताम् ।
 पादावचारादैवाद्वा यान्ति भावान्तरं गदाः ॥ ३७ ॥
 बुद्धिस्थानक्षयावस्थां रोगाणामुपलक्षयेत् ।
 सुसूक्ष्मामपि च प्राक्षो देहाभिवलचेतसाम् ॥ ३८ ॥
 व्याध्यवस्थाविशेषान् हि ज्ञात्वा ज्ञात्वा विचक्षणः ।
 तस्यां तस्यामवस्थायां तत्तच्छ्रूयः प्रपद्यते ॥ ३९ ॥

याप्य और असाध्य—याप्य-संज्ञक असाध्य रोग कभी भी जड़-मूल से नष्ट नहीं होते (वे पथ्य और औषध द्वारा कुछ काल तक दबे रहते हैं) और असाध्य रोग सब प्रकार की चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं होते । असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकते, परन्तु साध्य रोग असाध्य बन जाते हैं । सब रोगों की चिकित्सा के जो चार पाद हैं, इन के अपचार से अथवा दैवबल के कारण रोग दूसरी स्थिति (असाध्य अवस्था) में पहुंच जाते हैं । बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि दोष की बुद्धि, स्थान और क्षय की परीक्षा भली प्रकार करे । रोगी के शरीर, जाठराङ्गि, बल और चिकित्सावृत्ति का सुखमता से ज्ञान प्राप्त करे । रोग की विशेष अवस्थाओं को भली प्रकार पूर्ण रूप से समझ कर उस प्रकार से शान्तिशारक चिकित्सा करने पर सुख (धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थ) प्राप्त होते हैं ॥ ३६-३९ ॥

प्रायस्तिर्थगता दोषाः क्लेशयन्त्यातुराँश्चिरम् ।
 तेषु न त्वरया कुर्यादेहाभिवल-विक्रियाम् ॥ ४० ॥
 प्रयोगैः क्षपयेद्वा तान् सुखं वा कोष्ठमानयेत् ।
 ज्ञात्वा कोष्ठप्रपञ्चात्तान् यथास्त्वं तं हरेद् बुधः ॥ ४१ ॥
 ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलङ्घानि संग्रहे ।
 व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नाऽमयाः ॥ ४२ ॥

प्रायः वात आदि दोष कुर्मार्ग में जाकर रोगियों को बहुत समय तक पीड़ित करते हैं । ऐसे स्थानों में शीघ्रता से काम नहीं लेना चाहिये । अपिन्दु रोगी के शरीर और अग्नि-बल को जानकर औषध-प्रयोग द्वारा दोषों को धीरे धीरे कम करना चाहिये । अथवा दोषों को कौष्ठ-स्थान में लाना चाहिये । और जब दोष । जाय तब योग्य रीति से बाहर निकाल देने चाहिये । रोगों के । के लिये जो लक्षण संक्षेप में हैं, उन को एक स्वतन्त्र रोग

समक्षना चाहिये । परन्तु जिस स्थान पर दूषरे रोगों का ज्ञान कराया गया है वहां पर इन लक्षणों को लक्षण ही समक्षना चाहिये ॥ ४०-४२ ॥

**विकाराः प्रकृतिश्चैव द्युं सर्वं समासतः ।
वद्देतुवशां हेतोरभावात् प्रवर्तते ॥ ४२ ॥**

विकार और प्रकृति इन दो अवस्थाओं का जो वर्णन किया है ये दोनों ही कारण के अधीन हैं । कारण के अभाव से इन दोनों में से एक भी नहीं रह सकता ॥ ४२ ॥

तत्र इलोकाः—हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्युपश्यस्तथा ।

संप्राप्तिः पूर्वमुत्पत्तिः सूत्रमात्रं चिकित्सितम् ॥ ४४ ॥

ज्वरादीना विकाराणामष्टानां साध्यता न च ।

पूर्थगेकैकशश्चोक्ता हेतुलिङ्गोपशान्तयः ॥ ४५ ॥

हेतुपर्यायनामानि व्याधीनां लक्षणस्य च ।

निदानस्थानमेतावत्संप्रहेणोपदिश्यते ॥ ४६ ॥ इति ।

इस निदान स्थान में ज्वर आदि आठ रोगों के हेतु, पूर्वरूप, रूप, उपश्य, सम्प्राप्ति, पूर्वमुत्पत्ति, चिकित्सा सूत्र, साध्यता और असाध्यता, इन का वर्णन किया है । हेतु, लिंग, उपश्य, व्याधि, लक्षण और हेतु के पर्यायवाची शब्द ये सब विषय संक्षेप में कह दिये हैं ॥ ४४-४६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थानेऽ-

पस्मारनिदानं नामाष्टमोऽस्यायः ।

इति निदानस्थानं संपूर्णम् ।

“निदानस्थान में प्रधानभूत ज्वर आदि का ज्ञान कराने के लिये अविपाक, अस्वच्छ आदि जो रोग कहे गये हैं, उनको स्वतंत्र अवस्था में उत्पन्न होने पर रोग ही ज्ञानने चाहिये और जब ज्वरादि के कारण ये उत्पन्न होते हैं सत्र, लक्षण ही हैं । क्योंकि आमुखेद में स्वतन्त्र अपनी चिकित्सा से ज्ञात्वा ही रोग कहा जाता है ।

विमानस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः ।

अथाते रसविमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्तु भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इस के बाद 'रस-विमान' का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

इह खलु व्याख्यानानि निमित्त-पूर्वरूप-रूपोपशय-संख्या-प्राप्तान्यविधि-विकल्प-चल-काल-विशेषाननुप्रविश्यानन्तरं । रस-द्रव्य-दोष-विकार-भेषज-देश-काल-चल-शरीराद्धार-सार-सात्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसां मान-मवहितमनसा यथावज्ञेयं भवति भिषजा, रसादिमानज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः । न हामानज्ञो रसदोषादीनां भिषक् व्याधिनिप्रहसमर्थो भवति । तस्मात् रसादिमानज्ञानार्थं विमानस्थानमुपदेश्यामोऽविनवेश ॥ ३ ॥

विमान-स्थान का प्रयोजन—चिकित्सा में सफलता चाहने वाले वैद्य को चाहिये कि सब से प्रथम रोगोंका निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, संख्या, प्राप्तान्य, विधि, विकल्प (मेद), चल, काल, विशेष (संख्या अदि पाँच, संशासि के मेद) को भली प्रकार जानकर, अनन्तर सावधान मन होकर मधुर आदि रस, द्रव्य (मेषज द्रव्य), वात आदि दोष, विकार, देश (भूमि और रोगी), काल (नित्य और आवस्थिक), चल, शरीर, सार (त्वं, रक, ओज आदि), आहार (भोजन), सात्य (आंकसात्य), सत्त्व (मन), प्रकृति (वात-आदि), वय (काल के प्रमाण की अपेक्षा से बाह्यवस्था आदि) आदि की रोगा में भली प्रकार परीक्षा करे, क्योंकि चिकित्सा-क्रिया का आधार रसादि ज्ञान ही है । इस लिये रसादि का ज्ञान भली प्रकार करना चाहिये । रसादि को न जानने वाला वैद्य रोगों को रोकने और उन की चिकित्सा में सफल नहीं हो सकता । इसलिये हे अस्त्रिवेश ! रसादि ज्ञान के अधीन चिकित्सा के होने से, रसादि ज्ञान के लिये विमान-उपदेश करेंगे ॥३॥

अस्त्रेशं इति च पाठः ।

त्राय्यांश्चौ रस-द्रव्य-दोष-विकार-प्रभावात् वक्ष्यामः ॥ ४ ॥

इन में सब से प्रथम मधुर आदि रस, मैषज द्रव्य, वात आदि दोष और विकार और इन के प्रभावों को कहेंगे ॥ ४ ॥

रसास्तावत् षट् मधुराम्ल-लवण-कटु-तिळ-कषायाः । ते सम्यगुपयुज्य-मानाः शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपनायो-पक्षल्पयन्ति ॥ ५ ॥

रस छः हैं, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिळ और कषाय । इन का यदि भली प्रकार उपयोग किया जाय तो ये शरीर को स्वस्थ अवस्था में रखते हैं और यदि अन्यथा अर्थात् अन्यथा रूप में सेवन किये जावे तो बातादि दोषों को प्रकृपित करके रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ५ ॥

दोषाः पुनर्ख्यो वात-पित्त-श्लेष्माणः । ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका-भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैविकारैः शरीरसुपता-पयन्ति ॥ ६ ॥

दोष तीन हैं । वात, पित्त और कफ । ये तीनों दोष अपनी प्रकृति अर्थात् समान अवस्था में रहकर शरीर के उपकारक होते हैं और ये ही दोष विषम रूप में विकृत होकर शरीर को नानाप्रकार के रोगों से पीड़ित करते हैं ॥ ६ ॥

तत्र दोषमेकैकं त्रयख्यो रसा जनयन्ति, त्रयख्यश्चोपशमयन्ति । तथ्यथा कटुतिळकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शम-यन्ति । कटुकाम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिळकषायास्त्वेनं शमयन्ति । मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिळकषाया-स्त्वेनं शमयन्ति ॥ ७ ॥

रसों के प्रभाव—दोषों का शमन करना और दोषों को कुपित करना यह रसों का ही प्रभाव है । इन में तीन तीन रस एक एक दोष को उत्पन्न करते हैं और तीन तीन रस एक एक दोष को शान्त करते हैं । जैसे—कटु, तिळ और कषाय ये तीन रस वायु को उत्पन्न करते हैं । मधुर, अम्ल और लवण ये तीन रस पित्त को उत्पन्न करते हैं । मधुर, तिळ और कषाय ये तीन रस कफ को उत्पन्न करते हैं और कटु, तिळ और कषाय ये तीन रस कफ को शमन करते हैं ॥ ७ ॥

रसदोषसन्निपाते तु ये रसाः येदेषैः समानगुणाः समान-चिष्ठा वा भवन्ति ते तानभिवर्धयन्ति, विपरीतगुणास्तु ।

**भूकिष्ठः वा शमयत्वश्चश्यमानः—इत्येतद्-न्यवस्थाहेतोः पदस्वमुपयि-
श्वते रसान्तं परस्परेणासंसृष्टानां, त्रित्वं च दोषाणाम् । संसर्गचिकित्स-
विस्तरो इषामपरिसंख्येयो भवति, विकल्पभेदापरिसंख्येयत्वात् ॥ ८ ॥**

रस और दोषों के सम्बन्धित होने पर जो जो रस दोषों के समान गुण वाले तथा समान स्वभाव के होते हैं वे उन दोषों को बढ़ाते हैं, विशेषतः जब ये रस नित्य प्रति निरन्तर सेवन किये जाते हैं । इसी प्रकार जो रस जिन दोषों के साथ विपरीत गुण और विपरीत स्वभाव वाले होते हैं वे सेवन करने पर उन दोषों को शमन करते हैं । इसी सामान्य और विपर्यय के कारण जो वृद्धि और ह्रास का नियम है उस की दृष्टि से परस्पर न मिले हुए रस छः तथा परस्पर न मिले हुए दोष तीन हैं । इन्हीं में यह उपरोक्त व्यवस्था संभव है । इन के पारस्परिक संसर्ग में यह संभव नहीं, क्योंकि इन रसों और दोषों का परस्पर संयोग होने से वे असंख्य हो जाते हैं । क्योंकि विकल्पों के मेद अंतर्मुख हैं ॥ ८ ॥

**तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रस-
दोषप्रभावमेकैकत्वेनाभिसमीक्ष्य ततो द्रव्यनिकारयोः प्रभावतस्वं व्यव-
स्थेत् ।**

इन में अनेक रसवाले द्रव्यों में और अनेक दोषों को प्रारम्भ करने वाले विकारों में रस प्रभाव और दोषों के प्रभाव को पृथक् पृथक् रूप से देखकर, रसविकार द्रव्य-विकार के प्रभाव का निश्चय करे । अर्थात् जहाँ पर एक रस और एक ही दोष हो वहाँ पर रस और दोष के प्रभाव से द्रव्य-विकार के प्रभाव का ज्ञान हो ही जाता है ; परन्तु जहाँ पर अनेक रस और अनेक दोष मिले हो वहाँ पर भी छः रसों और तीन दोषों के प्रभाव का निश्चय कर लेना चाहिये ।

न त्वेवं खल्लु सर्वत्र । न हि विकृति-विषम-समवेतानां नानात्मकानां

१. रस का विकृति-समवाय जैसे मधुर भात में । मधुर रस स्वभाव से स्नेहकारी और वृद्ध्य है, परन्तु द्रव्य के विकार रूप भात में वह मधुरता वह गुण नहीं करती । भात स्निग्ध और वृद्ध्य नहीं है ।

रसों का विषम समवाय अर्थात् विषम मेल जैसे तिल में कषाय, कट्ट, तिक्क और मधुर चार रस मिले हैं । यदि वे बिना मात्रा के मिले न होते तो तिल भी । और क्षेमा को हरने वाला वा त्रिदोषन्धारी होता, परन्तु तिल में रसों का

२ अर्थात् विषम रूप से मेल है । अतः वह बैला नहीं है, प्रस्तुत एक उत्पन्न करता है । पदार्थों में कहीं तो ये रस अपना ठीकर-

द्रव्याणि परत्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्किंकलिपतानामवयवप्रभावानुमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यं । तथायुक्ते हि समुदाये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलङ्घ्य ततो रस-द्रव्य-विकार-प्रभाव-तत्त्वं व्यवस्थेत् ॥ ६ ॥

परन्तु इस प्रकार सब स्थानों पर जाना नहीं जा सकता । क्योंकि द्रव्य समूर्ण विकृति भाव से और अवमान परिमाण में परस्पर मिलते । इस मिलने के समय एक द्रव्य के द्वारा दूसरा द्रव्य नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार नाना रूपमें भी द्रव्य बदल जाता है । इन अवस्थाओं में अंशांश विकल्पना द्वारा प्रत्येक अंश का प्रभाव अनुमान द्वारा जानकर उससे समूर्ण समुदाय रूप द्रव्य का प्रभाव जानना असम्भव है । इस अवस्था में समूर्ण द्रव्य का समूर्ण प्रभाव जानना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्माद्रसप्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च विकारप्रभाव-तश्च तत्त्वमुपदेश्यामः—तत्राप रसन्द्रव्य-दोष-विकार-प्रभाव उपदिष्टो भवति ॥ १० ॥

इसांत्ये चिकित्सा में रस-प्रभाव, द्रव्य-प्रभाव, दोष प्रभाव और विकार-प्रभाव इन चारों की अपेक्षा है । इससे उन चारों प्रकार के प्रभावों का यथार्थ उपदेश करेंगे । रसों और द्रव्यों का वात, रिच और कफ इन दोषों को कुपित और शान्त करने का प्रभाव रसनिरूपण अध्याय में कह दिया ॥ १० ॥

द्रव्यप्रभावं पुनरुपदेश्यामः—तैलसर्पिर्मधूनि वात-पित्त-श्लेष्म-प्रश-मनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति । तत्र तत्त्वं स्नेहोद्धयगौरवापपन्नत्वाद्वातं जयति सततमध्यस्थमानम् । वातो हि रौक्यशैत्यजाधवोपपन्नो विरुद्ध-गुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मा-

फल उत्पन्न करते हैं और कहीं नहीं करते, इसी से उनके सम-समवाय या विषम-समवाय का अनुमान किया जाता है ।

एक ही पदार्थ के नाना रूप बन जाने से भी उनके गुणों में मेल आता है । रसों और दोषों का दो प्रकार का समवाय अर्थात् मेल होता है । (१) प्रकृतिके अनुकूल (२) प्रकृति के अनुकूल । जहाँ नाना रस मिलकर भी प्रकृति के गुणों का नाश नहीं करते बेसा मेल 'प्रकृति-सम-समवाय' कहाता है । जहाँ वे विकृति होकर मूल पदार्थ के गुणों का नाश कर देते हैं, वहाँ 'विकृति-विषम-समवाय' कहाता है, क्योंकि वहाँ विकृति हो जाने से विषम अर्थात् प्रकृति के रखों का विपरीत मेल होता है ।

सैलं वातं जयति सततमध्यस्यमानम् । सपिंः खल्वेवमेव पितॄं जयति, माघुर्याङ्ग्लैत्यान्मन्दवीर्यत्वाच्, पितॄं हमधुरमुण्डा तीक्ष्णा च । मधु च इलेघ्माणं जयति, रौक्ष्यात्मैश्ययात् कथायत्वाच् । इलेघ्मा हि रिनगधो मन्दो मधुरञ्च ॥ ११ ॥

द्रव्य के प्रभाव का अब उपदेश करते हैं। तैल वायु को, जी पितॄ को और मधु कफ को शान्त करने वाले द्रव्य हैं। इन में तैल, स्नेह, उष्ण और गुरु होने के कारण निरन्तर सेवन करने से वायु को शान्त करता है। क्योंकि वायु, रुक्ष, शीत और लघु होने से तैल से विपरीत गुण वाला है। दो विरोधी गुणों के विभ्रण में जो गुण अधिक बलवान् होता है वह निर्बल को जीत लेता है। इवलिये तैल निरन्तर सेवन से वायु को जीत लेता है। इसी प्रकार जी भी पितॄ को जीतता है, जी, मधुर, शीत एवं मन्दवीर्य है और पितॄ अमधुर (कटु, अल), उष्ण और तीक्ष्ण है। वह भी विपरीत गुण होने से पितॄ को जीतता है। मधु कफ को जीतता (शमन) करता है। मधु रुक्ष, तीक्ष्ण और कथाय है। कफ रिनगध, मन्द और मधुर है, इवलिये मधु कफ से विपरीत गुण वाला है ॥ ११ ॥

यज्ञान्यदपि किंचिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेझ्यो गुणतो विपरीतं विरुद्धं तज्ज्वताज्यत्यभ्यस्यमानम् ॥ १२ ॥

इसी प्रकार अन्य जो कोई द्रव्य गुणों में वात, पितॄ, कफ से विपरीत गुण-वाला होता है, वह निरन्तर सेवन करने से वात, पितॄ और कफ को शान्त करता है ॥ १२ ॥

अथ खलू त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुक्तीताधिकमन्येझ्यो द्रव्येझ्यः ।
तथाया पिप्पलीः, क्षारं, लवणमिति ॥ १३ ॥

इन निम्न-लिखित तीन द्रव्यों को अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक सेवन नहीं करे। १. पिप्पली, २. क्षार और ३. लवण ॥ १३ ॥

पिप्पली हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाका गुव्यों नात्यर्थं स्तिगधो-
ण्डाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताच्च । ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो
मवन्ति, आपातमद्वाः प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंब्यानुवन्धाः ।
सततमुपयुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वा छ्लेघ्माणमुत्क्लेशयन्ति, औद्या-
त्पितॄं, नच वातप्रशमनायोपकल्पन्ते, अल्पस्नेहोष्णमावात्, योगवाहि-
न्यस्तु खलु भवन्ति । तस्मात्पिप्पलीनात्युपयुक्तीत ॥ १४ ॥

(शुक्र पिप्पली) कटु रस की होकर भी विपाक में मधुर, गुरु, न
न अधिक उष्ण, शरीर के घावों को क्लिन करने (गडाने)

बाली है, ओषधि रूप से ठीक भी है, तो भी शीघ्र ही शुभ-अशुभ कल को दिखाने वाली हैं। सम्यक् प्रयोग करने में पूर्णरूप में गुणकारी और ठीक तरह प्रयोग न करने पर दोष का संचय करने वाली होती है। क्योंकि पिष्ठली का निरन्तर उपयोग करने से यह भारी तथा क्लैद उत्पन्न करने वाली होने के कारण कफ को कुपित करती है। उष्ण होने से पित्त को कुपित करती है। यह विषरीत गुण होने पर भी वायु का शमन नहीं करती। क्योंकि इन में स्नेह और उष्णगुण न्यून रहता है। पिष्ठली योगवाही है अर्थात् जिस द्रव्य के साथ मिलाकर देते हैं उसी द्रव्य के समान कर्म करने वाली होती है। इसलिये ज्वर, गुल्म, कुष्ट आदि में इस का उपयोग है। इसलिये पिष्ठली का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये। (पिष्ठली का भोजनादि में अति प्रयोग हानिकारक है, रसायन में नहीं)॥ १४ ॥

आरः पुनरौष्ण्यतैक्षण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद्गुपशो-
षयति । स पचन-दहन-भेदनार्थमुपयुज्यते । सोऽतिप्रयुज्यमानः केशा-
क्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपदते । ये होनं ग्राम-नगर-निगम-जनपदाः
सततमुपयुज्ञते तेऽप्यान्ध्य-षाण्ड्य-खालित्य-पालित्य-भाज्ञो हृदयापकर्ति-
नश्च भवन्ति, तद्यथा प्राच्याश्रीनाश्च । तस्मात्क्षारां नात्युपयुज्ञतीत ॥१५॥

आर, उष्ण, तीक्ष्ण और लवण रस से युक्त होते हैं। ये आर पहिले तो शरीर को क्लिन्न करते हैं और पीछे से शुष्क करते हैं। शोक आदि संशात् या पिण्डित हुए दोषों को जलाता है, पकाता है और फोड़ता है। इसलिये पकाने, जलाने और फोड़ने के लिये इस का उपयोग किया जाता है। यही आर यदि अधिक मात्रा में सेवन किया जाये तो केश (बाल), आंख, हृदय और पुरुषत्व को नाश करता है। इसलिए जिस ग्राम, नगर, बस्ती प्रान्त वा देश के लोग इस का अधिक उपयोग करते हैं वे अन्वे, नपुंसक, बार्णों का गिरने (गंज) या पकने (पलित) और हृदय के रोग से विशेष रूप से पीड़ित होते हैं। जैसे—प्राच्य (कामरूप) देश के और चीनों। इसलिये आर का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये॥ १५॥

लब्ध्णं पुनरौष्ण्यतैक्षण्योपपन्नतिरुर्वनिश्चिन्द्रियमुपक्लेदि विसंस-
नसमर्थमश्वद्रव्यरुचिकरं आपातमद्रं प्रयोगसमादृगुणयात्, दोषसंब-
चानुबन्धं, तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्त्रंसनार्थमुपयुज्यते । तदस्यर्थमुप-
युज्यमानं गङ्गानि-झैथिल्य-दौर्बल्यामिनीर्चिकरं शरीरस्य
हैनदू प्राम-नगर-निगम-जनपदाः सततमुपयुज्ञते, ते भूयिष्ठं

शिविष्ठ-मास-शोणिता अपरिक्लेशसहाश भवन्ति । तथा चाहीक्ष्यौरा-
ष्ट्रिक-सैन्यव-सौबीरकाः, ते हि पयसाऽपि सदा लबणमशनन्ति, येऽपीह
भूमेरत्युषरा देशात्तेष्वौषधिबीकूद्वनस्पत्य न जायन्ते अल्पते जसो
वा भवन्ति लबणोपहृतत्वात् । तस्माङ्गवं नात्युपगुञ्जोत । ये हातिल-
बणसात्प्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्येन्द्रलुप्तपालित्यानि तथा वल्यश्चा-
काळे भवन्ति ॥ १६ ॥

लबण, उष्ण एवं तीक्ष्ण दोनों गुणों से युक्त है, न तो बहुत गुरु और न
बहुत स्लिंग्घ होता है। क्लिन्न करने वाला, विस्तंसन (बहाने की) शक्ति वाला,
भोजन में रुचि पैदा करने वाला, भली प्रकार उपयोग करने पर समर्पणल्प
में कल्याणकारी है, ठीक प्रकार से न बरतने से दोषों को कुपित करने वाला
होता है। इस का उपयोग रुचि पैदा करने में, पाचन के लिये, क्लिन्न करने
के लिये और विस्तंसन के लिये प्रयुक्त होता है। इस का उपयोग बहुत अधिक
मात्रा में करने से शरीर में ग्लानि, शिथिलता और दुर्बलता उत्पन्न होती है।
जिस ग्राम, नगर, प्रान्त वा देश के व्यक्ति इस का निरन्तर उपयोग करते हैं,
उन को ग्लानि बहुत रहती है और उन के ऋषि, स्नायु और मांत्र शिथिल हो
जाते हैं। वे निर्बल होने से क्लेश सहने में असमर्थ रहते हैं। जैसे—वाहीक
(बल्ल), सौराष्ट्रिक (गुजराती, काठियावाड़ी), सैन्यव (सिन्धु देशी) और
सौबीर देश के लोग। ये लोग दूष के साथ भी लबण खाते हैं।

उधर भूमियों में ओगधि (फलबालो), लता, बनस्ति, फक-पुष्पवाले
वृक्ष उत्पन्न नहीं होते। यदि होते हैं तो वे अल्पबल होते हैं। नमक ही इन की
शक्ति को मार देता है, इसलिये नमक का अधिक उपयोग नहीं करना चाहिये।

इस के अतिरिक्त जिन को लबण बहुत अनुकूल पड़ता है उन के बाल
शीघ्र गिर जाते हैं, जलदी सफेद हो जाते हैं, इन्द्रलुप्त का रोग हो जाता है और
युवावस्था में ही चेहरे पर क्षुरियां पड़ जाती हैं ॥ १६ ॥

तस्मात्तेषां तत्सात्म्यतः क्रमेगापगमनं श्रेयः; सात्म्यमपि हि क्रमे-
ओपनिवर्त्यमानमदोषमल्पदोषं वा भवति ॥ १७ ॥

इसलिये इन पुरुषों को 'न वेगान्वारणीय' (सूत्र ० ७) अध्याय में बताये
दुए क्रम से नमक के इस प्रकार सात्म्य (अनुकूलता) से पृथक् होना ही कल्पा-
णकारी है, क्योंकि ऐसे सात्म्य से क्रमपूर्वक इटना दोषरहित अथवा शोष-
कः ॥ १७ ॥

नाम तद् यदात्मन्युपश्येते । सात्म्यार्थो शुपश्चार्थः ॥

सात्य—उस को कहते हैं कि जो अपनी देह के लिये सुखाराह या अनुकूल होता है। क्योंकि 'सात्य' का अर्थ 'उपशय' है।

तत् त्रिविधं—प्रवरावरमध्यविभागेन। सप्तविधं च रसैकैक्त्वेन,
सर्वरसोपयोगात् ॥ १८ ॥

तत्र सर्वरसं प्रवरं, अवरमेकरसं, मध्यमं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। तत्रावरमध्याध्यायां सात्यमुपयोगं क्रमेण प्रवरमुपपादयेत्सात्यम्। सर्वरस-मध्यमपि च द्रव्यं सात्यमुपपञ्चं प्रकृत्याशुपयोक्त्रुमानि सर्वाण्याहारविधि-विशेषायतनान्यभिसमीक्ष्य हितमेवानुरुद्ध्येत् ॥ १९ ॥

सात्य के भेद—यह सात्य तीन प्रकार का है। (१) प्रवर (२) मध्यम और (३) अवर। अथवा सात प्रकार का है। जैसे एक एक रस से छः प्रकार का और सब रसों के उपयोग से सात प्रकार का है। इन सातों में सब रसों का सात्य 'प्रवर' है। 'एक रस का सात्य 'अवर' निष्ठुर है। प्रवर और अवर के मध्य में स्थित सात्य को 'मध्यम' कहते हैं। इन में अवर और मध्यम सात्य को क्रमशः प्रवर सात्य में परिवर्तित करने का प्रयत्न करना चाहिये। सब रसों का सात्य होने पर भी अर्थात् आहार-विधि के विशेष उपयोक्ता और प्रकृति आदि सब प्रकार के आठों अंगों को देखकर हितकारक पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

तत्र स्वलिम्बान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । तथाथा प्रकृतिकरण-संयोग-राशि-देश-कालोपयोग-संस्थोपयोक्त्रुमानि भवन्ति ॥ २० ॥

आहार-विधि—ये निम्नलिखित आठ बाँतें आहार विधि में विशेष कारण या उसके अंग होती हैं। (१) प्रकृति, (२) करण, (३) संयोग, (४) राशि, (५) देश, (६) काल, (७) उपयोग-संस्था और (८) उपयोक्ता ॥ २० ॥

तत्र प्रकृतिकृद्ध्यते । स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः । तथाथा—माषमुद्गयोः, शूकरैणयोश्च ॥ २१ ॥

उन में से प्रकृति का वर्णन करते हैं—(१) प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। आहार-द्रव्य और औषध-द्रव्यों में जो गुण, लघु आदि गुण स्वभाव से रहते हैं उन का नाम प्रकृति है। जैसे माष (उडद) और शूकर के मांस स्वभाव से ही गुण हैं और मूँग तथा हरिण के मांस स्वभाव से ही लघु होते हैं ॥ २१ ॥

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः, संस्कारो हि

१.इरीब सब रस के पदार्थ खाती है, इहलिये इस का मालि
निदोंप माना है।

गुणास्तराधानमुच्यते । ते गुणाश्च लोयार्निसनिकषेष्टोच्चभव्यनदेशं काळ-वशेन भावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिष्ठाऽऽवीयन्ते ॥२३॥

(२) करण—स्वाभाविक द्रव्यों के संस्कार का नाम 'करण' है । स्वाभाविक गुण से मिन्न दूसरे गुण को उत्पन्न कर देने का नाम 'संस्कार' है । ये गुण जल, अग्नि के संयोग से, शौच (धोने आदि से), मन्थन (विलोने से), देश, काल और स्वरस आदि की भावना से, समय को अधिकता से, (पात्र आदि की भिजता से), उत्पन्न कर दिये जाते हैं ।

विलोने पर दही के गुण भिन्न हो जाते हैं । दूध को मिही के बर्तन और छोड़े के बर्तन में पकाने पर उसके स्वाद में अन्तर आ जाता है ॥ २४ ॥

संयोगस्तु द्रव्योर्बहुनां द्रव्याणां संहतीभावः, स विशेषमारभते यन्नैकेकशो द्रव्याण्यादभन्ते । तथाया मधुसर्पिंशोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः ॥ २५ ॥

(३) संयोग—दो या दो से अधिक पदार्थों का मिलना 'संयोग' कहाता है । संयोग विशेष कार्य उत्पन्न करता है । जब कि अकेला २ द्रव्य वह कार्य उत्पन्न नहीं करता । जैसे, मधु और धो का समान मात्रा में संयोग मारक है, पृथक् पृथक् नहीं । इसी प्रकार मछली और दूध का संयोग कुष्ठ रोग को उत्पन्न करता है, पृथक् पृथक् नहीं ॥ २६ ॥

राशिस्तु सर्वप्रहप्रिग्रही, मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः । तत्र सर्वस्याऽहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः । परिग्रहश्च पुनः प्रमाणग्रहणमेकत्वेनाऽहारद्रव्याणाम् । सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः । सर्वतत्त्वं ग्रहः परिग्रह उच्यते ॥ २७ ॥

(४) राशि—दो प्रकार की होती है । (१) सर्वग्रह और (२) परिग्रह । राशि का प्रयोजन मात्रा और अमात्रा अर्थात् कम या अधिक मात्रा में भोजन या औषध के लेने से उत्पन्न अच्छे या बुरे परिणाम का निश्चय करना है । सम्पूर्ण आहार को एक पिण्ड की मात्रा में ग्रहण करने का नाम 'सर्वग्रह' है । आहार द्रव्यों को एक एक करके नियत प्रमाण में

१. पानी से बार बार धोने पर पदार्थ के गुण बदल जाते हैं । यथा—
‘मुष्टौतः, प्रमुष्टः, स्त्वन्नः, संतसमौदनो लघुः ।’ मर्यने से—दवि शोथ करती है,
[मर्यने पर स्नेह होने पर भी शोथम् है । पात्र में—चांदी के पात्र में दही,
[के पात्र में पानी रखना उत्तम है । काल के कारण पन्द्रह दिन के पीछे या
[पिये । देशमें—रात के देर में रखते ।

ग्रहण करने का नाम 'परिग्रह' है। सब भोज्य पदार्थों के समुदाय इस में एक साथ मिलाकर उस में से ग्रहण करना 'सर्वग्रह' है और सब में से प्रत्येक से पृथक् पृथक् ग्रहण करना 'परिग्रह' है। (आहार मात्रा—अग्नि और आहार-द्रव्य की अपेक्षा करती है। इसलिये अग्नि बढ़ की अपेक्षा से सर्वग्रह' और द्रव्य की अपेक्षा से परिग्रह समझना चाहिये) ॥ २४ ॥

देशः उनः स्थानं द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारादौ देशसात्म्यं चाऽस्तुष्टे ॥ २५ ॥

(५) देश का अर्थ है स्थान। यह स्थान (स्थावर और जंगम) द्रव्यों की उत्पत्ति, प्रचार के साथ साथ देश-सात्म्य को भी बताता है। उत्पत्ति से जैसे—हिमालय में उत्पन्न अन्नादि गुरु और मह में लघु होता है। प्रचार से जैसे—लघु पदार्थ खाने वाले, मह भूमि में विचरने वाले, बहुत किछुने वाले प्राणियों का मांस लघु होता है, अन्यों का गुरु। देशसात्म्य जैसे अनूर देश में उष्ण, रुक्ष और मरुभूमि में शीत स्तिरपदार्थ हित नहीं हैं ॥ २५ ॥

कालो हि नित्यगच्छाऽऽवस्थिकश्च । तत्राऽऽवस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु खल्वृत्तुसात्म्यापेक्षः ॥ २६ ॥

(६) काल दो प्रकार का है। नित्यग और आवस्थिक। रोगी की अवस्थानुरूप इन में आवस्थिक-काल विकार को अपेक्षा करता है। नित्यग काल ऋद्धु, सात्म्य, शीत, उष्ण, वर्षा आदि की अपेक्षा करता है ॥ २६ ॥

उपयोगसंस्था तु उपयोगनियमः, स जीर्णलक्षणापेक्षः ॥ २७ ॥

(७) उपयोग-संस्था—उपयोग-व्यवस्था या उपयोग-नियम को उपयोग-संस्था कहते हैं। यह भोजन के पचने की अपेक्षा करता है। 'जीर्णऽशनीयात्' यह आगे कहेंगे ॥ २७ ॥

उपयोक्ता पुनः यस्तमाहारमुपयुक्ते यदायत्तमोक्तसात्म्यम् ॥ २८ ॥

(८) उपयोक्ता—जो उस आहार का उपयोग करता है, उस भोक्ता को 'उपयोक्ता' कहते हैं। जिस के अधीन अन्यास-सात्म्य है ॥ २८ ॥

इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । एषां विशेषाः शुभाशुभफलप्रदाः परस्परोपकारका भवन्ति, तान् बुमुत्सेत । बुद्धूच च हितेष्पुरेव स्यात्, न च मोहात्प्रमादाद्वा । प्रियमहितमसुखोदर्कमु-पसेन्यं किञ्चिदाहारजातमन्यद्वा ॥ २९ ॥

१ सर्वग्रह-एक मनुष्य का भोजन आठ छटांक होना चाहिये। परिग्रह-चावड, दो छटांक, आठ-५ छटांक, दाढ़ एक छटांक, शाक-एक। प्रकार से आठ छटांक।

इस प्रकार से आहार विधि के विशेष आठ आवश्यन कह दिये हैं । ये प्रकृति आदि आठों आवश्यन शुभ और अशुभ फल (स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य) को उत्पन्न करने में परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं । इस लिये वैद्य हन को भी जाने । इन में जो सम-धातुओं को प्रकृति में रखते और विषम धातुओं को समान करें उन को जानकर हितकारक का सेवन करे । मोह, अशान अथवा लापरवाही से आपातिप्रिय (सेवन के समय अतिप्रिय), परन्तु उत्तरकाल में परिणाम में दुःख विकार वा रोगकारक अहित आहार पदार्थों या अन्य इस प्रकार के विहार का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ २९ ॥

तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणां च केषाचित्काले प्रकृ-
त्यैव हिततर्म भुज्ञानानां भवति । उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्या-
विरुद्धमिष्टे देशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्वितं नातिविक्षम्बितमजल्पन्नह-
संस्तन्मना भुज्ञीताऽत्मानमभिसमोक्ष्य सम्यक् ॥ ३० ॥

यहां आगे कही जाने वाली आहार विधि स्वस्थ एवं रोगी दोनों के लिये उचित समय में स्वभाव से हितकारक होती है ।

आहार विधि—उष्ण (गरम) भोजन खाये, स्निग्ध भोजन करे, मात्रानु-
सार खाये, पूर्व भोजन के जीर्ण होने पर खाये, अविरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों को
खाये, मनोवाच्चित स्थान पर, मन के अनुकूल उपकरणों के साथ, न बहुत
जलदी, न बहुत धीरे, बिना बोले, बिना हँसे, पूर्ण मन देकर, आत्मा के साम्य
या अपनी शक्ति को देखकर भली भांति विचार कर खाये ॥ ३० ॥

तस्य सादृगुण्यमुपदेश्यामः—उष्णमभीयात् । उष्णं हि भुज्यमानं
स्वदते, भुक्तं चाप्तिमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं च जरा गच्छति, वातं
चानुलोमयति, इलेघ्माणं च परिशोषयति, तस्मादुष्णमभीयात् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार भोजन करने के सद्गुणों का उपदेश करते हैं—गरम, जितना-
गरम सुख में सहन हो सके, उतना गरम भोजन करे । गरम भोजन वृचि उत्पन्न
करता है, खाने में अच्छा लगता है । खाने पर जाकर अग्नि को बढ़ाता है,
धीर पाचन हो जाता है । वायु का अनुलोमन करता है, कफ को सुखाता है ।
इस लिये गरम भोजन खाये ॥ ३१ ॥

स्निग्धमभीयात् । स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, युक्तमौदर्यमनिन-
ति, क्षिप्रं जरा गच्छति, वातमनुलोमयति, हृदीकरोति शरीरो-
बलाभिवृद्धि चाभिज्ञमयति, वर्णप्रसादमपि चाभिनिर्वर्त्यति
यात् ॥ ३२ ॥

स्त्रिघ भोजन करे । स्त्रिघ भोजन खाने में अच्छा लगता है । खाने पर निर्बल जाठराणि को बढ़ाता है । शीघ्र परिपाक होता है । वायु का अनुडोमन करता है, शरीर को बढ़ाता है, इन्द्रियों को बलवान् बनाता है, शरीर में बढ़की वृद्धि करता है, रंग में कान्ति, चिकनाई उत्पन्न करता है, इसलिये स्त्रिघ भोजन करे ॥ ३२ ॥

मात्रावदभीयात् । मात्रावद्धि भुक्तं वात-पित्त-कफानप्रपीड्यदायुरेव विवर्धयति केवलं, सुखं गुदमनुपर्येति, न चोष्माणमुपहन्ति, अव्यर्थं च परिपाकमेति, तस्मान्मात्रावदभीयात् ॥ ३३ ॥

मात्रा में खावे । मात्रा में खाया हुआ अब वात, पित्त और कफ को क्रुपित नहीं करता, केवल आयु को ही बढ़ाता है । परिपाक होकर सुखपूर्वक गुदा मार्ग से बाहर निकल आता है । शरीर की अन्तराणि को नहीं बिगाड़ता, बिना कष के परिपाक हो जाता है, इसलिये मात्रा में भोजन करे ॥ ३३ ॥

जीर्णेऽश्रीयात् । अजीर्णे हि भुज्ञानस्याद्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याऽहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाऽहाररसेनोपसृजत् सर्वान्दोषान् प्रकोपयत्याश्, जीर्णे तु भुज्ञानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वगतौ चोदीर्णे, जातायां च बुक्षायां, विशुतेषु च स्रोतसां सुखेषु, चोद्गारे विशुद्धे, विशुद्धे च हृदये, वातातुलोष्ये, विशुष्टेषु च वात-मूत्र-पुरीष-वेगेष्वद्य-वहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्, तस्माज्जीर्णेऽश्रीयात् ॥ ३४ ॥

पूर्व-भुक्त भोजन के जीर्ण होने पर खावे । अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से पूर्व में खाये हुए भोजन के अपरिक्व रस से नवीन आहार का रस मिलकर शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित कर देता है । इसलिये पूर्व भुक्त भोजन के जीर्ण होने पर, दोषों के अपने स्थान में स्थित होने पर, अग्नि के उदीत होने पर, भूख लगने पर, अनवह स्रोतों के मुलों के खुल जाने पर, डकार के विशुद्ध होने पर, हृदय (आमाशय) के साफ होने पर, वायु के अनुकूल होने पर वायु, मूत्र, मल के बेंगों के साफ होने पर किया हुआ भोजन शरीर के सब धातुओं को समान अवस्था में रखता हुआ, केवल आयु को ही बढ़ाता है, इसलिये जीर्ण अवस्था में भोजन करे ॥ ३४ ॥

वीर्याविरुद्धमभीयात् । अविरुद्धवीर्यमभन् हि न विरुद्धं जैविकारैरयमुपसृज्यते, तस्माद्वीर्याविरुद्धमभीयात् ॥ ३५ ॥

अविरुद्ध वीर्य वाले पदार्थों को खावे । अविरुद्ध :

बाले पदार्थ के सेवन करने से, विशद वीर्य बाले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने वाले (कुष्ठ, वीरप आदि) रोगों से मनुष्य बचा रहता है, इसलिये अविशद वीर्य बाले पदार्थों को खावे ॥ ३५ ॥

इष्टे देशोऽभीयात् । इष्टे हि देशे भुज्ञानो नानिष्टदेशजैर्मनोषि-
धारकर्भावैर्मनोविधातं प्राप्नोति, तथेष्टैः सर्वोपकरणैः, तस्मादिष्टे देशे
तथेष्टसर्वोपकरणं चाभीयात् ॥ ३६ ॥

अभिमत प्रदेश में मनोऽनुकूल उपकरणों के साथ भोजन करे । मनो-
वाच्छित स्थान में भोजन करने से, अनिष्ट देश में उत्पन्न होने वाले, मन को
दुःखी करने वाले भावों से मनुष्य दुःखी नहीं होता है । यही बात मन के
अनुकूल उपकरणों के साथ भी जाने । इसलिये इष्ट स्थान में और अभिमत
उपकरणों के साथ भोजन करें ॥ ३६ ॥

नातिद्रुतमश्चायात्, अतिद्रुतं हि भुज्ञानस्योत्स्नेहनमवसादनं, भोज-
नस्याप्रतिष्ठानं, भोज्यदोषसादगुणयोपलब्धश्च न नियता, तस्मान्नाति-
द्रुतमश्चायात् ॥ ३७ ॥

बहुत जल्दी जल्दी भोजन नहीं करे । बहुत जल्दी भोजन खाने से भोजन
उन्मार्ग अर्थात् विशद मार्ग में जाने लगता है । जल्दी खाया हुआ भोजन
अवशज्जता पैदा करता है, तथा भोजन आमाशय में नहीं रहता, बर्मन हो जाता
है । जल्दी खाने से भोजन के गुण दोष की पहिचान भी नहीं होती, इसलिये
बहुत जल्दी भोजन नहीं करे ॥ ३७ ॥

नातिविलम्बितमश्चायात् । अतिविलम्बितं हि भुज्ञानो न तृप्तिम-
शिगच्छति, बहु भुज्के, शारीरभवति चाऽहारजातं, विषमपाकं च
भवति, तस्मान्नातिवलम्बितमश्चायात् ॥ ३८ ॥

बहुत धीरे इक इक भी भोजन नहीं करे । बहुत धीरे धीरे खाने से
पुरुष को कभी दूसि नहीं होती, इसलिये बहुत खा जाता है । भोजन भी टण्डा
पड़ जाता है, भोजन विषम रूप में पचता है, इसलिये बहुत धीरे धारे भोजन
नहीं करे ॥ ३८ ॥

अ त्रल्पश्चाहसंस्तन्मना भुज्नीत—जल्पतो हस्तोऽन्यमनसो वा भुज्ञा-
नस्य त एव दोषा भवन्ति य एषातिद्रुतमभवतः, तस्माद्जल्पनह-
संस्तन्मना भुज्नीत ॥ ३९ ॥

वार्ते न करते हुए या न इतरे हुए मनोयोग के साथ भोजन करे । वार्ते
हुए और इतरे हुए अथवा दूसरी तरफ अन्य कार्य में मन को लगाये

तुष्ट भोजन करने पर वे ही दोष उत्पन्न होते हैं जो जल्दी खाने में उत्पन्न होते हैं। इसलिये बिना बोले, बिना हँसे, पूर्ण मनोयोग के साथ भोजन करे ॥ ३६ ॥

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुज्ञीत सम्यक् । इदं ममोपशोते, इदं नोपशोते इति, विदितं ह्यस्य आत्मन आत्मसात्म्यं भवति, तस्मादात्मानमभि-
समीक्ष्य भुज्ञीत सम्यगिति ॥ ४० ॥

अपनी ऊंची वा हित-अहित को देखकर भोजन करे। मेरी आत्मा को यह अनुकूल है, यह प्रतिकूल है, यह मेरे सात्म्य है, यह मेरे असात्म्य है, ऐसा विचार कर खावे। इस प्रकार खाने से आत्मसात्म्य का ज्ञान रहता है। इसलिये अपनी शक्ति और हित-अहित का विवेचन करके खाना चाहिये ॥ ४० ॥

भवति चात्र—रसान् द्रव्याणि दोषाश्च विकारांश्च प्रभावतः ।

बेद यो देशकालौ च शरीरं च स नो भिषक् ॥ ४१ ॥

जो पुरुष रस, द्रव्य, दोष, विकार, प्रभाव, देश, काल, शरीर (प्रकृति, सत्त्व और सात्म्य) इन को भली प्रकार जानता है वही हम में से वैष्य होने योग्य है ॥ ४१ ॥

तत्र श्लौकौ—विमानार्थो रसद्रव्यदोषरोगः प्रभावतः ।

द्रव्याणि नातिसेव्यानि त्रिविधं सात्म्यमेव च ॥ ४२ ॥

आहारायतनान्यष्टौ भोज्यसादूगुण्यमेव च ।

विमाने रससंख्याते सर्वमेतत्प्रकाशितम् ॥ ४३ ॥

विमानस्थान का प्रयोजन, रस, द्रव्य, दोष और रोग इन चारों का प्रभाव, बहुत अधिक सेवन न करने योग्य द्रव्य, तीन प्रकार का सात्म्य, आठ आहार विधि के आयतन, भोजन का सादूगुण्य, ये सब बातें इस 'रस' संश्लेषक विमान में भगवान् आत्रेय ने प्रकाशित कर दी हैं ॥ ४२-४३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्ने चरकप्रतिसंस्कृते ततोये विमानस्थाने

रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

—०८०—

अथातस्त्रिविधकुक्षीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्र भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके अलाए 'त्रिविध कुक्षीय' नामक अध्याय का व्याख्यान करें जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

त्रिविधं कुम्भौ स्थापयेद्वकाशीशमाहारस्याऽहारसुपुञ्जामः; तथा-
कम्बकाशीशं मूर्तीनामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्बातपित्त-
श्लेषणाम् । एतावर्ती हाहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किञ्चि-
दशुभं प्राप्नोति ॥ ३ ॥

आहार करने वाले मनुष्य को चाहिये कि वह भोजन के निमित्त ऐट में
तीन विभागों की कल्पना करे । एक स्थान मूर्च (स्थूल) आहार के लिये,
दूसरा द्रव (पेय) पदार्थों के लिये और तीसरा वात, पित्त और कफ के लिये ।
इस प्रकार तीन विभाग करके आहार मात्रा का उपयोग करनेवाले पुरुष को
आहार की अमात्रा से उत्पन्न होने वाले किसी भी प्रकार के अशुभ परिणाम
नहीं होते ॥ ३ ॥

न च केवलं मात्रावस्थादेवाऽहारस्य व तस्माहारफलसौष्ठुवमवामुं
शक्यं, प्रकृत्यादानामष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्त-
फलस्त्वत् ॥ ४ ॥

तत्र वावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिष्पत्यार्थः प्रकृतः ।
एतावानेव ह्याहारराशिविधिकल्पो यावन्मात्रावस्थमात्रा-
वस्त्वं च ॥ ५ ॥

केवल आहार की मात्रा से ही सम्पूर्ण आहार फल की उच्चमता प्राप्त नहीं
हो सकती, क्योंकि प्रकृति आदि जो आठ आद्यार-विधि के विशेष अंग हैं, इन
का भी भिन्न भिन्न फल होता है । यदां पर प्रकृति आदि आठ आद्यार-विधि
विशेषों में आहार की राशि को लेकर मात्रा और अमात्रा के फल का निष्क्रय
करने के लिये यह प्रकरण है । आहार की राशि-विधि का मेद इतना ही है कि
मात्रा का परिमाण इतना और अमात्रा का परिमाण इतना है ॥ ५-५ ॥

तत्र मात्रावस्त्वं पूर्वमुपदिष्टं कुक्षयश्विभागेन, तद् भूयो विस्तरे-
णानुव्यास्यास्यामः । तथाथा—कुक्षेरप्रपीडनमाहारेण, हृदयस्थानव-
रोधः, पार्श्वयोरविपाठनं, अनतिगैरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां,
कुरुत्पिपासोपरमः, स्थानासन-शयन-गमन-प्रश्वासोच्छ्वास-हास-संकक्षासु
च सुखानुष्वच्छिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं
चेति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति ॥ ६ ॥

इन में मात्रावस्थ (मात्रा) को कुक्षि के विभाग से प्रथम संक्षेप में कहा
जाता है । अब मात्रा और अमात्रा दोनों को विस्तार से कहते हैं । जैसे—
कुक्षि से कुक्षेर का विवित (दबना) न होना, हृदय (खाद प्रश्वास) का

न इकना, भोजन के भार से पावर्यों का न फटना (फटते हुए प्रतीत न होना, अधिक न तनना), पेट में बहुत भारीपन का प्रतीत न होना, आँख आदि इन्द्रियों का पूर्ण सन्तुष्ट होना, भूल और प्यास का शान्त होना, स्थान (सीधा खड़ा होने में) आसन (बैठने में), सोने में, चलने में, इवास लेने एवं छोड़ने में, हास्य और बातचीत में सुखपूर्वक प्रवृत्ति, दिन में किये भोजन का सायंकाळ और रात्रि में किये भोजन का प्रातःकाल तक सुखपूर्वक जोर्ण हो जाना, बल, वर्ण, उपचय (पुष्टि) का शरीर से होना ये सब मात्रा में किये भोजन के लक्षण हैं ॥ ६ ॥

**अमात्रावर्त्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते । हीनमधिकं चेति । तत्र हीन-
मात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृसिकरमुदावर्तकरमवृद्धयम-
नायुष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपचातकरं सारविधमनमलक्ष्यम्-
वहमशीतश्च वातविकाराणामयतनमाचक्षते ॥ ७ ॥**

अमात्रा—अहार की अमात्रा दो प्रकार की बताते हैं । (१) हीन और (२) अधिक । इन में आहार राशि की हीन मात्रा बल और वर्ण को पुष्ट नहीं करती, न मनुष्य को तृप्त करती है, वह उदावर्त्त-रोग को उत्पन्न करती है, आयु, वोर्य एवं ओज के लिये हितकारी नहीं है, मन, बुद्धि, इन्द्रिय (आँख आदि) को नष्ट करने वाली है । सार (त्वग् रक्त आदि) को नष्ट करती है । अलक्ष्मी (गरीबी) को पैदा करती है । हीनमात्रा अस्ति प्रकार के बायु रोगों का कारण होती है ऐसा वैद्य लोग बताते हैं ॥ ७ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति सर्वकुशालाः ॥ ८ ॥

यो हि मूर्तीनामाहारविकाराणां सौहित्यं गत्वा पश्चाद् द्रवैस्तृसि-
मापद्यते भूयस्तस्याऽमाशयगता वातपित्तश्लेषमागोऽश्यवहारेणातिमात्रे-
णातिप्रपाढ्यमानाः सर्वे युगपत्रकोपमापद्यन्ते ॥ ८ ॥

**ते प्रकुपितास्तमेवाऽहारराशिमपरिणतमाविश्य कुक्षयैकदेशमाश्रिता
विष्ट्रभयन्तः सहसा वाऽप्युत्तराधराऽथ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक्
पृथगिमान् विकारानभिनवेत्यन्त्यतिमात्रभोक्तुः ॥ ९ ॥**

आहार राशि की अतिमात्रा से सभ दोष प्रकुपित होते हैं, ऐसा कुशल चिकित्सक मानते हैं । जो मनुष्य मूर्च्छा (स्थूल) आहार पदार्थों से पेट भर लेता है और ऊपर से पेय पदार्थों को पूर्णरूप से पी लेता है; उसके आमाशयमें स्थित वात, पित्त और कफ दोष इस अति अधिक भार से पीड़ित होकर । साथ कुपित हो जाते हैं । वे प्रकुपित हुए दोष इस कच्ची (अगरि)

रायि के साथ मिक्कर हस आहार रायि को उद्दर के एक भाग में योग देते हैं अथवा सहसा उपर का नीचे के (कर्व या अक) मार्ग से बाहर विष्वामित्र छाते हैं। अधिक खानेवाले, पुष्ट में भिन्न २ नाना योग पृथक् २ रूप से उत्पन्न करते हैं ॥ ६-१० ॥

तत्र वातः शलानाहाङ्गमर्द-मुखशोष-मूर्ढां-ध्रमाप्तिवैषम्य-सिरासं-कोचन-संस्तम्भनानि करोति । पित्तं पुनर्जर्वरातीसारमन्तर्दाहं तृणा-मदभ्रमप्रलपनानि । इलेघ्मा तु छर्यंरोचकाविपाकशीतज्वराडस्यगात्रगौ-रवाभिनिर्वृत्तिकरः संपद्यते ॥ ११ ॥

बायु, शूल, अफारा, अंगमर्द (अंगों का ढूढ़ना), मुख का शुष्क होना, मूर्ढा, भ्रम, अग्नि की विषमता, पाइर्वप्रह, पृष्ठप्रह, कटिग्रह, सिराखों का आकुञ्जन (संकोच) और स्तम्भन (जड़ता), इन विकारों को उत्पन्न करता है। पित्तज्वर, अतिवार, अन्तर्दाह (शरीर में जलन), तृणा, मद, भ्रम और प्रलाप को उत्पन्न करता है और कफ छर्दि (वमन), अद्वि, अविपाक, शीतज्वर, आलस्य और शरीर में भारीपन पैदा करता है ॥ ११ ॥

न खलु केवल मतिमात्रमेवाऽहारराशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपि तु खलु गुरु-रुक्ष-शीत-शुष्क-द्विष्ट विष्टभिं-विदाह्यशुचि-विदद्वानामकाले चान्नपानानामुपसेवनं, काम-कोष-लोभ-मोहर्या-ही-शोक-मानोद्वेग-भयो-पतसेन मनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्याममेव प्रदूषयति ॥ १२ ॥

कुशल वैद्य केवल आहार रायि की अतिमात्रा को ही आमदोष का कारण नहीं मानते। किन्तु प्रकृति से भारी, रुक्ष, शीत, शुष्क, द्वेषयुक्त (मन के प्रति-कूल), विष्टभीं (बायु, दर्द के होने पर भी मछ का न आना), दोह (जलन) करने वाले, अपवित्र, प्रकृति, संस्कार, रायि में विरोधी खान-पान का सेवन अथवा हितकारी अन्न को भी अनुचित काल में वा वमन, कोष, लोभ, मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, मन के उद्वेग, भय आदि अवस्था में किया हुआ अन्न-पान भी आम को ही दूषित करता है ॥ १२ ॥

भवति चात्र—मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चालं न जीर्यति ।

विन्ता-शोक-भय-कोष-तु-ख-स्थाया-प्रजागरेः ॥ १३ ॥

तं द्विविष्टमामप्रदोषमाचक्षते भिषजो विसूचिकामलसकं च ।

तत्र विसूचिकामूर्धवं चाषक्ष प्रवृत्तामदोषा वयोक्तरणा विषात् ॥ १४ ॥

हितकारी, पथ्य अन्न मात्रा से खानेपर भी विन्ता, शोक, भय, कोष,

लज्जा में सोजे, रायि आंख खाने से झीर्णा नहीं होता है। हस आम-

प्रदोष (भोजन के इस प्रकार न पचने) को वेष्ट दो प्रकार का मानते हैं । (१) विशुचिका और (२) अछसक । इन में विशुचिका के अन्दर आम दोष (भोजन का न पचा थंश) ऊपर और नीचे दोनों माणों से बाहर निकलता है ॥ १३-१४ ॥

अलसकमुपदेशवायमः— दुर्बलस्याल्पाग्नेर्बहुश्लेषणो वात-मूत्र-पुरीष-वेग-विधारिणः स्थिर-गुरु-बहु-रुक्ष-शीत-शुष्काङ्गसेविनस्तदञ्जपानमनि-लप्रपीडितं श्लेषणा च विवद्धमार्गमतिमात्रलीनमलसत्वाङ्ग बहिर्मुखी भवति, ततश्छर्द्यतीसारवर्ज्यान्यामप्रदोषलिङ्गानि यथोक्तान्यभिदर्शय-त्यतिमात्राणि । अतिमात्रप्रदुषात्त्वा दोषाः प्रदुषामबद्धमार्गस्तिर्यगच्छ-न्तः कदाचित्केवलमेवास्य शरीरं दण्डवत्स्तम्भयन्ति, ततस्तमलसकम-साध्यं ब्रुवते ॥ १५ ॥

अलसक का उपदेश करते हैं—दुर्बल, अल्पाग्नि, बहुत कफयुक, वात आदि के वेग के स्वभाव के, स्थिर, गुरु, बहुत, रुक्ष, शीत, शुष्क इस प्रकार के अन्न को सेवन करने वाले पुरुष में वायु खान-पान को पीड़ित करता है और कफ से मार्ग इके होने से वह बाहर नहीं निकलता । वही आमाद्य में बहुत अधिक मात्रा में व्यास हो जाता है । और आलस्य (मन्दता) के कारण बाहर भी नहीं आता । इसलिये इस को 'अलसक' कहते हैं । बाहर न होने से बमन और अतिसार को छोड़कर शोष अन्य आमदोष के लक्षण बहुत अधिक मात्रा में स्पष्ट होते हैं ।

असाध्य अलसक— बहुत अधिकमात्रा में दूषित हुए वात आदि दोष दुष आम-द्वारा माणों के रक जाने पर तिरछे गति करते हुए कभी अकस्मात् इस बहुत खाने वाले पुरुष के सम्पूर्ण शरीर को दण्डे की भाँति स्तब्ध कर (जकड़) देते हैं । इसलिये इस अलसक को असाध्य कहते हैं ॥ १५ ॥

विवद्धाध्यशनाजीर्णशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजो विषसद्वशलिङ्गत्वात् । तत्परमसाध्यमाशुकारित्वाद्विरुद्धोप-क्रमत्वाचेति ॥ १६ ॥

विवद्ध भोजी, अध्यशन (खाने के ऊपर खाना खाने) और अजीर्णव-स्था में भोजन करने वाले पुरुष के दोष को वेद्य 'आमविष' कहते हैं, क्योंकि इसके लक्षण विष के समान होते हैं । (आम दोष में भी विष के खाने के समान मुख से लालाक्षाव होता है) । यह भी बहुत असाध्य है । विषरूप होने से शीघ्र मारने लाला है और इसमें जो उपचार ।

वह विरोधी रहता है। अर्थात् विष में शीतक्रिया और आम एवं अजीर्ण में उष्णक्रिया करनी अपेक्षित है, ये दोनों परस्पर विरोधी होती हैं ॥ १६ ॥

तत्र साध्यमामं प्रदुष्मलसीभूतमुङ्गेखयेदादौ पाययित्वा लबणमुच्छं
च वाहि । ततः स्वेदनवर्तिं प्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेऽनम् ॥ १७ ॥

साध्य अल्पसक की चिकित्सा—दुष्ट हुए एवं अल्प (क्रियाहीन) बने आम-दोष में लबण मिश्रित गरम पानी पिकाकर वमन कारक दोष को बाहर निकालना चाहिये। पीछे से स्वेदन (फलवर्ति) का उपयोग करे और रोगी को उपवास करावे ॥ १७ ॥

विसूचिकायां तु लङ्घनमेवाग्रे विरिच्च-वशाऽनुपूर्वी ॥ १८ ॥

विसूचिका की अवस्था में सबसे प्रथम लंघन ही करवाना चाहिये। इसके पीछे विरेचन दिये पुरुष की भाँति पेयादि की व्यवस्था (उपकल्पनीय अध्याय [सूत्र ० अ० १५] में कहे अनुसार) करनी चाहिये ॥ १८ ॥

आमप्रदोषेषु त्वञ्जकाले जीर्णाहारं पुनर्दोषावलिप्तामाशयं स्तिमित-
गुरुकोष्ठमनन्नाभिलापिण्मभिसमीक्ष्य पाययेद्वाषोषपाचनार्थमौषधमभिन्न-
संख्याणार्थं च, न त्वेवाजीर्णाशनम् । आमप्रदोषदुर्बलो ह्यमिर्युगपद्वोष-
मौषधमाहारजातं चाशक्तः पक्तुम्, अपि चाऽमप्रदोषाहारौषधविभ्र-
मोऽविष्टवत्त्वादुपरतकायांमि सहस्रैवाऽनुरमवलभवितातयेत् ॥ १९ ॥

आम प्रदोष में औषध प्रयोग—जब भोजन जीर्ण हो गया हो, जिस का कोष्ठ जड़ और भारी हो, जो अज्ञ की इच्छा न करता हो, ऐसे पुरुष के शेष अपक दोषों के पाचन के लिये और उसके अग्नि को बढ़ाने के लिये भोजन के समय में औषध देनी चाहिये, किन्तु अजीर्ण अवस्था में भोजन के जीर्ण हुए बिना औषध नहीं देनी चाहिये। क्योंकि आम-प्रदोष के कारण दुर्बल हुई अग्नि आम दोष, औषध और भोजन इन सबको एक साथ पचाने में समर्थ नहीं होती। इसके अतिरिक्त आमदोष, आहार और औषध में परस्पर विषमता अधिक बलवान् होने से शरीर की अग्नि को नष्ट करके ये निर्बल रोगी को सहज शीघ्र ही मार सकते हैं ॥ २० ॥

आमप्रदोषजानां पुनर्विकाराणामपतर्पणेनैषोपरमो भवति, सति
त्वनुष्ठन्वे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निप्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौच-
त्वद्विविपरीतमेवावचारयेत्यास्त्वम् । सर्वविकाराणामपि च निप्रहे
विपरीतमौषधमिच्छन्ति कुशलाः; तदर्थकारि वा ॥ २० ॥

सम्पूर्ण आमदोषजन्य रोगों की शान्ति अपतर्पण (उपवास) से होती है^१ । संतर्पण से उत्सन्न रोगों में अपतर्पण किया कारब के विपरीत है । परन्तु अपतर्पण करने पर भी जहाँ अनुबन्ध हो वहाँ पर निदान के विपरीत औषध को छोड़ कर रोग के विपरीत (जो जिस रोग के विपरीत हो) वही औषध देनी चाहिये । यह बात केवल आमदोषजन्य रोगों के लिये ही नहीं है; अपितु सब रोगों के शमन के लिये निदान और रोग दोनों के विपरीत औषध देनी चाहिये ऐसा कुशल चिकित्सकों का मत है^२ ॥ २० ॥

विमुक्तामप्रदोषस्य पुनः परिषक्षदोषस्य दीप्ते चाग्नावश्यज्ञास्था-
पनानुवासन विधिवत्तेहपानं च युक्त्या प्रयोज्यं प्रसमीक्ष्य दोष-
भेषज-देश-काल-बल-शरीराहार-सात्य-सत्त्व-प्रकृति-वयसामवस्थान्त-
राणि विकारांश्च सम्यग्गिति ॥२१॥

जब आम प्रदोष शान्त हो जायें, दोषों का परिषाक हो जाय, अग्नि प्रदीप हो जाय तब दोष, देश, औषध, काल, बल, शरीर, आहार, सात्य, सत्त्व, प्रकृति और आयु आदि अवस्थाओं को तथा विकारों को भली प्रकार देखकर अस्यंग, आस्थापन, अनुवासन आदि कर्म और विधिपूर्वक स्नेह-पान मुक्ति से कराना चाहिये ॥२१॥

भवन्ति चात्र—अशिंतं खादितं पीतं लीढं च क विपच्यते ।

एतत्वां धार ! पृच्छामस्तन्न आचक्षव बुद्धिमन् ॥ २२ ॥

इत्यग्निवेशप्रमुखेः शिष्यैः पृष्ठः पुनर्बसुः ।

आचक्ष्व ततस्तेभ्यो यत्राऽहारो विपच्यते ॥ २३ ॥

नाभिस्तनान्तरं जन्त्वोरामाशय इति स्मृतः ।

अशिंतं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते ॥ २४ ॥

आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम् ।

पकः सर्वाश्रयं पञ्चाद्मनीभिः प्रपद्यते ॥ २५ ॥

१. अपतर्पण दोष बल की अपेक्षा से तीन प्रकार का है । (१) लंघन, (२) रुधन-पाचन और (३) दोषावसेचन । अल्पदोष में लंघन, मध्य दोष में लंघन-वाचन और बहुदोष में दोषावसेचन करना चाहिये ।

२. गुरु और स्वेदजन्य पदार्थों से उत्पन्न रोग में गुरु रस्स चिकित्सा । स्वेद-स्वेदजन्य रोग में लंघन-बूंदण । बमन में और अधिक बमन कराना तदर्थक चिकित्सा है ।

खाये, खाये, पीये या चाटे सब अन्याय कहाँ पर पचते हैं, हे धोर गुरो ! यह हम आप से पूछते हैं, हे बुद्धिमन् ! यह आप हम को बताएँ। इस प्रकार अग्निवेश आदि शिष्यों के पूछने पर पुनर्बंधु ने उन को उपदेश किया। मनुष्य के नाभि और स्तनों के मध्यवर्ती प्रदेश को 'आमाशय' कहते हैं। स्तनों से नीचे और नाभि से ऊपर 'आमाशय' और नाभि से नीचे गुदा से ऊपर 'पम्बाशय' है। आमाशय में अधित, खादित, पात और लीढ़ यह चारों प्रकार का अन्न पचता है। आमाशय में पहुँचा सब प्रकार का अन्न यहाँ पर परिषक्त होकर घमनी-स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्यास होता है ॥ २२-२५॥

तत्र श्लोकौ—तस्य मात्रावतो लिङ्गं फलं चोक्तं यथायथम् ।

अमात्रस्य तथा लिङ्गं फलं चोक्तं विभागशः ॥ २६ ॥

आहारविद्यायतनानि चाष्ट्रौ सम्यकपरीक्ष्याऽत्महितं विद्यत् ।

अन्यथा यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोपयोगेषु भजेत तं च ॥२७॥

मात्रावाले आहार के लक्षण और फल पूर्ण रूप में कह दिये हैं। इसी प्रकार अमात्रा अर्थात् होन और अधिक रूप में सेवन किये आहार के लक्षण और फल पृथक् २ करके कह दिये हैं। आहार-विधि के आठ आयतन (कारणों, अंगों) की ठीक २ परीक्षा करके अग्रन हित करें और भी जो कोई उत्तम मार्ग जिसका उपदेश नहीं किया हो उस को भी हित पदार्थों के उपयोग के अवलम्बन में प्रयोग करे ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने निविष्टकुञ्जीयविमानं
नाम द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो जनपदोद्धृतं सनीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'जनपद-उद्धृतं सनीय' नाम विमान का व्याख्यान करेंगे ।
सैषा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

जनपदमण्डले पञ्चालक्ष्मेत्रे द्विजातिवराध्युषितायां काम्पिल्लराज-
यां भगवान्पुनर्बंधुरत्रेयोऽन्तेवासिगणपरिवृतः पञ्चमे धर्मभासे
पञ्चालीये ॥ ३ ॥

ब्राह्मण, शत्रिय और वेश्य इन द्विज वर्षों से बसे पंचाल राज्य (पंजाब) के जनपद-मण्डल (ग्रान्त) में, कामिल्य नाम राजधानी में शिष्यगण सहित भगवान् आत्रेय पुनर्वसु श्रीष्ट काल के द्वितीय अर्थात् उत्तेष्ठ मास में गंगा के किनारे बन में विहार करते हुए शिष्य अग्निवेश को बोले ॥ ३ ॥

इत्यन्ते हि खलु सौम्य ! नक्षत्र-ग्रह-चन्द्र-सूर्यनिलानलानां दिशां चाऽप्रकृतिभूतानामृतुवैकारिका^१ भावाः, अचिरादितो भूरपि च न यथा-बद्रस-वीर्य-विपाक-प्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगात्प्राप्ततङ्कु-प्रायता नियता । तस्मात्प्रागुद्धवं सात्प्राक् च भूर्मैरसीभावादुद्धरण्वं सौम्य ! मैषज्यानि यावत्त्रोपहृत-रस-वीर्य-विपाक-प्रभावाणि भवन्ति । वयं चैषां रसवीर्यविपाकप्रभावानुपयोक्ष्यामहे, ये चास्माननुकाळक्षन्ति यांश्च वयमनुकाळक्षामः, नहि सम्यगुद्धवृत्तेषु भैषज्येषु सम्यग्विहितेषु सम्यग्विचारितेषु जनपदोद्धवंसकराणां विकाराणां किंचित्प्रतीकारगौ-रवं भवति ॥ ४ ॥

हे सौम्य ! नक्षत्र (अश्विनी आदि), ग्रह (बृहस्पति आदि), चन्द्रमा, सूर्य, बायु, अग्नि और दिशाओं के प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक दशा में न होने पर श्रूत-विकार से उत्पन्न होनेवाले नाना परिणाम देखे जाते हैं । इधर पृथ्वी भी ओषधियों में रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव को शीघ्र उत्पन्न नहीं कर सकती, इसलिये प्रायः भव्यकर रोगों का होना सम्भव होता है । अतः हे सौम्य ! जन-पदोद्धवंस अर्थात् देश भर को नाश कर देने वाले रोग होने से पूर्व तथा पृथ्वी के विरस (रसदीन या विपरीत रसवाली) होने से वृही ओषधियों का संग्रह कर लो; जिस से कि इन ओषधियों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव सुरक्षित बने रहें, नष्ट न हो । हम इन ओषधियों के रस, वीर्य, विपाक और प्रभावका उपयोग करते हैं, जिन को हम चाहते हैं और जो हम को चाहते हैं, उनके लिये इन ओषधियों का उपयोग करेंगे । ठोक उमय पर ओषधियों के उत्ताल छेने पर, ठोक प्रकार से बना लेने पर और ठोक प्रकार से दोष आदि की अपेक्षा से प्रयोग करने पर जनपद-नाशक रोगों के प्रतीकार करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती ॥ ४ ॥

१. सुभूत में इस विकार को 'भरक' कहा है । यथा—

शीतोष्णवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्ति, तासामुपयोगाद् विविष्टे
रोगप्रादुर्भावो मरणो वा भवेत् ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमिवेश उवाच-द्वृतानि खलु भगवन् !
भवत्यानि विहितानि च सम्यक् सम्यग्विचारचारितानि च । अपि तु
खलु जनपदोद्धर्वं सनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहार-वैह-
बल-सात्य-सत्य-वयसां मनुष्याणां कस्माद्ग्रवतीति ॥ ५ ॥

इति प्रकार से कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश बोले ! हे भगवन् !
ओषधियां ठीक प्रकार से इकड़ी की गई, ठीक प्रकार से बना ली जावेगी
और भली प्रकार से विचार कर ही ओषधियां दी जावेगी । परन्तु मिज्ज मिज्ज
प्रकृति, आहार, देह, बल, सात्य, सत्य और आयुवाले अनेक मनुष्यों का,
देश भर को ध्वंस कर देने वाला एक ही प्रकार का रोग क्यों हो जाता है ॥ ५ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—एवमसामान्यानामेभिरप्यग्निवेश ! प्रकृ-
त्यादिभिर्मार्वैर्मनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यासद्वैगुण्यात्समानका-
लाः समानलिङ्गाश्च व्याधयोऽभिनिर्वर्त्तमाना जनपदमुद्धर्वं सर्यन्ति । ते
तु खल्विमे भावाः सामान्यजनपदेषु भवन्ति । तथा—वायुहृदकं
देशः काल इति ॥ ६ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा । हे अग्निवेश ! इन प्रकृति आदि की मिज्जता
होने पर भी जो अन्य कारण सब मनुष्यों में समान रूप से रहते हैं, उन में
विकार आने से एक ही समय में, एक ही लक्षणोंबाले रोग उत्पन्न होकर जन-
पद का नाश कर देते हैं । जनपदों में निज्ज कारण समान रूप से होते हैं ।
जैसे—वायु, जल, देश और काल ॥ ६ ॥

तत्र वातमेवं विधमनारोग्यकरं विद्यात् । तथा—यथर्तुविषममति-
स्तिमितमतिचल्मतिपरूपमतिशीतमत्युष्णमतिरूक्षमत्यभिष्यन्दिनमति-
भैरवारावमतिप्रिविहतपरस्परगतिमतिकुण्डलिनमसात्य - गन्ध - बाष्प-
सिकता-पांशु-धूमोपहतमिति ॥ ७ ॥

इन में निज्ज लक्षणोंबाले वायु को आरोग्यनाशक समझना चाहिये ।
जैसे—शूद्र के विपरीत, सर्वथा गतिरहित, बहुत बेग वाला, अति कर्कष, अति
शीत, अति उष्ण, अतिरूक्ष, दोष, घातु, मल, खोतों में अति क्लिनता उत्पन्न
करनेवाला, बहुत भीषण शब्द करनेवाला, परस्पर वायु से वायु का बेग
खण्डित होता हो, आवर्त (भंकरों) वाला, इनिकारक-दुर्गन्ध वाला, बाष्प,
सिकता (रेत), पांशु (धूळि) और धूप से व्याप्त हो, तब वायु को अनारो-
ग्यकारक (रोगकारक) समझना चाहिये ॥ ७ ॥

उदयं तु सत्यत्वं चिकृतं गन्धं वर्णं रसं स्पर्शं बद्धे बहुलम पकान्त-
जलवरविहङ्गमुष्मकीणजलाशयम प्रीतिकरम पवगत गुणं विद्यात् ॥ ८ ॥

जल—जिस पानी का गन्ध, रस, वर्ण और स्पर्श बहुत अधिक विकृत हो गया हो, जिस में झेद (लडांद) बहुत उठे, जिस पानी को जलचारी पक्षी छोड़कर चले गये हों, जिस पानी में रहने वाली मछलियां नष्ट हो गई हों और जलाशय भी कमती हो गया हो, इस प्रकार के पानी को अप्रिय और गुणरहित भजाने ॥ ८ ॥

देशं पुनर्विकृत-वर्णं-गन्धं-रसं-स्पर्शं-झेदं-बहुलम पृथुष्मकान्त-
मशक-शङ्खभ-मक्षिका-मूषकोल्क-शमाशानिक-शकुनि-जम्बुकादिभिस्तृणो-
द्धूपोपवनवन्तं लता। प्रतानादिवहुलम पूर्ववदवपतितं शुष्कनष्टशस्त्रं धूम्रप-
वनं प्रध्मातपतत्रिगणमुत्कृष्ट इवगणमुद्भ्रान्त-न्यथित-विविध-मूग-पक्षि-
सङ्घमुत्सृष्ट-नष्ट-बर्म-सत्य-लज्जाचार-शील-गुण-जनपदं शशवत्सुभितो-
दीर्णसलिलाशयं प्रततालकापातनिर्धातभूमिकम्पमतिभयारावरूपं रुक्ष-
वाग्नारुणसिताभ्र-जाल-संवृतार्क-चन्द्र-तारकमभीक्षणं ससंभ्रमोद्वेगमिव
सत्रासरुदितमिव सतमस्कमिव गुह्यकाचरितमिवाऽऽकन्दितशब्दबहु-
लमिव चाहितं विद्यात् ॥ ९ ॥

देश—जिस स्थान का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श विकृत हो गया हो, झेद बहुत हो, जिस स्थान में सरीसृप (सरकने वाले सांप आदि जन्तु), व्याल (सिंह, चीते आदि), मशक (मच्छर) शलभ (पतंगे), मनिक्षयां मूषक (चूहे), उलूक (उल्लू), इमशन में रहने वाले पक्षी गीध, चीड़, गीदह आदि का उपद्रव हो, जहां पर ये बहुत हों, जहां पर तृण, घास, छता आदि बहुत हों, जो पहिले से एकदम नया ही दीखे, जहां पर अनाज के खेत सूख या नष्ट हो गये हों, जहां की बायु धुंवाली हों, जहां पर पक्षीगण घोर शब्द करते हों, जहां पर कुत्ते मुंह उठा कर रोते हों, जहां पर घबराये और पीड़ित नाना प्रकार के मूग-पशु-पक्षीसमूह हों, जिन नगरों में से धर्म, सत्य, छज्जा, आचार, शील, दया, दाखिण्य आदि गुण नष्ट हो गये हों, जहाँ के तालाबों का पानी बायु के भी निरन्तर लुभित और तरंगों बाला रहे, जहां पर उल्कापात, बिजली आदि का गिरना, भूकम्प आदि लगातार हो और भयंकर शब्द उत्पन्न होता हो, जहां पर सूर्य, चन्द्र और तारे झल्ले, तबि के से, छाल, काढ़, बादलों से ढपे दिखाई देवे, जहां पर बार बार भ्रम, उद्देग, के साथ, भय के साथ रोने का सा शब्द सुने, अन्धकार सा हो, जो गुहाक (वक्ष) आदि देवयोनियों से आकान्त सा हो, तथा रोने के से शब्दों से व्याप्त हो।

देश को अनारोग्यकारक समक्षान्त्रा चाहिये ॥ ९ ॥

कालं तु स्तु यथर्तुलिङ्गात्प्रिपरीतलिङ्गमदिलिङ्गं हीनलिङ्गं चाहितं
न्यजस्येत् ॥ १० ॥

काल—यीति, उष्ण और वर्षा इन अनुओं के अपने लक्षणों से विपरीत होना या उन लक्षणों का अविक होना या कम होना (मिथ्यायोग, अतियोग और अयोग) अनारोग्यकारक होता है ॥ १० ॥

इमानेवं द्वोषयुक्तांश्चतुरो भावान् जनपदोदृध्वंसकरात् वदन्ति
कुशलाः । अतोऽन्यथाभूतास्तु हितानाचक्षते ॥ ११ ॥

विगुणेष्वपि तु स्तव्यतेषु जनपदोदृध्वंसनकरेषु भेषजेनोपपाशमा-
नानामभयं भवति रोगेष्य इति ॥ १२ ॥

निपुण वैद्य इस प्रकार के दोषों वाले वायु, जल, देश और काल इन चारों को जनपद-नाश का कारण मानते हैं । इनसे विपरीत लक्षणों वाले इन चारों को आरोग्यकारक गिनते हैं । इन चारों के विगुण होने व जनपद के नाशक कारणों के उपस्थित होने पर भी, दोष और दूष्य की अपेक्षा फरके औषध द्वारा चिकित्सा करने पर पुरुषों को रोग नहीं होते, वे पुरुष रोगों से बचे रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

भवन्ति चात्र—वैगुण्यमुपपञ्चानां देशकालानिलाम्भसाम् ।

गरीयस्वं विशेषेण हेतुमत्संप्रबद्धयते ॥ १३ ॥

वाताज्जलं जलादेशं, देशात्कालं, स्वभावतः ।

विद्याद् दुष्परिहार्यत्वाद् गरीयस्तरमर्थवित् ॥ १४ ॥

बायादिषु यथोक्तानां दोषाणां तु विशेषवित् ।

प्रतीकारस्य सौकर्यं विद्याल्लाघवलक्षणम् ॥ १५ ॥

विकृत हुए देश, काल, वायु, और जल इनमें कारण के विचार-अनुसार-किसका उल्कर्ष है इसका वर्णन करते हैं । यथार्थ तत्त्व को जानने वाला वैद्य स्वभाव से वायु से जल को, जल से देश को, देश से काल को बढ़ कर उमड़े । क्योंकि इनका स्थाग नहीं किया जा सकता । यदि वायु स्वरात हो तो दूसरे स्थान पर मुगमदा से जाया जा सकता है । जल तो जीवन के डिवे सेवन करना आवश्यक है । यदि प्रयत्न से जल को भी छोड़ दें, देश से बचना कठिन है । देश से भी यदि देशान्तर में जायें तो काल से बचना अशस्य है । इच्छिये सबसे अविक प्रबल काल है । वायु, जल, देश और काल इन चारों के दोषों को दूर करने के उपाय जाने और दोषों के प्रतिकार के मुगम होने का विद्या इनके अन्ति के लक्षण भी जाने ॥ १३-१५ ॥

चतुर्भवितु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः ।

भेषजेनोपपाद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥ १६ ॥

वायु आदि इन चारों के विकृत होने पर भी जब पुरुष औषध सेवन करते हैं तब रोगी नहीं होते ॥ १६ ॥

येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम् ।

कर्म पञ्चविधं तेषां भेषजं परमुच्यते ॥ १७ ॥

रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।

शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्धृतैः ॥ १८ ॥

जिन पुरुषों में मरण की समानता नहीं और न कर्मों की समानता है, उनके लिये तो वमन, विरेचन आदि पञ्च कर्म सबसे श्रेयस्कर उपाय हैं । इसके साथ मैं विविपूर्वक रसायन (वृद्ध प्रयोगों) का सेवन करना चाहिये । तथा व्यापत्ति से पूर्व एकत्र की हुई औषधियों (अब्र आदि) से शरीर का पालन करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम् ।

सद्वृत्तस्यात्मुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥ १९ ॥

हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।

सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥ २० ॥

संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।

धार्मिकैः सात्त्विकैनित्यं सहारया वृद्धसंमतैः ॥ २१ ॥

इत्येतद्भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम् ।

येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे ॥ २२ ॥

सत्य, प्राणियों में दया, दान, बलि, देवता की अर्चना, सद् वृत्त का पालन, इन्द्रियों को विषयों से रोकना, अपनी रक्षा, अविकृत (अच्छे, जहाँ बीमारी न हो) जनपदों (देशों) का सेवन करना, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचारियों का सेवन करना, उनके पास रहना, धर्मशास्त्रों की कथा तथा जितात्मा महर्षियों से बात-चीत करना, धार्मिक सद्व्यप्रकृति के वृद्धों के पास उठना-बैठना, (तथा देव-व्यपाश्रय कर्म का सेवन), आयु की रक्षा के लिये औषध है । जिन लोगों की मृत्यु इस दारण काल में निश्चित (अवश्यम्भावी) नहीं है, उन के लिये उपरोक्त कर्म औषध हैं ॥ १९-२२ ॥

इति श्रुत्वा जनपदोदब्धं सने कारणान्यात्रेयस्य भगवतः पुनरपि अगवन्त्यमात्रेयमग्निवेश उचाच—अथ खलु भगवत् ! कुतो मूलमेषां वायवादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते, येनोपपत्ना जनपदमुद्बर्वं सयन्तीति ॥ २३ ॥

जनपद-नाश के इन कारणों को सुन कर मी अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से पूछा—हे भगवन् ! वायु आदि में किस कारण से विगुणता उत्पन्न होती है, जिस से विकृत होकर ये जनपदों को नाश करते हैं ॥२३॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—सर्वेषामप्यग्निवेश ! वायवादीनां यद्वैगु-
ण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम् । तयोर्योनिः
प्रश्नापराध एव । तथाथ—यदा देश-नगर-निगम-जनपद-प्रधाना धर्म-
मुक्तस्म्याधर्मेण प्रजाः वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहा-
रोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसरम् धर्ममन्त-
र्धर्मे, ततस्तेऽन्तहितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते, तेषां तथाऽन्तहित-
धर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतत्रां व्यापद्यन्ते, तेन नापो
यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति, विकृता वा वर्षति, वाता न
सम्यग्भिवन्ति, द्वितिव्यापद्यते, सालिलान्युपशुभ्यन्ति, ओषधयः
स्वभावं परिहायाऽप्यद्यन्ते विकृतिम्, तत उद्धवं सन्ते जनपदाः स्पर्शाद्य-
वहार्यदोषात् ॥ २४ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा । इन वायु आदि सब में जो विगु-
णता उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण अधर्म है । इस अधर्म का मूल कारण
पूर्व किये और असत् कर्म (अहित कर्म) हैं । इन दोनों अधर्म और असत्
कर्मों की उत्पत्ति का कारण प्रजापराध अर्थात् बुद्धि का दोष है । जिस समय
देश, नगर, प्रान्त और जनपद के अध्यक्ष (प्रधान शासक जन) धर्मका अति-
क्रमण करके अधर्म से प्रजाजनों के साथ व्यवहार करने लगते हैं, तब इन
प्रधान जनों के आश्रित एवं पीछे चलने वाले नगर और जनपद वासी लोग तथा
वाणिज्य व्यवहार वा अदालत द्वारा जीविका प्राप्त करने वाले मनुष्य इस अधर्म
को और भी बढ़ाते हैं । इस प्रकार से बढ़ा हुआ अधर्म बढ़ात् धर्म का लोप
कर देता है । इस धर्म के लोप हो जाने से देवता लोग नागरिकों के लोगों का
साथ छोड़ देते हैं, इस प्रकार से अधर्म की प्रधानता होने और देवता आदि
का सहयोग छूट जाने पर श्रुतुएं (श्रीत, उच्चा आर वर्षा) विकृत हो जाते
हैं । इस से देव (मेघ) ठीक समय पर वर्षा नहीं करता, सर्वथा नहीं करता
अथवा विकृत रूप में जल बरसता है, वायुएँ भी भली प्रकार नहीं चबतीं,
भूमि विगड़ जाती है, पानी सख जाते हैं । ओषधियां अपनी प्रकृति को
छोड़ कर विकृति को प्राप्त हो जाती हैं । तब सर्व और आहार के दोष से
जनपद नष्ट होने लगते हैं ॥ २४ ॥

तथा शङ्खभवत्वापि जनपदोद्यमंस्याधर्मं एव हेतुर्भवति ।
ते उतिप्रवृद्ध-लोभ-रोष-मोह-मानास्ते दुर्बलानवमत्याऽत्मस्वजनपरोप-
घाताय शखेण परस्परमभिक्षामन्ति, परान्वाऽतिक्रामन्ति, परैर्वाऽभि-
क्राम्यन्ते ॥ २५ ॥

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्यपचारान्तर-
सुपश्चयाभिहन्यन्ते ॥ २६ ॥

शब्द से होने वाले युद्ध आदि में भी जो जनपद का नाश होता है उस
का भी कारण अधर्म हो इ है । जिन पुरुषों में लोभ, क्रोध, मान बहुत बढ़ा होता
है, वे दुर्बल पुरुषों का तिरस्कार करके अपने और दूसरों के नाश के लिये
परस्पर शब्दों से आक्रमण करते हैं । इस अवस्था में राक्षस आदि नाना प्रकार
के भूत (प्राणि) समूह इस अधर्म या इसी प्रकार के अन्य अपचारों से इन
पर आघात करते हैं ॥ २५-२६ ॥

तथाऽभिशापप्रभवस्याधर्मं एव हेतुर्भवति । ये लुप्तधर्माणो धर्मा-
दपेतास्ते गुरु-वृद्ध-सिद्धर्षिं-पूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति, ततस्ताः प्रजा-
गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति प्रागेवानेकपुरुषकुलविनाशाय
नियतप्रत्ययोपलभान्नियता अनियतप्रत्ययोपलभादनियताश्वापरे ॥ २७ ॥

इसी प्रकार अभिशाप से देश के नाश होने का भी मुख्य कारण अधर्म
ही है । जिन देशों में धर्म लुप्त हो जाता है और जो धर्म से च्युत हो जाते हैं;
वे गुरु, वृद्ध, सिद्ध, श्रुति, पूज्य पुरुषों का तिरस्कार करके अहित कार्यों का
सेवन करने लगते हैं । तब वे प्रजाएं गुरुजनों से शत होकर शीघ्र ही भस्म
हो जाती हैं । अनेक पुरुषों के कुल विनाश के लिए जहां विशेष पुरुषों के
अपराध होते हैं वहां वे ही नष्ट होते हैं और जहां निश्चित कारण नहीं होता
वहां अनियमित रूप से अनेक अन्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २७ ॥

प्रागपि चाधर्माद्वृते नाशभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत्, आदिकाले ह्यदिति-
सुतसम्यौजसोऽतिवलविपुलप्रभावाः प्रत्यक्ष-देवर्षि-धर्म-यज्ञ-विधि-विधा-
नाः शैलेन्द्र-सार-संहस्त-स्थिर-शरीराः प्रसन्नवणन्द्रियाः पवन-सम-बल-
जब-पराक्रमाश्राहस्तिक्षेपोऽभिरूपप्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्या-
र्जवानृशंस्य-दान-दम-नियम-तपचपवास-न्राशोचर्य-ब्रतपरा व्यपगत-
भय-राग-द्वैष-मोह-लोभ-क्रोध-शोक-मान-रोग-मिद्रा-तन्द्रा - अम-क्लमा-
लस्य-परिग्रहाश्च पुरुषा बभूवरुमितायुषः । तेषामुदारस्वगुणकर्मणाम-
विम्बन्य-रस-कीर्ति-विषाक-प्रभाव-गुण-समुदितानि प्रादुर्बभूतः सत्यानि
सर्वगुणसमुदितवात्पृथिव्यादीनां कृतयुग्मस्याऽऽदौ ।

रोग आदि की उत्पत्ति का मूल कारण—पहले भी अधर्म के बिना किसी अन्य कारण से रोग आदि अशुभों की उत्पत्ति नहीं हुई। कृतयुग में देवों के समान तेज-पराक्रम वाले, अति बलवान्, विशाल प्रभाव वाले, देव, देवर्षि, धर्म, यज्ञ विधि आदि सत्कर्मों को प्रत्यक्ष देखने वाले, पर्वत के समान हड, संगठित, स्थिर शरीर वाले, निर्मल वर्ण (कान्ति), और इन्द्रियों से युक्त, वायु के समान बल, वेग और पराक्रमवाले, सुन्दर नितम्बवाले, वायु के अनुकूल अवयव परिमाण, आकृति और प्रसादवाले और गुणों और पुष्टि से युक्त, सत्य, आर्जव (श्रुतुता, नम्रता), अनशंसता (दया), दम, दान, नियम, तप, उपवास, ब्रह्मचर्य और ब्रतों में तप्तर, भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, मान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, कळम, आलस्य, परिग्रह इन से रहित और अभित (युगों के अनुसार दीर्घ) आयु वाले पुरुष थे। सत्त्व युग के प्रारम्भ में इन पुरुषों के उदारविच्च और गुणों, धार्मिक कर्मों के अचिन्त्य प्रभाव से पृथिवी आदि महाभूतों के सर्वगुणसम्पन्न होने से शस्य (धान्य) भी रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव और गुणों वाले उत्पन्न होते थे।

भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाचिदत्यादानात्सापन्निकानां शरीरगौरव-मासीत्। शरीरगौरवात् श्रमः श्रमादालस्यं, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः कृते ॥२८॥

कृतयुग के उत्तरते हुए अनितम भाग से कुछ सम्पन्न धनों लोगों के अतिभोजन से शरीर में भारीपन आ गया। शरीर में भारीपन आने से श्रम, श्रम से आलस्य, आलस्य सं संचय (इकड़ा करने की बुद्धि), संचय से परिग्रह (ममता) और परिग्रह से लोभ उत्पन्न हुआ ॥ २८ ॥

तत्त्वेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहादनृतवचनं, अनृतवचनात्काम-क्रोध-मान-द्वेष-पारद्याभिधात-भय-दाप-शोक-चित्तोद्योगादयः प्रवृत्ताः। तत्त्वेतायां धर्मपादोऽन्तर्धानमगमत, तस्यान्तर्धानात् (युगवर्षप्रमाणस्य पादहासः) पृथिव्यादानां गुणपादप्रणाशोऽभूत्, तत्प्रणाशकृतश्च स्त्र्यानां स्नेह-बैमल्य-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव-गुण-पाद-ध्रंशः। तत्स्त्रानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैश्वाऽहारविहारर्यथापूर्वमुष्ट-ध्यमानान्यभिमारुपरीतानि प्राग्न्याविभिर्ज्वरादिभिराकान्तानि, अतः प्राणिनो द्वासमवापुरायुषः क्रमशः इति ॥ २९ ॥

फिर त्रेता में लोभ से अभिद्रोह, अभिद्रोह से असत्य भाषण, असत्य भाषण काम, क्रोध, मान, द्वेष, कठोर वचन, अभिषात (परस्पर हिंता), भय,

ताप, शोक, चिन्ता, उद्वेग आदि उत्पन्न हुए। इन के पीछे ज्येता में धर्म का एक चरण लोप हो गया। इस धर्म के एक पांव के लोप होने से आहार-विहार के गुणों का भी एक चतुर्थांश नष्ट हो गया। साथ में पृथिवी आदि के गुणों में भी एक चौथाई कमी आ गई। इस कमी के कारण धान्यों के स्नेह, निर्मलता, रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव में भी चतुर्थांश घटती हो गई। इस से पुरुषों के शरीर के गुणों में चतुर्थांश की कमी होने से, आहार विहार के गुणों में भी घटती होने से, पूर्व युग के समान वे अग्नि, वायु वाले नहीं रहे। अग्नि, वायु के गुणों में भी कमी आ गई। इसलिये ज्वर आदि रोगों से प्रथम प्रथम आक्रान्त हुए। अतः कृतयुग से प्राणियों की आयु में एक एक चतुर्थांश की कमी हुई ॥ २६ ॥

भवतश्चात्र—युगे युगे धर्मपादः क्रमेणानेन हीयते ।

गुणापादश्च भूतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ ३० ॥

संबत्सरश्चते पूर्णे याति संबत्सरः क्षयम् ।

देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ ३१ ॥

इति विकाराणां प्राणुत्पत्तिहेतुरुक्तो भवति ।

इस क्रम से प्रत्येक युग में धर्म का एक एक पाद (चतुर्थांश) छीन होता जाता है। इसी क्रम से पृथिवी आदि भूतों के गुणों में भी एक एक पाद की कमी होती जाती है। अर्थात् सभ्य युग में चार पाद, ज्येता में तीन पाद, द्वायर में दो और कलियुग में एक पाद शेष रह जाता है। इस प्रकार से लोक प्रलय को प्राप्त होते हैं। जिस युग में मनुष्यों की आयु और युग का जो जो परिमाण है, उस युगमान के सौ वर्ष पूर्ण होने पर आयु का एक एक वर्ष कम हो जाता है। जैसे कलियुग में सौ वर्ष की आयु है। युगमान १०० वर्ष पूर्ण होने पर एक वर्ष कम होकर निन्यानवे (६६) वर्ष परमायु होती है। यह रोगों के प्रथम उत्पत्ति का कारण कह दिया ॥ ३१ ॥

एवं वादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—किं तु खलु भगवन् !
नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने पूछा—भगवन् ?
क्या आयु का समय और परिमाण सब निश्चित है वा अनिश्चित ? ॥ ३२ ॥

भगवानुवाच—इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ॥ ३३ ॥

दैवे पुरुषकारे च स्थितं शास्य बलावलम् ।

भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! प्राणियों की आयु, देव और पुरुषकार इन दोनों का योग चाहती है । इसलिये आयु का बल और अबल देव और पुरुषार्थ पर स्थित है ॥ ३३ ॥

दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्म यत्पौर्वदृहकम् ॥ ३४ ॥

स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ।

बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ॥ ३५ ॥

अपने शरीर से जो कर्म पूर्व जन्म में किये हों उन को 'दैव' जाने । और इस जन्म में जो कर्म किया जाता है उसे पुरुषकार कहा है । इन दोनों प्रकार के कर्मों का विशेष बल और अबल होता है ॥ ३४-३५ ॥

दृष्टं हि त्रिविधं कर्म हीनं मध्यममुत्तमम् ।

यह कर्म भी तीन प्रकार का है । हीन, मध्यम और उत्तम ।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्धीर्थस्य च सुखस्य च ॥ ३६ ॥

नियतस्याऽयुषो हेतुविपरीतस्य चेतरा ।

तीन प्रकार की आयु—दैव और पुरुषकार दोनों प्रकार के कर्म उत्तम होने से आयु का परिमाण अधिक नियत काल दीर्घ होता है । सुखकारक एवं हितकारक आयु मिलती है और यदि इन दोनों प्रकार के कर्मों में विपरीत युक्ति हो तो आयु अनियत, छोटी, दुखी एवं अद्वितकारक रहती है ॥ ३६ ॥

मध्यमा मध्यमस्येष्टा, कारणं शृणु चापरम् ॥ ३७ ॥

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्यपहन्यते ।

दैवेन चेतरत्कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ॥ ३८ ॥

इन कर्मों में मध्यम बल हो तो आयु भी मध्यम प्रकार की रहती है । और भी कारण सुनो । जहां पर एक कर्म बलवान् हो, दूसरा निर्बल हो, वहां पर बलवान् दुर्बल कारण को दवा लेता है । इसलिये यदि पुरुषकार-कर्म बलवान् होगा तो निर्बल दैव को दवा लेगा और यदि दैव बलवान् होगा तो वह दूसरे कर्म (पुरुषकार) को नष्ट कर देगा । निर्बल को बलवान् दवा लेता है ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ।

कर्म किञ्चित् वच्चित्काले विपाके नियतं महत् ।

किञ्चित्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ ३९ ॥

इस बात को देख कर कुछ विद्वान् आयु का परिमाण निश्चित मानते हैं । किसी बलवान् कर्म का तो किसी विशेष निश्चित समय में ही परिपक होता है और किसी का विपाक काल अनिश्चित है, कभी भी उसका पाक हो सकता है ।

कौन कर्म कब पकेगा इस बात का निर्णय कारणों से किया जाता है। कभी सहकारी अन्य कारण को पाकर कर्म का पाक होता है। किया कर्म अवश्य भोगना पड़ता है। इस प्रकार कर्म के परिपाक काल के नियम और अनियत होने से आयु भी नियत तथा अनियत है॥ ३६ ॥

तस्मादुभयद्वित्वादेकान्तग्रहणमसाधु । निर्दर्शनमपि चात्रोदाहरि-
व्यामः । यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्, तदायुष्कामानां न
मन्त्रोषधि-मणि-मङ्गल-बल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्य-
यन-प्रणिपात-नमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन्, नोदूञ्जान्त-चण्ड-चपल-
गो-गजोष्ट्-खर-तुरग-महिषादयः पवनाद्यश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युर्न प्रपात-
गिरि-विषम-दुर्गभुवेगास्तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भान्त-चण्ड-चपल-मोह-
लोभाकुलमतयो नारयो न प्रवृद्धोऽप्तिर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसूपोर-
गादयः, न साहसं नादेशकालचया, न नरेन्द्रप्रकोप इत्येष्वमादयो हि
भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ॥४०॥

इसलिये नियत और अनियत दोनों प्रकार की आयु के दीखने से कोई एक पक्ष अथोन् आयु का नियत वा अनियत काल मानना यह ठीक नहीं है। इस के लिये उदाहरण भा देते हैं:—यदि आयु का परिमाण नियत मान लिया जाय तो दायायु चाहने वाले मनुष्य आयु को बढ़ाने वाले मंत्र, ओषधि, क्रिया, इष्टि, याग, मणि, मंगल, बलि, उपहार, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास स्वस्त्ययन, प्रणिपात, गमनादि क्रियाओं को न क्रिया करें। इसी प्रकार इधर उधर दोढ़ते हुए भयानक, चपल, गी, हाथी, ऊंट, गधे, घोड़े, मैसे आदि तथा दुष्ट वायु आंद से कोई भी अपन का न बचावें, न कोई उन को दूर करने का यत्न करें। प्रपात (जल-प्रपात), पशाङ्, कठिन दुर्ग, पाना के वेग से कोई अपने का न बचावें। मस्त, उन्मत्त, भ्रान्त, चण्ड, चपल, मोह, लोम से व्यास बुद्धि बालों से अपने का न बचावें, शत्रु को भी निवारण न करें। तेज जलती अग्नि से कोई न डरे। विविध प्रकार के विषैले पदार्थों और सर्प आदि जन्तुओं से कोई भय न मानें। अनुचित बल के आरम्भ से न बचें। देश काल के विपरीत आचरण से अपने को न बचावें। राजा का प्रकोप भी मृत्यु का कारण न बन सकें। इन समस्त कारणों से भी आयु का नाश न हो। क्योंकि सब को आयु का काल और परिमाण नियत है। आयु के नियत काल होने से यह कारण भी मारक नहीं बनने चाहिये। मृत्यु के भय से ही छोग इस कारणों से बचते हैं॥ ४० ॥

न चानभ्यस्ताकाल-मरण-भय-निवारकाणामकालमरणभयमागच्छे-
त्प्राणिना, न्यर्थाश्च। ७७ रुमकथाप्रयोगबुद्ध्यः स्युर्महर्षीणां रसायनाधिकारे,
नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्, नाश्विनावारं भेषजेनोप-
पादयेतां, न महर्षयो यथेष्टमायुस्वप्सा प्राप्नुयुः, न च विदिवदेवितव्या
महर्षयः समुरेशा रसायनादीनि सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा ।

अकाल मरण के भय का निवारण करने वाले अनभ्यासी प्राणियों को
अकाल मृत्यु के कारणों से भय भी न हो । महर्षियों के रसायनाधिकार में कहे
हुए उपदेश, प्रयोग और ज्ञान ये सब व्यर्थ हों जायें । नियत आतुराले शत्रु
को इन्द्र भी बज्र से नहीं मार सके । अश्विनीकुमार भी रोगी पुरुष की औषध-
ियों से चिकित्सा न कर सके । और महर्षिगण तप द्वारा बांछित वर्षों तक की
आयु भी प्राप्त न कर सके । सर्वशः महर्षिगण इन्द्र के साथ आयुर्वर्षक रसाय-
नादि को न देखें, न उपदेश करें और न स्वयं व्यवहार करें । क्योंकि आयु
का काल और परिमाण तो निश्चित है ।

अपि च सर्वचक्षुषामेतत्परं यदैन्द्रं चक्षुः, इदं चास्माकं प्रत्यक्षं,
यथा पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाऽहं इवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्टं,
तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च। विषविषप्राशिना चाप्य-
तुल्यायुष्टं, न च तुल्यो योगः क्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सी-
दतां, तस्माद्द्वितोपचारमूलं जीवितमतो विषयं यान्मृत्युः ।

सब आंखों से ऐष्ट्र प्रमाण यह इन्द्र (आत्मा) की आंख है—इम प्रत्यक्ष
देखते हैं कि हजारों मनुष्य प्रतिदिन उठ उठ कर शब्दों से लड़ाई करते हैं,
नहीं भी करते हैं, उन सब की आयु तुल्य नहीं होती अर्थात् लड़ने वाले मरते
और न लड़ने वाले नहीं मरते हैं । इसी प्रकार उत्थन हुए संन्यास रोहिणी
आदि रोगों की जो तत्काल चिकित्सा कर लेते हैं वे बच जाते हैं और जो
चिकित्सा नहीं करते वे मरते हैं । इसी प्रकार विष खाने वाले मरते हैं और विष
नहीं खाने वाले नहीं मरते । पानी रखने या लाने के लिये जो पक्के बड़े बनाये
जाते हैं उन का तथा चित्र घटो (कचे घर्डो) का यांग-क्षेम समान नहीं हो
सकता । वे समान काल तक स्थिर नहीं रह सकते । किन्तु रक्षण करने से कचे
घटे भी देर तक रह सकते हैं और न पालने से पके घटे भी शीघ्र ढूट जाते
हैं । इसलिये हितकारी वस्तुओं वा कार्यों का सेवन करना ही जीवन का निमित्त
है । इस के विपरीत अहितावरण करना मृत्यु का कारण है ।

अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविहाराणां च

क्षियोपयोगं सम्यक् सर्वातियोगसंधारणमसंधारणमुदीर्णना च गति-
मता साहसाना च वर्जनमारोग्यालुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे उपदिशामः
सम्यक् पश्यामश्वेति ॥ ४१ ॥

और भी, देश, काल, आत्मा इन के गुणों के साम्य, कर्म तथा आदार
द्रव्यों को विविधरूपक उपयोग करना, काल, कर्म और इन्द्रियार्थों के अयोग,
मिथ्यायोग और अतियोग का त्याग, अनुपस्थित वेगों को रोकना (बलात्कार से
बाहर न करना) और उपस्थित वेगों को न रोकना और सब प्रकार के साहसिक
कर्मों (अनुचित बल के कार्यों) का त्याग, ये सब बातें आरोग्य के सुंरक्षण में
कारण होती हैं। इस स्वस्थवृत्त का इम भली प्रकार उपदेश करते हैं और इसे
अच्छी प्रकार देखते भी हैं ॥४१॥

अतः परमग्निवेश उवाच—एवं सत्यनियतकालप्रमाणायुषा भग-
वन् ! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्बा भवतीति ॥४२॥

इस के अनन्तर अग्निवेश बोले ! इस प्रकार से यदि आयु का समय
अनिश्चित है, तब कालमृत्यु और अकालमृत्यु किस प्रकार होती है ? ॥४२॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः
प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः (स्यात्, संच) सर्वगुणोपपन्नो वाहामानो यथा-
कालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽस्युः शरीरोपगतं बल-
बत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स
मृत्युः काले ।

भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश सुनो ! जिस प्रकार गाढ़ी में लगा
अष्ट (धुरा), धुरे के समस्त गुणों से युक्त होने पर भी अधिक भार आदि के
न पड़ने से, ठीक समय में अपने परिमाण के क्षय होने पर विसता २ दूट जाता
है, उसी प्रकार शरीर से सम्बद्ध आयु भी चलवान् प्रकृति, युक्ति तथा स्वस्थवृत्त-
विधि से पाली हुई, अपने समय में ही क्षय को प्राप्त होती है, इस मृत्यु को
'कालमृत्यु' कहते हैं ।

यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्ष-
भज्ञाद्वाद्वाहकदोषादणिमोक्षात् पर्यसनादनुपाङ्गाव्यान्तरा व्यसनम
द्यते, तथाऽस्युरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यऽयवहरणाद्विषमाग्न्यवहर-
णाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संशयादुदीर्णवेगविनिवृद्धाद्विघार्य-
वेगविधारणाद् भूतविषवाच्चग्न्युपतागदभिघातादाहारपतीका
र्जनाच्च यावदन्तरा व्यसनमापद्यते । तथा नियतायुष अन्वरा

राष्ट्राभिरुद्धन्ते । स मृत्युरकाले । तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपच-
रितानकालमृत्यून् पश्याम इति ॥४३॥

और यदि इसी अक्ष पर बहुत अधिक भार रक़जा जाय, अथवा विषम मार्ग से, कुमार्ग से, धुरे या पहिये के दूटने से, बैल या बाहक (सारथि) के दोष से, अग्नि, धुरी में लगी कील के निकल जाने से, स्नेह न पढ़ने से, गिरने से नियत समय से पूर्व ही टूट जाता है उसी प्रकार आयु भी साहस्रिक कार्यों से, अग्नि के अनुसार भोजन न करने या विषम भोजन करने से, अतिमैथुन से, उपस्थित वेगों को रोकने से, रोकने योग्य (काम क्रोधादि) वेगों को न रोकने से, शरीर को विषम स्थिति में रखने से (उत्कट आसन बैठने से), दुर्जनों का संसर्ग करने से, भूत, विष, वायु, अग्नि, ताप, चोट आदि से, आहार विधि के छोड़ने से, धीच में ही आयु समाप्त हो जाती है, इस का नाम 'अकाल-मृत्यु' है । इसी प्रकार ज्वर आदि रोगों की ठीक प्रकार से चिकित्सा न होने से इन से भी अकाल मृत्युएं होती देखते हैं ॥४३॥

अथाग्निवेशः प्रपञ्च—किं तु खलु भगवन् ! ज्वरितेऽऽयः पानी-
यमुष्णं भूयिष्ठं प्रयच्छन्ति भिषजो न तथा शीतम् । अस्ति च शीत-
साध्यो धातुजर्वरकर इति ॥ ४४ ॥

इस के अनन्तर अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन् ! वैद्य लोग ज्वर के रोगी को गरम पानी अधिकतः किस लिये देते हैं ? शीतल पानी उतना नहीं देते । शीत उपचार से भी ज्वरकारक धातु पित्त शान्त होता है ॥४४॥

तमुवाच भगवानादेयः—ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेशकाला-
नभिसमीक्ष्य पाचनार्थं पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति भिषजः । ज्वरो
ह्यामाशयसमुत्थः प्रायो भेषजानि चाऽमाशयसमुत्थानां विकाराणां
पाचनबमनापतर्पणसमर्थानि भवन्ति, पाचनार्थं च पानीयमुष्णं,
तस्मादेतज्ज्वरितेऽऽयः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम् । तच्चैवां पीतं
बातमनुलोमयति, अग्निमुदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, श्लेषमाणं
च परिशोषयति, स्वल्पमपि पीतं तुष्णाप्रशमनायोपपद्यते, तथायुक्त-
मपि चैतन्नात्यर्थोत्सन्नपित्तो ज्वरे सदाहन्नमप्रलापातिसारे वा प्रदेयम्,
उष्णेन हि दाहन्नमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्धन्ते, शीतेनोपशाम्य-
न्तीति ॥ ४५ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—ज्वर-रोगी के शरीर, निदान (आमाशय से उत्पन्न विकारों में) देय, काल को देखकर पाचन के लिये

वैद्य लोग गरम पानी देते हैं। ज्वर की उत्पत्ति आमाशय से होती है। आमाशय से उत्पन्न होने वाले रोगों के लिये पाचन, बमन, अपतर्पण संशमन आदि उपचार प्रायः होते हैं। इसलिये ज्वर के रोगी को पाचन कराने के लिये वैद्य लोग गरम पानी अधिकतर देते हैं। यह पीथा हुआ गरम पानी बायु का अनुलोभन करता है, जाठराग्नि को बढ़ाता है, श्वीघ पच जाता है, जीर्ण हो जाता है, कफ को सुखाता है और थोड़ा भी पिया हुआ गरम पानी प्यास को शान्त करने के लिये पर्याप्त होता है। यह गरम पानी इतना लाभप्रद होने पर भी जिस ज्वर में पित्त बहुत बढ़ा हो उस में और दाह, भ्रम, प्रलाप अथवा अतिसार की अवस्था में भी नहीं देना चाहिये। गरमी से दाह, भ्रम, प्रलाप और अतिसार और अधिक बढ़ते हैं। ये रोग शीत उपचार से शान्त होते हैं ॥ ४५ ॥

भवति चात्र—शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्निवदः ।

ये तु शीतकृता रोगास्तेषां चोष्णं भिषग्निजतम् ॥ ४६ ॥

चिकित्सक शानी लोग गरमी (उष्णता) से उत्पन्न हुए रोगों को शीत चिकित्सा से शमन करते हैं और शीत कारण से उत्पन्न रोगों को उष्ण चिकित्सा से शान्त करते हैं अर्थात् निदान से विपरीत चिकित्सा करते हैं ॥ ४६ ॥

एषमितरेषामपि व्याधीनां निदानविपरीतमौषधं भवति कार्यम् ।
यथा—अपतर्पणनिमित्तानामपि व्याधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्ति-स्तथा पूरणनिमित्तानां नान्वरेणापतर्पणमिति ॥ ४७ ॥

इस प्रकार से अन्य रोगों में भी कारण के विपरीत चिकित्सा करनी होती है। जिस प्रकार कि अपतर्पण किया से उत्पन्न रोगों की शान्ति संतर्पण किया के बिना नहीं होती, उसी प्रकार संतर्पणजन्य रोगों की शान्ति अपतर्पण किया के बिना नहीं होती ॥ ४७ ॥

अपतर्पणमपि च त्रिविधं लङ्घनं, लङ्घनपाचनं, दोषावसेचनं चेति ॥ ४८ ॥

अपतर्पण भी तीन प्रकार का है। (१) लंघन, (२) लंघन-पाचन और (३) दोषावसेचन (दोषों का बाहर निकालना) ॥ ४८ ॥

तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां, लङ्घनेन ह्यग्रिमारुतवृद्धया वाता-तपपरीतमिवाल्पमुद्कमल्पदोषः प्रशोषमापयते ॥ ४९ ॥

इन में जब दोषों का बल अल्प हो, तब लंघन करना चाहिये। लंघन



अग्नि और वायु की वृद्धि होती है। जिस प्रकार थोड़ा पानी वायु और धूप के बढ़ने से शुष्क हो जाता है। उसी प्रकार इन की वृद्धि से अल्पबलवाला दोष शुष्क हो जाता है ॥ ४६ ॥

लङ्घनपाचनाद्यां हि मध्यबलो दोषः सूर्यसन्तापमारुताद्यां पाशुभस्मावकिरणैरिव चान्तिबहूदकं प्रशाष्टमापद्यते ॥ ५० ॥

दोषों का मध्यम बल होने पर लंघन और पाचन कर्म करना चाहिये जिस प्रकार सूर्य के संताप एवं वायु द्वारा धूउ और भस्म के फेंकने से साधारण मात्रा का पानी (बहुत अधिक राशि नहीं) सूख जाता है, उसी प्रकार लंघन और पाचन से मध्यम बलवाले दोष शान्त हो जाते हैं। (धूल और भस्म का फेंकना, पाचन किया का उपलक्षक है और सूर्य का संताप और वायु लंघन किया का ।) ॥ ५० ॥

बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यं, न हमिन्ने केदारसेतौ पल्वलप्रसेकोऽस्ति, तद्वदोषावसेचनम् ॥ ५१ ॥

दोषों के प्रबल होने पर इन का अवमेनन (निष्कासन) ही करना चाहिये। जैसे खेत को मेढ़ की तोड़े बिना खेत के पानी को सुखा देना असम्भव है। मेढ़ को तोड़कर पानी निकाल देने से खेत शीघ्र सूख जाता है। इसी प्रकार वमन, विरेचन आदि से अधिक बड़े हुए दोषों को शरीर से बाहर कर देने पर दोषों की शान्ति होती है ॥ ५१ ॥

दोषावसेचनं तु खल्वन्यद्वा भेषजं प्रापकालमप्यातुरस्य नैर्विधस्य कुर्यात्, तद्यथा—अनपवादप्रतीकारस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनश्चण्डस्यासूयकस्य तीव्रधर्मारुचेरतिक्षीण-बल-मांस-शोणितस्यासाध्यरोगो-पहतस्य मुमूर्खलिङ्गान्विस्य चेति । एवंविधं ह्यातुरमुपवरन् भिषक् पापी-यसाऽयशसा योगमृच्छतीति ॥ ५२ ॥

चिकित्सा में त्याज्य रोगी वा निभ्न प्रकार के रोगी की दोषावसेचन (संशोधन रूप) अथवा संशमनरूप चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यथा जिससे अपवाद का प्रतिकार न हो सके, जो रोगी उपकरणों का संग्रह नहीं कर सके, ऐसे निर्धन की, जिस के पास परिचारक न हों, अपने को वैद्य मानने वाले, छोड़ी, निन्दा करने वाले, जिस का बल, मांस रक्त, बहुत क्षीण हो गया हो, असाध्य रोग से आकान्त, जिस में मरणोन्मुख लक्षण स्पष्ट हों, इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। यदि इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा करता है तो पापमूलक-अपकीर्ति को प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

भवन्ति चात्र—अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।
ज्ञेयः स जङ्गलो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥ ५३ ॥
प्रचुरोदकबृशो यो निवातो दुर्लभातपः ।
अनूपो बहुदोषश्च. समः साधारणो मतः^१ ॥ ५४ ॥

जिस देश में पानी और वृक्ष कम हों, वायु और धूप बहुत प्रचण्ड हो वह जंगल देश जानना चाहिये । उसमें बहुत कम रोग होते हैं । जिस देश में जल और वृक्ष बहुत हों, वायु न चले और धूप भी न हो, वह अनूप देश कहाता है जिसमें वात और धूप दोनों समान हों वह देश समदेश कहाता है ॥ ५३-५४ ॥
तदात्वे चानुबन्धे वा यस्य स्यादश्चभं फलम् ।

कर्मणस्तत्र कर्त्तव्यमेतद् बुद्धिमतां मतम् ॥ ५५ ॥

तत्काल में अथवा उत्तर काल में जिस कर्म का फल अशुभ हो, वह कर्म नहीं करना चाहिये, यह बुद्धिमानों का मत है ॥ ५५ ॥

तत्र श्लोकाः—

पूर्वरूपाणि सामान्या हेतवः स्वस्वलक्षणाः ।
देशोद्धर्वंसस्य भैषज्यं हेतुना मूलमेव च ॥ ५६ ॥
प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च क्षयक्रमः ।
मरणं प्रतिभूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥ ५७ ॥
यथा चाकालमरणं यथा युक्तं च भैषजम् ।
सिद्धिं यात्यौषधं येषां न कुर्यादेन हेतुना ॥ ५८ ॥
तदात्रेयोऽग्निवेशाय निखिलं सर्वमुक्तवान् ।
देशोद्धर्वंसनिमित्तिये विमाने मुनिसत्तमः ॥ ५९ ॥

जनपदोद्धर्वंस के पूर्वरूप, सामान्य कारण, प्रत्येक के अपने अपने लक्षण, चिकित्सा (पंच कर्म), कारणों का मूल कारण अवर्म, रोगों की ग्रारंभिक उत्पत्ति, आयु और धर्म के हास का क्रम, कालमृत्यु और अकालमृत्यु, निदान और दोष, बलपेक्षित औषध, जिनकी चिकित्सा नहीं करनी, ये सब बातें इस अध्याय में मुनिश्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने शिष्य अग्निवेश के लिये सम्पूर्ण रूप से कह दीं ॥ ५६-५९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंकृते तृतीये विमानस्थाने जनपदोद्धर्वंसनीय-
विमानं नाम तृतीयोऽप्यायः ॥ ३ ॥

१. ये दो श्लोक भी कहीं २ देखने में आते हैं ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथात विविधरोगविशेषविज्ञानोयं विमानं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माऽऽभगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'विविधरोग-विशेष-विज्ञानोय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

विविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति । तद्यथा—आपोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति ॥ ३ ॥

रोग-विशेषविज्ञान तीन प्रकार का है । जैसे—(१) आप-उपदेश, (२) प्रत्यक्ष और (३) अनुमान ॥ ३ ॥

तत्राऽप्तोपदेशो नाम—आपवचनम् । आपा द्विवितर्क-स्मृति-विभागविदो निष्प्रीत्युत्पातापदर्शिनश्च । तेषामेवंगुणयोगाद्यद्रूचने तत्प्रमाणं, अप्रमाणं पुर्वमत्तोन्मत्तमूर्खं-इकू-नप्राटष्ट-वचनमेति ॥ ४ ॥

(१) आपोपदेश—आपजनों का वचनों का नाम आप-उपदेश है । आप ही वितर्क से भिन्न अथात् सरदेह से रहित और स्मृति ज्ञान से युक्त साक्षात् अनुभव और विमाग अर्थात् एक देश से भिन्न सम्पूर्ण तत्त्व के जानने वाले । शास्त्र ज्ञान में संशय रहित एवं प्राणियों में प्रीति (राग) उपताप (द्वेष) के भावों से शून्य, रागद्वेरहित होते हैं । इस प्रकार के गुण होने से इन आप पुरुषों का वचन प्रमाण हो सकता है । मत्त, उन्मत्त (पागल), मूर्ख आदि पुरुषों के दृष्टि (ऐहिक) और अटष्ट (आमुखिक) दानों तरह के वचन अप्रमाण होते हैं ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं तु खलु तत्—यस्त्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते ॥ ५ ॥

प्रत्यक्ष—जो अपनी इन्द्रियों और मन से ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है ॥ ५ ॥

अनुमानं खलु—तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ ६ ॥

अनुमान—अनुमान तर्क है जो युक्ति की अपेक्षा करता है । (कार्य कारण सम्बन्ध या अव्यभिचरित व्याप्ति का नाम युक्ति है) ॥ ६ ॥

विविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदयेन पूर्वं परीक्षय रोगं सर्वथा सर्व-मथोन्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति । नहि ज्ञानावयवेन कुत्स्ने ज्ञाये ज्ञानमुत्पद्यते ॥ ७ ॥

१. 'मूर्खरकदुष्टादुष्टवचनं' इति वा पाठः । मूर्ख पुरुष के दोषयुक्त और निर्दोष वचन भी प्रमाण नहीं, अपवा मूर्ख, और (रक) देषयुक्त, ।

तीन प्रकार के ज्ञान-समुदाय से प्रथम रोग की परीक्षा करके सब प्रकार से और सारा देखकर पीछे से पूर्ण निश्चय करके चिकित्सा करना निर्दोष होता है । ज्ञान के एक अवयव को जान लेने से ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये वैद्य को चाहिये कि तीनों प्रमाणों से रोग का एक अंश में ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण रूप में जाने ॥७॥

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमासोपदेशाज्ञानम् । ततः प्रत्यक्षानुमानाद्यां परीक्षोपपश्यते । किं हनुपदिष्टे पूर्वं प्रत्यक्षानुमानाद्यां परीक्षमाणो विद्यात् ? तस्मात् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं चेति, त्रिविधा वा सहोपदेशेन ॥ ८ ॥

इस तीन प्रकार के ज्ञान समुदाय में सब से प्रथम 'आसोपदेश' से ज्ञान होता है । इसके पीछे प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा परीक्षा होती है । यदि पूर्व आसोपदेश न हो तो परीक्षा करता हुआ वैद्य प्रत्यक्ष और अनुमान से क्या जानेगा ? कुछ भी नहीं । इसलिये आसोपदेश से प्राप्त ज्ञान बालों के लिये परीक्षा दो प्रकार की है प्रत्यक्ष और अनुमान । अथवा आसोपदेश को मिला कर तीन प्रकार की है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आसोपदेश ॥८॥

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकेमेव प्रकोपणमेवंयोनिमेव-मात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंबुद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात् । तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ञायते ॥ ९ ॥

आसोपदेश से एक एक रोग में ऐसे प्रकोप, ऐसी योनि (प्रकृति वातादि की विषमता), ऐसी उत्पत्ति, ऐसा स्वरूप, ऐसा अधिष्ठान (मन और शरीर), ऐसी वेदना (पीड़ा), ऐसा संस्थान (लक्षण), ऐसे २ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गम्भ, ऐसा उपद्रव (रोग के पीछे दूसरा होने वाला रोग), ऐसी दोषों की बृद्धि, स्थान और क्षय, उदर्क (उत्तर फल-साध्य-असाध्य), इस प्रकार का नाम, ऐसा योग ये सब बातें बुद्धिमान लोग उपदेश करते हैं, उनके उपदेश से जानना चाहिये । इस प्रकार की व्याख्या में इस प्रकार का प्रतिकार वा चिकित्सा है, अथवा इस रोग में असाध्य होने से निवृत्ति (चिकित्सा न करना), ये दोनों प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति भी उपदेश से ही जानी जाती हैं ॥९॥

प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतस्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुर-शरीर-गतान्परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्; तद्यथा,-अन्त्रकूजनं संधिर-स्फोटनमकुलीपर्वर्णा च स्वरविशेषा ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः

शब्दः स्युस्तान् श्रोत्रेण परीक्षेत् । वर्ण-संस्थान-प्रमाण-चक्रायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुवैषयिकाणि यानि चान्यानि तानि चक्षुषा परीक्षेत् ।

प्रत्यक्ष द्वारा रोग जानने की इच्छा से वैद्य रोगी मनुष्य की इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य सब बातों की वह अपनी इन्द्रियों से परीक्षा करे केवल रस ज्ञान को छोड़कर । जैसे—आंतों के शब्द, अंगुली के पवर्णों की सन्धियों का चटकन, रोगी शरीर के भिन्न भिन्न स्वरों को, इनके अतिरिक्त रोगी के जन्य जो (हिचकी, इवास आदि) शब्द हों, उनकी श्रोत्र द्वारा परीक्षा करे । वर्ण, अंगों को बनावट, शरीर और अवयवों का माप (छोटाई, बड़ाई, स्थूलता, कृशता), छाया (कान्ति), शरीर के प्राकृतिक एवं वैकृतिक भावों (परिवर्तनों) को एवं चक्षु इन्द्रिय के ग्राह्य और जो यहाँ पर न कही बातें हों (मल, मूत्र आदि), उनकी भी आंख से परीक्षा करनी चाहिये ।

रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमत्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवाऽऽतुरमुखरसं विद्यात्, यूकापर्सपर्णेन त्वस्य शरीरवैरम्यं, मक्षिपोषसर्पणेन शरीर-माधुर्यं, लोहितपित्तसदैहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति इवकाक-भक्षणाद्वारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातर्यं, एवमन्यानप्यादुरशरीरगतान रसाननुग्रहीति । गन्धार्घ्यं खलु मर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् ग्राणेन परीक्षेत् । स्पर्शं च पाणिना प्रकृतिविकृति-युक्तम्—इति प्रत्यक्षतोऽनुमानेकदेशतश्च परीक्षणमुक्तम् ॥१०॥

रोगी के शरीर के रस को, इन्द्रिय का विषय होने पर भी, अनुमान द्वारा ही जानना चाहिये । क्योंकि रोगी के शरीर के रस का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता । बीमारी में मुख का स्वाद बदल जाता है, इसलिये रोगी से पूछकर ही उसके मुख का रस जानना चाहिये । यथा—शरीर पर जूँ आदि के चलने से शरीर में विरसता, शरीर पर मक्खी आदि के पास भिनकने से शरीर में मधुरता समझनी चाहिये । रक्तपित्त के सन्देह में यह रक्त शुद्ध (शरीर को धारण करने वाला) है या रक्तपित्त (पित्त से दूषित रक्त) का है तो यदि इस रक्त को कुच्चे, कौवे खा लें तो शुद्ध रक्त समझना चाहिये और यदि न खायें तो रक्तपित्त रोग से दूषित रक्त समझना चाहिये । इस प्रकार से रोगी के शरीर के अन्य रसों को भी अनुमान से जानना चाहिये । रोगी के सम्पूर्ण शरीर की प्राकृतिक एवं वैकृतिक गन्धों की परीक्षा ग्राणेन्द्रिय (नासिका) द्वारा करनी चाहिये । स्पर्श, शृति, उध्ण, खर, चिकने आदि प्राकृतिक एवं वैकृतिक स्पर्शों

को हाय के स्पर्शसे जानना चाहिये । यहाँ पर प्रत्यक्ष तथा अनुमान से एक भाग से परीक्षा कह दी ॥१०॥

इमे तु खल्वन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः ।
तद्यथा, अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीन् शब्दादिप्रहणेन, मनोऽर्थव्यभिचरणेन, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः मङ्गेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहणे, शोकं दैन्येन, हर्षमासोदैन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्थानेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेवा प्रहणेन, संज्ञां नानप्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, हियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्रेषं प्रतिपेवेन, उपधिमनुवन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विवेयतया, वयो-भक्ति-सात्म्य-न्याधि-समुत्थानानि काल-देशापशय-वेदना-विशेषेण, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां, दोषप्रमाणविशेषपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेणेति । प्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्रदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चाऽतुरपरिप्रश्नेनेव विद्याद्—इति ॥ ११ ॥

इसके अतिरिक्त ये निम्नलिखित बातें भी अनुमान द्वारा ही जानी जाती हैं । जैसे—रोगी की परिपाक शक्ति का देखकर अग्नि (जाठराग्नि) को जाने । व्यायाम शक्ति से रोगी का बल, शब्द आदि विषयों के ग्रहण से कान आदि इन्द्रियों को, मन को अवधारण शक्ति से, विज्ञान को उद्योग से, संग (आसक्ति) से रज को, अशान से मोह को, हिंसा प्रवृत्ति से क्रोध को, रोदन आदि से शोक को, गोत, वादित्र आदि से आनन्दको मुख की प्रसन्नता आदि लक्षणों से मन की प्रीति को, मुख की मलिनता आदि से भय को, अविशाद से धैर्य (विपत्ति में भी मन की स्थिरता) को, उत्साह से वीर्य (कार्य करने की शक्ति) को, अभ्रान्ति से स्थिरता को, अभिप्राय (प्रार्थना) से अद्वा को, लोक आदि को कण्ठ करने से मेषा को, नाम लेकर चेतना को, स्मरण शक्ति से स्मृति को, लज्जा दिलाकर लज्जा को, निरन्तर शीळन से स्वभाव को, वस्तु के प्रतिषेव से उत्स वस्तु में द्वेष को, आगे के परिणामसे छल व्यवहार को, मन की अचपलता से संतोष को, वद्य की आशा मानने से रोगी की वश्यता को, काल विशेष से आयु, देश से भक्ति (इच्छा) को, (जैसे—यह पंजाब का रहने वाला है इसकिये इसे गेहूँ में इच्छा होगी, यह बंगाल का है इसकी चावडों में इच्छा होगी इत्यादि), उपशय अर्थात्

अनुकूलता से बाल्य को, वेदना-विशेष से व्याधि के समुत्थान को, उपशय (शान्ति) और अनुपशय (निदान) द्वारा गूढ़लिंग वाले रोग को, जिस रोगके लक्षण छिपे हों (जैसे विद्रधि और गुब्बम के मेद), उपचार विशेष (प्रकोपनके न्यूनाधिक होने से) दोषों के प्रमाण विशेष (न्यूनाधिक) को अरिष्ट लक्षणोंसे, आयु के स्थय को हितोपदेश से, निकटवर्ती आरोग्यता के लक्षणों को अविकार (काम, क्रोधादि से रहित मानसिक विकारों) से निर्मल चित्त को जाने ।

ग्रहणी (अग्नि का स्थान, जठर) के मृदु दाढ़ण मेद को रोगी के हित-अहित स्वप्न दर्शन से, भोजनादि में अभिप्राय (इच्छा) को, द्विष्ट, अप्रिय और इष्ट, प्रिय इनमें सुख और दुःख को रोगी के प्रश्नों से ही जान ले ॥ ११ ॥

भवन्ति चात्र—आप्तव्योपदेशेन प्रत्यक्ष्म करणेन च ।

अनुभानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥ १२ ॥

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थविन् ।

अथाध्यवस्थेत्तर्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥ १३ ॥

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुद्द्यति ।

अमूढः फलमाप्नोति यद्मोहनिमित्तजम् ॥ १४ ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाऽविशति तत्त्वविन् ।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रागांश्चकित्सति ॥ १५ ॥

चतुर व्यक्ति आसोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा रोगों की परीक्षा करे । अर्थवित् यथासम्भव सब रोगों की सब प्रकार से (तीनों प्रकार से) परीक्षा करके निश्चय करे, इसके पीछे चिकित्सा कार्य करे । कार्यतत्त्व को जाननेवाला भिषक् रोग के चिकित्सा-कार्य में कभी भी मोह को प्राप्त नहीं होता । प्रमादारहित होकर ही मोह रहित होकर किये अनुष्ठान से उत्पन्न फल को प्राप्त करता है । जो योगविन् (प्रयोगों को जानने वाला) भिषक् (वैद्य) ज्ञान, बुद्धि रूपी प्रदीप की सहायता से रोगी के अन्दर तक नहीं पहुँचता (रोगी की सम्पूर्ण बातों को नहीं जानता), वह रोगोंकी चिकित्सा नहीं कर सकता ॥ १२-१५ ॥

तत्र श्लोकै—सर्वरोगविशेषाणां त्रिविर्धं ज्ञानसंग्रहम् ।

यथा चोपदिशन्त्याप्ताः प्रत्यक्षं गृह्णते यथा ॥ १६ ॥

ये यथा चानुभानेन ज्ञेयास्तांश्चाप्युदारधीः ।

भावांश्चिरोगविज्ञाने विमानं मुनिरुक्तवान् ॥ १७ ॥

उपसंहार—सब रोगों का तीन प्रमाणों में संक्षेप, आसोपदेश द्वारा जो जो बातें जानी जाती हैं, प्रत्यक्ष द्वारा जो ग्रहण किया जाता है और जो बातें अनु-

मान द्वारा जानी जाती हैं इन सब खोतों का उदार बुद्धि भगवान् आत्रेय ने इस 'त्रिरोग विश्वानीय' अध्याय में व्याख्यान कर दिया ॥ १६-१७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने त्रिविषयोग-
विशेषविज्ञानीयविमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः स्रोतोविमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

जीवन के आधारभूत प्रणवह आदि स्रोतों के ज्ञान के लिये 'स्रोतोविमान' नाम अध्याय की व्याख्या करते हैं । ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसा प्रकारविशेषाः, सर्वभावा हि पुरुषे नान्तरेण स्रोतास्यभिनिर्वर्तम्भे क्षयं वाऽप्यविगच्छन्ति । स्रोतासि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनाम-भिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ ३ ॥

इस पुरुष के शरीर में जितने प्रकार के मूर्तिलय (स्थूल) भाव विशेष (पदार्थ विशेष) हैं, उतने ही इस शरीर में स्रोतों के प्रकार (विशेष भेद) हैं । पुरुष में सब भाव स्रोतों के बिना नहीं बढ़ते और न स्रोतों के बिना क्षय को प्राप्त होते हैं । ये स्रोत परिपाक हुए धारुओं को (मल और प्रसाद रूप में) ले जाने के लिये होते हैं ॥ ३ ॥

अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात्सर्व-सरत्वात् दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्, न त्वेतदेवम् । यस्य च हि स्रोतासि यज्ञ वहन्ति यज्ञावहन्ति यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः ॥ ४ ॥

कुछ आचार्य स्रोतों के समुदाय को ही 'पुरुष' नाम देते हैं । क्योंकि स्रोत सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं । दोषों के जो प्रकोपक (अपद्य) हैं और जो शमन (पद्य) हैं, वे सब स्रोतों द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हैं । परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है । क्योंकि जिसके स्रोत जिस वस्तु का वहन करते हैं, जिस प्रकार से अवहन करते हैं, शरीर के जिस प्रदेश में ये स्रोत स्थित हैं, यह सब इन स्रोतों से पृथक् हैं, वे स्रोत नहीं हैं । इस लिये पुरुष स्रोतों का समुदाय रूप नहीं है ॥ ४ ॥

अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये ॥ ५ ॥

स्रोतों के बहुत अधिक होने से कुछ आचार्य इन स्रोतों को असंख्य मानते हैं । दूसरे आचार्य इन को गणना के योग्य मानते हैं ॥ ५ ॥

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित्प्रकारान्मूलतश्च प्रकोप-विज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः, भविष्यन्त्यलमनुकार्थज्ञानाय ज्ञानवतां विज्ञानाय चाह्नानवताम् । तद्यथा- प्राणोदकान्न-रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्ज-शुक्र-मूत्र-पुरीष-स्वेदवहानि, वातपित्तश्लेषणां पुनः सर्वशरारचरणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि, तद्वद्वर्तन्दिन्द्रियाणां पुनः भृत्वादीनां केवलं चेत-नावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च । तदत्स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपस्तृज्यते शरारम् ॥ ६ ॥

इन स्रोतों में जो स्थूल (गणना के योग्य) हैं, उन के कुछ भेदों की मूल से, प्रकोप-विज्ञान (और उपशमन) से भी व्याख्या करेंगे स्रोतों की इतनी व्याख्या बुद्धिमान् ज्ञानवान् वैद्यों के लिये अनुक, सूक्ष्म स्रोतों का ज्ञान कराने और अशानी, अनुपान और युक्ति से हीन पुरुषों के लिये सामान्य रूप में स्रोतों का ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त होंगी ।

यथा—प्राणवह, जलवह, अज्जवह, रसवह, रुधिरवह, मांसवह, मेदवह, अहिंशवह, मज्जवह, शुक्रवह, मूत्रवह, पूरीषवह और स्वेदवह ये तेरह प्रकार के स्रोत हैं । वात, पित्त, कफ ये सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए हैं, इस लिये इन को ले जानेवाले सब स्रोत हैं । इसी प्रकार अतीनिद्र्य (इन्द्रियों से अशाय) सत्त्व आदि (मन आदि) पदार्थों का चेतना युक्त यह सम्पूर्ण शरीर मार्गं तथा आश्रय है । स्राव शरीर के धातुओं का ले जानेवाले हैं, इसलिये स्रोतों के प्रकृति में स्थित रहने से यह शरीर विकारो अर्थात् रोगों से आक्रान्त नहीं होता स्रोतों के विकृत होने पर शरीर भी रोगी हो जाता है ॥ ६ ॥

तत्र प्राणवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं महास्रावतश्च, प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, अतिसृष्टमतिवद्दं कुपितमल्पाल्पमभीक्षणं वा सशब्दशूलमुच्छवसन्तं हृष्टा प्राणवहान्यस्य स्रातांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ७ ॥

इन से प्राणवह स्रोतों का मूल (प्रभाव स्थान) हृदय और महा स्राव (कोष भी) है । इन प्राणवह स्रोतों के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं । जैसे—प्राण का अतिसर्पण (प्रश्वास का दीर्घ होना), अतिवद (रुक रुक कर श्वास का

चलना), प्रकुपित (बहुत तेजी से चलना), थोड़ा थोड़ा चलना, अभीष्म (बार-बार रुक कर आना), शब्दशूल अर्थात् वेदनायुक्त शब्द के साथ, इवास लेते हुए रोगी को देखकर प्राणवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं यह समझना चाहिये ॥७॥

उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च । प्रदुष्टानां खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—जिह्वा-ताल्वोष्ट-कण्ठ-क्लोम-शोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां हृष्टा भिषगुदकवहान्यस्य स्रोतसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥८॥

उदकवह स्रोतों का मूल तालु और क्लोम (पित्ताशय) है । इन उदक-वह स्रोतों के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं । यथा—जिह्वा, तालु, ओष्ट, कण्ठ क्लोम का सूख जाना, प्यास का बहुत अधिक लगना ये लक्षण देखकर उदक-वह-स्रोत विकृत हुए हैं यह समझना चाहिये ॥८॥

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्वम् । प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—अनन्नमिलषणमरोचकापिपाकौ छार्दि च हृष्टाऽन्नवहानि स्रोतसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ ९ ॥

अन्नवह स्रोतों का मूल आमाशय और वाम पार्श्व है । इन के दुष्ट होने पर ये लक्षण होते हैं । यथा—अन्न की इच्छा का न होना, अरुच्छि, अविपाक, वमन इन लक्षणों को देखकर अन्नवह स्रोत विकृत हुए यह समझना चाहिये ॥ ९ ॥

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः । शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं सीहा च । मांसवहानां च स्रोतसां स्नायु मूलं त्वक्च मेदोवहानां स्रोतसा वृक्कौ मूलं वपावहनं च । अस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनं च । मज्जावहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं संघयश्च । शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणो मूलं शेफश्च । प्रदुष्टानां तु खल्वेषां रसादिस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधाशीतपीतीयेऽध्याये । यान्येव हि धातुनां प्रदोषविज्ञानानि तान्येव यथास्वं धातुस्रोतसाम् ॥ १० ॥

रसवह स्रोतों का मूल हृदय और हृदय से सम्बद्ध दस धमनियां हैं । शोणित (रक) वह स्रोतों का मूल यकृत् और सीहा है । मांसवह स्रोतों का मूल स्नायु और त्वचा है । मेदोवह स्रोतों का मूल दो वृक्क (दो मासपिण्ड एक दक्षिण पार्श्व में स्थित और दूसरा वाम पार्श्व में

१. क्लोम को मुश्रुत में ‘पिपासा-स्थान’ माना है । क्लोम का स्थान गले में जरा नीचे की ओर दक्षिण पार्श्व में मना है । जिसको आज कल ‘तिलक’ या (कण्ठकूप) कहते हैं । वैद्य श्री हरिप्रपन्न ने ‘क्लोम याथातस्यम्’ नाम एक पुस्तक लिखी है उस में पित्ताशय को यह नाम दिया है ।

वृक्ष) और वपावह है । अस्थिवह स्रोतों का मूल मेद और जघन है । मज्जा-वह स्रोतों का मूल अस्थियां और सनियां हैं । शुक्रवह स्रोतों का मूल दोनों अण्डकोश और लिङ्ग-इन्द्रिय हैं । विविधादितपीतीय अध्याय में रसादि घातुओं के दुष्ट होने से उत्पन्न होने वाले रोगों को कह दिया है । ये ही इन रसवदि के दुष्ट होने के लक्षण हैं । जो दूषित हुए घातुओं के लक्षण हैं वे आदि स्रोतों के दुष्ट होने के लक्षण हैं । जो दूषित हुए घातुओं के लक्षण ही होते हैं ॥१०॥

मूत्रवहानां स्रोतसां वस्तिमूलं वड्स्त्राणो च । खल्वेषामिदं विशेष-विज्ञानं भवति । तथाथा अतिसृष्टमतिबद्धं कृपितमल्पाल्पमभीक्षणं वा वहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुषानीति विद्यात् ॥ ११ ॥

मूत्रवह स्रोतों का मूल वस्ति (मुत्राशय) और वंशण (वृक्ष) हैं । इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं । जैसे—मूत्र का आंधक आना, एक २ कर आना, बार बार आना, थोड़ा थोड़ा आना, मात्रा में अधिक (गाढ़ा), दर्द आना, वार बार आना, पर्याप्त वस्ति आना, आदि आना, इन समस्त लक्षणों के साथ आना । ये लक्षण देखकर मूत्रवह स्रोत दुष्ट हुए समझने चाहिये ॥ ११ ॥

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदश्च । प्रदुषानां स्रोतांसि प्रदुषानीति विद्यात् ॥ १२ ॥

पुरीषवह स्रोतों का मूल पक्वाशय, स्थूलगुद और गुदा है । इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं । तथा—कठिनाई से थोड़ा थोड़ा, शब्द और वेदना के साथ, बहुत पतला (पानी जैसा), बहुत कठिन, मात्रा में मल का बहुत अधिक आना, इन लक्षणों को देखकर पुरीषवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं वह समझना चाहिये ॥ १२ ॥

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं रोमकूपाश्च । प्रदुषानां खल्वेष-मिदं विशेषविज्ञानं भवति, तथाथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमति-शृण्णतामङ्गस्य परिहाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुषानीति विद्यात् ॥ १३ ॥

स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद और लोमकूप हैं । इन के दूषित होने पर ये लक्षण होते हैं । जैसे—पसीने का न आना या बहुत आना, त्वचा में कठोरता या बहुत चिकास, अङ्गों में दाढ़ और शरीर में रोमांच होना । इन लक्षणों को देखकर स्वेदवह-स्रोत दुष्ट हुए हैं यह समझना चाहिये ॥ १३ ॥

स्रोतासि सिरा धमन्धो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो
मार्गः शरीरच्छद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशयाः क्षया निकेता-
श्वेति शरारधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति ॥ १४ ॥

स्रोतों के पर्याय—स्रात, चिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी, पन्था
मार्ग, शरीरच्छद्र, संवृत-असंवृत, स्थान, आशय, क्षय और निकेत ये शरीर के
धातुओं को ले जाने के लिये जा आख से दीखने या न दीखने योग्य लेद हैं
उन स्रोतों के नाम हैं । १४ ॥

तेषां प्रकोपात्स्थानस्थाश्वैव मार्गगाश्वैव शरीरधात्वः प्रकोपमाप-
द्यन्ते । इतरेषां च प्रकोपादितराणि । स्रोतासि स्रोतास्येव धोतवश्च
धातुनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः; तेषां सर्वेषामेव चातपित्तश्लेषाणो दूषयि-
तारो भवन्ति, दोषस्त्रभावादिति ॥ १५ ॥

इन स्रोतों (छिद्रों) के प्रकुपित होने से आशय में स्थित, मार्ग में स्रोतों
से जाने वाले शरीर के धातु भी प्रकुपित हो जाते हैं । दूषरों के प्रकोप से और भ
(स्रोतस्, वातादि दोष) कुपित होकर दुष्ट दुष्ट स्रोत अन्य स्रोतों को दूषित
कर देते हैं । दुष्ट दुष्ट धातु सब धातुओं को दूषित कर देते हैं । सब स्रोतों तथा
धातुओं को दूषित करने वाले वात, पित्त, कफ ही होते हैं । क्योंकि दोष स्वभाव
होने से अर्थात् दूषित करना ही इनका स्वभाव है ॥ १५ ॥

भवन्ति चात्र—क्षयात्संधारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामात्कुधितस्य च ।

प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतास्यन्येश्च दारुणः ॥ १६ ॥

ॐ षष्ठ्यादामाद्वयत्पानादतिशुष्कान्नसेवनात् ।

अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीडनात् ॥ १७ ॥

अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् ।

अननवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात्पावकस्य च ॥ १८ ॥

गुरुशीतमर्तिस्नग्धमतिमात्रं समशनताम् ।

रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात् ॥ १९ ॥

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोषणानि द्रवाणि च ।

रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चाऽतपानलौ ॥ २० ॥

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च ।

मौसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपता दिवा ॥ २१ ॥

अव्यायामादिवास्वप्नान्येष्यानां चातिभक्षणात् ।

मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥ २२ ॥

व्यायामादतिसंक्षेपादस्थनामतिविघट्नात् ।
 अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात् ॥ २३ ॥
 उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातप्रपीडनात् ।
 मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात् ॥ २४ ॥
 अकालयोनिगमनाश्रिप्रहादतिमैथुनात् ।
 शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शश्क्षाताराग्निभिस्तथा ॥ २५ ॥
 मूत्रितोदक-भक्ष्य-खी-सेवनान्मूत्रनिप्रहात् ।
 मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥ २६ ॥
 विधारणादत्यशनादर्जीणोध्यशनात्तथा ।
 वचोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥ २७ ॥
 व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् ।
 स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥ २८ ॥

प्रकृष्टित होने के कारण—धातु-क्षय से, उपस्थित वेगों को रोकने से, रक्षता से, भूख लगो हाने पर व्यायाम करने से और अन्य कठिन कार्यों से प्राणवाही स्रोत कृष्टित होते हैं ।

गरमी से, आम-दोष से, भय से, बहुत पानी पीने से, शुष्क अल्प (चने आदि) के अधिक सेवन से और व्याप को ज़बर्दस्ती रोकने से उदकवाही स्रोत कृष्टित होते हैं ।

मात्रा का अतिक्रमण करके भोजन करने से, अप्राप्त या अतीत काल में भोजन करने से, अपद्य भोजन के सेवन से और जाठराग्नि के मन्द होने से अन्नवह स्रोत कृष्टित होते हैं ।

गुरु, शीत, अतिस्तिंश्च पदार्थों के बहुत अकिञ्च सेवन करने से, चिन्ता करने योग्य वस्तुओं को बहुत अधिक चिन्ता करने से रसशाही स्रोत दूषित होते हैं ।

जलन पैदा करने वाले, स्त्रिय, गरम और तरल खान-पान के सेवन और धूप और वायु का सेवन करनेवाले पुरुषों के रक्तवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

दांप, धातु, मल और स्रोतों में कफ बढ़ाने वाले, स्थूल और गुरु (मारी) पदार्थ खाकर दिन में सोनेवालों के मांसवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

व्यायाम के न करने से, दिन में सोने से, चर्बी वाले पशुओं के मांस (मुअर का मांस) के अधिन सेवन से, मद्य के अधिक पीने से मेदोवाही स्रोत दूषित होते हैं ।

अधिक व्यायाम से, अति संक्षेप से, चोट आदि से, अस्थियों के अधिक

चलाने (मोडने माडने से) से, वायु वर्धक खान-पान के सेवन से अधिकाही स्रोत दूषित होते हैं ।

उत्पेषण (पीसने) से, अभिष्यन्दी पदार्थों के अतिसेवन से, चोट से, दण्डे की चोट से तथा विगोधी अन्न-पान के सेवन से मजाबाही स्रोत दूषित होते हैं ।

अकाल (निषिद्ध तिथियों में श्रुतुमती आदि से) सम्मोग करने से, अयोनि (निषिद्ध योनि) में सम्मोग करने से, उपस्थित शुक्र के वेग को रोकने से, अतिमैथुन से, शब्द, शार और अग्नि से शुक्रबाही स्रोत दूषित हो जाते हैं ।

उपस्थित मूत्र-वेग के समय पानी, भोजन या ऊँक का सेवन करने से, क्षीण और अतिकृश व्यक्ति के मूत्रवेग को रोकने से मूत्रबाही स्रोत दूषित हो जाते हैं ।

मल के उपस्थित वेग को रोकने से, मन्दाग्नि और निर्बल पुरुष के अतिभोजन करने से, अजीर्ण में भोजन करने से, अध्यशन से मलबाही स्रोत दूषित होते हैं ।

व्यायाम से, अति संक्षोभ से, शीत और उष्ण को विना क्रम के सेवन करने से, क्रोध, शोक एवं भय से स्वेदशाही स्रोत दूषित होते हैं ॥ १६-२८ ॥

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्वेषगुणैः समः ।

धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ २९ ॥

जो आहार विहार और कर्म वातादि दोषों के पृथक् अथवा समष्टि रूप में गुणों के समान होता है, वह समान गुण के कारण इन को बढ़ाता है और जो धातुओं से विपरीत गुणवाला हो वह आहार-विहार स्रोतों को दूषित करता है ॥ २९ ॥

अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा ।

विमार्गगमनं वापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥ ३० ॥

स्रोतों के दूषित होने के सामान्य लक्षण—स्रोतों से रस आदि की अधिक प्रवृत्ति अर्थात् अधिक निकलना अथवा एकदम से रक्त जाना, सिराओं में गांठ पड़ जाना, विमार्ग अर्थात् विपरीत, उल्टे मार्ग से जाने लगना, ये सब स्रोतों के दूषित होने के सामान्य लक्षण हैं ॥ ३० ॥

स्वधातसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यण्णनि च ।

स्रोतासि दोषोण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ ३१ ॥

स्रोतों के प्रकृतिसिद्ध रूप—अपने धातु के समान रंग वाले (रक्तबाही स्रोत रक्त के समान और मांसबाही स्रोत मांस के समान), वृक्ष (गोल),

स्थूल और अणु (सूक्ष्म), दीर्घ और लता के समान फैले (कोई गोल, कोई लग्बे, कोई स्थूल और कोई सूक्ष्म) होते हैं ॥ ३१ ॥

प्राणोदकान्वाहानां दुष्टानां श्वासिकी किया ।

कार्या तृष्णोपशमनी तथैवाऽमप्रदोषिकी ॥ ३२ ॥

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदीषधम् ।

रसादिस्रोतसां कुर्यात्यथास्वमुपकमम् ॥ ३३ ॥

मूत्र-विट्-स्वेद-वाहानां चिकित्सा भौत्रकृच्छ्रकी ।

तथाऽतिसारिकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ॥ ३४ ॥ इति ।

प्राण, उदक और अन्वाही स्रोतों के दुष्ट होने पर कम से श्वासिकी (अर्थात् टिका कास रोग में ही), श्वास को सुधारने वाली, तृष्णा-रोग नाशक और आम-दोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये । प्राणवाही स्रोतों में श्वासिकी उदकवाही में तृष्णाशमन और अन्वाही में आम-प्रदोष नाशक चिकित्सा करनी चाहिये । 'विविधाशितपीतीय' अध्याय में रस से लेकर शुक तक दूषित धातुओं की जो चिकित्सा कही है, वही रसवद आदि दुष्ट स्रोतों की भी समझनी चाहिये । उनकी उसी प्रकार चिकित्सा करनी चाहिये । मूत्रवाही, मलवाही और स्वेदवाही स्रोतों के दूषित होने पर कमशः मूत्रकृच्छ्र रोग की, अतिसार रोग की तथा ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३२-३४ ॥

तत्र श्वोकाः—त्रयोदशानां मूलानि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ।

सामान्यं नाम पर्यायाः कौपनानि परस्परम् ॥ ३५ ॥

दोषहेतुः पृथक्त्वेन भेषजोहेश पव च ।

स्रोतोविमाने निर्दिष्टस्तथा चाऽदौ विनिश्चयः ॥ ३६ ॥

केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्वभावतः ।

शारीराः सर्वरोगाश्च स कर्मसु न मुहूर्ति ॥ ३७ ॥

तेरह प्रकार के स्रोतों के मूल, प्रत्येक के दूषित लक्षण, सब स्रोतों के सामान्य दूषित लक्षण, नाम, पर्याय, परस्पर कोपन, दोष का कारण, पृथक् २ औषध और उपकरण ये सब बातें इस स्रोतोविमान अध्याय में भगवान् खात्रेय ने कह दी हैं । जो भिषक् सम्पूर्ण शरीर के स्रोतों आदि को भली प्रकार जानता है और जिस को शारीरिक और मानसिक सब प्रकार के रोग ज्ञात हैं, वह चिकित्सा में कभी मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ ३५-३७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने

स्रोतोविमानं नाम पञ्चमोऽस्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो रोगानीकं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्मास्त्वा भगवानात्रेनायः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'रोगानीक' नामक विमान का व्याख्यान करेंगे । जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥२॥

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन साध्यं चासाध्यं च, द्वे रोगानीके बलभेदेन मृदु च दारुणं च, द्वे रोगानीकेऽधिष्ठानभेदेन—मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानं च, द्वे रोगानीके निमित्तभेदेन स्वधातुवेष्यनिमित्तं चास्त्वागन्तुनिमित्तं च, द्वे रोगानीके आशयभेदेन—आमाशयसमुत्थं च पकाशयसमुत्थं च । एवमेतत्प्रभाव-बलाधिष्ठान-निमित्ताशय-भेदाद्द्वैधं सद्वेदप्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानमथवा संधीयमानं स्यादेकत्वं वा बहुत्वं वा । एकत्वं तावदेकमेव रोगानीकं दुःखसामान्यात्, बहुत्वं तु दश रोगानीकानि प्रभावभेदादिना भवन्ति । बहुत्वमपि संख्येयं स्यादसंख्येयं वा स्यात् । तत्र संख्येयं तावद्यथोक्तमष्टोदरीये । अपरिसंख्येयं पुनर्यथा महारोगाध्याये, द्वयवर्णसमुस्थानादीनामसंख्येयत्वात् ॥ २ ॥

प्रभाव के मेद से रोगों के समूह दो प्रकार के हैं, (१) साध्य और (२) असाध्य । बल के मेद से रोग समूह दो प्रकार के हैं (१) मृदु (अल्पबल) और (२) दारुण (महाबल) । अधिष्ठान अर्थात् आशय के मेद से रोग दो प्रकार के हैं (१) मानष, मन जिनका अधिष्ठान है और शारीरिक जिनका शरोर अधिष्ठान है । कारण के मेद से रोग दो प्रकार के हैं, (१) धातुओं (वात, पित्त, कफ) की विषमता से होने वाले और (२) आगन्तुक कारण से होने वाले । आमाशय के मेद से रोग दो प्रकार के हैं । (१) आमाशय से उत्पन्न होने वाले और (२) पकाशय से उत्पन्न होने वाले । (आमाशय पित्त और कफ का स्थान है और पकाशय वायु का स्थान है ।) इस प्रकार प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त और आशय के मेद से रोग दो प्रकार के होने पर भी प्रकृति आदि मेदों के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं । रोग का रूप एक प्रकार का ही है । रुजा, दुःख, पीड़ा यह सब प्रकार के रोगों में सामान्य धर्म है । रोग बहुत हैं, क्योंकि प्रभाव, बल आदि के मेद से रोग बहुत प्रकार के हो जाते हैं । यह बहुत होना भी दो प्रकार का है । संख्येय अर्थात् गिनने के योग्य एवं असंख्येय अर्थात् गणना के अयोग्य । गिनने के योग्य जैसे अष्टोदरीय रोगाध्याय में

रोगों की गणना की है। असंख्य जैसे महारोगाध्याय में उक्, वर्ण समृद्धान आदि के कारण असंख्य हो जाते हैं ॥३॥

नच संख्येयाप्रेषु भेदप्रकृत्यन्तर्गीयेषु विगीतिरित्यतो दोषवती स्यादत्र काचित्प्रतिज्ञा, न चाविगीतिरित्यतः स्याददोषवती । भेत्ता हि भेदामन्यथा भिन्नति, अन्यथा पुरुषस्तावद्विद्वन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नद्वन्नं भेदसंख्याविशेषमापादयत्यनेकधा, नच पूर्वं भेदाप्रमुपहन्ति । समानायामपि खलु भेदप्रकृतौ प्रकृतानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यम् । सन्ति शार्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानि । सन्ति चानर्थान्तराणि पर्यायशब्दाभिहितानि । समानो हि रोगशब्दो दोषेषु च व्याधिषु च, दोषा ह्यपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं ग्रहमशब्दं दोपप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते । व्याधयश्च रोगशब्दमातङ्कशब्दं ग्रहमशब्दं दोपप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते । तत्र दोषेषु चैव व्याधिषु च रोगशब्दः समानः, शेषेषु तु विशेषवान् ॥ ४ ॥

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्ति, अतिवहुत्वात् । दोषास्तु खलु परिसंख्येयाः, अनतिवहुत्वात् । तस्माद्यथाचित्रं विकारा उदाहरणार्थं मनवशेषेण च दोषा व्याख्यास्यन्ते ।

एक ही रोग में संख्येयत्व और असंख्येयत्व ये दोनों विशद बातें किस प्रकार हो सकती हैं ? प्रकृति भेद के कारण (ज्वर, अतिसार आदि भेद से) गिने जाने योग्य रोगों में एक और अनेक भेद का कथन परस्पर विशद दोषयुक्त नहीं है । यदि ऐसा विपरीत भाव न हो तो इतने से कोई कथन दोषरहित भी नहीं होता ।

भेद दर्शने वाला पुष्ट भेद्य रोग के अन्य रूप से भेद करता है । पहिले अन्य प्रकार (एक दूसरे ही रूप से) से भेद किये होते हैं । पहिले एक ही भेद-प्रकृति से एक रूप से विभक्त किये हुए रोग को पीछे प्रकृतिभेद से विभाग करके अनेक (असंख्य) भेद कर लेता है । इस प्रकार असंख्य भेद करने पर भी वह प्रथम किये हुए भेदों का लोप नहीं करता, वह तो बने ही रहते हैं ।

भेद-प्रकृति में समान होने पर भी प्रकृत अर्थात् समान शब्द से कहने के बाद अन्य रूप से वर्णन करना भी अपेक्षित है । क्योंकि समान शब्द से कहने के जाने वाले भी अनेक पदार्थ हैं और नाना पर्याय शब्दों से कहे जाने वाले एक एक पदार्थ भी अनेक हैं । अर्थात् एक शब्द अनेकार्थवाचक है, और भिन्न भिन्न शब्द एक ही अर्थ को कहते हैं । जैसे—रोग शब्द व्याधि और दोष के लिये प्रयुक्त होता है । दोषों को रोग, आतंक, यक्षम, दोष, प्रकृति, विकार आदि

शब्दों से कहा जाता है। व्याधियां भी रोग, आतंक, यशम, दोष-प्रकृति और विकार शब्दों से कही जाती हैं। इस प्रकार से दोषों और व्याधियों में रोग-शब्द सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। शेष ज्वरादि में विशेष अर्थ को कहता है। इनमें व्याधियां असंख्य हैं। क्योंकि ये बहुत अधिक हैं। दोष परिसंख्येय (गणना के योग्य परिमित) हैं। क्योंकि ये बहुत अधिक नहीं हैं। इसलिये रोग के असंख्य होने से, उदाहरण के लिये कुछ योड़े से विकारों को सम्पूर्ण रूप में और गिनने के योग्य होने से दोषों को सम्पूर्ण रूप से कहेंगे ॥ ४ ॥

रजस्तमश्च मानसी दोषोः । तयोर्विकाराः काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या-मान-मद-शोक-चिन्तोद्वेग-भय-हर्षादयः । वातपित्तश्लेषमाणस्तु खलशारी-रा दोषाः, तेषामपि च विकारा ज्वरातीसार-शोथ-शोष-श्वास-मेह-कुष्ठा-दय इति । दोषाश्च केवला व्याख्याताः, विकारैकदेशश्च ॥ ५ ॥

रज और तम ये दो मानस दोष हैं। इन रज और तम के विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय हर्ष अतिसार शोथ, शोष, मेह, कुष्ठ आदि हैं। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप में और विकार एकांश में कह दिये हैं ॥ ५ ॥

तत्र तु खलवेषां द्रुयानामपि दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम्; तद्यथा—असामयेन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः, परिणामश्चेति । प्रकुपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषाद् हृश्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिन्नर्तयन्त्यपरिसंख्येयान् । ते विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबन्धन्ति कामादयो ज्वरादयश्च । नियतस्वनुवन्धो रजस्तमसोः परस्परम् । न द्वारजस्कं तमः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

इन दोनों प्रकार के (मानसिक और शारीरिक) दोषों के कुपित होने के कारण तीन प्रकार के हैं । (१) असामयेन्द्रियार्थ-संयोग (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम । ये कुपित हुए दोष प्रकोपन भेद से, और दूष्य (शारीर के धातुओं) के भेद से असंख्य रोगों को उत्पन्न करते हैं । ये उत्पन्न होकर कभी परस्पर एक दूसरे विकारों से मिल जाते हैं (शारीरिक रोग मानसिक रोगों से और मानसिक विकार शारीरिक विकारों से) । जैसे काम आदि मानसिक विकार, ज्वर आदि शारीरिक विकारों से मिल जाते हैं ।

रज और तम का परस्पर सम्बन्ध नियत (सदादित्यर) बना रहता है। क्योंकि तम रज के बिना नहीं रह सकता, किन्तु सदा रज के साथ मिला रहता है ॥ ६ ॥

प्रायः शारीरदोषाणामेकाविष्टानीयानां संनिपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात् । दोषा हि दूषणैः समानाः ॥ ७ ॥

प्रायः वात आदि शारीरिक दोषों के एक स्थान में रहने से परस्पर मेल हो जाता है। तीनों दोषों के मिलने से सन्निपात और दो दोषों के मिलने से संसर्ग होता है। कारण की भिन्नता होने पर भी इन में जो परस्पर संसर्ग होता है वह इसलिये होता है कि दोष दूषित करने वाले कारणों के समान गुण वाले हैं। अर्थात् दोषों में दूषित करने वाले कारणों के समान गुण हैं ॥ ७ ॥

तत्रानुबन्धयानुबन्धविशेषः—स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुथान-प्रशमो भवत्यनुबन्धः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः । ^१अनुबन्ध- (अनुबन्ध) लक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषों भवन्ति तत् त्रिकं संनियातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम् । अनुबन्ध-^२विशेषकृतस्तु बहुविधो दोषभेदः । एवमेष संज्ञाप्रकृतो विषजां दोषेषु चैव व्याधिषु च नाना-प्रकृतिविशेषव्यूहः ॥ ८ ॥

अधिष्ठान (आश्रय) और निरान की समानता होने पर भी अनुबन्ध और अनुबन्ध के कारण इन में भेद होता है।

अनुबन्ध का लक्षण—जो स्वतन्त्र (स्वतः प्रधान), स्पष्ट लक्षणोवाला, अपने ही कारण से उत्पन्न होने वाला तथा अपनी ही विकित्सा से शान्त होने वाला हो, उसको अनुबन्ध कहते हैं। इस के विपरीत लक्षणोवाला (परतंत्र, अस्त्र चिह्न, पृथक् निदान एवं विकित्सा वाला) अनुबन्ध होता है। यदि अनुबन्ध के रूप से तीनों दोष मिले हों तो इसे सन्निपात और दो दोष मिले हों तो इस को 'संसर्ग' कहते हैं। अनुबन्ध के रूप में मिले हुए दोषों के बहुत भेद हो जाते हैं। इस प्रकार से दोषों में (अनुबन्ध और अनुबन्ध के भेद से) और रोगों से (प्रकोपन आदि के भेद से) वैद्योने (सन्निपात, संसर्गादि से ज्वर अतिवार आदि) नाना प्रकार की संज्ञाएं की हैं ॥ ८ ॥

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो बलभेदेन भवति । तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः समा विषम इति । तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः तद्विपरीतलक्षणो मन्दः । समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृताववतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषमः । इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम् ॥ ९ ॥

बल के भेद के कारण शरीरस्थ अग्नि चार प्रकार का है। जैसे—तीक्ष्ण मन्द, सम और विषम। इन में तीक्ष्ण अग्नि सब प्रकार के अरचारों को सहन करता है। वह विषम आहार को भी शोष जोर्ण कर देता है। तीक्ष्ण अग्नि से विपरीत लक्षणों वाले अग्नि को मन्द-अग्नि कहते हैं। सम अग्नि यथासमय

^१ 'अनुबन्ध लक्षण सम', ^२ 'अनुबन्धानुबन्धविशेषः' इति च पाठ भेदो ।

भुक्त अन्न को भङ्गी प्रकार पचाता है । यह अग्नि अपचार से विकृति को प्राप्त होता है । अनपचार से प्रकृति में ही रहता है । सम अग्नि के विपरीत लक्षणों वाले अग्नि को 'विषम' अग्नि कहते हैं ॥ ६ ॥

तत्र समवातपित्तश्लेष्माणं प्रकृतिश्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽन्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽन्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः ॥ १० ॥

ये चार प्रकार के अग्नि चार प्रकार के पुरुषों में होते हैं । जैसे—सम-वात पित्त-कफ-प्रकृति-वाले पुरुषों में दोषों के समानावस्था में स्थित होने से अग्नि भी सम रहता है । वातप्रकृति वाले पुरुषों में अग्नि के आश्रय स्थान (ग्रहणी) के वायु से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी विषम रहता है । पित्तप्रकृति के पुरुषों में अग्नि के अधिष्ठान (ग्रहणी) के पित्त से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी तीक्ष्ण रहता है । कफप्रकृति के पुरुषों में अग्नि के आश्रय स्थान (ग्रहणी) के कफ से आक्रान्त होने के कारण अग्नि भी मन्द रहता है ॥ १० ॥

तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम् । तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित् केचित्प्रत्यकृतयः, केचिच्चुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति ।

इस पर कुछ आचारों का कथन है कि समवात-पित्त-कफ प्रकृति वाले पुरुष नहीं होते । क्योंकि मनुष्यों का आहार विषम होता है । गर्भ में ही प्रकृति बनती है । इसलिये (माता के आहार की विषमता से भी) कोई वात-प्रकृति, कोई पित्तप्रकृति और कोई कफप्रकृति होते हैं ।

तत्त्वानुपन्नम् । कस्मात्कारणात् ? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः । यतः प्रकृतिश्चाऽरोग्यं, आरोग्यार्थं च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा, तस्मात्सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः । न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा । तस्य तस्य किल दोषस्य ह्यधिकभावात्सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम् । न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिश्थत्वमुपयद्यते । तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति । सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाञ्च । अप्रकृतिश्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ ११ ॥

उनका ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वैद्य लोग वात, पित्त, कफ इन तीनों की समान अवस्था वाले को ही नीरोग (रोग-हित) कहते हैं और उसी को प्रकृति मानते हैं । रोगों से रहित रहने के लिये ही औषध की ओर मनुष्य की प्रहृति है और यह उब को इष्ट है । यह अभिवाच्चित अर्थ ही प्रवृत्ति में

हेतु है। इसलिये समान-बात-पिच्च-कफ प्रकृति के भी मनुष्य होते हैं। परन्तु बातप्रकृति, पिच्चप्रकृति, और कफप्रकृति के मनुष्य नहीं होते हैं। उस उस दोष की अधिकता से मनुष्यों की २-वह दोष-प्रकृति कही जाती है। विकृत (विषम) हुए दोषों को 'प्रकृति' नहीं कहा जा सकता, (क्योंकि दोषों की समान अवस्था का नाम 'प्रकृति' है)। इसलिये बातप्रकृति आदि प्रकृतियां नहीं हैं। हाँ, बातल, पिच्चल, और श्लेष्मल (बात-बहुल, पिच्च-बहुल, श्लेष्म-बहुल) मनुष्य हैं। इन को 'अपकृतिस्थ' (प्रकृति में न रहने वाले) समझना चाहिये, ये 'विकृतिस्थ' हैं ॥ ११ ॥

तेषां तु खलु चतुर्विधानां पुरुषाणां च वार्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि । तत्र समसर्वधातूनां सर्वाकारासमयं अधिकदोषाणां तु त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति यावद्ग्रेः समीभावात्, समेतु सममेव कार्यम्, एवं चेष्टा भेषजप्रयोगाश्चापरे, तान् विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ १२ ॥

इन चार प्रकार के (सम प्रकृति, बात, पिच्च, कफ एवं तीक्ष्ण, मन्द, विषम और समानि) प्रकृति वाले पुरुषों को आगे कहे जाने वाले चार प्रकार के अच्छ पान का सेवन करना हितकारी होता है। इन में सम सर्वधातु (दोषों) वाले पुरुषों को सब प्रकार का सेवन समान रूप में करना श्रेयस्कर है। शेष अधिक दोषों वाले बातल, पिच्चल, श्लेष्मल तीनों को उन २ के दोषों की अधिकता को देखकर दोष के प्रतिकूल वस्तुओं का तब तक सेवन करना चाहिये जब तक अग्नि समान अवस्था में न आये। समान अवस्था में आने पर बन्द कर सब का समान रूप में सेवन करना चाहिये। इसी प्रकार धातुओं को समान करनेवाले अन्यान्य भेषज प्रयोग भी अभीष्ट हैं। उन का विस्तार से वर्णन करेंगे ॥

त्र्यस्तु पुरुषा भवन्त्यातुराः, ते त्वनातुरास्त्रान्तरीयाणां भिषजाम् ।
तथा—बातलः पिच्चलः श्लेष्मलश्चेति । तेषां विशेषविज्ञानं—बात-
लस्य बातनिमित्ताः, पिच्चलस्य पिच्चनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता
व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति ॥ १३ ॥

बातल, पिच्चल और श्लेष्मल ये तीन प्रकार के रोगी होते हैं। अन्य तन्त्र-कर्त्ताओं के मत से ये रोगी नहीं हैं। यथा—बातल, पिच्चल और श्लेष्मल। इन के मत में ये भी प्रकृतियां हैं। इस प्रकार से सात प्रकृतियां हैं। इन में यह बात विशेषकर जानने योग्य है कि बातप्रकृति को बायुजन्य, पिच्चल को पिच्च-जन्य और श्लेष्मल को कफजन्य रोग प्रायः और बलबान् रूप में होते हैं ॥ १३ ॥

तत्र वातलस्य वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोप-
मापद्यते, न तथेतरौ दोषौ । स तस्य प्रकोपमापनो यथोक्तैर्विकारैः
शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपधाताय । तस्यावज्जयनं-स्नेहस्वेदो
विषयुक्तौ, मृदूनि च संशाधनानि स्नेहोष्ण-मधुराम्ल-लवण-युक्तानि,
तद्वदभ्यवहार्याण्युपनाहनपोवेष्टनोन्मर्दन-परिषेकावगाहन-संवाहनावपी-
डन-वित्रासन-विस्मापन-विस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्रानेकयो-
नयो दीपनीय-पाचनीय-वातहर-विरेचनीयोपहिताः तथा शतपाका:
सदस्पाकाः सर्वशङ्ख प्रयोगार्थो बस्तयः, अस्तिनियमः, सुखशीलता
चेति ॥ १४ ॥

इन में वातग्रहण का मनुष्य जब वायु को प्रकुपित करने वाले कारणों
का सेवन करता है तब वायु शीघ्र प्रकुपित हो जाता है, शेष दोनों दोष पिण्ड
और कफ इतना शीत्र कुपित नहीं होते । वायु प्रकुपित होकर पूर्वोक्त अस्ती
प्रकार के वात रोगों (विकारों) में बल, वर्ण, सुख और आयुष्य को नष्ट
करने के लिये शरीर को पीड़ित करता है । इस वायु को शान्त करने के लिये
स्नेह विषि और स्वेद-विषि हैं । एवं मृदु (तीक्ष्ण नहीं) स्नेह, उष्ण, मधुर,
अम्ल, लवण युक्त संशोधन, मृदु, स्नेहन, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण से युक्त
शोधन द्रव्य और आहार-द्रव्य, उपनाह (वातहर द्रव्यों का बन्धन), उद्देष्टन
(वेष्टन ल्पेटन), उन्मर्दन (हाथों से मालिश), परिषेक (वातहर क्षाथों से
परिसेचन), अवगाहन (वात हर क्षाथों में डुबकी), संवाहन (कोमलता से
हाथ फेरना), अव्योक्तन (ताडन), वित्रासन (डराना), विस्मय
उत्पन्न करना), विस्मारण (भुलाना), सुरा और आसव (वाढ़णी यंत्र से
तैयार किया पदार्थ सुरा, न तैयार किया हुआ आसव) का देना, स्थावर और
जंगम योनि के स्नेहों को दीपनीय, पाचनीय और विरेचनीय औषधियों से
मिलाकर सौ बार या हजार बार (अर्थात् बार-बार) पकाये हुए स्नेह, सब
प्रकार की बस्ति विषि, (बहुन बार पकाये तैलों की बस्ति भी उपयुक्त है), और
निरन्तर सुखी जीवन व्यतीत करना उत्तम है ॥ १४ ॥

पित्तालस्यापि पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रको-
पमापद्यते, तथा नेतरौ दोषौ । तदस्य प्रकोपमापनं यथोक्तैर्विकारैः
शरीरमुपतपति बल-वर्ण-सुखायुषामुपधाताय । तस्यावज्जयनं-सर्पि-
ष्यानं, सर्पिषा च स्नेहनमधश्च दाषहरणं, मधुर-वित्क-कषाय-शीतानां
चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगो मृदु-मधुर-सुरभिःशीत-हृद्यानां गन्धानां
चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परम-शिशिर-बाटिंसंस्थितानां धार-

णमुरसा क्षणे क्षणे चाप्रथ-चन्दन-प्रियङ्क-कालीय-मृणाल-शीतवात-वारि-
भिरत्पल-कुमुद-कोकनद-सोगन्धिक-पद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं,
श्रुति-सुख-मृदुमधुर-मनोनुगानां च गीतवा दित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाष्टयु-
दयानां, सुहृद्दिश्च संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः ख्याभिः श्रीतोष्ठितांशुक-
स्त्रदामद्वारधारिणीभिन्निशा रुद्रांगु-शीतल-प्रज्ञात-हर्मयवासः, तेलान्तर-
पुलिन-शिशिरसदन-वसन-न्यजन-पद्मनानां सेवा, इन्द्राणां चोपवनानां
सेवा, सुख-शिशिर-सुरभि-मान्तोष्ठानानानुरक्षेदनं, सेवनं च नलि-
नोत्पल-पद्म-कुमुद-सोगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-हस्तानां सोम्यानां च
मर्वभावानाभिति ॥ १५ ॥

पित्त-प्रकृति का मनुष्य जब पित्त-प्रदीपक वस्तुओं का सेवन करता है उस
ममय पित्त शीघ्र कुपित हो जाता है, और अन्य दो भाग इतनी जट्ठी कुपित
नहीं होते। तब इस पुरुष के पृर्वोंक नालीन पित्त-जन्म रोगों में शरीर आकान्त
हो जाता है, जिससे उसके बठ, वर्ण, सुख और आयु का नाश होता है।
इस पित्त को शान्त करने के लिये घों का सेवन करना अवश्यक है। घोंशन के
लिये घों से स्नेहन (तेलादि से नहीं), अंतोदाहरण अथात् चिरेचन का देना,
मधुर, तिक, कषाय, और शीत ओषधियों से युक्त स्वान-पान का उपयोग, मृदु-
मधुर, सुगन्धित, शीतल और हृदय को प्रिय लगने वाले गन्धों (मुगन्धों)
का सेवन, अति ठण्डे पानी में रखने मोती, मर्णवी की मालाओं को छाती पर
धारण करना, थोड़ी देर में इवेत चन्दन, पिंथगु, काशीथक, (चन्दन का भेद)
मृणाल, शीतल वायु, शीतल पानी, उत्तल, कुमुद, कोकनद, सोगन्धिक और
पद्म (ये सब कमल के भेद हैं) इनसे हाथ-पांव धोना या छोड़े डालना, कान
के लिये प्रिय, मृदु, मधुर एवं मन के अनुकूल गाना-बजाना सुनना, उत्सव
(नाच-नंग) आदि देवना, मित्रों से मिलना शीतल द्रव्यों से दित वस्त्र,
माला, और हारों को धारण को हुई अभिलिप्ति लियों से मिलना-जुलना,
चन्द्रमा की शीतल किरणों से शीतल खुली वायु में, मद्दल की छतों पर टैंडे,
पहाड़ों के बीच में, नदियों के तटों पर, ठंडे घरों (धारागृहों) में, ठण्डे
पंखों की शीतल वायु का सेवन, सुखस्तर्य, शिशिर, सुगन्धित वायु से युक्त
रम्य उपवनों का सेवन करना, पद्म, उत्तल, नलिन, कुमुद, सोगन्धिक, पुण्ड-
रीक, शतपत्र इन नाना प्रकार के कमलों से भरे तालाबों का सेवन और अन्य
सब सौम्य शीतल वस्तुओं का सेवन करना पित्त को शान्त करता है ॥ १५ ॥

इलेघ्मलस्थापि इलेघ्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य हिंप्रे श्लेष्मा
प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ । स तस्य प्रकोपमापन्ना यथोक्ते-

विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपधावाय । तस्यावजयनं—
विघ्नयुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाष्ट्यवहा-
र्याणि कटु-तिक्त-कषायोपहितानि, तथैव धावन-लंघन-सवन-परिसरण-
जागरणानि युद्ध-न्यवाय-न्यायामोन्मर्दन-स्नानोत्सादनानि, विशेषत-
स्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां मद्यानामुपयोगः, सधूमपानः सर्वसञ्चो-
पवासः; तथोष्णवासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति ॥ १६ ॥

कफप्रकृति के मनुष्य का कफ प्रकोपक वस्तुओं को सेवन करने से शीघ्र प्रकृति हो जाता है, शेष अन्य दोनों धातु इतनी जल्दी कुपित नहीं होते। कुपित कफ पूर्वोक्त बीउ प्रकार के कफ-रोगों से शरीर को पीड़ित करता है, जिससे उसके बल, वर्ण सुख और आयु का ह्रास होता है। इस कफ को शमन करने के लिये शाष्ट्रोक्त विधि से तीक्ष्ण-उष्ण संशोधन और संशमन, रूक्ष गुण-वाले कटु, तिक्त, क्षाय रस युक्त आहार-द्रव्य प्रयोग करने चाहिये। इसी प्रकार भागना, उपवास (लंघन), छबन (कूदना या पानी में तैरना), परिसरण (परिक्षमण, चारों ओर धूमना), रात्रि में जागना युद्ध व्यायाम (शरीर को परिश्रम देने वाला कर्म, कुशती आदि), उन्मर्दन (रूक्ष मालिषा), स्नान, उत्सादन (ट्वट्टन लगाना), खासकर तीक्ष्ण और पुराने मद्य का उपयोग, और धूमपान करना, सब प्रकार से उपवास, गरम वस्त्रों का उपयोग, और सुख (आराम) का परिस्थाग, दुख सहना, सुख प्राप्ति के लिये सेवन करना चाहिये ॥ १६ ॥

भवति चात्र—सर्वरोगविशेषज्ञः सर्वकार्यविशेषचित् ।

सर्वभेषजतत्त्वज्ञो राज्ञः प्राणपतिर्भवेत् ॥ १७ ॥

सब रोगों में (दाढ़, आग, वात आदि को) जानने वाला, सब कार्यों के अनुष्ठान को भली प्रकार जानने वाला, सब औषधियों के तत्त्व (सार) का समझने वाला वैद्य राजा का प्राणपति (प्राणों का पालक) होगा ॥ १७ ॥

तत्र श्लोकाः—प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम् ।

परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः ॥ १८ ॥

दोषसंस्थाविकाराणामेकदोषप्रकोपणम् ।

जरणं प्रतिचिन्ता च कायाम्रेर्धुक्षणानि च ॥ १९ ॥

नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च ।

रोगानीके विमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥ २० ॥

प्रकृति (प्रभाव आदि) मेद से, रोगों के मेद, नानाविधि संख्या होने पर भी परस्पर अविरोध, रोग और दोष में समानता, दोषों की संख्या, रोगों का

एक देश, दोषों के प्रकोप का कारण, अग्नि का विशेष कथन, शरीरस्य अग्नि के चार रूप, बातल आदि तीन पुरुषों को प्रकृति में लाने वाली भेषज, ये सब चाँते इस 'रोगानीक' अध्याय में महर्षि आत्रेय ने कह दी हैं ॥ १६-२० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने रोगानीक-विमानं
नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातो व्याधितरूपीयं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब 'व्याधितरूपीय' विमान का व्याख्यान करेंगे जैसा कि भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

इह खलु द्वौ पुरुषो व्याधितरूपौ भवतः । तद्यथा—गुरुव्याधित एकः सन्त्वबलशर्वरसंपदुपेतस्वाल्प लघुव्याधित इव दृश्यते, लघुव्याधि-तोऽपरः सत्वादीनामधमत्वाद् गुरुव्याधित इव दृश्यते, तयोरकुशलाः केवलं चक्षुपेत रूपं दृष्ट्वाऽध्यवस्थन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रति-पद्धन्ते ॥ ३ ॥

दो प्रकार के पुरुष रोगी की मौति दीखते हैं (१) गुरु व्याधि से पीड़ित एक मनुष्य और सन्त्व, बल, और शरीर इनके उत्कर्ष से गुरु व्याधि वाला होने पर भी लघुव्याधि से पीड़ित सा दिलाई देता है । दूसरा सन्त्व, बल, शरीर इनके न्यून होने से लघु व्याधि होने पर भी गुरु व्याधि से पीड़ित दिलाई देता है । इनमें अकुशल वैद्य केवल आंख से ही देखकर गुरु व्याधि और लघु व्याधि के ज्ञान में मोह या धोखे में पड़ जाते हैं । वे गुरु व्याधि को लघु-व्याधि और लघु-व्याधि को गुरु-व्याधि समझ लेते हैं ॥ ३ ॥

न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुपयत्ते; विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने, उपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्धन्ते । ते यदा गुरुव्याधित लघुव्याधितरूपमासादयन्ति, तदा तमलपदोषं मत्वा संशोधनकालेऽस्मै मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुर्दारयन्ति । यदा तु लघु-व्याधितं गुरुव्याधितरूपमासादयन्ति, तं महादोषं मत्वा संशोधन-कालेऽस्मै तीक्ष्णं संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानिर्हृत्यव शरारमस्य क्षिण्वन्ति; एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमिति मन्यमानाः

परिस्खलनि, विविरवेदितिव्यास्तु गिषजः सर्वं सर्वथा यथासंभवं परीक्षयं परीक्ष्याध्यवस्थन्तो न कर्चिदपि विप्रतिपद्यन्ते, यथेष्टमर्यमभिनिर्वर्तयन्ति चेति ॥ ४ ॥

योकि ज्ञान के एक देश (भाग) से सम्पूर्ण ज्ञेयवस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । इस प्रकार से रोग-ज्ञान में धोखा खाने पर चिकित्सा-युक्ति ज्ञान में भी धोखा खाजाते हैं । जिस समय ये अकुशल वैद्य गुरु-व्याधि से पीड़ित मनुष्य को लघु-व्याधि से पीड़ित अर्थात् अल्प-दोषयुक्त समक्ष कर इस रोगी को संशोधन के लिये मृदु संशोधन देते हैं, उस समय इसके दोषों को बे और भी अधिक बढ़ा देते हैं और जब लघु-व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को महादोषयुक्त, गुरु-व्याधि वाला समक्षकर संशोधन के लिये तीक्ष्ण संशोधन देते हैं, तब दोषों को बहुत अधिक मात्रा में बाहर निकाल कर इस रोगी के शरीर को निर्वल करते हैं । इस प्रकार से ज्ञान के एक ही भाग से सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु का ज्ञान करके काम करने पर ये सब स्थानों पर धोखा खाते हैं । इसके विपरीत तीनों प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने वाले, सर्वं प्रमाण-कुशल वैद्य सत्त्व आदि सब बातों की परीक्षा करके कार्य करते हैं, इसलिये चिकित्सा कार्य में वे कहीं भी धोखा नहीं खाते । इससे इनको मनोवाचित प्रयोजन (आरोग्य) मिल जाता है । ४। भवन्ति चात्र—सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याघ्रीनां रूपमातुरे ।

द्वया विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिवलावले ॥ ५ ॥

ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः ।

व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ ६ ॥

प्राङ्मास्तु सर्वमाङ्माय परीक्षयमिह सर्वथा ।

न स्वल्पन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन ॥ ७ ॥

मूर्ख वैद्य गुरु-व्याधित पुरुष में सत्त्व आदि के उत्कर्ष और अपकर्षको न समक्ष कर रोग के बल और अबल (गुरु-लाघव ज्ञान) में धोखा खा जाते हैं । इस प्रकार अज्ञान के कारण रोग-ज्ञान में धोखा खाये हुए रोगिशों के नाश या बड़े मारी कष्ट के लिये, अयुक्ति से (दोष-दूष्य की अपेक्षा न करके) चिकित्सा कर्म करते हैं । बुद्धिमान् वैद्य सब (सत्त्व आदि) की परीक्षा तीनों प्रमाणों द्वारा करके औषध का प्रयोग करते हैं, इसलिये वे चिकित्सा कर्म में कभी मूल नहीं करते ॥ ५-७ ॥

इति व्याधितरूपाधिकारे श्रुत्वा व्याधितरूपसंख्याप्रसंभवं व्याधितरूपहेतुं विप्रतिपत्तौ च कारणं सापवादं संप्रतिपत्तिकारणं चानपवादं, भगवन्तमात्रेयमग्निवेशोऽतः परं सर्वकुमीरां पुरुषसंश्रयाणां

समुत्थान-स्थान-संस्थान-वर्ण-नाम-प्रभाव-चिकित्सित-विशेषाच प्रश्नच्छो-
पसंगृह पादौ ॥ ८ ॥

इस प्रकार से इस व्याधित रूपाधिकार में रोगी के रूप, संख्या, परिमाण, गुण व्याधित, लघु व्याधित, संख्या गुण-व्याधित और लघु-व्याधित में कारण (सत्त्वादि का उत्कर्ष और अपकर्ष), रोग के बलाबल ज्ञान में प्रमाद (मोह), इस प्रमाद के कारण (एक प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञान करना), सापवाद (दोष सहित,) सम्प्रतिपत्ति (सम्प्रकृत ज्ञान तीनों प्रमाणों से परीक्षा करने का ज्ञान), और अनपवाद (निर्दोष), इनको सम्पूर्ण रूप में सुनकर अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय के चरणों में नमस्कार कर, सब प्रकार के कृमियों के समुत्थान (निदान), स्थान संस्थान (अक्षण), वर्ण, नाम, प्रभाव और चिकित्सा को पूछा ॥ ८ ॥

अथास्मै प्रोवाच भगवानात्रेयः—इह स्वल्बग्निवेश ! विंशतिविधाः
कृमयः पूर्वमुहिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः, ते पुनः
प्रकृतिभिर्भिद्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति । तद्यथा—पुरीषजाः श्लेष्मजाः
शोणितजा मलजाश्चेति ॥ ९ ॥

अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा, हे अग्निवेश ! पूछे अष्टोदरीय अध्याय में सहज (सहजन्य) कृमियों को छोड़ कर नाना प्रकार के विभाग से बीस प्रकार के (मलजन्य दो प्रकार के, रक्तजन्य छः प्रकार के, कफजन्य सात प्रकार के और पुरीषजन्य पांच प्रकार के) कृमि कहे हैं । ये बीस प्रकार के कृमि प्रकृति की भिन्नता के कारण चार प्रकार के हैं । यथा—पुरीषजन्य, श्लेष्मजन्य, रक्तजन्य और मलजन्य ॥ ९ ॥

तत्र मलो बाह्यश्वासऽस्यन्तरश्च । तत्र वाह्ये मले जातान्मलजान्सं-
चक्षमहे । तेषां समुत्थानं—मृजावर्जनम् । स्थान—केश-श्मशु-लोम-
पश्चम-वासासि । संस्थानं—अणवस्तिलाकृतयो बहुपादाः । वर्णः कृष्णः
शुक्लश्च । नामानिन्यूकाः पिपीलिकाश्च । प्रभावः कण्ठजननं कोठपिण्ड-
काभिनिर्वर्तनं च । चिकित्सितं त्वेषामपर्कर्षणं मलोपघातो मलकरणां
च भावानामनुपसेवनमिति ॥ १० ॥

इनमें मल दो प्रकार का है—(१) बाह्य और (२) आम्यन्तर । इनमें शरीर के बाह्यमल (पसीना आदि से) रूपज्ञ होने वाले कृमियों को मलजन्य कृमि कहते हैं । इनकी उत्पत्ति का कारण शरीर शुद्धि का न करना है । इनका स्थान केश (शिर के बाल), दाढ़ी मूँछ, शरीर के लोभ, आँखों की पळळों के बाल और बच्चे हैं ।

इनका संस्थान अर्यात् (रूप या आकृति) ये क्षणु (सूक्ष्म), तिढ़ के समान आकृति और बहुत पांच वाले होते हैं । इनका वर्ण (रंग) काला और श्वेत है । इनके नाम यूक (जूँ) और पिपीलिका (लिला), लोल है ।

इनका प्रभाव—खाज उत्पन्न करना और कोठ, पिड़का आदि कुनियों को शरीर पर उत्पन्न करना है ।

इनकी चिकित्सा—इनको चिमटी से पकड़ कर खींचना, मल का नाश करना और मलोत्पादक वस्तुओं का परित्याग करना है ॥१०॥

शोणितज्ञाना तु खलु कुष्ठेः समानं समुत्थानम्, स्थानं रक्तवाहिन्यो धमन्यः । संस्थानं अणवो वृत्तश्चापादाश्च सूक्ष्मत्वाद्यैके भवन्त्यदृश्याः । वर्णस्ताम्रः । नामानि केशादा लोमादा लोमद्रीपाः सौरसा औदुर्घरा जन्तुमात्रश्चेति । प्रभावः केश-इमश्रु-नख-लोम-पक्षमापद्वंसो ब्रणगताना च हर्ष-कण्ठ-तोद-संसर्पणान्यतिवृद्धानां च त्वक्-शिरा-स्नायु-मांस-तरु-गास्थि-भक्षणमिति, चिकित्सितमप्येषां कुष्ठेः समानं तदुत्तरकालमुपदेश्यामः ॥ ११ ॥

रक्तजन्य कूमियों का निदान कुष्ठ गेग के निदान के समान ही है । कूमियों का स्थान—रक्तवाहिनी धमनियां (सिरायें भी) हैं । इनका रूप सूक्ष्म होने से कुछ कूमि अदृश्य होते हैं । वे आंख से नहीं देखे जाते, इनका रंग ताप्त वर्ण है; इनके नाम केशाद (केशों को खाने वाला), लोमाद, लोमद्रीप, सौरस, औदुर्घरा और जन्तुमाता हैं । इनका प्रभाव केश इमश्रु, लोम और पलक के बालों को नाश करना है, ब्रण में प्रवेश करके ये हर्ष च, खाज, तोद (चुनचुना) और संसर्पण की सी प्रतीति करते हैं । बहुत बढ़के ये त्वचा सिरा, स्नायु, मांस और तरण अतिथि को भी खाने लगते हैं । इनकी चिकित्सा भी कुष्ठ-रोग में समान है, इसका वर्णन आगे कुष्ठ-चिकित्सा में करेंगे ॥ ११ ॥

श्लेष्मजाः क्षीर-गुड-तिल-मत्स्यानूपमांस-पिण्डान्न-परमान्न-कुसुमम्-स्नेहाजीर्ण-पूति-क्लिन्न-संकोर्ण-विरुद्धासात्य-भोजनसमुत्थानाः । तेषामामाशयः स्थानं । ते प्रवर्ध्मानास्तूर्ध्वमधो वा विसर्पन्त्युभयतो वा । संस्थानवर्ण-विशेषास्त् इवेताः पृथुत्राधनसंस्थानाः केचित्, केचिद्वृत्तपरिणाहा गण्डपदाकृतयश्च इवेतास्तान्नावभासाः, कोचदणवो दीर्घास्तम्बव-कृतयः इवेताः । । तेषां त्रिविधानां इलेष्मनिमित्तानां कृमीणां नामानि—

* हर्ष—जिस प्रकार दाद में खुजाने से आनन्द, हर्ष वा रोमाङ्ग होता है । इस को भी कूमि उत्पन्न करते हैं ।

अन्त्रादाः, उदरादाः, हृदयचराः, चुरबः, दर्भपुष्पाः, सौगन्धिकाः, महागुदाश्वेति । प्रभावो हृज्ञासात्यसंस्खणमरोचकाविपाको ष्वरो मूर्छा जम्भा क्षवथुरानाहोऽङ्गमर्दश्छदिः काश्यं पारुष्यमिति ॥ १२ ॥

कफजन्य कूमि—श्वार-मोजन, गुड, लिंग मछली, जलचर प्राणियों के मांस पिण्ठाज्ज और परमानन (खीर आदि) का भोजन, कुसुम का तेल, अजीर्ण में भोजन, पूति (संड), क़िज्ज (झेदकारक द्रव्यों के) संकीर्ण (हित और अहित बेमेल मिले भोजन) और विषद एवं असात्य भोजनों से उत्पन्न होते हैं । इनका स्थान आमाशय है । ये आमाशय स बढ़ कर यहीं से ही ऊपर या नीचे अथवा दोनों तरफ़ फैल जाते हैं । इनका रूप और वर्ण इवेत तथा कुछ वही मासपेशी के से, बद के आकार के, कुछ गोल आकार वाले, (वेष्टन) वाले, गिंडोये की आकृति के, इवेत और लाल रंग की आभा वाले होते हैं । कुछ अणु (पत्ते), लम्बे और सूत के समान आकृति वाले, इवेत होते हैं । इन तीनों प्रकार के कफजन्य कूमियों के नाम ये हैं । जैसे—अन्त्राद, उदराद, हृदयचर, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक और महागुद । इन का प्रभाव—हृज्ञास बमनकी बर्वि हाना, मुख से लार का बहना, अरुचि, अविपाक, ज्वर, मूर्छा, जम्भाई का आना, छोंके आना, अरुरा, शरीर के अंगों का दूटना, बमन, कृशता और शरीर में रुक्षता वा कठोरता होना है ॥ १२ ॥

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैसेवां स्थानं पकाशयः । प्रवर्धमानस्त्वधो विसर्पन्ति, यस्य पुनरामाशयाभिमुखाः स्युर्यदन्तरम्; तदन्तरं तस्योदृगारनिश्चासाः पुरीषगन्धिनः स्युः; संस्थानवर्णविशेषास्तु सूक्ष्मद्वृत्तपरीणाहाः श्वेता दीर्घा ऊर्णाशुक्लसंकाशाः केचित्, केचित्पुनः स्थूलद्वृत्तपरीणाहाः इयावनीलहरितपीताः । तेवां नामानि ककेरुका मंकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादाश्चेति । प्रभावः पुरीषभेदः काश्यं पारुष्यं लोमहर्षाभिनिर्वतनं च, त एवास्य गुदमुखं परितुदन्तः कण्ठं चोपजनयन्तवो गुदमुखं पर्यासते, त एव जातहृषो गुदनिष्कमण-मतिवेलं कुर्वन्ति—इत्येप श्लेष्मजानां पुरीषजानां च कुमोणां समुत्थानादिविशेषः ॥ १३ ॥

पुरीषजन्य (मल से उत्पन्न) कूमियों का निदान कफजन्य कूमियों के समान है । इन कूमियों का स्थान पकाशय है । ये कूमि बढ़कर नीचे को ओर फैलते हैं । जिस पुरुष में ये कूमि आमाशय की ओर जाने लगते हैं, उस पुरुष के उद्गार (डकार) और इवास में मल की गत्व आती है । इनका रूप वर्ण—सूक्ष्म, गोल वेष्टन वाले तथा इवेत और भेड़ के लम्बे वालों के समान

होते हैं । कुछ स्थूल, गोड बेष्टन बाले, काढ़े, नीढ़े, हरे या पीढ़े रंग के होते हैं । इन के नाम—कफेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौमुराद हैं । इनका प्रभाव—मळ का पतला आना, शरीर में कृद्यता, पद्धता और रोमाच होना है । ये कृमि रोगी की गुदा के मुख वाले रहते हैं । ये हर्ष उत्पन्न होने पर बार बार गुदा से बाहर (मळ के साथ) निकलते हैं । यह कफजन्य और पुरीष-जन्य कृमियों में उत्पन्न आदि का मेद है ॥ १३ ॥

चिकित्सितं तु ख्लवेषा समासेनोपदिश्य पञ्चाद्विस्तरेणोपदेश्यामः ।
तत्र सर्वकृमीणामपकर्षणमेवाऽऽदितः कार्यं; ततः प्रकृतिविधातोऽनन्तरं
निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति ॥ १४ ॥

कफ और मळ से उत्पन्न कृमियों की चिकित्सा संक्षेप में कहकर फिर पीछे से विस्तार से कहेंगे । इन कृमियों का प्रथम अपकर्षण (खीचना शोषन) करना चाहिये, फिर प्रकृतिविधात (उपशम) और पीछे से निदान-रूप पदार्थों का अनुपसेवन अर्थात् त्याग करना चाहिये ॥ १४ ॥

तत्रापकर्षणं हस्तेनाभिगृह्ण विमृश्योपकरणवताऽपनयनमनुपक-
रणेन वा, स्थानगतानां तु कृमीणां भेषजेनापकर्षणं; न्यायतस्तु तच्चतु-
र्विधम् । तथा—शिरोविरेचनं वमनं विरेचनमास्थापनमित्यपक-
र्षणविधिः ॥ १५ ॥

अपकर्षण विधि—उपकरण (संदृश, चिमटी आदि) से अथवा बिना उपकरण के हाथ से पकड़ कर बाहर निकालने का नाम ‘अपकर्षण’ है । यह कार्य बाह्य मलजन्य (पुरीषजन्य) और क्लेष्मजन्य कृमियों के स्थान से निकले होने पर ही हो सकता है और जो कृमि अपने स्थान में स्थित हों, उनको औषध द्वारा निकालना उचित है और यह औषध चार प्रकार का है । यथा—शिरोविरेचन, वमन, विरेचन और आस्थापन । यह अपकर्षण-विधि है ॥ १५ ॥

प्रकृतिविधातस्त्वेषां—कटु-तिक्त-कषाय-क्षारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगो
यज्ञान्यदपि किंचिच्छ्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभूतं वत्स्यादिति प्रकृति-
विधातः ॥ १६ ॥

प्रकृति-विधात—प्रकृति (कफ और पुरीष) का उपधात अर्थात् नाश वा शमन करना । इस के लिये कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और उष्ण पदार्थों का उपयोग करना चाहिये । इसके अतिरिक्त और भी जो कुछ क्लेष्मा और मळ के विरुद्ध आहारन्विहार हो उसका सेवन करना चाहिये । यह प्रकृति-विधात-विधि है ॥ १६ ॥

अनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनमिति यदुक्तं निदा-
नविधौ तस्य विसर्जनं तथाप्रायाणां चापरेषां द्रव्याणामिति लक्षणतय्ति-
कित्सिवभनुव्याख्यातमेतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेश्यते ॥ १७ ॥

इसके आगे निदान में कहे पदार्थों का सेवन का त्वागना आवश्यक है। ऐसा निदान विधि में जिन जिन द्रव्यों को निदान रूप से कहा है, उनका परित्याग करना चाहिये। इसी प्रकार न कहे हुए निदान के अनुरूप द्रव्यों का भी परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार संचेप से चिकित्साक्रम कह दिया है, अब इसी को विस्तार से कहते हैं ॥ १७ ॥

अथैनं कृमिकोष्ठमातुरभये षडात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाद्यामुपपाद्य
श्वोभूते एनं संशोधनं पायितास्मीति क्षीर-दधि-गुड-तिळ-मत्स्यानु-
पमांस-पिण्डान्न-परमान्न-कुसुमसनेह-संयुक्तंभोजयैः सायं प्रातशोपपादये-
त्समुदीरणार्थं चैव कृमीणां कोष्ठाभिसरणार्थं च भिषक् । अथ व्युष्टायां
रात्रौ सुखोवितं सुप्रजीर्णभुक्तं च विज्ञायाऽस्थापन-वमन-विरेचनैस्तदह-
रेवोपपादयेदुपपादनीयश्चेत्स्यात्सर्वान् परीक्ष्यविशेषान् परीक्ष्य सम्यक् ।

इस कृमि-कोष्ठ बाले रोगी को संशोधन देने से पूर्व छः या सात रात तक स्नेहन और स्वेदन देना चाहिये। फिर सातवें वा आठवें दिन (अगले दिन) इस को संशोधन दूंगा ऐसा निश्चय करके सार्व-प्रातः दोनों समय क्षीर (दूध), गुड, दही, तिळ, मछली, जलचर प्राणियों का मांस, पिण्डान्न, कुमुम तैल से बने भोजन लिलावे। इस प्रकार के भोजनों से कोष्ठ के क्रिमि भली प्रकार से उत्क्षेपित हो जाते हैं (निकल आते हैं) और अन्यत्र गये हुए कृमि भी कोष्ठ की ओर आने लगते हैं। इस के अनन्तर रात्रि के बीतने पर (प्रातः काल होने पर) भली प्रकार नींद आई तथा खाया हुआ भोजन भली प्रकार जीर्ण हो गया यह देखकर उस दिन (नवम दिन) आस्थापन, वमन, विरेचन (इन में से काँइ एक क्रिया) देना चाहिये। क्रिया करने से पूर्व रोगी को सब प्रकार से (प्रकृति-सात्त्व, सत्त्व आदि से) परीक्षा कर लेनी चाहिये ।

अथाऽहरेति व्रूपात् मूलक-सर्षप-लशुन-करस्ज-शिश्रु-मधुशिश्र-कमठ -
खर पुष्पा-भूस्तृण-सुमुख-सुरस-कुठेरक-गण्डीर-कालमालक-पर्णस-क्षबक-
फणिजकानि सर्वाण्यथवा यथालाभं, तान्याहृतान्यभिसमीक्ष्य स्पृण्ड-
शश्छेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितार्यां स्थाल्यां समावाप्य
गोमूत्रेणाद्योदकेनाभ्यासिच्य साधयेत् सततमवधृत्यन् दव्यां । तस्मिन्
शोतीभूते तूपयुक्तभूयिष्ठेऽभसि गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य, सुप-
रिपूतं कषायं सुखोष्णं मदनपिष्पलीफलं विड्जकलकरैलोपहितं, सज्जि-

कालवणितमस्यासिच्य वस्तौ विधिवदस्थापयेदेनं, तथाऽर्कालक्ष्मी-कुट-
जाढ़की-कुष्ठ-कैडर्य-कषायेण वा, तथा शिग्र-पीलु-कुस्तुम्बुङ-कुटकासर्षप-
कषायेण, तथाऽमलक-शृङ्खवेर-दारुहरिद्रा-पिचुमर्द-कषायेण भद्रनफल-
संयोगसंयोजितेन त्रिरात्रं समरात्रं वाऽस्थापयेत् ॥ १८ ॥

आस्थापन आदि किया करने की विधि—अनन्तर कहे कि निम्न सब
वस्तुओं को अथवा इन में से जितनी प्राप्त हो सकें उन वस्तुओं को लावे—
मूलक (मूली), सरसो, लशुन, नाटा करञ्ज, शिग्र (शोभांजन), मधुशिग्र
(माठा सहजन), कमठ (काई लाल फूल का कचनार मानते हैं), खर-
पुष्पा (अजवायन), भूतृण, सुमुख, सुरस, कुठरक, गण्डार, कालमाल,
पर्णासु, खबक और फणिजक (ये सब तुलसी के भेद हैं) इन सब को अथवा
इन में से जा मिलें उनको लाकर, ढकड़े ढकड़े करके, पानी से भली प्रकार
धोकर, अच्छी प्रकार धुली हाँड़ी में रखकर, आधे, पानी मिले गोमूत्र में मिलो
कर (डालकर) निरन्तर कड़छो (खौंचे) से चलाते हुए अग्नि पर पकाना
चाहिये। जब औषधियों का सम्पूर्ण रस जल में आ जाय तब हाँड़ी को उतार
कर बच्चा में से भली प्रकार छान ले। इस कुछ गरम काथ में मैनफल, पिप्पली,
धायविंडग इन का कल्क और तैल मिश्रित सर्जक्षार (सज्जी खार) एवं नमक
मिलाकर विधिपूर्वक इस रोगी को आस्थापन बस्ति देनी चाहिये। इसी
प्रकार आक, अर्लक (मदार), कुटज, आढ़की, (अरहर), कुष्ठ (कृठ)
और कैटर्य (पर्वतनिम्ब) कषाय से बस्ति देनी चाहिये, (तैल मिश्रित नमक
एवं मैनफल आदि पूर्व को भाँति ढाले)। इसी प्रकार शिग्र, पीलु,
कुस्तुम्बुङ, कुटकी और सरसो के कषाय से, इसी प्रकार आंवला, अदरख
(सोठ), दारुहलदी, पिचुमर्द (नीम) के कषाय से, मैनफल आदि डालकर
लवण युक्त तैल मिलाकर तीन बार अथवा सात बार आस्थापन-कर्म करना
चाहिये ॥ १९ ॥

प्रत्यागते च पश्चिमे वस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहरेवोभयतोभागहरणं
संशोधनं पाययेद्युक्त्या । वस्य विधिरुपदेश्यते । मदनफलपिप्पलीकषा-
यस्यार्षाञ्जलिमात्रेण त्रिवृत्कल्काक्षमात्रमालोद्य पातुमस्मै प्रयच्छेत्,
तदस्य दोषमुभयतो निर्दर्ति साधु, एवमेव कल्पोक्तानि वमनविद्ये-
चनानि संसूज्य पाययेदेन बुद्धया सर्वविशेषानवेक्ष्माणो भिषक् ॥ २० ॥

शेष बस्ति के गुदा द्वारा बाहर निकल आने पर रोगी को आइवासन
देकर उसी दिन (जिस दिन बस्ति दी है) दोनों ऊर्ध्व एवं अधोमाणों से

दोष निकालने के लिये वमन, विरेचन रूपी संशोधन, देश, काळ, मात्रादि की अपेक्षा से देना चाहिये ।

विधि—मदनफल, पिप्पली कषाय की आधी अंजलि, को त्रिवृत् (निशोय) के कल्प की एक अक्ष मात्रा में मिलाकर रोगी को पीने के लिये देना चाहिये । इस प्रकार से रोगी के दोष दोनों मार्गों से भली प्रकार निकलते हैं । इस प्रकार से कल्प-स्थान में कहे जाने वाले वमन, विरेचन योगों को परस्पर मिला कर रोगी की सब बातों को देख कर बुद्धि से भली प्रकार विचार कर रोगी को पीने के लिये देवे ॥ १६ ॥

अथैनं सम्यग्बिरिक्तं विज्ञायापराहे शैखरिककषायेण सुखोष्णेन परिषेचयेत्, तेनैव च कपायेण बाह्याभ्यन्तरान् सर्वादिकार्थान् कार्येच्छ्वत् । तदभावे वा कटुतिक्तकषायाणामौषधानां कार्थैर्मूक्षारैर्वा परिषेचयेत् । परिधिक्तं चेनं निर्वातमागारमनुप्रवेश्य पिप्पली-पिप्पली-मूल-चब्य-चित्रक-शृङ्गवेर-सिद्धेन यवाग्वादिना क्रमेणोपक्रामयेत् । विलेप्याः क्रमागतं चैनमसुवासयेद्विड्वत्तैलेनैकान्तरं द्विघ्रिव्वा ॥ २० ॥

इसके पश्चात् (दोनों भागों से संशोधन होने पर) भली प्रश्ना संशोधन हुआ जान कर शैखरिक कषाय (अपामार्ग के योड़े गरम कषाय) से परिषेचन करे । इसी कषाय को पानी के स्थान पर पीने के लिये और बाह्य (स्नान आदि में) निरन्तर बरतना चाहिये । इस अपामार्ग के कषाय के अभाव में कटु, तिक्त, कषाय रसवाली औषधियों के क्षायों से, मूत्रमिश्रित यवष्ठार (जवाखार) आदि से परिषेचन करना चाहिये । परिधिक इस रोगों को बायु-रहित घर में प्रविष्ट करके पिप्पलीमूल, चब्य, चित्रक और सोठ इस पंचकोल द्वारा उपकल्पनीय अध्याय में कहे पेयादि क्रम से देना चाहिये । विलेपी तक पहुंच जाने पर रोगी को विंड-तैल द्वारा एक दिन के अन्तर से दो बार तीन बार अनुवासन देना चाहिये । (अनुवासन में पेया का निषेध है, क्योंकि पेया अभिष्ठन्दी है) ॥ २० ॥

यदि पुनरस्यातिप्रवृद्धावशीर्षादान्कृमीन्मन्येत शिरस्येवाभिसर्पतः कौञ्चित्, ततः स्नेहस्वेदाभ्यामस्य शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गतण्डु-लादिना शिरोविरेचनेन ॥ २१ ॥

शिरो-विरेचन—इस रोगी के शिर को खाने वाले कुमियों को बहुत बढ़ा दुआ जाने और देखे कि कुमि शिर में फिरते हों, ऐसा वैद्य को अनुभव हो तो रोगी के शिर को स्नेहन और स्वेदन देकर अपामार्ग के तण्डुलों (चाबलों) आदि शिरो-विरेचन योग्य द्रव्यों से शिरोविरेचन देवे ॥ २१ ॥

यस्त्वम्यवहार्यविधिः प्रकृतिविधातायोक्तः कृमोणी, सोऽनुव्या-
ख्यात्यते—मूषिकपर्णी समूलामप्रतानामाहृत्य खण्डशङ्केदयित्वा,
उल्लङ्घे क्षोदयित्वा पाणिभ्या पीडयित्वा रसं गृहीयात्, तेन रसेन
ओद्दितशालितण्डुलपिण्ठं समालोड्य पूपलिङ्गाः कृत्वा विधूमेष्वङ्गारेषु
विपाच्य विढङ्गतैलवगोपहिताः कृमिकोष्टाय भक्षयितुं प्रयच्छेत्;
अनन्तरं चाम्लकाञ्जिकमुद्दिश्वद्वा पिण्ठत्यादिपञ्चवर्गसंसृष्टं सलवण-
मनुपाययेत् ॥ २२ ॥

अनेन कल्पेन मार्कवार्क-सहचर-नीप-निर्गुण्डी-सुमुख-सुरस-कुठेरक-
गण्डीर-कालमालक-पर्णीस-स्वक-फणिज्जक-बकुल-कुटज-सुवर्णक्षेत्री-
स्वरसा नामन्यतमस्मिन्कारयेत्पूपलिकाः, तथा किणिही-किरात-तिक्तक-
सुवहामलक-हरीतकी-विभीतक-स्वरसेषु कारयेत्पूपलिकाः । स्वरसांच्चै-
तेषामेककशो द्वन्द्वशः सर्वशो वा मधुविलुलितान् प्रातरनन्नाय पातुं
प्रयच्छेत् ॥ २३ ॥

कृमियों के प्रकृति-विधात के लिये जो आहार-विधि कही है, उस को
व्याख्या करते हैं । जल और कोमळ पत्तों के साथ मूषापर्णी को लाकर इसको
दुकड़े २ करके, जलल में कूटकर, हाथों से दबाकर रस निकाल ले । इस रस
में लाल धानों के चावलों की तिड़ी को मिलाकर इससे पूरी (पूप) बनावे ।
इन पूरियों को धूम रहित अंगारों पर पकावे । फिर विंडग तैल और लवण के
साथ मिलाकर कृमि कोष्टबाले रोगी को खाने के लिये दे । पूरी खाने के
पीछे खट्टी कांजी (धान्य-काञ्जिक) में या उदवित् (आधे विलोये मठे, या
छाँड) में पिण्ठली आदि पंचकोल को लवण के साथ मिला कर पीने के लिये
दे । इसो विधि से मार्कव (मृगराज), अर्क (आक), सहचर (सण्ठि),
नीप (कदम्ब), निर्गुण्डी (रिन्धुवार सम्भालु), सुमुख, सुरस, कुठेरक,
गण्डीर, (सेहुण्ड), कालमाल (कुठेरक के मेद), पर्णीस, स्वक, फणिज्जक
(तुलसी के मेद), बकुल (मौक्कसी) कुटज, स्वर्णक्षेत्री (सत्यानाशी) इन
में से किसी एक के रस के साथ पूरी तैयार करनी चाहिये । इसी प्रकार किणिही
(अपामार्ग), किराततिक्त (विरायता), आम की, हरक, विभीतक (वैदेश),
सुवहा (शोफालिका) इनके रसों में पूरिया बनानी चाहिये । इन (मण्डक-
पर्णी आदि) में से एक एक को या दो दो को अथवा सब को मिलाकर स्वरस
निकाल कर इस स्वरस में मधु मिला कर प्रातःकाल खाली पेट पीने के
लिये दे ॥ २३-२४ ॥

अथाध्यराकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्योऽवपे शोषयित्वोदूर्जले

क्षोदयित्वा हृषि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा विडङ्गकपायेण
त्रिफलाकषायेण बाऽष्टकत्वो दशकृत्वो बाऽऽतपे सुपरिभावितानि
भावयित्वा हृषि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समा-
वाप्यानुगुम्नं निवापयेत् । तेषां तु खलु चूर्णाना पाणितलं चूर्णं यावद्वा
साधु मन्येत, तत् क्षाद्रेण संसूज्य कूमिकोष्ठाय लेहुं यच्छेत् ॥ २४ ॥

इसके पीछे घडे की शकृत (लीद) को लाकर बड़ो चटाई पर फैलाकर
धूप में सुखा ले । फिर ऊखल में कूटकर शिला पर पीसकर बारीक बनाले
इस चूर्ण को विडंग के कषाय से या त्रिफला-कषाय से आठ बार अथवा दस
बार धूप में भावना देकर शुष्क कर ले । फिर इसको पत्थर पर पीसकर नये
घडे में रखकर, बायु आदि न जा सके इस प्रकार से मुख को ढांप कर गुस्सा
स्थान पर रख दे । इसमें से कर्व परिमाण (चार मासा) अथवा रोग के
अनुसार जितनी मात्रा उचित समझे उतनी मात्रा को शहद में मिलाकर कूमि
रोगी को खाने के लिये दे ॥ २४ ॥

तथा भल्लातकास्थीन्याहृत्य कलशप्रभाणेन संपोद्य स्नेहभाविते
घडे कलशे सूक्ष्मानेकचिठ्ठद्रव्यन्धे शरीरमुवेष्ट्य मृदावलिसे समावाप्यो-
लपेन पिचाय भूमावाकण्ठं निखारत्य स्नेहभावितस्यैवान्यस्य हृदस्य
कुम्भस्योपरि समरोप्य समन्वाद् गोमयैरुपचित्य दाहयेत्; स यदा
जानीयात् साधु दग्धानि गोमयानि गलितस्नेहानि भल्लातकास्थीनीति,
तत्वस्तं कुम्भमुदाटयेत् । अथ तस्माद् द्वितीयात्कुम्भात्तं स्नेहभादाय
विडङ्गतण्डुलचूर्णैः स्नेहार्धमात्रैः प्रतिसंसूज्याऽतपे सर्वमहः स्थाप-
यित्वा ततोऽस्मै मात्रा प्रयच्छेत्पानाय, तेन साधु विरिक्षयते, विरिक्षस्य
चाऽऽनुपूर्वीं यथोक्ता ॥ २५ ॥

दूसरा प्रयोग—घडे में जितने मिलावे के फल आ सके, उतने फलों को
कट कर तैलादि स्नेह से चिकने, मजबूत एक घडे में भरे । इस घडे के
निचले भाग में अनेक सूक्ष्म छिद्र बना दे तथा घडे पर मिट्टी का लेप कर
दे । इस घडे में मिलावे भर कर ढकन से मुंह ढांप दे । फिर स्नेह से भावित
एक दूसरे घडे को ले कर जमीन में गले तक गाह दे । इस गढ़े द्वारे घडे के
ऊपर मिलावे बाला घडा रख कर चारों ओर उपले रख कर जालावे । जब
उपले भली प्रकार जल आवे, तब ऊपर के घडे को पृथक् करे । जब इस
दूसरे घडे में से तेल (स्नेह) ले कर स्नेह से आधी मात्रा में विडंग-तण्डुल
चूर्ण को स्नेह में मिला कर धूप में चार प्रहर तक रखे । पीछे इस स्नेह को

कृमि-कोष्ठ रोगी को पीने के लिये दे । इससे भली प्रकार विरेचन होता है । विरेचन के पीछे पूर्व की भाँति पेया आदि देने का क्रम है ॥२५॥

एवमेव भद्रदारु-सरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत् । अनुवा-
सयेष्वनमनुवासनकाले ॥ २६ ॥

इसी भल्लात के स्नेह-विधि से देवदार, सरल (राल-सर्ज), बृक्षों से स्नेह
बना कर रोगी को पीने के लिये देना चाहिये और अनुवासन के योग्य समय
में कहे हुए स्नेहों से अनुवासन देना चाहिये ॥ २६ ॥

अथ 'आहार' इति ब्रूयात् शारदान्नवास्तिलान्संपदुपेतान् । तानाहृत्य
सुनिष्पूय सुशुद्धान् शोधयित्वा विडङ्गकषाये सुखोष्णे निर्वापयेदाक्षेष-
गमनात्, गतदोषानभिसमीक्ष्य सुप्रलूनान्प्रलुच्य पुनरेव सुनिष्पूतान्
सुनिष्पूय सुशुद्धान् शोधयित्वा विडङ्गकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभा-
वितान्भावयित्वाऽऽतपे शोषयित्वोद्युखले संक्षुद्धा दृष्टिः पुनः श्लक्षणपिण्ठा-
न्कारयित्वा द्रोण्यामध्यवधाय विडङ्गकषायेण मुहुर्युद्धुरवसिञ्चन् पाणि-
मर्दमेव मर्दयेत् । तस्मिन्खलु प्रपीड्यमाने यत्तौलमुदियात्तपाणिष्ठयां
पर्यादाय शुचौ हृदे कलशे समासिच्यानुग्रामं निधापयेत् ।

अन्योग—वैद्य रोगी से कहे कि 'आगे कहे पदार्थ लाओ' । अच्छा प्रकार पके, रस-वीर्य युक्त, शरद अृतु में होने वाले नये तिलों को ला कर, भली प्रकार मिट्ठी आदि से साफ़ करके सुखा ले । फिर सुखोष्ण, कुछ गरम विडङ्ग-कषाय में भिगो दे, जब तक कि छिलके में लगा मैल दूर न हो जाय तब तक भिगो कर रखे । दोष निकलने पर इन तिलों को तुष रहित करके, सुखा लेवे । फिर छाज से साफ़ करके धोले । फिर सूखने पर विडङ्ग कषाय में इक्कीस बार भावना दे कर धूप में सुखा लेवे । इन तिलों को ऊखल में कूट कर पथर की गिला पर रख बारीक पीस लेवे । अब इनको द्वोणी (थाली, कड़ाही) में रखकर विडङ्ग कषाय को योड़ा योड़ा ढालते हुए हाथों से खूब मले, इस प्रकार हाथों से मलने पर जो तैल निकलता है, हाथ पर लगे हुए तस तैल को ले कर पवित्र, दृढ़ घड़े में रखकर गुस्स स्थान में सुरक्षित रख देवे । इस को खाने के लिये कहे ।

अथ 'आहार' इति ब्रूयात्-तिल्वकोहालकयोद्वौ विल्वमात्रौ पिण्ठौ
श्लक्षणपिण्ठौ विडङ्गकषायेण, ततोऽर्धमात्रौ इयामात्रिवृत्योरतोऽर्धमात्रौ
दन्तीद्रवन्त्योरतोऽर्धमात्रौ चव्यचित्रकयोरित्येतं सम्भारं विडङ्गकषा-
यस्याऽऽङ्गकमात्रेण प्रतिसंसूज्य ततस्तैलप्रस्थमावाप्य सर्वमालोऽद्य महति
पर्योगे समासिच्याग्नावधिश्रित्य महत्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेह-

मबलोकयन्नजर्णं मृद्गिनिना साधयेहर्वा सततमवधृयन् । स यदा जानीयाद्विरमति शब्दः, प्रशास्यति च फेनः, प्रसादमापद्यते स्नेहो यथास्वं गन्धवर्णरसोत्पत्तिः, संवर्तते च भेषजमंगुलिभ्यां मृद्यमानमति-मृद्गनतिदारुणमनंगुलिप्राहि चेति, स कालस्तस्यावतारणाय । ततस्तम-बतीर्णशीतीभूतमहतेन बाससा परिपूर्य शूचौ दृढे कलशे समासित्य पिघानेन पिघाय शुक्लेन बद्धपटेनावच्छाद्य सूत्रेण सुबद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत् । ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत्पानाय, तेन साधु विरच्यते, सम्यगपृष्ठदोषस्य चास्याऽनुपूर्वीं यथोक्ता । ततश्चैनमनुवासयेदनु-बासनकाले ।

फिर वैद्य आगे कहे पदार्थ लाने को कहे—तिल्व और उद्दालक ये दो विल्व भर (पल भर, ४ तोला) लेकर विडंग कथाय क साथ खूब बारीक पीछे ले । इनसे आधी मात्रा (२ तोला) शयमा (काली निशोथ) और त्रिवृत् (सफेद निशोथ), इन से आधी (१ तोला) दन्ती और द्रवन्ती, इनसे आधे (२ तोला) चब्य और चित्रक इन सबको अर्धाटक (दो प्रस्थ) विडंग कथाय, में तथा एक प्रस्थ पूर्वोक्त तिलों से तैयार किये तैल के साथ मिलाकर एक बड़े कड़ाहि में रख कर आग पर रख कर आराम से बैठ कर, चारों ओर स्नेह को देखते हुए कि गिरे नहीं, निरन्तर मुदु अग्नि से पकावे । और पकाते समय कढ़छी द्वारा बरावर ढिलाता रहे । जिस समय शब्द होना बन्द हो जाय, हाग उठना भी रुक जाय, तथा स्नेह (तैल) भी स्वच्छ हो जावे, एवं तैल में उचित गन्ध, वर्ण और रस की उत्पत्ति हो जाय तब समझे कि तैल बन गया । औषध (कल्क) अंगुली से मलने पर न तो बहुत कोमल और न बहुत कठोर हो तथा अंगुली पर चिपटे नहीं, (कल्क की बत्ती बन जावे) । तब समझ ले कि तैल सिद्ध हो गया यह समय है, तैल उतारने का; अब इसको उतार कर ठण्डा होने पर बड़े भारी बख्त से छान कर एक शुद्ध, मजबूत पात्र में डाल कर, ढक्कन से ढाँप कर, सफेद बख्त से बांध कर तागे से कस कर, गुस (सुरक्षित) स्थान पर रख देवे । इस तैल की मात्रा को रोग के अनुसार पीने के लिये (कूमि-रोगी को) देवे । इससे भली प्रकार विरेचन होता है । दोबों के भली प्रकार निकल जाने पर पहिले कहीं विधि करनी चाहिये । अनुवासन योग्य समय में उस तैल से अनुवासन देना चाहिये ।

एतेनैव च पाकविधिना सर्वपातसी-करञ्ज-कोषातकी-स्नेहानुपकरण्य पाययेस्तर्वचिशेषानवेक्ष्यमाणः । तेनागदो भवतीति ॥ २७ ॥

इसी पूर्वोक्त विधि से सरसो, अलसी, करज, कोषातकी (तुरई) का तैल बना कर सब परीक्षणीय बस्तुओं को देल कर कृमि-रोगी को तैल पिलावे । इस से रोगी नीरोग हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्येवत् द्रव्यानां श्लेष्मपुरीषसंभवानां कृमीणां समुत्थान-संस्थान-स्थान-वर्ण-नाम-प्रभाव-चिकित्सित-विशेषा व्याख्याताः सामान्यतः ॥ २८ ॥

इस प्रकार से कफजन्य और पुरीषजन्य कृमियों के निदान, संस्थान, स्थान, वर्ण, प्रभाव और चिकित्सा सामान्य रूप में कह दी है ॥ २८ ॥

विशेषतस्त्वलपमात्रमास्थापनानुवासनानुलोभमहरणभूयिष्ठं तेष्वौषधेषु पुरीषजानां कृमीणां चिकित्सितं कार्यमिति । मात्राधिकं पुनः शिरोविरेचन-वमनोपशमन-भूयिष्ठं तेष्वौषधेषु श्लेष्मजानां कृमीणां चिकित्सितं कार्यमिति । एष कृमिद्दो भेषजविधिरनुव्याख्यातां भवति ॥ २९ ॥

विशेष रूप से पुरीषजन्य कृमियों के लिये कही हुई वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, औषधियों में अल्पमात्रा में आस्थापन, अनुवासन और अनुलोभमहरण, विरेचन वरतना चाहिये । मलजन्य कृमियों में वस्ति, विरेचन अधिक वरतना चाहिये । कफजन्य कृमियों में शिरोविरेचन, वमन और शमन अधिक देना चाहिये ॥ २९ ॥

तमनुतिष्ठता यथास्वद्वेतुवर्जने प्रयतितव्यम् ॥ ३० ॥

यथोद्देशमेवमिदं कृमिकोष्टचिकित्सितं यथावदनुव्याख्यातं भवतीति ॥ ३१ ॥

इस विधि को वरतते हुए वैद्य को चाहिये कि रोगी को कृमि निदान से भी बचाये । इस प्रकार से पूर्व कथितानुसार कृमि-कोष्ट चिकित्सा (शोधन-शमन रूप) को यथावत् पूर्ण रूप से कह दिया है ॥ ३०-३१ ॥

भवन्ति चात्र—अपर्कर्णमेवाऽदौ कृमीणां भेषजं स्मृतम् ।

ततो विधातः प्रकृतेनिदानस्य च वर्जनम् ॥ ३२ ॥

अयमेव विकाराणां सर्वेषामपि निग्रहे ।

विधिर्दृष्टिधा योऽर्थं कृमीनुहिश्य कीर्तितः ॥ ३३ ॥

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।

एतावद्विषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥ ३४ ॥

कृमियों को प्रथम खींच कर निकालना हो औषध है । फिर प्रकृति का नाश, निदान का छोड़ना है यह विधि सब प्रकार के कृमियों के लिये है । इतना ही नहीं, अपिन्दु सब रोगों के लिये है । इसलिये वैद्य को चाहिये कि

प्रत्येक रोग में सब विकारों में संशोधन, शंखमन और निदान का त्याग यह तीन प्रकार की चिकित्सा करे ॥ ३२-३४ ॥

तत्र श्लोको—व्याधितौ पुरुषो ज्ञाज्ञो भिषजौ सप्रयोजनौ ।

विश्विः कृमयस्तेषां हेत्वादिः सप्तको गणः ॥ ३५ ॥

उक्तो व्याधितरूपीये विमानं परमपिण्डा ।

शिष्यसंबोधनार्थं च व्याधिप्रशमनाय च ॥ ३६ ॥

व्याधि से पीडित दो प्रकार के पुरुष विज्ञ (जानने वाले) और अज्ञ (मूढ़), इनका प्रयोजन (जानने वाले से सिद्धि और मूढ़ से रोगबुद्धि या मृत्यु), बीस प्रकार के कृमि, इन के हेतु, संस्थान वर्ण, प्रभाव, नाम और चिकित्सा ये सात बातें, भगवान् आचेय ने शिष्य को समझाने के लिये तथा रोग की शान्ति के लिये इस विमान स्थान में कह दी है ॥ ३५-३६ ॥

इत्यश्रिवेशकृते तन्वे चरकप्रतिसंस्कृते तृतीये विमानस्थाने

व्याधितरूपीयविमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो रोगभिषग्जिर्जायं विमानं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इस के आगे 'रोगभिषग्जिर्जाय' नामक अध्याय को व्याख्यान करेंगे । जैसा कि भगवान् आचेय ने कहा था ॥ २ ॥

बुद्धिमानात्मनः कार्यगुरुलाघवे कर्मकलमनुबन्धं देशकालौ च विदित्वा युक्तिदर्शनाद् भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवाऽऽदितः परीक्षेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके । तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्त्रधीरपुरुषासेवितमर्थवद्गुरुलमाप्न जनपूजितं त्रिविधिशिष्यबुद्धितमपगतपुनरुक्तदोषमार्पं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंप्रदक्षमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागताथर्मर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं संगतार्थमसंकुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवज्ञोदाहरणवज्ञ, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम् । शास्त्रं ह्येवं विधममल इवाऽऽदित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम् ॥ ३ ॥

शास्त्र-परीक्षा—बुद्धिमान् पुरुष अपने कार्य के गौरव (बहुत प्रशास से साध्य) एवं लाभव (अलग प्रशास से साध्य), कर्मों के फळ, अनुबन्ध

(कर्मजन्य शुभ-अशुभ फल), देश एवं काल को जान कर तथा युक्ति को देख कर यदि वैद्य बनने की इच्छा करे तो सब से प्रथम शास्त्र की ही परीक्षा करे, क्योंकि वैद्यों के नाना प्रकार के शास्त्र लोक में प्रचलित हैं । इन में से जो शास्त्र निम्नलिखित गुणों वाला हो, उसे पढ़ने के लिये स्वीकार करे ।

शास्त्र के गुण—शास्त्र स्वूक् बडा, असंक्षिप्त, यशस्वी, धीर पुरुषों से उप-सेवित, माननीय, योद्धे से शब्दों में बहुत अर्थ को बतलाने वाला, आस जनों से अनुमत (निर्दोष), उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन प्रकार के शिष्यों की तीनों प्रकार की बुद्धि के लिये योग्य, सब जिस को समझ सकें, पुनरुक्ति दोष से रहित, श्रूतियों से बनाया, सुप्रणीत (अच्छी प्रकार ग्रथित किया हो), जिस में सूत्र (संक्षेप में अर्थों का ग्रहण) भाष्य (विस्तार से वर्णन), और प्रतिपाद्य विशेषों को क्रम से कहा हो, सुन्दर अधिकरणों वाली, ग्राम्य शब्दों से रहित, कठिन दुर्बोध या बोलने में कठिन शब्दों से रहित, भली प्रकार से बहुत तत्त्व बतलाने वाला, (क्रम से उद्देश्य क्रम से अर्थों को बतलाने वाला), वस्तुतत्त्व को सन्देह से रहित, निश्चित तत्त्व को बतलाने वाला, संगतियुक्त अर्थों को बतलाने वाला, अव्यवस्थित, बेमेल मिले हुए प्रकरणों से रहित; सुनते ही स्पष्ट अर्थज्ञान कराने वाला, लक्षण और उदाहरण वाला हो, ऐसा शास्त्र अध्ययन के लिये चुनना चाहिये । क्योंकि जिस प्रकार बादल आदि से रहित, निर्मल सूर्य अन्वकार को दूर करके सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार शास्त्र अज्ञान को दूर करके सब अर्थ-तत्त्व को प्रकाशित कर देता है ॥ ३ ॥

ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत । तद्यथा—पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टक-
र्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तमुपकरणवन्तं सर्वेन्द्रियोपपत्रं प्रकृ-
तिङ्गं प्रतिपत्तिङ्गमनुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं झेशश्रमं
शिष्यवत्सलमध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति । एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमा-
र्तवो मेघ इव सस्यगुणोः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणोः संपादयति ॥ ४ ॥

आचार्य का लक्षण-शास्त्र की परीक्षा करने के अनन्तर आचार्य की परीक्षा करे । यथा—वह निर्मल शास्त्रज्ञान से समज्ज हो, जिसने कर्म को उचित रीति से देखा हो, केवल शास्त्र ही न पढ़ा हो, प्रत्युत वह कर्म में कुशल, शुचि (पवित्र), शस्त्र आदि क्रिया में बशी, उद्दाहस्त, नाना उपयोगी उपकरणों वाला सब इन्द्रियों से युक्त, रोगी की प्रकृति को पहचानने वाला, उत्तम सूक्ष्म वाला, रोगों की चिकित्सा को समझने वाला, अन्य शास्त्रों के ज्ञान से प्रकट स्वरूप विद्या वाला, अभिमान से रहित, गुणों में दोष न देखने वाला, क्षोध-

रहित झेय सहन करने वाला, शिष्य से प्रेम-भाव रखने वाला, शास्त्र के तत्त्व को बतलाने में समर्थ आचार्य होना चाहिये । जिस प्रकार ठीक श्रूतु अनुसार बरसा हुआ मेघ उत्तम क्षेत्र को धान्यों में सम्पन्न कर देता है उसी प्रकार उक्त गुणों वाला आचार्य शिष्य को निर्मल ज्ञान आदि वैद्यत के गुणों से शीघ्र सम्पन्न कर देता है ॥ ४ ॥

तमपसृत्यारिराधयिपुरुपचरंदग्निवच्च दंववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तुवच्च चाप्रमत्तः । ततस्तत्प्रनादादकृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य, शास्त्रस्य दृढ-तायामभिधानसौष्ठुद्योऽर्थस्य विज्ञाने वचनशक्तो च भूयो भूयः प्रयत्नेत सम्यक् ॥ ५ ॥

उपरोक्त गुणों वाले आचार्य के शास्त्र जागृत सेवा करने की इच्छा से शिष्य अग्नि, देव, राजा, माता, पिता और स्वामी के समान प्रमादरहित होकर उस की सेवा करे । तब उस की प्रशङ्खता में सर्वांग शास्त्र को जान कर शास्त्र का दृढ़ करने में, शास्त्र को उत्तम रीति से प्रवचन करने में, शास्त्र के अर्थ जानने में और वाक्-चारुर्व (बोलने का पहुँचा प्राप्त करने) में लगातार भली प्रकार से प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

तत्रोपाया व्याख्यास्यन्ते—अध्ययनमध्यापनं तद्विद्यसंभाषा चेत्युपायाः ॥ ६ ॥

शास्त्र को दृढ़ करने आदि के उपायों का वर्णन करते हैं । वे उपाय ये हैं—(१) अध्ययन (पढ़ना), (२) अध्यापन (पढ़ाना) और (३) उस विद्या के विद्वानों से वाचालाप करना ॥ ६ ॥

तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्यूषं वा कृत्वाऽस्त-वश्यकमुपस्थियोदकं देवगो-त्राक्षण-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचायभ्यो नम-स्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टो मनःपुरःसरीभिर्वार्तिभिः सूक्ष्मनुपरि-क्रामन्पुनःपुनरावदेयद्व बुद्ध्या सम्यगतुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदाषपरिहार-परदोषप्रमाणार्थम् । एवं मध्यनिदेऽपराह्ने रात्रो च शश्वदपरिहारप्रथम-ध्ययनमध्यस्येदित्यध्ययनविधिः ॥ ७ ॥

इस शास्त्र की अध्ययन विधि यह है—नीरंग, समय में, नियम-पूर्वक प्रातःकाल उपःकाल में उठ कर शौचादि आवश्यक कर्मों को करके, पानी का आचमन स्नान आदि जलकार्य करे, पीछे देव, परमेश्वर श्रूणि, गाँ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध एवं आचार्य इनको नमस्कार करके समान (न ऊचे और न नीचे) एवं पवित्र स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर मनोयोग पूर्वक बाणी से बार-बार सज्जों का उच्चारण करता हुआ खूब समझ कर, अर्थ-तत्त्व में बुद्धि द्वारा

प्रवेश करके, (भली प्रकार समझ कर) अपने अध्ययन के दोष को त्यागने और दूसरे के अध्ययन के दोषों के ज्ञान लिये एकान्त में बैठ कर अध्ययन करे । इस प्रकार से मध्याह्न और रात्रि में निरन्तर अध्ययन (किसी दिन को भी बिना त्याग किये,) प्रतिषिद्ध दिनों को छोड़कर, अन्याय करे ॥ ७ ॥

अथाध्यापनविधिः—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमादितः परीक्षेत् । तद्यथा—प्रशान्तमार्थप्रकृतिमस्त्रक्रमार्णमूजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्वमविकृतदन्तौष्ठममिणिमणं धृतिमन्तमनहृकृतिं मेधाविनं वित्कस्मृतिसंपन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनमव्यङ्गमव्यापनेन्द्रियं निभृतमनुद्वतवेशमव्यसनिनं शीलशौचाचारानुराग-दाक्ष्य-प्रादर्शिण्योपन्नमध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुव्यवमनलसं सर्वभूतहितेषिणमाचार्य सर्वानुशिष्टप्रतिकरमनुरक्षेमेवंगुणसमुदितमध्यायमेवमाहुः ।

अब अध्यापन-विधि कहते हैं—पढ़ाने की इच्छा करने वाले आचार्य को सबसे प्रथम शिष्य की परीक्षा करनी चाहिये । यथा—शिष्य सौभ्य आकृति, शान्ति, नीच स्वभाव से रहित, कर्मने स्वभाव का न हो, नीच कर्म न करने वाला, सरल मुख, आँख और नासिका वाला, पतली लाल वर्ण, स्पष्ट जिह्वा वाला, दांत और झोंडों के विकार से रहित, नाक से अनुनासिक न बोलने वाला, संतोषी या वैर्यवान्, अहंकर रहित, मेधावी, वित्क (ऊहायोह) स्मृति (याददास्त) से युक्त, उदारचित्त वाला, वैष्णवुल में या वैद्य वृत्ति करने वाले माता पिता से उत्पन्न, वैद्य के समान आचार वाला, तत्त्व के ग्रहण में दक्षिचित्त, अविकल्प अंगों वाला, सर्पणी इन्द्रियों से युक्त, निभृत (विनीत), अनुदत्त, अर्थ-तत्त्व को विचारने वाला, अकोषी, व्यसनरहित, शील (दक्षिणत्रा) शौच (शूद्धि) आचार, अनुराग (पढ़ने से स्नेह) रखने वाला, दक्षता, प्रादक्षिण्य सर्वत्र अनुकूलता इन गुणों से युक्त, कर्म दर्शन और अर्थ के जानने में अन्य कर्म रहित, दक्षिचित्त लोभरहित, अप्रमादी, सब प्राणियों में मंगल कामना करने वाला, आचार्य के सब उपदेशों को यथावत् करने वाला और भक्तिमान् हो; इन गुणों से युक्त शिष्य को पढ़ाना चाहिये । (इन गुणों से रहित शिष्य को पढ़ाने में आचार्य को भी यश नहीं मिलता ।)

एवंशिधमध्ययनार्थमुपस्थितमारिराधयिषुमाचार्यश्चानुभाषेत्— अथोहगयने शुक्लपक्षे प्रशस्तेऽहनि तिष्य-हृस्त-श्रवणाश्चयुजामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवति शशिनि कल्याणे; कल्याणे च करणे मैत्रै सुहृत्यं मुण्डः स्नातः कृतोपवासः कषायचक्षुसंबीतः समिघोऽभिमान्य-

मुपलेपनमुद्कुम्भाश्चगन्धहस्तो माल्य-दाम-प्रदीप-हिरण्य-हेम-रजत-मणि-
मुक्ता-विद्रम-क्षौम-परिधि-कुश-लाज-सर्षपाक्षतांश्च शुक्राश्च सुमनसोप्रथि-
ताप्रथितांश्च मेध्यांश्च भक्षयान् गन्धांश्च घृष्णानादायोपतिष्ठस्वेति । अथ
सोऽपि तथा कुर्यात् ॥ ८ ॥

इन उपरोक्त गुणों से युक्त अध्ययनार्थ शिष्य के सेवा में उपस्थित होने पर आचार्य उसे कहे—कि “तू उत्तरायण (माघ आदि के शुक्र पक्ष में, प्रश्टस्त दिव्य उत्तम तिथि, बार से युक्त दिन में, तिथ्य, हस्त, श्रवण, अविनामी इनमें से किसी एक नक्षत्र के साथ कल्याणकारी करण और सुखप्रद मूर्हच के अनुकूल होने पर, मुण्डन करा, उपवास और स्नान करके, कपाय वस्त्र धारण करके, हाथों में सुगन्ध (धूप), समिधा, अग्नि, धी, उपलेपन (चन्दन आदि), जल के घड़े, माङ्गा, हार, स्वर्ण, रजत, मोती, प्रवाल (मूँगा), क्षौम (रेशम), हवनकुण्ड के चारों पाश्वों में रखने योग्य हस्तप्रमाण के पदाशादि समिधा, कुशा, लाजा, सरसों, अष्टत, इवेत, गुण्डे और ग्रन्थन रहित (लुटे, अनविषेष) पुष्प-माला, पवित्र खाद्य पदार्थ (तिळ से बने लड्डू आदि), विसे हुई चन्दन, आदि सुगन्धों को लेकर उपस्थित हो ॥”

वह शिष्य उसी प्रकार से करे ॥ ८ ॥

तमपस्थितमाङ्गाय शुभे शुचो दंशे प्राक्प्रवणे उदकप्रवणे वा चतु-
ष्किष्कुमात्रं चतुरलं स्थणिडलं गोमयादकेनापलिमं कुशास्तोर्णं सुपरिहितं
परिधिभिश्चतुर्दिश्यथोक्त-चन्दनोदक-कुम्भ-क्षौम-हेम-हिरण्य-रजत-मणि-
मुक्ता-विद्रुमालडकृतं मेध्य-भक्ष्य-गन्ध-शुक्र-पुष्प-लाज-सर्षपाक्षतोपशो-
भितं कृत्वा, तत्र पालाशाभिरङ्गुदीभिर्माद्युक्तीभिर्वा समिद्विरग्निसुपसमा-
धाय प्राङ्मुखः शुचिरध्ययनांवाधमनुविधाय मधुसर्पिश्यां त्रिखिरुहु-
यादग्निमाशीःसंग्रयुक्तैर्मन्त्रैवद्वाणमन्त्रिं धन्वन्तरिं पञ्जापतिमश्वनविनि-
न्द्रमृषीश्च सूत्रकारानभिमन्त्रयमाणः पूर्वं स्वाहेति ॥ ९ ॥

दीक्षा—जिस समय अध्ययनार्थी शिष्य समिधा आदि वस्तुओं को लेकर आचार्य के पास उपस्थित हो उस समय एक समान एवं पवित्र स्थान में पूर्व या उत्तर दिशा में चार हाथ प्रमाण चौकोर जगह को गोबर और पानी से लेप कर इस पर कुशा बिछा दे । इसके चारों ओर से भली प्रकार बेष्टि कर दे । इसके चारों ओर चन्दन, पानी के घड़े, रेशम, स्वर्ण, चांदी, मणि, मुक्ता, मूँगा आदि पवित्र भक्ष्य, गन्ध, इवेतपुष्प, लाजा, सरसों, अष्टत आदि वस्तुएं सजा देवे । इसमें पलाश (ढाक), इंगुदी (हिंगोट), गूँबर,

महुए आदि किसी एक वृक्ष की समिधाओं से अग्नि प्रज्वलित करके पवित्र एवं पूर्वमुख बैठ कर अथ्ययन विधि (वेदारम्भ विधि) के अनुकूल आशीर्वाद में प्रयुक्त मन्त्रों द्वारा ब्राह्मण, अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति, दो अश्वी, हन्द्र, और सूत्रकार श्रूतियों (भरद्वाज आदि) को पहिले मन्त्रों से आह्वान करके स्वाहा शब्द के साथ मधु (शहद) और घी प्रत्येक से तीन तीन बार आहुति दे ॥ ६ ॥

शिष्यश्चैनमन्वालभेत्, हुत्वा च प्रदक्षिणमग्निमनुपरिकामेत् ।
ततोऽनुपरिकम्य ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्, भिषजश्चाभिपूजयेत् ॥ १०॥

आचार्य के होम कर चुकने पर पीछे शिष्य भी होम करे । इकम करके अग्नि की तीन परिक्रमा करे । पीछे ब्राह्मणों की परिक्रमा करके स्वस्तिवाचन करे और वैद्यों की पूजा करे ॥ १० ॥

अथैनमग्निसकाङ्गे ब्राह्मणसकाङ्गे भिषजसकाङ्गे चानुशिष्यात्—
ब्रह्मचारिणा इमश्रुधारिणा सत्यवादिनाऽमांसादेन भेद्यसेविना निर्म-
त्सरेणाशस्थारिणा च भवितव्यं, न च ते मदूचनार्तिक्चिदकायें
स्यादन्यत्र राजद्विष्टात्मणहराद्विपुलादधर्म्यादनर्थसंप्रयुक्ताद्वाऽप्यर्थात्
मदर्पणेन मत्प्रधानेन मदधीनेन भत्प्रियहितानुवर्तिना च शश्वद्
भवितव्यं, पुत्रवहासवदर्थिवचोपचरताऽनुवस्तव्योऽहमनुत्सुकेनावहिते-
नानन्यमनसा विनीतेनावेष्यकारिणाऽनसूयकेन, न चानश्यनुज्ञातेन
प्रविचितव्यं, अनुज्ञातेन प्रविचरता पूर्वं गुरुर्थोपान्वाहरणे यथा-
शक्ति प्रयतितव्यं, कर्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रेत्य च स्वर्गमि-
च्छता त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणस्त्रूतां शर्माऽशतितव्यम-
हरहरुचिष्ठाता चोपविशता च, सर्वात्मना चाऽतुराणामारोग्यं प्रयति-
तव्यं, जीवितहेतोरपि चाऽतुरेभ्यो नाभिद्रोगधव्यं, मनसाऽपि च पर-
म्भियो नाभिगमनीयास्तथा सर्वमेव परस्वं, निभृतवेशपरिच्छदेन
भवितव्यमशौण्डेनापापेनापापसहायेन च श्लक्षण-शुक्ल-धर्म्य-धन्य-सत्य-
शर्म्य-हित-मित-वचसा देशकालविचारिणा स्मृतिमता ज्ञानात्थानोपक-
रणसंपत्सु नित्यं यत्नवता, नच कदाचिद्वाजद्विष्टानां राजद्वेषिणां वा
महाजनद्विष्टानां महाजनद्वेषिणां वाऽप्यौषधमनुविधातव्यं तथा सर्वे-
चामत्यर्थ-विकृत-दुष्ट-दुःख-शीलाचारोपचाराणामनपवादप्रतीकाराणां
मुमूषूणां च तथैवासंत्रिहितेश्वराणां खीणामनध्यक्षाणां वा, नच कदा-
चित्खीदत्तमामिषमादातव्यमननुज्ञातं भर्त्राऽथवाऽप्यक्षेण, आतुर-
कुलं चानुप्रविशता त्वया विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्वे पुरुषेण

सुसंबीतेनावाक्षिरसा स्मृतिमता स्तिभितेनावेश्यावेश्य मनसा सर्व-
माचरता बुद्ध्या सम्यग्नुप्रवेष्टव्यं, अनुप्रविश्य च वाङ्मनोबुद्धान्दि-
याणि न क्वचित्प्रणिधातन्यान्यन्यत्राऽनुरादातुरोपकारार्थाद्वाऽनुरगतेष्व-
न्येषु वा भावेषु, न चाऽनुरकुलप्रवृत्त्यां वहिनिश्चारयितव्याः, हसितं
चाऽनुयुषः प्रमाणमातुरस्य न वर्णपितन्यं जानताऽपि तत्र यत्रोच्यमा-
नमातुरस्यान्यस्य वाऽप्युपचाताय संपश्यते, विज्ञानवताऽपि च नात्यर्थं
मात्मानो ज्ञाने विकृतितव्यं, आपादापे हि विकृत्यमानादत्यर्थंमुद्रित-
जन्त्यनेके ॥ ११ ॥

आचार्य का शिष्य को उपदेश—इसके अनन्तर आचार्य उस शिष्य को
अग्नि, ग्राहण और वैद्यो के समक्ष (इनके साक्षि रूप में) निम्न उपदेश देवे ।
तुश्चको ब्रह्मचारी, इमशुधारी, सत्यवादी, पवित्रभोजी, मात्सर्यरहित, निरामिष-
भोजी, निःशब्द होकर रहना चाहिये । तुश्चको मेरी आज्ञा से ही सब कुछ करना
चाहिये, परन्तु राजविश्वद, प्राणनाशक, बहुत बड़ा अर्थम् या अनर्थ का काम
हो तो वह काम मेरी आज्ञा से भी नहीं करना चाहिये । तुश्चको मुक्त्यको अर्पण
करके, मेरी प्रधानता से, मेरे अधीन रह कर, मेरे प्रिय और मेरे हितकारी रह
कर सदा बरतना चाहिये । पुत्र पिता की, भूत्य स्वामी की, अर्थां घनो की
जिस प्रकार से सेवा करते हैं, वैसे तुश्च मेरी सेवा करनी चाहिये । उत्सुकता-
रहित, दत्तचित्त, सावधान, एकाग्र मन से, नम्र होकर, बार २ देव कर कार्य
करना चाहिये । तुश्च निन्दा से रहित और मेरी आज्ञा से विचरना-घूमना
चाहिये । मेरी आज्ञा से या विना मेरी आज्ञा के घूमने पर भी तुश्च प्रथम मुक्त
गुरु के लिये अर्थ (धन) लाने का प्रयत्न करना चाहिये । चिकित्सा कर्म में
सफलता, घनप्राप्ति, यश-लाभ और परलोक में स्वर्ग की कामना से तुश्चे गा-
ग्राहण का प्रथम संस्कार कर अन्य सब प्राणियों की मंगल कामना करना
चाहिये । प्रति दिन उठते बैठते, जागते सब अवस्थाओं में, सब समय में,
सम्पूर्णरूप से रागियों के कल्याण के लिये यत्कवान् रहना चाहिये (रोगी को
दुःखित करके जाविका नहीं कमानी चाहिये) । मन से भा पर खो की चाह न
करनी चाहिये । इसी प्रकार दूसरे के धन को मन से भी नहीं चाहना चाहिये ।
विनीत (नम्र वेश) बख्तो वाला होना चाहिये (उद्धत वेश नहीं पहिनना
चाहिये) । प्रमाद रहित, स्वयं पापरहित, तथा पापकर्म में साथी
नहीं हाना चाहिये । कोमल, निर्दोष, धर्मानुकूल, सुखकारक, सत्य, हितकारी,
परिमित वाणी बोलने वाला तथा, देशकाल को विचार कर काम करने वाल्य,

स्मृतिमान् होना चाहिये । ज्ञान और अन्युदय के उपकारणों को प्राप्त करने में सदा यक्षान् रहना चाहिये । राजा जिनसे द्वेष करता है, अथवा जो राजा से द्वेष करते हैं, महाजन (वडे आदमी), जिनसे द्वेष करते हैं, अथवा जो महाजनों से द्वेष करते हैं, उनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार जिनके शील (स्वभाव) और आचार अत्यन्त निकृष्ट और दुष्ट हों, अल्पवाद, प्रतिकार, घनरहित (जनपदोद्धृतं में कहे हुए) लोगों की तथा मरणोन्मुख रोगियों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार जिन स्थियों का पति अथवा संरक्षक पाप में न हों, उन की भी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । स्थियों से दिये धन को पति या संरक्षक के पूछे बिना कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, (उनकी आज्ञा से ही ग्रहण करना चाहिये) । रोगी के घर जाते समय चेतावनी देकर, आज्ञा मिलने पर दूसरे पुष्ट के साथ उत्तम चिनग्र वेश को पहिने हुए शिर को नीचे किये जाना चाहिये । जाते समय स्मृतिमान्, स्थिर मन से भली प्रकार-सोच विचार कर जो कुछ करना हो, भली प्रकार से घर में पहुंच कर करना चाहिये । घर में जा कर रोगी के उपकार के सिवाय रोगी से सम्बन्धित अथवा चिकित्सा से अतिरिक्त अन्य स्थानों में वाणी, मन, बुद्धि और इन्द्रियों को नहीं लगाना चाहिये । रोगी के घर के रहस्यों को बाहर नहीं करना चाहिये । जहाँ पर कहने से किसी अन्य प्राणी के मरने की सम्भावना हो, वहाँ पर मरणोन्मुख लक्षणों से रोगी की आयु का क्षय जानने पर भी नहीं कहना चाहिये । ज्ञानवान् होने पर भी अर्थने ज्ञान की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सत्यभाषी, आस, विद्वान् होकर भी अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने वाले से अनेक छोग बहुत उद्दि : हो जाते हैं ॥ ११ ॥

न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियो-
गमस्मिन् गच्छेत् । एतच्च कार्यं, एवं भूयश्च वृत्तसौष्ठवमनुसूयता-
परेभ्योऽप्यागमयितव्यं, कृत्स्नो हि लोके बुद्धिमतामाचार्यः । शत्रुश्चा-
बुद्धिमताम्, अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमताऽभित्रस्यापि घन्यं यशस्यमा-
युज्यं पौष्टिकं लोकमभ्युपदिशतो वचः भोतव्यमनुविधातव्यं चेति । १२ ।

आयुर्वेद ज्ञान की कहीं पर समाप्ति नहीं है । इसलिये इस आयुर्वेद के ज्ञान उपलब्ध करने में सदा प्रमादरहित होकर निरन्तर मनोयोग देवे । यहाँ कहे हुए कार्य सम्पूर्ण रूप से करने चाहिये । इस प्रकार करते हुए निन्दारहित होकर दूसरे लोगों से भी (शास्त्र के सिवाय) अन्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि बुद्धिमानों का सम्पूर्ण संसार आचार्यवत् है और मूर्खों का वह शत्रु है । अतः

ठीक २ जान कर बुद्धिमान् मनुष्य को शत्रु के भी घन्य, यशकारी, आयुष्य, पौष्टि और लौकिक वचन को सुनना चाहिये और तदनुसार करना चाहिये॥१२॥

अथः परमिदं ब्रूयात्—देवतारिन्-द्विजातिन्गुरु-बृद्ध-सिद्धाचार्येषु ते नित्यं सम्यग्वर्तितव्यम् । तेषु ते सम्यग्वर्तमानस्यायमग्निः सर्वगन्धरस-रब्रीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवाय स्युः । अतोऽन्यथा वर्तमानस्या-शिवायेति ।

इसके आगे निम्न प्रकार से उपदेश देवे—‘देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, बृद्ध, सिद्ध और आचार्य इनकी प्रतिदिन भली प्रकार से सेवा करनी चाहिये । इन देवताओं की भली प्रकार से सेवा करने पर गह तेरे सामने उपस्थित अग्नि सब प्रकार के गन्ध, रस, रल, बीज और पूर्वोक्त देवता आदि सब तेरे लिये मंगलकारी होगे ।’

एवं ब्रूवति चाऽस्त्वार्ये शिष्यस्तथेति ब्रूयात् । तद्यथोपदेशं च कुर्वन्न-ध्याप्यो ज्ञेयः, अतोऽन्यथा त्वनध्याप्यः । अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्यो यथोक्तेश्चाध्यापनफलैर्योगमाप्नोत्यन्यैश्चातुक्तैः श्रेयस्कर्मर्गुणैः शिष्यमा-त्मानं च युनक्ति । इत्युक्तावध्ययनाध्यापनविधी यथावत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार से आचार्य के कहने पर शिष्य भी ‘तथास्तु’ कह कर स्वीकार करे । आचार्य उपदेशानुसार करने वाले शिष्य को पढ़ावे और न करने वाले को नहीं पढ़ावे । पढ़ाने के योग्य शिष्य को पढ़ाने से ही आचार्य को अध्यापन-कार्य का योग्य फल उचित लाभ मिलता है और यहाँ न कहे हुए दूसरे, अनेक श्रेयस्कर गुणों से शिष्य को और अपने को भी युक्त करता है । इस प्रकार अध्ययन और अध्यापन विधि कह दी ॥ १३ ॥

**अध्ययनाध्यापनविधिवत्संभाषाविधिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः—
भिषक् भिषजा । सह संभाषेत, तद्विद्यासंभाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भवति, वैशारद्यमपि चाभिनिर्वत्यति, वचनशक्तिमपि चाऽस्त्वत्ते, यशश्चा-भिदीपयति, पूर्वश्रुते च संदेहवतः पुनः श्रवणात् संशयमपकर्पति, श्रुते चासंदेहवतो भूयोऽध्यवसोयमभिनिर्वत्यति, अश्रुतमपि च कीचिदेथं श्रोत्रविषयमापादयति, यद्वाचाऽर्थः शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणो-पदिशति गुह्याभिमतमर्थजातं तत्परस्परेण सह जल्पन् विष्णेन विजि-गीषुराह संहर्षात्, तस्मात्तद्विद्यासंभाषामभिप्रशंसन्ति कुशलाः ॥ १४ ॥**

संभाषणविधि—अध्ययन-अध्यापन विधि के समान ही अब संभाषणविधि का वर्णन करते हैं । वैद्य वैद्य के पाठ संभाषण करे । क्योंकि उसी विद्या को

जानने वाले के साथ संभाषण करने से ज्ञान और हर्ष को प्राप्त करता है, ज्ञान की चतुरता उत्पन्न करता है, बोलने की शक्ति पैदा करता है, यथा को बढ़ाता है, अध्ययन काल में पर्छाले सुने शब्द या अर्थ में ज्ञान संदेह होता है, उसको मिटाता है। और संदेह रहित वस्तु में और भी अधिक दढ़ निश्चय कर लेता है अध्ययन काल में गुरुमुख से न सुना हुआ भी कुछ विषय यहाँ पर सुनने में आता है और आचार्य की सेवा करने वाले शिष्य के लिये जो गोपनीय वस्तु (अर्थ) प्रसन्न होकर गुरु बताता है, उस गोपनीय बात का यह दूसरे के साथ शास्त्रार्थ करते हुए अपनी विद्वाना दिखाने के लिये, जीतने की इच्छा से सार रूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रकट कर देता है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ~उस विद्या में निपुण विद्वान् से संभाषण करने की प्रशंसा करते हैं ॥ १४ ॥

द्विविधा तु खलु तद्विद्यसंभाषा भवति—संघाय संभाषा, विगृह्य संभाषा चेति ॥ १५ ॥

‘तद्विद्य- संभाषण’ अर्थात् उस विद्या के वेत्ता पुरुष से भाषण दो प्रकार का है। (१) संघाय संभाषा—संधि अर्थात् परस्पर मेल करके प्रेमपूर्वक संभाषण करना, अनुलोम संभाषण है। (२) विगृह्य संभाषा—विग्रह करके, दूसरे को पराजित करने के अभिप्राय से संभाषण करना प्रतिलोम-संभाषण है ॥ १५ ॥

तत्र ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्ति-संपन्नेनाकोपनेनोपस्कृतविद्येनानसूयकेनानुनयेनानुनयकोविदेन क्लेशक्षमेण प्रियसंभाषणेन च सह संघाय संभाषा विधायते । तथा विधेन सह कथयन्विस्त्रब्धः कथयेत्, पृच्छेदपि च विस्त्रब्धः, पृच्छते चास्मै विक्षब्धाय विशदमर्थं ब्र्यात्, न च निग्रहभयादुद्वजेत, निगृह्य चैनं न हृष्येन्न च परेषु विक्षयेत्, न च मोहादेकान्तग्राही स्यात्, न चाविदितमर्थं तमनुवर्णयेत्; सम्यक् चानुनयेनानुनयेच, अनुनये तत्र चावहितः स्यादित्यनुलोमसंभाषा-विधिः ॥ १६ ॥

अनुलोम संभाषण की विधि—ज्ञान (शास्त्रज्ञान), विज्ञान, वचन (पूर्वपक्ष), प्रतिवचन (उत्तरपक्ष) कहने में समर्थ, क्रोध से रहित, अविकृत विद्या वाले, अनिन्दक, अनुनय के योग्य, अनुनय को जानने वाले, क्लेशसहिष्णु, प्रिय बोडने वाले पुरुष के साथ संविच करके संभाषण करते हुए विश्वासपूर्वक (विना संकोच या भय के) बातचीत करे और जो कुछ पूछना हो वह विश्वा-सपूर्वक पूछे। इस प्रकार के पुरुष के आगे पराजय के भय से न बवरण और

स्वयं भी प्रतिवादी का पराजय करके प्रसन्न न हो। दूसरों के आगे अपनी ढींग न करे, अपनी प्रशंसा नहीं करे। मोहवश केवल लेने वाला ही न बने। न जाने हुए विषय का वर्णन नहीं करे। प्रतिवादी से किये अनुनय के सामने विनीत होवे। दूसरे के अनुनय में साझान रहे। यह 'अनुओम-संभाषण विधि' है ॥ १६ ॥

अत ऊर्ध्वमितरेण सह विगृह्य संभाषायां जल्पेत् श्रेयसा योगमा-
त्मनः पश्यन्; प्रागेव च जलगङ्गलरान्तरं परावरान्तरं परिषद्विद्विशेषांश्च
सम्यक्परीक्षेत् । सम्यक् परीक्षा हि दुद्विमानों कार्यरवृत्तिनिवृत्तिकालो
शंसति, तस्मात्वरीक्षामभिप्रशानन्ति कुशलाः । परीक्षुमाणस्तु खलु परा-
वरान्तरमिमाञ्जल्पकगुणान् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीक्षेत् सम्यक् ।
तथाथा—श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरिस्पेतान् गुणान्
श्रेयस्करानाहुः । इमान्पुनर्दोषवतः, तद्यथा-कोमन्तस्मवैशारदं भीर-
त्वमधारणत्वमनवहितत्वमिति । एतान्द्रुयानपि गुणान् गुरुलाभवतः
परस्य चैवाऽस्तमनश्च तोलयेत् ॥ १७ ॥

विगृह्य-संभाषा—इसके अनन्तर 'विगृह्य संभाषा' का वर्णन करने हैं। पुरुष अपना श्रेय (विद्योत्कर्ष आदि) योग देखता हुआ प्रतिवादी के साथ 'विगृह्य संभाषण' करे। इनमें जलन (वाद-विवाद) से पूर्ण ही जल्प के लक्षण, जल्प के गुण दोष, प्रतिवादी और अपने गुण दोष, और पश्यद् के गुण दोषों को भली प्रकार से देख लेवे। क्योंकि भली प्रकार को हुई परावाह दुद्विमानों को कार्य में प्रवृत्त होने और निवृत्त होने का काल बता देती है। इसलिये कुशल लोग परीक्षा की प्रशंसा करते हैं।

अपने और प्रतिवादी के गुण-दोषों की परीक्षा करने में, इन श्रेयस्कर और अश्रेयस्कर जलगुणों की परीक्षा करनी चाहिये। जैसे—गुड्मुख से शाक्का का श्ववण, विज्ञान, (अवशेष), धारण (मन से धारण करना), प्रतिभान (प्रतिभा, प्रत्युत्पन्नमति) और बोलने की शक्ति का होना—इन गुणों को श्रेयस्कर कहते हैं और इन निम्नलिखित गुणों को अश्रेयस्कर अर्थात् दोषयुक्त कहते हैं। जैसे—क्रोध करना, अपाणिडत्य, भीरता, अनम्यास दत्तचित्ता न होना, ये दोष हैं। इन दोनों प्रकार के गुणों को अपने में तथा प्रतिवादी में तुलना करके न्यून-अधिक रूप से देखना चाहिये ॥ १७ ॥

क्षत्र त्रिविधः परः संपद्यते,—प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुणविनिष्ठे-
पतः, नत्वेव कात्मन्येन ॥ १८ ॥

इनमें प्रतिवादी तीन प्रकार का होता है—(१) प्रवर (उच्चम), (२) प्रत्यवर (हीन) और (३) सम (समान) । ये मेद शुत, विज्ञान आदि गुणों के परिमाण से होते हैं, कुल, शील आदि मेद से नहीं ॥ १८ ॥

परिषित्तु खलु द्विविधा,-ज्ञानवती, मूढपरिषद्; सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन-सुहृत्परिषद्, उदासीनपरिषत्, प्रति-निविष्टपरिषद्यते ॥ १९ ॥

परिषद् अर्थात् सभा दो प्रकार की होती है, ज्ञानवती और मूढ़ । यही दो प्रकार की परिषद् शब्द, मित्र और उदासीन कारण से तीन प्रकार की हो जाती है । (१) सुहृत्परिषद्, (२) उदासीनपरिषद्, (३) प्रतिकूलनिविष्टपरिषद् (विरोधियों की परिषद्) ॥ २० ॥

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन शक्तिसंप-ज्ञायामपि मूढायां वा न कथंचित्केनचित्सह जल्पो विधीयते, मूढायां तु सुहृत्परिषदि उदासीनायां वा ज्ञान-विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-शक्तिमन्त-रेणाप्यदीप्यशसा महाजनद्विष्टेन सह जल्पो विधीयते, तद्विवेन च सह कथयता आविद्वदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः कथयितव्यं, अतिहृष्टं सुहु-सुहुरुपद्वस्त्रापरं, निरूपयता च परिषदमाकारैः, ब्रवता चास्य वाक्यावकाशो न देयः । कष्ठशब्दं च ब्रवता वक्तव्यो 'नोच्यते' इति, अथवा पुनः 'हीना ते प्रतिज्ञा' इति, पुनश्चाऽऽहुयमानः प्रतिवक्तव्यः—'परिसंवत्सरो भव, शिक्ष-स्व तावत्, पर्याप्तमेतावत्', सकृदपि हि परिक्षेपिकं निहतं निहतमाहु-रिति नास्य योगः कर्तव्यः कथंचित्; अप्येवं श्रेयसा सह विगृह्य वक्तव्य-मित्याहुरेके; न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ २० ॥

इनमें से शत्रु-परिषद् अथवा मूढ-परिषद् में ज्ञान-विज्ञान, वचन-प्रतिवचन की शक्ति होने पर भी किसी उच्चम, हीन वा समान व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार से जल्प (विवाद) नहीं करना चाहिये । मूढपरिषद् में, वा मित्रपरि-षद् में, या उदासीनपरिषद् में ज्ञान-विज्ञान और वचन-प्रतिवचन शक्ति के बिना भी, प्रज्वलित कीर्ति से रहित और अनेक जनों के द्वेषपात्र (जिसका पक्ष कोई नहीं करे) ऐसे पुरुष के साथ जल्प किया जा सकता है । इस प्रकार के पुरुष के साथ संभाषण करते हुए, टेहेमेहे लम्बे सूत्रों से युक्त लम्बे २ वाक्यों से भाषण करना चाहिये । खल प्रसन्न होते हुए, प्रतिवादी की बार-बार हसी करते हुए, आकार-चेष्टा आदि से परिषद् का ध्यान खीचते हुए और बोलनेको उद्यत हुए प्रतिवादी को बोलने का अवसर नहीं देना चाहिये । दुर्बोध अर्थ या

बाक्य को कहते हुए उससे बोलने के लिये कहना चाहिये कि 'नहीं कहते अथवा तेरी प्रतिक्षा होन है ।' और यदि वह फिर बाद-विवाद के लिये बुलावे तो उसको कहना चाहिये कि—“एक साल और अधिक गुण के पास पढ़, तेरे लिये इतना ही पर्याप्त है ।” एक बार पराजित हुए प्रतिवादी को पराजित ही कहते हैं । अतः फिर इसके पश्च का ग्रहण नहीं करना चाहिये । एक बार प्रतिपक्षी को पराजित करके पुनः उसे अवश्य नहीं देंगा चाहिये । कुछ आचार्यों का मत है कि इस प्रकार अपने से श्रेष्ठ से भी प्रतिक्षाम जब्त कर लेना चाहिये परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य अपने से श्रेष्ठ के साथ प्रतिओम (विषय) संभाषण की इच्छा नहीं करते ॥ २० ॥

प्रत्यवरेण तु सह समानाभिमतेन वा विगृह्य जलस्ता सुदृशरिष्टदि कथयितव्यं, अथवाऽप्युदासीनपर्यादि अवधान-श्रवण ज्ञान-विज्ञानापधा-रण-वचन-शक्ति-संपन्नायां कथयता चाचाहितेन परस्य साद्गुण्यदोषबलम्-वेक्षितव्यं; समवेक्ष्य च यत्रेन श्रेष्ठं मन्येत्, नास्य तत्र जलपं योजयेदना-विष्कृतमयोगं कुर्वन्; यत्र त्वेनमवरं मन्येत् तत्रत्वेनमाशु निगृहीयात् ।

अपने से हीन या अपने समान प्रतिवादी के साथ सुदृशरिष्ट, उशसीन परिषद् या मूढ़ परिषद् में विगृह्य संभाषण करना चाहिये । अथवा उशसीन परिषद् में अवधान, श्रवण, ज्ञान, प्रतिज्ञन शक्ति, आदि गुणों तथा ऋषि आदि दारों की अपने में और दूसरे में तुलना करके सावधानी से संभाषण करना चाहिये और पराक्षा करके जिष्ठ वात में प्रतिवादी को अपने से श्रेष्ठ समझे, उस विषय में अपनी अशोक्यता को प्रकट न करते हुए जल्प का प्रयोग नहीं करना चाहिये और जिस विषय में प्रतिवादी को अपने से हीन समझे, उसमें इस को शीघ्रता से पकड़ लेना चाहिये ।

तत्र खलिकमे प्रत्यवराणामाशु निग्रहे भवन्त्युभायाः; तद्यथा—श्रुत-हीनं महत्वा सूत्रपाठेनाभिमतेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्वदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकः, प्रतिभाहीनं पुन-र्वचनेनैकविवेनानेशार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्बोक्तस्य वाक्यस्याऽङ्गस्थेषेण, अविशारदमपहेषणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अन-वहितं नियमनेन । इत्येवमेतत्तृपायैः परमवरमभिमतेत् ॥ २१ ॥

प्रतिवादी को धीरं निग्रह करने के लिये निम्न उपाय हैं । जैसे—जिसने शास्त्र न पढ़ा हो उसको बड़े लम्बे २ सूत्र सुना कर पराजित करे । विशेष ज्ञान से हीन अतिदुर्बोध अर्थ बाले, किंड शब्दों से बने वाक्यों का प्रयोग करे ।

अनम्यस्त शास्त्र वाले या अल्पबुद्धि के लिये वक्त, लग्बे २ सूत्रों से बने बाक्य का प्रयोग करे। प्रतिभा से हीन के लिये अनेकार्थवाची, अनेक प्रकार के वचनों का प्रयोग करे। वचन-शक्ति से हीन को आधे ही बाक्य पर टोक दे। अपण्डित या अचतुर को (जिसने कभी पहिले सभा नहीं देखी हो) लज्जाजनक बाक्यों से पराजित करना चाहिये, क्रोधी व्यक्ति को तंग करके, डरपोक को भय दिखला कर, जो सावधान न हो उसको मन के नियमन करने वाले वचनों से पराजित करे। इन नाना उपायों द्वारा प्रतिवादी का शीघ्र पराजय करे ॥२१॥

तत्र श्लोक—विगृह्य कथयेद्युक्त्या युक्तं च न निवारयेत् ।

विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाचिद् द्रोहमावहेत् ॥ २२ ॥

नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते ।

कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं सहिताः सताए ॥ २३ ॥

एवं प्रवृत्ते वादे कुर्यात् ॥ २४ ॥

प्रतिलोम संभाषण करने का प्रकार—दूसरे के साथ विगृह्य-संभाषण करते हुए युक्तिपूर्वक भाषण करे। युक्ति प्रमाणानुकूल दूसरे के वचन का निपेघ नहीं करे। जल्प कई पुरुषों में तीव्र क्रोध उत्पन्न कर देता है। कुद्ध व्यक्ति के लिये कुछ भी अकार्य नहीं होता, वह कुछ भी कर सकता है। उसके लिये कुछ भी अवाच्य नहीं, वह सब कुछ उत्तराभ्यासा भी कह सकता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष सजनों की सभा में कलह को अच्छा नहीं समझते। बाद चलने पर इस प्रकार करे ॥ २२-२४ ॥

प्रागेव तावदिदं कर्तुं यतेत—संधाय परिषदाऽयनभूतमात्मनः प्रक-
रणमादैशयितव्यं यद्वा परस्य भृशदुर्गं स्यात्, पक्षमथवा परस्य भृशं
विमुखमानयेत् परिषदि, परिषदि चोपसंहितायामशक्यमस्माभिर्बक्तुम्,
एवेच ते परिषद्यथेष्टुं यथायोर्गं यथाभिप्रायं वादं वादमर्यादां च स्थाप-
यिष्यतीत्युक्त्वा तृष्णीमासीत् ॥ २५ ॥

बाद प्रारम्भ होने से पूर्व निम्न बातें करने का यत्न करे। यथा—परिषद् (सभ्यो) से मिलकर अपने अभ्यास किये हुए प्रकरण या विषय का निर्देश करे। अथवा जो प्रकरण वा विषय दूसरे को बहुत दुर्बोध हो उसे कहे अथवा दूसरे का पक्ष जो बहुत अधिक ज्ञान उत्पन्न करने वाला हो, वहां पर सभ्यों के बीच कहे। यदि परिषद् अपने विरोध में जान पड़े तो कहे कि—‘इस परि-
षद् को तो तुमने पहिले ही मिलकर अपने पक्ष में कर लिया है, इसलिये हमारा बोहना असम्भव है। यह तो तुम्हारी घर की ही सभा है। जैसा चाहोगे, जैसा

बने, जैसा अभिप्राय हो, वह वैसा बाद, और वैसी बाद-मर्यादा को स्थापित करेगी,—ऐसा कह कर चुप हो जाये ॥ २५ ॥

तत्रेदं बादमर्यादालक्षणं भवति—इदं भवति वाच्यमिदम्बाच्य-
मेवं सति पराजितो भवत्वाति ॥ २६ ॥

बाद की मर्यादा—यह कहना, यह नहीं कहना, इस प्रकार से पराजय होता है, यह तीन बाद-मर्यादा के लक्षण कहाते हैं ॥ २६ ॥

इमानि तु खलु पदानि बादमार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि भवन्ति ।
तत्त्वथा—बादः, द्रव्यः, गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषः, समवायः, प्रतिज्ञा,
स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतुः, दृष्टान्तः, निगमनं, उत्तरं, सिद्धान्तः,
उपनयः, शब्दः, प्रत्यक्षं, अनुमात्रमेतिद्युम्पापन्यं, संशयः, प्रयोजनं,
सत्यभिचारं, जिज्ञासा, व्यवसायः, अर्थप्राप्तिः, संभवः, अनुयोज्यं,
अननुयोज्यं, अनुयोगः, प्रत्यनुयोगः, बाक्यदोषः, बाक्यप्रशंसा,
छलमहेतुरतीतकालमुपालम्भः, परिहारः, प्रतिज्ञाहानिरक्ष्यनुज्ञा,
हेत्वन्तरमर्थान्तरं, निग्रहस्थानमिति ॥ २७ ॥

बाद के मार्ग को समझने के लिये वेदों को निम्न चबाल्स बातें समझ लेनी चाहिये । यथा—बाद, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रतिज्ञा, स्थापना, प्रतिष्ठापना, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन, उत्तर, सिद्धान्त, शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपम्य, संशय, प्रयोजन, सत्यभिचार, जिज्ञासा, व्यवसाय, अर्थप्राप्ति, संभव, अनुयोज्य, अनुयोग, प्रत्यनुयोग, बाक्यदोष, बाक्यप्रशंसा, छल, हेतु, अतीतकाल, उपालम्भ, परिहार, प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, हेत्वन्तर, अर्थान्तर और निग्रहस्थान ॥ २७ ॥

तत्र बादो नाम—यत परः परेण सह शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति ।
स बादो द्विविधः संग्रहेण—जल्पो वितण्डा च । तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं
जल्पः, विपर्ययो वितण्डा । यथा—एकस्य पक्षः—पुनर्भवोऽस्तीति,
नास्तीत्यपरस्य । तौ च हेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः, परपक्षमुद्भावयतः,
एष जल्पः । जल्पविपर्ययो वितण्डा, वितण्डा नाम—परपक्षे दोप-
ष्वचनमात्रमेव ॥ २८ ॥

बाद का लक्षण—शास्त्र के अनुसार जो परस्पर विगृह्य भाषण है वह बादक हाता है । यह संक्षेप से दो प्रकार का है । जल्प और वितण्डा । इनमें

कु बाद का लक्षण—‘प्रमाणतरक्षाघनोपालम्भः सिद्धान्ताविशदः पञ्च-
वययोपपक्षः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो बादः । न्यायदर्शन १ । २ । ४२ ।

पक्ष और प्रतिपक्ष का आश्रय करके जा वाद किया जाता है, उसका नाम 'जल्प' है। इससे विपरीत 'वितण्डा' है। जैसे एक व्यक्ति का पक्ष है कि पुनर्जन्म होता है, और दूसरे का पक्ष है कि पुनर्जन्म नहीं होता है। ये दोनों नाना हेतुओं से अपने अपने पक्ष की स्थापना करते हैं और प्रतिबाधक प्रमाणों से दूसरे के पक्ष का निराकरण करते हैं। इसका नाम 'जल्प' है। जल्प से विपरीत वितण्डा है, परपक्ष में केवल दोष दिखाना 'वितण्डा' होता है † ॥२८॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः स्वलक्षणेः श्लोकस्थाने पूर्वमुच्चाः ॥ २९ ॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इनमें से प्रत्येक का लक्षण सूचनस्थान में कह आये हैं ॥ २९ ॥

अथ प्रतिज्ञा । प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनम् । यथा नित्यः पुरुष इति ॥ ३० ॥

प्रतिशा—साध्य वचन का नाम 'प्रतिशा' कहे । जैसे पुरुष नित्य है ॥३०॥

अथ स्थापना । स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतुहृष्टान्तो-पनयनिगमनं: स्थापना । पूर्व हि प्रतिज्ञा पञ्चात्स्थापना, किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यति । यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा । हेतुः—अकृतकत्वादिति । हृष्टान्तः—अकृतकमाकाशं तच्च नित्यम् । उपनयो यथा—चाकृत-कमाकाशं तथा पुरुषः । निगमनं—तस्मान्तित्य इति ॥ ३१ ॥

स्थापना—इसी प्रतिज्ञा के हेतु, दृष्टान्त, उपनय, और निगमन द्वारा सिद्ध करने का नाम 'स्थापना' है। प्रथम प्रतिज्ञा होती है, फिर उसकी स्थापना की जाती है। विना प्रतिज्ञा के किस वस्तु को स्थापना करेगा। जैसे पुरुष नित्य है यह प्रतिज्ञा है। इसमें हेतु—उत्पत्ति न होने से। दृष्टान्त-आकाश, जिसे किसीने उत्पन्न नहीं किया और वह नित्य है। उपनय—जिस प्रकार अनुत्पन्न आकाश है इसी प्रकार पुरुष है। निगमन—इसलिये पुरुष भी नित्य है ॥३१॥

अथ प्रतिष्ठापना—प्रतिष्ठापना नाम या परप्रतिज्ञाया विपरीतार्थ-स्थापना, यथा—अनित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा । हेतुः—ऐन्द्रियकत्वात्, हृष्टान्तः—घट ऐन्द्रियकः, स चानित्यः, उपनयो—यथा घटस्तथा पुरुषः । निगमनं—तस्मादनित्य इति ॥ ३२ ॥

† 'यथोक्तोपज्ञश्छब्दजातिनग्नहस्थानसाधनोपालभ्यो जल्पः । स प्रतिपक्ष-स्थापनाहीनो वितण्डा । न्याय द० १ । २ । ४३ । ४४ ।

॥ साध्यस्य वचनं प्रतिज्ञा । न्याय द० १ । १ । ३२ ।

परिष्ठापना—दूसरे बादी से प्रतिशा के विपरीत अर्थ की स्थापना करना प्रतिष्ठापना कहलाता है। पुरुष अनित्य है, यह विपरीतार्थ प्रतिशा है। इसमें हेतु—इन्द्रियग्राह होने से। दृष्टान्त—घड़ा इन्द्रियग्राह है, वह अनित्य है। उपनय—जिस प्रकार घड़ा है उसी प्रकार पुरुष भी अनित्य है। निगमन—इस-लिये पुरुष अनित्य है॥ ३२॥

अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत्प्रत्यश्चमनुमानमैतिद्वामौपम्य-मिति । एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते, तत्त्वम् ॥ ३३ ॥

हेतु—साध्य के उपलब्धि अर्थात् ज्ञान का कारण हेतु है ४४। प्रत्यक्ष, अनु-मान, ऐतिहास और उपमान ये भी उपलब्धि (ज्ञान) के साधन हैं। इन हेतुओं (प्रमाणों) से जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह तत्त्व अर्थात् ज्ञान है॥ ३३॥

उपनयो निगमनं चोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठापनाव्याख्यायाम् ॥ ३४ ॥

उपनय और निगमन को स्थापना और प्रतिष्ठापना की व्याख्या में कह दिया है॥ ३४॥

अथोत्तरं—उत्तरं नाम साधम्योपदिष्टे वा हेतो वैधर्म्यवचनं, वैधम्यो-पदिष्टेवा साधर्म्यवचनं । यथा—हेतुसधमाणो विज्ञाराः, शीतकस्य हि व्याधे-हेतुसाधर्म्यवचनं—हिमशिशिरवातसंस्पर्श इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्—हेतु-विधमाणो विकाराः, यथा शरीरावयवानां दाहोण्यकोथप्रपचने हेतु-वैधर्म्यं हिमशिशिरवातसंस्पर्श इति; एतत्सविर्ययमुत्त रम् ॥ ३५ ॥

उत्तर—हेतु में साधर्म्य दिखाने पर वैधर्म्य दिखाना अथवा हेतु में वैधर्म्य दिखाने पर साधर्म्य दिखाना ‘उत्तर’ है। कोई कहे—विकार (रोग) हेतु (कारण) के समान धर्म (ब्रुल्य धर्म) बाले होते हैं। यथा शीतजन्य रोगों में कारण के तुल्य धर्म हेमन्त शिशिर की वायु का शीत संस्पर्श हो इस पर प्रतिपक्षी कहे कि रोग हेतु के विशदधर्म (अतुल्य धर्म) बाले होते हैं। जैसे—शरीरावयवों के जलने में, गरम होने में, सहने में, पकने में हेतु (कारण) से असमान धर्म बाले हेमन्त, शिशिर को वायु का सर्श है। यह विपरीत उत्तर है॥ ३५॥

अथ दृष्टान्तः—दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां तुद्विसाम्यं, यो वर्ण्यं

४४ ‘उदाहरणसाधम्यात्, साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधम्यात्। न्याय० ११। १। ३४-३५।

वर्णयति, यथा—अग्निरुद्धो द्रवमुदकं स्थिरा पृथिवी आदित्यः प्रकाशक
इति, यथा वाऽऽदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति ॥३६॥

दृष्टान्त—जिसमें विद्वान् अविद्वान् दोनों की बुद्धि समान हो, उसका नाम दृष्टान्त है ॥ । जिस वस्तु का वर्णन करना होता है, उसका उसी प्रकार की वस्तु से वर्णन करते हैं । यथा—अग्नि उष्ण है, जल द्रव है, पृथिवी स्थिर है, सूर्य प्रकाशक है, इन बारों को मूर्ख भी उसी प्रकार समझता है, जिस प्रकार एक विद्वान् समझता है । जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, उसी प्रकार सांख्य ज्ञान भी प्रकाशक है । यहां पर सांख्य ज्ञान साध्य 'वर्ण्य' है । इसको आदित्य के दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं ॥३६॥

अथ सिद्धान्तः—सिद्धान्तो नाम यः परीक्षकैर्वृविधं परीक्षय हे-
तुभिः साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तः, स चोक्तश्चतुविधः,—
सर्वतन्त्रसिद्धान्तः, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः, अधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगम-
सिद्धान्त इति ।

सिद्धान्त—जिस को परीक्षकों ने बहुत प्रकार से परीक्षा कर हेतुओं द्वारा
सिद्ध कर निर्णय रूप से स्थापित कर दिया है वह निर्णय 'सिद्धान्त' है । यह
सिद्धान्त चार प्रकार का है । (१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त, (२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त,
(३) अधिकरण सिद्धान्त और (४) अभ्युपगम सिद्धान्त ।

तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम—सर्वतन्त्रेषु यत्प्रसिद्धम् । सन्ति
व्याधयः सन्ति सिद्धच्युपायाः साध्यानामिति ।

(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—उब तंत्रों (शास्त्रों) में (उस सम्बन्ध के) जो
सिद्धान्त प्रसिद्ध हो, उनका नाम सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । यथा—निदान हैं, साध्य
रोग हैं, रोगों को दूर करने के भी उपाय हैं, ये बातें सब तंत्रों में प्रसिद्ध हैं ।

प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिस्तस्मिस्तन्त्रे तत्प्रसिद्धं, यथा—
अन्यत्राष्टौ रसाः पठत्र, पञ्चेन्द्रियाणि यथाऽन्यत्रान्यत्र षड्हिन्द्रियाणि ।
बातादिकृताः सर्वविकारा यथाऽन्यत्र वातादिकृता भूतकृतश्च प्रसिद्धाः ।

(२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त—उसी विशेष तंत्र में जो तत्त्व प्रसिद्ध हो और
तंत्रों में अप्रसिद्ध हो, उसका नाम प्रतितन्त्र सिद्धान्त है । यथा—एक तंत्र में
रस आठ प्रकार के हैं, और इस तंत्र में रस छः प्रकार के हैं । एक तंत्र में पांच
इन्द्रियां हैं, अन्य तंत्र में छः इन्द्रियां मानी हैं (मन को भी इन्द्रिय गिनते हैं)
अन्य तंत्रों में सब रोग बात आदि दोषजन्य ही माने गये हैं । एक तंत्र में रोगों

३६ छौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसामर्य सदृष्टान्तः ॥ न्याय० १। १। २५॥

का कारण वात आदि दोष तथा पंच महाभूत वा सूक्ष्म कीट-प्राणियों को भी माना है।

अधिकरणसिद्धान्तो नाम यस्मिन् यस्मिन्नधिकरणे संस्तूयमाने सिद्धान्यन्यान्यधिकरणानि भवन्ति, यथा—न मुक्तः कर्मानुवन्धिकं कुरुते; निस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेतयमावा भवन्ति।

(३) अधिकरण सिद्धान्त—जिस जिस अधिकरण के उत्तरित करने पर अन्य न कहे हुए अधिकरण भी अपने आप मिल हैं। ताते हैं, उसका नाम अधिकरण सिद्धान्त है। यथा—मुक्त पुरुष निःस्पृह होने से पलजनक कर्म नहीं कर सकता। इस अवस्था में कर्मफल, मोक्ष, पुरुष और प्रेतभाव से प्रकरण भी स्वयं सिद्ध होते हैं। क्योंकि यदि कर्मफल न हो तो मुक्त भी कर्म करें। कर्मफल से उद्बिध होकर ही वे कर्म नहीं करते। यदि मोक्ष हो तो मुक्त ऐसा नाम हो। यदि पुरुष न हो तो बन्ध और मोक्ष किसका।

अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम—यमर्थमनिद्वमपरीक्षितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिषजः। तद्यथा—द्रव्यं न प्रधानमिति कृत्वा वक्ष्यामः, गुणः प्रधाना इति कृत्वा वक्ष्यामः, इत्येवमादिश्चतुर्विधिः सिद्धान्तः ॥ ३७ ॥

(४) अभ्युपगम सिद्धान्त—जिसको विना सिद्ध किये, विना परीक्षा किये और विना हेतु आदि दत्तलाये ही विवादकाल में वद्य लोग स्वाक्षर कर लेते हैं, वह अभ्युपगम सिद्धान्त है। यथा—द्रव्य का प्रधान न मानकर सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके आगे विवाद करें। इसी प्रकार गुण को प्रधान मान कर, कर्म का प्रधान मानकर वाद आरम्भ करें। ये चारों प्रकार के सिद्धान्त कह दिये हैं। ३७।

शब्दः—शब्दो नाम वर्णसमानायः, स चतुर्विधिः—दृष्टार्थश्च-दृष्टार्थश्च सत्यश्चानृतश्चेति ।

शब्द—वर्णों के समानाय (समूह) का नाम शब्द है। यह चार प्रकार का है। यथा (१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ (३) सत्य और (४) अनृत ।

तत्र दृष्टार्थः—त्रिभिर्हेतुभिर्दोषाः प्रकृप्यन्ति षडभिरुपकर्मैश्च प्रशास्यन्ति, श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिप्रहणमिति ।

(१) दृष्टार्थ—तीन कारणों (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिज्ञाम) से वात आदि दोष कुपित होते हैं। वे छो उपकरणों (वृंदण, लंघन, स्लेहन, रुक्षण, स्वेदन और स्तम्भन) से शान्त होते हैं। भोत्र आदि इन्द्रियों

के होने पर शब्द आदि विषयों का ग्रहण होता है। इन वाक्यों का अर्थ यहां प्रत्यक्ष होता है, देखा जाता है।

स दृष्टार्थः पुनः—अस्ति प्रेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति ।

(२) अदृष्टार्थ—जैसे प्रेत्यभाव अर्थात् (पुनर्जन्म) है और मोक्ष है, यह अदृष्ट अर्थ है।

सत्यो नाम यथार्थभूतः—सन्त्यायुर्बेदोपदेशाः, सन्त्युपायाः साध्यानां, सन्त्यारम्भफलानीतिः, सत्यविपर्ययाचानृतः ॥ ३८ ॥

सत्य—यथार्थ जैसा हो वैषा कहना सत्य है। यथा आयुर्वेद का उपदेश है, साध्य रोगों की चिकित्सा के उपाय हैं। आरम्भ फल अर्थात् कर्मों के फल होते हैं। सत्य से विपरीत अनृत (मिथ्या) है ॥ ३८ ॥

अथ प्रत्यक्षं—प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना पञ्चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते । तत्राऽत्मप्रत्यक्षाः सुखदुखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्वन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥ ३९ ॥

प्रत्यक्ष—आत्मा और इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान स्वयं प्राप्त किया जाता है, उसका नाम प्रत्यक्ष^१ है, इनसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं, शब्द आदि विषय श्रोत्र आदि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं ॥ ३९ ॥

अथानुमानं—अनुमानं नाम तर्कों युक्त्यपेक्षाः । यथोक्तम्—अग्निजरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्यब्राह्मादि ॥ ४० ॥

अनुमान—युक्ति की अपेक्षा करने वाला तर्क अनुमान है। कार्यकारण भाव के ज्ञान से अविज्ञात अर्थ को जानना तर्क है। यथा—जीर्ण करने की शक्ति से अग्नि का, व्यायाम शक्ति से बड़ का, शब्दादि के ग्रहण करने से श्रोत्रादि इन्द्रियों का अनुमान किया जाता है ॥ ४० ॥

अथैतिहां—ऐतिहां नामाऽप्योपदेशो वेदादिः ॥ ४१ ॥

ऐतिहां—ऐतिहां पुढ़ पुरुषों ने कहा था यह ‘ऐतिहां’ है। आसच्चन का नाम ऐतिहां है। यथा आसच्चन वेद आदि ॥ ४१ ॥

अथौपम्य—अौपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं, यथा—दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुष्टम्भस्य, इज्वासिना आरोयदस्येति ॥ ४२ ॥

१ इन्द्रियार्थसंजिकर्षोत्तमं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् । न्याय० १ । १ । ४ ।

ओपम्य (उपमा)—साहश्य को देखकर एक प्रसिद्ध वस्तु का प्रकाशन करना ‘उपमा’ है । जैसे दण्डे से दण्डक नाम (वातव्याधि) रोग बतलाया है । घनुष द्वारा घनुस्तम्भ (जिसमें घनुष के समान शरीर मुड़ जाता है, ऐसा घनुर्वात रोग बतलाया है) और घानुषक (तीर चलाने वाले) का उदाहरण देकर आरोग्यता देने वाले वैद्य का प्रयोजन बतलाया है (खुड़ाक चतुष्पाद अध्याय १० में) ॥ ४२ ॥

अथ संशयः—संशयो नाम संदेहलक्षणानुसंदिग्धेष्वर्थेष्वनिश्चयः । यथा—दृष्टा ह्यायुष्यलक्षणोपेताश्चानुपेताश्च तथा सक्रियाश्चक्रियाश्च पुरुषाः शीघ्रभङ्गाश्चिरजीविनश्च, एतदुभयद्रुत्वात्मंशयः-किञ्चु स्वल्प-काञ्छमृत्युरस्त्युत नास्तीति ॥ ४३ ॥

संशय—संदिग्ध अर्थों में निश्चय का न होना संशय^१ है । जैसे क्या अकाल मृत्यु है, अथवा नहीं है ! आयुष्मान् पुरुषों के लक्षणों से युक्त एवं इन लक्षणों से रहित किंवा चिकित्सा क्रिया के दिना और चिकित्सा करने पर भी शीघ्र मरने वाले तथा देर तक जीने वाले दोनों प्रकार के पुरुष देखे जाते हैं । दोनों प्रकार की अवस्थाओं के देखने से संशय होता है कि क्या अकाल मृत्यु है, अथवा नहीं है ॥ ४३ ॥

अथ प्रयोजनं—प्रयोजनं नाम यदर्थमारभ्यन्त आरम्भाः । यथा— यद्यकालमृत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्येरुपचरिष्याम्यनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं मामकालमृत्युः प्रसहेतेर्ति ॥ ४४ ॥

प्रयोजन—जिसके लिये कर्मों का आरम्भ किया जाता है वह ‘प्रयोजन’ है । जैसे यदि अकाल मृत्यु है, तो मैं आयु के लिये हितकारी पथों द्वारा अपने शरीर की रक्षा करूंगा । आयु का नाश करने वाली अपश्य वस्तु का परित्याग करूंगा । फिर किस प्रकार से मुक्षपर अकाल मृत्यु आक्रमण कर सकती है ? ॥ ४४ ॥

अथ सन्व्यभिचारं—सन्व्यभिचारं नाम यदव्यभिचरणं; यथा— भवेदिदभौषधं तस्मिन् न्यायौ यौगिकमथवा नेति ॥ ४५ ॥

सन्व्यभिचार—व्यभिचार एकत्र अव्यवस्था, अनिश्चितता, अनेकों में प्रकृत्त होना ही सन्व्यभिचार है । यथा—इस रोग में इस औषध का यौगिक

१ समानानेकधर्मोपयन्तः विप्रतिपचेष्वपदब्यनुपलब्ध्यवस्थातद्वच विशेषा-पेष्ठो विमर्शः संशयः ॥ न्याय १ । १ । ४१ ॥

अर्थात् योग के अनुकूल होना। वा विपरीत भी होना सम्बव है, इस प्रकार एकान्त निश्चय न होना 'सव्यभिन्नार'॥४५॥

अथ जिज्ञासा—जिज्ञासा नाम परीक्षा; यथा भेषजपरीक्षोऽस्त्र-कालमुपदेश्यते ॥ ४६ ॥

जिज्ञासा—प्रमाणो द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'जिज्ञासा' है। यथा भेषज परीक्षा जो आगे कहेंगे ॥ ४६ ॥

अथ व्यवसायः—व्यवसायो नाम निश्चयः, यथा वातिक एवायं व्याधिः, इदमेवास्य भेषजमिति ॥ ४७ ॥

व्यवसाय—निश्चय का नाम 'व्यवसाय' है। यथा—यह रोग वातजन्य ही है, और इस रोग की यही औषध है ॥ ४७ ॥

अथार्थप्राप्तिः—अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रकेनार्थेनोक्तेतापरस्यार्थस्यानुकूलस्य सिद्धिः; यथा—नायं संतर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—अप-तर्पणसाध्योऽयमिति, नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निश्च भोक्तव्यमिति ॥ ४८ ॥

अर्थप्राप्तिः—एक कहे हुए अर्थ से दूसरे न कहे हुए अर्थ का जिससे ज्ञान होजाय उसका नाम अर्थप्राप्ति है। यथा यह रोग से तर्पणसाध्य नहीं है, वह कहने पर पता लग जाता है कि यह रोग अपतर्पण साध्य है। इसको दिन में भोजन नहीं देना चाहिये, ऐसा कहने पर ज्ञात हो जाता है कि रात्रि में भोजन देना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ संभवः—संभवो नाम यो यतः संभवति स तस्य संभवः; यथा—अद्ध धातवो गर्भस्य, व्याघेरहितं हितमारोग्यस्येति ॥ ४९ ॥

संभव—जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका संभव अर्थात् कारण है। जैसे छः बातु (पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश और चेतना) गर्भ का उत्पन्न में कारण हैं। इसी प्रकार अहित-सेवन रोगों की उत्पन्न में, हित-सेवन आरोग्यता की उत्पन्न में कारण हैं ॥ ४९ ॥

अथानुयोज्यं—अनुयोज्यं नाम यद्वाक्यं वाक्यदोश्युक्तं तदनुयो-ज्यमुच्यते, सामान्योदाहृतेष्वर्थेषु वा विशेषग्रहणार्थं यद्वाक्यं तदनुयोज्यं;

॥४६॥ न्यायदर्शन में सव्यभिन्नार को देत्वाभास माना है। यह हेतु नहीं, परन्तु हेतु के समान दीखता है। यथा—‘सःयभिन्नास्त्विष्ट-प्रकरणसम-साध्यस-मातीतकाला देत्वाभासाः’॥ न्याय० १ । २ । ४५ ॥

यथा—संशोधनसाध्याऽयं व्याविरितियुक्ते कि वमनसाध्यः कि वा विरेचनसाध्यः ? इत्यनुयुज्यते ॥ ५० ॥

अनुयोज्य—जो बाक्ष बाक्ष के न्यून आंदे दोषों से युक्त होगा है, उसका नाम अनुयोज्य है । क्षीकि इस प्रकार का दायरुक बाक्ष प्रयुक्त नहीं किया जा सकता । अथवा सामान्य रूप में कहे हुए बाक्षार्थ में विशेष प्रदृश के लिये जो बाक्ष कहा जाता है, वह भा अनुयोज्य होता है । यथा—यह रोग संशोधन से साध्य है, ऐसा कहने पर वमनसाध्य है या विरेचनसाध्य है । यह और भी बक्षव्य शेष रह जाने से 'अनुयोज्य' है ॥ ५० ॥

अथाननुयोज्य—अननुयोज्यं नामातो विपर्ययेग; यथा—अयम-साध्यः ॥ ५१ ॥

अननुयोज्य—अनुयोज्य के विपरीत—बाक्ष रोग से रहित वचन को 'अननु-योज्य' कहते हैं । यथा—यह रोग अमाध्य है ॥ ५१ ॥

अथानुयोगः—अनुयोगा नाम यत्तद्रियानां नद्रियोरेव सार्वं तन्त्रे तन्त्रैकदेशं वा प्रश्नः प्रश्नकदेशं वा ज्ञान विज्ञान-वचन-प्रतिवचन-परी-क्षार्थमादिश्यते । यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते, यत्वरः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः ॥ ५२ ॥

अनुयोग—विशेष विद्या बाले पुरुष का उसी (एक समान) विद्या बाले पुरुष के साथ ज्ञान, विज्ञान, प्रतिवचन शक्ति की परीक्षा के लिये समूर्ण उसी शास्त्र में अथवा उस शास्त्र के किसी एक भाग में प्रश्न करना 'अनुयोग' कहाता है । जैसे—एक ने प्रतिज्ञा को—पुरुष नित्य है । दूसरे ने पूछ—इसमें हेतु क्या है ? यह कहना अनुयोग है ॥ ५२ ॥

अथ प्रत्यनुयोगः—प्रत्यनुयोगो नामानुयोगस्यानुयोगः; यथा—अस्यानुयोगस्य पुनः का हेतुरिति ॥ ५३ ॥

प्रत्यनुयोग—अनुयोग का अनुयोग करना प्रत्यनुयोग है । जैसे—एक ने प्रतिज्ञा की-पुरुष नित्य है, दूसरे ने प्रश्न किया इसमें क्या हेतु है ? इस हेतु में क्या हेतु है ? ऐसा प्रश्न पर प्रश्न पूछना 'प्रत्यनुयोग है ॥ ५३ ॥

अथ बाक्षदोषः—बाक्षदोषो नाम यथा—खल्वस्मिन्नर्थे न्यूनम-धिक्मनर्थं कमपार्थकं विरुद्धं चेति । तत्र प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयन्निगमनानामन्यतमेनापि न्यूनं न्यूनं भवतीति, बहुरदिष्टहेतुरुमेकेन साध्यते हेतुना तत्त्वं न्यूनम्, एतानि ह्यान्तरेण प्रकृतोऽप्यथः प्रणश्येत् ।

बाक्षदोष—बाक्ष में विशेष को दृष्टि से निम्न दोष होते हैं जैसे—न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्धार्थ ।

न्यून—प्रतिशा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन इनमें से किसी एक से भी न्यून हो तो वह न्यून दोष गिना जाता है। अथवा जो वस्तु बहुत से हेतु देकर सिद्ध करनी चाहिये, उस वस्तु को केवल एक ही हेतु से सिद्ध किया जाये तो वह भी 'न्यून' दोष समझना चाहिये।

अथाधिकं—अधिकं नाम यदायुवेंदे भाष्यमाणे बार्द्धस्पत्यमौशन्-समन्यद्वा यत्किञ्चिद्प्रतिसंबद्धार्थमुच्यते। यद्वा पुनः प्रतिसंबद्धार्थम्^५ द्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तवादधिकम्। तत्त्वं पुनरुक्तं, द्विविधम्। अर्थ-पुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तं च। तत्रार्थपुनरुक्तं नाम यथा—भेषजमौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तं नाम पुनः भेषजं भेषजमिति।

अधिक-न्यून से विपरीत हेतु आदि उदाहरण अधिक हों उसको अधिक कहते हैं। अथवा आयुवेद के विषय में बार्द्धस्पत्य, औशनस आदि अन्य अप्रासंगिक बातों का कहना, अथवा प्राकृत (सम्बन्धित) वस्तु को दो बार कहना यह भी पुनरुक्त होने से 'अधिक' ही होता है। यह पुनरुक्त दो प्रकार का है। जैसे—अर्थपुनरुक्त और शब्दपुनरुक्त। इनमें 'अर्थपुनरुक्त' दो प्रकार का है। जैसे—भेषज, औषध और साधन। 'शब्दपुनरुक्त' जैसे 'भेषज भेषज' है।

अनर्थकं नाम यदूचनमक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवश चार्थतो गृह्णते।

अनर्थक—जिनका कहना पंचवर्ग (छ ज ण न म) के समान केवल अख्तर समूह (वर्णमाला) के रूप में होता है, जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता उसका नाम 'अनर्थक' है।

अथापार्थकं—अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकम्। यथा—चक्र-नक्ष-वंश-वज्र-निशाकरा इति।

अपार्थक—जब बहुतों से प्रत्येक शब्द अर्थ बाला होकर भी वे सब परस्पर मिलकर किसी भी अर्थ को न बता सकें तब 'अपार्थक' दोष होता है। जैसे—चक्र, नक्ष, वंश, वज्र, निशाकर आदि। इनमें से प्रत्येक का पृथक् २ अर्थ है, परन्तु मिलने पर कोई संगत अर्थ नहीं निकलता।

विरुद्धं नाम यदूचन्तसिद्धान्तसमयैविरुद्धं, तत्र दृष्टान्तसिद्धान्तात्-तुक्तौ, स्मयः पुनर्खिधा भवति, यथा—आयुवेंदिकसमयो याङ्गिकसमयो मोक्षशाङ्गिकसमय इति। तत्रायुवेंदिकसमयश्च तुष्पादं भेषजमिति, याङ्गिकसमयः, आलङ्घयाः पश्च इति, सर्वं भूतेष्वहिसेति मोक्षशाङ्गिकसमयः। तत्र रक्षसमयविपरीतमुच्चयमानं चिरद्वं भवतीति वाक्यदोषः ॥ ५४ ॥

विशद—जो वाक्य दृष्टान्त, सिद्धान्त और समय के विपरीत हो। यह विशद तीन प्रकार का है, दृष्टान्त-विशद, सिद्धान्त-विशद और समय-विशद। इनमें दृष्टान्त और सिद्धान्त दोनों को पीछे कह चुके हैं।

समयविशदध—समय तीन प्रकार का है। यथा—(१) याजिक समय, (२) आयुर्वेदिक समय और (३) मोक्षशास्त्रिक समय। इनमें आयुर्वेदिक-समय जैसे—भेषज चतुष्पाद (भिषज्, द्रवद, उपस्थाता और रोगी) है। याजिक-समय जैसे—यजमान को चाहिये कि पशुओं का आलम्भन कर। मोक्षशास्त्रिक समय जैसे—सब प्राणियों के प्रति अद्विष्टा वृत्ति रखें। इनमें अपने २ समय अर्थात् सिद्धान्त के विपरीत कहना ‘विशदध’ है। ये वाक्यदोष हैं ॥ ५४ ॥

अथ वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्त्वयं त्वन्यूनमनधिकम् र्थवदनपार्थकमविरुद्धमधिगतपदार्थं चेति यत्तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते ॥ ५५ ॥

वाक्य प्रशंसा—जिस वाक्य में न्यून और अधिक दोष न हों, जो अर्थवान् होकर भी अर्थक और विशद्य न हों और पदार्थ को लहने वाला तथा दूसरे से अनुयोज्य न हो ऐसा वाक्य प्रशंसायोग्य होता है, इसे वाक्यप्रशंसा कहते हैं।

अथ छल्लं—छल्लं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं वार्तास्तुमात्रमेव तद्विविधं वाक्छलं, सामान्यच्छलं च ।

छल—शट के प्रति बछना के लिये अर्थ की भाँति दीखने वाले अनर्थक, बाणी मात्र को (दूसरे के बचन को नष्ट करने के लिये) प्रयुक्त करना ‘छल’ है। यह छल दो प्रकार का है ४ (१) वाक्छल और (२) सामान्य छल ।

तत्र वाक्छलं नाम यथा-कश्चिद्ब्रूयान्नवतन्त्रोऽहमिति । भिषग् ब्रूयाद्—नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति । परो ब्रूयात्—नाहं ब्रवीमि नवतन्त्राणि तवेति, अपितु नवाभ्यस्तं हि ते तन्त्रमिति । भिषग्ब्रूयात्—न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रमनेकथाऽऽभ्यस्तं मया तन्त्रमिति । एतद्वाक्छलम् ।

इनमें वाक् छल—जैसे कोई कहे कि यह वैद्य तो नवतन्त्रों वाला है। वैद्य कहे कि मैं नव (नी) तंत्रों वाला नहीं हूँ। दूसरा व्यक्ति कहे कि मैं यह नहीं कहता कि तुम नी तंत्रों वाले हो, अपितु तुमने तंत्रों का नया ही अभ्यास किया है। वैद्य कहे कि मैंने तंत्रों का नया अभ्यास नहीं किया अपितु अनेक वार किया है; यह वाक्-छल है ।

४८ न्यायदर्शन में

‘तत् विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च ।’ न्याय० १ । २ । ५२ ।

‘धर्मविकल्पनिदेशोऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥’ न्याय० १ । २ । ५५ ।

सामान्यच्छलं नाम यथा-न्याधिप्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्रूयात्-सत् सत्प्रशमनायेति । (किंनु) भवानाह, सत् हि रोगः, सदैषधं, यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति, तत्र सन हि कासः, सत् क्षयः, सत्सामान्यात्कासस्ते क्षयप्रशमनाय भविष्यतीति । एतस्सामान्य-च्छलम् ॥ ५६ ॥

सामान्यच्छल—जैसे—व्याधि को शान्त करने के लिये औषध है, ऐसा कहने पर दूसरा कहे कि सत् वस्तु से सत् का प्रशमन होता है । यह आप कहते हैं । रोग भी सत् है । और औषध भी सत् है । यदि सत् वस्तु से सत् वस्तु का प्रशमन होता तो तेरे मत में सत् कास से सत् क्षय का नाश होना चाहिये, क्योंकि सत् घर्म दोनों में समान है । कास भी सत् है क्षय भी सत् है । यह सामान्य छल है ॥ ५६ ॥

अथाहेतुः—अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसम इति ।

अहेतु—वास्तव में जो हेतु न हो । यह तीन प्रकार का है । जैसे—(१) प्रकरणसम, (२) संशयसम और (३) वर्ण्यसम ।

तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुर्यथा—अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे ब्रूयात्-यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः, शरोरं ह्यनित्यमतो विधमिणा चाऽऽत्मना भवितव्यमित्येष चाहेतुः, न हि य एव पक्षः स एव हेतुः ।

प्रकरणसम अहेतु—जैसे कोई कहे कि आत्मा शरीर से भिज है । इस पर दूसरा कहे कि आत्मा शरीर से अहग है, इसलिये नित्य है; शरीर अनित्य है । इसलिये आत्मा को विधमी होना ही चाहिये, यह अहेतु है । क्योंकि जो पक्ष (प्रातङ्गा वा साध्य) है वहाँ हेतु नहीं हो सकता ।

संशयसमो नामाहेतुर्य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुः । यथा—अयमायुवेदक्षेपशमाह, किन्वयं चिकित्सकः स्यान्नवेति संशये परो ब्रूयात्-यस्मादयमायुवेदक्षेपशमाह तस्माच्चिकित्सकोऽयमिति, न च संशयहेतुं विशेषयत्येष चाहेतुः, न हि य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदहेतुर्भवति ।

संशयसम अहेतु—जो हेतु संशय का कारण हो, वही हेतु संशय के नाश का भी कारण हो जाय । जैसे—किसाने आयुवेद का कुछ भाग कहा, इसमें संशय हुआ कि यह चिकित्सक है या नहीं । इस पर दूसरा व्यक्ति कहता है कि—चूंकि इसने आयुवेद का कुछ भाग कहा है, इसलिये वह चिकित्सक है ।

संशय के नाश करने वाले हेतु का स्पष्टीकरण नहीं करता, इसलिये यह अहेतु है। क्योंकि जो हेतु स्वयं संशय का कारण है, वही संशय के नाश का कारण नहीं हो सकता।

बर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो बर्ण्याविशिष्टः। यथा परो ब्रूयात्-अस्परशत्वाद्
बुद्धिरनित्या शब्दवदिति, अत्र बर्ण्यः शब्दो बुद्धिरपि बर्ण्या, तदुभय-
बर्ण्याविशिष्टत्वाद्बर्ण्यसमोऽप्यहेतुः ॥ ५७ ॥

बर्ण्यसम अहेतु—जो हेतु साध्य के समान असिद्ध होने से साध्य की
भाँति साधने योग्य होता है। जैसे किसी ने कहा कि बुद्धि अनित्य है, स्पर्श,
न होने के कारण, शब्द की भाँति। इसमें बुद्धि साध्य है, शब्द भी साध्य है।
इसलिये दोनों के असिद्ध होने से यह बर्ण्यसम अहेतु है ॥ ५७ ॥

अथातीतकालं—अतीतकालं नाम यत्पूर्व वाच्यं तत्पञ्चादुच्यते,
तत्कालातीतत्वादप्राहं भवतीति । पूर्वं वा निग्रहप्राप्तमनिग्रह्य पञ्चान्त-
रितं पञ्चान्निगृहीते तत्स्यातीतकालत्वान्निग्रहवचनमसमर्थं भवतीति ॥ ५८ ॥

अतीतकाल—जो बात पहिले कहनी चाहिये, उसको पीछे कहना ‘अतीत-
काल’ है। समय के व्यतीत होने के कारण वह बात अप्राणीय हो जाती है।
अथवा दूसरे प्रतिवादी के निग्रह स्थान में आने पर उस समय उसको न पकड़
कर दूसरे पक्ष में पहुंचने पर पीछे से निग्रह करना, यह भी अतीत काल होने
से निग्रह में असमर्थ होता है ॥ ५८ ॥

अथोपालम्भः—उपालम्भो नाम हेतोदीर्घवचनं; यथापूर्वमहेतुवो
हेत्वाभासान्व्याख्याताः ॥ ५९ ॥

उपालम्भ—हेतु में प्रकरणसम आदि दोष दिखाना ‘उपालम्भ’ है। जैसे
पहिले कहे अहेतु जो कि हेतु न होने पर भी हेतु की भाँति दी जाते हैं ॥ ५९ ॥

अथ परिहारः—परिहारो नाम तस्येव दोपवचनस्य परिहरणम् ।
यथा-नित्यमात्मनि शरीरस्थे जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते, तस्य चापगमा-
ओपलभ्यन्ते, तस्मादन्यः शरीरादात्मा नित्यश्वेति ॥ ६० ॥

परिहार—हेतु में कहे दोष का दूर करना ‘परिहार’ है। जैसे-शरीरस्य
आत्मा में प्राण अग्न आदि जीव के लक्षण नित्य उपलब्ध होते हैं और
आत्मा के शरीर से निकल जाने पर ये लक्षण उपलब्ध नहीं होते, इस लिये
आत्मा शरीर से भिन्न दूसरी बस्तु है और वह नित्य है ॥ ६० ॥

अथ प्रतिज्ञाहानिः—प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा पूर्वप्रतिगृहीता पर्यनुयुक्तः
परित्यजति । यथा-प्राक् प्रतिज्ञा कृत्वा ‘नित्यः पुष्टः’ इति । पर्यनुयुक्त-
स्त्वाह—अनित्य इति ॥ ६१ ॥

प्रतिज्ञाहानि—पहिले की हुई प्रतिज्ञा को छोड़ कर दूसरी प्रतिज्ञा को स्वीकार करना ‘प्रतिज्ञाहानि’ है। जैसे—प्रथम प्रतिज्ञा की—पुरुष नित्य है, अवृत्तक होने से, आकाशबद्। दूसरे प्रतिपक्षी ने कहा—पुरुष अनित्य है, इन्द्रिय-ग्रास होने से, घड़े के तुल्य। इसमें अपनी प्रतिज्ञा (नित्य पुरुष) को छोड़ कर दूसरी प्रतिज्ञा (अनित्य पुरुष है) को स्वीकार करना प्रतिज्ञाहानि है ॥ ६१ ॥

अथाभ्यनुज्ञा—अभ्यनुज्ञा नाम य इष्टानिष्ठाभ्युपगमः ॥ ६२ ॥

अभ्यनुज्ञा—इष्ट (परपक्ष में दोष) और अनिष्ट (स्वपक्ष में दोष) दोनों को स्वीकार करना ‘अभ्यनुज्ञा’ है। दूसरे से कहे हुए दोष को अपने पक्ष में मौन लेना और दूसरे के पक्ष में दोष दिखाना ‘अभ्यनुज्ञा’ वा ‘मतानुज्ञा’ है ॥ ६२ ॥

अथ हेत्वन्तरं—हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद्विकृतिहेतु-माह ॥ ६३ ॥

हेत्वन्तर—प्रासांगिक हेतु के स्थान पर विकृत हेतु अर्थात् अप्रासांगिक हेतु कहना ‘हेत्वन्तर’ है ॥ ६३ ॥

अथार्थान्तरं—अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्ये परं यदाह; यथा—ज्वरलक्षणे वाक्ये प्रमेहलक्षणमाह ॥ ६४ ॥

अर्थान्तर—एक वस्तु के प्रसंग में दूसरी वस्तु का कहना ‘अर्थान्तर’ है। यथा—ज्वर के लक्षणों में प्रमेह के लक्षण कहने लगना ॥ ६४ ॥

अथ निग्रहस्थानं—निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः; तच्च त्रिभिर्भितस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिपदि विज्ञानवत्याः; यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञाकालातीतवचनमहेतुवो न्यूनमतिरिक्तं व्यर्थमपार्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निग्रहस्थानम् ॥ ६५ ॥

निग्रहस्थान का दूसरा नाम पराजय-प्राप्ति है। यह विज्ञानवती परिषद् में तीन बार कहे हुए वाक्य को न जानना, या अननुयोज्य का अनुयोग, अथवा अनुयोज्य का अननुयोग है अर्थात् जहाँ प्रश्न न करना चाहिये वहाँ प्रश्न करना और जहाँ करना चाहिये वहाँ न पूछना भी निग्रहस्थान ही है। इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाहानि, अभ्यनुज्ञा, अतीतकालवचन, अहेतु, न्यून, अतिरिक्त, व्यर्थ, अनर्थक, पुनरुक्त, विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, ये सब बारें पराजय का कारण होती हैं ॥ ६५ ॥

इति वादमार्गपदानि यथोदेशमभिनिर्दिष्टानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

इष प्रकार से वाद के मार्गों को पूर्व कथनानुचार कह दिया है ॥ ६६ ॥

वादस्तु खलु भिषजां वर्तमानो वर्तेतायुर्वेद एव, नान्यत्र ॥ ६७ ॥

वैद्यजनों के वाद का विषय केवल आयुर्वेद ही है, अन्यत्र नहीं ॥ ६७ ॥

अत्र हि वाक्यप्रतिवाक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयश्च सर्वाधिकरणेषु । ताः सर्वाः सम्यग्वेद्यावेद्य सर्वं वाक्यं ब्रूयात्, नाप्रकृतकम्-शास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलमध्यापकं वा, सर्वं च हेतुमद् ब्रूयात्, हेतुमन्नो द्युकलुषाः सर्वं एव वाइविग्रहाः चिकित्सिते कारणभूताः; प्रशस्तवुद्दिवर्धकत्वात्, सर्वारम्भसिद्धिं ज्ञावद्यत्यनुपहृता बुद्धिः ॥ ६८ ॥

इस आयुर्वेद में वाक्य, प्रतिवाक्य, इटका विस्तार, समूर्ण उपरचियां ये सब बातें प्रकरणों में हैं । उन सबका भर्ता प्रकार देखकर समूर्ण वाक्य कहना चाहिये । अप्रकृतक (असम्बद्ध), वाचरहित, असर्वाक्षित, साधकरहित, बिना जाने कुछ नहीं कहना चाहिये : जो कुछ कहना हो वह सब कारण वा हेतु, युक्तिपूर्वक कहना चाहिये, क्योंकि हेतुपूर्वक कहे हुए समूर्णवाद-विग्रह त्वर्च्छ होते हैं, तथा चिकित्सा में कारणभूत है, क्योंकि वे निर्मलबुद्धि सब प्रकार की सफलता को उत्पन्न करती है ॥ ६८ ॥

इमानि खलु तावद्दिव कानिर्चित्प्रकरणानि त्रूमो भिषजां ज्ञानार्थम् ।
ज्ञानपूर्वकं कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ ६९ ॥

ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्ययोनि-कार्य-कार्यकलानुबन्ध-देश-कालप्रवृत्त्युपायान्सम्यग्भिनिर्वत्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टकलानुबन्धं कार्य-मभिनिर्वत्तयःयन्तिमहता प्रयत्नेन कर्ता ॥ ७० ॥

निम्न कुछ प्रकरणों को वैद्यों के ज्ञन के लिये कहते हैं क्योंकि विद्वान् लोग ज्ञानपूर्वक कर्मों का अरम्भ करने को प्रशंसा करते हैं । कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यकल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति और उत्तराय, इनको भली प्रकार जान कर ही कर्म करता हुआ कर्ता स्वल्प प्रयत्न से ही कार्यसमाप्ति पर फल देने वाले कार्य का सम्मादन करता है ॥ ७० ॥

तत्र कारणं नाम तत्, यत्करोति, स एव हेतुः, स कर्ता ॥ ७१ ॥

कारण—जो करता है वही 'कारण' है, इसी को हेतु या 'कर्ता' कहते हैं ॥ ७१ ॥

करणं पुनस्तद्, यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयत्नमानस्य ॥ ७२ ॥

करण—प्रयत्न करने वाले कर्ता के कार्य को पूर्ण करने के लिये जिस साधन की अपेक्षा होती है, उस साधन को 'करण' कहते हैं ॥ ७२ ॥

कार्ययोनिस्तु सा, या विकियमाणा कार्यत्वमेवाऽप्यथरे ॥ ७३ ॥

कार्ययोनि—जो विकृत होकर कार्य रूप से प्रकट होती है ॥ ७३ ॥
 कार्यं तु तद्, यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसंधाय प्रवर्तते कर्ता ॥ ७४ ॥
 कार्य—जिसकी सफलता को सामने रखकर कर्ता प्रवृत्त होता है ॥७४॥
 कार्यफलं पुनस्तद्, यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते ॥ ७५ ॥
 कार्यफल—जिस मतलब से कार्य किया जाता है ॥७५॥
 अनुबन्धरस्तु खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यदुक्तरकालं
 कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो वा भावः ॥ ७६ ॥

अनुबन्ध—कार्य करने के पीछे जो शुभ या अशुभ (कार्यजन्य) कर्म के कारण कर्ता को कर्म से बांधता है, उसका नाम 'अनुबन्ध' है ॥७६॥

देशस्त्विष्टानम् ॥ ७७ ॥

देश—अधिष्ठान, आश्रयस्थान है ॥७७॥

कालः पुनः परिणामः ॥ ७८ ॥

काल का अर्थ परिणाम है ॥७८॥

प्रवृत्तिरस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सेव क्रिया कर्म यत्नः कार्य-
 समारम्भश्च ॥ ७९ ॥

प्रवृत्ति—प्रवृत्ति का अर्थ कार्य के लिये चेष्टा, इसीका नाम क्रिया, कर्म,
 यत्न और कार्य-समारम्भ (प्रारम्भ) है ॥ ७९ ॥

उपायः पुनस्याणा कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्
 कार्यकार्यफलानुबन्धोपायवर्ज्यानां कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्त्वपायः,
 कृते नोपयार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्मे, कृताषोक्तरकालं फलं फला-
 चानुबन्ध इति ॥ ८० ॥

उपाय—कार्य, कार्यफल और अनुबन्ध को छोड़कर कारण, करण, कार्य-
 योनि इन तीन का उत्तम होना, भली प्रकार करना, यह 'उपाय' है । कार्यों
 को पूर्ण करने वाला 'उपाय' कहाता है । कार्य हो चुकने पर उपाय का बोई
 प्रयोजन नहीं है । कार्य के समय भी उपाय नहीं रहता । उपाय करने के पीछे
 फल, और फल से अनुबन्ध (शुभ, अशुभ) होता है ॥८०॥

एतद्विष्विधमग्रे परीक्षयं, ततोऽनन्तरं कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा; तस्मा-
 द्विष्वक् कार्यं चक्कीर्षुः प्राकार्यसमारम्भात्परीक्षया केवलं परीक्षयं परी-
 क्षयाथ कर्म समारभेत कर्तुम् ॥ ८१ ॥

परीक्षा—इन दस प्रकार से प्रथम परीक्षा कर लेनी चाहिये । इसके पीछे
 कार्य के लिये प्रवृत्ति या चेष्टा करनी चाहिये । इसलिये कार्य करने की इच्छा

बाले वैद्य को चाहिये कि कार्य करने से पूर्ण सम्पूर्ण परीक्षा से परीक्षणीय बस्तु की परीक्षा करके काम करना आरम्भ करे ॥८१॥

तत्र चेद्विषग् अभिषग्वा भिषजं कश्चिदेवं पृच्छेत्—वमन-विरेचना-स्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन भिषजा कतिविधया परीक्षया कतिविधमेव परीक्षयं, कश्चात्र परीक्षयविशेषः, कथं च परीक्षितव्यः, किं प्रयोजना च परीक्षा, क च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे च किं नैष्ठिकं, कानि च वमनादीनां भेषजद्रव्याण्युपयोगं गच्छन्तीति ॥ ८२ ॥

यदि कभी भिषग् अथवा साधारण मनुष्य, जो वैद्य नहीं, वैद्य से पूछे कि वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन देने की इच्छा वाले वैद्य की कितनी प्रकार की परीक्षायें, कितने प्रकार का परीक्षय और परीक्षा में विशेषता क्या है, उसकी किस प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये, परीक्षा का क्या प्रयोजन है ? वमन आदि का कहाँ प्रयोग करना और कहाँ नहीं करना चाहिये ! प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के लक्षण मिलें तो क्या करना ? वमन आदि कार्योंमें कौन से औषध द्रव्य काम में आते हैं, इत्यादि प्रश्न करे तब निम्न प्रकार से उत्तर देना चाहिये ॥ ८२ ॥

स एवं पृष्ठो यदि मोहयितुमिच्छेत्, ब्रूयादेनं—बहुविधा हि परीक्षा तथा परीक्षयविधिभेदः, कतमेन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षया केन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्षयस्य भिन्नस्य भेदाद्रां भवानपुच्छत्याख्यायमानं, नेदानीं भवतोऽन्येन विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीक्षयाऽन्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्षयस्य भिन्नस्याभिलिप्तिमर्थं श्रोतुमहमन्येन परीक्षाविधिभेदप्रकृत्यन्तरेणान्येन वा विधिभेदप्रकृत्यन्तरेण परीक्षयं भिन्नवाऽन्यथाऽन्यथाऽचक्षाण इच्छां प्रपूर्येयमिति ॥ ८३ ॥

यदि वैद्य पूछने वाले को परेशान करना चाहे तो—परीक्षा और परीक्षाविधि इनके अनेक भेद होते हैं। आप कौन सी विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षय से अथवा कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षय के भेद को पूछना चाहते हैं। वही कहा जाय ! आप से बिना यह जाने कि आप कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षा वा कौन से विधि-भेद-प्रकृति से भिन्न परीक्षय को जानना चाहते हैं, मैं और मेंदों को कहकर आपकी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता ॥८३॥

स यदुत्तरं ब्रूयात्तपरीक्षयोचरं वाक्यं स्याद्यथोक्तं प्रतिवचनविधि-
मवेक्ष्य; सम्यग्यदि तु ब्रूयात्, न चैनं मोहयितुमिच्छेद्, प्राप्तं तु वच-
नकालं मन्येत काममस्मै ब्रूयादाप्तमेव निखिलेन ॥ ८४ ॥

इस पर जो उत्तर वह दे, उत्तरकी परीक्षा करके, प्रतिवचन विधि के अनु-
सार उचित उत्तर दे। यदि वह भली प्रकार से कहे और इसको चक्र में
दाढ़कर चाहे तो इसके लिये सब कुछ विश्वस्त रूप से कह दे ॥ ८४ ॥

द्विविधा खलु परीक्षा ज्ञानवत्ता प्रत्यक्षमनुमानं च, एतद्वि द्रव्य-
मुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा
सहोपदेशेन ॥ ८५ ॥

बुद्धिमानों के लिये परीक्षा दो प्रकार की है। प्रत्यक्ष और अनुमान (ये
दोनों पहले कहे गये हैं) और तीसरी उपदेश भी परीक्षा है, इस प्रकार से यह
दो प्रकार की परीक्षा उपदेश (आसोपदेश) के साथ तीन प्रकार की हो
जाती है ॥ ८५ ॥

दशविधं तु परीक्षयं कारणानि यदुत्तमम् । तदिह भिषगादिषु
संसार्य संदर्शयिष्यामः—इह कार्यप्राप्तेः कारणं भिषक्, करणं पुनर्भै-
षजम्, कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, कार्यं धातुसाम्यं, कार्यफलं सुखावासिः;
अनुबन्धस्तु खल्वायुः, देशो भूमिरातुरश्च । कालः पुनः संवत्सरश्चाऽनु-
रावस्था च । प्रवृत्तिः प्रतिकर्मसमारभः । उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठु-
वमभिविधानं च सम्यक् । इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूर्वोणैवोपायविशेष-
णेण व्याख्यात इति कारणादीनि दश दशसु भिषगादिषु संसार्य संद-
शितानि, तथैवाऽनुपूर्वा एतद्विधं परीक्ष्यमुक्तम् ॥ ८६ ॥

पहिले यह कहा है कि परीक्ष्य (कारण आदि) वस्तु दस प्रकार
की हैं। इसी को भिषग् आदि में घटाकर दिखाते हैं यहाँ कार्यप्राप्ति में कारण
भिषक् है, औषध करण है। धातुओं की विषमता कार्ययोनि है। धातुओं को
समान करना कार्य है। सुख का मिलना कार्यफल है। आयु अनुबन्ध है।
भूमि और रोगी देश हैं। संवत्सर और रोगी की अवस्था काल है। प्रत्येक कर्म
का आरम्भ करना प्रवृत्ति है। भिषग् औषध, परिचारक और रोगी इनका भली
प्रकार से मेल उपाय है। यहाँ पर भी इस उपाय के सम्बन्ध में सब बातें
पूर्वोक्त उपायविशेष के साथ कह दी हैं। धातुसाम्य रूपी कार्य के करने पर
आरोग्यता निश्चित है। इस प्रकार से कारण आदि दसों को भिषग् आदि में
घटाकर दिखा दिया है, इसी प्रकार क्रम से यह दश प्रकार का 'परीक्ष्य' कह
दिया है ॥ ८६ ॥

तस्य यो यो विशेषो यथा यथा च परीक्षितव्य; स तथा तथा व्याख्यास्यते ॥ ८७ ॥

इस दश प्रकार की परीक्षा में जो जो विशेषता है और जिस प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये उसकी उसी २ प्रकार से व्याख्या करते हैं ॥ ८७ ॥

कारणं भिषगित्युक्तमप्रे, तस्य परीक्षा—भिषड् नाम स यो भेषति, यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलः, यस्य चायुः सर्वथा विदितम् यथाव॑ त्सर्वधातुसाम्यं चिकिर्षनात्मानमेवाऽदितः परीक्षेत गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्—कच्छिद्दहमस्य कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेति । तत्रमें भिषगगुणा यैषपक्षो निपत्वाऽनाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति । तद्यथा—पश्यवदातश्रुतता रसिद्धकर्मता दाक्षयं शोचं जितहस्तता उपकरणवत्ता सर्वेन्द्रियोपपन्नता प्रकृतिज्ञता प्रतिपत्तिज्ञता चेति ॥ ८८ ॥

पहिले कहा है कि भिषक् की परीक्षा यह है । जो रोगी (रोग) को दूर करता, शमन करता है, वह भिषक् है । जो आयुर्वेदीय सूत्रायों में, प्रयोग में और कर्म में कुशल है, जिसे रोगी की आयु हित-अहित, मुख-अमुख, प्रमाण-अप्रमाण और स्वल्प से भयी प्रकार विदित है, शास्त्रज्ञ, कर्म को जानने वाला वैद्य सब धातुओं की समानता करने की इच्छा से सबसे प्रथम अपनी परीक्षा करे । जैसे गुण के योग से कार्य में सफलता को देखता हुआ वैद्य गुणियों अर्थात् भिषग-द्रव्य, रेखा और परिचारकों में अपनी परीक्षा करे, क्या मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ वा नहीं । भिषक् के निम्नलिखित गुण हैं जिन गुणों से युक्त होने पर वैद्य धातुसाम्य रूपी कार्य करने में समर्थ होता है । यथा—विमल शास्त्र-ज्ञान, सब प्रकार के कर्म का साक्षात् अनुभव, दक्षता, शब्दोपचार आदि में दस्तलाभव, उपकरणों का होना, सब इन्द्रियों से युक्त होना, रोगी की प्रकृति का ज्ञान और प्रतिपत्ति अर्थात् जिस रोगी की जैसी चिकित्सा करनी चाहिये उसका ज्ञान ॥ ८९ ॥

करणं पुनर्भेषजं; भेषजं नाम तद्युपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तरेभ्यः । तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्;—देवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति । तत्र देवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणि-मङ्गलबल्युपहार-होम-नियम-प्रायश्चित्तोपवास-स्वस्ययन-प्रणिपात-गमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं-संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः । एतच्चैव भेषजमङ्गलभेदादपि द्विविधं द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं च । तत्र यद् द्रव्यभूतं तदुपायाभिष्ठुतम् । उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारण-क्षेमण-हृषण-भर्तर्सन-वच - बन्ध-स्वप्र - संबाहनादिरमूर्तो भावविशेषो

यथोक्ताः सिद्धधपायाश्चोपायाभिष्ठता इति । यत् द्रव्यभूर्त तद्वमनादिषु योगमुपैति; तस्यापीयं परीक्षा,-इदमेवं प्रश्नत्या एवं गुणमेवं प्रभावमस्मिन्देशे जातमस्मिन्नात्मावेवं गृहीतमेवं निहितमेवमुपस्थृतमनया मात्रया युक्तमस्मिन् रोगे एवं विधस्य पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षयत्युपशमयति वा यदन्यदपि चैवं विधं भेषजं भवेत्तच्छालेन विशेषेण युक्तमिति ॥ ८८ ॥

भेषज (औषध) करण है । धातुताम्यरूप कार्य के करने में प्रयत्न करते हुए वैद्य को जो बहुत साधन होती हैं उसका नाम 'भेषज' है । यह भेषज (औषध) आश्रय भेद से दो प्रकार की है । (१) दैव-व्यपाभय और (२) युक्तिव्यपाभय । इनमें दैवव्यपाभय मंत्र, औषधि, मणि, मंगड़, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, दान, स्वस्त्ययन, प्रणिपात (विनय), गमन आदि कार्य दैव का आश्रय करके धातुओं को समान करते हैं । युक्तिव्यपाभय—संशोधन, उपशमन और दृष्टफल वाली चेष्टार्थं (धावन, स्वप्न, जागरण आदि) । यही भेषज अंग भेद से दो प्रकार का है । (१) अद्रव्य और (२) द्रव्य । इनमें जो अद्रव्य औषध है वह उपाय से व्याप्त है । भय दिखाना, विस्मय उत्पन्न करना, क्षिङ्कना, बांधना, नीद लाना, अंगमर्दन आदि (दौड़ना, तैरना आदि) अमूर्त पदार्थों और चिकित्सा में सफलता देने वाले भिषण आदि गुणों का होना ये उपाय हैं और जो औषध द्रव्य रूप हैं वह बमन आदि शोधन-शमन कार्यों में काम आते हैं । द्रव्य रूप (मूर्ति) औषधि की ऐसी परीक्षा करनी उचित है कि इस औषधि की यह प्रकृति है, यह गुण है, ऐसा प्रभाव है, इस देश में उत्पन्न हुई है, इस श्वसु में संप्रह की गई है, इस प्रकार से रक्ती गई है, इस प्रकार के पुरुष को देने से इतने दोष को बाहर करती है अथवा शमन करती है । अन्य भी जो औषध इन या अन्य गुणों से युक्त थी, उसने भी दोषों का निष्कासन अथवा शमन किया या, इस-लिये यह भी करेगी, इस प्रकार अन्यत्र प्रत्यक्ष करके यहां पर अनुमान से निष्पत्ति करना चाहिये ॥ ८९ ॥

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, तस्य लक्षणं विकारागमः, परीक्षा त्वस्य विकारप्रवृत्तेश्चैवोनातिरिक्तलिङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्य-मृदु-दारुण-लिङ्गविशेषावेक्षणमिति ॥ ९० ॥

कार्ययोनि—धातुओं की विषमता 'कार्ययोनि' है । विकार का होना यह उसका लक्षण है । इस विकार की प्रकृति के बातादि दोषों के कम अधिक, विशेष लक्षणों को देखना । इसी प्रकार से विकार का साध्य, असाध्य, मृदु, दारुण आदि विशेष लक्षणों से परीक्षा करनी चाहिये ॥ ९० ॥

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः, परोक्षा त्वस्य रुग्प-
शमनं स्वरवर्णयोगः शरीरोपचयः बलवृद्धिरध्यवहार्याभिलाषा रुचिरा-
हारकालेऽध्यवहृतस्य चाऽहारस्य काले सम्प्रगजरणं निद्रालाभो यथा-
कालं वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं सुखेन च प्रतिबोधनं वातमूत्र
पुरीषरेतसा मुक्तिश्च सर्वोकारमनोनुद्वीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति ॥६१॥

कार्य—धातुओं का समान करना कार्य है। विकार का शान्त होना यह
इसका लक्षण है। इसकी परीक्षा दर्द का शान्त होना है। स्वर और वर्ण का
प्राकृत रूप में आजाना। शरीर की वृद्धि, बलवृद्धि, भोजन में इच्छा, आहार
के समय उचित होना, खाये हुए भोजन का आहारकाल में भली प्रकार जीर्ण
होना, ठीक समय पर नीद आना, विकार (रोग) जन्य स्वप्नों का न दीवाना,
सुखपूर्वक जागना, प्रातः उठना, वायु, मूत्र, मन और शुक्र का ठीक समय
पर त्याग होना, सब प्रकार से मन, बुद्धि और इन्द्रियों में सुख होना ॥ ६१ ॥

कार्यफलं सुख्यावासिः । तस्य लक्षणं मनोनुद्वीन्द्रियशरारतुष्टिः ॥६२॥

कार्यफल—सुख का प्राप्त होता। इसका लक्षण—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और
शरीर का प्रधन होना है ॥ ६२ ॥

अनुवन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं प्राणैः सहः संयोगः ॥ ६३ ॥

अनुवन्ध—आयु है, इसका लक्षण—प्राणों के साथ शरीर का सम्बन्ध बना
रहना है ॥ ६३ ॥

देशस्तु भूमिपरीक्षा—आतुरपरिज्ञानहेतोर्वा
स्यादौपधपरिज्ञानहेतावां । तत्र तावाद्यमातुरपरिज्ञानहेतोः । तद्यथा
कस्मिन्ब्रयं भूमिदेशो जातः संवृद्धो व्याधितो वेति । तस्मिंश्च भूमिदेशो
मनुष्याणाभिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतद्वलमेवंविधं सत्त्वमेवं-
विधं सात्म्यमेवंविधा दाषो भक्तिरियमिमे व्याधया हितामदमहि-
तमिदमित (प्रायोभद्रणे) । औषधपरिज्ञानहेतास्तु कल्पेषु भूमि-
परीक्षा वक्ष्यत ॥ ६४ ॥

देश—देश भूमि और रोगी हैं। इनमें भूमि-परीक्षा के ज्ञान का प्रयोजन
रोगी के देश के कारण सात्म्य को समझने के लिये और औषधि के ज्ञान के
लिये है। इनमें रोगी का समझने के लिये—जैसे—किस भूमि-लण्ड पर यह रोगी
उत्पन्न हुआ है ? चढ़ा है ? रोगी हुआ है ? उस भूमि पर मनुष्यों का इस
प्रकार का अहार है, इस प्रकार का विहार है, इस प्रकार का आचार है, इस
प्रकार का बल, इस प्रकार का सत्त्व, इस प्रकार का सात्म्य, इस प्रकार के दोष,
इस प्रकार की रुचि, इस प्रकार के रोग, यह हितकर, यह अहितकर है, यह

भूमि परीक्षा कह दी । औषधि परिज्ञान के लिये भूमिपरीक्षा कल्पस्थान (मदन-फल-कल्प) में कहेगे ॥१४॥

आतुरस्तु खलु कार्यदेशः, तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्यादूल्लोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा; तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः—दोषप्रमाणानुरूपे हि भेषजप्रमाणविकल्पे बलप्रमाणविशेषापेत्तो भवति । सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमस्मिधात्-येत्, न ह्यतिबलान्याग्नेय-सौम्य-वायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशङ्कमीणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोद्गम् । अविषद्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्विद्यः प्राण-हराणि स्युः । एतच्चैव कारणमपेक्षमाणा हीनबलमातुरमस्मिधात्करे-मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः, विशेषतत्त्वं नारीः । ता ह्यनवस्थितमृदुविवृत्तविकलबहृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽबलाः परसंस्तुत्याश्च । तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति ॥ १५ ॥

कार्यदेश— धातुसाम्य कार्य का देश अर्थात् आधार रोगी है । इस तो परीक्षा आयु के प्रमाण ज्ञान के लिये है । अथवा रोगी के बल और दोष को जानने के लिये रोगी रूपी देश की परीक्षा होती है ।

रोगी की बल-प्रमाण और दोष-प्रमाण की परीक्षा का प्रयोजन—औषधि का प्रमाण दोष और बल रोग और रोगी दोनों को देख कर निश्चित किया जाता है । क्योंकि यदि बहुत बलवती औषध योड़े बल वाले रोगी को विना परीक्षा किये दे दी जाय तो यह औषध रोगी को मार देगी । क्योंकि अल्प बल वाले व्यक्ति, अति बल वाली, आग्नेय, वायवीय गुण से युक्त औषधियों को और अग्नि, श्वार और शङ्क के कर्मों को सहन नहीं कर सकते । इनका वेग अस्थय और अतितीक्ष्ण होने से ये वस्तुएं श्वीघ्र प्राणनाशक हो जाती हैं । इन कारणों को देख कर ही हीनबल वाले रोगी की, खास कर खी की चिकित्सा शरीर और मन में ग्लानि उत्पन्न न करने वाली, मृदु-कोमल औषधियों से तथा धीरे, धीरे, उत्तरोत्तर वीर्य और परिमाण में गुरु होते हुए भी व्यापत्ति (विकार) न करने वाली, सम्यक् प्रकार से दी हुई औषधियों से करते हैं । ये खियां अस्थिर, छोटे दिल की तथा भीर दृदय वाली, प्रायः सुकुमार, अबला होती हैं और योड़ी सी भी वेदना को सहन नहीं कर सकतीं और स्वयं अपने को कष्ट में नहीं संभाल सकतीं, उनको दूसरे ही को संभालना पड़ता है ।

† देखिये सुअत्, सूत्रस्थान में श्वार और अग्निकर्म ।

इसी प्रकार बलवान् रोगों में अथवा बलवान् रोग से आक्रान्त होने पर स्वल्प बल वाली औषधि विना परीक्षा के दी हुई, रोग को शमन करने में समर्थ नहीं होती ॥६५॥

तस्मादातुरं परीक्षेत्-प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च
प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च सत्स्वतश्चाऽहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च
वयस्तद्वेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ॥ ६६ ॥

इसीलिये रोगी की परीक्षा (निम्न साधनों से) करनी चाहिये । यथा—

प्रकृति से, विकृति से, बार से, संहनन अर्थात् शरीर की बनावट से,
प्रमाण से, सात्म्य से, सत्त्व से, आहार शक्ति से, व्यायाम-शक्ति से, और
वय से रोगी के बल, प्रमाण विशेष को जानने के लिये इन गुणों से परीक्षा
करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

तत्रामी प्रकृत्याद्यो भावाः । तद्यथा—शुक्र-शोणित-प्रकृतिं काल-ग-
र्भाशय-प्रकृतिमातुराहारविहार-प्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भश-
ग्रीरमपेक्षते । एता हि येन येन दोषेणाधिकतमेनैकज्ञानेकेन वा समनु-
वध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भाऽनुवध्यते । ततः सा सा दोषप्रकृतिरु-
च्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता । तस्माद्वातलाः प्रकृत्या केचित्,
पित्तलाः केचित्, श्लेष्मलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधारवः
प्रकृत्या केचिद्ग्रन्थिन्ति ॥ ६७ ॥

इनमें प्रथम प्रकृति आदि का वर्णन करते हैं । गर्भ का शरीर जैसे शुक्रएवं
शोणित की प्रकृति की, काल (समय) की, गर्भाशय की प्रकृति की, माता के
आहार-विहार की, शुक्र, शोणित में मिले पंच महाभूत, शरीरात्मक भूतों की
अपेक्षा करता है । ये शुक्र शोणित आदि प्रकृतियाँ जिस जिस वातादि
दोष से एक अथवा एक से अधिक दो या तीन से सम्बन्द होती हैं, उसी एक
या अधिक दोष से गर्भ भी सम्बन्धित हो जाता है । इससे मनुष्यों की गर्भ में
बनी प्रकृति को उसी दोष की प्रकृति कहते हैं । उस उस दोष के बलवान् होने
से वह वह प्रकृति होजाती है । इसीलिये कई श्लेष्मप्रकृति, कई पित्तप्रकृति और
कई वातप्रकृति और कई मिश्रितप्रकृति, कई समधारुप्रकृति के होते हैं । इनके
लक्षण कहते हैं ।

तेषां हि लक्षणानि व्याख्यास्यामः—श्लेष्मा हि स्तिंध-श्लक्षण-मूदु-
मधुर-सार-स्त्रान्द-मन्द-स्तिमित-गुरु-शीत-पिच्छिलाङ्ग्लः, तस्य स्तेहात्
श्लेष्मलाः स्तिंधाङ्गाः, श्लक्षणत्वाच्छ्लक्षणाङ्गाः, मूदुत्वाद् दृष्टिसुख-मुकुमा-
रावदातगाङ्गाः, माधुर्यात्मभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहत-

स्थिरशरीराः सानन्दत्रादुपचितपरिपूर्णसर्वगात्राः मन्दस्त्वान्मन्द-
चेष्टाहारविहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भाल्पक्षोभविकाराः, गुरुत्वा-
त्साराधिप्रितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पञ्चत्रूष्णासंतापस्वेददोषाः, पिच्छि-
लत्वात् सुशिष्टसारसन्धिवन्धनाः, तथाऽच्छत्वात्प्रसन्नदर्शनाननाः
प्रसन्नवर्णस्वराश्च । त एवंगुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो वि-
श्वावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति ॥ ६८ ॥

खेघ्या—कफ स्तिंश्व, इलक्षण, मृदु, मधुर, सार, सान्द, मन्द, स्तिमित
(घट), गुरु, शीत, पिच्छिल और निर्मल होता है । कफ के स्तेने गुण के
कारण खेघ्यप्रकृति के मनुष्य स्तिंश्व अंगों वाले इलक्षण होने से चिकने
अंग वाले, कोमल होने से आंखों को आनन्ददायक, सुकुमार, गौरवर्ण
होते हैं । मधुरता होने से अधिक शुक्र, मैथुनशक्ति और संतान वाले
होते हैं । सार के कारण इनका शरीर संहत, दद, स्थिर होता है ।
सान्द्रता के कारण से पुष्ट, सम्पूर्ण अंगों वाले; मन्द होने से चेष्टा, आहार
और विहार में धौमें; स्तैमित्य (आळस्य) होने से देर में वाणी, मन शरीर
के कार्य करने वाले एवं खोम तथा मानस विकार वाले, गुरु होने
के कारण हाथी के समान मन्द-मस्त चाल वाले, शीतता के कारण थोड़ी,
भूख, प्यास, संताप तथा पसीने के दोष वाले; पिच्छिल होने से इनके मासादि
तथा सन्धिवन्धन अच्छी प्रकार से संयुक्त होते हैं । निर्मल होने से प्रसन्नमुख,
प्रसन्न और स्तिंश्व वर्ण तथा स्वर वाले होते हैं । इन गुणों के कारण कफप्रकृति
के मनुष्य बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त और दीर्घायु
होते हैं ॥ ६८ ॥

पिच्छमुष्ठं तीक्ष्णं द्रवं विस्त्रमस्तं कटुकं च तस्यौष्ण्यास्तित्तला
भवन्ति उष्णासहाः, उष्णमुखाः, सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूत-
पिठुयङ्गविलक्पिडकाः, जुन्पिण्यासावन्तः, क्षिप्रवलीपलित्तलाङ्गि-
त्यदोषाः, प्रायो मृदूल्पकपिलशमश्रुलोमकेशाः, तैक्षण्यातीक्षणपरा-
क्माः, तीक्षणामयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दगृकाः;
द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिवन्धमांसाः, प्रभूतस्त्रस्वेदमूत्रपुरीषाश्च;

विस्त्रत्वात्प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः, कटवम्लत्त्वादल्पशुक-
व्यवायापत्याः; त एवंगुणयोगास्तित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञान-
विज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ ६९ ॥

पित्त—उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्त (सड़ी गन्ध वाला), अम्ल-कटु रत

झेदेखिये सुभ्रूत शारीरस्थान ४८ अध्याय में इनके लक्षण

होता है। पित के उण्ड होने से पित-प्रकृति के मनुष्य उजिमा को न सहने वाले, शुष्क, कठोर, पीले शरीर वाले, बहुत पिसू (फुन्टियो), व्यंग (मुख व्यंग) और तिळपिण्डिका वाले, अधिक भूख और प्यास वाले होते हैं, इनके बाल शीघ्र ही पक जाते, गिर जाते हैं, तथा मुंह पर झुरियां आजाती हैं। ये प्रायः कोमल, योद्धी एवं धूसूर वर्ण दाढ़ी-मूँछ वाले, अल्प छोम तथा अल्पकेश वाले होते हैं। तोक्षण गुण के कारण—तीक्ष्ण पराक्रम वाले, तीक्ष्ण अग्नि वाले, बहुत खाने पीने वाले, क्लेश को न सहन करने वाले, दन्दशूर अर्धात् बार-बार खाने वाले होते हैं। द्रव होने से—गियिल एवं मृदु सन्धिवन्ध तथा मोउ वाले होते हैं। इनको स्वेद-मूत्र और मल बहुत अधिक मात्रा में आता है। पित के अति दुर्गन्धयुक्त होने से इनके बाल, मुख, शिर और शरीर से बहुत दुर्गन्ध आती है। कटु अल्प होने से योड़े गुक, मैथुन और न्यून संतान वाले होते हैं। इन गुणों के कारण पित प्रकृति का मनुष्य मध्यम बल, मध्यम आयु, मध्यम शान विज्ञान, मध्यम विचार और मध्यम उपकरणों वाले होते हैं ॥६६॥

वातस्तु रुक्ष-लघु-चल-बहुशीघ्र-शीत-परुष-विशदः। तस्य रौक्ष्याद्वातला
रुक्षापचित्वाल्पशरीराः, प्रतत-रुक्ष-क्षाम-भिन्न-मन्द-सक्त-जर्जर-स्वराः,
जागरूकाश्च भवन्ति । लघुत्वाच लघु-चपल-गति-चेष्टाहार-न्यवहाराः
चलत्वादनवस्थित-सन्धयस्थि-भ्रू-हन्वोष्ठ-जिह्वा-शिरः-स्कन्ध-पाणि-पादाः
बहुत्वाद् बहुप्रलाप-कण्ठारा-सिरा-विवानाः । शीघ्रत्वाच्छोघ्रसमारम्भ-
क्षोभिकाराः, शीघ्रोऽत्रासरागविरागाः, श्रुतप्राद्विणोऽल्पस्मृतयश्च ।
श्लैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्घोकस्तम्भाः । पारुष्यात्परुष-केश-
इमश्रु-रोम-नख-दशन-बदन-पाणि-पादाङ्गाः । वैश्यात्स्फुटिताङ्गावयवाः,
सततसंविशब्दगमिनश्च भवन्ति । त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्प-
बलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधन्याश्च भवन्ति ॥ १०० ॥

वायु—रुक्ष, लघु, चल, प्रमाणादि मेद से अनेक प्रकार की, शीघ्रशारी, शीत, परुष, विशद (अपच्छिल) होती है। वायु के रुक्ष होने से वात प्रकृति के मनुष्य भी रुक्ष, कृष, एवं छोटे शरीर वाले, निरन्तर रुक्ष, क्षीण, फटे बांध के समान जर्जर, असंहत स्वर वाले, जागरणशील (योड़ी नींद वाले) होते हैं। लघु होने से—शीघ्रकारी, अस्थिर गति, चेष्टा, आहार, व्यवहार वाले होते हैं। वात के चल होने से उनके भी सन्धि खाँख, भौं, हतु, जबाड़ा, ओठ, जीम, कंधा, हाथ-पौँव अस्थिर होते हैं। बहुत प्रश्चार का होने से, बहुत बोडने वाले, बहुत सिराओं के जाल वाले; शीघ्रगामा होने से सर कामों में जल्दी करने वाले,

ज्ञाम और मन के विकार वाले, जल्दी ही डरने वाले, स्नेह और द्रेष करने वाले, सुनते ही ग्रहण करने वाले, परन्तु स्मृति (याददास्त) के कष्टे होते हैं । शीतल होने से शीत को न सहन करने वाले, निरन्तर शीत, कम्प और उद्गेग तथा स्तम्भवृत्ति (जड़) बने रहते हैं । कठोरता से—कठिन केश, इमशु, लोम, नख, दाँत, मुख, हाथ, पांव वाले होते हैं । बायु के विशद होने से उनके हाथ-पौँव पटते हैं, सन्धि बन्धनों में से निरन्तर शब्द निकला करता है, सन्धियों चलती रहती हैं, चैन से नहीं बैठते, कुछ न कुछ करते ही रहते हैं । इन गुणों के कारण वात प्रकृति के मनुष्य प्रायः अल्प बल, अल्प आयु, अल्पसंतान, अल्प साधन और अल्प धन वाले होते हैं ॥ १०० ॥

संसर्गात्संस्कृलक्षणाः । सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः । इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत ॥ १०१ ॥

दोषों के मिश्रित होने से लक्षण भी मिले जुले होते हैं । सब गुणों के मिलने से समधातुप्रवृत्ति के होते हैं । इस प्रकार प्रकृति से परीक्षा करनी चाहिये ॥ १०१ ॥

विकृतिश्चेति—विकृतिरहच्यते विकारः । तत्र विकारं हेतुन्दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल-विशेषैलिङ्गतश्च परीक्षेत, न हन्तरेण हेत्वा-दीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः । यस्य हि व्याधेदोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल-साध्यं भवति, महच्च हेतुलिङ्गबलं स व्याधिर्बल-बान भवति । तद्विपर्याच्चाल्पबलः, मध्यबलस्तु दोषादीनामन्यतम-सामान्यादेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते ॥ १०२ ॥

विकृति से परीक्षा करनी चाहिये । विकृति का अर्थ विकार है । धातुओं की विषमता का नाम 'विकार' है । इसकी हेतु, दूष्य, (रक्त आदि), दोष (वात आदि), प्रकृति (वात-प्रकृति आदि), देश, काल, समान हो तथा हेतु और पूर्वरूप के लक्षण भी बलवान् हों, उस रोग को बलवान् समझना चाहिये । इस लिये यह असाध्य है । इनसे विपरीत हो तो निर्वल समझना चाहिये । जिस रोग में दोष, दूष्य, प्रकृति, देश, काल, समान हो तथा हेतु और पूर्वरूप के लक्षण भी मध्यम बल हो तो उस रोग को मध्यम बल समझना चाहिये ॥ १०२ ॥

सारतश्चेति—साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुप-दिश्यन्ते । तथाथा—त्वग्रक्त-मास-मेदोस्थि-मज्ज-शुक्र-सत्रबानि ॥ १०३ ॥

सार द्वारा परीक्षा करनी चाहिये—बल परिमाण को विशेष रूप से जानने के लिये पुरुषों में आठ प्रकार के सारों का उपदेश किया है, जैसे—त्वग्, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मजा, शुक्र और सत्त्व ॥१०३॥

तत्र रिनध-शूक्षण-मृदु-प्रसन्न-सूक्ष्माल्प-गम्भीर-सुकुमार-लोमा सप्र-भेव च त्वक् त्वक्साराणाम् । सा सारता सुख-सौभाग्यैश्वर्योपभोग-बुद्धि-विद्यारोग्य-प्रहर्षणान्यायुश्चानित्वरमाचष्टे ॥ १०४ ॥

इनमें—त्वक् सार वाले पुरुष की त्वचा स्तिंघर्ष, निकनी, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर, कोमल लोमवाली और प्रभा (कान्ति) से युक्त होती है। इस प्रकार की सारता, सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य उपभेद, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रहर्ष और दीर्घ आयुष्य को बतलाती है ॥१०४॥

कर्णाक्षिणी-मुख-जिह्वा-नासाँष्ट-पाणि-पादतल-नख-ललाट-मेहनं स्तिंघर्ष-रक्तं श्रीमत्भ्राजिष्ठं रक्तसाराणाम् । सा सारता सुखमुद्यतांमेघां मनस्त्वि-त्वं सौकुमार्यमनित्वलमङ्गेशसहिष्णुत्वं मुष्णासहिष्णुत्वं चाऽऽचष्टे ॥१०५॥

रक्तसार वाले पुरुषों के कान, आंख, मुख, जिह्वा, नाक, ओष्ठ, हाथ, पांव के तल्खे, नख, मस्तक, छिंग स्तिंघर्ष और रक्त वर्ण के, शोभा और दीर्घिति से युक्त होते हैं। इस प्रकार की रक्त-सारता, वयक्ति के सुख, विशुल बुद्धि, मनस्त्विता, सुकुमारता, मध्यम बल, द्वेष न सहन करने का स्वभाव और गर्मी न सह सकने की प्रकृति को बतलाती है ॥१०५॥

शङ्ख-ललाट-कृकाटिकाक्षिण-गण्ड-हनु-ग्रीवा-स्कन्धोदर-कक्ष-वक्षः-पाणि-पादसंधयः गुरुस्थिरमासोपचित्वा मांससाराणाम् । सा सारता क्षमां धृतिं-मलौलं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥१०६॥

मांस-सार वाले पुरुषों में शंख (कनपटी), मस्तक, कृकाटिका (घाटा, गलघेंटी), आंख, गण्डस्थल, ठोड़ी, ग्रीवा, स्कन्ध, पेट, काँख, छाता, पांव, हाथ तथा सन्धियां-स्थिर, गुरु और मांस से भरी होती हैं। यह मांस-सारता श्वमा, धृति, निर्लोभता, वित्त, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और दीर्घ-आयु को बतलाती है ॥१०६॥

वर्ण-स्वर-नेत्र-केश-लोम-नख-दन्तौष्ट-मूत्र-पुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम् । सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारो-पचारता चाऽऽचष्टे ॥ १०७ ॥

मेदःसार वाले पुरुषों में—वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दांत, ओठ, मूत्र, पुरीष और विशेष कर स्नेह (चिकनाई) होता है। यह सारता वित्त, ऐश्वर्य सुखकर उपभोग सरलता और सुकुमारता को बतलाती है ॥१०७॥

पार्णि-गुल्फ-जान्वरलिं-जत्रु-चिबुक-शिरः-पर्व-स्थूलाः स्थूलास्थिन्ल-
दन्ताश्चास्थिसाराः । ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सार-स्थिर-
शरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च ॥ १६८ ॥

अस्थिसार वाले पुरुषों में एडी, टखना, धूटना, कलाई, हंसली, चिबुक (ठोड़ी), घिर, पोर (पर्व) मोटे होते हैं; नख, दांत और अस्थियां मोटी होती हैं । अस्थिसार वाले मनुष्य वडे उत्साह वाले, क्रियावान्, ढोय सहने वाले, सार के कारण स्थिर शरीर वाले और आयुष्मान् होते हैं ॥ १६८ ॥

तनवङ्गा बलवन्तः स्तिंगधर्वणस्वराः स्थूल-दीर्घ-वृत्त-संघयश्च मज्ज-
साराः । ते दीर्घायुषों बलवन्तः श्रुत-वित्त-विज्ञानापत्य-संमान-भाजश्च
भवन्ति ॥ १६९ ॥

मज्जासारवाले पुरुष छोटे या मूदु अंगवाले बढ़वान्, टिनग्ध वर्ण और स्वर
वाले, स्थूल, लम्बी, गोल सन्धिवाले होते हैं । ये पुरुष दीर्घायु, बलवान्, श्रुत-
वान्, विज्ञानवान्, वित्तवान्, अपत्यवान् और संमानवान्, होते हैं ॥ १६९ ॥

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणश्च क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षवहुलाः स्तिंगध-
वृत्त-सार-समसंहत-शिखरिन्दशनाः प्रसन्नस्तिंगधर्वणस्वरा भ्राजिष्णवो
महास्फिचश्च शुक्रसाराः । ते खोप्रियाः प्रियोपभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्या-
रोग्य-वित्त-संमानापत्य-भाजश्च भवन्ति ॥ १७० ॥

शुक्रसार वाले पुरुष सौम्यमूर्ति, सौम्य दृष्टि, देखने से ही तुक्ष करने वाले,
दूध से पूर्ण आंख वाले, अत्यन्त कामोचेजना वाले, टिनग्ध वृत्त वाले, सार-
वान्, एक समान मिले अंगों और उच्च दांतों वाले, प्रसन्नस्तिंगध वर्ण स्वर
वाले; दीसिमान्, वडे नितम्ब प्रदेश वाले होते हैं । ये पुरुष जियों के प्रिय,
उपभोग को चाहने वाले, बलवान्, सुख, ऐश्वर्य, आरोग्यता, धन और संतान
वाले होते हैं ॥ १७० ॥

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतङ्गाः प्राङ्गाः शुचयो महोत्साहा दक्षा
धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः स्ववस्थित-गति-गम्भीर-बुद्धि-
चेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः । तेषां स्वलक्षणेरेव गुणा
न्यास्त्याताः ॥ १७१ ॥

सत्त्व (ओज) सार वाले पुरुष—स्मृतिमान्, भक्तिमान्, कृतश, प्राङ्ग,
शुचिस्त्वमाव, महोत्साही, दक्ष, धीर, छाई में पराक्रम पूर्वक छाने वाले,
ओकराहिं, सुख्यवस्थित गति वाले, गम्भीर बुद्धि एवं चेष्टाधीन, शुम कायों में
स्थान छाने वाले होते हैं । इनके क्षणों से ही इनके गुण कह दिये हैं ॥ १७१ ॥

तत्र सर्वेः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबलाः परमगौरवयुक्ताक्षे-
शस्त्रहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिर-
समाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनाद-स्त्रिगृह-गम्भीर-महास्वराः
सुखैश्वर्यविच्छोपभोगसंमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तु-
ल्यगुणविस्तीर्णपत्याश्चिरजीविनश्च भवन्ति ॥ ११२ ॥

[इनमें सब सारों की विशेषता से बल प्रमाण तीन प्रकार का है ।
यथा—उच्चम, मध्यम और अधम ।] इनमें जो पुरुष उपरोक्त आठों प्रकार के
उच्चम सारों से युक्त होते हैं, वे अति बलवान्, अत्यन्त सुख से युक्त, झैश
सहने वाले, सब कार्यों में समर्थ होने से प्रयत्नवान्, शभ कार्यों में मन लगाने
वाले, स्थिर और संहृत शरीर वाले, सुधोर गतिवाले, प्रतिष्ठनि से युक्त स्त्रिगृह,
गम्भीर एव महान् स्वर वाले, सुख-ऐश्वर्य, विचा, संमान का भोग करने वाले,
अल्प जरा वाले, योद्धे रोग वाले, प्रायः अपने ही समान दुर्ल्य गुण वाले, बहुत
से चिरंजीवी पुज्जोवाले होते हैं ॥ ११२ ॥

अतो विपरीतास्त्वसाराः ॥ ११३ ॥

इन उपरोक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाले पुरुष सारहीन होते हैं ॥ ११३ ॥

मध्यानां मध्यैः साराविशेषैर्गुणविशेषा व्योरुत्याता भवन्ति इति
साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाणविशेषज्ञानार्थान्युपदिष्टानि भवन्ति ॥ ११४ ॥

प्रवर और अवर के मध्यस्थ सार विशेषों से मध्यमसार के पुरुष होते
हैं । इस मध्यम सार से ही इनके गुण समझ लेने चाहियें । इस प्रकार से बल-
प्रमाण को विशेष रूप में जानने के लिये इन सारों की व्याख्या कर दी है ॥ ११४ ॥

कथं तु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषड् मुहूर्देयमुपचितत्वाद् बलवान्,
अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलवानयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीर-
त्वादल्पबल इति; दृश्यन्ते हाल्यशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः, तत्र पिपी-
लिकाभारहरणवत्सिद्धिः । अवश्व सारतः परीक्षेतेत्युक्तम् ॥ ११५ ॥

वैद्य के बल शरीरमात्र के दर्शन से धोखा भी खा जाता है, भरा पूरा
शरीर होने से यह बलवान् है, यह मनुष्य कृश होने से अल्पबलवाला है,
इसका शरीर बड़ा है, इससे यह मनुष्य बड़ा भारी बलवान् है । यह अल्प
शरीर होने से अल्पबलवाला है इत्यादि । परन्तु देखा जाता है कि अल्प
शरीर होने से तिगुने चौगुने बोक्ष को भी उठा लेती है, उसी प्रकार पतले व्यक्ति भी
सार के कारण बलवान् होते हैं और वे अनेक कार्य कर लेते हैं । इस कारण
सार से परीक्षा करनी चाहिये यह कहा है ॥ ११५ ॥

संहननतश्चेति—संहननं संधातः संयोजनमित्येकोऽर्थः । तत्र सम-
सुविभक्तस्थित्य-सुबद्धसंधिन्सुनिविष्ट-मास-शोणितं सुसंहतं शरीरमित्युच्यते।
तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तो विपर्ययेणालपवलाः, प्रवरावर-
मध्यत्वात्संहननस्य मध्यवला भवन्ति ॥ ११६ ॥

संहनन अर्थात् शरीर की बनावट से भी परीक्षा करनी चाहिये । संहनन,
संधात और संयोजन ये सब शब्द समानार्थक हैं । जिसकी अरिथयों सम-अनुपात
में विभक्त हों, सन्धियां खूब बंधी, मांस और रक्त अच्छी प्रकार से शरीर में
भरा हो, उसको भली प्रकार से संहत शरीरवला कहते हैं । सुसंहत शरीर वाले
पुरुष बलवान् होते हैं । इसके विपरीत शरीर वाले पुरुष अल्प बल, मध्य शरीर
वाले पुरुष मध्यम बल होते हैं ॥ ११६ ॥

प्रमाणतश्चेति—शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेश्यते
उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम् । तत्र पादौ चत्वारि षट् चतुरुदश
चाङ्गुलानि, जंघे त्वष्टादशाङ्कुले षोडशाङ्कुलपरिक्षेपे, जानुनो चतुर-
ङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, त्रिंशद्वांगुलपरिक्षेपे, दशांगुल-
षड्गुलदीर्घौ वृषणावप्तांगुलपरिणाहौ, शेफः पदंगुलदीर्घैः पञ्चांगुल-
परिणाहैं, द्वादशांगुलपरिमितो भगः, षोडशांगुलविस्तारा कटी, दशांगुलं
वस्तिशिरः, दशांगुलविस्तारं द्वादशांगुलमुदरं, दशांगुलविस्तीर्णं द्वादशां-
गुलायामे पाश्वे, द्वादशांगुलविस्तारं स्तनान्तरं, द्वयंगुलं स्तनपर्यन्तं,
चतुर्विंशत्यंगुलविशालं द्वादशांगुलोत्सेधमुरः, द्वयंगुलं हृदयं, अष्टांगुलौ
स्कन्धौ, षड्गुलावंसो, षोडशांगुलौ प्रवाहू, पञ्चदशांगुलौ प्रपाणी,
हस्तौ दशांगुलौ, कक्षावप्तांगुलौ, त्रिकं द्वादशांगुलोत्सेधं, अप्तादशांगुलो-
त्सेधं पृष्ठं, चतुर्रुद्रांसेवा द्वाविंशत्यंगुलपरिणामा शिरोधरा, द्वादशां-
गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यंगुलपरिणामानं, पञ्चांगुलमास्यं, विकुक्तोष्ठ-
कर्णाङ्गिमध्यनासिकाललाटं चतुरुगुलं, षोडशांगुलोत्सेधं द्वात्रिंशद्वांगुल-
परिणाहैं शिरः—इति पृथक्त्वेनाङ्गावयवानां मानमुक्तम् । केवलं पुनः
शरीरमगुलिपर्वाणि चतुरशीतिस्तदायामविस्तारसमं समुच्च्यते । तत्राऽऽ-
युबेलमोजःसुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्वापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाण-
वति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ ११७ ॥

प्रमाण द्वारा शरीर की परीक्षा करनी चाहिये । शरीर का प्रमाण प्रत्येक
व्यक्ति को अपनी अंगुलियों से माप कर जानना चाहिये । उत्सेध (ऊंचाई),
विस्तार (व्याप, चौडाई), आयाम लम्बाई ये कमानुषार कहेंगे । इनमें—पांच

की ऊंचाई ४, चौडाई ६ और लम्बाई चौदह अंगुल हो । टार्गें (बुटने से नीचे टखने तक का भाग) लम्बाई में अडारह अंगुल, घेर में १६ अंगुल, बुटने लम्बाई में ४ अंगुल और घेर में १६ अंगुल, जावे घेर में ३० अंगुल, लम्बाई में १८ अंगुल, वृष्ण ६ अंगुल लम्बे और गोलाई में आठ अंगुल, धिशन (लिंग) ८ अंगुल लम्बा और गोलाई में पांच अंगुल (सुश्रृत में चार अंगुल), भग (खीरुशांग) १२ अंगुल, कटो १६ अंगुल चौड़ी, बस्ति का शिर (मेढ़ को जड़ से नाभि प्रदेश तक पैद्ध) १० अंगुल लम्बा, नाभि से ऊपर और छाती से नाचे लम्बाई में पेट १२ अंगुल लम्बा और १० अंगुल चौड़ा, पाईर्व (दांतों पाईर्व) १० अंगुल चौड़ी आर १२ अंगुल लम्बे, स्तनों के बीच का अन्तर १२ अंगुल चौड़ा, स्तनप्रान्त दो अंगुल छाती १२ अंगुल ऊंची, २४ अंगुल चौड़ी, (सुश्रृत में १८ अंगुल चौड़ी छाती कही है, यह खोंची की समझनी चाहिये), छद्र दो अंगुल, स्कन्ध द अंगुल, सुजासाने (अंस) ६ अंगुल, प्रबाहू (कंधे से नीचे कोहनों तक का भाग) १६ अंगुल, प्रसाणि (कलाई से कोहनों तक का भाग, प्रकोष्ठ) १५ अंगुल, हाथ १० अंगुल, (उसमें भी मध्यम अंगुलि ५ अंगुल, प्रदेशिनी और अनामिका इ। अंगुल, कनिष्ठा और अंगुष्ठ ३। अंगुर), दांतों कक्षा द अंगुल, विक १२ अंगुल ऊंचा, पोठ १८ अंगुल ऊंचा, मावा ४ अंगुल ऊंचा और घेरा २४ अंगुल, मुख (मस्तक से ठोड़ी तक) १२ अंगुल और २४ अंगुल घेर वाला, खुश मुख ५ अंगुल, चिकुक, (दाढ़ा) कान, आष्ठ, आंतों के बीच का मध्य भाग, नासिका और लङ्घाट ये प्रत्येक चार अंगुल, शिर १६ अंगुल लम्बा, ऊंचा और ३२ अंगुल घेर वाला होता है । इस प्रकार से पृथक्-पृथक् अंगों का माप कह दिया है । समूर्ण शरीर पांच से आरम्भ करके शिर तक सारा द४ अंगुल होता है (सुश्रृत में एक सौ बीस अंगुल लम्बाई कही है । यह परिमाण पांच की अप्र-अस्थि से लेकर हाथों को ऊंचे उठाये हुए पुष्प का समझना चाहिये ।)

प्रमाण तीन प्रकार का है, सम, हीन और अविक । इनमें जो शरीर लम्बाई और विस्तार में उपरोक्त कहे हुए प्रमाण के समान हो वह 'समप्रमाण' समझना चाहिये । इस प्रकार के समप्रमाण वाले शरीर में आयु, बल, ओज, मुख, ऐश्वर्य, घन और अन्य शुभ भाव रहते हैं । इस समप्रिमाण से हीन वा अविक में ये गुण (आयु आदि) नहीं रहते ॥ ११७ ॥

सात्यतश्चेति—सात्यं नाम तथ्यसात्यत्येनोपयुज्यमानमुपशेते ।
तत्र ये घृत-क्षीर-तैल-मास-रस-सात्यासर्व-रस-सात्याश्च, ते बलवन्तः ।

क्लेशसहाय्यरजीविनश्च भवन्ति । रुक्षसात्म्याः पुनरेकरस-सात्म्याश्च
ये, ते प्रायेणाल्पबलाश्चाक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च । व्यामिश्रसा-
त्म्यास्तु ये, ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति ॥ ११८ ॥

सात्म्य से परीक्षा करनी चाहिये । जिसके निरन्तर अभ्यास से सुख मिलता है, उसको 'सात्म्य' कहते हैं । इसमें जो पुरुष धी, तैल, दूध, मांस रस का सेवन निरन्तर करते हैं तथा जिनको सब सात्म्य है, वे बलवान् झेंड सहने वाले और दीर्घायु होते हैं । जिन पुरुषों की रुक्ष पदार्थ सात्म्य हैं और जो एक ही रस का अभ्यास करते हैं, वे पुरुष प्रायः करके अल्पन्बल, योद्धा कष्ट उठाने वाले, अल्पायु, अल्पकिया से गुजारा करने वाले होते हैं । प्रवर और अवर इस मिथित सात्म्य वाले पुरुष मध्य सात्म्य के कारण मध्यम बल होते हैं । इसलिये मध्य झेंड सहन करने वाले, मध्यमायु होते हैं ॥ ११८ ॥

सत्त्वतश्चेति-सत्त्वमुच्यते मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयो-
गात् । तत् त्रिविधं बलभेदेन-प्रवरं मध्यमवरं चेति । अतश्च प्रवर-
मध्यावरसत्त्वाश्च भवन्ति पुरुषाः । तत्र प्रवरसत्त्वाः स्वल्पाः, ते सारे-
षुपदिष्टाः स्वल्पशरीरा द्विष्टपि ते निजाग्नतुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडा-
स्वव्यग्रा दृश्यन्ते, सत्त्वगुणवैशेष्यात् । मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनि-
धाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मनं परेव॑ष्टपि संस्तम्भन्ते; हीनसत्त्वास्तु
नाऽऽत्मना, न च परः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्त उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा
द्विष्टपि ते स्वल्पानामपि वेदानामसहा दृश्यन्ते, संनिहित-भय-शोक-लोभ-
मोह-माना रौद्र-भैरव-द्विष्ट-बीमत्स-विकृत-संकथास्वपि च पशुपुरुषमा-
सशोणितानि चावेक्ष्य विषाद-वैवर्ण्य-मूर्छान्माद-भ्रम-प्रपतनानामन्यत-
ममा न्युवन्त्यथवा भरणमिति ॥ ११९ ॥

सत्त्व से परीक्षा करनी चाहिये । सत्त्व का अर्थ मन है । यह मन आत्मा के साथ मिलकर इस शरीर को (इन्द्रियों को) प्रेरित करता है । यह सत्त्व-संज्ञा वाला मन बल के मेद से प्रवर मध्य और अवर यह तीन प्रकार का है । इसलिये प्रवर सत्त्व (द्विष्ट) मध्यम सत्त्व (राजस) और अवर सत्त्व (तामस) प्रकृति के मनुष्य होते हैं । इनमें प्रवर सत्त्वों का वर्णन 'सत्त्वसार' आज के वर्णन में (स्मृतिमान् आदि से) कह दिया है । ये प्रवर सत्त्व वाले व्यक्ति छोटे शरीर के होने पर भी शारीरिक एवं आगन्तुज, बड़े रोगों में भी (तीव्र दर्दों में भी) अथारहित दीखते हैं, बड़ी पीडा को भी कुछ नहीं मानते । इसका कारण सत्त्वगुण की अधिकता है । ये अपने आत्मा से ही अपने को सम्भाल

बढ़ते हैं। मध्यम सत्त्व पुरुष तीव्र वेदना को असह देख कर वेदना में अपने को अपने आप रोकते हैं, अथवा दूसरे पुरुष इनको सम्मालते हैं। इन सत्त्व वाले पुरुष स्वयं अपने को सम्माल नहीं सकते और नहीं दूसरे इनको सम्माल सकते हैं। ये हीनसत्त्व पुरुष बड़े शरीर वाले होकर भी योद्धी सी पीड़ा को भी सहन नहीं कर सकते। ये पुरुष भय, शोक, लोभ, मोह, अग्रामान, रौद्र, भैरव, द्विष्ट, बीमन्त्र और विकुत कथाओं में, और पशु-मनुष्य के मांस-रक्त आदि को देख कर विशाद, विवर्ण, मूर्छा, उन्माद, भ्रम, पतन इनमें से किसी एक के बश हो जाते हैं, अथवा मर जाते हैं॥११६॥

आहारशक्तिश्चेति—आहारशक्तिरङ्ग्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या, बलायुषी द्वाहारायन्ते॥ १२०॥

आहार शक्ति से परीक्षा करनी चाहिये—आहार शक्ति की परीक्षा भोजन करने और उसको पचा लेने की शक्ति से करनी चाहिये। क्योंकि बल और आयु आहर के ही अधीन हैं॥१२०॥

व्यायामशक्तिश्चेति—व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या कर्मशक्त्या द्वानुमीयते बलत्रैविध्यम्॥ १२१॥

व्यायाम शक्ति से परीक्षा करनी चाहिये—व्यायाम शक्ति की परीक्षा शरीर में परिधम उत्पन्न करने वाले कर्म से करनी चाहिये। कर्म शक्ति से तीनों प्रकार का प्रवर, मध्यम और अवर बल जाना जाता है॥१२१॥

वयस्तश्चेति, काढप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथास्थूलमेदेन त्रिविधं—बालं मध्यं जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टं, मध्यं पुनः समत्वागत-बल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम-ग्रहणधारण-स्मरण-वचन-विज्ञान-सर्वधातु-गुणं बल-स्थितमवस्थितसत्त्वम-विशीर्यमाण-धातु-गुणं पित्त-धातु-प्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टं अतः परं परिहीयमानधात्विन्द्रिय-बल-वीर्य-पौरुष-पराक्रम-ग्रहण-धारणस्मरण-वचन-विज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वातधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुक्तयते आवर्षशतं, वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन्काले। सन्ति पुनरधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः। तेषां विकृतिवज्जेऽप्रकृत्यादिबलविशेषे-रायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलङ्घ्य वयस्त्रित्वं विभजेत्॥१२२॥

आयु से परीक्षा करनी चाहिये—विशेष काढपरिमाण की अपेक्षा से शरीर

की अवस्था का नाम 'वय' कहा जाता है। यह वय अवस्था भेद से तीन प्रकार का है। (१) बाल, (२) मध्य और (३) जीर्ण, इनमें बाल वय तोल वर्ष तक है। इसमें भी १६ वर्ष तक रस, रक आदि धातु अग्रिपक रहते हैं, दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण स्पष्ट नहीं होते, शरीर मुकुमार, क्लेश न सहने वाला, असम्पूर्ण बल वाला होता है। इस अवस्था में कफ धातु अधिक होता है। प्रायः करके मन अस्थिर, धातु लगातार बढ़ रहे होते हैं। मध्यम वय—तीन से ऊपर और ६० से नीचे तक की आयु है। बल, वीर्य, विक्रम, पौष्ट्र, पराक्रम, अर्थ का ग्रहण, शब्द आदि का धारण, स्मरण, वचन, विज्ञान, तथा सब धातुओं के गुण, समान अवस्था में पहुँचे होते हैं। इस समय बल स्थिर रहता है मन निश्चल हो जाता है, धातुओं के गुण नष्ट नहीं होते, पित्त प्रवान रहता है। जीर्ण वय—६० वर्ष से ऊपर आर १०० वर्ष के बीच के समय को जीर्ण वय कहते हैं। इस समय में धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, पौष्ट्र, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन, विज्ञान एवं धातुओं के गुण क्रमशः क्षीण होरहे होते हैं। शरीर में बायु की प्रधानता रहती है। इसलिये इस अवस्था को जीर्ण-अवस्था कहते हैं।

इस काल में सौ वर्ष से अधिक या कम जोने वाले पुरुष भी हैं। इन पुरुषों में विकृति को छोड़ कर अन्य प्रकृति आदि बल विशेष से तथा इन्द्रिय स्थान में और शरीर स्थान में कहे हुए लक्षणों से आयु का प्रमाण जान कर आयु के तीन विभाग करने चाहिये ॥१२२॥

एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्यानां भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन वलविशेषं विभजेत । विकृतिवलत्रेविध्येन तु दोषबलं त्रिविवरमनु-मीयते । ततो भवत्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रित्वं त्रिभज्य यथा-दोषं भेषज्यमवचारयेदिति ॥ १२३ ॥

इस प्रकार से विकृति को छोड़ कर प्रकृति से आरम्भ करके वय के अन्त तक कहे हुए गुणों से प्रवर, अवर और मध्य विभाग करके इसके अनुसार रोग के बल का प्रवर, अवर और मध्य विभाग करना चाहिये। विकृति बल के भी तीन विभाग करके उनसे दोषों के तीन प्रकार के बलों का अनुमान किया

क्षे मुश्रुत ने आयु का विभाग दोषों के संचय काल की दृष्टि से किया है। चरक में धातुओं की वृद्धि, साम्य और खय की दृष्टि से किया है, यह स्थान रखना चाहिये ।

आता है। इसके अनन्तर औषध का भी तीक्ष्ण, मृदु और मध्य रूप से विभाग करके दोष एवं बल के औषध का प्रबर, मध्य और अवर रूप से प्रयोग करे ॥ १२३ ॥

आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनरिन्द्रियेपु जातिसूत्रीये च लक्षणान्यु-पदेश्यन्ते ॥ १२४ ॥

आयु के प्रमाण को जानने के लिये लक्षण इन्द्रियस्थान में तथा शारीर स्थान के जातिसूत्रीय अध्याय में कहेंगे ॥ १२४ ॥

कालः पुनः संवत्सरश्चाऽनुरागस्था च । तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशाधा भूयश्चाप्यतः प्रतिभज्यते तत्त्वार्थमभिसमीक्ष्य । तं तु खलु तावत्थोढा प्रविभज्य कार्यमुपदेश्यते—हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्वेति शीतोष्णवर्षलक्षणाख्य ऋतवो भवन्ति । तेषामन्तरेत्विन्तरे साधारण-लक्षणाख्य ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति । प्रावृद्धिं प्रथमः प्रवृष्टेः कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः । एवमेते संशोधनमधिकृत्य पद् विभ-ज्यन्ते ऋतवः ॥ १२५ ॥

काल—संवत्सर और रोगी की अवस्था का नाम ‘काल’ है। इनमें संवत्सर अयन मेद से दो प्रकार का; शीत, उष्ण, वर्षा मेद से तीन प्रकार का, शूतु विभाग से छः प्रकार का, मास मेद से चारह प्रकार का, पक्ष मेद से चौबीस प्रकार का, और दिन, प्रहरादि के मेद से अनेक प्रकार का है। कार्य की दृष्टि से इसका विभाग किया जाता है। यहां पर वर्ष का शूतु विभाग से छः प्रकार का विभाग करके इसके कार्य को कहेंगे। हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा रूप से शीत, उष्ण और वरसात के लक्षणों वाली मुख्यतः तीन शूतुओं के बीच में भी दूसरी साधारण लक्षणों वाली तीन शूतुएँ होती हैं। यथा—प्रावृट्, शरद् और वसन्त अर्थात् प्रवृष्टि इसका प्रथम प्रारम्भ काल होना ‘प्रावृट्’ है। इसका पिछला भाग वर्षा-शूतु। इस प्रकार से संशोधनाधिकार में हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म, प्रावृट् वर्षा और शरद् ये शूतुएँ कह दी हैं ॥ १२५ ॥

तत्र साधारणलक्षणेवृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिविधीयते, निवृत्ति-रितरेषु । साधारणलक्षणा हि भन्दशीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भव-न्त्यविकल्पकाश्च शरीरोषधानां, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च शरीरोषधानाम् ॥ १२६ ॥

इनमें साधारण लक्षणों वाले समय में जब न बढ़त शीत और न बहुत गरमी हो, जैसे प्रावृट्, शरद् और वसन्त शूतु में वमन आदि कार्यों के करने

का विचान है । अन्य तीन, अधिक शीत, अधिक उष्ण, अधिक शूष्टि, हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन शृङ्खलों में बमनादि कार्य नहीं किये जाते । क्योंकि शाश्वत लक्षणों वाली शृङ्खले मन्द शीत, मन्द उष्ण और मन्द वर्षा वाली होने से शरीर के लिये अति सुखकारक पर्व औषधियों का नाश न करने वाली होती है । इसलिये उनमें बमन आदि कार्य किये जाते हैं । अन्य तीन (हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा) शृङ्खले अति शीत, अति गरमी और अति वर्षा वाली होने से शरीर के लिये दुःखदायक और औषधियों का नाश करने वाली होती है । इसलिये इन शृङ्खलों में बमन आदि उपाय नहीं किये जाते ॥१२६॥

बत्र हेमन्ते छातिमात्रशीतोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्वति-
शीतवाताभ्यातमतिदारुणीभूतमावद्धदोषं च, भेषजं पुनः संशोधनार्थं-
मुष्णस्वभावं शीतोपहतत्वान्मन्दवीर्यत्वमापद्यते, तस्मात्तयोः संयोगे
संशोधनमयोगायोपपद्यते, शरीरमपि च वातोपद्रवाय ।

इनमें से हेमन्त शृङ्खले में अधिक शीत होने के कारण शरीर को सुख नहीं मिलता । अति शीत और अति वायु से शरीर विछुब्ध, अति कठोर और बहुत भारी दोष युक्त एवं अतिस्तब्ध दोष वाला हो जाता है । उष्ण स्वभाव वाली संशोधनकारी औषध भी शीत के अधिक होने से हीनवीर्य रहती है । इसलिये इस अवस्था में शरीर और औषध का संयोग अयोग अर्थात् अनुचित रहता है । शरीर में भी प्रायः वायु के उपद्रव होने लगते हैं ।

ग्रीष्मे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्णवातातपा-
भ्यातमतिशिथिलमत्यन्तप्रविलोनदोषं, भेषजं पुनः संशोधनार्थमुष्णस्व-
भावमुष्णानुगमनात्तीक्ष्णतरत्वमापद्यते, तस्मात्तयोः संयोगे संशोधन-
मतियोगायोपपद्यते, शरीरमपि पिपासोपद्रवाय ।

ग्रीष्म शृङ्खले में गरमी के अधिक होने से शरीर को सुख नहीं मिलता । इसलिये उष्ण वायु और उष्ण धूप से शरीर फूँक जाता अति शिथिल तथा गरमी के कारण दोष बहुत अधिक छिपे (छुले) रहते हैं । संशोधन के लिये जो औषध दी जाती है, उसका स्वभाव उष्ण होता है । यह उष्ण स्वभाव की औषध सूर्य की किरणों के योग से अति उष्ण होकर अति तीक्ष्ण हो जाती है । इसलिये इस अवस्था में शरीर और औषध का संयोग 'अतियोग' हो जाता है । शरीर में भी प्यास के उपद्रव होने लगते हैं ।

वर्षासु तु मेघजालावतते गूढार्कचन्द्रवारे धाराकुले वियति भूमौ
पङ्क-जल-पटल-संधृतायामत्यर्थोपकिळभशरीरेषु भूरेषु विहतस्वभावेषु च

केवलेष्वौषधग्रामेषु तोयतोयदानुगतमारुपसंसर्गाद् गुरुप्रवृत्तीनि वम-
नादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि । तस्माद्वप्नादीनां
निष्टुच्चिर्विधीयते वर्षभागान्तेष्वुपु न चेदात्ययिकं कर्म, आत्ययिके
पुनः कर्मणि कायस्तुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन
भैषज्यं संयोग-संस्कार-प्रमाण-विकल्पेनोपपाद्यं प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा
ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ १२७ ॥

वर्षा शूद्रु में आकाश बादलों से भरा रहता है, सूर्य, चन्द्र मा और तारे
छिपे रहते हैं। इस समय आकाश से पानी बरसता है, भूमि की चड़से भरी होती
है। प्राणियों का शरीर अत्यन्त छिन्न (आर्द्ध) होता है। इसलिये स्वाभाविक
गुण घट जाता है। सम्पूर्ण औषधियों में जल, बादल और इनसे मिली वायु
का संसर्ग होने से रस, वीर्य आदि का नाश हो जाता है। इसलिये वमन आदि
गुरु कार्यों को ये औषधियाँ नहीं कर उकती। इस शूद्रु में जो रोग शरीर में
होते हैं, उनका निदान महान् होता है। इसलिये हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में
वमन आदि कार्यों का निषेध किया जाता है।

यदि वमन आदि कार्य करना आवश्यक (अनिवार्य) हो हो तो हेमन्त
आदि शूद्रुओं में भी शूद्रु के विपरीत कृत्रिम शूद्रु (हेमन्त में गर्भगृह आदि,
ग्रीष्म में घारागृह आदि) बनाकर, भेषज को संयोग संस्कार के अनुसार तीक्ष्ण
या मृदु वीर्य करके पूर्ण सावधाना के साथ प्रयोग करे जिससे हेमन्त में अयोग
और ग्रीष्म में अतियोग न हो ॥-१२७ ॥

आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा । तद्यथा-
अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः कालः पुनरन्यस्येति एतदपि हि
भवत्यवस्थाविशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा । तस्य
परीक्षा मुहुर्मुहुरातुरस्य सर्वावस्थाविशेषावेक्षणं यथावद्भेषजप्रयोगार्थं,
नह्यतिपवित्रकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति ।
कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिवृत्यति ॥ १२८ ॥

रोगी की अवस्था में भी कार्य एवं अकार्य को देखकर काल और अकाल
कहा जाता है। जैसे—इस अवस्था में इस औषध का काल नहीं है और इस
अन्य औषध का समय है। (यथा—इवर के छः दिन बीतने पर औषध देनी
चाहिये यह औषध का काल है)। यह औषध देने का समय नहीं है (जैसे
नव ऊर में क्षाय का देना अकाल है)। यह भी अवस्था मेद से ऐसा होता
है। इसलिये रोगी की अवस्था में भी ‘काल-अकाल’ होता है। इसकी परीक्षा

रोगी की सब अवस्थाओं को बार-बार देखकर उचित रीति से औषध देने के लिये करनी चाहिये । क्योंकि समय के बीतने पर अथवा समय से पूर्व दी हुई औषध फलदायक नहीं होती । उचित काल ही औषध प्रयोग को सफल करता है ॥ १२८ ॥

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भः । तस्य लक्षणं-भिषगातुरौषधपरिचारकाणां क्रियासमायोगः ॥ १२९ ॥

प्रवृत्ति—चिकित्सा कर्म का प्रारम्भ ‘प्रडृत्ति’ है । भिषग्, औषध रोगी और परिचारक इन चारों का मिलकर क्रिया आरम्भ करना इसका लक्षण है ॥ १२९ ॥

उपायः पुनर्भिषगादीनां सौषुप्तमभिविधानं च सम्यक् । तस्य लक्षणं—भिषगादीनां यथोक्तगुण-संपदेश-काल-प्रमाण-सात्य-क्रियादिभिन्न सिद्धिकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति ॥ १३० ॥

एवमेते दश परीक्ष्यविशेषाः पृथक्पृथक् परीक्षितव्या भवन्ति ॥

उपाय—भिषग्, औषध, रोगी और परिचारक इन चारों का यथोक्त उत्तम गुण वाला होना एवं देश काल की अपेक्षा से इनका एकत्र होना है । खुड़ा-खुड़ा अध्याद अध्याय में कहे अपने-अपने गुणों से युक्त होकर, देश, काल, प्रमाण, सात्य और क्रिया आदि सफलता देने वाले कारणों से विचार कर भली प्रकार दी हुई औषध का प्रयोग ही उपाय का लक्षण है ।

इस विधि से कारण आदि दस परीक्ष्य विषयों की पृथक् पृथक् परीक्षा करनी चाहिये ॥ १३० ॥

परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानं । प्रतिपत्तिनीम—यो विकारो यथा प्रतिपत्तिव्यस्तस्य तथाऽनुष्ठानज्ञानम् ॥ १३१ ॥

परीक्षा का प्रयोजन—परीक्षा का प्रयोजन ‘प्रतिपत्ति’ है अर्थात् जो विकार जिस प्रकार से जानना चाहिये और जिस उपाय से चिकित्सा करना चाहिये, उस रोग की वैसी चिकित्सा का ज्ञान करना ‘प्रतिपत्ति’ है ॥ १३१ ॥

यत्र तु खलु वमनादीनां प्रवृत्तिर्यत्र च निवृत्तिरद्व्यासतः सिद्धिपूच्चरकालमुपदेश्यते सर्वम् । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे तु खलु गुरु-लाघवं संप्रधार्य सम्यगाध्यवस्थेदन्यतरनिष्ठायाम् । सन्ति हि व्याधयः शारोषत्सर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्दिष्टाः । तस्माद् गुरुलाघवं संप्रधार्य सम्यगाध्यवस्थेदित्युक्तम् ॥ १३२ ॥

जिन रोगियों को वमन देना चाहिये और जिनको वमन आदि नहीं देना चाहिये, इन सबको पृथक् पृथक् आगे सिद्धिस्थान में कहेंगे ।

यदि एक ही पुरुष में वमन आदि कार्यों की प्रवृत्ति (देने) और निवृत्ति (न देने) दोनों कार्यों के लक्षण हों तब रोगों में गुरुता और लघुता भली प्रकार देख कर एक कार्य का निश्चय करना चाहिये, प्रवृत्ति और निवृत्ति के लक्षणों में से जिसके लक्षण गुरु हों वह कार्य बरना चाहिये । दूसरे लघु-लक्षणों वाले कार्य को छोड़ देना चाहिये । क्योंकि शास्त्रों में ऐसे भी रोग हैं, जिनकी निकित्सा विधि और निषेध रूप से कटी है । शास्त्र में उपक्रम की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कही है । इनमें से एक कार्य का निश्चय गुरु, लघु देखकर करना चाहिये ॥१३२॥

यानि तु खलु वमनादिपु भेपज-द्रव्याण्युपयोगं गच्छन्ति तान्यनु-
व्याख्यास्यन्ते । तद्यथा-फल-जीमूतकेश्वाङ्-धार्मार्गव-कुटज-कृतवेघन-
फलानि, फल-जीमूतकेश्वाङ्-धार्मार्गव-पत्र-पुष्पर्णाण, आरम्भधृश्नक-
मदन-स्वादुक-कण्टकपाठा-पाटला-शाङ्खशामूवा-सप्तपर्ण-नक्त-माल-पचु-
मर्द-पटोल-सुषवा-गुहूचाँ-चित्रक-सोमवल्क द्रौपि-शिशु-मूल-कषायेश्व,
मधुक-मधुक-कोविदार-कर्वुदार-नीप-निचुल-चित्रवी-शणपुष्टरा-सदापुष्टी-
प्रथ्यक्षपुष्टी-कषायेश्व, एला-हरेण-प्रियंगु-पृथ्वीका-कुसःस्मुरुतगरन्नलद-
हीवेर-तालीश-गोपी-कषायेश्व, इष्टुकाण्डिक्षुवार्द्धिका-दभ-पोट-गलका-
लंकृत-कषायेश्व, सुमना-सौमनस्यायनी-हरिद्रा-दारहरिद्रा-वृश्चार-पुनर्नवा-
महासहा-क्षुद्रसहा-कषायेश्व, शालमलि-शालमलिक-भद्ररण्यलापर्णयुपोदि-
कोद्दालक-धन्वन-राजादनोपचित्रा-गोपी-शृङ्गाटिका-कपायेश्व, पिष्पली-
पिष्पलीमूल-चन्द्र-चित्रक-शृङ्गवेर-सर्षप-फाणित-क्षीर-क्षार-लवणोदकैश्च
यथालाभं यथेष्टु वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्तिक्रियाचूर्णवलेह-स्नेह कषाय-मांस-
रस-यवाग्यूष-काम्बलिक-क्षीरोपधेयान्मोदकानन्याश्च योगान् विधि-
धाननुविधाय यथाह् वमनार्हाय दद्याद्विधिवद्वमनमिति कल्पसंग्रहो
वमनद्रव्याणाम् । कल्पस्त्वेषां विस्तरेणोत्तरकालमुपदेश्यते ॥ १३३ ॥

वमनोपयोगी द्रव्यः—वमन आदि कार्यों में जो औपच द्रव्य काम में आते हैं उनका वर्णन करते हैं । जैसे—वमन द्रव्य फल (मदन फल) जीमूत (तुरई) ईक्षवाङ् (कडवी तुरई), धार्मार्गव (कोशातकी), कुटज (कुड़ा), कृतवेघन (तुरई) इनके फल लेने चाहियें । फल, जीमूत, ईक्षवाङ्, धार्मार्गव इनके पक्षे और फूल । अमलतात, कुड़ा मैनफल, विकड़त, पाठा, पाटला, गुड़ा, मूबा, सतवन, नाटाकरञ्ज, नीम, परवल, करेला, गिलोय, चीता, खैर, शतावरी, कंटेरी (छोटी), शोभाजन इनकी जड़ों का कषाय बना कर देवे । महुवा,

मुळहठी, सफेद कचनार, लाल कचनार नीम, अम्लबेतु, कन्दूरी, अनश्चनिया, लाल आक, अपामार्ग इनका कषाय प्रयोग करना चाहिये । वही इलायची, रेणुका (मेथी के बीज), फूल प्रियंगू, छोटी इलायची, घनिया, तगर, जटामासी, खस, तालीशपत्र, उशीर, नेत्रवाला इनके कषाय का प्रयोग करना चाहिये । गजा, काष्ठेलु, कुध, होगल, कसोदी, तगर इनके कषाय को देवे । चमेली, चमेली की कली, इल्दी, दाढ़हल्दी, देवत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, माशपर्णी, मूंगपर्णी इनका कषाय देवे । सिंघल, रोहेडा, भादाली, रास्ता, कलम्बी, बहुवार, धामन, धीरणी बृक्ष, पृश्नपर्णी, सारिवा, सिंधाजा इनका कषाय देवे । पिपड़ो, पिप्पलीमूल, चविका, चीता, सोठ, सरसो, फाणित (राब), दूध, खार और नमक इनका कषाय देना चाहिये । अथवा इच्छा के अनुसार, दोष दूष्य की अपेक्षा से प्रयोजनानुसार वर्चि, चूर्ण, अबलेह, धी, तैल आदि, कषाय, मांस रस, यवागू (लप्ती), यूष, काम्बलिक, दूध, इनको मिलाकर बनाये लड्डू तथा अन्य खाद्य पदार्थ तैयार करके वमन के योग्य व्यक्ति को वमनविधि से खाने के लिये देना चाहिये । यह वमन द्रव्यों का कल्प संसेप में कह दिया है । वमन द्रव्यों के कल्प को पोछे कल्पस्थान में विस्तार से कहेंगे ॥ १३३ ॥

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामा-त्रिवृद्धतुरंगुल-तिल्वक-महावृक्ष-सप्तला-शङ्खनी-दन्ती-द्रवन्तीनां क्षीर-मूळ-त्वक्पत्र-पुष्प-फलानि यथायोगं तैस्तैः क्षीर-मूळ-त्वक्पत्र-फलैर्विक्लिप्ताविक्लिप्तैरजगन्धाश्वगन्धाजशृङ्खी-क्षीरिणी-नीलिनी-क्लीतक-कषायैश्च, प्रकीर्णोदकीर्णा-मसूर-विदला-कम्पिल्लक-विडंग-गवाक्षी-कषायैश्च, पीलु-प्रियाल-मृद्दीका-काइमर्य-परूषक-बदर-दाढिमामल्क-हरीतकी-विभीतक-बृशीर-पुनर्नवा-विदारिगन्धादि-कषा-यैश्च, शीघ्र-सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मेरेय-मेदक-मदिरा-मधु-मधूलक-धा-न्यामल-कुवल-बदर - खर्जूर-कर्कन्धुभिश्च दधि-दधिमण्डोदशिवद्विश्च, गोमहिष्यजावीनां च क्षीर-मूत्रैर्यथालाभं यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य वर्ति-क्रिया-चूर्णासव-लेह-स्नेह-कषाय-मासरस-यूषकाम्बलिक-यवागू-क्षीरोप-वेणान्मोदकानन्याश्च भक्ष्यप्रकारान् विधांश्च योगाननुविधाय यथाहै विरेचनार्हाय दशाद्विरेचनमिति कल्पसंप्रहो विरेचनद्रव्याणाम् । कल्प-स्त्वेषां विस्तरेण यथावदुत्तरकालमुपदेश्यते ॥ १३४ ॥

४४ काम्बलिक यूष का लक्षण—

‘पिण्ठितेन रसस्तन्त्र यूषो धान्यैः खडः फलैः ।

मूलैश्च तिलकल्काम्बलिकायः काम्बलिकः स्मृतः ॥ अष्टांगसंग्रह - सूत्रस्थान ॥

विरेचन द्रव्य—काली निशोथ, सफेद निशोथ, अमलतास, लोध, सुहो, शिंकाकाई, शंखपुष्टी, दन्ती, द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड) इनके दूध, मूल, त्वचा, पत्ते, पुष्ट और फूल ये छः विरेचनाश्रय द्रव्यों को मिला कर अथवा पृथक् पृथक् रूप से प्रयोग करना चाहिये । अजवायन, अवगन्ध, मेहाशृङ्खि, दूर्वा, नीलनी, मुलहठी, इन के कथाय कर देवे । प्रकोर्य और उदक्षोर्य (दो प्रकार का करंज), श्यामलता, कमीला, बायविंडग, इंद्रायण इनके कथाय का उपयोग करे । पीलु, पियाल, मुनका, गम्भारी, फालसा, बेर, अनारदाना, आवडा, हरड, बहेडा, श्वेत और लाल पुनर्नवा, विदारीगन्धा, शालपर्णी, पुश्पिर्णी, वृद्धती और छोटी कटेरी (हस्तपंचमूल) इनके कथाय का प्रयोग करना चाहिये । सीधु, मुरा, काढ़ी, तुरोदक (घान्याढ़), मेरेय (मुरा और आसद को मिलाकर तैयार की मुरा), भेदक, मदिरा, मधु (द्राष्टा-मुरा), मधूलिका, धान्याढ़, कुवड, वर्ष और कर्कन्तु (भेरो के भेद हैं) और खजूर, दही, दही का मण्ड मस्तु, उदक्षित् (दही में आवा पानी मिलाकर तैयार की छाँछ), गाय, मैस, बकरी और मेह इनमें से जितका मूत्र या दूध मिले उनसे वर्ति, चूर्ण, अवलेह, स्नेह, कृत्य, मांस रस, यूग, काढ़लिक, यवागू, श्वीर तथा लड्डू और अन्य खाद्य पदार्थों को तैयार करके विरेचन के योग्य व्यक्ति को विरेचन विधि से खाने के लिये देना चाहिये । यह विरेचन द्रव्यों का संग्रह संक्षेप में कह दिया है । विस्तार से कल्पस्थान में कहेंगे ॥ १३४ ॥

आस्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुपथानित तेषु तेष्ववस्थान्तरेष्वातुराणां तानि द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसंख्येयानि स्युरतिव्यहुत्वात्, इष्टश्वानतिसंक्षेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे, इप्यं च केवलं ज्ञानं, तस्माद्रसत एव तान्यनुभ्याल्यास्थन्ते ॥ १३८ ॥

आस्थापन द्रव्यों में जो द्रव्य प्रायः रोगियों की अवस्था भेद से अनेक प्रकार से प्रयोग में आते हैं, वे औषध द्रव्य अधिक होने से एक एक का नाम कहने पर असंख्य हो जाते हैं । शास्त्र में न तो अधिक संक्षेप और न अधिक विस्तार होना चाहिये । इसलिये शास्त्र में समूर्ण, सब बातों का ज्ञान ही अपेक्षित होता है । इसलिये आस्थापन द्रव्यों को यहाँ पर रस के द्वारा (छः प्रकार से) कहेंगे ॥ १३५ ॥

रस-संसर्ग-विकल्प-विस्तरो हेषामपरिसङ्क्षयेयः, समवेतानां रसानामंशाशब्दविकल्पातिव्यहुत्वात् । तस्माद् द्रव्याणां चैकदेशमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभज्य रसैकैकश्येन रसकैवल्येन च नामलक्षणार्थं षडास्थापनस्कन्धाः समूहरसतोऽनुविभज्य व्याख्यास्थन्ते । यत्त षड् विवरमास्था-

पनमेकरसमित्याचक्षते मिषजस्तद् दुर्लभतम्, संसृष्टरसभूयिष्टत्वाद्
द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि च मधुरप्रायाणि च मधुरविपाकानि च
मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदेश्यन्ते तथेतराणि
द्रव्याण्यपि । तथाथा—जीवकचंभकौ जीवन्ती-बीरातामलकी-काकोली-
क्षीरकाकोली-भीड़-मुद्रगपर्णी-माषपर्णी-शालपर्णी-पृथिपर्ण्यसनपर्णी-मेदा-
महामेदा-दारुकर्कट-शृङ्गी-शृङ्गाटिका-छिन्नरुदा-च्छत्रातिच्छत्रा-श्रावणी-
महाश्रावण्यलम्बुषा-सहदेवा-विश्वदेवा-शुक्राक्षीर-शुक्रावल्लातिवल्ला-
विदारी-क्षीर-विदारी-आद्रसह-महासहार्यगन्धाश्वगन्ध-पयस्या-वृक्षीर-
पुनर्नवा-ब्रह्मती-कण्ठकारिकैरण्ड-मोरट-इवदंप्रा-संहर्षी-शतावरी-शतपुष्या-
मधूकपुष्यी-यष्टिमधु-मधूलिका-मृद्गीका-खर्जूर-परूषकात्मगुप्ता-पुङ्करवीज-
कशेहुका-राजादन-कतक-काशमर्य-शीतपाक्योदन-पाकीताँ-खर्जूर-मस्त
केष्टिवक्षुबालिका-दर्भ-कुश-कास-शाळि - गुन्द्रेत्कटक-शरमूल-राजक्षवक-
र्यप्रोक्ता-द्वारदा-भारद्वाजी-वनत्रपुष्य - भीरुपत्री-हंसपादी-काकनासा-
कुलिङ्गा-क्षीरवल्ली-कपोतवल्ली-गोपवल्ली-मधुवल्लयः सोमवल्ली चेति ।

ठः रस होने पर भी इनके परस्पर मिलने से बहुत विश्वार हो जाता है, जिससे कि ये असंख्य बन जाते हैं । एक दूसरे में मिले रसों के अंशांश बल की विकल्पना से असंख्य मेद हो जाते हैं । इसलिये आस्थापन द्रव्यों के उदाहरण मात्र के लिये मधुर आदि छः प्रकार के रसों में एक एक का विभाग करके नाम मात्र से कहेंगे । दुदिमान् मनुष्य न कहे हुए द्रव्यों को भी समझ सकेंगे । अतः रस के अनुसार छः प्रकार विभाग करके नाम और लक्षण दर्शाने के लिये छः आस्थापन स्कन्धों को समूह रसों के अनुसार विभाग करके कहेंगे ।

वैद्य लोग छः प्रकार के आस्थापन स्कन्ध को शुद्ध एक रस वाला कहते हैं । यह बात अतिदुर्लभ है । क्योंकि द्रव्यों में एक अनेक रसों का परस्पर संसर्ग रहता है । इसलिये जो द्रव्य मधुर रस (प्रायः करके) बहुल मधुर विपाक और मधुर प्रभाव वाले (अचिन्त्य शक्ति वाले) हैं, उनके रसान्तर होने पर भी मधुर रस की प्रधानता होने से मधुर समझकर इस मधुर स्कन्ध में ही उपदेश करेंगे । इसी प्रकार अम्ल आदि द्रव्यों की भी व्याख्या करेंगे ।

यथा—जीवक, अष्टमक, जीवन्ती, बीरा (शतावरी), तामलकी (भूम्या-
मलकी), काकोली, क्षीरकाकोली, भीड़ (सहस्रीर्या, शतावरी का मेद),
मूर्णपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृथिपर्णी, शणपर्णी मेदा, महामेदा, देवदार,
काकड़ाशृङ्गी, रिघाड़ा, छिन्नरुदा, (गिलोय) छत्रा, तालमलाना, अहिंच्छत्रा

(सौंफ का भेद), लाल कोकिलाश, आबणी (रक्तमुण्डेरी), महाआबणी (इवेतमुण्डेरी), अलंगुशा, सहदेवी, पीतपुष्पा (बला), विश्वदेवा लालफूल-वाली, दण्डोत्पला, शुद्धा, निशोथ, बला, अतिबला, विदारी, श्वीरविदारी, लुद्रसदा (ऐन्ट्री), लालकुरवक, इवेत कुरवक, भरासदा, कुजकतरणी, इवेत कुरवक, श्रृङ्खगन्धा, असगन्ध, संहर्षा (जन्तुकारी), गोखरू, बन्दाक, शतावरी, सौंफ, महुए का भेद, मुलहठी, मधूलिका, किसमिस, खजूर, फालसा, कौच, कमल के बीज, कसेरु, राजकसेरु, पियाल, कतक, गम्भारी, शीतला, नील क्षिण्टी, ताल और लज्जर, मुस्तका, गजा, ईजुबालिका, दर्म, कुश, काश, लाल चावल, गुन्दा (शर्मेद), इत्कट, शर्मूल, राज सरसों, (बीली सरसों) श्रृङ्खप्रोक्ता वा शतावरी भेद कपिकच्छु (कोचू), द्वारदा, (साल) भारद्वाजी (जंगली कपास), जंगली खीरा, शतावरी भेद, (हंसपादिका) हंस के पांव के समान आकार की लता, काकनासा, पेटिका, श्वीरलता, छोटी इलायची, अनन्त मूल, यष्टिमधु का भेद कपोतवस्त्री (वाहांी भेद) और सोमलता, गोपवल्ली और मधुवल्ली ।

एषामेवं विधानामन्येषां च मधुरवर्ग-परिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां लेण्यानि खण्डशश्लेषयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रश्नाल्य पानी येन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावात्य पयसाऽर्थादेकनाभ्यासिच्य साधयेद्वन्या सततमुपरट्यन्, तदुपयुक्तभूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौप वेषु पयसि चानुपदम्भे स्थालीमपहृत्य सुपरिपूतं पयः सुखोलं घृत-तैल-वसा-मज्ज-लवण-फागितोपहितं वस्ति वातविकारिणे विधिज्ञो विधि-वहृदात्, शीतं तु मधुसर्पिर्द्यामुपसंसूज्य पित्तविकारिणे विधिवद् यादिति मधुरस्कन्धः ॥ १३६ ॥

इन अथवा अन्य इस प्रकार के मधुरवर्ग में पठित औपव द्रव्यों में जो द्रव्य लेदेन के योग्य हों, उनके टुकड़े २ करके और जो फोड़ने के योग्य हों, उनको फोड़कर छोटे २ टुकड़े बनाकर पानी से भली प्रकार धोकर थाली में रखना चाहिये । डेग ताम्बा, लोहा या मिट्टी को लेनी नाहिये । डेग को नीचे से लैप देना चाहिये । इस डेग में दूध में आधा पानी मिलाकर ढाल देना चाहिये । इस डेग को अग्नि पर रख कर कोमल आंच से धीरे धीरे पकाना चाहिये । पकाते समय कड़छी से निरन्तर चलाते जाना चाहिये । जिस समय पानी लगभग सुख जाये, औषधियों में से रव निकल आये, दूध का जलना आरम्भ न हो, तब डेग को उतार कर बन्ध से छान लेना चाहिये । फिर इस दूध को कुछ गरम रखकर दी, नैव आदि चर्चा, मज्जा का गेल आदि मिला-कर

वातरोगी को विषिपूर्वक आस्थापन नामक बस्ति दे । दूध के ठण्डा होने पर धी या मधु मिळा कर पित विकार के रोगी को विषिपूर्वक बस्ति दे । यह मधुर-स्कन्ध हुआ ॥ १३६ ॥

आम्राम्रातक-लकुच - करमदं-वृक्षाग्नाम्लवेतस-कुवल बदर-दाढ़िम-मातुलुङ्ग-गण्डीरामलक - नन्दीतक-शीतक-तिन्तिडीक - दन्तशठैरावतक-कोषाम्र-धन्वनानां फलानि, पत्राणि चाम्रातकाइमन्तक-चाङ्गरीणां चतु-विधानां चामिलकानां द्रूयोः कोदयोश्चाम-शुष्कयोद्रूयोश्चैव शुष्कामिलक-योग्रीम्यारण्ययोः, वासव-द्रव्याणि च सुरा-सौबीर-तुषोदक-मैरेय-मेदक-मदिरा-मधु-सीधु-शुक्त-दधि-दधिमण्डोदिवद्वान्याम्लादीनि च ।

अम्लद्रव्यस्कन्ध—आम, आमडा, बड़हल (ढहु), करौंदा, इमली, आल वेतस, कुवल और बदर (वेर के मेद), अनार, विजौर, गण्डीर (समष्टिल, काकाम्ब) आंवला नन्दीतक (तून), जल्लोटक (कालमेघ), निम्बु, ऐरावतक (नारंगी), तिन्तिडीक (अमली), कच्चा आम और धन्वन (धामन), दन्तशठ (कैथ) के फल, आम्रातक, अइमन्तक (कचनार का मेद) और चांगोरी (शाक) इनके पत्ते, चारो प्रकार का इमली, शुष्क आम, दोनो प्रकार के वेर, चार प्रकार की इमली, (प्राम्य और जंगली शुष्क और आर्द्ध मेद से नार प्रकार की) इनके पत्ते, आसव द्रव्य, सुरा, सौबीरक, तुषोदक, मेदक, मदिरा, मधु, सीधु, शुक्त, दही, मस्तु, उदवित, धान्याम्ल आदि ।

एषामेवंविधानां चान्येषां चाम्ल-वर्ग-परिसंस्थातानामौषधद्रव्याणां
लेशानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा द्रव्यैः स्थिराण्य-
वसित्य्य साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावत्तेल-वसा-मधु-मज्ज-लवण-फाणि-
तोपहितं सुखोष्णं बस्ति वात-विकारिणे विधिश्चो विधिवद्यादित्य-
म्लस्कन्धः ॥ १३७ ॥

अम्लस्कन्ध में गिने इन और इन के समान अन्य औषध द्रव्यों के टुकड़े करके, छोटा छोटा चूर्ण बना कर सुरा-सौबीर आदि द्रव्यों से सिंचन करके डेंग में रख कर पूर्व की मांति सिद्ध करना चाहिये । सिद्ध होने पर इसमें तेल, वसा, मज्जा, नमक, राब मिळाकर योड़ी गरम अवस्था में वातरोगी को विषिपूर्वक आस्थापन बस्ति देनी चाहिये । यह अम्लस्कन्ध है ॥ १३७ ॥

सैन्धव-सौबीर्चल-कालविज्ञ-पाक्यानूप-कूप्य-बालुकैल-मौलक-सामुद्र-
रोमकौद्भिदीषर-पाटेयक-पाण्युजानीत्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवण-वर्ग-
परिसंस्थातानि, एतान्यम्लोपहितान्युष्णोदकोपहितानि वा स्नेहवन्ति
सुखोष्णं बस्ति वात-विकारिणे विधिश्चो विधिवद्यादिति लवणस्कन्धः ॥

लवणस्कन्ध—सैन्यव, सौवर्चड, कालविड़, पार्वती (पाक द्वारा तैयार किया) कूप्य (कुणी के आकार में बना), बालुकैल (रेत में से बना), मौलक (मूलों से बना), सामुद्रिक, रोमक (साम्भर प्रदेश में उत्पन्न नमक), औषर (ऊषर भूमि में उत्पन्न), पांशुज (धूली से उत्पन्न) पाटेयक (लवण भेद) इस प्रकार के तथा अन्य लवण वर्ग में गिने हुए अम्लवर्ग से मिश्रित अथवा गरम पानी से मिश्रित वृत तैल आदि स्नेहों से बनी सुखोष्ण वस्ति को वात-रोगी के लिये विधिपूर्वक देना चाहिये । यह लवणस्कन्ध है ॥१३८॥

पिष्पली-पिष्पलीमूल-हस्तिपिष्पली-चव्य-चित्रक-शृङ्खवेर-मरिचाज-मोदार्दक-विडङ्ग-कुसुम्बुरु-पील-ते जोवत्ये आ-कुप्त-भज्ञानकास्थि-हिंगु-कि लिम-मूलक-सर्षप-लशुन-करञ्ज-शिप्रक-खरपुष्प-भूसृष्टि सुमुख-सुरस-कुठे रकार्ज-गण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्जक-क्षार-मूत्र-पित्ताना-भेवंविधानां चान्येषां कटुक-वर्ग-परिसंख्यातानामौषधद्रव्यस्त्रां लेद्यानि खण्डशश्लेष्यित्वा भेद्यानि चाणशो भेद्यित्वा गोमूत्रेण सह साधयि-त्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतैल-लवणोपहितं सुखोष्णं वस्ति इलेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्यादिति कटुकस्कन्धः ॥ १३९ ॥

कटुक स्कन्ध—पिष्पली, पिष्पलीमूल, गजपिष्पली, चविका, चीता, सोंठ, मरिच, अजवायन, आर्द्रक (अदरब), वायविंदग, इरा धनिया, पीलु, तेजवडा, हलायची, कूठ, भिलावा, हीग, देवदारु, पूली, सरसो, लहसुन, करंज, शोभाजन, मीठा सहजन, खुरासानी, अजवायन, (खरपुष्पा, वन तुलसी), कत्तूण, सुमुख, सुरस, अर्जक, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, फणिज्जक, (ये सब तुलसी के मेद हैं,) क्षार, मूत्र और पित्त ।

ये तथा अन्य कटुवर्ग में गिने हुए द्रव्यों को कूट पाए कर गांमूत्र के साथ पका कर, मधु, तेल और लवण से मिश्रित करके सुखोष्ण वस्ति को श्लेष्म रोगी के लिये विधिपूर्वक देना चाहिये । यह कटुकस्कन्ध है ।

चन्दन-नलद-कुतमाल-नक्तमाल-निम्ब-तुम्बुरुं-कुटज-हरिद्रा-दारुह-रिद्रा-मुस्त-मूर्चाकिरात-तिक्कक-कटुरोहिणी-त्रायमाणा-कारवेल्लिका-करीर-करबीर-केबुक-कठिल्लक-बृष-मण्डूकपणी-कर्कोटक-वार्तीकु-कर्केश-काक-गाची-काकोदुम्बरिका-सुषव्यतिविष-पटोल-कुलक-पाठा-गुड्ढची वेत्राग्र-वेतस-विकङ्गत-बकुल-सोमवलक-सप्तपर्ण-सुमनार्कवल्लुज-बचा-तगरागु-रु-वालकोशीराणामेवंविधानां चान्येषां तिक्कवर्गंपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां लेद्यानि खण्डशश्लेष्यित्वा भेद्यानि चाणशो भेद्यित्वा प्रक्षालय पानीयेनाभ्यासित्य साधयित्वोपसंकृतग गथोच-मधुतैललवणोपहितं

सुखोष्णं वस्ति स्नेहविकारिणे विधिवद्यात् । शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसं-
स्कृत्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्यादिति तिक्ष्णन्धः ॥१४०॥

तिक्ष्णन्ध—चन्दन, उशीर, कृतमाल, नाटा करञ्ज, निधन, तुम्र, कृडा,
इल्डी, दाढ़हल्दी, मुस्ता, मूर्वा, चिरायता, कुटकी, त्रायमाणा, करीर, करबीर,
पत्तूर, कर्कटक (करेला), वांसा, मण्डूकपर्णी, कांक्रोला, वैंगन, परवल, काङ्गे
दुम्बर, मकोय, करेला, सुषबी (जंगली करेला), अतीस, परवल, कुणक (पर-
वल का भेद), पाठा, गिलोय, बैत का अम्रभाग, अम्लबेतस, कुंच, मौलसरी,
श्वेत खदिर, सप्तपर्ण, चमेली, आक, बावची, त्रिफला, तगर, अगर, उशीर,
इन द्रव्यों को वा तिक वर्ग में गिने हुए अन्य औषध द्रव्यों को कूट पीस कर
पानी से धो कर पानी के साथ पूर्ववत् विधि से पाक करना चाहिये । तिद्व होने
पर इसमें मधु, तेल और नमक मिलाकर हल्के गरमवस्ति को विधिपूर्वक स्नेह
रोगी के लिये देना चाहिये । शीतल होने पर मधु और घी मिला कर पित्त
रोगी को देनी चाहिये । यह तिक्ष्णन्ध है ॥ १४० ॥

प्रियं गवनन्ताम्रास्थ्यम्बष्टकी-कट्वङ्ग-लोध- मोचरस-समङ्गा-धातकी
पुष्प-पद्म-पद्मकेशर-जम्बुग्रन्थवक्सन-वटक-पीतनोदुम्बराश्वत्य-भज्ञात-
काशमन्तक-शिरीष-पुष्प-शिंशपा-सोमवल्क-तिन्दुक-पियाल-बदर- खदिर-
सप्तपर्ण-इवकर्ण-स्थन्दनार्जुनासनारि मेदैलवालुक-परिपेलव-कदम्ब-श-
ल्लकी-जिङ्गिनी-काश-करोहक-राजकरोहक-कट्कल-वंश-पद्मकाशोक-शाल-
धव-सर्ज-भूर्ज-शण-खरपुष्पा-पुरशमी-माची-कवरक-तुङ्गाजकर्ण-इवकर्ण-
श्फूर्जक-बिभीतक-कुम्भी-पुष्कर-बीज-विस- मृणाल-ताल-खजूर-तरुणामे-
वंविधाना चान्येषां कषायवर्गपरिसंख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि
खण्डशङ्खेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सह
साधयित्वोपसंस्कृत्य यथावन्मधुतेललवणोपहितं सुखोष्णं वस्ति स्नेह-
विकारिणे विधिज्ञो विधिवद्यात् । शीतं तु मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य पित्त-
विकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दद्यादिति कषायस्कन्धः १४१ ॥

कषाय स्कन्ध—फूल प्रियंगु, अनन्तमूल, आम की गुठली, पाठा, श्येनाक,
लोध, मोचरस, मंजीठ, धाय के फूल, पद्म, कमल को केशर, जामुन, आम, पिल-
खन, बड़, कपीतन, गूलर, पीपल, भिलावा, पापाणभेद, चिरस, शीषम, लैर,
तिन्दुक, पियाल, बेर, लैर (लाल), सप्तपर्ण, अद्वकर्ण (पलाश), तिनिश,
अर्जुन, असन, विट, खदिर, तेजबल, कैवर्तमुस्ता, कदम्ब, शल्लकी, जिगण,
कास, कसेक, राजकसेक, कायफल, वांस, पद्माल, अशोक, साल, धव, सर्जवृक्ष,
भाजवल्लक, वृक्ष, तुङ्गी, शमी, देवदारु, बोरोक, पुनाग, शाल भेद, वडा

शाल, तिन्दुक, बहेडा, काथफल, कमल गट्टा, विस, मृगाल, ताढ़, खजूर, धीकार इन या कषाय वर्ग में गिने हुए अन्य द्रव्यों को कूट पीस कर पानी से छो कर पानी के साथ पूर्ववत् पकाना चाहिये । सिद्ध होने पर मधु-तेल और लवण मिलाकर विषिपूर्वक इलेप्पा के रोगी को कवोण बस्ति देनी चाहिये । शीतल होने पर धी और शहद मिला कर पिचविकार के रोगी को देना चाहिये । यह कषाय स्कन्ध कह दिया ॥१४१॥

तत्र श्लोकाः—षड्बर्गाः परिसंख्याता य एते रसभेदतः ।

आस्थापनमभिप्रेत्य तान् विद्यास्त्वार्वयौगिकान् ॥ १४२ ॥

सर्वशो हि प्रणिहिताः सर्वरोगेषु जानता ।

सर्वान् रोगान्नियन्त्रिन्ति गेष्य आस्थापनं हितम् ॥ १४३ ॥

येषां येषां प्रश्नान्त्यर्थं ये ये ते परिकीर्तिताः ।

द्रव्यवर्गां विकाराणां तेषां ते परिकोपनाः ॥ १४४ ॥

इत्येते षडास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभज्य व्याख्याताः ।

आस्थापन बस्ति के अभिप्राय से रसों के भेद से जो ये छः वर्ग कहे हैं, इन छः स्कन्धों को आस्थापन बस्ति से अच्छे होने वाले सब रोगों में लाग् होने वाले समझने चाहिये । क्योंकि दोष, दूष्य, देश, काल, मात्रा आदि की अपेक्षा करके औषध-उपयोग को जानने वाले वैद्य द्वारा जिन रोगों के लिये आस्थापन विधि हितकारी है, उन रोगों में प्रयुक्त किये हुए यह छः वर्ग सब रोगों का शमन करते हैं । जिन जिन विकारों की शान्ति के लिये जो जो द्रव्यवर्ग नहीं कहे हैं, वे २ उन २ रोगों को कुपित करते हैं, शान्त नहीं करते । इस प्रकार से छः आस्थापन-स्कन्धों को रसों के अनुसार विभाग करके कह दिया ॥१४२-१४४॥

तेऽयो मिषग्बुद्धिमान् परिसंख्यातमपि यथद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत तत्तदपकर्षयेत्, यद्यच्चानुकमपि यौगिकं वा मन्येत तत्तद् विद्ध्यात् । वर्गमपि वर्गेणोपसंसृजेदेकमेकेनानेकेन वा । युक्ति प्रमाणीकृत्य । प्रच-रणमिव भिष्मकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञा-नायतनं भवति । तस्माद् बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः । मन्दबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः । यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन् भिषक् संसाध-यति वा कार्यमनतिमहत्वाद्वा निपातवत्यनतिहस्तत्वादुदाहरण-स्येति ॥ १४५ ॥

बुद्धिमान् वैद्य इन वर्गों में गिने हुए जिस द्रव्य को अयौगिक समझे उसको निकाल देवे और न कहे हुए जिस द्रव्य को यौगिक समझे उसको इनमें मिला लेवे । युक्ति के अनुसार दोष-दूष्य की विवेचना करके एक वर्ग को एक, अथवा

अनेक वर्ग के साथ मिला कर प्रयोग करे । मिन्तु रु के विचरने के समान और किसान के बीज की तरह यह अल्प कथन भी बुद्धिमानों के लिये बड़ा शानप्रद है, क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति ऊहापोह (यह इस प्रकार है, यह इस प्रकार नहीं है, इस प्रकार के तर्क) और वितर्क प्रमाण-युक्ति में कुछ छोते हैं । मन्द-बुद्धि वाले व्यक्ति को कथनानुसार ही कार्य करना श्रेयस्कर है । क्योंकि इस प्रकार का मन्द बुद्धि काला भिषक्, उपदेश के न बहुत संखित और न बहुत विस्तार होने से, विना ऊहापोह के भी यथोक्त मार्ग का अनुसरण करता हुआ कार्य में सफलता प्राप्त कर लेता है ॥१४५॥

अतः परमनुवासनद्रव्याप्यनुव्याख्यास्यन्ते—अनुवासनं तु स्नेह एव । स्नेहस्तु द्विविधः—स्थावरो जङ्गमात्मकश्च । तत्र स्थावरात्मकः स्नेहस्तैलमतैलं च । तद् द्रव्यं तैलमेव कृत्वोपदिश्यते, सर्वतस्तैलप्रधान्यात् । जङ्गमात्मकस्तु—वसा, मज्जा, सर्पिरिति ॥ १४६ ॥

तेषां तु तैल-वसा-मज्ज-सर्पिषां तु यथापूर्वं श्रेष्ठं वात-इलेष्म-विकारे-घ्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं तु पित्तविकारेषु, सर्वं एव वा सर्वविकारे-घ्वपि च योगमुपयान्ति संस्कारविशेषादिति ॥ १४७ ॥

इसके आगे अनुवासन द्रव्यों की व्याख्या करेंगे । अनुवासन का अर्थ स्नेह है । स्नेह दो प्रकार का है स्थावर और जंगम । इनमें स्थावर स्नेह दो प्रकार का है । जैसे—तैल (तिलों से उत्पन्न हुआ) और अतैल (तिलों से न उत्पन्न हुआ), इन दोनों को तैल शब्द से ही कह देते हैं, क्योंकि सब तैलों में तिल के तैल की ही प्रधान है । जंगम स्नेह वसा, मज्जा और सर्पि (धी) हैं । तैल, वसा, मज्जा और धी इन में पूर्व की वस्तु उत्तर वस्तु से श्रेष्ठ है अर्थात् धी से मज्जा, मज्जा से वसा और वसा से तैल श्रेष्ठ है । यह नियम वात और कफ के विकारों के लिये है । पित्तजन्य विकारों में उत्तरोत्तर वस्तु (तैल से वसा; वसा से मज्जा और मज्जा से धी) श्रेष्ठ है । अथवा सब ही स्नेह सब रोगों में विशेष संस्कार से (उस उस दोषहर द्रव्य के सहयोग से) उपयुक्त बन जाते हैं ॥ १४६-१४७ ॥

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्ग-पिष्पली-मरिच-बिडङ्ग-शिमुशि-रीष-कुस्तुम्बुरु-पिल्वजाज्यज्ञमोद-वार्ता-की-पृथक्कैला-हरेणुका-फलानि च । सुमुख-नुरस-कुठेरक-गण्डीरक-कालमालक-रणीस-क्षवक-फणि-ज्जक-हरिद्रा-शृङ्गवेर-मूलक-लशुन-तर्कारी-सर्वप-पत्राणि च, अर्कालक-कुष्ठ-नागदन्ती-वचा-मार्गी-इवेता-ज्योतिःप्रती-गवाक्षी-गण्डीर-पुष्टी-वृश्चिकाली-वयस्थातिविषा-मूलानि च, हरिद्रा-शृङ्गवेर-मूलक-लशुन-

कन्दाश्च, लोध-मदन-सपर्ण-निर्मार्कं पुष्टयणि च, देवदावगुरु-सरल-
शङ्खकी जिङ्गिन्यसन-हिंगु-निर्यासाश्च, तेजोवती-बराह्मङ्गुदी-शाभाष्मन-
वृहती कण्ठकारिका-त्वचः ।

शिरोविरेचन द्रव्य—अपामार्गं, पिष्पली मरिच, वायविडंग, शोभांजन, सिरस,
हरा खनिया, वेलगिरी, अजवायन, काला जीरा, वार्ताकी, बड़ी हलायची, छोटी
इलायची, रेणुका इनके फल, सुमुख, सुरस, कुठेरक, गण्डीर, कालमालक,
पर्णास, लवक, फणिजक (तुलसी के मेद), हल्दी, सौंठ, मूली, लहसुन, जय-
न्ती और सरसो इनके पत्ते । आक, लाल फूल का आक, कूठ, नागवला, वच,
अपामार्ग, माल्कंगनी, इन्द्रायण, रामठ, मधुकिका (सौंफ), वृश्चकाली, ब्राह्मी,
और अतीस इनके मूल । हल्दी, आर्द्धक, मूली और लहसुन इनके कन्द । लोध,
मैनफल, सपर्ण नीम और आक इनके फूल । देवदाढ़, अगर, शङ्खकी, सरल-
बृक्ष, जिंगण, असन और हींग इनका गोद, तेजवल, दालचीनी, इंगुदी, शोभां-
जन, बड़ी कटेरी और छोटी कटेरी इनकी छाल ।

इति शिरोविरेचनं सप्तविधं फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्ट-निर्यास-त्वगा-
श्रयभेदात् । लवण-कटु-तिक्त-कषाययणि चेन्द्रियोपशयानि तथाऽपरा-
ण्यनुकूलन्यपि द्रव्याणि यथायोगविहिनानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्य-
न्त इति ॥ १४८ ॥

शिरोविरेचन क्ष सात प्रकार का है—फल, पत्र, मूल, कन्द, पुष्ट, निर्यास
(गोद) और त्वचा भेद से । लवण, कटु और तिक्त एवं, कषाय ये रस
इन्द्रिय चक्षु आदि को शान्त करने वाले हैं; उपयोगतक नहीं है । इस प्रकार के
अन्य यहां पर न गिने हुए, द्रव्यों का दोष-दूष्य की अपेक्षा से योग के लिये
अनुकूल जानकर शिरोविरेचन कार्य में उपयोग कर लेना चाहिये ॥ १४८ ॥

तत्र श्लोकाः—लक्षणाचार्यशिष्याणां परीक्षाकारणं च यत् ।

अध्येयाध्यापनविधिः संभाषाविधिरेव च ॥ १४९ ॥

षड्भिरुननि पञ्चाशद्रादमार्गपदानि च ।

पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तत्त्वतः ॥ १५० ॥

संप्रश्नश्च परीक्षादेनवको वमनादिषु !

भिषग्जितीये रोगाणां विमाने संप्रदर्शितः ॥ १५१ ॥

बहुविधमिद्युक्तमर्थजातं बहुविधवाक्यविवित्रमर्थकान्तम् ।

◆ सुश्रुत में आठ प्रकार के शिरोविरेचन द्रव्य माने हैं । इनमें आठवां
'सार' गिना है ।

वहुविधशुभशब्दसंधियुक्तं वहुविधवादनिपूदनं परेषाम् ॥१५३॥
इमां मतिं वहुविधहेतुसंश्रयो विजङ्ग्वान्परमतवादसूदनीम् ।
न सज्जते परवच्चनावमर्दनैर्न शक्यते परवच्चनैश्च मर्दितुम् ॥१५३॥
दोषादीनां तु भावानां सर्वेषामेव हेतुमत् ।

मानात्सम्यग्विमानानि निरुक्तानि विभागशः ॥ १५४ ॥

शास्त्र, आचार्य और शिष्य की परीक्षा, परीक्षा का कारण, अध्ययन और अध्यापन विधि, (शिष्य-आचार्य विधि), तद्विद्या संभाषाविधि, चवालीप वाद मार्ग, कारण, करण आदि दस पद, वमन आदि परीक्षायें, परीक्षा के प्रकार, तथा नीं प्रक्षन इस रोग-भिषग्जितीय अध्याय में भगवान् आचेय ने पूर्णरूप से कह दिये हैं ।

बहुत प्रकार के वाक्यों से विचित्र, अर्थ में सुन्दर, बहुत प्रकार के शुभ शब्दों की संधि-योजना से बनाये, दूसरों के बहुत प्रकार के वाद को इटाने वाले नाना तत्त्व यहां पर भगवान् आचेय ने कहे हैं ।

नाना प्रकार की युक्ति से युक्त, दूसरों के मत को निराकरण करने वाली, यहां पर कही इस तुद्धि को जान कर वैद्य, दूसरों के वचनों का विमर्दन करने में समर्थ होता है । दूसरों के वचनों से पराजित नहीं हो सकता है । इनके ज्ञान से वैद्य सभा में वाक्चातुर्य से दूसरों को परास्त करता है, उनसे पराजित नहीं होता ।

विमान स्थान की निरूपिका—

दोष आदि सब भावों के युक्तिपूर्वक समस्त मान, एक एक करके कह दिये हैं । दोष आदि का विशेष रूप से मान अर्थात् ज्ञान 'विमान' है । इस विमान का यहां पर उपदेश किया है, इसलिये इसको विमान-स्थान कहते हैं ।

इत्यग्नवेशकृते तत्त्वे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रोगभिषग्जितीय-
विमानं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति विमानस्थानं समाप्तम् ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवालिन मा०
Acc. No....

कृपया इस पुस्तक को निम्नलिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.



125794

Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinesh/Shashi

Creator of
hinduism
server



4

615.536

परक
खण्ड एक

-14071

२५८

11

ग्रन्थ अग्निवेश

TET

॥४॥ यरक संहिता ।

H

615·536

LIBRARY

परक लाल बहादुर शास्त्री

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No 125794

- 1 Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required
 - 2 An over due charge of 25 Paise per day per volume will be charged
 - 3 Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian
 - 4 Periodicals Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library
 - 5 Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower

Help to keep this book fresh, clean & moving